मुद्रा एवं बैंकिंग

[MONEY AND BANKING]

[अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय एव राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएँ, राष्ट्रीय आय तथा रोजगार सहित]

(विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों की बी ए तथा बी कॉम कक्षाओं के स्वीकृत पाठ्यक्रमानुसार)

डॉ. टी० टी० सेठी
एम ए, पी एच. डी.
स्नातकोत्तर अर्थशास्त्र विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा

द्वितीय संशोधित संस्करण, 1972

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा-3

प्रथम संस्करण 1970
द्वितीय संस्करण 1972
(पूर्णतया संशोधित)

मूल्य : बारह रुपये पचास पैसे

सर्वश्री लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक, अस्पताल रोड, आगरा-3 द्वारा प्रकाशित
एवं वैनगार्ड प्रिंटर्स, तकिया मजीरशाह, सेठगली, आगरा-3 द्वारा मुद्रित।

द्वितीय संस्करण के प्रति

पुस्तक का द्वितीय सस्करण पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे सन्तोष का अनुभव हो रहा है। यद्यपि पुस्तक के मुद्रण मे विलम्ब हुआ है परन्तु इमसे पुस्तक में नवीनतम सामग्री, तथ्यो तथा आंकडो को सम्मिलित करने का अवसर मिला है।

प्रस्तुत सस्करण मे अधिकाश अध्यायो में अनेक परिवर्तन, सशोधन एव परिवर्द्धन किये गये हैं। पुस्तक को नवीनतम सामग्री से सज्जित करके अधिकतम उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। राष्ट्रीयकृत बैंको के प्रथम दो वर्ष के कार्यकाल मे प्राप्त हुई सफलताओ तथा असफलताओं का विस्तृत विवरण दिया गया है। 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष' के अध्याय में विशेष आहरण अधिकार (SDRs) की योजना तथा डालर-सकट से उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सकट की स्थिति का विस्तार-पूर्वक अध्ययन किया गया है। पुस्तक के अन्त मे एक परिशिष्ट दिया गया है जिसमें दिसम्बर 1971 मे किये गये डालर के अवमूल्यन तथा विश्व की प्रमुख मुद्राओं की नयी समता-दरो का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। जहाँ तक सम्भव हुआ है, विभिन्न विषयो की व्याख्या नवीन-तम आँकडो के आधार पर की गयी है। पुस्तक की खण्ड-व्यवस्था मे भी परिवर्तन कर दिया गया है। मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत सस्करण पुस्तक के प्रथम सस्करण से अधिक उपयोगी एव रुचिकर सिद्ध होगा।

पुस्तक की सुन्दर छपाई के लिए जैनसस प्रिन्टर्स के प्रबन्धक श्री महेन्द्र जैन के प्रति आभारी हूँ। अपने प्रकाशक मैसर्स लक्ष्मीनारायण अग्रवाल से जो प्रकाशन सम्बन्धी सहयोग मिला है उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

'सेठी भवन'
ताजगज, आगरा–1
नववर्ष, 1972

—टी० टी० सेठी

प्रथम संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों की बी. ए. तथा बी. कॉम. कक्षाओं के लिए स्वीकृत पाठ्यक्रमानुसार लिखी गयी है। वास्तव में, मुद्रा तथा इससे सम्बन्धित विषयों के अध्ययन के बिना अर्थशास्त्र का अध्ययन निराधार है। प्रस्तुत पुस्तक में मुद्रा एवं बैंकिंग के कठिन तथा विस्तृत विषय को सरल व स्पष्ट ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है। मुद्रा तथा बैंकिंग के सविस्तार सैद्धान्तिक अध्ययन के साथ-साथ विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राष्ट्रीय आय, विनियोग एवं रोजगार से सम्बन्धित विषयों की भी विस्तृत व्याख्या की गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं का विवेचनात्मक अध्ययन अलग से किया गया है। भारतीय मुद्रा एवं बैंकिंग के विकास, संगठन तथा स्वरूप का विस्तृत अध्ययन किया गया है, जो न केवल विश्लेषणात्मक है अपितु समालोचनात्मक तथा सुभावपूर्ण भी। प्रत्येक अध्याय के अन्त में परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उनके उत्तरों के लिए संक्षिप्त संकेत दिये गये हैं।

प्रस्तुत पुस्तक विषय से सम्बन्धित नवीनतम विचारों, प्रवृत्तियों, सुझावों, तथ्यों व आँकड़ों पर आधारित है। जुलाई 1969 में किये गये बैंकों के राष्ट्रीयकरण का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है। पुस्तक के प्रकाशित होने तक जो कुछ सामग्री रिपोर्टों, पत्र-पत्रिकाओं तथा अन्य साधनों से उपलब्ध हो पायी है, उसका सामंजस्यपूर्ण ढंग से समावेश कर लिया गया है।

मुझे अपने मित्र प्रो० आर० पी० श्रीवास्तव (अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, अग्रवाल कॉलेज, जयपुर) से इस पुस्तक के लिखने में जो सहयोग मिला है, उसके लिए मैं उनके प्रति आभारी हूँ।

पुस्तक के प्रकाशन में श्री प्रकाशनारायण अग्रवाल ने अत्यधिक रुचि ली है। मेरी ओर से विलम्ब हो जाने के बावजूद पुस्तक को थोड़े से समय में ही इतने सुन्दर ढंग से प्रकाशित करने में उन्होंने जो परिश्रम किया है, उसके लिए मैं उनका विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ।

मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए पाठकों द्वारा दिये गये सुझावों का मैं सहर्ष स्वागत करूँगा।

'सेठी भवन'
ताजगंज, आगरा-1
दीपावली, 1969

—टी० टी० सेठी

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

पचम खण्ड

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग

षष्ठ खण्ड

भारतीय मुद्रा एव बैंकिंग

सप्तम खण्ड

राष्ट्रीय आय, बचत, विनियोग एव रोजगार

प्रथम खण्ड

मुद्रा

[MONEY]

1

वस्तु-विनिमय एवं मुद्रा का विकास

[BARTER SYSTEM AND EVOLUTION OF MONEY]

"ज्ञान की प्रत्येक शाखा के अपने अपने मूल अनुसन्धान हैं, जैसे—यन्त्रकला म चक्र, विज्ञान मे अग्नि, राजनीति शास्त्र मे वोट । इसी प्रकार अर्थशास्त्र तथा मनुष्य के सामाजिक जीवन के व्यापारिक पक्ष मे मुद्रा आवश्यक आविष्कार है जिस पर अन्य शेष बात आधारित हैं ।"[1] —क्राउथर

मानव सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था मे मनुष्य की आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित एव सरल थी और उनकी पूर्ति वह स्वय अथवा अपने परिवार की सहायता से कर लेता था। परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बढती गयी और उसके लिए आत्म-निर्भर रहना असम्भव हो गया। जैसे-जैसे उसने विशिष्टीकरण (specialization) और विनिमय (exchange) के ढग अपनाये, उसकी आत्म-निर्भरता समाप्त होती गयी। मनुष्य ने यह अनुभव किया कि विनिमय एक लाभप्रद व्यवस्था है। सामाजिक जीवन के विकास के साथ-साथ विनिमय का कार्य और भी अधिक लाभप्रद होता गया, और आज के युग मे तो विनिमय पर ही सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था आधारित है, क्योकि उत्पादन तथा उपभोग की क्रियाएँ विनिमय रूपी शृखला मे बँधी हुई हैं।

वस्तु-विनिमय पद्धति

विनिमय की प्रारम्भिक अवस्था मे प्रत्यक्ष विनिमय प्रचलित था, जिसे **वस्तु-विनिमय अथवा अदल-बदल** (Barter) कहते हैं। टॉमस के अनुसार, "एक वस्तु से दूसरी वस्तु के प्रत्यक्ष विनिमय को ही वस्तु विनिमय कहते हैं।"[2] यदि एक व्यक्ति के पास कोई वस्तु उसकी अपनी आवश्यकता से अधिक है तो वह उसके बदले मे किसी अन्य व्यक्ति से वह वस्तु प्राप्त करना चाहेगा जिसकी उसे अधिक आवश्यकता है। और, चूंकि दूसरे व्यक्ति को अपनी वस्तु की तुलना मे पहले व्यक्ति की वस्तु की अधिक आवश्यकता है, इसलिए दोनो व्यक्ति, बिना किसी मध्य-वस्तु की सहायता के, अपनी-अपनी तुलनात्मक कम आवश्यक वस्तु का तुलनात्मक अधिक आवश्यक वस्तु के साथ पारस्परिक (ऐच्छिक एव वैधानिक) अदल बदल कर लेते हैं। इस प्रकार वस्तु विनिमय पद्धति के अधीन सभी वस्तुएँ बाजार मे आ जाती थी और उनका प्रत्यक्ष रूप से अदल-बदल होता था।

वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ

प्रो० म्यूलर[3] के अनुसार वस्तु-विनिमय पद्धति का सबसे बडा गुण यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को कम उपयोगिता वाली वस्तु के बदले म अधिक उपयोगिता वाली वस्तु

1 "Every branch of knowledge has its fundamental discovery In Mechanics, it is the wheel, in Science fire, in Politics the vote Similarly, in Economics in the whole commercial side of man's social existence, money is the essential invention on which all the rest is based' —G Crowther *An Outline of Money*, p 4

2 " direct exchange of one commodity for another is termed barter '—S E Thomas *Elements of Economics*, p 319

3 F W Mueller *Money and Banking*

मिल जाती थी, जिससे वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता था। दूसरे, जो व्यक्ति जिस कार्य में अधिक कुशल होता था वह उसी वस्तु के उत्पादन में अपना पूरा ध्यान देकर उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि कर सकता था। वस्तु-विनिमय का आरम्भ होने से विनिमय का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया और विभिन्न क्षेत्रों का पारस्परिक सम्पर्क बढ़ने लगा।

यह सब होते हुए भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि वस्तु-विनिमय की अनेक कठिनाइयाँ थीं, और ज्यों-ज्यों क्रय-विक्रय का क्षेत्र बढ़ता गया, इस प्रणाली की कठिनाइयाँ भी बढ़ने लगीं। मुख्य रूप से निम्नलिखित असुविधाएँ अथवा कठिनाइयाँ अनुभव की गयीं

(1) **आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अभाव** (Lack of Double Coincidence of Wants)—वस्तु-विनिमय के लिए यह आवश्यक है कि एक व्यक्ति की अतिरिक्त वस्तु के बिकने के लिए दूसरा ऐसा व्यक्ति हो जो उसको चाहे और उसके बदले में ऐसी वस्तु दे सके जिसे पहला व्यक्ति लेने के लिए प्रस्तुत हो। इस प्रकार, न केवल विनिमय के लिए इच्छुक दो व्यक्तियों तथा विनिमय-योग्य दो वस्तुओं की ही आवश्यकता होती है, वरन् ये दो व्यक्ति ऐसे होने चाहिए जिनमें से प्रत्येक के पास देने के लिए वह वस्तु हो जिसकी दूसरे को आवश्यकता है। उदाहरणत, अफ्रीका में यात्रा करते समय लेफ्टिनेण्ट केमरन को एक नाव की आवश्यकता हुई। नाविक बदले में हाथीदाँत चाहता था, जो केमरन के पास नहीं था। उसे यह पता चला कि एक अन्य व्यक्ति के पास हाथीदाँत है जो उसके बदले में कपड़ा चाहता है, परन्तु केमरन के पास कपड़ा भी नहीं था। बहुत प्रयत्न के बाद उसे एक ऐसा व्यक्ति मिला जिसके पास कपड़ा था और उसके बदले में वह तार चाहता था। केमरन ने तार देकर कपड़ा लिया, और कपड़े के बदले में हाथीदाँत, और फिर उसे देकर तब कहीं उसे नाव मिल पायी।[1]

एक छोटे-से पिछड़े हुए समाज में जहाँ लोगों की आवश्यकताएँ बहुत ही कम हों और वे एक-दूसरे को जानते हों, सम्भवत दोहरा संयोग मिल सकता है, किन्तु असीम आवश्यकताओं वाले समाज में तो ऐसा संयोग दुर्लभ है। जॉर्ज हाम ने ठीक ही लिखा है—"यह विशेष रूप से आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में जिसमें एक ही दिन में लाखों व्यक्ति लाखों वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय कर सकते हैं, लगभग असम्भव-सा ही है कि वस्तु-विनिमय करने वाले सभी व्यक्तियों की सभी इच्छाओं की वस्तुओं की श्रेणी, गुण, मात्रा एवं मूल्य के सम्बन्ध में संयोग बैठ जाय।"[2]

(2) **मूल्य के एक सामान्य मापक का अभाव** (Lack of a Common Measure of Value)—वस्तु विनिमय प्रणाली में मूल्य का कोई एक सर्वमान्य मापक नहीं होता जिसके कारण वस्तुओं की परस्पर अदल बदल का एक निश्चित अनुपात निर्धारित नहीं किया जा सकता। वास्तव में, वस्तु-विनिमय की यह बहुत बड़ी कठिनाई है कि विनिमय के लिए तत्पर दोनों पक्ष यह नहीं जान पाते कि किस अनुपात में विनिमय किया जाय। मूल्य के एक सर्वमान्य मापक के अभाव में यह जानना बहुत ही कठिन है कि एक गाय के बदले में कितना गेहूँ दिया जाय, और गेहूँ के बदले कितना कपड़ा मिले। इस अभाव के कारण विनिमय का अनुपात मनमाने ढङ्ग से निश्चित होगा जो प्राय दोनों पक्षों की सौदा करने की शक्ति पर निर्भर करेगा। इस प्रकार की व्यवस्था में हजारों वस्तुओं के पारस्परिक विनिमय-अनुपात का न तो निर्धारण हो सकता है, न उसे लागू किया जा सकता है; और न ही कोई हिसाब-किताब रखा जा सकता है।

(3) **कुछ वस्तुओं की अविभाज्यता** (Indivisibility of Certain Commodities)—विनिमय की जाने वाली कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें विभाजित नहीं किया जा सकता, और यदि किया जाय तो उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है। उदाहरणत, यदि एक घोड़े का मूल्य दो गायों के बराबर है और घोड़े वाले व्यक्ति को केवल एक ही गाय की आवश्यकता है, तो वह अपने घोड़े के दो भाग तो नहीं कर सकता। उसे पूरा घोड़ा ही देना पड़ेगा जबकि उसके बदले में वह

1 Lt Cameron *All Across Africa*, Quoted by Foster and Catchings in '*Money*', p 35

2 "It is next to impossible that all wishes of bartering individuals should coincide as to the kind, quality, quantity and value of the things which are mutually desired, especially in a modern economy in which on a single day millions of persons may exchange millions of commodities and services "—George N. Halm, *Monetary Theory*, p 1.

उसकी आधी कीमत ही प्राप्त कर रहा है। **इस प्रकार अनेक अविभाज्य वस्तुओं की अदल बदल हो ही नहीं पाती अथवा उनके स्वामी को उनके बदले में कभी उचित मूल्य नहीं मिल पाता है।**

(4) **क्रय-शक्ति के संचय का अभाव (Lack of Store of Value)**—वस्तु विनिमय प्रणाली में वस्तुओं के रूप में मूल्य संचय करना न केवल असुविधाजनक था, वरन् असम्भव भी, क्योंकि अधिकांश वस्तुएँ शीघ्र नष्ट होने वाली थीं। **परिणामस्वरूप मनुष्य अपनी कमाई को भावी उपयोग के लिए सुरक्षित नहीं रख पाता था और न ही पूंजी का निर्माण हो सकता था जिसकी सहायता से बड़े पैमाने का उत्पादन सम्भव हो सके।** जेवन्स ने एक पेरिस की गायिका का उदाहरण दिया है, जो एक ऐसे द्वीप में अपना संगीत कार्यक्रम प्रस्तुत करने गयी जहाँ वस्तु विनिमय की प्रणाली प्रचलित थी। उसे अपना पुरस्कार सूअर, मुर्गी, पक्षी तथा फलों आदि के रूप में मिला। खाद्य-सामग्री तो पशु और पक्षी खा गये, गायिका के लिए कुछ बचा ही नहीं, और उनको जीवित रखने के लिए उस बेचारी को प्रतिदिन कार्यक्रम देना पड़ा ताकि उनके लिए खाद्य-पदार्थ मिलते रहें। उसका धन उसके लिए एक मुसीबत बन गया और वह धनवान न बन सकी।[1]

(5) **मूल्य-हस्तान्तरण की कठिनाई (Difficulty of Transfer of Value)**—वस्तु-विनिमय के अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्य को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना बहुत ही कठिन है। मान लीजिए, एक व्यक्ति अपना मकान बेचकर दूसरी जगह जाना चाहता है, परन्तु उसके बदले में प्राप्त होने वाली वस्तुएँ बहुत कम अथवा अनुपयुक्त होंगी। वह उन्हें साथ नहीं ले जा सकता और प्रायः उसे अपनी सम्पत्ति छोड़कर ही जाना पड़ेगा। **इससे गतिशीलता पर प्रभाव पड़ेगा, विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक आदान-प्रदान सम्भव नहीं होगा इसलिए आर्थिक विकास की गति बहुत धीमी रहना स्वाभाविक ही है।**

(6) **स्थगित भुगतानों में कठिनाई (Difficulty of Deferred Payments)**—विनिमय में अनेक बार भुगतान तत्काल न कर, कुछ समय पश्चात किया जाता है। परन्तु वस्तु-विनिमय व्यवस्था में **उधार लेन-देन सम्भव नहीं,** क्योंकि किसी वस्तु का भविष्य में मूल्य निश्चित नहीं होता और उनकी पारस्परिक कीमतें निरन्तर बदलती रहती हैं। इन परिस्थितियों में भुगतान को भविष्य में करने से किसी भी पक्ष को हानि होने का भय बना रहता है।

वस्तु-विनिमय पद्धति की उपर्युक्त कठिनाइयों देखने के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु विनिमय व्यापार का एक अति असुविधाजनक एवं दोषपूर्ण ढंग है जिसका प्रयोग कुछ विशेष परिस्थितियों में ही सम्भव हो सकता है।

वस्तु-विनिमय के लिए आवश्यक दशाएँ

वस्तु-विनिमय प्रणाली को यदि कुछ सफलता मिल सकती है तो केवल एक ऐसे समाज में ही जिसकी आवश्यकताएँ अत्यन्त सरल और थोड़ी हों, और विनिमय का क्षेत्र बहुत सीमित हो। इसके लिए निम्न दशाओं का होना आवश्यक है

(1) **पिछड़ा समाज**—एक पिछड़े समाज की आवश्यकताएँ सीमित होती हैं जिनकी पूर्ति वस्तु-विनिमय द्वारा की जा सकती है। एक सभ्य समाज में, जहाँ श्रम विभाजन अपने उच्चतम शिखर पर हो, मनुष्य की आवश्यकताएँ अनगिनत होंगी और उनको वस्तु-विनिमय द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता।

(2) **विनिमय का सीमित क्षेत्र**—एक सीमित क्षेत्र में यह ज्ञान सरलता से प्राप्त हो जाता है कि किस व्यक्ति को क्या वस्तु चाहिए, और वह कौनसी वस्तु दे सकता है। जब तक उनकी पारस्परिक इच्छाओं का मेल न होगा, तब तक विनिमय नहीं हो सकता। एक सीमित क्षेत्र में दोहरा संयोग प्राप्त करना अधिक सरल होता है। इसीलिए प्रायः अविकसित समाजों में (छोटे-छोटे देहातों में रहने वाले) लोग आज भी आपस में वस्तु विनिमय कर लेते हैं।

(3) **यातायात की सुविधाओं का अभाव**—जिस समाज में यातायात के साधनों का अभाव है वहाँ के निवासियों की आवश्यकताएँ प्रायः कम होती हैं, और विनिमय का क्षेत्र सीमित होने के

---

1 W. S. Jevons *Money and the Mechanism of Exchange*, p. 1.

कारण उनमे परस्पर सम्पर्क घनिष्ठ हो जाता है। वहाँ के स्थानीय आर्थिक जीवन मे आत्म-निर्भरता बढ़ती है और वस्तु-विनिमय को अपनाने म अधिक कठिनाइयों का सामना नही करना पड़ता।

जैसे-जैसे सामाजिक सगठन जटिल एव विस्तृत होता गया, श्रम-विभाजन के महत्व को समझा जाने लगा और मानवीय आवश्यकताएँ भी बढ़ती गयी, वैसे-वैसे वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ भी बढ़ती गयी और मनुष्य विनिमय की किसी अन्य सुविधाजनक प्रणाली की खोज मे लग गया। इसी खोज के परिणामस्वरूप उसे मुद्रा का ज्ञान प्राप्त हुआ। हॉम के अनुसार, "छोटे एकाकी समाज मुद्रा के अभाव म अपना कार्य भले ही चला सकते हो, तथा अत्यन्त पिछड़ी परिस्थितियों म वस्तु-विनिमय पर्याप्त हो किन्तु प्रारम्भिक काल तथा अति दूर भविष्य की मुद्रा-रहित व्यवस्थाओं के मध्य जो भी समाज हैं, उनमे यद्यपि अनेक बातो मे महत्वपूर्ण अन्तर हैं, तथापि वे सभी मौद्रिक अर्थ व्यवस्थाएँ हैं।"[1]

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मे वस्तु-विनिमय

यद्यपि आधुनिक युग मे वस्तु-विनिमय का केवल एक ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है, तथापि इसका प्रयोग पूर्ण रूप मे समाप्त नही हुआ। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देशो के गाँवो मे आज भी लोग अपने उपभोग की आवश्यक वस्तुएँ अन्न जैसी सामान्य स्वीकृति वाली वस्तुओं के बदले म प्राप्त करते हैं। कृषि मजदूरो को कही कही मजदूरी भी अनाज ही मे दी जाती है। यह सत्य ह कि आर्थिक विकास के साथ साथ गावो म भी वस्तु-विनिमय का क्षेत्र सीमित होता गया है और अधिकाश क्रय-विक्रय मुद्रा म ही होता है, परन्तु फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सीमित रूप मे यह प्रणाली आज भी विद्यमान है, चाहे वह पिछड़ेपन का प्रतीक ही हो।

विकसित देशो मे, कभी कभी, वस्तु विनिमय को आज के युग मे भी अपनाया गया है। उदाहरण के लिए, प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात मुद्रा-प्रसार के कारण यूरोप के देशो की मुद्रा की इकाइयों का मूल्य बहुत अधिक गिर जाने के कारण इन देशो को प्रत्यक्ष (किन्तु सशोधित) वस्तु-विनिमय प्रणाली का सहारा लेना पड़ा था। अमरीका मे 1932-33 ई० म मन्दी के कारण छोटे-छोटे वस्तु विनिमय समाज बन गये थे। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात जर्मनी मे, बाल्टर युकिन के अनुसार बतन बनाने वाले कारखानो मे श्रमिको को बर्तन के रूप मे वेतन दिया जाता था, जिनके बदले म वे अन्य लोगो से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त करते थे।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे विदेशी विनिमय की कमी के कारण गत वर्षों म कुछ द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते (Bilateral Trade Agreements) हुए है जिनके अन्तर्गत सामान के बदले म सामान ही दिया जाता है। भारत ने रूस तथा अन्य समाजवादी देशो के साथ इसी प्रकार के समझौते किये हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आधुनिक काल मे, आन्तरिक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु विनिमय मे, मुद्रा ही हिसाब-किताब की इकाई का कार्य करती है और मूल्य के मापदण्ड के रूप म मुद्रा का ही प्रयोग होता है। आज भी व्यापार म प्रत्यक्ष विनिमय का प्रचलन है—गेहूँ के बदले चावल, चावल के बदले कपड़ा तथा कपड़े के बदले चमड़ा—किन्तु अब विनिमय की शर्तें मुद्रा को आधार मानकर ही तय की जाती हैं। अपने सशोधित रूप मे भी वस्तु-विनिमय का केवल कुछ वस्तुओं तथा कुछ काल के लिए केवल कुछ देशो म सीमित रूप म प्रयोग किया जा रहा है, अर्थात सामान्य रूप म विश्व भर मे मौद्रिक विनिमय ही प्रचलित है।

मुद्रा का विकास

मुद्रा का आविष्कार

मुद्रा का आविष्कार, निस्सन्देह, वस्तु-विनिमय प्रणाली की कठिनाइयों से प्रेरित होकर ही हुआ होगा। आरम्भ मे मुद्रा का समाज म हिसाब की इकाई (unit of account)

1 "Small Communities in isolation may do without money, and barter may suffice under primitive conditions But between the non-monetary orders of earliest times and of perhaps a very distant future we have societies which, though differing in many respects, are all monetary economies" —George N Halm. *Monetary Theory*, p 1

अथवा सामान्य मूल्य-मापक (common measure of value) के रूप मे प्रयोग मे लाया गया था। यद्यपि व्यापार अब भी पहले के समान प्रत्यक्ष वस्तु-विनिमय के रूप मे होता था, परन्तु विभिन्न वस्तुओ का विनिमय-अनुपात अब एक आदर्श वस्तु (पशु, अनाज आदि) की सहायता से निश्चित किया जाने लगा, जिसने पहले की सी *अनिश्चितता की समस्या को हल किया। धीरे-धीरे* हिसाब की मुद्रा को विनिमय का माध्यम भी बना लिया गया। किसी मनुष्य को धनी बनने के लिए अब मुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का सग्रह करने की आवश्यकता नहीं रही। इस प्रकार, किसी वस्तु द्वारा समाज मे मुख्य रूप से तीन कार्यों—हिसाब की इकाई, विनिमय का माध्यम और मूल्य का सचय—का सम्पन्न किया जाना ही मुद्रा के आविष्कार का आरम्भ है।

मुद्रा के आविष्कार से वस्तु-विनिमय प्रणाली की सभी कठिनाइयो का अन्त हो गया। मुद्रा की सहायता से विभिन्न वस्तुओ का पारस्परिक विनिमय-अनुपात एक आदर्श वस्तु के सन्दर्भ मे स्थिर हो गया। इसमे सन्देह नही कि विनिमय का कार्य अब पहले के समान प्रत्यक्ष एव सरल नही रहा, क्योकि प्रत्येक विनिमय के लिए अब एक के बजाय दो सौदो की आवश्यकता पडने लगी। परन्तु मुद्रा-विनिमय (अर्थात् क्रय-विक्रय प्रणाली) द्वारा ही दोहरे सयोग की कठिनाई का अन्त हुआ, क्रय शक्ति का सुविधापूर्वक सग्रह किया जाने लगा, विभाजकता की कठिनाई दूर हो गयी, मूल्य के हस्तान्तरण तथा स्थगित भुगतानो की असुविधाएँ समाप्त हुई। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था एव प्रगति मुद्रा के प्रयोग के बिना कदापि सम्भव न हुई होती। क्राउथर का विचार निश्चित रूप से सत्य है कि "मुद्रा मनुष्य के मौलिक आविष्कारो मे से एक बहुत महत्वपूर्ण आविष्कार है।"[1]

मुद्रा के जन्म से सम्बन्धित दो सिद्धान्त

मुद्रा के जन्म के बारे मे मुख्यतया दो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं—(1) मुद्रा का आकस्मिक जन्म सिद्धान्त (Theory of Spontaneous Growth of Money), तथा (2) मुद्रा का विकास का सिद्धान्त (*Theory of Evolution of Money*)।

मुद्रा का आकस्मिक जन्म सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मानव ने खोज नही की, अपितु यह उसे सयोगवश ही मिल गयी। स्पाल्डिग (Spalding) इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थक हैं। ज्यो-ज्यो विनिमय का चलन बढता गया, लोगो के सामने कठिनाइयाँ आयी और उन्होने किसी एक वस्तु को विनिमय-माध्यम के रूप मे प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। कुछ समय पश्चात यदि उन्हे कोई अन्य वस्तु अधिक अच्छी मिल गयी तो वह मुद्रा मान ली गयी। इस प्रकार मुद्रा स्वत ही अस्तित्व मे आयी, इसके लिए कोई विशेष खोज नही हुई।

मुद्रा का विकास का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का विकास वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों को दूर करने के लिए किया गया था। एडम स्मिथ (Adam Smith) के अनुसार मुद्रा का जन्म विशिष्टीकरण (specialization) के साथ हुआ। क्राउथर के विचारानुसार मुद्रा एक आविष्कार ही था, क्योकि "सरल वस्तु विनिमय से मौद्रिक लेखे की दिशा मे आगे बढने के लिए चेतन तर्क-शक्ति की आवश्यकता पडी थी।"[2] निरन्तर खोज के परिणामस्वरूप मुद्रा का विकास लेखे की इकाई के रूप मे हुआ। एक सर्वमान्य वस्तु के अनुपात मे अन्य वस्तुओ का मूल्य निश्चित किया जाने लगा। धीरे-धीरे मूल्य का मापक विनिमय के माध्यम का भी कार्य करने लगा।

उक्त दोनो सिद्धान्तो के पक्ष एव विपक्ष मे बहुत कुछ कहा जाता है, परन्तु हमारे लिए तो इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि मनुष्य किसी न किसी प्रकार की मुद्रा का प्रयोग करने लगा, और अपनी परिस्थितियो तथा आवश्यकताओ के अनुसार इसके रूप मे परिवर्तन करता रहा।

मुद्रा का ऐतिहासिक विकास

मुद्रा का जन्म कब और कैसे हुआ, यह बताना सम्भव नहीं। सभ्यता के अन्य मूलभूत तत्वों की भाँति मुद्रा भी एक अत्यन्त प्राचीन तत्व है जिसने मानव-सभ्यता के विकास के साथ-साथ

1 "Money is one of the most fundamental of all Men's inventions"—Geoffrey Crowther *An Outline of Money* p. 4

2 "And it undoubtedly was an invention, it needed the conscious reasoning power of man to make the step from simple barter to money accounting"—Crowther *An Outline of Money*, p. 3.

क्रमिक विकास होता गया है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्ज ने ठीक ही कहा है—"मुद्रा सभ्यता के अनेक अनिवार्य तत्वों की भाँति उससे कहीं अधिक पुरानी है जितना कि हमें कुछ वर्षों पूर्व विश्वास दिलाया जाता था। इसका उद्गम अतीत के कोहरे में खो गया है, जबकि बर्फ पिघल रही थी, इसका विस्तार बहुत पहले मानव इतिहास के अन्तर्हिम काल की स्वर्गिक मध्यान्तरावस्था में पाया जा सकता है।"[1]

मुद्रा का प्रयोग उस काल में भी होता था जिसका लिखित इतिहास नहीं मिलता। अलग-अलग सभ्यताओं ने मुद्रा का विकास अलग-अलग किया। इतिहासकारों के अनुसार अति प्राचीन काल में दक्षिणी महासागर के टापू के रहनेवाले लोग पत्थरों का मुद्रा के रूप में व्यवहार करते थे। प्राचीन भारत में ऋग्वेद के युग में गाय को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाता था। इतिहासकार हेरोडोटस (Herodotus) के अनुसार सिक्कों का प्रयोग सर्वप्रथम ईसा से छ-सात सौ वर्ष पूर्व लीडिया (Lydia) में हुआ। आजकल तो प्राय सभी देशों में पत्र-मुद्रा प्रचलित है, जिसका ऐतिहासिक महत्व फ्रांसीसी क्रान्ति से अधिक पुराना नहीं है।[2] विकसित राष्ट्रों में साख-पत्रों का व्यवहार भी काफी महत्वपूर्ण हो गया है। ऐतिहासिक रूप से मुद्रा निम्नलिखित क्रमों में होकर विकसित हुई है

(1) वस्तु-मुद्रा (Commodity Money)—मुद्रा का प्रारम्भिक रूप वस्तु-मुद्रा ही था। आखेट युग में पशुओं की खालें, हड्डियाँ और बाल, पशु-पालन युग में पशु (गाय, बैल, बकरी आदि), कृषि युग में अनाज को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया गया। पशुओं तथा कृषि-पदार्थों के अतिरिक्त समय समय पर स्थानीय परिस्थितियों के आधार पर अन्य वस्तुओं का भी प्रयोग मुद्रा के रूप में किया गया। वस्तु-मुद्रा प्राय समय और स्थान के साथ बदलती रही, यह लोगों के दैनिक जीवन में उपयोगी थी और इस पर किसी का एकाधिकार भी नहीं था।

वस्तु मुद्रा की अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ थी। प्रमापीकरण (standardisation) के अभाव के कारण मूल्य निर्धारण में कठिनाई होती थी। इसके अतिरिक्त इन वस्तुओं के रूप में धन का संचय करना भी सुविधाजनक नहीं था। वहनीयता (portability) के गुण का भी अभाव था, और चूँकि विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मुद्रा के रूप में प्रयोग में लायी जा रही थीं, इसलिए उन क्षेत्रों में पारस्परिक विनिमय सुविधापूर्वक नहीं हो पाता था। अत अब ऐसी वस्तुओं की खोज की जाने लगी जो टिकाऊ हों, मूल्यवान हों तथा सर्वमान्य हों।

(2) धातु-मुद्रा (Metallic Money)—मुद्रा के रूप में ताँबा, लोहा, काँसा, सोना तथा चाँदी आदि अनेक धातुओं के टुकड़ों का प्रयोग किया गया। अन्य धातुओं की अपेक्षा सोने और चाँदी का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक समय तक हुआ है। धातुओं के टुकड़ों में परिचायकता (cognisability) के अभाव के कारण बेईमानी और जालसाजी रोकने के लिए जब निश्चित आकार और तौल के टुकड़ों पर ठप्पे (stamp) लगने लगे तो सिक्कों का आरम्भ हुआ। ऐसा पता चलता है कि ईसा से ग्यारहवीं शताब्दी पूर्व चीन में, सातवीं शताब्दी पूर्व एशिया माइनर में तथा चौथी शताब्दी पूर्व भारत में सिक्के चलन में थे। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी तक तो प्राय सभी देशों में सिक्के काम में आने लगे। परन्तु व्यापार की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को धातु-मुद्रा द्वारा पूरा न किया जा सका और यह अनुभव किया गया कि इनका प्रयोग भी असुविधाजनक है।

(3) पत्र-मुद्रा (Paper Money)—मुद्रा-विकास के इतिहास में सिक्कों के बाद पत्र-मुद्रा का विकास क्रमिक रूप से हुआ है। प्राचीन काल में व्यापारी दूर-दूर स्थानों में सिक्के ले जाने के बजाय मुद्रा की विद्यमानता के लिखित प्रमाण-पत्र ले जाने लगे। इन्हीं प्रमाण-पत्रों का आगे चलकर मुद्रा की तरह व्यवहार होने लगा क्योंकि उनका भुगतान बाद में कर दिया जाने लगा। बैंकों ने अपने नोट जारी किये तो उनका प्रयोग मुद्रा की भाँति ही किया गया। अव्यवस्था से बचने के

---

1 "Money like certain other essential elements in civilization, is a far more ancient institution than we were brought to believe some few years ago Its origins are lost in the mists when the ice was melting, and may well stretch back into the paradisaic intervals in human history of the interglacial periods —J M. Keynes *A Treatise on Money*, Vol I, p. 13

2 *Ibid*, p 15

लिए पत्र मुद्रा जारी करने का अधिकार आगे चलकर केवल केन्द्रीय बैंकों तथा स्वयं सरकार तक ही सीमित कर दिया गया। काफी समय तक नोटों को स्वर्ण-मुद्रा में परिवर्तित किया जा सकता था, किन्तु आज सभी देशों में पत्र मुद्रा अपरिवर्तनीय (*inconvertible*) है। वर्तमान समय में सम्पूर्ण विश्व में पत्र-मुद्रा ही पूर्णरूपेण मुद्रा है, और सिक्के केवल सहायक एवं सांकेतिक मुद्रा के रूप में चलन में हैं।

(4) साख-मुद्रा (Credit Money)—अधिक विकसित देशों में जहाँ बैंक विकसित अवस्था में हैं, अधिकांश विनिमय का भुगतान बैंकों की सहायता से किया जाता है। इन देशों में साख-मुद्रा—जैसे चैक, ड्राफ्ट आदि—ने बहुत महत्व प्राप्त कर लिया है, जिससे व्यावसायिक भुगतान और भी सुविधाजनक हो गये हैं।

वास्तव में, मुद्रा का इतिहास मानव-सभ्यता का इतिहास है। अपनी सुविधा एवं सुरक्षा के लिए मनुष्य इसका निरन्तर विकास करता रहा है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. **वस्तु विनिमय की कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि मुद्रा के प्रयोग द्वारा कैसे और कहाँ तक इन कठिनाइयों को दूर किया जा सका है ?**

   [संकेत वस्तु विनिमय की कठिनाइयों का उल्लेख करने के पश्चात् मुद्रा के कार्यों के आधार पर यह स्पष्ट कीजिए कि मुद्रा वस्तु विनिमय की सभी कठिनाइयों को किस प्रकार दूर करती है।]

2. **मुद्रा का जन्म किस प्रकार हुआ ? मुद्रा के ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश डालिए।**

   [संकेत मुद्रा के जन्म से सम्बन्धित सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए और यह बताइए कि मुद्रा ने कौन-कौनसे रूप धारण किये हैं।]

3. **आधुनिक युग में वस्तु विनिमय का क्या स्थान है ? क्या विश्व पुनः इस प्रणाली को अपना रहा है ?**

   [संकेत आधुनिक युग में वस्तु विनिमय के रूप की व्याख्या के पश्चात् यह स्पष्ट कीजिए कि वर्तमान युग में वस्तु विनिमय का रूप पहले से भिन्न है, क्योंकि यह मुद्रा पर आधारित है।]

2

मुद्रा की परिभाषा, कार्य एवं महत्व

[DEFINITION, FUNCTIONS AND SIGNIFICANCE OF MONEY]

"मुद्रा वह धुरी है जिस पर अर्थ विज्ञान चक्कर लगाता है।"[1] —मार्शल

भारत में 'मुद्रा' शब्द का प्रयोग उस संकेत-चिन्ह अथवा परिचय-चिन्ह के लिए किया जाता था जो राज-दरबार की ओर से किसी व्यक्ति को प्राप्त होता था। वर्तमान युग में भी मुद्रा से अभिप्राय राज्य द्वारा जारी किये गये उस संकेत चिन्ह से है जिसके द्वारा देश में सम्पूर्ण लेन-देन सम्पन्न होता है। अंग्रेजी भाषा का शब्द 'मनी' (Money) लैटिन भाषा के शब्द 'मोनेटा' (Moneta) से बना है। 'मोनेटा' देवी 'जूनो' (Goddess Juno) का दूसरा नाम है, जिसके मन्दिर में प्राचीन रोम में सिक्कों का टंकण होता था।

मुद्रा की परिभाषाएँ

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गयी मुद्रा की परिभाषाएँ इतनी अधिक हैं कि यह निश्चय कर पाना कठिन हो जाता है कि कौनसी परिभाषा को माना जाय। केन्ज ने ठीक ही लिखा है कि "राजनीति अर्थशास्त्र ने परिभाषाओं से अपना गला घोट डाला है।" विभिन्न परिभाषाओं के वर्गीकरण द्वारा मुद्रा की एक सही परिभाषा जानने में सहायता मिल सकती है। परिभाषाओं का वर्गीकरण अर्थशास्त्रियों की विचारधारा के अनुसार तथा परिभाषाओं की प्रकृति के अनुसार किया जा सकता है।

विचारधारा के आधार पर—

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा की दी गयी परिभाषाएँ या तो मुद्रा को विस्तृत या संकुचित अर्थ प्रदान करती हैं।

विस्तृत अर्थ वाली परिभाषाएँ—वाकर तथा हार्टले विदर्स के अनुसार, "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे।"[2] इसी प्रकार अमरीकी अर्थशास्त्री केन्ट के विचारानुसार "मुद्रा कोई भी वह वस्तु हो सकती है जो सामान्यत विनिमय-माध्यम तथा मूल्य-मापक के रूप में समाज में स्वीकार की जाती है।"[3] कार्ल हैलफरिक[4] तथा कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की इतनी व्यापक रूप में परिभाषा दी है कि मौद्रिक प्रणाली का सम्बन्ध लगभग सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था से स्थापित हो जाता है। इन परिभाषाओं को सन्तोषजनक नहीं माना जाता, क्योंकि यह चैक, बिल, ड्राफ्ट आदि को भी मुद्रा में सम्मिलित कर लेती हैं, जो मुद्रा का कार्य करते हुए भी वास्तव में मुद्रा नहीं है। चूंकि उनकी स्वीकृति अनिवार्य नहीं है, इसलिए उन्हें मुद्रा का दर्जा नहीं दिया जा सकता।

संकुचित अर्थ वाली परिभाषाएँ—राबटसन द्वारा दी गयी मुद्रा की परिभाषा

---

1 "Money is the pivot round which the economic science clusters." —Alfred Marshall

2 "Money is that Money does." —Francis A Walker *Money in Relation to Trade and Industry*, p 1, Hartley Withers *The Meaning of Money*.

3 Money is "anything that is commonly used and generally accepted as a medium of exchange or as a standard of value" —R. P Kent *Money and Banking*, p 4.

4 Karl Helfferich *Money*, Vol I, p 211

मुद्रा को एक संकुचित रूप प्रदान करती है। उसके विचारानुसार "मुद्रा वह वस्तु है जिसे वस्तुओं की कीमत चुकाने तथा अन्य प्रकार के व्यावसायिक दायित्वों के निपटाने के लिए विस्तृत रूप से स्वीकार किया जाता है।"[1] चूंकि धातु मुद्रा ही विस्तृत रूप से स्वीकार की जाती है, इसलिए इस परिभाषा के अनुसार केवल धातु मुद्रा को ही मुद्रा कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त मुद्रा के केवल एक ही कार्य—वस्तुओं और सेवाओं के बदले सर्वमान्यता के गुण—का उल्लेख किया गया है और अन्य कार्यों के बारे में कुछ नहीं कहा गया। स्पष्टतः यह परिभाषा अपूर्ण एवं असन्तोषजनक है।

उचित परिभाषाएँ—विस्तृत तथा संकुचित सीमाओं के बीच कुछ परिभाषाएँ ऐसी भी हैं जो मुद्रा को विस्तृत अर्थ प्रदान कर उसे न अस्पष्ट बनाती हैं और न ही संकुचित रखकर मुद्रा के किसी रूप को परिभाषा के बाहर छोड़ती हैं। क्राउथर द्वारा दी गयी परिभाषा इसी प्रकार की है। उसके अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो साधारणतया विनिमय के माध्यम के रूप में स्वीकार की जाती है (अर्थात् ऋणों का भुगतान करने के हेतु) और साथ-साथ मूल्य के मापक और संचय के आधार का भी कार्य करती है।"[2] एली (Ely) तथा मार्शल द्वारा भी इसी प्रकार की परिभाषाएँ दी गयी हैं। इनके अनुसार धातु-मुद्रा और पत्र मुद्रा ही मुद्रा माने जाते हैं, चैक इत्यादि नहीं, क्योंकि इनको सामान्य स्वीकृति प्राप्त नहीं होती।

प्रकृति के आधार पर

मुद्रा की परिभाषाओं की प्रकृति के आधार पर उनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—वर्णनात्मक परिभाषाएँ, वैधानिक परिभाषाएँ, एवं सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ।

वर्णनात्मक परिभाषाएँ (Descriptive Definitions)—मुद्रा के कार्यों का वर्णन करने वाली परिभाषाएँ वर्णनात्मक या कार्यात्मक परिभाषाएँ कही जा सकती हैं। फ्रान्सिस वाकर (Francis A Walker), हार्टले विदर्स (Hartley Withers), सिजविक (Sidgwick), व्हिटलसी (Whittlesey), नोगारो (Nogaro) तथा एस० ई० टॉमस (S E Thomas) द्वारा इसी प्रकार की परिभाषाएँ दी गयी हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, हार्टले विदर्स के अनुसार "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे।" टामस के अनुसार, "मुद्रा समुदाय के सभी सदस्यों के ऊपर एक प्रकार का अधिकार है, एक ऐसा आदेश अथवा वचन जिसे उसका स्वामी अपनी इच्छानुसार कभी भी पूरा करा सकता है। वह स्वयं साध्य नहीं है, अपितु अन्य व्यक्तियों की सेवाओं और वस्तुओं पर अधिकार जमाने का केवल साधन मात्र है।"[3]

वस्तुतः ये परिभाषाएँ मुद्रा का वर्णन करती हैं जबकि 'वर्णन' और 'परिभाषा' में भारी अन्तर है। परिभाषा में वर्ग (genus) तथा विशेषक (differentia) का उल्लेख करना आवश्यक होता है। ये परिभाषाएँ सरल और व्यावहारिक होते हुए भी वैज्ञानिक अध्ययन के लिए स्वीकार नहीं की जा सकती हैं।

वैधानिक परिभाषाएँ (Legal Definitions)—किसी भी वस्तु के मुद्रा होने के लिए वैधानिक मान्यता आवश्यक है। वैधानिक विचार के अनुसार मुद्रा वही वस्तु है जिसे सरकार मुद्रा घोषित करती है और प्रत्येक व्यक्ति उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य है। इस विचार के मुख्य समर्थक जर्मनी के प्रो० नैप (Knapp) तथा ब्रिटिश अर्थशास्त्री हाट्रे (Hawtrey) हैं। नैप के अनुसार "कोई भी वस्तु जो राज्य द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाती है, मुद्रा कही जाती है।"[4]

1 Money is "a commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payment of goods, or in discharge of other business obligations —*D H Robertson Money*, p 2

2 " anything that is generally acceptable as a means of exchange (*i.e*, as a means of settling debts) and at the same time acts as a measure and a store of value —Crowther *An Outline of Money* p 33

3 "Money is a kind of claim upon all other members of the community, a sort of *order* or promise to deliver which can be enforced whenever the owner pleases It is a means to an *end not for its own sake but as a means of obtaining other articles or of* commanding the services of others —S E Thomas *Elements of Economics*, p 400

4 English Translation of Knapp s '*The State Theory of Money*,' Lucas and Boner

व्यावहारिक दृष्टिकोण से नैप की परिभाषा सही प्रतीत होती है। परन्तु यदि गम्भीरता से देखा जाय तो विनिमय एक ऐच्छिक कार्य है, और यदि इसे सरकार द्वारा स्वीकृति के दबाव में किया जाय तो यह सच्चे अर्थ में विनिमय नहीं कहा जा सकता। दूसरे, मुद्रा-प्रसार के काल में जब मुद्रा का मूल्य तीव्र गति से गिरने लगता है तो राज्य द्वारा मान्यता रहते हुए भी मुद्रा का सामान्य स्वीकृति का गुण समाप्त हो जाता है। स्वयं नैप के देश जर्मनी में ऐसा ही हुआ। प्रथम महायुद्ध के बाद जब भीषण मुद्रा-प्रसार हुआ तो जर्मन सरकार की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा एवं शक्ति भी मार्क की सामान्य स्वीकृति बनाये रखने में असमर्थ रही। 1944 में हंगरी में पेन्गोस (Pengos) विधि-ग्राह्य होते हुए भी जनता की स्वीकृति न प्राप्त कर सका। द्वितीय महायुद्ध के बाद चीन में भी कानूनी मुद्रा सामान्य स्वीकृति खो बैठी। **सर्वग्राह्यता का वास्तविक आधार जनता का विश्वास है, राज्य की शक्ति नहीं।**

नैप द्वारा दी गयी परिभाषा की त्रुटियों को ध्यान में रखते हुए हार्ट्रे ने इसमें सुधार के लिए मुद्रा द्वारा क्रय-शक्ति के रूप में किये जाने वाले कार्य को भी जोड़ दिया है। उसके अनुसार मुद्रा के दो पहलू हैं—प्रथम, यह लेखे की इकाई (unit of account) है, द्वितीय, यह विधिग्राह्य (legal tender) है।

सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ—सामान्य स्वीकृति मुद्रा का एक आवश्यक गुण है। इसको आधार मानते हुए अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

"मुद्रा में वे सब वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं जो किसी विशेष समय अथवा स्थान में, बिना सन्देह या विशेष जाँच पड़ताल के, वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने और व्यय का भुगतान करने के साधन के रूप में सामान्यतया प्रचलित होती हैं।"[1] —मार्शल

"मुद्रा वह वस्तु है जिसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।"[2] —सेलिगमैन

"मुद्रा कोई भी ऐसी वस्तु है जिसका विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण होता है, और जो ऋणों के अन्तिम भुगतान में सामान्य रूप में स्वीकार की जाती है।"[3] —ऐली

"मुद्रा वह है जिसे देकर ऋण और मूल्य सम्बन्धी अनुबन्धों को पूर्ण किया जा सकता है, और जिसमें सामान्य क्रय-शक्ति संचित की जाती है।"[4] —केन्ज

"मुद्रा केवल क्रय शक्ति है अर्थात् एक ऐसी वस्तु जिससे अन्य वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। यह एक ऐसी वस्तु है जो सामान्यतः तथा विस्तृत रूप से भुगतान के साधन के रूप में उपयोग की जाती है और साधारणतया ऋणों के भुगतान में स्वीकार की जाती है।"[5] —कोल

"मुद्रा एक वस्तु है जिसे साधारणतया विनिमय के माध्यम तथा मूल्य-मापक के रूप में स्वीकार किया जाता है।"[6] —केण्ट

उक्त परिभाषाओं का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर इनमें कुछ अन्तर दिखायी पड़ते हैं, परन्तु सभी में यह स्वीकार किया गया है कि मुद्रा में सामान्य स्वीकृति का गुण अनिवार्य रूप में होना चाहिए। इन परिभाषाओं से मुद्रा के निम्न लक्षण प्रकट होते हैं :

1. मुद्रा की स्वीकृति सामान्य होनी चाहिए।
2. मुद्रा की स्वीकृति स्वतन्त्र एवं ऐच्छिक हो।

---

1 "Money includes all those things which are (at any given time or place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities or services, and of defraying expenses —Marshall

2 "Money is one thing that possesses general acceptability " —Seligman

3 "Anything that passes freely from hand to hand as a medium of exchange and is generally received in final discharge of debts " —Ely.

4 "Money is that by the delivery of which debt contracts and price contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held ' —J M Keynes.

5 "Money is simply purchasing power—something which buys things—it is anything which is habitually and widely used as a means of payment and is generally acceptable in the settlement of debts " —G D. H Cole

6 "Money is anything which is commonly used and generally accepted as a medium of exchange or as a standard of value " —Kent.

(3) मुद्रा विनिमय का माध्यम तथा मूल्यों का मापक एक साथ ही मानी जानी चाहिए।

इन परिभाषाओं में मुद्रा के वर्ग (genus—अर्थात् वस्तु) और इसके विशिष्ट गुण (differentia—अर्थात् सामान्य स्वीकृति) का उल्लेख कर दिया गया है, इसलिए ये परिभाषाएँ उचित प्रतीत होती हैं।

मुद्रा के गुणों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि मुद्रा वह वस्तु है जिसे एक व्यापक क्षेत्र में विनिमय के माध्यम, मूल्य-मापक, ऋण भुगतान तथा मूल्य संचय के रूप में स्वतन्त्र और सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।

मुद्रा की प्रकृति अथवा स्वभाव

मुद्रा की प्रकृति अन्य वस्तुओं से भिन्न है। लोग अनेक वस्तुएँ इसलिए चाहते हैं क्योंकि वे उनके लिए उपयोगी हैं। परन्तु मुद्रा के द्वारा मनुष्य की कोई भी आवश्यकता प्रत्यक्ष रूप से सन्तुष्ट नहीं हो पाती। मुद्रा की इच्छा केवल इसलिए होती है कि इसमें क्रय-शक्ति है, अर्थात् इसकी सहायता से आवश्यकता की वस्तुएँ एवं सेवाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इस प्रकार, मुद्रा केवल साधन (means) है, साध्य (end) नहीं। किसी भी देश का धनी होना वहाँ की मुद्रा की मात्रा पर निर्भर नहीं करता, बल्कि वस्तुओं के कुल उत्पादन की मात्रा और किस्म तथा लोगों के लिए उपलब्ध उपभोग की मात्रा पर निर्भर करता है। यह सरकार का दायित्व है कि वह मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखे ताकि यह देश के औद्योगिक तथा व्यापारिक विकास में सहायक हो, रुकावट नहीं।

मुद्रा का आधार उसकी सर्वमान्यता है। इसके लिए वैधानिक स्वीकृति का होना अनिवार्य नहीं है। वैधानिक स्वीकृति प्राप्त मुद्रा अथवा विधिग्राह्य (legal tender) को चलार्थ (currency) कहा जाता है, जबकि मुद्रा में सर्वमान्य साख मुद्रा (credit money) भी सम्मिलित होती है। सभी चलार्थ मुद्रा है, परन्तु सभी मुद्रा चलार्थ नहीं है (All currency is money but all money is not currency)।

आजकल अर्थशास्त्री मुद्रा की परिभाषा देते समय तरलता (liquidity) के गुण को भी ध्यान में रखते हैं। मुद्रा में चलार्थ के अतिरिक्त व्यापारिक बैंकों में रखी गयी चालू जमाओं (current deposits) को ही सम्मिलित किया जाता है, म्यादी जमाओं (time deposits) को नहीं, क्योंकि इन्हें अपनी इच्छानुसार माँगने पर किसी भी समय प्राप्त नहीं किया जा सकता, यह जमा अवधि की समाप्ति पर ही मुद्रा का कार्य कर सकती हैं। ब्रिटेन की रैडक्लिफ समिति के अनुसार मुद्रा में बैंकों के बाहर चलनशील नोट (जिनकी निकासी प्रमुख रूप से बैंक ऑफ इंगलैण्ड द्वारा हुई है) तथा लन्दन, स्काटलैण्ड और उत्तरी आयरलैण्ड के बैंकों की कुल शुद्ध जमा (net deposits) सम्मिलित होती है।[1]

मुद्रा के कार्य

साधारणतया मुद्रा के चार कार्यों—विनिमय-माध्यम, मूल्य-मापक, स्थगित भुगतानों का मान, तथा मूल्य-संचय[2]—का ही उल्लेख किया जाता है। परन्तु यथार्थ में मुद्रा के कार्य काफी व्यापक हैं। किनले (Kinley) ने इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया है—(1) मुख्य अथवा प्राथमिक कार्य (primary functions), (2) सहायक कार्य (subsidiary functions), तथा (3) आकस्मिक कार्य (contingent functions)। इनके अतिरिक्त कुछ और भी कार्य हैं जिन्हें हम अन्य कार्य (other functions) कह सकते हैं।

(क) प्राथमिक कार्य

ये मुद्रा के ऐसे कार्य हैं जिन्हें आधारभूत (basic) कार्य, अनिवार्य (essential) कार्य

---

1 Radcliffe Committee (1957) *Also known as 'Committee on the Working of Monetary System in Great Britain'*

2 'Money is a matter of functions four,
A Medium, a Measure, a Standard and a Store

तथा मौलिक (original) कार्य भी कहा जाता है, क्योंकि इन कार्यों को मुद्रा ने प्रत्येक काल, प्रत्येक देश तथा स्थिति में किया है, चाहे इसका निजी स्वरूप कुछ भी रहा हो। इस प्रकार के कार्य दो हैं

(1) **विनिमय का माध्यम** (Medium of Exchange)—चूँकि मुद्रा में सामान्य स्वीकृति का गुण होता है, अतः यह विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करती है। वस्तु विनिमय काल में दोहरे संयोग का अभाव (lack of double coincidence of wants) एक बहुत बड़ी कठिनाई थी, जिसे मुद्रा के प्रयोग ने ही हल किया है। अब विनिमय कार्य दो भागों में बँटा रहता है—प्रथम, वस्तु अथवा सेवा को मुद्रा में बदलना, जिसे 'विक्रय' (sale) कहते हैं, दूसरे, मुद्रा के बदले अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ अथवा सेवाएँ प्राप्त करना, जिसे 'क्रय' (purchase) कहते हैं। वर्तमान युग में सम्पूर्ण विनिमय मुद्रा के माध्यम से ही होता है।

(2) **मूल्य-मापक** (Measure of Value)—विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्यांकन मुद्रा के मापदण्ड द्वारा ही किया जाता है और इसी आधार पर विनिमय-अनुपात का निर्धारण होता है। क्राउथर ने लिखा है, 'यह लेखे की इकाई के रूप में कार्य करती है। यह मूल्य के मापदण्ड अथवा सर्वमान्य मापक का जिससे अन्य सभी वस्तुओं की तुलना की जा सकती है, कार्य करती है।'[1]

मूल्य मापक के रूप में मुद्रा ने आर्थिक हिसाब को बहुत ही सरल बना दिया है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जिस प्रकार मीटर कपड़े की लम्बाई का एक निश्चित मापक है उस प्रकार मुद्रा मूल्यों की निश्चित मापक नहीं है। मुद्रा सामूहिक मापक का कार्य करते हुए भी अपने मूल्य में स्थिर नहीं रहती। मुद्रा का मूल्य परिवर्तनीय होता है और वस्तुओं की कीमतों में सामयिक परिवर्तन होता रहता है।

विनिमय-माध्यम तथा मूल्य-मापक कार्यों में सम्बन्ध—वास्तव में मुद्रा के दोनों मुख्य कार्यों का आपस में गहरा सम्बन्ध है। प्रायः मूल्य-मापन का कार्य विनिमय-माध्यम के पहले होता है। चूँकि सामान्यतः जो वस्तु मूल्यांकन का कार्य करती है वही वस्तु सामान्यतः विनिमय-माध्यम का भी कार्य करती है इसलिए दोनों कार्यों को अलग-अलग निश्चित करना कठिन होता है। परन्तु **कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि ये दोनों कार्य दो विभिन्न मुद्राओं द्वारा किए जायें।** उदाहरणतः, द्वितीय महायुद्ध काल में चीनी डालरों का अधिक प्रसार होने के कारण मूल्य मापन के लिए अमरीकी डालर का प्रयोग किया जाने लगा, जबकि विनिमय-माध्यम चीनी डालर ही रहा। इसी प्रकार, प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि मूल्य मापन अमरीकी डालर तथा स्विस फ्रेंक के आधार पर किया जाने लगा, किन्तु वास्तविक लेन-देन मार्क में ही होता रहा। बेन्हम ने ठीक ही लिखा है कि विनिमय माध्यम तथा मूल्य-मापन के लिए दो भिन्न-भिन्न मुद्राओं का प्रयोग सम्भव है, परन्तु तभी जबकि दोनों मुद्राओं के बीच किसी प्रकार विनिमय-अनुपात स्थापित हो सके।[2]

(II) सहायक अथवा गौण कार्य

मुद्रा के कुछ कार्य ऐसे हैं जो प्राथमिक कार्यों के सहायक हैं और जिनका महत्व अर्थ-व्यवस्था के विकास के साथ-साथ बढ़ता रहा है। इस श्रेणी में तीन कार्यों का उल्लेख किया जाता है

(1) **स्थगित भुगतानों** (Deferred Payments) **का आधार**—ऐसे भुगतान जिन्हें तत्काल न कर भविष्य के लिए स्थगित किया जाय, उनके लिए मुद्रा ही आधार है। देशी अथवा विदेशी ऋण तथा उनकी ब्याज मुद्रा में ही तय होते हैं। इस कार्य के लिए मुद्रा अधिक उपयुक्त आधार है, क्योंकि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा का मूल्य अधिक स्थिर होता है, इसमें टिकाऊपन भी अधिक होता है, तथा इसमें सामान्य स्वीकृति का गुण होता है।

---

1 'It serves as a unit of account It acts as a yard stick, or standard measure of value to which all other things can be compared —Crowther *An Outline of Money*, p 3

2 "It is possible for the two units to be different, provided that an exchange ratio between them can somehow be established —Benham *Economics*, p 424

इस सम्बन्ध म जो एक समस्या सामने आती है वह यह है कि पत्र मुद्रा के विकास क साथ-साथ मुद्रा की मूल्य स्थिरता कम होती गयी है। मुद्रा के मूल्य म परिवर्तन होने से कभी तो ऋणियों को और कभी ऋणदाताओं को हानि उठानी पड़ती है। यह दोष होते हुए भी भावी भुगतानों के लिए मुद्रा से अधिक अच्छा कोई अन्य आधार नही है।

(2) **मूल्य सचय (Store of Value) का आधार**—वस्तु विनिमय प्रणाली म भविष्य के लिए बचत करना कठिन अथवा असम्भव था। परन्तु मुद्रा क प्रयोग द्वारा मूल्य सचय का कार्य अत्यत सरल हो गया है। मुद्रा म टिकाऊपन अथवा अक्षयशीलता का गुण है। थोड़े से स्थान म सुविधापूर्वक तथा सुरक्षापूर्वक इसको जमा किया जा सकता है। इस पर ब्याज भी कमायी जा सकती है।

आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि अधिक मात्रा में पूजी सचय हो। मुद्रा का मूल्य स्थिर बनाये रखना आवश्यक है ताकि लोग अपनी बचतें स्वर्ण, भूमि अथवा किसी अन्य रूप म न रखने लगें।

(3) **मूल्य हस्तान्तरण (Transfer of Value) का साधन**—आधुनिक काल म विनिमय का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। वहनीयता (Portability) के गुण के कारण मुद्रा के रूप म क्रय शक्ति अथवा मूल्य का हस्तान्तरण सुविधापूर्वक किया जा सकता है। इसी कार्य के परिणाम स्वरूप आर्थिक जीवन म गतिशीलता बढ़ी है और आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिला है।

(ग) आकस्मिक कार्य

किनले (Kinley) के अनुसार प्रत्येक उन्नत अर्थ-व्यवस्था म मुद्रा मुख्य तथा सहायक कार्यों के अतिरिक्त चार आकस्मिक कार्य भी करती है, जो निम्नलिखित है

(1) **साख का आधार**—आज का व्यापार साख पर आधारित है और साख का माप मुद्रा ही है। साख-पत्रों जैसे चैक, ड्राफ्ट, विनिमय बिल आदि का प्रयोग विस्तृत रूप म किया जाने लगा है और बैंक साख का निर्माण करते हैं। यह सब तभी सम्भव हो पाता है जब बैंकों के पास कोष म मुद्रा जमा हो। मुद्रा साख के निर्माण का आधार है।

(2) **सामाजिक आय का वितरण**—आज के युग म उत्पादन का रूप अत्यन्त जटिल एव विशाल हो गया है, जिसके लिए उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का सहयोग लिया जाता है। कुल उत्पादन तथा उससे प्राप्त होने वाली आय इन सभी साधनों के सामूहिक प्रयास का परिणाम होती है, और उनका विभाजन इन सब म, इनके सहयोग की मात्रा के अनुसार करना होता है। यह कार्य मुद्रा द्वारा सहज ही कर लिया जाता है। मुद्रा के इस कार्य के परिणामस्वरूप ही बड़े-बड़े कारखानों द्वारा उत्पादन सम्भव हुआ है।

(3) **अधिकतम सन्तुष्टि तथा अधिकतम उत्पत्ति की प्राप्ति मे सहायक**—मुद्रा के प्रयोग से ही यह सम्भव हुआ है कि मनुष्य अपनी आवश्यकता की विभिन्न वस्तुओं पर व्यय इस प्रकार करे कि सभी वस्तुओं से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जिससे उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके। उत्पादन के क्षेत्र म मुद्रा की सहायता से सभी साधनों की सीमान्त उत्पादकता बराबर करके अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जाता है।

(4) **पूंजी की उत्पादकता बढाना**—मुद्रा धन अथवा पूजी के अनेक रूपों—जैसे, मकान, जमीन, जेवर, पशु आदि—को एक सामान्य रूप (generic value) प्रदान करती है क्योंकि इन सभी को मुद्रा म बदला जा सकता है। इससे पूंजी की तरलता (liquidity) तथा गतिशीलता (mobility) म वृद्धि होती है जो पूंजी की उत्पादकता को बढाती है।

(घ) अन्य कार्य

मुद्रा के उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त तीन और कार्य भी बताये गये हैं, जो निम्नलिखित हैं

(1) **तरलता-दायक (Money Makes Capital Liquid)**—कैन्ज के विचार म मुद्रा का एक महत्वपूर्ण कार्य **पूंजी को तरलतम रूप प्रदान करना है**। उसके अनुसार पूंजी का मुद्रा के रूप

मे रखने के तीन उद्देश्य (motives) हो सकते है—कार्य-सम्पादन उद्देश्य (transactions motive), सुरक्षा-उद्देश्य (precautionary motive), तथा सट्टा-उद्देश्य (speculation motive)। मुद्रा के रूप मे पूंजी को किसी भी उद्देश्य के लिए लगाया जा सकता है।

(2) निर्णय-वाहक (Bearer of Option)—ग्राहम (Graham) के मतानुसार मुद्रा के रूप मे की गयी बचत भविष्य मे किसी भी उद्देश्य के लिए काम मे लायी जा सकती है। चूंकि मनुष्य के उद्देश्य बदलते रहते है, इसलिए मुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु मे यह गुण नही है कि वह किसी निर्णय के अधीन किसी भी उद्देश्य के लिए काम मे लायी जा सके।

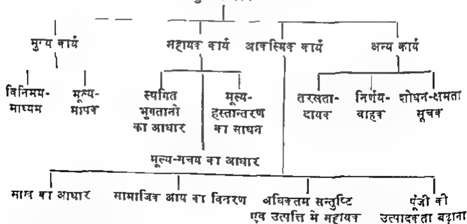
(3) शोधन क्षमता सूचक (Guarantor of Solvency)—आर० पी० केण्ट (R P. Kent) के अनुसार, किसी व्यक्ति अथवा सस्था के पास तरल मुद्रा उसकी भुगतान अथवा शोधन-क्षमता की गारण्टी होती है। दायित्वो का भुगतान न कर पाने पर उन्हे दिवालिया मान लिया जाता है। मुद्रा इस बात की सूचक है कि शोधन-क्षमता को कहां तक बनाये रखा जा सकता है।

मुद्रा के स्थैतिक एव प्रावैगिक कार्य

कॉलबोर्न[1] (Coulborn) ने मुद्रा के समस्त कार्यों को दो श्रेणियो मे बॉटा है—स्थैतिक (static) कार्य तथा प्रावैगिक (dynamic) कार्य। स्थैतिक कार्य वे हैं जो अर्थ-व्यवस्था का सचालन करते हैं, परन्तु उसमे गति अथवा वेग उत्पन्न नही करते। दूसरी ओर प्रावैगिक कार्य वे है जिनसे आर्थिक गति प्राप्त होती है, अर्थात् वे मूल्य-स्तर, रोजगार-स्तर तथा उत्पादन आदि मे परिवर्तन लाते है। इस आधार पर विनिमय-माध्यम, मूल्य-मापक, क्रय शक्ति के सचय, हस्तान्तरण अथवा स्थगित भुगतान के रूप मे मुद्रा के मुख्य एव सहायक कार्य स्थैतिक कार्य हैं, क्योकि इनसे प्रत्यक्ष रूप स वेग उत्पन्न नही होता। पूंजी को तरलता एव उत्पादकता के गुण प्रदान करना एव साख के आधार-रूप म कार्य करना प्रावैगिक कार्य है, क्योंकि इनसे गति उत्पन्न होती है।

निष्कर्ष—वास्तव म आर्थिक विकास के साथ-साथ मुद्रा के कार्यों का भी विकास होता रहा है, और आज भी मुद्रा के कार्यो का विकास रुका नही है। "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य कर"—इस कथन म मुद्रा के कार्यो मे परिवर्तनशीलता का आभास मिलता है।

डच अर्थशास्त्री पियर्सन के अनुसार, मुद्रा रेलवे-स्टेशन पर शटिङ्ग करने वाले इन्जन की तरह है जो एक समय डिब्बों की एक पक्ति को खीचता है, और दूसरे समय दूसरी को ढकेलता है। इस प्रकार इसका कार्य सभी डिब्बों को सही पटरियो पर लाना होता है जिससे वे निश्चित स्थान पर पहुँचने मे समर्थ हो सकें, किन्तु इन्जन स्टेशन से कभी नही जाता।[2]



1 W A L. Coulborn, *An Introduction to Money*, Chapter I
2 N G. Pierson, Quoted by Wicksell, *Lectures on Political Economy*, Vol. II, p. 19

मुद्रा का महत्त्व

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचार

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) ने मुद्रा को कोई विशेष महत्व नहीं दिया। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने मुद्रा को बंजर समझा, और इसकी तुलना एक ऐसी सड़क से की जिस पर तनिक भी घास नहीं उगती। इन अर्थशास्त्रियों का मत था कि मुद्रा की अनुपस्थिति में जे. बी. से का सर्वव्यापी बाजार नियम (Law of Markets)—पूर्ति स्वत अपनी माँग उत्पन्न कर लेती है—सहज ढंग से कार्य कर सकता है। जॉन स्टुअर्ट मिल के विचारानुसार, "यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि पहले किसी वस्तु का मुद्रा में विनिमय करना और फिर मुद्रा का किसी अन्य वस्तु से विनिमय करना, विनिमय का एक नया ढंग मात्र है। इस नये ढंग के प्रचलित होने से सौदों की वास्तविक प्रकृति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।"[1]

वास्तव में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अपनी मान्यताएँ दीर्घकाल पर ही आधारित की जिसमें पूर्ति तथा माँग का समायोजन स्वत ही जायगा। परन्तु वर्तमान आर्थिक जीवन में तो पूर्ण स्थिरता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आर्थिक अस्थिरता पूँजीवादी व्यवस्था का एक सामान्य लक्षण है। चूँकि अस्थिरता का मुख्य कारण कीमतों का उतार-चढ़ाव होता है, इसलिए मुद्रा की उपेक्षा की ही नहीं जा सकती।

मुद्रा एक आवरण

प्रथम महायुद्ध से पूर्व इंगलैण्ड में प्रचलित कुछ कहावतों का उल्लेख प्रो० पीगू ने किया है—'मुद्रा एक आवरण (veil) है जिसके पीछे आर्थिक शक्तियों का कार्य छिपा हुआ है', 'मुद्रा एक आवेष्टन है जिसमें सामान बँधकर आपके पास आता है',[2] इत्यादि। इन उक्तियों के पीछे भावना यह है कि उत्पादन तो कुछ अन्य साधनों के सहयोग से होता है जो मुद्रा के आवरण में छिपे हुए हैं, क्योंकि विनिमय के समय मुद्रा ही सामने होती है। यह विचार भी मिल आदि अर्थशास्त्रियों के विचारों से मेल खाते हैं, जो भ्रामक तथा अनुपयुक्त हैं। मुद्रा का महत्व केवल विनिमय के लिए ही नहीं है, अपितु उत्पादन के प्रत्येक चरण एवं साधन से सम्बन्धित प्रत्येक क्रिया के लिए मुद्रा एक सक्रिय तथा महत्वपूर्ण तत्व है।

आधुनिक विचार

आज के युग में यह निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि मुद्रा आर्थिक जीवन का एक महत्वपूर्ण आधार है। यदि अर्थ-व्यवस्था एक मशीन है तो मुद्रा उस मशीन को चालू रखने वाली शक्ति है। मार्शल ने ठीक ही लिखा है, "मुद्रा वह धुरी है जिस पर अर्थ-विज्ञान चक्कर लगाता है।" *समस्त आर्थिक उतार-चढ़ाव कीमतों की घटा बढ़ी का ही परिणाम होते हैं*, और कीमतों का घटना-बढ़ना बहुत कुछ एक मौद्रिक घटना (monetary phenomenon) होती है। चूँकि मुद्रा स्वाभाविक रूप से अस्थिर है, और आर्थिक स्थितियाँ भी निरन्तर परिवर्तनशील हैं, इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि मुद्रा की मात्रा तथा गति पर पर्याप्त नियन्त्रण रखा जाय। इसे एक 'सेवक' की भाँति प्रयोग में लाया जाय, यह 'मालिक' न बनने पाये, क्योंकि **मुद्रा एक उपयोगी सेवक है, परन्तु खतरनाक स्वामी।**

मुद्रा के लाभ

आर्थिक क्रियाओं के प्रत्येक क्षेत्र में मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान है, बल्कि सामाजिक तथा राजनीतिक क्रियाओं का आधार भी बहुत बड़ी सीमा तक मुद्रा ही है। मुद्रा के लाभों का विश्लेषण मुख्य रूप से तीन आधार मानकर किया जा सकता है—आर्थिक क्षेत्र में महत्व, अन्य क्षेत्रों में महत्व एवं आर्थिक प्रणालियों में महत्व।

---

1 "It must be evident, however, that the mere introduction of a particular mode of exchanging things for one another by first exchanging a thing for money and then exchanging the money for something else, makes no difference in the essential character of transactions . . ."—J S Mill *Principles of Political Economy*, Book III, Ch 7, Sec 3

2 "Money is a veil behind which the action of real economic forces is concealed", or "Money is a wrapper in which goods come to you"—*The Veil of Money*, p 18.

(क) आर्थिक क्षेत्र में मुद्रा का महत्व

1 उत्पादन के क्षेत्र में

(i) आर्थिक हिसाब (economic calculation) के आधार पर ही उत्पादन सम्बन्धी निर्णय किये जाते हैं, और आर्थिक हिसाब मुद्रा के ही माध्यम से होता है।

(ii) श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण, जो आर्थिक प्रगति के आधार हैं, मुद्रा के प्रयोग द्वारा ही सम्भव हुए हैं। बेन्हम के अनुसार, "आधुनिक जीवन जो विशिष्टीकरण पर आधारित है, मुद्रा के अभाव में सम्भव नहीं होगा।"[1]

(iii) मुद्रा पूंजी का सबसे तरल रूप होने के कारण, पूंजी को गतिशीलता प्रदान कर उसे अधिक उत्पादक बनाती है।

(iv) अधिकतम उत्पादन के लिए मुद्रा उत्पत्ति के साधन जुटाने में सहायक होती है। केवल यही नहीं, मुद्रा की सहायता से ही उत्पादक प्रतिस्थापन नियम के अनुरूप विभिन्न साधनों का अनुकूलतम संगठन कर पाता है।

(v) बचत एवं विनियोग मुद्रा द्वारा ही सम्भव होते हैं, और इनके ही आधार पर पूंजी का निर्माण होता है।

2 उपभोग के क्षेत्र में

(i) मुद्रा की सहायता से उपभोक्ता की सत्ता बनी रहती है। वह व्यय तभी करता है जब उसकी इच्छानुसार उसे अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त होती है। हॉम के विचार में, "मुद्रा-रहित अर्थ-व्यवस्था को राशनिंग प्रणाली का प्रयोग करना होगा, अर्थात् सामाजिक उत्पत्ति का वितरण पूर्व-निश्चित मात्रा में होगा। इस प्रकार उपभोग सम्बन्धी निर्णय की स्वतन्त्रता समाप्त हो जायगी।"[2]

(ii) मुद्रा ने विनिमय-कार्य सरल बना दिया है जिससे उपभोक्ता को प्राप्त होने वाली वस्तुओं की संख्या एवं मात्रा बढ़ गयी है। साथ में, उत्पादन करते समय उपभोक्ता की रुचि को ध्यान में रखा जाता है।

(iii) सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का पालन करने में भी मुद्रा सहायक होती है, जिससे उपभोक्ता को अपने व्यय से अधिकतम सन्तोष प्राप्त होता है।

3 विनिमय के क्षेत्र में

(i) मुद्रा वस्तु विनिमय प्रणाली के दोषों को दूर कर विनिमय को सुगम बनाती है।

(ii) मुद्रा के द्वारा भावी सौदे (future transactions) वर्तमान में किये जाते हैं, जिनके अन्तर्गत भावी कीमत वर्तमान में ही निश्चित हो जाती है।

(iii) मुद्रा 'मूल्य यन्त्र' (Price mechanism) का आधार है, जिसके अनुसार समस्त आर्थिक निर्णय समायोजित होते हैं।

(iv) मुद्रा के प्रयोग से राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि हुई है।

(v) साख का निर्माण तथा प्रयोग भी मुद्रा पर ही आधारित है।

4 वितरण के क्षेत्र में

उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का पारिश्रमिक अथवा पुरस्कार निर्धारित करना तथा उत्पादन पूर्ण होने और विक्रय से पहले विभिन्न साधनों के पारिश्रमिक की अदायगी कर देना मुद्रा के प्रयोग द्वारा ही सम्भव हुआ है। यह आवश्यक है कि विभिन्न साधनों में कुल आय का न्यायानुकूल वितरण हो जिससे पारस्परिक सहयोग की भावना बनी रहे और कल्याण की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होती रहे। यह सब मुद्रा द्वारा ही सम्भव होता है।

---

1 "Modern economic life, which is founded on specialization would not be possible without money —Benham *Economics*, p 427

2 "A moneyless economy would have to use a system of rationing, i e, of distributing the social product in pre-determined proportions Freedom of choice of consumption would be abolished —G. N Halm · *Monetary Theory*, p 10

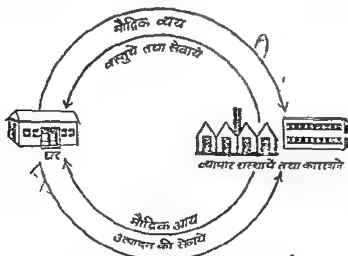
5 राजस्व के क्षेत्र में

एक आधुनिक राज्य द्वारा सामाजिक न्याय एवं जन-कल्याण के लिए राजस्व का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। राज्य-वित्त का महत्वपूर्ण साधन कर (taxes) तथा लोक ऋण (public debt) हैं, जो मुद्रा के रूप में ही प्राप्त होते हैं। राज्य अपना व्यय भी मुद्रा के रूप में ही निर्धारित करता है। मुद्रा के बिना तो सरकार द्वारा बजट बनाना और उसके अनुसार आय-व्यय समायोजन करना सोचा भी नहीं जा सकता।

6 मुद्रा एवं आर्थिक जीवन

किसी भी देश के आर्थिक जीवन की रचना में मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। मुद्रा आर्थिक जीवन का नियन्त्रण भी करती है। हमारा आर्थिक जीवन सहज है अथवा अस्त-व्यस्त, इसका अनुमान देश की मुद्रा प्रणाली से लगाया जा सकता है। मुद्रा ने ही आर्थिक उदारतावाद (economic liberalism) को प्रोत्साहन दिया है, जो पूँजीवाद का आधार है। सत्य तो यह है कि यदि मुद्रा न होती तो आर्थिक विकास के उस शिखर तक मानव कभी न पहुँच पाता, जिस पर आज के युग में वह औद्योगीकरण एवं आर्थिक सहयोग की सहायता से पहुँच चुका है। पीगू ने ठीक ही कहा है कि "आधुनिक युग में उद्योग मुद्रा-रूपी वस्त्र धारण किये हुए हैं।"[1] मार्शल ने मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था के इतिहास को मानव-सभ्यता के इतिहास से सम्बन्धित किया है।[2] वास्तव में, मुद्रा के महत्व का अनुमान तो तब लगाया जा सकता है जब किसी भी देश अथवा काल में असंगठित मौद्रिक प्रणाली के प्रभावों को देखा जाय। ट्रेस्कॉट के शब्दों में, "यदि मुद्रा हमारे अर्थ-तन्त्र का हृदय नहीं तो रक्त-स्रोत तो अवश्य है।"[3]

मुद्रा का चक्राकार बहाव—आर्थिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता मौद्रिक भुगतानों का चक्राकार बहाव (circular flow) है। उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदने में जो



चित्र 1—मुद्रा का चक्राकार बहाव

भी व्यय करते हैं वह अनेक व्यक्तियों—जैसे, फुटकर विक्रेता, थोक विक्रेता और निर्माता आदि—के हाथों में से होता हुआ पुनः मजदूरी, ब्याज, लगान और लाभ के रूप में उपभोक्ताओं के पास लौट आता है। इसमें से कुछ भाग सरकार के पास करों के रूप में पहुँच जाता है, परन्तु वह भी

1 "In the modern world industry is closely enfolded in the garment of money"—A C Pigou *Industrial Fluctuations*, p 117.
2 Alfred Marshall *Money, Credit and Commerce*, p 264
3 "If money is not the heart of our economic system, it can certainly be considered its blood stream"—Paul B Trescott *Money, Banking and Economic Welfare*, p 3

सामूहिक कल्याण के लिए व्यय हो जाता है। अर्थ व्यवस्था की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा का चक्राकार बहाव सन्तुलित रूप मे बना रहे। इसमे रुकावट पैदा होते ही सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था असन्तुलित हो जाती है। 'तीसा' की महान् मन्दी मुद्रा तथा पूंजी बाजारो के अस्त-व्यस्त होने का ही परिणाम थी। इसी प्रकार, युद्धोत्तर काल मे जर्मनी तथा अन्य अनेक देशो मे मुद्रा स्फीति की भयानक स्थिति का कारण भी चक्राकार बहाव मे वृद्धि हो जाना था। चित्र (1) मे आय-व्यय के सामान्य चक्राकार बहाव को प्रदर्शित किया गया है।

7 आर्थिक प्रगति की सूचक

चूंकि प्रत्येक आर्थिक कार्य, वस्तु या घटना को मुद्रा द्वारा मापा जाता है, इसलिए किसी देश की आर्थिक प्रगति को भी मुद्रा द्वारा मापा जा सकता है। किसी देश की मुद्रा की दर गिरना वहां की कमजोर आर्थिक स्थिति का सूचक है। ऐसे देशो की जिनके निर्यात अधिक होते हैं, मुद्रा की माँग अधिक होने के कारण मुद्रा का मूल्य भी ऊँचा होता है, जो वहाँ की सुदृढ अर्थ-व्यवस्था का सूचक है।

(ख) सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रो मे महत्व

मुद्रा का महत्व केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नही है बल्कि सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य गैर-आर्थिक क्षेत्रो मे भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

सामाजिक क्षेत्र मे—मुद्रा सामाजिक कल्याण की मापक है। इसके साथ साथ मुद्रा एक अत्यन्त मूल्यवान सामाजिक साधन (social instrument) है जिसने समाज के आर्थिक कल्याण की वृद्धि की है। मुद्रा के प्रयोग से सामाजिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र मे भी वृद्धि हुई है। मुद्रा-रहित अवस्था म जब मजदूरी वस्तुओ के रूप म दी जाती थी, श्रमिक की स्थिति गुलामो जैसी थी। मुद्रा ने स्वतन्त्रता और प्रतिस्पर्धा स्थापित करके सामाजिक और आर्थिक दासता से मुक्ति दिलायी है। इससे सामाजिक अलगाव (social isolation) भी समाप्त हुआ है।

राजनीतिक क्षेत्र मे—मुद्रा के प्रयोग द्वारा राजनीतिक चेतना बढी है, क्योकि जब लोगो को कर देना पडता है तो वह राजनीतिक व्यवस्था मे अधिक रुचि लेने लगते हैं। इससे राजनीतिक स्वतन्त्रता की शक्तियो को भी बल प्राप्त हुआ है। प्रत्येक करदाता प्रतिनिधित्व भी चाहता है और सरकार से अपनी मागे पूरी करने की आशा रखता है। व्यापारिक सम्बन्ध विस्तृत होने के कारण लोगों के सम्पर्क बढ़े हैं और राष्ट्रीय एकता स्थापित करने म सहायता मिली है। यही नही, आर्थिक हितो के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को भी प्रोत्साहन मिलता है और आपसी तनाव कम होते हैं।

अन्य क्षेत्रो मे—मानव के सभी गुणो का मूल्याकन मुद्रा मे ही किया जाता है। एक सफल एव अच्छा कलाकार गायक अथवा लेखक वही है जिसे अपनी कला से अच्छी मौद्रिक आय प्राप्त होती है। यहाँ तक कि 'शान्ति पुरस्कार', 'सुन्दरता पुरस्कार' अथवा अन्य किसी योग्यता के लिए पुरस्कार भी मुद्रा के ही रूप म दिये जाते हैं।

डेवनपार्ट ने ठीक ही लिखा है कि "लगभग समस्त राजनीतिक प्रश्न, जटिल सामाजिक समस्याएँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ एक आर्थिक मान (मुद्रा) पर ही निर्भर हो गये हैं।"[1] मुद्रा के अस्तित्व के बिना आर्थिक जीवन की तो कल्पना भी नही की जा सकती।

(ग) विभिन्न आर्थिक प्रणालियो मे मुद्रा का स्थान

मुद्रा का महत्व प्रत्येक आर्थिक प्रणाली (economic system) के लिए है। अर्थ-व्यवस्था चाहे पूंजीवादी हो अथवा समाजवादी, नियोजित हो अथवा अनियन्त्रित, मुद्रा के अभाव मे कार्य नहीं कर सकती।

पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा—मुद्रा पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था (capitalist economy)

---

1 "Almost all great political issues and almost all absorbing social problems and almost all international complications rest upon a pecuniary standard —Davenport *Economics of Enterprise*, p 23

का जीवन है, इसके बिना इस व्यवस्था का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। पूंजीवाद आर्थिक स्वतन्त्रता, निजी सम्पत्ति तथा लाभ के उद्देश्यों पर आधारित व्यवस्था है, जिसमें मार्ग दर्शन कीमत-यन्त्र (price mechanism) द्वारा किया जाता है। चूंकि कीमत-यन्त्र केवल मुद्रा के ही रूप में व्यक्त किया जाता है, *इसलिए यथार्थ में मुद्रा ही पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के संचालन के लिए जीवन-रक्त है।* पूंजी ही पूंजीवाद का आधार-स्तम्भ है, जिसका संचय एवं उचित प्रयोग मुद्रा द्वारा ही सम्भव होता है। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि मुद्रा पूंजी के निर्माण में सहायक होती है तथा आय का उचित प्रयोग करने में सहायता देती है। मुद्रा मूल्य के परिवर्तनों का पूंजीपतियों के लाभ पर प्रभाव पड़ता है। न केवल उत्पादन सम्बन्धी निर्णय मुद्रा के आधार पर किये जाते हैं, बल्कि उपभोक्ता की सार्वभौमिकता (sovereignty) भी मुद्रा पर ही निर्भर करती है। मुद्रा साख का आधार है, तथा वितरण को सरल बनाकर उत्पत्ति के सभी साधनों का सहयोग प्राप्त करती है। निस्सन्देह मुद्रा पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का आवश्यक अंग है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा—समाजवादी अर्थ-व्यवस्था (socialist economy) एक नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था है जिसमें उत्पादन तथा उपभोग पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों के आधार पर किया जाता है। समाजवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने मुद्रा को श्रमिकों के शोषण का साधन बनाया, क्योंकि इसी के माध्यम से पूंजीपतियों को *अतिरिक्त मूल्य* (surplus value) प्राप्त होता है। वह मुद्रा के उन्मूलन के पक्ष में था। सोवियत रूस में 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात मुद्रा के उन्मूलन के कुछ प्रयास किये गये, किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि मुद्रा का परित्याग सम्भव नहीं।

समाजवादी क्रान्ति के नेताओं, लेनिन (Lenin) तथा ट्रॉटस्की (Trotsky), ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि आर्थिक हिसाब (economic calculations) के लिए मुद्रा का प्रयोग अनिवार्य है। ट्रॉटस्की के शब्दों में, "*सरकारी कार्यालयों द्वारा तैयार की गयी योजनाओं* को व्यापारिक हिसाब के द्वारा अपना आर्थिक औचित्य प्रमाणित करना चाहिए। किन्तु जब तक कोई सुदृढ़ मौद्रिक इकाई प्रयोग नहीं की जायगी तब तक व्यापारिक हिसाब के प्रयास से अधिक गड़बड़ ही उत्पन्न होगी।"[1] सोवियत रूस में आज मुद्रा ही लेखे की इकाई है, विनिमय-माध्यम तथा मूल्य-मापक है। आर्थिक योजनाएँ मुद्रा प्रसाधनों (money resources) के ही सन्दर्भ में बनायी जाती हैं।

मौरिस डॉब (Maurice Dobb) के विचार में, यदि सम्पूर्ण उत्पादन का निर्धारण केन्द्रीय योजना आयोग कर ले और उपभोक्ता के निर्णय पर भी कुछ प्रतिबन्ध हो, तो समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में मूल्य निर्धारण पद्धति (pricing process) की आवश्यकता नहीं रहेगी। परन्तु ऐसा होने पर भी मुद्रा की अनावश्यकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि मूल्यों के निर्धारण का आधार चाहे कुछ भी हो, आर्थिक हिसाब तो मुद्रा में ही होंगे। हॉम ने ठीक ही लिखा है कि समाजवादी अर्थ व्यवस्था मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था ही रहेगी।[2]

नियोजित अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा—यदि कोई भी देश अपने आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन का तरीका अपनाता है, तो उसकी सबसे बड़ी आवश्यकता पर्याप्त वित्तीय साधनों की व्यवस्था करना होती है। यदि वित्तीय अथवा मौद्रिक साधन अपर्याप्त हों तो विकास के अन्य साधन बेकार ही पड़े रहते हैं। देश की विकास सम्बन्धी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हीनार्थ प्रबन्धन (*deficit financing*) *द्वारा मुद्रा की मात्रा बढ़ानी पड़ती है, जिससे मुद्रा की कीमत* गिर सकती है। इसलिए एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था के लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपना मौद्रिक प्रबन्धन इस प्रकार करे कि मुद्रा-विस्तार उत्पादन में सहायक हो, बाधक नहीं। दूसरे

---

1 "The blue prints produced by the *offices must demonstrate* their economic expediency through commercial calculation Without a firm monetary unit commercial accounting can only increase the chaos —L. D Trotsky *Soviet Economy in Danger*, p 30

2 "Thus we may safely conclude that a social economy will remain a monetary economy" —George N Halm *Monetary Theory*, p 13

शब्दों में, नियोजन का उद्देश्य 'स्थिरता के साथ विकास' (growth with stability) हो।[1] मौद्रिक साधनों का समायोजन आर्थिक नियोजन का एक महत्वपूर्ण अंग होता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर, ए० पी० लरनर का मत पूर्णतया उचित प्रतीत होता है कि "कोई भी अर्थ-व्यवस्था, उसका चाहे जो रूप हो, मूल्य निर्धारक यन्त्र के अभाव में कुशलता-पूर्वक कार्य नहीं कर सकती।"[2] जॉन ला (John Law) ने अठारहवीं शताब्दी में लिखा था, "राजरूपी शरीर के लिए मुद्रा रक्त के समान जीवन-दायिनी शक्ति है, जिससे प्रत्येक अंग को स्फूर्ति मिलती है। मुद्रा के अभाव में सर्वोत्कृष्ट विधान भी लोगों को न तो रोजगार दिला सकते हैं, और न ही उत्पादन में कोई सुधार कर सकते हैं। व्यापार भी मुद्रा पर निर्भर होता है।"

मुद्रा के दोष

मुद्रा में अनेक गुणों के होते हुए भी यह मानव के लिए एक 'अमिश्रित वरदान' नहीं है। जहाँ इससे अनेक लाभ हैं, इसमें कुछ दोष भी हैं—कुछ आर्थिक और कुछ सामाजिक दृष्टिकोण से।

आर्थिक दोष

(1) **धन की विश्वासघातिनी संरक्षिका**—मुद्रा का मूल्य स्थिर नहीं रहता। पत्र मुद्रा और बैंक के प्रचलन से अस्थिरता और भी बढ़ गयी है। भारत में ही देख लीजिए, युद्धोत्तर काल में मुद्रा की कीमत कितनी गिर गयी है। 1956 से 1966 के बीच, दस वर्षों में ही, मुद्रा के मूल्य में लगभग 85 प्रतिशत का ह्रास हुआ है। जर्मनी में युद्ध के पूर्व लोग दुकानों पर मुद्रा जेब में रखकर ले जाते थे और सामान टोकरियों में लाते थे। युद्ध के पश्चात स्थिति यह हो गयी कि मुद्रा तो टोकरियों में भरकर जाने लगी और माल जेबों में आने लगा।[3] लोगों ने मुद्रा को अपने संचित धन का संरक्षण सौंपा और उनका धन ही लुट गया। प्रायः यह ताना दिया जाता है कि 'मुद्रा हमारे धन की एक विश्वासघातिनी संरक्षिका है' (Money is a faithless steward of our wealth)।

(2) **आर्थिक जीवन में अनिश्चितता**—मुद्रा व्यापार-चक्रों (trade cycles) को जन्म देती है। वैसे तो व्यापार-चक्रों के अनेक कारण बताये जाते हैं, परन्तु इन सब में मौद्रिक कारण ही अधिक प्रभावपूर्ण है। केन्ज के अनुसार, व्यापारिक उतार-चढ़ाव बचत तथा विनियोग (saving and investment) सम्बन्धी निर्णयों में असमानता का परिणाम होते हैं। बचत तथा विनियोग दोनों ही मुद्रा से सम्बन्धित होते हैं, इसलिए व्यापार चक्र एक मौद्रिक घटना ही तो है।

(3) **शोषण यन्त्र**—मुद्रा के विकास से ही पूँजीवाद का जन्म हुआ, और पूँजी का केन्द्रीकरण कुछ लोगों के हाथों में हो गया। पूरा समाज 'हुजूर' (Haves) तथा 'मजूर' (Have Nots), दो वर्गों में बँट गया। श्रमिक पूँजीपतियों पर आश्रित हुए और मजदूरी कम देकर पूँजीपतियों ने उनका शोषण किया। धन तथा सम्पत्ति के वितरण में असमानताएँ बढ़ीं। परिणामतः धनी अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन बनते गये। एकाधिकार स्थापित हो जाने से उपभोक्ता के हितों की रक्षा न हो पायी। यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी धनी देशों ने निर्धन देशों का आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण किया है।

(4) **अपव्ययता में वृद्धि**—मुद्रा ने मनुष्य को अपव्ययी बना दिया है। अति-पूँजीकरण (over-capitalisation) तथा अति उत्पादन (over production) को प्रोत्साहन मिला है जिससे अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न होता है। अनुचित रूप से उपभोग पर अनावश्यक व्यय तथा सट्टेबाजी की प्रवृत्तियाँ भी मुद्रा का ही परिणाम हैं। मुद्रा के उपयोग से ऋणग्रस्तता में भी वृद्धि हुई है।

---

1 For detailed discussion, see Dr T T Sethi *Price Strategy in Indian Planning*, Chapters XI and XII

2 "Without price mechanism it is impossible for an economic system of any complexity to function with any reasonable degree of efficiency" —A P Lerner *Review of Economic Studies*, Vol II, (1934-35) p 55

3 "We used to go to the stores with money in our pockets and came back with food in our baskets Now we go with money in baskets and return with food in our pockets" —Quoted by P A Samuelson *Economics*, p 283

(5) सेवक नहीं स्वामी—मुद्रा हमारे जीवन की समस्त क्रियाओं पर इस तरह छा गयी है कि हमारे अधीन नहीं रही, बल्कि हम इसके अधीन हो गये हैं। मुद्रा उपयोगी तभी होती है जब सेवक के रूप में हो, स्वामी के रूप में तो यह सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर सकती है।

सामाजिक दोष

मुद्रा अनेक सामाजिक तथा नैतिक बुराइयों की जड़ है। जीवन के अभौतिक एवं नैतिक गुणों को समाप्त कर समाज का भौतिकवादी शोषण मुद्रा के ही कारण होता है। मीजेज ने तो यहाँ तक लिखा है कि "मुद्रा को चोरी, हत्या, छल तथा प्रतिज्ञा भंग का कारण माना गया है। जब वेश्या अपना शरीर तथा न्यायाधीश अपना न्याय बेचता है, तो मुद्रा की निन्दा होती है। चरित्रवादी जब बहुत अधिक भौतिकवाद की निन्दा करना चाहता है, तब वह मुद्रा के ही विरुद्ध कहता है। लालच को मुद्रा-प्रेम कहना और सब बुराइयों को लालच से उत्पन्न मानना अपना महत्त्व रखता है।"[1] रस्किन ने कहा है कि "मुद्रा के शैतान ने आत्माओं को दबा दिया है, किसी भी धर्म अथवा दर्शन में इसे बहिष्कृत करने की शक्ति नहीं दिखायी पड़ती है।"[2] ऐसा लगता है कि मुद्रा ने 'साधन' (means) के बजाय 'साध्य' (end) का रूप धारण कर लिया है, इससे न केवल अभौतिक कल्याण में कमी हुई है बल्कि राजनीतिक भ्रष्टाचार, रिश्वत, बेईमानी आदि को प्रोत्साहन मिला है।

निष्कर्ष

मुद्रा के ऊपर बताये गये दोष गम्भीर होते हुए भी, वास्तव में, मुद्रा के दोष नहीं, यह समस्त दोष मुद्रा के अनुचित तथा अव्यवस्थित उपयोग के हैं, जिनके लिए मानव स्वयं उत्तरदायी है। मुद्रा वरदान तभी तक है जब तक इसका नियन्त्रित उपयोग किया जाये। दुरुपयोग इसे अभिशाप बना देता है। रॉबर्टसन (Robertson) ने ठीक ही कहा है कि "मुद्रा जो मानव समाज के लिए अनेक प्रकार से वरदान का स्रोत है, यदि नियन्त्रण के बाहर हो जाती है तो संकट और भ्रम का कारण बन जाती है।"[3]

आवश्यकता मुद्रा उन्मूलन की नहीं बल्कि मुद्रा-नियन्त्रण की है। बेजहॉट (Bagehot) ने कहा था कि 'मुद्रा स्वयं अपना नियन्त्रण नहीं करेगी' (Money will not manage itself)। प्रत्येक सरकार को चाहिए कि वह मुद्रा-प्रबन्धन (monetary management) की उपयुक्त नीति बनाये और उसे कार्यान्वित करे।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. मुद्रा की आलोचनात्मक परिभाषा दीजिए तथा मुद्रा का स्वभाव बताइए।

   [संकेत प्रथम भाग में मुद्रा की परिभाषाओं का, विचारधारा के आधार पर तथा उनकी प्रकृति के आधार पर, उनकी त्रुटियों सहित विवरण दीजिए और मुद्रा की सही परिभाषा दीजिए। दूसरे भाग के लिए मुद्रा के स्वभाव अथवा प्रकृति (nature) की विवेचना कीजिए।]

2. 'मुद्रा वही है जो मुद्रा का कार्य करती है' विस्तारपूर्वक समझाइए।

   [संकेत यह स्पष्ट कीजिए कि इस कथनानुसार धात्विक सिक्कों और पत्र-मुद्रा के अतिरिक्त साख-मुद्रा—चैक, बिल इत्यादि—भी मुद्रा में सम्मिलित होते हैं। परन्तु इससे मुद्रा का रूप बहुत व्यापक हो जाता है। साख पत्रों को तभी मुद्रा समझा जायेगा जब उनमें सर्वमान्यता का गुण होगा। मुद्रा के कार्यों का भी वर्णन कीजिए।]

3. मुद्रा के मुख्य एवं सहायक कार्य बताइए। क्या कोई वस्तु मूल्य-मापक हुए बिना विनिमय का माध्यम हो सकती है?

   [संकेत यह बताइए कि मुद्रा विनिमय का माध्यम है और मूल्य का मापक। इसके सहायक कार्यों—स्थगित भुगतानों का आधार, मूल्य-संचय का आधार तथा मूल्य-हस्तान्तरण के साधन—का भी वर्णन कीजिए। दूसरे भाग में उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जिनमें कोई मुद्रा मूल्य-मापन का आधार होते हुए भी विनिमय का माध्यम नहीं होती।]

---

1 "Money is regarded as the cause of theft and *murder, of deception and betrayal* Money is blamed when the prostitute sells her body and when bribed judge perverts the law It is money against which the moralist declaims when he wishes to oppose excessive materialism Significantly enough, *avrice* is *called the love of money and all evil is attributed to it*" —Ludvig Von Mises *The Theory of Money and Credit*, p 93

2 "The devil of money has come to possess their souls No religion or philosophy seems to have the power of driving it out" —*Ruskin*

3 "Money which is a source of so many blessings to mankind becomes also, unless we can control it, a source of peril and confusion —D H Robertson *Money*, p 16

4 "मुद्रा के हैं कार्य चार—माध्यम, मापक, संचय, आधार" इस कथन को स्पष्ट रूप से समझाइए।

[संकेत पहले तो मुद्रा को संक्षेप में परिभाषा दीजिए और फिर उक्त चारों कार्यों का विवेचन करने के उपरान्त यह बताइए कि मुद्रा के केवल यही चार कार्य नहीं हैं बल्कि और भी हैं, और संक्षेप में उनका भी उल्लेख कर दीजिए।]

5 मुद्रा एक धुरी है जिसके चारों ओर सम्पूर्ण अर्थ तन्त्र घूमता है स्पष्ट कीजिए।

[संकेत आर्थिक क्षेत्र में मुद्रा के महत्त्व की व्याख्या कीजिए और यह भी बताइए कि आर्थिक क्षेत्र के बाहर भी मुद्रा का महत्त्वपूर्ण स्थान है और प्रत्येक आर्थिक प्रणाली में इसकी आवश्यकता है।]

6 क्या एक समाजवादी अर्थ व्यवस्था मुद्रा रहित व्यवस्था हो सकती है? आर्थिक नियोजन के लिए मुद्रा का क्या महत्त्व है?

[संकेत प्रथम भाग में समाजवादी अर्थ व्यवस्था में मुद्रा के कार्यों का उल्लेख कीजिए और सोवियत रूस के अनुभव का उदाहरण दीजिए। दूसरे भाग में आर्थिक योजनाओं के बनाने और लागू करने में मुद्रा का महत्व बताइए।]

7 "मुद्रा एक अच्छा सेवक है किन्तु बुरा स्वामी है" व्याख्या कीजिए।

[संकेत सेवक के रूप में मुद्रा के लाभ बताइए इसके उपरान्त यह स्पष्ट कीजिए कि इस पर नियन्त्रण न रखने से यह हानिप्रद भी हो सकती है। यह भी बताइए कि मुद्रा के उपयोग पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है।]

8 "मुद्रा एक आवरण है" इस कथन पर प्रकाश डालिए।

[संकेत यह समझाइए कि आवरण (veil) से क्या तात्पर्य है और ऐसा सोचना कहाँ तक उचित है। मुद्रा के महत्त्व की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि मुद्रा एक आवरण नहीं बल्कि आर्थिक इंजन को चालू रखने वाली शक्ति अथवा तन्त्र है।]

3

मुद्रा का वर्गीकरण
[CLASSIFICATION OF MONEY]

> *"मुद्रा का स्वय मूल्यवान होना आवश्यक नहीं है, इसमे सापेक्षिक दुर्लभता होना आवश्यक है। यदि मुद्रा प्रत्येक वृक्ष से तोड़ी जा सके तो काम नहीं चलेगा। परन्तु इसकी सापेक्षिक दुर्लभता एव मात्रा मे स्थिरता बनाये रखने पर तो कागज के टुकड़े जैसी निकृष्ट वस्तु अथवा एक लिपिक की बैंक के खातों मे एक घसीट को भी मुद्रा मे सम्मिलित किया जा सकता है।"*[1]
>
> —क्राउथर

समय-समय पर मुद्रा ने विविध रूप धारण किये हैं। मुद्रा के विभिन्न स्वरूपो को समझने के लिए एक उपयुक्त वर्गीकरण की आवश्यकता है। वर्गीकरण के मुख्यत तीन आधार हो सकते हैं—मुद्रा की प्रकृति, वैधानिकता तथा मुद्रा पदार्थ।

प्रकृति के आधार पर वर्गीकरण

प्रकृति के आधार पर जे० एम० केन्ज ने मुद्रा का वर्गीकरण 'वास्तविक मुद्रा' तथा 'हिसाब की मुद्रा' मे किया है।

वास्तविक मुद्रा (actual money) से तात्पर्य उस मुद्रा से है जो किसी देश मे विनिमय-माध्यम तथा भुगतान के आधार के रूप में प्रचलित होती है और क्रय शक्ति का सचय करती है। बेन्हम (Benham) ने इस प्रकार की मुद्रा को 'चलन की इकाई' (unit of currency) तथा सेलिगमैन (Seligman) ने 'यथार्थ मुद्रा' (real money) कहा है। भारत मे विभिन्न सिक्के एव करेन्सी नोट वास्तविक मुद्रा ही हैं।

हिसाब की मुद्रा (money of account) वह है जिसम ऋण और कीमतें तथा सामान्य क्रय-शक्ति व्यक्त की जाती है। इसी मे सभी प्रकार के हिसाब रखे जाते हैं और इसका प्राय स्थायी नाम होता है, जैसे रुपया भारत की हिसाब की मुद्रा है, जबकि इसका रूप अनेक बार बदल चुका है। इस प्रकार की मुद्रा के लिए बेन्हम ने 'हिसाब की इकाई' (unit of account) तथा सेलिगमैन ने 'आदर्श मुद्रा' (ideal money) शब्दों का प्रयोग किया है।

साधारणत हिसाब की मुद्रा तथा वास्तविक मुद्रा भिन्न नही होती हैं, परन्तु ऐसे कई उदाहरण हैं जबकि यह दोनो भिन्न भी रही हैं। सन् 1923 मे जर्मनी मे मार्क वास्तविक मुद्रा थी, और हिसाब की मुद्रा फ्रैंक तथा स्विस डालर। भारत मे दशमलव मुद्रा के चलन के पूर्व हिसाब पाइयो मे रखा जाता था जबकि पाई वास्तविक चलन मे नहीं थी। हिसाब की मुद्रा एक सैद्धान्तिक रूप है और वास्तविक मुद्रा व्यावहारिक रूप। व्यावहारिक रूप मे परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं जबकि सैद्धान्तिक रूप स्थिर रहता है। वास्तविक मुद्रा के केन्ज ने दो उप-भेद बनाये हैं .

---

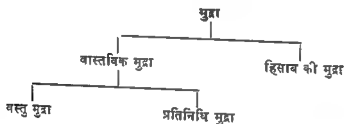
1 "Money need not itself be valuable It must, indeed, be relatively scarce, since it would hardly do if money could be plucked off every tree But provided precautions are taken to keep it relatively scarce—and, it may be added comparatively invariable in amount —money can consist of things as worthless as a scrap of paper or the scratch of a clerk's pen in the books of a bank."—Crowther *An Outline of Money*, p 13.

(क) वस्तु-मुद्रा (Commodity Money)—इस प्रकार की मुद्रा का वास्तविक मूल्य (intrinsic value) उसके अंकित मूल्य (face value) के बराबर अथवा लगभग बराबर होता है। इसको पूर्ण-काय मुद्रा (full-bodied money) भी कह सकते है। धातु-मुद्रा ही वस्तु मुद्रा की श्रेणी मे आ सकती है।

(ख) प्रतिनिधि मुद्रा (Representative Money)—यह मुद्रा विनिमय-माध्यम के रूप मे कार्य करती है क्योंकि क्रय शक्ति की प्रतिनिधि होती है। परन्तु इसका यथार्थ मूल्य कुछ न होने के कारण यह क्रय-शक्ति के सचय के लिए उपयुक्त नही होती। यह भी दो प्रकार की होती है—(i) परिवर्तनीय, और (ii) अपरिवर्तनीय।

परिवर्तनीय मुद्रा का वस्तु मुद्रा से बदला जा सकता है परन्तु अपरिवर्तनीय मुद्रा को (सिवाय अपने मे अन्य किसी वस्तु-मुद्रा मे) बदलने के लिए निर्गम सस्थाएँ अथवा सरकार बाध्य नही होती।

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का प्रचलित रूप पत्र मुद्रा है। इसे केन्ज ने 'बलात् मुद्रा' (fiat money) भी कहा है। केन्ज के अनुसार मुद्रा का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है



वैधानिक मान्यता के आधार पर वर्गीकरण

वैधानिक मान्यता के आधार पर मुद्रा दो प्रकार की होती है

(क) विधिग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Money)—यह वह मुद्रा होती है जिसे भुगतान के साधन के रूप मे देश की सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त होती है और जिसे अस्वीकार करना एक अपराध समझा जाता है।

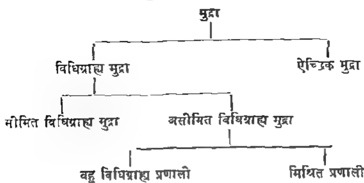
विधिग्राह्य मुद्रा दो प्रकार की होती है—सीमित विधिग्राह्य जिसे एक निश्चित सीमा के बाद स्वीकार करना अनिवार्य नही होता, जैसे, भारत मे एक पैसे से पच्चीस पैसे के सिक्को को 25 रुपये से अधिक स्वीकार करने के लिए विवश नही किया जा सकता। इसके विपरीत, असीमित विधिग्राह्य मुद्रा वह है जिसे कोई भी व्यक्ति किसी भी सीमा तक एक ही बार मे भुगतान मे स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है।

असीमित विधिग्राह्य भी दो प्रकार का होता है—(1) 'बहु विधिग्राह्य प्रणाली' (Multiple Legal Tender System) के अन्तर्गत दो या दो से अधिक तरह के धातु के सिक्के प्रामाणिक (standard) रूप म चलन म होते हैं और इनका असीमित मात्रा मे भुगतान किया जा सकता है। (2) 'मिश्रित' अथवा 'तालिका' प्रणाली (Composite or Tabular System) जिसमे अन्तर्गत मुद्रा वस्तुओ के मूल्य-स्तर के आधार पर लेन-देन मे स्वीकार की जाती है।

(ख) ऐच्छिक मुद्रा (Optional Money)—यह वह मुद्रा है जिसे साधारणत स्वीकार किया जाता है, परन्तु इसके लिए कानून किसी को विवश नही करता। विभिन्न प्रकार के साख-पत्र, चैक, बिल इत्यादि ऐच्छिक मुद्रा ही है। इस प्रकार की मुद्रा की स्वीकृति बहुत कुछ भुगतान करने वाले की बाजार मे साख पर निर्भर करती है।

रॉबर्टसन ने वैधानिकता के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण करते हुए विधिग्राह्य को 'साधारण मुद्रा' (Common Money) तथा ऐच्छिक मुद्रा को 'बैंक मुद्रा' (Bank Money) कहा है।

वैधानिकता के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण निम्न चार्ट द्वारा दिखाया गया है



मुद्रा-पदार्थ के आधार पर वर्गीकरण

मुद्रा पदार्थ के आधार पर मुद्रा को दो वर्गों में बांटा जाता है—धातु-मुद्रा तथा पत्र मुद्रा। परन्तु चूँकि आज के युग में पत्र मुद्रा ही मुख्यतः प्रचलित है इसलिए इस वर्गीकरण का कोई विशेष महत्व नहीं रहा है।

धातु-मुद्रा

जब मुद्रा किसी धातु की बनी होती है तो उसे धातु मुद्रा (metallic money) कहा जाता है। मुद्रा के विकास का उल्लेख करते समय यह बताया जा चुका है कि आरम्भ में धातुओं के टुकड़े अथवा सलाख ही मुद्रा के रूप में प्रयोग किये जाते थे। परन्तु इनको बार-बार तोलना और परखना पड़ता था और इनकी शुद्धता की भी कोई गारन्टी नहीं थी। इन असुविधाओं से बचने के लिए जब निश्चित वजन एवं मूल्य के टुकड़ों पर चिह्न अंकित किये जाने लगे तो सिक्कों का चलन आरम्भ हुआ। धीरे धीरे सिक्के ढालने की कला का विकास हुआ और सुन्दर सुदृढ़ तथा समरूप सिक्के बनने लगे।

सिक्कों की निर्माण विधि अथवा ढलाई को टंकण (coinage) कहा जाता है। टंकण के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं (1) सिक्कों को समरूपता दी जाय ताकि लोग इन्हें बिना कठिनाई के पहचान सकें (2) सिक्कों को ऐसा रूप दिया जाय कि जाली सिक्के न बन पायें (3) इनको काटकर अथवा गलाकर निकृष्ट न किया जा सके (4) घटिया धातुओं के मिश्रण द्वारा सिक्कों को कठोर बनाना ताकि उनकी अधिक घिसावट न हो तथा (5) सिक्कों का कलापूर्ण रूप प्रदान करना।

टंकण प्रणालियाँ

टंकण की अनेक प्रणालियों को दो प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है—स्वतन्त्र टंकण एवं सीमित टंकण।

(1) **स्वतन्त्र टंकण** (Free or Unlimited Coinage)—इस प्रणाली को अपरिमित टंकण प्रणाली भी कहा जाता है क्योंकि इसके अधीन जनता को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह टकसाल को धातु देकर उसके सिक्के ढलवा ले, अथवा इसके बदले में सिक्के प्राप्त कर ले। इंगलैण्ड में 1831 तक और भारत में 1893 तक यह प्रणाली प्रचलित थी। चूंकि इस प्रणाली का प्रयोग प्रामाणिक (standard) अथवा पूर्ण काय (full bodied) सिक्कों के ढालने में ही होता था अतः पूर्ण-काय सिक्कों का प्रचलन समाप्त होने के साथ ही स्वतन्त्र प्रणाली भी समाप्त हो गयी।

स्वतन्त्र टंकण के तीन उपभेद हैं (अ) निःशुल्क टंकण (gratuitous coinage) जिसके अधीन सिक्कों की ढलाई सरकार जनता से बिना कोई शुल्क (fees) लिये करती है। अमरीका तथा इंगलैण्ड में काफी प्रामाणिक सिक्कों की ढलाई निःशुल्क ही की जाती रही है। (ब) सशुल्क टंकण (brassage) जिसमें सरकार जनता से सिक्कों के ढलाई-व्यय के बराबर शुल्क लेती है। (स) सलाभ टंकण (seigniorage) जिसमें सरकार ढलाई-व्यय से अधिक शुल्क लेकर लाभ अर्जित करती है।

ढलाई-शुल्क या तो नकद मुद्रा में वसूल किया जाता है अथवा शुल्क के बराबर मूल्य की धातु असली धातु से निकालकर उसके बजाय घटिया धातु मिला दी जाती है। जिस दर पर सरकार धातु के बदले में सिक्के देती है उसे धातु का 'टकसाली मूल्य' (mint price) कहते हैं।

(2) **सीमित टंकण** (Limited Coinage)—इस प्रणाली के अधीन जनता को धातु के बदले सिक्के ढलवाने का अधिकार नहीं होता। सिक्कों के निर्माण की मात्रा स्वयं सरकार द्वारा निश्चित की जाती है, और फिर आवश्यकतानुसार सरकार धातुओं को धातु-बाजारों से खरीदकर सिक्के ढालती है। प्रतीक अथवा सांकेतिक (token) सिक्कों का टंकण सदा सीमित ही रहा है। भारत में 1893 के पश्चात हरशल समिति (Herschel Committee) की सिफारिश पर टंकण सीमित कर दिया गया। आधुनिक काल में सभी देशों में टंकण इसी प्रणाली के अनुसार होता है। स्वतन्त्र टंकण का केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है।

सिक्कों की निकृष्टता

जब टंकण कानून में कोई संशोधन किये बिना सरकार सिक्कों की तोल, शुद्धता अथवा दोनों को ही कम करके सिक्के का आन्तरिक मूल्य (intrinsic value) कम कर देती है तो इस क्रिया को सिक्कों की 'निकृष्टता' (debasement) और उन सिक्कों को 'निकृष्ट सिक्के' कहा जाता है। उदाहरणतः सन् 1940 में भारत सरकार ने रुपये में विशुद्ध चाँदी की मात्रा को घटा कर $\frac{1}{2}$ कर दिया और उसके स्थान पर गिलट मिला दिया जिससे रुपया निकृष्ट सिक्का हो गया।

बहुत समय तक चलन में रहने से भी सिक्के घिसकर निकृष्ट हो जाते हैं। कुछ बेईमान और धोखेबाज लोग अनुचित तरीकों से सिक्कों की धातु निकालकर निकृष्ट कर देते हैं, जैसे—

(1) **सिक्कों के किनारे काटना** (Clipping)—सिक्कों के किनारों को काटकर या खुरच कर थोड़ी-थोड़ी धातु निकाल ली जाती है। इसको रोकने के लिए सिक्कों के किनारे धारीदार (milled edged) बनाये जाने लगे हैं।

(2) **सिक्कों की घिसाई** (Abrasion)—किसी थैली में डालकर जोर से हिलाने से आपस की रगड़ के कारण वे घिस जाते हैं और उनकी कुछ धातु थैली में एकत्रित हो जाती है। इसको रोकने के लिए सिक्का किसी अन्य धातु के मिश्रण से कड़ा कर दिया जाता है।

(3) **सिक्कों की गलाई** (Sweating)—तेजाब आदि से सिक्कों की कुछ धातु को गला लिया जाता है और फिर गली हुई धातु के कण तेजाब से अलग कर लिये जाते हैं। इसको रोकने के लिए सिक्कों पर काफी उभरे हुए चिह्न अंकित किए जाते हैं।

(4) **जाली सिक्के बनाना** (Counterfeiting)—कुछ लोग कम शुद्धता अथवा वजन के जाली सिक्के भी बना लेते हैं। वैसे सरकार का यह प्रयास होता है कि सिक्कों की आकृति ऐसी हो कि उनकी नकल न की जा सके और उनकी नकल बनाना दण्डनीय अपराध होता है। परन्तु जाली सिक्के सभी देशों में थोड़े-बहुत बनते ही रहते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मुद्रा की निकृष्टता (debasement) मुद्रा-अवमूल्यन (devaluation) तथा मुद्रा के मूल्य-घटाव (depreciation) से पूर्णतया भिन्न है। अवमूल्यन के अन्तर्गत सिक्का का वजन तथा उनकी शुद्धता पहले जैसी बनी रहने पर भी उनकी विदेशी विनिमय-दर (rate of exchange) कम कर दी जाती है। इसी प्रकार पहले जैसे ही सिक्के रहने पर यदि बाजार में वस्तुओं और सेवाओं की कीमत बढ़ जाती है, अर्थात् मुद्रा का मूल्य गिर जाता है, तो इस मुद्रा का मूल्य-घटाव कहते हैं।

धातु-मुद्रा के भेद

धातु-मुद्रा अथवा सिक्के दो प्रकार के होते हैं—प्रामाणिक अथवा पूर्ण-काय (standard or full-bodied coins), तथा सांकेतिक (token coins)।

1 **प्रामाणिक अथवा पूर्ण-काय सिक्के** (Standard or Full-bodied Coins)—इस प्रकार के सिक्कों के चार प्रमुख लक्षण होते हैं (1) प्रामाणिक सिक्का देश का प्रधान सिक्का होता है और विनिमय-माध्यम के साथ-साथ हिसाब की इकाई का भी कार्य करता है, (2) इसका धातु-

मूल्य अथवा आन्तरिक मूल्य (intrinsic value) तथा अंकित मूल्य (face value) बराबर अथवा लगभग बराबर होते हैं, (3) यह असीमित विधिग्राह्य (unlimited legal tender) होता है, तथा (4) इसका स्वतन्त्र टंकण होता है।

20 सितम्बर, 1931 तक इंगलैण्ड में प्रचलित सॉवरेन (Sovereign) तथा 1893 तक भारत में प्रचलित चाँदी का रुपया प्रामाणिक सिक्के ही थे।

प्रामाणिक सिक्कों में अनेक गुण थे, जैसे—(1) इनका अंकित मूल्य और धातु-मूल्य बराबर होने के कारण इनमें जनता का पूर्ण विश्वास था, (2) पूर्ण-काय होने के कारण यह क्रय-शक्ति के संचय के लिए उत्तम साधन था, (3) धातुओं की मात्रा सीमित होने के कारण इनकी अत्यधिक निकासी अथवा मुद्रा-स्फीति का भय नहीं रहता था, और (4) विदेशों में भुगतान में भी इसे स्वीकार कर लिया जाता था।

प्रामाणिक सिक्कों के अवगुण ये थे (1) इनमें बहुमूल्य धातुओं का अपव्यय होता था जिससे यह एक खर्चीली प्रणाली थी, (2) इनमें लोच का अभाव था, अर्थात् मुद्रा की माँग बढ़ने पर पूर्ति नहीं बढ़ पाती थी, और (3) इनमें बहुमूल्य धातुएँ अनावश्यक रूप में घिरी रहती थीं।

2 सांकेतिक अथवा प्रतीक सिक्के (Token Coins)—इनके भी प्रमुख चार लक्षण होते हैं जो कि प्रामाणिक सिक्कों के लक्षणों से पूर्णतया भिन्न हैं (1) सांकेतिक सिक्के देश के गौण अथवा सहायक सिक्के होते हैं जिनका प्रयोग छोटे-छोटे भुगतान करने में होता है, (2) इनका अंकित मूल्य धातु-मूल्य से *प्रायः अधिक होता है, (3) ये सीमित विधिग्राह्य होते हैं, तथा (4) इनका टंकण भी सीमित होता है।*

सांकेतिक सिक्कों के गुण ये हैं (1) इनमें धातु की बचत होती है और इनमें अपव्यय नहीं होता, (2) इनमें लोच अधिक होती है, और (3) इनका सबसे बड़ा लाभ तो यह होना है कि इनके द्वारा छोटे सौदों का भुगतान सम्भव होना है।

सांकेतिक सिक्कों के अवगुण भी हैं (1) यह प्रामाणिक सिक्कों की तरह विश्वसनीय नहीं होते, (2) क्रय-शक्ति के संचय के लिए अनुपयुक्त होते हैं, (3) सुलभ धातुओं के बने होने के कारण इनकी अत्यधिक निकासी हो सकती है, (4) इनका चलन-क्षेत्र देश की सीमा तक ही होता है।

वास्तविकता यह है कि प्रामाणिक तथा सांकेतिक सिक्के विनिमय की भिन्न-भिन्न आव-श्यकताओं को पूरा करते हैं और एक-दूसरे के पूरक हैं।

भारतीय रुपये का स्वरूप

भारतीय रुपये में कुछ लक्षण तो प्रामाणिक मुद्रा के हैं और कुछ सांकेतिक मुद्रा के। यह देश की प्रमुख मुद्रा है तथा लेखे की इकाई है। यह असीमित विधिग्राह्य भी है। परन्तु इसका अंकित मूल्य वास्तविक मूल्य से कहीं अधिक है और टंकण भी सीमित है। यह देखते हुए भारतीय रुपये को सांकेतिक-प्रामाणिक सिक्का (token standard coin) कहना अधिक उचित होगा, क्योंकि यह प्रामाणिक तथा सांकेतिक मुद्रा का एक मिश्रण है।

धातु-मुद्रा की वर्तमान स्थिति

सम्पूर्ण विश्व में यह अनुभव किया गया है कि परिवर्तनशील तथा गतिमान आर्थिक स्थितियों में धातु-मुद्रा का प्रयोग *अनुपयुक्त एवं असुविधाजनक है।* मुद्रा की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सोने और चाँदी की पूर्ति *अपर्याप्त थी, और जो कुछ थी भी वह विश्व के देशों में* असमान रूप से बँटी हुई थी। लोच के अभाव के कारण यह युद्धकालीन असाधारण आवश्यकताओं को पूरा न कर पायी। विकासशील देशों को भी अपने मौद्रिक साधन बढ़ाने थे और इसके लिए धातु-मुद्रा बहुत ही अनुपयुक्त साधन थी। यह भी अनुभव किया गया कि धातु-मुद्रा एक खर्चीली प्रणाली थी और इसके प्रयोग में असुविधाएँ भी थीं। सोने-चाँदी के बाजारू मूल्यों के परिवर्तन का प्रभाव मुद्रा के मूल्य पर भी पड़ता था। इन सब कठिनाइयों के कारण सोने-चाँदी के सिक्के अब कहीं भी वास्तविक चलन में नहीं है। केवल सांकेतिक सिक्कों के बनाने में कुछ सस्ती धातुओं का प्रयोग किया जाता है। आज का युग पत्र-मुद्रा तथा बैंक-मुद्रा के प्रयोग का युग है। मुद्रा एक चिह्न-

मान है जो क्रय शक्ति का माध्यम है, इसका स्वयं मूल्यवान होना आवश्यक नहीं। भविष्य में भी ऐसी कोई सम्भावना नहीं दिखायी पड़ती कि धातु मुद्रा फिर से चलन में आये।

पत्र-मुद्रा

पत्र मुद्रा (paper money) से आशय सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित कागजी नोटों से है जो एक लिखित राशि देने का वचन देते हैं। क्राउथर के अनुसार पत्र-मुद्रा चार अवस्थाओं से होकर निकली है—प्रथम अवस्था में जमा की हुई रकम के बदले में प्राप्त हुए प्रमाण-पत्रों का प्रयोग आरम्भ हुआ, दूसरी अवस्था में बैंक नोट जारी करने लगे, तीसरी अवस्था में बैंकों ने अपनी जमा से अधिक नोट छापने शुरू किये, और चौथी अवस्था वर्तमान व्यवस्था की है जबकि नोट छापने का अधिकार या तो सरकार को हो या देश के केन्द्रीय बैंक—अथवा दोनों को।

पत्र मुद्रा चार प्रकार की होती है—प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (representative paper money), परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (convertible paper money), अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा (inconvertible paper money), तथा प्रादिष्ट पत्र मुद्रा (fiat paper money)।

प्रतिनिधि पत्र मुद्रा (Representative Paper Money)—यदि पत्र मुद्रा निर्गमन के लिए शत-प्रतिशत मूल्य के सोना व चाँदी सुरक्षित कोष के रूप में रखे जाते हैं और पत्र-मुद्रा सोना, चाँदी अथवा किसी प्रामाणिक मुद्रा में परिवर्तनशील होती है, तो उसे प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा कहते हैं। अमरीका में स्वर्ण तथा रजत प्रमाण-पत्र (certificates) प्रतिनिधि पत्र मुद्रा ही थे। भारत में भी 1925 में हिल्टन-यंग कमीशन (Hilton-Young Commission) ने स्वर्ण धातु-प्रमाण-पत्रों (Gold Bullion Certificates) के रूप में इसी प्रकार की मुद्रा को अपनाने का सुझाव दिया था, परन्तु इसे अपनाया नहीं गया।

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा में कई गुण हैं (1) अत्यधिक मुद्रा-प्रसार का कोई भय नहीं रहता, (2) जनता का इसमें विश्वास भी अधिक होता है, और (3) बहुमूल्य धातुओं की बचत के कारण यह मितव्ययितापूर्ण होती है।

दूसरी ओर इसमें दोष ये हैं—(1) इसमें लोच का अभाव होता है और संकटकाल के लिए अनुपयुक्त होती है (2) सभी देशों की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताएँ बढ़ने के कारण यह प्रणाली अव्यावहारिक है (3) निर्धन अथवा विकासशील देशों के लिए तो यह बहुत ही असुविधाजनक है, और (4) बहुमूल्य धातुएँ कोष में बेकार रखी रहती हैं। इन्हीं कठिनाइयों के कारण यह प्रणाली अधिक दिनों तक न चल सकी और धीरे धीरे इसे त्याग दिया गया।

परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (Convertible Paper Money)—प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा की लोच के अभाव को दूर करने के लिए जब ऐसी व्यवस्था की गयी कि शत-प्रतिशत निधि धातु में रखे बिना पत्र मुद्रा का निर्गमन हो जो प्रामाणिक मुद्रा में परिवर्तनशील हो, तो परिवर्तनशील पत्र मुद्रा का आरम्भ हुआ। इस प्रकार की मुद्रा की मुख्य विशेषताएँ ये हैं (1) धातु कोष की व्यवस्था आवश्यक होती है परन्तु इस निधि का मूल्य जारी किये गये नोटों के मूल्य से कम होता है, (2) नोट प्रामाणिक मुद्रा अथवा सोना या चाँदी में परिवर्तनशील होते हैं, (3) विदेशी भुगतानों के लिए एक अलग कोष रखा जाता है जिससे सरकार पत्र मुद्रा के बदले सोना व चाँदी देती है, (4) एक पूर्व निश्चित दर पर सरकार सोना व चाँदी का क्रय-विक्रय करती है, (5) परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के पीछे सरकार कोष में सोना व चाँदी के अतिरिक्त प्रामाणिक व सांकेतिक सिक्के तथा स्वीकृत प्रतिभूतियाँ (approved securities) भी रखती है। यह प्रतिभूतियाँ अथवा ऋण-पत्र उत्तम श्रेणी के होते हैं जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र ही भुनाया जा सकता है। इस प्रकार कोष के दो भाग होते हैं—धात्विक भाग (metallic portion) तथा अरक्षित भाग (fiduciary portion) जिसमें स्वीकृत प्रतिभूतियाँ सम्मिलित होती हैं।

प्रथम युद्धकाल से पूर्व इंगलैण्ड में पत्र-मुद्रा परिवर्तनशील थी, परन्तु युद्धकाल में परिवर्तनशीलता समाप्त कर दी गयी। सन् 1925 में पौण्ड को फिर से परिवर्तनशील किया गया, किन्तु 1931 में स्वर्णमान के समाप्त होने पर इसकी भी परिवर्तनशीलता समाप्त हो गयी। भारत में

1927 मे स्वर्ण-धातुमान अपनाने पर पत्र-मुद्रा को परिवर्तनशील बना दिया गया था, जिसे 1931 मे समाप्त कर दिया गया। वास्तव मे, अब नोटो पर अंकित भुगतान की प्रतिज्ञा (I promise to pay.. ..) निरर्थक होती है।

परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के गुण इस प्रकार है - (1) परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा मे जनता का विश्वास होता है, (2) बहुमूल्य धातुओं की बचत के कारण यह मितव्ययी होती है और बहुमूल्य धातुएँ कोष मे बेकार नही पडी रहती, (3) विदेशी भुगतान की सरलता होती है क्योंकि इसके लिए स्वर्ण प्राप्त किया जा सकता है, (4) पर्याप्त लोच रहते हुए भी मुद्रा-प्रसार पर नियन्त्रण रहता है, क्योंकि, जैसा कि क्राउथर ने लिखा है, "जब तक परिवर्तनशीलता का दायित्व रहता है, यह पत्र-मुद्रा निर्गमन करने वाली संस्था पर कठोर नियन्त्रण रखता है।"

परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के दोष ये हैं—(1) इसमें जनता का विश्वास इतना नही होता जितना कि प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा मे, (2) इसमे मुद्रा-प्रसार का भी भय हो सकता है, (3) जब तक परिस्थितियाँ अनुकूल हो तब तक तो ठीक हैं, किसी भी संकट अथवा विपत्ति के कारण जब लोगो का विश्वास सरकार मे कम होने लगता है तो परिवर्तनशीलता की माँग बढ जाती है जिसे समाप्त ही कर देना पडता है।

3 अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (Inconvertible PaperMoney)—अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा वह है जिसे प्रामाणिक सिक्को अथवा मूल्यवान धातुओ मे बदलने का कोई आश्वासन नही होता, और न ही सरकार को इसके लिए कानूनी रूप से बाध्य किया जा सकता है। इस मुद्रा की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—(1) इसके पीछे साधारणत सरकारी प्रतिभूतियाँ (securities), बॉण्ड्स (bonds), ट्रेजरी बिल (treasury bills) तथा विदेशी विनिमय (foreign exchange) सुरक्षित कोष मे रखे जाते हैं। धातुएँ कोष मे रखी ही नही जाती अथवा एक सीमित मात्रा मे रखी जाती हैं। जैसे, भारत मे कुल 115 करोड रुपये के मूल्य का स्वर्ण कोष मे रखना आवश्यक है। (2) पत्र-मुद्रा को मूल्यवान धातुओं मे सरकार द्वारा बदलने की कोई व्यवस्था नही होती। (3) मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर भी निर्धारित कर दी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष सदस्य देशो की मुद्राओं की विनिमय-दर का निर्धारण करता है। (4) पत्र-मुद्रा प्रामाणिक मुद्रा के रूप मे कार्य करती है तथा असीमित विधिग्राह्य होती है।

आजकल संसार भर मे प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा तथा परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का तो केवल सैद्धान्तिक महत्व ही रह गया है, वास्तविक व्यवहार मे अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा ही है। जैसा कि टॉमस ने लिखा है, "आगामी काफी वर्षों मे अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा की सभी देशो मे प्रामाणिक मुद्रा के रूप में रहने की सम्भावना है।"[1]

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा मे ये गुण है (1) इसके पीछे धातु-कोष न अथवा बहुत कम होने के कारण यह बहुत मितव्ययितापूर्ण होती है, (2) लोचपूर्ण होने के कारण यह एक व्यावहारिक प्रणाली है।

इस प्रणाली के दोष ये बताये जाते है (1) इसमें मुद्रा-प्रसार का भय निरन्तर बना रहता है जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा-स्फीति (inflation) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, (2) इसमे जनता का विश्वास भी कम होता है, (3) जैसा कि टॉमस ने लिखा है, "इस प्रणाली मे कोई ऐसी सुनिश्चित, स्वचालित व्यवस्था (automatic method) नही होती जिसके द्वारा प्रचलित माँग की पूर्ति, मुद्रा-स्फीति से दूर रहकर की जा सके ताकि समाज को अपनी सामान्य आर्थिक क्रियाओ तथा प्रगति के लिए पर्याप्त मुद्रा प्राप्त हो सके।"[2]

1975 4 प्रादिष्ट पत्र-मुद्रा (Fiat Paper Money)—प्रादिष्ट पत्र-मुद्रा अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का ही रूप है जिसका निर्गमन प्राय. संकटकालीन परिस्थितियो मे बिना कोई रक्षित कोष रखे किया जाता है। कुछ लेखकों ने इसे 'संकट-कालीन मुद्रा' (emergency money) कहा है।

---

1 Inconvertible Paper .. . is likely to be Standard money currency in all countries for a long time to come" —S. E Thomas: *Elements of Economics*, p. 237.
2 *Ibid*, p. 336.

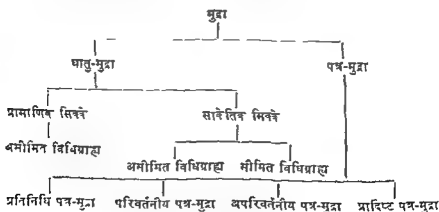
सन् 1789 से 1796 तक फ्रांस में प्रचलित ऐसाइनेट्स (Assignates) तथा अमरीका के क्रान्तिकालीन कॉन्टिनेन्टल्स (Continentals) और गृह-युद्धकालीन ग्रीनबैक्स (Greenbacks) प्रादिष्ट मुद्रा के उदाहरण हैं। वर्तमान समय में जबकि मुद्रा की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए सरकार केवल अपनी आज्ञा के आधार पर बहुत बड़ी मात्रा में नोट जारी करती है, अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा तथा प्रादिष्ट पत्र-मुद्रा में भेद करना कठिन हो जाता है। केन्ज तथा रॉबर्टसन ने प्रादिष्ट मुद्रा को सामान्य परिस्थितियों में भी अपनाने का सुझाव दिया है।

सैद्धान्तिक रूप से अपरिवर्तनीय तथा प्रादिष्ट मुद्रा में मुख्य अन्तर यह है कि अपरिवर्तनीय मुद्रा के पीछे एक रक्षित कोष होता है, जबकि प्रादिष्ट मुद्रा के पीछे केवल सरकारी आज्ञा होती है। इसके अतिरिक्त यह प्रायः संकटकालीन परिस्थितियों की मुद्रा है और इसका निर्गमन एक सीमित मात्रा में ही होता है।

प्रादिष्ट मुद्रा का सबसे बड़ा गुण यह है कि सरकार की विकास सम्बन्धी अथवा किसी संकट सम्बन्धी मुद्रा की बढ़ी हुई आवश्यकता को बिना किसी कठिनाई के पूरा किया जा सकता है। यह प्रणाली अत्यन्त लोचदार होने के अतिरिक्त बहुत ही सस्ती एवं मितव्ययितापूर्ण होती है। दोष इसमें यह है कि इसके प्रचलन से अत्यधिक मुद्रा-प्रसार सम्भव होता है और मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे न केवल आन्तरिक व्यवस्था बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी प्रभावित होता है। इस मुद्रा में जनता का विश्वास न होना अथवा बहुत कम होना स्वाभाविक ही है।

निष्कर्ष—पत्र मुद्रा में लोच, वहनीयता, मितव्ययिता तथा सुविधा के गुण अन्य किसी प्रकार की मुद्रा में उतनी मात्रा में सम्भव नहीं है। मुद्रा क्रय-शक्ति का माध्यम अथवा चिह्न है, उसमें निहित मूल्य की आवश्यकता नहीं होती। पत्र-मुद्रा की सहायता से ही आर्थिक विकास सम्भव हो सकता है और संकटकालीन परिस्थितियों का सामना किया जा सकता है। परन्तु पत्र-मुद्रा के सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए यह आवश्यक है कि इसका निर्गमन पर्याप्त नियन्त्रण में अधीन रखा जाय ताकि इसका अनुचित प्रसार न होने पाये। यदि इसकी पूर्ति इसकी माँग से अधिक हुई तो इसके दोषपूर्ण परिणामों से बचना कठिन हो जाता है।

मुद्रा-पदार्थ के आधार पर मुद्रा के वर्गीकरण से सम्बन्धित उपर्युक्त विवरण को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है



अच्छे मुद्रा-पदार्थ के गुण

मुद्रा-पदार्थ के आधार पर विभिन्न मुद्राओं के गुण एवं अवगुण देखने के पश्चात् यह बताना कठिन नहीं है कि एक अच्छे मुद्रा-पदार्थ में किन गुणों का होना आवश्यक है। वास्तव में, जो पदार्थ मुद्रा के रूप में मुद्रा के कार्यों को अच्छी तरह कर सकता है उसे ही अच्छा मुद्रा-पदार्थ कहा जायगा। जेवन्स (Jevons) ने मुद्रा-पदार्थ के विभिन्न गुणों की विवेचना की है जो अग्रलिखित हैं

(1) **उपयोगिता अथवा मूल्य (Utility or Value)**—इसे कुछ अर्थशास्त्री सामान्य स्वीकृति (general acceptability) का गुण भी कहते हैं। चूंकि मुद्रा विनिमय का माध्यम है, इसलिए उसमें सामान्य स्वीकृति का गुण होना आवश्यक है। मुद्रा-पदार्थ में निहित उपयोगिता तथा मूल्य के कारण उसमें सर्वस्वीकार्यता का गुण स्वयं ही आ जाता है। यदि किसी वस्तु में अपनी कोई उपयोगिता अथवा मूल्य नहीं है, जैसे कागज के टुकड़े, तो उसके विधिग्राह्य (legal tender) घोषित होने पर ही उसमें सर्वस्वीकार्यता का गुण आ जाता है। परन्तु इस प्रकार की सर्वस्वीकार्यता देश की सीमाओं के भीतर होती है, बाहर नहीं। इस प्रकार की स्वीकृति को स्वाभाविक न कहकर कानूनी कहा जायगा।

(2) **वहनीयता (Portability)**—वहनीयता से तात्पर्य यह है कि मुद्रा-वस्तु ऐसी हो जिसे बिना कठिनाई के तथा कम खर्च पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सके। इसके लिए थोड़े बोझ में अधिक मूल्य (large value in small bulk) का होना आवश्यक है। इस दृष्टि से बहुमूल्य धातुएँ ही उपयुक्त पदार्थ हैं। वैसे तो पत्र-मुद्रा में वहनीयता सबसे अधिक होती है, परन्तु उसमें अपना मूल्य न होने के कारण उसकी स्वीकृति का क्षेत्र सीमित होता है।

(3) **विभाजकता (Divisibility)**—मुद्रा-पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि बिना किसी हानि के उसके अनेक टुकड़े किये जा सकें। अर्थात् एक बड़े टुकड़े का अनेक छोटे टुकड़ों में विभाजन कर देने पर भी उनका सम्मिलित मूल्य बड़े टुकड़े के मूल्य के बराबर हो। सोना व चाँदी आदि धातुओं में यह गुण है। हीरा आदि मूल्यवान होने पर भी इस गुण से रहित है।

(4) **परिचयता (Cognisibility)**—चूंकि मुद्रा का प्रयोग समाज में सभी लोगों द्वारा होता है इसलिए यह आवश्यक है कि साधारणतया सभी व्यक्ति बिना विशेष प्रयत्न अथवा कुशलता के मुद्रा-पदार्थ को पहचान सकें। धातु को सिक्कों में ढालने का एक बहुत बड़ा उद्देश्य उनके लिए परिचयता का गुण प्राप्त करना ही होता है। हीरा, मोती तथा अन्य मूल्यवान पत्थर इस गुण से रहित हैं।

(5) **अक्षयशीलता (Indestructibility or Durability)**—यदि मुद्रा-पदार्थ शीघ्र नाश होने वाला हो तो उससे बनी मुद्रा मूल्य के संचय का कार्य नहीं कर सकती। जेवन्स (Jevons) के अनुसार, "जिस पदार्थ से मुद्रा बनी हो, वह अलकोहल की तरह हवा में न उड़े, न जानवरों के मांस की तरह सड़कर दुर्गन्ध करे, न लकड़ी की तरह घुने और न लोहे की तरह जंग खाय।" ये गुण सोना, चाँदी आदि धातुओं में पाये जाते हैं। कागजी मुद्रा के लिए भी अच्छी प्रकार का कागज प्रयोग किया जाता है जिससे वह शीघ्र फटे नहीं।

(6) **ढलाऊपन (Malleability)**—मुद्रा-पदार्थ ऐसा हो जिसके सिक्के ढाले जा सकें। यह न तो अधिक कोमल हो और न अधिक कड़ा ही। क्राउथर ने लिखा है—"मुद्रा के बाद मनुष्य की सबसे बड़ी खोज सिक्कों की ढलाई की है। हर बार मनुष्य को धातु के टुकड़े तोलने न पड़ें, उनकी श्रेष्ठता न जाँचनी पड़े, वे चलन में आसानी से घिसें नहीं, इसलिए उन पर निश्चित चिन्ह अंकित कर दिये जाते हैं तथा उनके किनारों को चूड़ीदार कर दिया जाता है।"

(7) **एकरूपता (Homogeneity)**—अच्छे मुद्रा-पदार्थ के समान भार वाले टुकड़े समरूप होते हैं तथा उनका मूल्य भी समान होता है। सोने-चाँदी के बने सिक्कों में एकरूपता होती है। कागजी मुद्रा में भी यह होता है परन्तु अन्न, पशु आदि पदार्थों में इन गुण का अभाव होता है।

(8) **मूल्य में स्थिरता (Stability)**—मुद्रा अपने समस्त कार्य तभी ठीक प्रकार से कर सकती है जबकि इसका अपना मूल्य अपेक्षतया स्थायी रहे। बहुमूल्य धातुओं में चूंकि दुर्लभता का गुण होता है इसलिए प्राय उनका मूल्य स्थिर रहता है। जब कभी धातुओं के मूल्य में परिवर्तन हुआ तब ही मुद्रा के रूप में इनका प्रयोग असुविधाजनक बन गया। मूल्य बढ़ने से लोगों में मुद्रा गलाने या छिपाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।

आधुनिक दृष्टिकोण

उपर्युक्त गुणों के आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि सोना व चाँदी ऐसी धातुएँ हैं जिनमें ये गुण अधिकांश मात्रा में पाये जाते हैं, और इन्हीं गुणों के कारण ही इनका प्रयोग

लम्बे समय तक मुद्रा के रूप में किया जाता रहा है। ताँबा और गिलट आदि में गुणों की मात्रा कुछ कम होने के कारण इनका प्रयोग सांकेतिक सिक्कों के रूप में किया जाता रहा है। परन्तु, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सोना व चाँदी मुद्रा सम्बन्धी बढ़ती हुई माँग को पूरा नहीं कर पाये और इनका त्याग करना पड़ा। उपयोगिता, टिकाऊपन आदि गुणों का अभाव होने पर भी, अब पत्र-मुद्रा ही सभी देशों में चलन में है। पत्र-मुद्रा का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसकी मात्रा माँग के अनुसार नियन्त्रित हो ताकि यह मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं को तो पूरा कर सके परन्तु अनावश्यक मुद्रा-प्रसार द्वारा अनिश्चित एवं अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न न करे। क्राउथर के अनुसार उसकी सापेक्षिक दुर्लभता (relative scarcity) ही उसका सबसे बड़ा गुण है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. विभिन्न प्रकार की मुद्राओं की व्याख्या कीजिए तथा उनकी विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

   [संकेत विभिन्न आधारों पर किये गये मुद्रा के वर्गीकरण का उल्लेख करते हुए प्रत्येक मुद्रा की विशेषताएँ बताइए।]

2. पत्र मुद्रा तथा धातु-मुद्रा के गुण-दोषों का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

   [संकेत दोनों के ही गुण एवं दोष अलग-अलग समझाकर यह बताइए कि अधिकांश गुण जो धातु मुद्रा में थे पत्र-मुद्रा में नहीं हैं परन्तु पत्र-मुद्रा के अपने कुछ गुण हैं—जैसे लोच, मितव्ययिता, सुविधा आदि—जिनके कारण आज के युग में इसे ही अच्छा समझा जाने लगा है।]

3. अच्छे मुद्रा-पदार्थ के गुणों पर प्रकाश डालिए। क्या यह ठीक है कि मुद्रा-पदार्थ अपनी दुर्लभता सम्बन्धी विशेषता के आधार पर चुना जाता है, मूल्य के आधार पर नहीं?

   [संकेत मुद्रा-पदार्थ के गुणों की व्याख्या के पश्चात यह बताइए कि ये गुण तो अधिकांश मात्रा में सोना व चाँदी में ही पाये जाते हैं, जबकि आजकल चलन में पत्र मुद्रा है जिसका अपना कोई मूल्य नहीं, परन्तु नियन्त्रित रखे जाने पर यह भी बहुत अच्छी मुद्रा है।]

4. पत्र-मुद्रा के भेद बताइए और प्रत्येक प्रकार की पत्र मुद्रा के गुण दोषों पर प्रकाश डालिए।

   [संकेत पत्र-मुद्रा के चारों रूपों की विशेषताएँ, गुण तथा दोष अलग-अलग विस्तारपूर्वक लिखिए।]

5. तुलनात्मक टिप्पणियाँ लिखिए—(क) वास्तविक मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा, (ख) वैधानिक मुद्रा एवं ऐच्छिक मुद्रा, (ग) प्रामाणिक मुद्रा एवं सांकेतिक मुद्रा, (घ) चलन की इकाई एवं हिसाब की इकाई, (ङ) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा एवं बैंक मुद्रा।

   [संकेत प्रत्येक की विशेषताओं के आधार पर अन्तर स्पष्ट कीजिए।]

6. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—सशुल्क टंकण, सीमित विधिग्राह्य, तथा प्रादिष्ट मुद्रा।

   [संकेत प्रत्येक की विशेषताओं, गुणों तथा दोषों का विवरण दीजिए।]

4

मुद्रा-मान—द्वि-धातुमान

[MONETARY STANDARDS—BIMETALLISM]

"जबकि द्वि धातुमान वास्तविक चलन मे है तब इसमे स्वर्ण और पत्र दोनों ही मुद्रामानों के निम्नतम दोष उपस्थित होते है, और अन्तत व्यवहार मे यह स्वर्ण या रजत एक-धातुमान का रूप ले लेता है।"[1] —ए० डी० गेयर

मुद्रा-मान का अर्थ

'मुद्रा-मान' का अभिप्राय उन वस्तुओ, व्यवस्थाओ तथा नियमो से होता है जिनके सन्दर्भ म मुद्रा की क्रय शक्ति व्यक्त की जाती है। प्रो० हॉम ने मुद्रा मान का सीमित अर्थ लेते हुए लिखा है कि 'यह प्रामाणिक मुद्रा की मात्रा तथा उसके विनिमय मूल्य के नियमन की प्रणाली है'।[2] परन्तु व्यापक रूप मे, मुद्रा-मान एक विशिष्ट मूल्य-मान पर आधारित सम्पूर्ण मौद्रिक व्यवस्था है जिसके अधीन प्रामाणिक मुद्रा की मात्रा तथा विनिमय-मूल्य नियमन के अतिरिक्त सम्पूर्ण मौद्रिक प्रबन्ध एव तत्सम्बन्धी नियम, विभिन्न प्रकार की मुद्राओ के निर्गमन सम्बन्धी नियम, धातुओ के आयात-निर्यात, विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवहार और बैंक-जमा सभी सम्मिलित होते है।

जैसे-जैसे मुद्रा के रूप मे परिवर्तन होता गया, मुद्रा-मान का अर्थ भी बदलता गया। वस्तु-मुद्रा काल म मुद्रा-मान का अर्थ था "वह वस्तु जिसम क्रय-शक्ति व्यक्त की जाती थी।" धातु-मुद्रा काल मे इसका अर्थ था "वह धातु जिसमे देश के प्रामाणिक सिक्के बनाये जाते थे।" आधुनिक युग मे "एक राष्ट्र के मुद्रा-मान के अन्तर्गत वे सब कानून तथा व्यवहार (law and practice) सम्मिलित होते है, जिनके द्वारा देश की मुद्रा की मात्रा तथा गुण नियन्त्रित किये जाते है।"[3]

मुद्रा-मान और मूल्य-मान (standard of value) म इतनी अधिक घनिष्ठता है कि अनेक लोग उनका एक ही अर्थ लेते है। परन्तु मूल्य-मान से हमारा अभिप्राय मुद्रा की इकाई (जैसे—रुपया, पौण्ड, डालर, मार्क आदि) से होता है जो किसी देश म आर्थिक मूल्यों को मापती है। यह देश की प्रमुख मुद्रा होती है। दूसरी ओर मुद्रा-मान जैसाकि ऊपर बताया गया है, देश की सम्पूर्ण व्यवस्था से सम्बन्धित होती है और इसका क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। इस प्रकार मुद्रा मान तथा मूल्य मान मे बहुत अन्तर है।

मुद्रा-मान के भेद

मुख्य रूप से मुद्रा-मान दो प्रकार के होते हैं—धातुमान (metallic standard) तथा पत्र-मान (paper standard)। धातुमान के भी दो मुख्य भेद हैं—एक-धातुमान (Monometallism) तथा द्वि-धातुमान (Bimetallism)। कुछ अन्य रूप ऐसे भी हैं

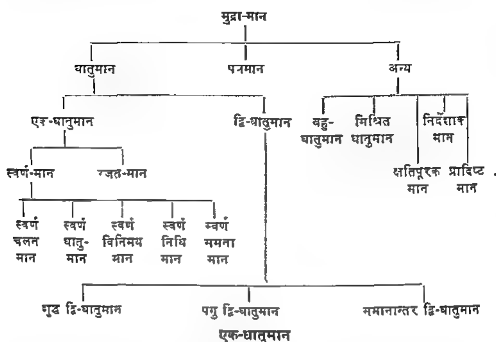
---

1 'Bimetallism combines the worst features of both the gold and paper standards while it is in actual operation, and tends in practice to become gold or silver monometallism.'—A D Gayer *Monetary Policy and Economic Stabilisation*

2 G N Halm *Monetary Theory*, p 105

3 Steiner and Shapiro in *Money and Banking*

जो अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। ये हैं—बहु-धातुमान, मिश्रित धातुमान, सूचीबद्ध मान, क्षतिपूरक मान तथा प्रादिष्ट मान। पत्र-मान का उल्लेख हम अलग से विस्तारपूर्वक करेंगे। धातुमान का वर्गीकरण निम्न तालिका में दिखाया गया है



एक-धातुमान

अंग्रेजी शब्द 'mono' का अर्थ 'एक' होता है। एक-धातुमान व्यवस्था (monometallism) के अन्तर्गत एक ही धातु का मूल्य-मान के रूप में अपनाया जाता है। यदि यह धातु स्वर्ण हो, तो इसे स्वर्णमान (gold standard) कहते हैं, और यदि रजत तो रजतमान (silver standard)। एक-धातुमान की मुख्य विशेषताएँ हैं—(1) इसमें केवल एक ही धातु का देश की प्रमुख मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाता है, (2) सस्ती धातुओं के सांकेतिक सिक्के भी चलन में रहते हैं, (3) प्रमुख सिक्का असीमित विधिग्राह्य होता है, तथा (4) इसका स्वतन्त्र टंकण होता है।

स्वर्णमान और इसके विभिन्न रूपों का अध्ययन हम अगले अध्याय में करेंगे। रजतमान सन् 1873 से पूर्व इंगलैण्ड को छोड़कर अनेक देशों में प्रचलित था। भारत ने इसे 1835 में अपनाया। सन् 1873 में चाँदी के मूल्यों में गिरावट के कारण जर्मनी ने इसका त्याग कर दिया। क्रमशः अन्य देश भी इसे छोड़ने लगे जिससे बाजार में चाँदी अधिक हो गयी और मूल्य काफी गिर गए। 1893 में भारत में भी चाँदी के रुपयों की स्वतन्त्र ढलाई बन्द कर दी गयी, वैसे चाँदी के रुपये 1940 तक चलन में रहे।

एक-धातुमान में अनेक गुण हैं और दोष भी। गुण ये हैं : (1) यह एक सरल प्रणाली है, (2) इसमें जनता का विश्वास प्राप्त होता है, (3) विदेशी भुगतान के लिए सुविधाजनक होती है, तथा (4) विनिमय-दर का निर्धारण भी सरलतापूर्वक टकसाली क्षमता के आधार पर हो जाता है। दोष मुख्य रूप में ये हैं (1) इसमें लोच का अभाव होता है, (2) इसे विश्व के सभी देश नहीं अपना सकते क्योंकि एक धातु की मात्रा इतनी अधिक नहीं हो सकती, (3) धातु की पूर्ति में घटा बढ़ी के कारण इसके बाजार-मूल्य में परिवर्तन होता रहता है जिसके कारण सामान्य मूल्य-स्तर में स्थिरता नहीं रहती।

द्वि-धातुमान

द्वि-धातुमान प्रणाली (bimetallism) के अन्तर्गत दो धातुओं के सिक्के प्रामाणिक मुद्राओं के रूप में चलन में होते हैं, और इन दोनों सिक्कों के बीच अनुपात निर्धारित कर दिया जाता है।

हॉम के शब्दों में, "यदि दो धातुओं का प्रामाणिक मुद्रा के रूप में स्वतन्त्र टंकण हो सकता है, और यदि दोनों ही धातुओं के मूल्य में लेखे की इकाई के रूप में अनुपात कानून द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है ताकि केवल एक प्रामाणिक इकाई और कीमतों की केवल एक ही व्यवस्था हो, तो यह द्वि धातुमान अथवा दोहरा मान होता है।"[1]

अपने विशुद्ध रूप में द्वि-धातुमान के प्रमुख लक्षण ये बताये जाते हैं (1) इसमें सोने व चाँदी के सिक्के एक साथ चलन में होते हैं, (2) इन सिक्कों के बीच अनुपात टकसाल द्वारा निश्चित कर दिया जाता है, (3) दोनों ही धातुओं के सिक्के असीमित विधिग्राह्य होते हैं, (4) इनकी स्वतन्त्र ढलाई होती है, (5) दोनों प्रकार के सिक्कों का अंकित मूल्य इनके धात्विक मूल्य के बराबर होता है, तथा (6) सोने व चाँदी के आयात निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

ऊपर बताये गये सभी लक्षण उपस्थित होने पर देश में **'शुद्ध द्वि धातुमान'** (pure bi-metallism) होता है। परन्तु इसके दो अन्य रूप भी सम्भव हैं। शुद्ध द्वि-धातुमान के अन्य सब लक्षण रहने पर यदि दो में से केवल एक धातु के सिक्के की ढलाई स्वतन्त्र होनी है दूसरे की नहीं, अर्थात् एक सिक्का पूर्ण प्रामाणिक और दूसरा अपूर्ण प्रामाणिक होता है, तो इस व्यवस्था को **'पंगु द्वि-धातुमान'** (limping bi-metallism) कहा जाता है। यदि शुद्ध द्वि-धातुमान के अन्य सब लक्षण रहने पर स्वर्ण तथा रजत के बीच टकसाली अनुपात निर्धारित नहीं किया जाता और इनका टकसाली अनुपात बाजार-अनुपात के समानान्तर बदलता रहता है तो इसे **'समानान्तर द्वि-धातुमान'** (parallel bi-metallism) कहते हैं।

द्वि-धातुमान की क्षतिपूरक क्रिया

एक-धातुमान के अन्तर्गत धातु के मूल्य में परिवर्तनों के कारण धातु के बाजार-मूल्य (market-price) तथा टकसाली मूल्य (mint-price) में अन्तर होने की सम्भावना होती है। **परन्तु द्वि-धातुमान के अन्तर्गत दोनों धातुओं के बाजार-मूल्य अनुपात तथा टकसाली अनुपात में समानता रहती है, क्योंकि अन्तर होने पर उसे द्वि-धातुमान की क्षतिपूरक क्रिया (compensatory action of bimetallism) स्वयं ही समाप्त कर देती है।** उदाहरणतः यदि स्वर्ण तथा चाँदी के सिक्कों का टकसाली अनुपात 1 : 16 है और चाँदी का बाजार-मूल्य गिरने के कारण बाजार-अनुपात 1 : 17 हो जाता है तो परिणामस्वरूप बाजार में चाँदी की माँग बढ़ जायगी, क्योंकि लोग चाँदी के सिक्के ढलवाने लगेंगे। दूसरी ओर बाजार में स्वर्ण की पूर्ति बढ़ेगी। चाँदी की बढ़ती हुई माँग और स्वर्ण की घटती हुई पूर्ति तब तक क्रियाशील रहेंगी जब तक स्वर्ण तथा चाँदी का बाजार-अनुपात पुनः टकसाली अनुपात के समान नहीं हो जाता। इसके विपरीत, बाजार-अनुपात 1 : 15 हो जाने पर स्वर्ण की माँग तथा चाँदी की पूर्ति घटेगी जिसके प्रभाव में फिर से बाजार-अनुपात टकसाली अनुपात (1 : 16) के समान हो जायेगा।

जेवन्स (Jevons) ने द्वि-धातुमान की क्षतिपूरक क्रिया के उदाहरण बड़े मनोरंजक रूप में दिये हैं। उनके अनुसार द्वि-धातुमान शराब के नशे में चूर दो ऐसे व्यक्तियों के समान है जिन्हें परस्पर बाँध दिया गया है। ये व्यक्ति यदि नशे के प्रभाव में विपरीत दशा में गिरने की प्रवृत्ति दिखाते हैं, तो वे सीधे चलते रहेंगे, और यदि दोनों व्यक्ति एक ही ओर गिरते हैं तो उनका गिरना काफी भयंकर होगा। इसी प्रकार यदि द्वि धातुमान में दो धातुओं में से एक की पूर्ति बढ़ती है और दूसरी धातु की पूर्ति घटती है तो एक धातु का मूल्य नीचे गिरेगा और दूसरी का मूल्य ऊपर उठेगा, और दोनों धातुओं के सामूहिक कोष का मूल्य यथावत् रहेगा। एक अन्य उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा है, "यदि पानी की दो ऐसी टंकियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक पर पानी की माँग और पूर्ति के अलग-अलग प्रभाव पड़ते हैं और दोनों को जोड़ने वाले नल का अभाव है, तो उनमें से प्रत्येक टंकी के पानी की सतह अपने ही परिवर्तनों से प्रभावित होगी। परन्तु यदि उन्हें जोड़

1 "If two metals can be coined *freely as standard money and if the ratio* between the value of the two metals in terms of the units of account is fixed by law, *so that there is only one standard unit and only one* system of prices then we have a bi-metallic standard or double standard" —Halm *Monetary Theory*, pp 108 109

दिया जाय तो दोनों का जल एक औसत सतह पर आ जायेगा और किसी भी टंकी पर पानी की अधिक मांग अथवा पूर्ति का प्रभाव दोनों ही टंकियों पर वितरित होगा।"[1]

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि द्वि-धातुमान की क्षतिपूरक क्रिया तभी सरलता-पूर्वक कार्य कर सकती है जब द्वि-धातुमान **अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाया जाय**, अन्यथा धातुओं के आयात-निर्यात द्वारा अनुपात में स्थिरता कभी नहीं आयेगी। यह भी आवश्यक है कि **सभी देश एक-समान टकसाली अनुपात अपनायें** और ये अनुपात बाजार-अनुपात से संगति रखने वाले हों। यह भी आवश्यक है कि **दोनों धातुओं की माँग तथा पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर इनके अनुपातों को समायोजित कर लिया जाये**। ऐसा न होने पर, जैसा कि क्राउथर ने कहा है, या तो अकेले स्वर्णमान ही रहेगा अथवा अकेले रजतमान।

यह ठीक है कि अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुमान धातुओं के मूल्य-अनुपात एवं विनिमय-दरों को स्थायी बनाये रख सकता है, परन्तु इसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाना सरल कार्य नहीं है क्योंकि इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता होती है जो सुलभ नहीं है। यदि यह सम्भव हो भी जाय तो इस बात की कोई गारण्टी नहीं कि मूल्य-स्तर जिस बिन्दु पर स्थिर होगा वह पूर्ण रोजगार का बिन्दु ही होगा, अथवा ऐसा बिन्दु होगा जिससे विकास सम्बन्धी अड़चनें उत्पन्न नहीं होती। इन्हीं कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुमान की स्थापना के लिए किये गये प्रयत्नों में सफलता नहीं मिली। टॉसिग (Taussig) के अनुसार, "ग्रेट ब्रिटेन कभी भी इसे स्वीकार करने को तैयार न था ... ग्रेट ब्रिटेन के बिना जर्मनी इसे स्वीकार नहीं कर सकता था, और इनमें से कम से कम एक की स्वीकृति के बिना अमेरिका भी स्वीकार नहीं करना चाहता था।"

द्वि-धातुमान व्यवहार में

उन्नीसवीं शताब्दी के मौद्रिक इतिहास में द्वि-धातुमान का विशेष महत्व रहा है। 1870 ई० तक द्वि-धातुमान इंगलैण्ड को छोड़कर संसार के अनेक महत्वपूर्ण देशों में प्रचलित था। अमेरिका में सर्वप्रथम यह 1792 के मिण्ट एक्ट के अधीन अपनाया गया जो 1873 में समाप्त किया गया। अमेरिका ने स्वर्ण तथा चाँदी के बीच कानून द्वारा निर्धारित अनुपात 1 : 15 का था परन्तु 1803 में जब फ्रांस ने द्वि धातुमान अपनाया तो यह अनुपात 1 : 15.5 निर्धारित किया। परिणामस्वरूप, अमेरिका से सोना उन देशों को जाने लगा जहाँ स्वर्ण का सापेक्ष मूल्य अधिक था। इसको रोकने के लिए विवश होकर अमेरिका ने 1834 में टकसाली दर 1 : 16 कर दी जिसके परिणामस्वरूप अब फ्रांस को चाँदी का निर्यात आरम्भ हो गया। अमेरिका में सैद्धान्तिक रूप से द्वि-धातुमान होते हुए भी (ग्रेशम के नियम के प्रभाव से) व्यावहारिक रूप में मुख्यतः स्वर्ण डालर ही चलन में रहा। सन् 1873 में एक अधिनियम के अधीन चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई समाप्त कर दी गयी जिससे द्वि-धातुमान पंगु द्वि-धातुमान (limping bimetallism) हो गया। चाँदी के पक्षपातियों को हानि होने के कारण उन्होंने इस नियम को 'Crime of 1873' की संज्ञा दी।

यूरोप के देशों में फ्रांस द्वि-धातुमान का अगुआ रहा है। द्वि-धातुमान की रक्षा में उसे भी 1848 के पश्चात (जब नयी खानों का पता लगाने से स्वर्ण की मात्रा बढ़ी) विनिमय-दर में परिवर्तन करने पड़े। 1865 में उसी के प्रयासों से लैटिन मौद्रिक संघ की स्थापना हुई जिसमें फ्रांस के अतिरिक्त इटली, बेल्जियम तथा स्विटजरलैण्ड सम्मिलित थे। बाद में कुछ अन्य देश भी आ मिले, परन्तु 1873 के पश्चात चाँदी के बाजार-मूल्य, उत्पादन में वृद्धि के कारण, गिरने लगे जिसमें चाँदी के सिक्कों का स्वतन्त्र टंकण समाप्त करना पड़ा और द्वि-धातुमान पंगु हो गया। 1878 में पेरिस और 1893 में ब्रसेल्ज की दो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सभाओं में द्वि-धातुमान को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाने के सुझाव रखे गये, परन्तु इंगलैण्ड ने इसका कट्टर विरोध किया

1 "Imagine two reservoirs of water each subject to independent variation of supply and demand. In the absence of any connecting pipe the level of water in each will be subject to its fluctuations only. But, if we open a connection, the water in both will assume a certain mean level and the effects to any excessive supply or demand will be distributed over the both reservoirs." —Jevons. *Money and the Mechanism of Exchange*

और अन्तत द्वि-धातुमान सन् 1900 तक पूर्णत समाप्त हो गया। नोगारो के अनुसार "द्वि-धातुमान अभी बना रह सकता था यदि ससार के सभी देशो द्वारा अपनाया जाता।"[1]

अमेरिका मे 1879 मे द्वि-धातुमान का पूर्ण परित्याग कर दिया गया था, परन्तु 1930 की मन्दी के दौर मे द्वि धातुमान को फिर से लाने के लिए अमेरिका ने कुछ प्रयास किये। उन्नीसवी शताब्दी के मृतक को बीसवी शताब्दी मे पुन जीवित न किया जा सका। द्वि-धातुमान का अब केवल ऐतिहासिक महत्व रह गया है। व्यावहारिक रूप मे यह उन्नीसवी शताब्दी म ही समाप्त हो गया और इसके पुन लौटने की अब कोई सम्भावना नही है, परन्तु फिर भी सैद्धान्तिक रूप मे इसके गुण तथा दोषो की विवेचना की जा सकती है, जो निम्नलिखित हैं

द्वि-धातुमान के गुण

(1) **कीमत-स्तर मे स्थिरता**—द्वि-धातुमान की क्षतिपूरक क्रिया (compensatory action) के कारण एक धातु की माँग-पूर्ति सम्बन्धी दिशाएँ दूसरी धातु की माँग-पूर्ति सम्बन्धी दिशाओ के प्रभाव को बेकार कर देती हैं, और धातुओ के मूल्यो मे स्थिरता बनी रहती है। परिणामत मुद्रा की कीमत स्थिर रहने के कारण सामान्य कीमत-स्तर में भी मुद्रा के प्रभाव मे कोई परिवर्तन नही होते। इसके अतिरिक्त चूँकि दो धातुओ के सिक्के चलन मे रहते हैं तो मुद्रा-सकुचन (deflation) का कोई भय नहीं रहता। फिशर के अनुसार द्वि-धातुमान ही एक ऐसी प्रणाली है जिसमे मुद्रा का मूल्य सामान्यत स्थिर रहता है।

(2) **विदेशी व्यापार मे सुविधा**—देश की मुद्रा का मूल्य दोनो ही धातुओ, स्वर्ण तथा चाँदी, म निर्धारित होता है, इसलिए सुविधापूर्वक स्वर्णमान अथवा रजतमान वाले सभी देशो के साथ विनिमय-दर (rate of exchange) निश्चित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, ऊपर बताये गये कीमत-स्तर की स्थिरता का गुण भी विदेशी व्यापार को बढाने मे सहायक होता ह।

(3) **सुरक्षित कोषो का विस्तार**—चूंकि सुरक्षित कोष स्वर्ण तथा चाँदी दोनो ही धातुओ मे रखा जा सकता है, इसलिए सुरक्षित कोष मे वृद्धि हो सकती है जो अकेले स्वर्ण द्वारा सम्भव नही है। परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा की तो सफलता ही पर्याप्त कोष पर निर्भर करती है।

(4) **अधिक देशो द्वारा अपनाया जाना सम्भव**—यदि ससार के सभी देश एक ही धातु की मुद्रा, स्वर्णमान अथवा रजतमान, अपनाना चाहे तो उस धातु की मात्रा इतनी अधिक नही होगी कि सभी देशो के लिए पर्याप्त हो, परन्तु स्वर्ण तथा चाँदी मिलकर अधिक देशो द्वारा अपनाये जा सकते हैं और ये धातुएँ उनकी मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति अधिक मात्रा मे कर सकती हैं।

(5) **बैंको के लिए सुविधाजनक**—द्वि-धातुमान के अन्तर्गत बैंक अपने कोषो मे स्वर्ण, चाँदी अथवा दोनों ही के प्रामाणिक सिक्के रख सकते हैं। इससे उन्हे कोष निर्मित करने मे न केवल सुविधा होती है बल्कि मितव्ययिता भी। मुद्रा अधिक होने के कारण उनकी जमा-राशि (deposits) भी बढ जाती हैं जिससे वे कम ब्याज पर ऋण दे सकते हैं।

(6) **उत्पादन को प्रोत्साहन**—अधिक उत्पादन के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है, और द्वि-धातुमान अधिक मुद्रा तथा साख का चलन सम्भव बनाता है। मौद्रिक स्टॉक मे वृद्धि व्यापार के विस्तार म सहायक होती है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, द्वि-धातुमान के उपर्युक्त लाभ केवल सैद्धान्तिक हैं, व्यावहारिक रूप मे दोषपूर्ण होने के कारण सभी देशो ने इसे उन्नीसवी शताब्दी मे ही समाप्त कर दिया था।

द्वि-धातुमान के दोष

(1) **ग्रेशम का नियम क्रियाशील होना**—यदि ससार के सभी देश द्वि-धातुमान को न अपनायें तो व्यावहारिक रूप मे कुछ समय बाद यह स्वत एक-धातुमान हो जाता है। ग्रेशम का नियम—

---

1 "Bimetallism could easily have subsisted if it had been universally adopted"—R. Nogaro *Modern Monetary Systems*, p 26

बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से निकाल देती है—द्वि-धातुमान में लागू होता है। अधिकांश लेखक सोने व चाँदी के मध्य बाजार-अनुपात तथा टकसाली अनुपात का भिन्न होना नियम के लागू होने का कारण बताते हैं, परन्तु यह मान्यता निराधार प्रतीत होती है। यदि टकसाली विनिमय-अनुपात 1 : 16 है तो व्यावहारिक रूप में बाजार-विनिमय अनुपात इससे भिन्न होगा ही नहीं, क्योंकि बाजार में कोई भी उसे एक औंस स्वर्ण के बदले में 17 औंस चाँदी नहीं देगा, और 15 औंस वह स्वीकार नहीं करेगा, इसलिए विनिमय-दर 1 : 16 ही रहेगी।

वास्तविक समस्या तब उत्पन्न होती है जब टकसाल स्वर्ण के सिक्के के बदले रजत सिक्के, अथवा रजत सिक्कों के बदले स्वर्ण सिक्के देने के लिए तैयार न हो। इस प्रकार की स्थिति तब उत्पन्न होती है जबकि किसी अन्य देश में स्वर्ण तथा रजत विनिमय-अनुपात भिन्न होने के कारण लोग एक धातु का निर्यात उस देश को कर लाभ उपार्जन करने लगते हैं। जैसे, एक देश में तो स्वर्ण रजत टकसाली अनुपात 1 : 15 है परन्तु दूसरे में 1 : 16, तो पहले देश से सोने का निर्यात दूसरे देश का होगा, क्योंकि उसके बदले में अधिक मात्रा में चाँदी प्राप्त की जा सकती है। कुछ समय पश्चात पहले देश में केवल चाँदी के ही सिक्के चलन में रह जायेंगे। इसके विपरीत, यदि दूसरे देश का अनुपात 1 : 14 है तो चाँदी का निर्यात होगा, क्योंकि कम चाँदी देकर अधिक सोना प्राप्त किया जा सकता है, और व्यवहार में स्वर्ण के सिक्के ही चलन में रह जायेंगे। अधि-मूल्यक (over-valued) धातु बुरी मुद्रा के लक्षण प्राप्त कर दूसरी धातु की मुद्रा को चलन से निकाल देती है। ए० डी० गेयर ने ठीक ही लिखा है कि "जब द्वि-धातुमान वास्तविक चलन में है तब इसमें स्वर्ण और पत्र दोनों ही मुद्रामानों के निम्नतम दोष उपस्थित होते हैं, और अन्तत व्यवहार में यह स्वर्ण या रजत, एक-धातुमान का रूप ले लेता है।"

(2) **द्वि-धातुमान के क्षतिपूरक कार्य में दोष**—द्वि-धातुमान का क्षतिपूरक कार्य (compensatory action) व्यावहारिक रूप में लागू नहीं होता, क्योंकि एक धातु का मूल्य बढ़ते ही उसके सिक्के चलन के बाहर हो जाते हैं, और यदि फिर से अनुपात न बदला जाय तो सारी मुद्रा-व्यवस्था ही बिगड़ जाती है। यदि क्षतिपूरक कार्य नहीं हो पाता तो वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें स्थिर रखना तो असम्भव ही होता है क्योंकि द्वि-धातुमान के अन्तर्गत कीमतों की स्थिरता तो क्षति-पूरक कार्य का ही परिणाम होती है।

(3) **व्यापारिक अव्यवस्था तथा सट्टेबाजी**—टकसाली अनुपात तथा बाजार-अनुपात में अन्तर आने पर व्यापारिक अव्यवस्था फैलती है। ऋणियों तथा ऋणदाताओं में विरोध उत्पन्न होते हैं। सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है। विदेशी व्यापार में भी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। कॉलबार्न के शब्दों में, 'द्वि-धातुमान वाणिज्य सम्बन्धी अव्यवस्था तथा व्यापारिक प्रणाली की स्वार्थी देश-भक्ति को उत्पन्न करने वाली राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा का लेखा है।'[1]

(4) **सफल संचालन में सन्देह**—व्यावहारिक दृष्टिकोण से द्वि-धातुमान का सफल संचालन तब ही सम्भव है जब इसे काफी देश अपनायें और वे धातुओं के मूल्यों के बीच एक स्थायी अनुपात बनाये रख सकें। ये दोनों बातें सम्भव न हो पाने के कारण ही द्वि धातुमान का अन्त हुआ।

(5) **कम लोचदार तथा खर्चीला**—पत्र मुद्रा के समान न तो द्वि-धातुमान में लोच ही थी और न मितव्ययिता। चलन में धातुएँ रहने से घिसती थी और अपव्यय होता था। आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा की मात्रा को बढ़ाया-घटाया भी नहीं जा सकता था।

द्वि धातुमान के दोषों को दूर करने के उपाय तभी सम्भव थे जबकि अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुमान की स्थापना होती तथा समस्त देशों में टकसाली अनुपात अन्तर्राष्ट्रीय अनुपात के ही अनुरूप होते। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग प्राप्त करने के प्रयास भी किये गये परन्तु सफलता न मिल पायी और द्वि-धातुमान जीवित न रखा जा सका। अब तो द्वि-धातुमान केवल एक ऐतिहासिक घटना-मात्र रह गया है।

---

1 "It (working of bimetallism) is a record of commercial dislocation and national rivalry engendering, for example, egocentric patriotism of the mercantile system."—Coulborn : *A Discussion of Money*, p. 125

अन्य मुद्रा-मान

बहु-धातुमान

बहु-धातुमान प्रणाली (multi-metallism) वह है जिसमे अनेक धातुओं के सिक्केप्रामाणिक मुद्रा के रूप मे प्रचलित हो, सभी असीमित विधिग्राह्य हो, सभी का वास्तविक मूल्य व अंकित मूल्य बराबर हो, सभी का स्वतन्त्र टंकण हो तथा सभी के बीच निर्धारित टकसाली अनुपात हो। सैद्धान्तिक रूप मे, यह प्रणाली क्षतिपूरक कार्य कुशलतापूर्वक कर सकती है जिससे सामान्य मूल्य-स्तर मे स्थिरता लायी जा सकती है। परन्तु व्यावहारिक रूप मे अनेक धातुओ के सिक्कों के टकसाली अनुपात को इसके बाजार-अनुपात के बराबर बनाये रखना असम्भव है। इस प्रणाली मे ग्रेशम का नियम तो सदा कार्यशील रहेगा। यह प्रणाली सम्भवत किसी भी देश मे नही अपनायी गयी।

मिश्रित धातुमान

चूंकि द्वि-धातुमान की असफलता मे ग्रेशम के नियम का लागू होना सबसे बड़ा कारण था, मार्शल (Marshall) ने एक ऐसा मान अपनाने का सुझाव दिया जिसमें द्वि-धातुमान के सभी गुण हो, परन्तु ग्रेशम का नियम क्रियाशील न हो सके। इसी भावना से प्रेरित होकर मार्शल ने मिश्रित धातुमान (symmetallism) का सुझाव दिया जिसके अन्तर्गत (1) सोना तथा चांदी दोनो धातुओ को एक निश्चित अनुपात मे मिलाकर छड़ या पाये (bar) तैयार कर लिये जायें, (2) दोनों धातुओं को एक साथ ही मूल्यमान के रूप मे प्रयोग किया जाय, तथा (3) देश की मुद्रा को सोने तथा चांदी मे बदलने की सुविधा न हो।

मिश्रित धातुमान मे सोने और चांदी की कीमतो के तुलनात्मक परिवर्तनों का कोई प्रभाव नही पड़ सकता, और न ही इसमे ग्रेशम का नियम लागू हो सकता है। तथापि इस प्रणाली को व्यावहारिक नही समझा गया, और किसी भी देश ने इसे नही अपनाया।

सूची-बद्ध अथवा निर्देशाक मान

यद्यपि सूचीबद्ध अथवा निर्देशाक मान (tabular or index number standard) को इर्विंग फिशर (Irving Fisher) की देन समझा जाता है, परन्तु 1822 मे लोव (Lowe) तथा 1833 मे पौलट स्क्रोप (G Poulett Scrope) ने इस मान की विस्तृत रूप से व्याख्या की थी, और बाद मे जेवन्स (Jevons) ने भी इसे अपनाने का सुझाव दिया था। इस मान के अन्तर्गत एक आधार वर्ष (base year) मे कीमत-स्तर के निर्देशाक (price index numbers) बना लिये जाते हैं और इन्ही के अनुसार मुद्रा का मूल्य निश्चित किया जाता है। इस प्रकार कीमतो मे परिवर्तन के साथ-साथ मुद्रा के मूल्य मे भी परिवर्तन होता है और मुद्रा की क्रय-शक्ति स्थिर बनी रहती है। मान लीजिए, कीमतो के निर्देशाको मे 10% की वृद्धि हुई (अर्थात् मुद्रा का मूल्य 10% घटा) तो इस दशा मे एक ऋणी को लिये हुए 100 रुपये के बदले अब 110 रुपये देने होंगे। निर्देशाक मे 10% कमी होने पर ऋण के मूलधन मे भी 10% की कमी हो जायेगी। इस प्रकार इस मान द्वारा कीमतो के परिवर्तन के कारण किसी भी वर्ग को हानि नहीं होगी।

सूचीबद्ध मान 18वी शताब्दी मे दो बार मैसाचुसेट्स (Massachusetts) मे अपनाया गया था। द्वितीय महायुद्ध काल में मजदूरी की दरो को जीवन-निर्वाह-व्यय (cost of living) के साथ समायोजित करने मे इस मान के सिद्धान्त को कई अमेरिकन युद्ध बोर्डो तथा व्यावसायिक फर्मों ने अपनाया। अब तो ससार भर के मजदूरो की यह मांग है कि उनकी मजदूरियों को बढ़ते हुए जीवन-निर्वाह-व्यय के साथ जोड़ा जाय।

इस मान मे कीमतो मे स्थिरता लाने तथा न्यायपूर्ण होने के गुण होते हुए भी व्यावहारिक रूप मे इसका अपनाना सम्भव नही है। निर्देशाको का निर्माण कठिन ही नही बल्कि सीमित रूप मे ही उपयोगी होता है। निरन्तर बदलते हुए निर्देशाको के साथ-साथ नीतियाँ बदलना सम्भव नही होता।

क्षतिपूरक मान

क्षतिपूरक मान (compensatory standard) का सुझाव अमरीकी अर्थशास्त्री इर्विंग फिशर (Irving Fisher) द्वारा दिया गया था। इसके अन्तर्गत चलन की धात्विक मात्रा को कीमतो

के परिवर्तन के साथ-साथ इस प्रकार घटाते-बढ़ाते रहना चाहिए कि प्रामाणिक मुद्रा की क्रय-शक्ति स्थायी बनी रहे। फिशर का कहना था कि "मेरा उद्देश्य एक निश्चित तोल और परिवर्तनशील क्रय-शक्ति वाले स्वर्ण डालर के स्थान पर स्थिर क्रय-शक्ति और परिवर्तनशील धात्विक मात्रा वाले डालर को प्रचलित करना है।"

उदाहरणत सामान्य कीमत स्तर 5% बढ गया (अर्थात् मुद्रा का मूल्य 5% गिर गया) तो सरकार को मुद्रा की धात्विक मात्रा 5% बढा देनी चाहिए जिससे मुद्रा की मात्रा घट जाय और उसका मूल्य स्वत ही बढ जाय। कीमत-स्तर में 5% की कमी होने पर मौद्रिक इकाई की धात्विक मात्रा भी 5% कम कर दी जाय, मुद्रा की मात्रा बढ जायगी और उसका मूल्य स्वत ही घट जायगा।

सैद्धान्तिक रूप म, क्षतिपूरक मान अपनाने से स्वर्णमान भी बना रह सकता है और मुद्रा की क्रय-शक्ति म यथेष्ट स्थिरता लायी जा सकती है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से सोने की कीमत तथा सामान्य कीमत-स्तर म प्राय कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना आवश्यक नही, जिसकी कल्पना पर इस मान का विचार आधारित है। इसके अतिरिक्त, यदि इसे दूसरे देश नही अपनाते तो विदेशी व्यापार अस्त-व्यस्त हो सकता है। यह नियम कीमतो की दीर्घकालीन प्रवृत्तियो को भले ही प्रभावित करे, अल्पकालीन उतार-चढाव नहीं रोक सकता, क्योंकि यह आवश्यक नही कि मुद्रा की मात्रा बढते ही इसका मूल्य कम हो जाय।

प्रादिष्ट अथवा बलात् मान

पिछले अध्याय म मुद्रा का वर्गीकरण करते समय प्रादिष्ट (Fiat) पत्र-मुद्रा का विवरण दिया जा चुका है। यह आवश्यक नही कि प्रादिष्ट मुद्रा कागज की ही बनी हुई हो, यह किसी सस्ती धातु अथवा अन्य किसी चीज की भी बनी हुई हो सकती है। कोई भी मुद्रा जिसमे निम्न लक्षण हों, प्रादिष्ट कहलायगी

1. वास्तविक तथा अंकित मूल्य मे अत्यधिक अन्तर हो। प्रादिष्ट मुद्रा का वास्तविक मूल्य (intrinsic value) प्राय कुछ भी नही या केवल नाम-मात्र का होता है।
2. किसी अन्य मुद्रा म अपरिवर्तनीय होती है।
3. सरकार के आदेश पर सचालन म रहती है।
4. प्रामाणिक प्रादिष्ट मुद्रा असीमित विधिग्राह्य होती है।

प्रादिष्ट मुद्रा के गुण अथवा दोष वे ही हैं जो प्रादिष्ट पत्र-मुद्रा के सम्बन्ध मे बताये जा चुके है। नियन्त्रित और सुव्यवस्थित होने पर सुविधाजनक होती है, अन्यथा यह बहुत खतरनाक तथा हानिपूर्ण हो सकती है, क्योंकि इसमे आवश्यक मुद्रा-प्रसार का सदा भय बना रहता है।

एक अच्छा मुद्रा-मान

यह कहना बहुत कठिन है कि अमुक मुद्रा-मान ही अच्छा है और अन्य सभी दोषपूर्ण है। विभिन्न परिस्थितिया म भिन्न-भिन्न मुद्रा-मानो ने कुशलतापूर्वक कार्य किया है। सामान्यत एक अच्छे मुद्रा-मान म सात गुण होना आवश्यक है—**मितव्ययता, मूल्य मे स्थिरता, लोच, सरलता, स्वय-चालकता, जनता का विश्वास तथा मुद्रा-प्रसार से सुरक्षा**। परिवर्तनशीलता भी एक गुण समझा जाता है, परन्तु वर्तमान युग म तो किसी भी मुद्रा की स्वर्ण अथवा चांदी मे परिवर्तनशीलता का आश्वासन देना सम्भव नहीं है। अब तो इतना ही पर्याप्त है कि मुद्रा विदेशी मुद्राओ मे परिवर्तनशील हो। उपर्युक्त गुण होने पर कोई भी मुद्रा-मान अच्छा समझा जा सकता है।

ग्रेशम का नियम

मानव स्वाभाविक रूप से अच्छी वस्तुओ को प्राप्त करके अपने पास रखना चाहता है और दूसरो को घटिया अथवा बुरी वस्तु ही देना चाहता है। इसी प्रकार, यदि देश म अनेक प्रकार की मुद्राएँ चलन मे हो, तो उनके गुण अलग-अलग होने के कारण कुछ अच्छी मुद्राएँ हो सकती हैं और कुछ बुरी। नय और पूरे मूल्य के सिक्के अच्छी मुद्रा होते है, जबकि घिसे हुए, कम मूल्य वाले अथवा खोटे सिक्के बुरी मुद्रा होते हैं। विधिग्राह्य मूल्य समान होने पर भी ऐसे सिक्के जिनका वास्तविक मूल्य व अंकित मूल्य समान होता है, अच्छी मुद्रा हैं, और कम वास्तविक मूल्य वाले सिक्के

बुरी मुद्रा। परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील प्रामाणिक मुद्रा एक साथ चलन में होने पर परिवर्तनशील मुद्रा अच्छी मुद्रा समझी जाती है। अधिमूल्य मुद्रा (over-valued currency) तथा अधोमूल्य मुद्रा (under valued currency) एक साथ सचलन में होने पर अधिमूल्य मुद्रा बुरी मुद्रा के गुण ग्रहण करती है तथा अधोमूल्य मुद्रा अच्छी मुद्रा के। जब अच्छी और बुरी मुद्रा एक साथ चलन में हो तो मानव अपने स्वभाव के वशीभूत अच्छी मुद्रा को अपने पास रखेगा और वास्तविक चलन में केवल बुरी मुद्रा ही रहेगी। ग्रेशम का सिद्धान्त इसी तथ्य पर आधारित है।

महारानी एलिजाबेथ प्रथम (Elizabeth I) के पूर्व इंगलैण्ड में अनेक आकार, प्रकार व वजन के सिक्के चलन में थे, जिनमें से अधिकांश सिक्के घिसकर निकृष्ट हो चुके थे। महारानी ने नये सिक्कों को चलन में डाला जो कुछ समय तक चलन में रहने के पश्चात धीरे-धीरे लोप हो गये और पुराने तथा निकृष्ट सिक्के ही चलन में रहे। महारानी की आशा, इसके विपरीत, यह थी कि नये सिक्के चलन में आने पर पुराने सिक्के चलन से हटकर सरकारी कोष में लौट आयेंगे। अपनी आशा के विपरीत स्थिति देखकर महारानी एलीजाबेथ ने अपने प्रधान मन्त्री सर विलियम सैसिल (Sir William Cecil) की सलाह पर सर टॉमस ग्रेशम (Sir Thomas Gresham), जो एक व्यावहारिक अर्थशास्त्री एवं व्यापारी थे, के सम्मुख यह समस्या रखी। उन्होंने बताया कि **"पुराने कम मूल्य वाले सिक्कों के सचलन में होने के कारण अच्छे तथा अधिक शुद्ध सोने के सिक्के लोगों के गलाने अथवा अपने पास धन के रूप में रखने के कारण सचलन से समाप्त हो गये हैं।"**

ग्रेशम के पूर्व भी मुद्रा की इस प्रवृत्ति की व्याख्या की जा चुकी थी। ईसा से पूर्व पाँचवीं शताब्दी (5th Century B C) में लिखी गई एरिस्टोफेन (Aristophane) की 'फ्रॉग्स' (Frogs) नामक पुस्तक में इस प्रवृत्ति के कुछ संकेत मिलते हैं। सन् 1364 में ओरस्मि (Oresm) ने बताया था कि यदि सिक्का का निर्धारित टकसाली अनुपात धातु के बाजार मूल्य से भिन्न होता है तो कम मौद्रिक मूल्य वाला सिक्का सचलन से गायब हो जाता है और धातु-मूल्य से अधिक मौद्रिक मूल्य वाला सिक्का बराबर सचलन में रहता है। परन्तु चूँकि मुद्रा की इस प्रवृत्ति की एक सम्यक् तथा सरल विवेचना सर्वप्रथम ग्रेशम ने ही की, इसलिए इसे 'ग्रेशम का नियम' ही कहा जाता है।

ग्रेशम के नियम की व्याख्या प्रायः यह कहकर की जाती है कि "हीन मुद्रा में उत्तम मुद्रा को सचलन से बाहर निकाल देने की प्रवृत्ति होती है" (Bad money drives good money out of circulation)। इस कथन से न तो हीन तथा उत्तम मुद्रा की पहचान होती है और न नियम की सीमाओं का ज्ञान होता है। मार्शल ने ग्रेशम के नियम की व्याख्या इन शब्दों में की है "यदि बुरी मुद्राएँ परिमाण में सीमित नहीं हैं, तो वे अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर कर देती हैं।"[1] मार्शल द्वारा दी गयी परिभाषा में प्रवृत्ति की एक सीमा की ओर संकेत है कि बुरी मुद्रा "परिमाण में सीमित नहीं है"। जान जी० रैन्लट के अनुसार ग्रेशम के नियम का अपेक्षाकृत अधिक ठीक स्पष्टीकरण इस प्रकार होगा, "कोई भी वस्तु जिसके मौद्रिक और गैर-मौद्रिक दोनों ही उपयोग होते हैं, उस उपयोग में आने की प्रवृत्ति दिखायेगी जिसमें उसका मूल्य ऊँचा है।"[2]

ग्रेशम का नियम लागू होने के मुख्य कारण ये हैं—(1) संग्रह अथवा संचय के लिए अच्छी मुद्राएँ चलन से निकाल ली जाती हैं, (2) अच्छे तथा अधिक धात्विक मूल्य वाले सिक्कों को गला कर लोग लाभ कमाते हैं और बुरे सिक्के ही चलन में रहते हैं, (3) विदेशों के भुगतान के लिए भी अच्छे सिक्के दिये जाते हैं क्योंकि वहाँ धातु के वजन तथा मूल्य के आधार पर हिसाब लगाना होता है, इसलिए आन्तरिक चलन में कम मूल्य के घिसे हुए निकृष्ट सिक्के रह जाते हैं।

नियम का क्षेत्र

स्वयं ग्रेशम ने अपने नियम के क्षेत्र का स्पष्टीकरण केवल एक-धातुमान के अन्तर्गत किया था। परन्तु, वास्तव में, यह नियम प्रत्येक मुद्रा-प्रणाली के अन्तर्गत किसी न किसी रूप में लागू होता है।

---

1 "An inferior currency, if not limited in quantity, will drive out the superior currency" —Marshall *Money, Currency and Credit*

2 "A more proper statement of Gresham's Law is A commodity that has value in monetary and non monetary use will tend to move to that use in which its value is the higher" —John G Ranlett *Money and Banking*, p 30

(1) **एक-धातुमान के अन्तर्गत**—एक-धातुमान के अन्तर्गत ग्रेशम का नियम दो परिस्थितियों में लागू हो सकता है। प्रथम, यदि केवल पूर्ण-काय (full-bodied) सिक्के ही प्रचलित होते हैं तो इनमें पुराने तथा घिसे हुए सिक्के बुरी मुद्रा के रूप में नये सिक्कों को चलन से बाहर निकाल देते हैं, क्योंकि उनका प्रयोग गलाने, संचय करने अथवा निर्यात के लिए किया जाने लगता है। द्वितीय, जब पूर्ण-काय सिक्कों के साथ-साथ सांकेतिक सिक्के भी प्रचलित होते हैं, तो सांकेतिक सिक्के बुरी मुद्रा होंगे और पूर्ण-काय सिक्कों का चलन समाप्त कर देंगे। महारानी विक्टोरिया के चाँदी के रुपयों के साथ जब जॉर्ज पष्ठ के रुपये भारतीय चलन में आये तो, चूँकि विक्टोरिया के रुपयों में चाँदी की मात्रा अधिक थी, जॉर्ज के सिक्कों ने पहले के सिक्कों को चलन से बाहर कर दिया।

(2) **द्वि-धातुमान के अन्तर्गत**—द्वि-धातुमान के अन्तर्गत स्वर्ण तथा चाँदी के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा के रूप में एक साथ चलन में होते हैं, और उनका टकसाली अनुपात निर्धारित कर दिया जाता है। परन्तु व्यावहारिक रूप में दोनों धातुओं के मध्य विनिमय-अनुपात बाजार में वैधानिक अथवा टकसाली अनुपात से भिन्न हो सकता है। परिणामस्वरूप एक धातु के सिक्के अधिमूल्य (over valued) तथा दूसरी के अधोमूल्य (under-valued) हो जाते हैं। अधोमूल्यक मुद्रा का टकसाली मूल्य बाजार-मूल्य से अधिक होने के कारण यह 'अच्छी' मुद्रा समझी जाती है और इसे अधिमूल्यक मुद्रा, जिसका टकसाली मूल्य कम लगाया जाता है, 'बुरी' मुद्रा होने के कारण, चलन से बाहर कर देती है। इसका विस्तृत विवरण द्वि-धातुमान के अन्तर्गत दिया जा चुका है।

(3) **धातु-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा के एक साथ चलन के अन्तर्गत**—यदि धातु-मुद्रा और पत्र-मुद्रा का साथ ही साथ प्रचलन हो, तो धातु-मुद्रा अच्छी मुद्रा समझी जाती है और चलन से निकल जाती है। अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा की निकासी अधिक होने पर तो यह प्रवृत्ति और अधिक तीव्र हो जाती है। प्रथम महायुद्ध काल में इंगलैण्ड में स्वर्ण-मुद्रा के साथ पत्र-मुद्रा भी चलन में आयी, जिसने स्वर्ण-मुद्रा को चलन से बाहर कर दिया। द्वितीय युद्ध काल में भारत में नोटों की मात्रा अधिक हो जाने पर धातु के बने रुपये चलन से बाहर हो गये।

(4) **पत्र-मुद्रा मान के अन्तर्गत**—पत्र-मुद्रा मान के अन्तर्गत भी अनेक परिस्थितियों में ग्रेशम का नियम लागू होने की सम्भावना रहती है, जैसे—(1) यदि देश में प्रतिनिधि तथा परिवर्तनीय मुद्रा एक साथ चलन में हो, तो प्रतिनिधि मुद्रा अच्छी और परिवर्तनीय मुद्रा बुरी समझी जायगी, (2) परिवर्तनीय तथा अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा एक साथ चलन में होने पर परिवर्तनीय मुद्रा अच्छी तथा अपरिवर्तनीय मुद्रा बुरी समझी जायगी, (3) अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा तथा प्रादिष्ट पत्र-मुद्रा के एक साथ चलन में होने पर प्रादिष्ट पत्र मुद्रा बुरी तथा अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा अच्छी होगी, (4) यदि एक ही प्रकार की पत्र-मुद्रा चलन में हो तो नये नोट अच्छी मुद्रा तथा पुराने और गले हुए नोट बुरी मुद्रा होंगी। इन सभी दशाओं में बुरी मुद्रा अच्छी समझी जाने वाली मुद्रा को चलन से बाहर कर देगी।

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट होना चाहिए कि ग्रेशम के नियम का क्षेत्र किसी एक मुद्रा-मान तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका काफी विस्तृत क्षेत्र है। **परन्तु यह स्मरणीय है कि अच्छी और बुरी मुद्राएँ तुलनात्मक रूप में होती हैं, एकाकी रूप में नहीं।** वही मुद्रा जो कुछ परिस्थितियों में अच्छी मुद्रा होती है, अन्य परिस्थितियों में बुरी मुद्रा का रूप धारण कर सकती है।

नियम की सीमाएँ अथवा अपवाद

अन्य आर्थिक नियमों की भाँति ग्रेशम के नियम की भी कुछ सीमाएँ हैं, अर्थात् इसका लागू होना तभी सम्भव है जब कुछ विशेष परिस्थितियाँ उपस्थित हों। अनुकूल परिस्थितियों के न होने पर नियम लागू नहीं होता। नियम की परिभाषा देते समय मार्शल ने एक सीमा का उल्लेख किया है कि **'बुरी मुद्रा परिमाण में सीमित न हो'**। बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से तभी निकाल पायेगी जब इसकी मात्रा देश की मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त हो। ग्रेशम के नियम की अन्य सीमाएँ अथवा अपवाद निम्नलिखित हैं.

(1) **मुद्रा की कुल पूर्ति माँग की अपेक्षा कम** होने पर यह नियम लागू नहीं होता। मुद्रा की कुल पूर्ति अपर्याप्त होने पर लोगों की मौद्रिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पातीं और उन्हें

अच्छी तथा बुरी सभी प्रकार की मुद्रा को चलन में रखना पड़ता है। इसी अपवाद की ओर मार्शल ने भी संकेत किया है।

(2) **बुरी मुद्रा का सार्वजनिक बहिष्कार** कर देने पर भी यह नियम लागू नहीं होता। अमेरिका में गृह-युद्ध काल में प्रादिष्ट पत्र-मुद्रा ग्रीनबैक्स (*Greenbacks*) के रूप में निर्गमित की गयी थी जिसका कैलीफोर्निया के लोगों ने सार्वजनिक रूप से बहिष्कार किया और स्वर्ण के सिक्के प्रचलन में बने रहे।

(3) **बुरी मुद्रा जब बहुत ही बुरी दशा में हो** तो लोग उसे स्वीकार नहीं करते और वह स्वयं ही चलन में नहीं रहती। घिसे-पिटे सिक्के अथवा मैले व फटे-पुराने नोट इसका उदाहरण हैं।

(4) **प्रामाणिक तथा सांकेतिक मुद्राएँ** अलग-अलग कार्यों के लिए चलन में रहती हैं। सांकेतिक मुद्रा प्रामाणिक मुद्रा की अपेक्षा हीन होने पर भी प्रामाणिक मुद्रा को चलन से बाहर नहीं निकाल सकती, क्योंकि यह सीमित विधिग्राह्य होती है और छोटे भुगतानों के काम आती है।

(5) **द्वि-धातुमान विश्व के अधिकांश देशों द्वारा अपनाये जाने पर** भी यह नियम लागू नहीं होता। यदि सब देशों में मुद्राओं का टकसाली अनुपात समान होता है, तो द्वि-धातुमान की क्षतिपूरक क्रिया नियम को लागू नहीं होने देती।

(6) **बैंकिंग प्रथा का अधिक विकास होने पर** यदि लोग अधिकतर भुगतान चैकों आदि के माध्यम से करने लगते हैं तो ग्रेशम का नियम लागू नहीं होता। साख-मुद्रा तो इसके क्षेत्र के बाहर होती है।

(7) **जनता द्वारा अच्छी व बुरी मुद्रा में भेद न करने पर** इस नियम के लागू होने का प्रश्न ही नहीं उठता। आज के युग में जब एक ही प्रकार की पत्र-मुद्रा सचलन में होती है, लोग प्राय सभी मुद्रा को एकसा समझते हैं और उसमें अच्छे अथवा बुरे के आधार पर भेद नहीं करते।

वास्तव में, ग्रेशम के नियम का महत्व तभी तक था जब तक बैंकों का विकास न होने के कारण लोग क्रय-शक्ति का सचय मुद्रा के ही रूप में करते थे तथा विदेशी भुगतान भी स्वर्ण के माध्यम द्वारा किये जाते थे। प्रबन्धित पत्र-मुद्रा के वर्तमान युग में इस नियम का कोई महत्व नहीं रहा।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 **द्वि-धातुमान से क्या अभिप्राय है ? इसके गुण तथा दोषों का विवेचन कीजिए।**

[संकेत : प्रथम भाग के उत्तर में द्वि-धातुमान की परिभाषा, इसकी विशेषताएँ तथा संक्षिप्त इतिहास बताइए और दूसरे भाग में गुण तथा दोषों का उदाहरणों सहित उल्लेख कीजिए।]

2 **द्वि-धातुमान तथा एक-धातुमान की विशेषताओं का विवेचन कीजिए। क्या द्वि धातुमान एक धातुमान की अपेक्षा मूल्य-स्तर को अधिक स्थायी रखता है ?**

[संकेत प्रथम भाग में द्वि धातुमान तथा एक-धातुमान की परिभाषाएँ तथा विशेषताएँ उदाहरण सहित बताइए। दूसरे भाग में यह स्पष्ट कीजिए कि द्वि धातुमान के अन्तर्गत न केवल मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति अच्छी तरह से हो सकती है, बल्कि क्षतिपूरक कार्य द्वारा मुद्रा के मूल्य में स्थिरता बनी रहती है जिससे मूल्य-स्तर स्थिर रहता है। क्षतिपूरक कार्य की सफलता की दशाएँ भी संक्षेप में बताइए।]

3. **मुद्रा-मान से क्या अभिप्राय है ? एक अच्छे मुद्रा-मान के गुणों की व्याख्या कीजिए।**

[संकेत मुद्रा-मान की परिभाषा बताइए तथा मुद्रा मान और मूल्य-मान में अन्तर स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग में उदाहरण सहित अच्छे मुद्रा-मान के गुणों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

4. **"द्वि-धातुमान की मुख्य दुर्बलतायें ग्रेशम का नियम लागू होने पर प्रतीत होती है।" स्पष्ट कीजिए।**

[संकेत . ग्रेशम के नियम का परिचय देने के पश्चात उन परिस्थितियों का उदाहरण सहित उल्लेख कीजिए जिनमें द्वि-धातुमान के अन्तर्गत यह लागू होता है। इनसे बचने के उपाय भी बताइए।]

5. **"बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर कर देती है।" व्याख्या कीजिए।**

[संकेत : ग्रेशम के नियम की परिभाषा, आधार, क्षेत्र तथा सीमाओं की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।]

6 **टिप्पणियाँ लिखिए पशु द्वि-धातुमान, बहु-धातुमान, मिश्रित धातुमान, सूचीबद्धमान तथा द्वि-धातुमान का क्षतिपूरक नियम।**

[संकेत : प्रत्येक की विशेषताओं की व्याख्या कीजिए और उनकी व्यावहारिकता पर प्रकाश डालिए।]

5

स्वर्णमान

[GOLD STANDARD]

"स्वर्णमान समाज नियन्त्रण तथा सरकारी नियोजन की दशा में विद्यमान वर्तमान विचारधारा के साथ पूर्णतया बेमेल है। यह उन लोगों के विचारों का प्रतीक है जिनके विचार में केवल वही सरकार श्रेष्ठ है जो न्यूनतम प्रशासन करती है। यद्यपि राज्य की यह विशेषता प्रारम्भ में अच्छाई विचारी जाती थी, परन्तु आज यही विशेषता बुराई समझी जाती है।"[1]

—चार्ल्स ओ० हार्डी

एक-धातुमान के अन्तर्गत स्वर्णमान रजतमान की तुलना में अधिक प्राचीन न होते हुए भी गत 150 वर्षों के मौद्रिक इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। स्वर्णमान सर्वप्रथम 1816 में इंगलैण्ड द्वारा अपनाया गया था। जैसा कि पहले बताया गया है, लगभग सन् 1900 तक संसार के अनेक देशों में द्वि-धातुमान सचलनशील था। द्वि धातुमान के पतन के पश्चात संसार भर में स्वर्णमान अपनाने का क्रम आरम्भ हुआ और धीरे-धीरे अधिकांश देशों में इसे अपना लिया गया। प्रथम युद्ध-काल में परिस्थितियों के बदलने के कारण इंगलैण्ड तथा अन्य कई देशों को स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा। युद्धोपरान्त काल में इसे अपनाने के पुन: प्रयास किये गये थे, परन्तु एक बार कदम लड़खड़ा जाने पर यह फिर से पहले का सा सम्मान न प्राप्त कर सका। 1931 में इंगलैण्ड ने इसका पुन: परित्याग कर दिया और उसके पश्चात द्वितीय युद्ध के आरम्भ तक लगभग सभी देशों ने इसे त्याग दिया। स्वर्णमान का अब केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है, परन्तु मौद्रिक व्यवस्थाओं की विवेचना स्वर्णमान के अध्ययन के बिना अधूरी ही रहेगी।

स्वर्णमान की परिभाषा

साधारण शब्दों में, स्वर्णमान उस मुद्रा-मान को कहते हैं जिसमें देश की मुद्रा का स्वर्ण के साथ एक निश्चित सम्बन्ध रहता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इसकी व्याख्या अलग-अलग शब्दों में की है। हैबरलर ने तो इसकी व्याख्या बहुत ही संकुचित रूप में की है। उनके अनुसार, "स्वर्णमान संकीर्ण अर्थ में ऐसी मुद्रा-प्रणाली है जिसमें प्रामाणिक स्वरूप वाले सिक्के अथवा स्वर्ण-पत्र जिनके पीछे 100% स्वर्ण-कोष हो, चलन में होते हैं।"[2] इसके अनुसार स्वर्णमान में पूर्ण-काय सिक्के अथवा शत-प्रतिशत कोष पर आधारित पत्र-मुद्रा का चलन में रहना आवश्यक है, परन्तु वास्तविकता यह है कि इन दोनों में से किसी भी बात का होना स्वर्णमान के लिए अनिवार्य नहीं है।

---

1 "The gold standard fits in badly with the current trend of thought in the direction of 'Social Control and Government Planning It reflects the attitude of people who believe that government is best which governs the least The fact that it required the minimum of managerial direction was a virtue in the days of its origin but now that very characteristic has become a vice —Charles O Hardy *The Post war Role of Gold*, p 11

2 "A gold standard in narrower sense signifies monetary system under which gold coins of standard specification or gold certificates with 100% gold back form the circulating medium "
—*Haberler*

कॉलबोर्न के मतानुसार, "स्वर्णमान एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें किसी देश की मुख्य मुद्रा की इकाई एक निश्चित श्रेणी के स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा में परिवर्तनीय होती है।"[1] प्रो० टॉमस ने भी इससे मिलती-जुलती परिभाषा दी है कि "एक देश स्वर्णमान पर उस समय कहलाता है जब उसकी मुद्रा की इकाई विधान के अनुसार स्वर्ण के निश्चित भार के बराबर रखी जाती है, और उसमें परिवर्तनीय होती है।"[2] इन दोनों परिभाषाओं के अनुसार, स्पष्ट रूप में, परिवर्तनशीलता स्वर्णमान की मुख्य विशेषता समझी गयी है, परन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वर्ण-निधिमान तथा स्वर्ण-समतामान में तो प्रत्यक्ष परिवर्तनशीलता का गुण होता ही नहीं।

रॉबर्टसन तथा केमरर द्वारा दी गयी परिभाषाएँ स्वर्णमान को विस्तृत रूप देती हैं और परिवर्तनशीलता को कोई महत्व नहीं देती। रॉबर्टसन के अनुसार, "स्वर्णमान वह स्थिति है जिसमें कोई एक देश अपनी मुद्रा की इकाई का मूल्य और स्वर्ण की एक निर्धारित मात्रा का मूल्य एक-दूसरे के बराबर रखता है।"[3] केमरर के शब्दों में, स्वर्णमान "वह मौद्रिक प्रणाली है जिसके अन्तर्गत मूल्य की इकाई, जिसमें कीमतों, मजदूरियों तथा ऋणों को व्यक्त तथा उनका भुगतान किया जाता है, स्वतन्त्र स्वर्ण बाजार में स्वर्ण की एक राशि के बराबर होती है।"[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्णमान वह मुद्रा प्रणाली है जिसमें प्रधान मुद्रा विधान द्वारा स्वर्ण में परिमापित होती है। यह आवश्यक नहीं कि स्वर्ण के सिक्के वास्तविक चलन में हों, और यह भी आवश्यक नहीं कि चलन की मुद्रा को प्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण में बदला जाय, कभी-कभी प्रचलित मुद्रा के बदले में एक निश्चित दर पर कोई विदेशी मुद्रा ही दी जा सकती है।

वास्तव में, स्वर्णमान के दो रूप होते हैं—राष्ट्रीय अथवा घरेलू (domestic), तथा अन्तर्राष्ट्रीय (international)। राष्ट्रीय स्वर्णमान का मुख्य उद्देश्य मुद्रा इकाई के आन्तरिक मूल्य की स्थिरता को बनाये रखना है, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का सम्बन्ध मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य से है। स्वर्णमान के तीन मुख्य रूपों—स्वर्ण-चलनमान, स्वर्ण-धातुमान तथा स्वर्ण विनिमयमान—में स्वर्णमान के उक्त दोनों रूप, घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय, सामान्यतः विद्यमान रहते हैं। अतः इनमें मुद्रा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में स्वर्ण में परिवर्तनीय होती है। परन्तु स्वर्णमान के अन्य दो रूप—स्वर्ण-निधिमान तथा स्वर्ण-समतामान—केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के रूप हैं और इनमें मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनीय नहीं होती।

परिवर्तनशीलता का गुण न होने पर कुछ अर्थशास्त्री तो स्वर्ण निधिमान तथा स्वर्ण-समतामान को स्वर्णमान के रूप मानते ही नहीं। परन्तु ऐसा सोचना अनुचित होगा, क्योंकि वास्तव में स्वर्णमान का अन्तर्राष्ट्रीय रूप ही अधिक महत्वपूर्ण रहा है।

स्वर्णमान की विशेषताएँ

वैसे तो स्वर्णमान के पाँच भेद हैं और प्रत्येक की ही कुछ अलग विशेषताएँ हैं, परन्तु फिर भी कुछ सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

1. स्वर्णमान में स्वर्ण-मुद्रा वास्तविक चलन में होना आवश्यक नहीं, परन्तु देश की प्रमुख मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में निश्चित करना आवश्यक है।
2. मुद्रा-अधिकारी को इस प्रकार निर्धारित (टकसाली) मूल्य पर स्वर्ण के क्रय विक्रय की व्यवस्था करनी पड़ती है।

---

1 "The gold standard is an arrangement whereby the chief piece of money of a country is exchangeable with a fixed quantity of gold of a specific quality —Coulborn *An Introduction to Money*, p 117

2 "A Country is said to be on the gold standard when its currency unit is exchangeable for and kept at par with legally fixed weight of gold —S E. Thomas *Elements of Economics*

3 "Gold Standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and the value of a defined weight of gold at an equality with one another —D H Robertson *Money*, p 97

4 "Gold standard is a monetary system where the thing of value in which prices and wages and debts are customarily expressed and paid, consists of the value of a fixed quantity of gold in a free gold market —Kemmerer *Gold and the Gold Standard*, pp 135 136

3 स्वर्ण के आयात तथा निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।
4 देश में प्रचलित सभी प्रकार की मुद्राएँ स्वर्ण में परिवर्तनशील होती हैं तथा उन सब में परस्पर परिवर्तनशीलता कायम रखी जाती है।
5 स्वर्ण-मुद्रा अथवा स्वर्ण में परिवर्तनीय मुद्रा असीमित विधिग्राह्य होती है।
6 स्वर्ण-मुद्रा का चलन होने पर उसका टंकण स्वतन्त्र होता है।
7 स्वर्णमान-व्यवस्था सामान्यतः स्वय-संचालित होते हुए भी सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक के नियमों के अधीन कार्य करती है।

स्वर्णमान के भेद

स्वर्णमान के पाँच भेद बताये जाते हैं—स्वर्ण-चलनमान (Gold Currency Standard), स्वर्ण-धातुमान (Gold Bullion Standard), स्वर्ण-विनिमयमान (Gold Exchange Standard), स्वर्ण-निधिमान (Gold Reserve Standard) तथा स्वर्ण-समतामान (Gold Parity Standard)।

1 स्वर्ण-चलनमान

स्वर्ण-चलनमान (gold currency standard) स्वर्णमान का सबसे पुराना रूप है जिसके अन्तर्गत देश की प्रमुख मुद्रा विशुद्ध स्वर्ण के एक निश्चित भार के बराबर घोषित कर दी जाती है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व यह प्रणाली इंगलैण्ड, अमरीका तथा यूरोप के अनेक देशों में प्रचलित थी। इंगलैण्ड की प्रमुख मुद्रा सॉवरेन (Sovereign) थी जिसका कुल वजन 123 27447 ग्रेन था जिसमें $\frac{11}{12}$ भाग शुद्ध स्वर्ण तथा $\frac{1}{12}$ भाग टाँका था। इस प्रकार एक सॉवरेन $113\frac{1}{623}$ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण के बराबर था।

क्राउथर ने इस प्रणाली को पूर्ण स्वर्णमान (full gold standard) कहा है। इसके अतिरिक्त इसे कई अन्य नामों से भी सम्बोधित किया जाता है, जैसे—स्वर्ण टंकमान (gold coin standard), स्वर्ण-मान मुख्य (gold standard proper), स्वर्ण प्रचलन मान (gold circulation standard), कट्टर स्वर्णमान (orthodox gold standard), तथा परम्परागत स्वर्णमान (traditional gold standard), इत्यादि।

स्वर्ण चलनमान की मुख्य विशेषताएँ

1 स्वर्ण के सिक्के वास्तविक चलन में होते हैं तथा उनमें स्वर्ण का भार विधान द्वारा निश्चित कर दिया जाता है।
2 चलन में स्वर्ण के सिक्के पूर्ण-काय होते हैं, अर्थात् उनका वास्तविक मूल्य अंकित मूल्य के लगभग बराबर होता है, उनकी स्वतन्त्र ढलाई होती है और वे असीमित विधिग्राह्य होते हैं।
3 स्वर्ण की बचत के लिए स्वर्ण मुद्रा के साथ-साथ सांकेतिक मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा भी चलन में रह सकती है, किन्तु इन सब का ही स्वर्ण-मुद्रा से एक निश्चित सम्बन्ध होता है और ये हर समय स्वर्ण अथवा पूर्ण-काय सिक्कों में परिवर्तनशील होती हैं।
4 सरकार अथवा सरकार द्वारा अधिकृत मौद्रिक संस्था एक निश्चित दर पर स्वर्ण का क्रय-विक्रय करती है। उदाहरणतः बैंक ऑफ इंगलैण्ड की स्वर्ण क्रय-दर 3 पौण्ड 17 शि० 9 पैंस प्रति औंस थी और विक्रय-दर 3 पौण्ड 17 शि० $10\frac{1}{2}$ पैंस प्रति औंस।
5 स्वर्ण के आयात निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।
6 स्वर्ण मुद्रा के अतिरिक्त अन्य मुद्राएँ स्वर्ण में परिवर्तनीय होने के कारण स्वर्ण-कोष (gold reserves) का रखना आवश्यक था। कोष में घटा-बढ़ी के साथ-साथ चलन की मात्रा भी घटती-बढ़ती थी।

स्वर्ण-चलनमान के गुण

वर्तमान युग में तो शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो स्वर्ण-चलनमान के अपनाने के पक्ष में हो, परन्तु जिस समय यह प्रणाली अपनायी गयी थी तो इसके अनेक गुणों का उल्लेख किया जाता था, जो अग्रलिखित है

(1) **स्वर्ण-चलनमान में स्वयं-चालकता (automatic working) होती है।** बिना किसी विशेष सरकारी हस्तक्षेप के यह प्रणाली निर्धारित नियमों के अन्तर्गत अपने आप कार्य करती रहती है। स्वर्ण-कोषों की मात्रा में घटा-बढ़ी के साथ मुद्रा में घटा-बढ़ी होगी। स्वर्ण का आयात-निर्यात स्वतन्त्र होने के कारण मुद्रा की मात्रा में अपने आप आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहेंगे, जिससे मूल्यों की स्थिरता बनी रहेगी। मान लीजिए, मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गयी, परिणामस्वरूप कीमत-स्तर ऊँचा होगा, निर्यात कम और आयात अधिक होंगे। आयात के बदले विदेशी भुगतान करने में मुद्रा-प्रसार अपने आप समाप्त हो जायगा। मुद्रा-संकुचन होने पर इसके विपरीत प्रभाव होगा, और समस्या हल हो जायगी।

(2) **आन्तरिक कीमत-स्तर में स्थिरता बनाये रखना इस प्रणाली का एक महत्वपूर्ण गुण है।** चूँकि स्वर्ण की मात्रा तथा पूर्ति में अल्पकाल में कोई विशेष परिवर्तन सम्भव नहीं होते, इसलिए मुद्रा की मात्रा तथा इसके मूल्य में भी स्थिरता बनाये रखी जा सकती है। मुद्रा-प्रसार का भय इसलिए नहीं होता क्योंकि कोष बढ़ने पर मुद्रा की मात्रा नहीं बढ़ायी जा सकती।

(3) **विदेशी विनिमय-दर में स्थिरता भी स्वाभाविक रूप से सम्भव हो जाती है।** स्वर्ण का आयत-निर्यात स्वतन्त्र होने के कारण सभी देशों में स्वर्ण के मूल्य लगभग समान रहते हैं, क्योंकि एक देश में कमी अथवा वृद्धि होने पर आयात-निर्यात के माध्यम से अस्थिरता समाप्त हो जाती है।

(4) **जनता का विश्वास भी,** इस प्रणाली के अन्तर्गत, अधिक मात्रा में प्राप्त होता है, क्योंकि स्वर्ण के सिक्कों का वास्तविक तथा अंकित मूल्य बराबर होता है, और अन्य मुद्राएँ स्वर्ण में परिवर्तनीय होती हैं।

(5) **इस प्रणाली की सरलता भी इसका एक बहुत बड़ा गुण है।** इस प्रणाली को अपनाने पर किसी भी जटिल मौद्रिक प्रबन्ध-व्यवस्था की आवश्यकता नहीं रहती। लोग इसे अच्छी तरह से समझते हैं और इसमें उनका पूर्ण विश्वास होता है। इसमें किसी भी गलती अथवा मूर्खता की सम्भावना बहुत कम होती है। इसीलिए अर्थशास्त्री कैनन (Cannon) ने इसे "मूर्ख-सिद्ध एवं मक्कार-सिद्ध" (fool-proof and knave-proof) प्रणाली कहा है।

स्वर्ण-चलनमान के दोष

स्वर्ण चलनमान के विरोधी इस प्रणाली के उपर्युक्त गुणों को या तो काल्पनिक समझते हैं अथवा ऐसा सोचते हैं कि इन गुणों को किसी अन्य मुद्रामान में कम व्यय पर प्राप्त किया जा सकता है। आलोचकों द्वारा इसमें मुख्य रूप से निम्नलिखित दोष बताये जाते हैं

(1) **स्वर्ण का अपव्यय इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष बताया जाता है।** यदि स्वर्ण के सिक्के वास्तविक चलन में हों तो उनकी घिसावट से राष्ट्र को हानि होती है। अन्य मुद्राएँ चलन में होने पर स्वर्ण कोष में बेकार पड़ा रहता है जिसका कोई वास्तविक उपयोग नहीं होता।

(2) **लोच के अभाव के कारण** एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए यह प्रणाली पूर्णतया अनुपयुक्त है। संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए भी यह मान अव्यावहारिक तथा अनुपयुक्त है। यह केवल अनुकूल परिस्थितियों में ही भली प्रकार चलता है। इसी कारण इसे **'अच्छे समय का साथी' (a fair-weather friend)** कहा जाता है।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अभाव में स्व-चालकता का गुण समाप्त हो जाता है।** यदि प्रत्येक देश अपने निजी हितों की रक्षा के लिए अलग कदम उठाने लगे तो इसकी स्व-चालकता के गुण को कायम नहीं रखा जा सकता। किसी भी देश द्वारा स्वर्ण के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देने से उसकी स्व-चालकता समाप्त हो जाती है। यह भी आवश्यक नहीं कि व्यावहारिक रूप में कोई भी देश चलन की मात्रा में स्वर्ण-कोषों के अनुकूल ही परिवर्तन करे।

(4) **आन्तरिक कीमत-स्तर की स्थिरता काल्पनिक है।** देश की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण की निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर निश्चित करने पर स्वर्ण के मूल्य में प्रत्येक परिवर्तन का प्रभाव कीमत-स्तर पर पड़ेगा। सन् 1820 से 1850 के बीच स्वर्ण की मात्रा अपेक्षाकृत कम होने पर मुद्रा का मूल्य अधिक (अर्थात् नीचा कीमत-स्तर) रहा जो आर्थिक प्रगति के लिए सहायक नहीं था। 1850 के आस-पास आस्ट्रेलिया तथा कैलीफोर्निया में स्वर्ण की खानें मिलने से स्वर्ण

की पूर्ति बढ़ी और मुद्रा का मूल्य गिर गया (अर्थात् कीमत-स्तर ऊँचा हुआ)। 1873 में फिर से स्वर्ण की पूर्ति माँग की अपेक्षा कम हो गयी और सरकार को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा।

(5) **परिवर्तनशीलता का गुण भी मिथ्या है।** अन्य मुद्राओं की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता केवल अनुकूल परिस्थितियों में ही सम्भव होती है। संकटकाल में मुद्रा की मात्रा को बिना कोष बढ़ाये ही बढ़ाना पड़ता है। जब लोगों के विश्वास में कमी आती है और परिवर्तनशीलता के लिए माँग बढ़ती है तो परिवर्तनशीलता समाप्त कर दी जाती है। युद्ध-काल में यही तो हुआ था।

(6) **स्वर्ण-चलनमान में संकुचन (deflation) की ओर झुकाव अधिक होता है।** श्रीमती जोन रॉबिन्सन (Mrs Joan Robinson) के अनुसार इस मान में मुद्रा-संकुचन की प्रवृत्ति पायी जाती है। प्रतिकूल भुगतान शेष (adverse balance of payments) की स्थिति में जब कोई देश स्वर्ण का निर्यात करता है तो स्वर्ण-कोषों में कमी के साथ उसे मुद्रा की मात्रा भी कम करनी होती है, परन्तु यह आवश्यक नहीं होता कि स्वर्ण आयात करने वाला देश स्वर्ण-आयात रोकने के लिए मुद्रा प्रसार करे। इस कारण झुकाव मुख्य रूप से संकुचन की ओर ही रहता है।

(7) **स्वर्ण चलनमान के बिना भी कीमत-स्तर तथा विदेशी विनिमय-दर की स्थिरता को बनाये रखा जा सकता है।** स्वर्ण-चलनमान के अन्तर्गत स्वयं-चालकता का गुण प्राप्त करने के लिए अर्थ-व्यवस्था पर काफी जोर देना पड़ता है। स्वर्ण के आयात-निर्यात को स्वतन्त्र रखते हुए इस मुद्रामान को घरेलू आर्थिक नीति के दृष्टिकोण से संचलित रखना एक कठिन कार्य होता है। आलोचकों का मत है कि इस प्रकार की स्वयं-चालकता पर निर्भर करने की अपेक्षा व्यवस्थित मुद्रा प्रणाली (managed currency system) कम असुविधाजनक होगी। केन्ज के शब्दों में, "पत्र-चलन तथा बैंक-साख के आधुनिक विश्व में हम चाहे प्रबन्धित चलन-पद्धति को चाहते हों अथवा नहीं, इससे बचा नहीं जा सकता। स्वर्ण में परिवर्तनशीलता इस तथ्य में अन्तर नहीं लाती, क्योंकि स्वयं स्वर्ण का ही मूल्य केन्द्रीय बैंकों की नीति द्वारा निर्धारित होता है।"[1]

प्रथम महायुद्ध द्वारा उत्पन्न हुई संकटपूर्ण स्थिति का सामना करने में स्वर्ण चलनमान असमर्थ रहा और इसका परित्याग करके प्रबन्धित मुद्रा-प्रणाली को अपनाना पड़ा। अर्थशास्त्रियों ने स्वर्ण-चलनमान की कड़े शब्दों में बुराई की। हाट्रे (R G Hawtray) ने इसे साख के नियन्त्रण में अराजकता (anarchy in credit control) लाने का दोषी ठहराया।[2] रॉबर्टसन ने लिखा है कि "मूल रूप में स्वर्ण को मुद्रा रूप में इसलिए अपनाया गया क्योंकि यह जंगली लोगों की रुचि की पूर्ति करता था। यह वस्तुतः निरर्थक वस्तु है। इस पर मुद्रा के मूल्य तथा औद्योगिक व्यवस्था की स्थिरता को निर्भर रखना उचित नहीं है।"[3]

2 स्वर्ण-धातुमान

स्वर्ण-मुद्रामान तो प्रथम महायुद्ध-काल में ही समाप्त हो गया था और अब लगभग सभी देशों में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा चलन में थी। युद्धोपरान्त अधिकांश देशों ने स्वर्णमान को पुनः अपनाना चाहा, परन्तु स्वर्ण-चलनमान को फिर से अपनाना सम्भव नहीं था। अब न तो शत-प्रतिशत कोष की ही व्यवस्था सम्भव थी और न ही स्वर्ण के पूर्ण-काय सिक्कों का संचलन सम्भव था। युद्ध के पश्चात स्वर्ण चलनमान को संशोधित रूप में अपनाया गया जिसे स्वर्ण-धातु (स्वर्ण पाट अथवा स्वर्ण पिण्ड) मान (Gold Bullion Standard) कहा गया। स्वर्ण-धातुमान के अन्तर्गत पत्र-मुद्रा तथा सांकेतिक मुद्रा ही चलन में रखी गयी, परन्तु इन मुद्राओं का मूल्य सोने के निश्चित रूप में निर्धारित कर दिया गया और उन्हें निश्चित वजन की स्वर्ण-छड़ों (bars) में परिवर्तनीय कर दिया गया। इंगलैण्ड ने इसे 1925 में तथा भारत ने 1927 में अपनाया तथा 1931 में त्याग दिया। फ्रान्स द्वारा भी यह 1918 में अपनाया तथा 1936 में त्यागा गया। अमेरिका ने 1919 में इसे अपनाया और 1933 में त्याग दिया।

1 Keynes *A Tract on Monetary Reform*, p 184
2 R G Hawtrey *Trade Depression and the Way Out*, pp 15 16
3 Robertson *Money*, p 155.

स्वर्ण-धातुमान की मुख्य विशेषताएँ

1. स्वर्ण मूल्य-मापक होता है, विनिमय माध्यम नहीं। दूसरे शब्दों में, प्रमुख मुद्रा स्वर्ण में परिभाषित होती है, परन्तु स्वर्ण के सिक्के चलन में नहीं होते। चलन में पत्र-मुद्रा तथा अन्य सस्ती वस्तुओं के ही सिक्के होते हैं।
2. चलन में मुद्रा के पीछे शत-प्रतिशत (100%) स्वर्ण-कोष नहीं रहता वरन् प्रचलित मुद्रा का केवल कुछ ही प्रतिशत स्वर्ण-कोष आड़ के रूप में रखा जाता है।
3. मुद्रा स्वर्ण की निश्चित भार वाली स्वर्ण-छड़ों में पूर्व-निर्धारित दर पर परिवर्तनशील होती है। छड़ के एक निश्चित भार से कम सोना नहीं खरीदा जा सकता। क्राम में इसे इसी कारण 'धनी लोगों का मान' (rich man's standard) कहा गया।
4. सरकार एक निर्धारित कीमत पर असीमित मात्रा में स्वर्ण खरीदने तथा बेचने का वचन देती है।
5. स्वर्ण के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

स्वर्ण-धातुमान के गुण

स्वर्ण चलनमान का एक संशोधित तथा परिवर्द्धित रूप होने के कारण स्वर्ण-धातुमान में स्वर्ण-चलनमान के सभी गुणों के अतिरिक्त कुछ और भी गुण हैं जिनके कारण यह मान स्वर्ण-चलनमान की अपेक्षा अधिक अच्छा है।

(1) **स्वर्ण के उपयोग में मितव्ययता होती है।** घिसावट से होने वाली स्वर्ण की हानि से बचत होती है। सिक्कों की ढलाई में भी व्यय नहीं करना पड़ता। कोषों में शत-प्रतिशत स्वर्ण नहीं रखना पड़ता, जिससे स्वर्ण बेकार नहीं रखा रहता तथा कम स्वर्ण वाले देश भी इसे अपना सकते हैं।

(2) **मुद्रा-प्रणाली में पर्याप्त लोच आ जाती है।** एक अच्छे मुद्रामान में लोच का गुण आवश्यक होता है। स्वर्ण-चलनमान में लोच का अभाव था। इस मान में कम कोष होने पर भी अधिक मुद्रा का निर्गमन किया जा सकता है और मुद्रा-प्रसार का भी भय अधिक नहीं रहता, क्योंकि चलन की मात्रा में वृद्धि के लिए कोष में वृद्धि करना भी आवश्यक होता है।

(3) **स्वर्ण का उपभोग सार्वजनिक हित के लिए होता है।** स्वर्ण व्यक्तिगत कोषों में संचित न रहकर सरकारी कोषों में रहता है जिसका उपयोग सार्वजनिक हित में होता है। असाधारण परिस्थितियों में स्वर्ण का संग्रह व्यक्तियों की अपेक्षा सरकार के पास होना अधिक अच्छा होता है।

(4) **विनिमय-दरों में स्थिरता रहती है।** स्वर्ण-धातुमान में भी स्वर्ण का आयात-निर्यात स्वतन्त्र होता है, इसलिए विनिमय-दर में उतार-चढ़ाव स्वर्ण-बिन्दुओं (*gold points*) के बाहर नहीं होता।

(5) **स्वयं-चालकता का गुण** इस मुद्रामान में भी पाया जाता है। स्वर्ण के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध न होने के कारण मुद्रा-प्रसार के समय लोग स्वर्ण की खरीद करते हैं जिससे कोष में स्वर्ण की मात्रा कम हो जाती है, परिणामस्वरूप चलन की मात्रा भी कम करनी पड़ती है। इसी प्रकार, मुद्रा-संकुचन होने पर लोगों द्वारा स्वर्ण की बिक्री बढ़ती है, कोष बढ़ता है तथा चलन की मात्रा भी बढ़ जाती है। मुद्रा की माँग तथा पूर्ति समकक्ष होने पर मूल्य-स्तर तथा विनिमय दर स्थिर रहते हैं।

(6) **जनता का विश्वास प्राप्त होता है** क्योंकि प्रचलन की मुद्रा स्वर्ण धातु में परिवर्तनीय होती है। इस प्रणाली के सरल होने के कारण भी इसे जनता का विश्वास प्राप्त होता है।

स्वर्ण-धातुमान के दोष

स्वर्ण-धातुमान अपनाते समय कई देशों की यह धारणा थी कि इसमें स्वर्ण-चलनमान के सभी गुण होंगे और यह दोषों से मुक्त होगा। परन्तु शीघ्र ही इसके दोष भी सामने आये, परिणामतः यह मान कुछ ही वर्षों में समाप्त हो गया। इसके मुख्य दोष निम्नलिखित थे

(1) **संकटकालीन परिस्थितियों के लिए अनुपयुक्त होना** इस मान का एक बहुत बड़ा दोष था। मुद्रा की अधिक आवश्यकता होने पर निर्गमन सम्भव नहीं हो पाता, क्योंकि इसके लिए स्वर्ण-

कोष का बढ़ाना आवश्यक होता है। आर्थिक विकास के लिए भी मौद्रिक आवश्यकताएँ बढ़ती हैं, जिन्हें यह मान यथेष्ट रूप में पूरा नही कर पाता।

(2) **स्वय चालकता कम तथा सरकारी हस्तक्षेप अधिक** होता है। चूँकि सरकार द्वारा ही पत्र-मुद्रा निर्गमन तथा कोषों की व्यवस्था की जाती है, स्वर्ण-धातुमान एक प्रकार की नियन्त्रित अथवा प्रबन्धित मुद्रा-प्रणाली ही होती है। सरकारी हस्तक्षेप के कारण यह स्वर्ण-चलनमान के समान "मूर्ख-सिद्ध तथा मक्कार-सिद्ध" नही रहता।

(3) **जनता के विश्वास मे भी कमी होती है।** एक तो स्वर्ण जनता के अपने हाथों में नही रहता, दूसरे, स्वर्ण के क्रय-विक्रय के लिए एक न्यूनतम मात्रा निर्धारित होती है जो प्राय इतनी अधिक होती है कि एक साधारण व्यक्ति उस तक पहुँच ही नही पाता। जनता का विश्वास स्वर्ण-चलनमान की तुलना मे कम होना स्वाभाविक ही है।

(4) **मितव्ययता नहीं होती क्योंकि** एक ओर तो स्वर्ण-कोष की व्यवस्था करनी होती है, जिसमे स्वर्ण बेकार रखा रहता है तथा दूसरी ओर प्रबन्धित पत्र-मुद्रा की व्यवस्था करने तथा साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखने के लिए व्यवस्था करनी पडती है, जो व्ययपूर्ण होती है।

(5) **स्वर्णमान** कुछ अन्य रूपों मे स्वर्ण-धातुमान मे रखे गये स्वर्ण-कोषों की अपेक्षा और भी कम कोषों की सहायता से चल सकता है।

केन्ज ने स्वर्ण-धातुमान के प्रति लोगों की भावना को व्यक्त करते हुए लिखा था, "स्वर्ण अब अदृश्य हो गया है—पुन भूमिगत हो गया है। अब जब देवता (स्वर्ण सिक्के) अपने पीले सर्वाङ्ग कवच धारण किये हुए इस ससार मे चलते हुए दिखायी नही देते हैं तो हम उनकी युक्ति-पूर्वक व्याख्या करने का प्रयास करते हैं, शीघ्र ही यह भी समाप्त हो जायेगा।"[1]

3 स्वर्ण-विनिमय मान

स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) स्वर्णमान का एक ऐसा स्वरूप है जिसमे निर्धन देश बिना पर्याप्त स्वर्ण-कोष रखे स्वर्णमान के लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। इस मान के अन्तर्गत देश की मुद्रा न तो स्वर्ण-मुद्रा और न स्वर्ण धातु मे परिवर्तनीय होती है, बल्कि किसी ऐसी विदेशी मुद्रा म परिवर्तनीय होती है जो स्वर्ण-चलनमान अथवा स्वर्ण धातुमान पर हो। चूँकि मुद्रा अधिकारी विदेशी विनिमय को देशी मुद्रा के बदले क्रय-विक्रय करता है, देश मे मुद्रा के चलन की मात्रा विदेशी व्यापार तथा पूँजी के आयात निर्यात द्वारा प्रभावित होने वाले भुगतान-सन्तुलन की स्थिति पर निर्भर करती है। मुद्रा अधिकारी द्वारा विदेशी विनिमय खरीदने पर देश मे मुद्रा की मात्रा बढती है तथा बेचने पर चलन की मात्रा कम होती है।

स्वर्ण-विनिमय मान के दो रूप होते है—(1) जिसमे देश मे स्वर्ण-कोष नही रहते और स्वर्ण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन देशों के स्वर्ण कोषों पर निर्भर रहना पडता है जिनकी मुद्राएँ स्वर्ण मे परिवर्तनशील होती है, (2) जिसमे विदेशी विनिमय के रूप में कुछ सुरक्षित कोष विदेशो मे रखा जाता है। कुछ मुद्रा-शास्त्री दूसरे रूप को स्वर्ण-विनिमय मान नही मानते, परन्तु व्यवहार मे दोनो रूपों को स्वर्ण-विनिमय मान ही कहा जाता है।

स्वर्ण-विनिमय मान का सैद्धान्तिक विश्लेषण सर्वप्रथम डेविड रिकार्डो (David Ricardo) द्वारा किया गया था। 1877 मे इसे हॉलैण्ड द्वारा अपनाया गया। 1892 मे रूस तथा आस्ट्रिया-हगरी द्वारा भी इसे अपना लिया गया। सन् 1893 मे भारत मे चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई समाप्त करने के पश्चात 1898 मे विदेशी विनिमय बिलों के क्रय-विक्रय के लिए भारत सरकार द्वारा लन्दन मे स्वर्ण-कोष स्थापित किया गया था। सन् 1900 मे जब रुपयो के बदले लन्दन मे बिल दिये जाने लगे तो स्वर्ण-विनिमय मान का आरम्भ हुआ। भारतीय रुपया ब्रिटिश पौण्ड के साथ जोड दिया गया तथा उसकी विनिमय दर 1 शि० 4 पैंस (1 s 4 d) प्रति रुपया निश्चित की गयी।

---

1 "Gold is out of sight—gone back again with the soil. But when gods are no longer seen in a yellow panoply walking on the earth, we begin to rationalise them and it is not long before there is nothing left' —Keynes *A Treatise on Money*, Vol. II, p 291

यह व्यवस्था 1917 तक चलती रही किन्तु 1917 में इसे त्यागना पड़ा। तीन वर्ष बाद 1920 में इसे फिर से 2 शि० प्रति रुपया की विनिमय-दर पर अपनाया गया, परन्तु इस नयी दर को बनाये रखना सम्भव न हुआ। 1927 में इसे त्यागकर भारत ने स्वर्ण-धातुमान को अपना लिया जिसका परित्याग 1931 में कर दिया गया। भारत के अतिरिक्त डेनमार्क, जर्मनी, पोलैण्ड, चिली, इक्वेडर, बोलीविया, पनामा, मैक्सिको, आस्ट्रेलिया तथा फिलिपाइन्स आदि देशों में भी इसे विभिन्न रूपों में अपनाया गया था।

स्वर्ण विनिमय मान की प्रमुख विशेषताएँ

1. देश में न तो स्वर्ण के सिक्के चलन में होते हैं और न ही प्रतिनिधि अथवा परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का चलन होता है। केवल अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा, सांकेतिक सिक्के तथा निकृष्ट धातुओं के सिक्के सञ्चलन में होते हैं।
2. देश की प्रमुख मुद्रा एक निश्चित विनिमय-दर पर किसी ऐसी विदेशी मुद्रा से जुड़ी होती है जिसका सम्बन्ध स्वर्ण चलनमान अथवा स्वर्ण धातुमान से होता है।
3. सैद्धान्तिक रूप में मुद्रा को विदेशी भुगतान के लिए स्वर्ण अथवा विदेशी विनिमय में बदला जा सकता है, किन्तु व्यवहार में केवल विदेशी विनिमय ही दिया जाता है।
4. देश की मुद्रा का स्वर्ण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होकर केवल परोक्ष सम्बन्ध होता है, क्योंकि देश की मुद्रा के बदले प्राप्त किये हुए विदेशी विनिमय के द्वारा केवल विदेशों में ही स्वर्ण प्राप्त हो सकता है।
5. स्वर्ण का उपयोग विनिमय-माध्यम अथवा मूल्य-मापक के रूप में न होने पर भी देश की मुद्रा स्वर्ण में परिभाषित होती है तथा सभी वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतें अप्रत्यक्ष रूप में स्वर्ण की कीमतों द्वारा ही निश्चित होती हैं।
6. स्वर्ण का आयात-निर्यात स्वतन्त्र नहीं होता। विदेशी भुगतान का कार्य सरकारी सहायता से होता है।

जिस समय भारत में स्वर्ण-विनिमय मान कार्यशील था तो भारतीय व्यापारियों को भुगतान करने के लिए लन्दन के कोष से काउन्सिल बिल्स (Council Bills) अथवा रुपये बिल्स (Rupee Bills) प्राप्त हो सकते थे, जो भारतीय व्यापारियों द्वारा निश्चित दर (1 शि० 4 पैंस प्रति रुपया) पर रुपयों में बदले जा सकते थे। इसी प्रकार विदेशी भुगतान करने के लिए भारत सरकार देशी मुद्रा के बदले रिजर्व काउन्सिल बिल्स (Reserve Council Bills) अथवा स्टर्लिङ्ग बिल्स (Sterling Bills) बेचती थी, जिनको ब्रिटिश व्यापारी ब्रिटिश मुद्रा में बदल सकते थे।

स्वर्ण विनिमय मान के गुण

स्वर्ण विनिमय मान के अनेक गुण बताये जाते हैं, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं

(1) यह मुद्रा-मान मितव्ययतापूर्ण है। स्वर्ण के सिक्के चलन में न होने के कारण घिसावट से हानि नहीं होती। चलन की मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनशील न होने के कारण स्वर्ण कोषों में बेकार नहीं पड़ा रहता। विदेशी भुगतान के लिए स्वर्ण का स्वतन्त्र आयात निर्यात न होकर विदेशी विनिमय का प्रयोग किया जाता है जिससे स्वर्ण के आयात निर्यात का व्यय बच जाता है।

(2) यह लोचदार मुद्रा मान है। मुद्रा का प्रसार स्वर्ण-कोषों पर निर्भर नहीं करता इस लिए आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा का निर्गमन किया जा सकता है। इसी कारण यह स्वर्ण-चलन-मान तथा स्वर्ण-धातुमान की तरह 'अनुकूल परिस्थितियों की कला' (fair weather craft) नहीं है।

(3) स्वर्णमान के सभी लाभ, बिना स्वर्ण के सिक्कों के, प्राप्त हो जाते हैं। विशेषत निर्धन देशों के लिए तो यह प्रणाली बहुत ही सुविधाजनक होती है।

(4) सरकार को लाभ होता है क्योंकि विदेशों में स्थापित कोष पर ब्याज मिलती है। विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय द्वारा भी सरकार आय प्राप्त करती है। स्वर्णमान को सचालित रखने के व्यय से भी सरकार बच जाती है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में सुविधा तथा विनिमय-दर में स्थिरता के लिए सरकार भरसक प्रयत्न करती है।

स्वर्ण-विनिमय मान के दोष

स्वर्ण-विनिमय मान के अनेक गुण होते हुए भी व्यावहारिक रूप मे इसमे अनेक कठिनाइयाँ तथा दोष थे, जिनके कारण इसका त्याग करना पडा। इसके प्रमुख दोषो की विवेचना नीचे की गयी है :

(1) **इस प्रणाली मे स्वय-चालकता का अभाव था।** इसमे स्वर्ण-चलनमान तथा स्वर्ण-धातुमान के समान स्वय-चालकता न होने के कारण सरकार को हस्तक्षेप करना पडता है, इसीलिए इसे एक प्रबन्धित मान ही कहना उचित होगा।

(2) **देश की मुद्रा अनिवार्य रूप से विदेशी मुद्रा पर आश्रित रहती है।** वास्तव मे, स्वर्ण-विनिमय मान अपनाने वाले देश को मौद्रिक प्रबन्ध के लिए आधार-देश (planet country) की व्यवस्था तथा नीतियो पर निर्भर रहना पडता है। यदि किसी कारणवश आधार-देश ही स्वर्णमान को त्याग दे तो उस पर आधारित सभी देशो को स्वर्ण-विनिमय का त्याग करना पडेगा। निर्भर देशो की अर्थ-व्यवस्था, व्यापार तथा वाणिज्य, विनियोग तथा औद्योगिक विकास आधार-देश द्वारा अपनायी गयी मौद्रिक नीति पर निर्भर करते हैं।

(3) **आधार-देश की मुद्रा-प्रणाली असुरक्षित हो जाती है।** अनेक देशो को अपनी स्वर्ण की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक आधार-देश पर निर्भर रहना आधार-देश के लिए एक बहुत बडा बोझ बन जाता है। स्वय आधार-देश के पास भी स्वर्ण-कोष सीमित मात्रा मे होता है जबकि उस पर उन सब देशो का अधिकार रहता है जिन्होने अपनी मुद्रा उससे सम्बन्धित कर रखी होती है। यदि स्वर्ण के लिए माँग बढ जाय और आधार-देश उसे पूरा करने मे असमर्थ हो, तो उसकी मुद्रा-प्रणाली सकट मे पड जायेगी।

(4) **अनेक कोषो की व्यवस्था** करनी पडती है जो न केवल व्ययपूर्ण है, बल्कि असुविधाजनक भी है। भारत मे ही स्वर्ण-विनिमय मान चलाने के लिए तीन कोषो की व्यवस्था करनी पडी थी—स्वर्णमान कोष (Gold Standard Reserve), पत्र-मुद्रा कोष (Paper Currency Reserve) तथा भारत सरकार का ब्रिटेन और भारत मे जमा किया गया कोष। हिल्टन-यग कमीशन द्वारा भारत मे इस प्रणाली की आलोचना का मुख्य आधार इसका खर्चीलापन ही था।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो के सन्तुलन की स्थापना मे कठिनाई होती है।** इस मान के अन्तर्गत तरल आदेयो (liquid assets) का एक देश से दूसरे देश को हस्तान्तरण इतनी मात्रा मे सरलता से नही हो पाता जितना कि स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण का होता है, क्योकि स्वर्ण सबसे तरल आदेय है। तरल साधनो का विभिन्न देशो मे समुचित बँटवारा न होने से अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो मे सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न नही हो पाती।

(6) **जनता का विश्वास कम प्राप्त हो पाता है** क्योकि चलन की मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तनशील नही होती। इस प्रणाली के जटिल होने के कारण साधारण जनता इसे समझ नही पाती और इसीलिए इसमे उतना विश्वास नही रखती जितना उसे स्वर्ण-चलनमान तथा स्वर्ण धातुमान मे होता है।

(7) **लोच का गुण बताना भ्रामक है।** इस प्रणाली मे मुद्रा-प्रसार तो सरलता से हो जाता है, परन्तु मुद्रा-सकुचन करना बहुत ही कठिन कार्य है। भारत का भी अनुभव यही रहा है।

उपर्युक्त व्यावहारिक कठिनाइयो के कारण ही स्वर्ण-विनिमय मान का परित्याग कर देना पडा।

4 स्वर्ण-निधिमान

इगलैण्ड, अमरीका तथा फ्रास द्वारा क्रमश सन् 1931, 1933 तथा 1936 मे स्वर्णमान का परित्याग करने पर इन देशो के सम्मुख सबसे बडी समस्या विनिमय-दर की स्थिरता बनाये रखना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1932 मे इगलैण्ड ने एक 'विनिमय-समानीकरण कोष' (Exchange Equalisation Fund) की स्थापना की थी। विदेशी मुद्राओ के निश्चित दर पर क्रय-विक्रय द्वारा विदेशी विनिमय-दर मे स्थिरता बनाये रखना इस कोष का मुख्य उद्देश्य था। 1934

में अमरीका तथा 1936 में फ्रांस द्वारा भी इसी प्रकार के कोष स्थापित किये गये। उक्त तीनों देशों के विनिमय समानीकरण कोष स्थापित हो जाने पर तीनों देशों के बीच 25 सितम्बर, 1936 को एक समझौता हुआ, जिसे 'त्रिपक्षीय मौद्रिक समझौता' (Tripartite Monetary Agreement) कहते हैं। इस समझौते के अनुसार तीनों देशों ने समानीकरण कोषों में उपलब्ध साधनों की सहायता से विनिमय-दरों को स्थिर रखने का वायदा किया। कुछ मास पश्चात बेलजियम, नीदरलैण्ड्स तथा स्विटजरलैण्ड भी इस समझौते में शामिल हो गये। इस समझौते के आधार पर इन देशों द्वारा अपनायी गयी मुद्रा-प्रणाली स्वर्ण निधिमान (Gold Reserve Standard) के नाम से जानी जाती है। यह प्रणाली 1936 से लेकर 1939 तक प्रचलित रही और द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही समाप्त हो गयी।

स्वर्ण-कोषमान स्वर्णमान का वह रूप है जिसके अन्तर्गत 'विनिमय-समानीकरण कोषों' के माध्यम से केवल सरकार स्वर्ण का आयात-निर्यात करती है और अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप द्वारा विदेशी मुद्रा-बाजार में विनिमय-दर की स्थिरता कायम रखती है। इसमें आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होती।

स्वर्ण-निधिमान की प्रमुख विशेषताएँ

1 देश के चलन का स्वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं था। स्वर्ण न तो विनिमय-माध्यम था और न मूल्य का मापक ही। देश के भीतर चलन में पत्र-मुद्रा तथा निकृष्ट धातुओं के सिक्के स्वर्ण में परिवर्तनशील नहीं थे और न ही स्वर्ण की कीमत निर्धारित करने की आवश्यकता थी।

2 स्वर्ण के आयात निर्यात पर सरकार का एकाधिकार था। केवल सरकार द्वारा ही मुद्रा सम्बन्धी कार्यों के लिए स्वर्ण का आयात-निर्यात हो सकता था, अन्य किसी को यह अधिकार नहीं था।

3 विनिमय-समानीकरण कोष स्थापित करना समझौते में सम्मिलित सभी देशों के लिए अनिवार्य था। कुछ देशों में इन्हें विनिमय-समानीकरण लेखा (Exchange Equalisation Account) तथा विनिमय कोष (Exchange Fund) भी कहा जाता था। प्रत्येक कोष के पास विदेशी विनिमय तथा स्वर्ण निधि रखी रहती थी। किसी देश की मुद्रा की माँग बढ़ जाने पर वह मुद्रा उस देश के विनिमय-समानीकरण कोष से स्वर्ण देकर प्राप्त की जा सकती थी। इसी प्रकार, किसी मुद्रा की पूर्ति अधिक होने पर स्वर्ण के बदले वह लौटायी भी जा सकती थी। स्वर्ण प्राप्त करने वाला देश उस स्वर्ण को कोष अथवा निधि में रखकर अपनी मुद्रा में निर्गमित कर सम्बन्धित देश को दे देता था। इस व्यवस्था के कारण ही इस मुद्रामान को स्वर्ण-निधिमान कहा गया। इन कोषों का संचालन केन्द्रीय बैंकों द्वारा होता था।

4 आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप के बिना तथा ब्याज की दर में परिवर्तन किये बिना विदेशी विनिमय-दर अथवा विदेशी मुद्राओं में स्वर्ण का मूल्य स्थिर रखा जा सकता था।

5 कोषों की व्यवस्था गोपनीय थी। जनता को यह नहीं बताया जाता था कि कोष क्या खरीद अथवा बेच रहा है, तथा उसके पास कितना स्वर्ण अथवा विदेशी मुद्राएँ हैं।

स्वर्ण-निधिमान मौद्रिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर आधारित था। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होते ही इगलैण्ड तथा फ्रांस ने विनिमय-नियन्त्रण की व्यवस्थाएँ लागू कर दीं और त्रि-पक्षीय समझौते के अनुकूल नहीं चला जा सका।

स्वर्ण-निधिमान के गुण

(1) स्वर्ण का आयात-निर्यात सरकार के हाथों में रहने के कारण स्वर्ण के मूल्य में प्रायः स्थिरता रहती थी।

(2) विनिमय-समानीकरण कोष के माध्यम से, बिना आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हेर-फेर किए, विनिमय-दरों की स्थिरता बनाये रखी जा सकती थी।

(3) देश की अर्थ-व्यवस्था पर कोई विदेशी प्रभाव नहीं रहता था।

(4) यह प्रणाली अत्यधिक मितव्ययतापूर्ण थी, क्योंकि इसमें स्वर्ण का प्रयोग केवल मौद्रिक उद्देश्यों के लिए ही किया जाता था।

(5) यह एक अत्यन्त लोचदार मुद्रा-मान था।

स्वर्ण निधिमान के दोष

(1) विनिमय समानीकरण कोष में पर्याप्त स्वर्ण रहने पर ही यह प्रणाली कार्यशील रह सकती थी।

(2) देशों में पारस्परिक सहयोग के बिना यह प्रणाली नहीं चल सकती थी। परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण जैसे ही देशों ने अपने स्वार्थ के लिए कुछ कदम उठाये, इसका कार्यशील रहना असम्भव हो गया।

(3) विनिमय समानीकरण कोषों की कार्य-प्रणाली को पूर्ण रूप से गोपनीय रखा जाता था, जिसमें वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो ही नहीं पाता था।

(4) जनता का विश्वास बहुत ही कम प्राप्त हो पाता था।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व केवल तीन-चार वर्ष ही कार्यशील रहने के पश्चात यह प्रणाली समाप्त हो गयी।

5 स्वर्ण समतामान

स्वर्णमान को व्यापक अर्थ में लेने पर 'स्वर्ण-समतामान' (Gold Parity Standard) स्वर्णमान का आधुनिक रूप है, जिसका विकास अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना के साथ हुआ है। इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के प्रत्येक सदस्य राष्ट्र की मुद्रा स्वर्ण में परिमापित होती है जिसके आधार पर विनिमय-दर निर्धारित होती है। प्रत्येक मुद्रा का मूल्य स्वर्ण के अतिरिक्त डालर में भी निश्चित होता है। सदस्य देश मुद्रा-कोष के पास एक निश्चित मात्रा में स्वर्ण-कोष रखते हैं। देश में चलन की मुद्रा स्वर्ण पर आधारित नहीं होती। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि स्वर्ण-समतामान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य देश अपनी मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर को स्वर्ण अथवा डालर की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखने का दायित्व स्वीकार करते हैं।

स्वर्ण-समतामान की मुख्य विशेषताएँ

1. **स्वदेशी मुद्रा प्रणाली स्वर्ण पर आधारित नहीं होती।** स्वर्ण न तो विनिमय-माध्यम होता है और न ही मूल्य मापक। चलन की मुद्रा परिवर्तनशील नहीं होती।
2. **विदेशी विनिमय दर स्वर्ण पर आधारित होती है,** क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष सदस्य देशों की मुद्राओं का स्वर्ण मूल्य निश्चित करता है, जिससे समता बनाये रखना आवश्यक होता है।
3. **निर्धारित विनिमय दर को बनाये रखना प्रत्येक देश का वैधानिक उत्तरदायित्व है।** विनिमय-दर में कोई भी परिवर्तन करने के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है।
4. आवश्यकता पड़ने पर विदेशी विनिमय-दरों में स्थिरता बनाये रखने के लिए सदस्य देशों को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा **विदेशी मुद्राओं का अल्पकालीन ऋण** प्रदान किया जा सकता है, जिससे सम्बन्धित देश अपनी आर्थिक व्यवस्था में सुधार कर सकता है। भारत भी इस प्रकार के ऋण प्राप्त करता रहा है।
5. अलग अलग स्वर्ण-कोषों के स्थान पर स्वर्ण **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष** के पास केन्द्रित रहता है।

6 आन्तरिक मौद्रिक नीति में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी सहयोग विनिमय दरों को स्थायी बनाये रखने तक ही सीमित होता है।
7 विशेष परिस्थितियों में नियमानुसार विदेशी विनिमय-दरों में परिवर्तन करने की सुविधा होने के कारण यह प्रणाली व्यावहारिक तथा लोचदार है।

स्वर्ण-समतामान को कुछ रूढ़िवादी अर्थशास्त्री स्वर्णमान का एक रूप स्वीकार ही नहीं करते, जबकि कुछ अन्य इसे स्वर्ण-विनिमय मान का एक संशोधित रूप मानते हैं। अमरीकी अर्थशास्त्री ओस्कर अल्टमान तो दोनों में कोई भेद ही नहीं करते। दोनों में अनेक समानताएँ भी हैं, जैसे—दोनों प्रणालियों में स्वर्ण घरेलू प्रयोग के लिए नहीं मिलता, मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर किसी अन्य मुद्रा में निश्चित होती है, तथा विदेशों में स्वर्ण-कोष रखने की व्यवस्था है। परन्तु स्वर्ण-समतामान का क्षेत्र तथा रूप अधिक व्यापक है जो सहयोग के सिद्धान्त पर आधारित है, जबकि स्वर्ण विनिमय मान निर्धन देशों द्वारा स्वर्ण-कोषों की कमी के कारण आधार-देशों पर निर्भर रहने वाली व्यवस्था है। दोनों में काफी अन्तर है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्वर्ण-समतामान भी स्वर्णमान का ही एक रूप है, क्योंकि इसके अन्तर्गत विनिमय-दरें स्वर्ण के माध्यम से ही निश्चित होती हैं।

स्वर्ण-समतामान के अनेक गुण हैं, जैसे—स्वर्ण की अधिकतम मितव्ययता, विनिमय-दरों में स्थायित्व, सब मानों से अधिक लोचपूर्ण तथा व्यावहारिक, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि तथा स्वतन्त्र आन्तरिक मुद्रा-व्यवस्था। इसके दोष ये हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष पर बड़े देशों, विशेषत अमेरिका, का प्रभाव बहुत अधिक है, और यदि किन्हीं कारणोंवश कोष भंग हो जाता है तो इस प्रणाली को नहीं बचाया जा सकता।

घरेलू एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान

स्वर्णमान के विभिन्न रूपों का अध्ययन करने के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्णमान के मुख्य रूप से दो कार्य रहे हैं मुद्रा इकाई के आन्तरिक मूल्य (internal value) की स्थिरता तथा मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य (external value) की स्थिरता। मुद्रा का स्वर्ण से सीधा सम्बन्ध होने के कारण मुद्रा प्रसार के लिए अतिरिक्त कोष की व्यवस्था करनी होती है। स्वर्ण की पूर्ति अपरिमित नहीं होती इसलिए कोष सरलता से नहीं बढ़ाये जा सकते। परिणामस्वरूप, स्वर्णमान के अन्तर्गत मुद्रा-स्फीति का भय नहीं रहता। आन्तरिक मूल्य-स्तर को स्थिर रखना स्वर्णमान का घरेलू अथवा राष्ट्रीय (domestic) पहलू है। दूसरी ओर, मुद्रा अधिकारी द्वारा निर्धारित मूल्य पर स्वर्ण का क्रय विक्रय इत्यादि ऐसे कार्य हैं जिनका उद्देश्य विदेशी विनिमय-दरों को स्थिर बनाये रखना है। यह स्वर्णमान के कार्यों का अन्तर्राष्ट्रीय (international) पहलू कहलाता है।

सामान्यत स्वर्णमान के उपर्युक्त दोनों पहलू साथ-साथ विद्यमान होते हैं, परन्तु कुछ परिस्थितियों में केवल एक ही पहलू का रहना भी सम्भव है। उदाहरणत यद्यपि इगलैण्ड ने 1931 में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को त्याग दिया था, परन्तु देश में मुद्रा का प्रचलन स्वर्ण-कोषों द्वारा ही निर्धारित होता था। यह पहले ही बताया जा चुका है कि स्वर्ण-निधिमान तथा स्वर्ण-समतामान अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के ही रूप हैं और इनका आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

घरेलू स्वर्णमान के गुण

(1) कीमत-स्तर में स्थिरता बनाये रखना घरेलू स्वर्णमान का सबसे बड़ा लाभ अथवा गुण है। सामान्यत. स्वर्ण के उत्पादन में बहुत अधिक उतार-चढ़ाव की सम्भावना नहीं होती, इसलिए किसी वर्ष विशेष में स्वर्ण-कोषों पर कोई बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ता जिससे चलन की मात्रा लगभग स्थिर रहती है, परिणामस्वरूप कीमत-स्तर में भी अधिक स्थायित्व रहता है।

(2) स्वयं-संचालकता के कारण स्वर्ण का आयात निर्यात चलन की मात्रा को इस प्रकार बढ़ाता-घटाता रहता है कि भुगतान-शेष (balance of payment) सन्तुलित स्थिति में रहते हैं, तथा चलन की मात्रा और स्वर्ण में पूर्व-निर्धारित आदर्श अनुपात स्थिर बना रहता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह सब बिना सरकार द्वारा किसी विशेष हस्तक्षेप के सहज ही प्राप्त हो जाता है।

(3) जनसाधारण में इस मान के प्रति विश्वास होता है, क्योंकि इसमें मुद्रा-प्रसार का अधिक भय नहीं होता और स्वय-सचालकता के कारण इसमें आवश्यक घटा-बढ़ी अपने आप हो जाती है।

घरेलू स्वर्णमान के दोष

(1) कीमत-स्थिरता का तर्क मिथ्या है। देश की मौद्रिक इकाई का मूल्य स्वर्ण की एक निर्धारित मात्रा से सम्बन्धित होने के कारण स्वर्ण की मात्रा में परिवर्तन का मौद्रिक इकाई के मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। किसी नयी खान के मिलने अथवा पुरानी खान के बन्द होने अथवा स्वर्ण की उत्पादन प्रविधि में परिवर्तन होने का मुद्रा के मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि स्वर्ण का उत्पादन प्राय स्थिर रहता है, यह नहीं माना जा सकता कि किसी व्यक्तिगत देश का स्वर्ण-कोष अथवा स्टॉक भी स्थिर रहता है। कुल स्वर्ण स्टॉक के अलग-अलग देशों म वितरण में परिवर्तन कीमत-अस्थिरता का मुख्य कारण बन सकते हैं। वास्तविकता यह है कि घरेलू स्वर्णमान केवल स्वर्ण तथा मुद्रा के बीच परस्पर सम्बन्ध को स्थिर रखता है, देश में मुद्रा के आकार और मूल्य-स्तर को नहीं। विश्व का मौद्रिक इतिहास इस तथ्य का साक्षी है।

(2) देश की आर्थिक समृद्धि में सहायक न होकर कभी-कभी एक बहुत बड़ा खतरा बन जाता है। स्वय सचालकता के कारण स्वर्ण-कोषों में परिवर्तन के कारण मुद्रा की मात्रा म भी घटा-बढ़ी तो हो जाती है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि यह घटा-बढ़ी देश की आवश्यकताओं के अनुकूल ही हो। स्वर्ण कोषों म परिवर्तनों का देश की मौद्रिक आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। मुद्रा की पूर्ति माँग से अधिक होने पर मुद्रा स्फीति उत्पन्न होगी और मुद्रा की पूर्ति माँग की अपेक्षा कम होने पर मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

लोच के अभाव के कारण सामान्य परिस्थितियों में तो स्वर्णमान चलता रहता है, परन्तु किसी भी असाधारण स्थिति का सामना नहीं कर पाता। युद्ध-व्यय की व्यवस्था करनी हो अथवा आर्थिक विकास की मौद्रिक आवश्यकताओं को पूरा करना हो, यह स्वर्णमान के अन्तर्गत सम्भव नहीं हो पाता, क्योंकि राष्ट्रीय मौद्रिक प्रबन्ध का तो इसमें क्षेत्र है ही नहीं। हॉम ने **स्वर्णमान की तुलना ऐसी नाव से की है जो शान्त समुद्र पर तो चल सकती है परन्तु तूफान की प्रतिकूल परिस्थितियों में तत्काल टूट जाती है।** हुआ भी ऐसा ही, प्रथम महायुद्ध का तूफान आरम्भ होते ही यह टूट गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के गुण

घरेलू स्वर्णमान की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के निम्नलिखित गुण बताये जाते हैं :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के विचार को व्यावहारिकता अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान द्वारा प्राप्त होती है। इसमें समस्त स्वर्णमान वाले देशों को स्वर्ण के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय-माध्यम तथा मूल्य-मापक प्राप्त हो जाता है। कैण्ट (R P Kent) के शब्दों में, "मूल्य के एक अन्तर्राष्ट्रीय मापक के रूप म स्वर्णमान बड़ी सेवा करता है, क्योंकि वह विभिन्न देशों की वस्तुओं की परस्पर तुलना करना सम्भव बना देता है। उदाहरण के लिए, दर्जनों विदेशी बाजारों में क्रय तथा विक्रय करने की सापेक्षिक उपयोगिता का सरलता से निश्चय किया जा सकता है।"

(2) विदेशी विनिमय-दरों में स्थिरता बनी रहती है। प्रत्येक देश की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में परिभाषित होता है और इस मूल्य पर असीमित मात्रा में स्वर्ण का क्रय-विक्रय करना सरकार का दायित्व होता है। विनिमय-दरों में उतार-चढ़ाव अधिक से अधिक होने पर भी स्वर्ण आयात तथा निर्यात बिन्दुओं (gold import and export points) के भीतर ही रहता है, क्योंकि इनसे कम अथवा अधिक पर स्वतन्त्र आयात-निर्यात द्वारा स्वर्ण का वास्तविक हस्तान्तरण होने लगता है। विनिमय-दरों में स्थिरता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वित्तीय सम्बन्धों के विकास में सहायक होती है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तरों में समानता एवं स्थिरता बनी रहती है, क्योंकि इनमें अन्तर होने पर स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा यह समाप्त हो जाती है। किसी देश में कीमतें अधिक होने

पर वस्तुओं का आयात होने लगेगा, जिससे देश में स्वर्ण की मात्रा घटेगी। परिणामस्वरूप, मुद्रा की मात्रा कम हो जायगी और कीमतें भी गिर जायँगी। कीमतें कम होने पर इसके विपरीत परिणाम होंगे।

(4) **सरकार अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं कर पाती।** मुद्रा की घटा बढ़ी स्वर्ण-कोष में परिवर्तनों पर आधारित होती है, न कि सरकार की इच्छा पर। सरकार द्वारा मुद्रा का अनावश्यक प्रसार अथवा संकुचन नहीं हो पाता।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के दोष

(1) **मुद्रा-संकुचन (deflation) की स्वाभाविक प्रवृत्ति** इस व्यवस्था का मुख्य दोष है। स्वर्ण के निर्यात का प्रभाव मुद्रा संकुचन तो होता ही है, स्वर्ण का आयात होने पर भी मुद्रा व साख का प्रसार होना आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ, अन्तर्युद्ध-काल में इंगलैण्ड से स्वर्ण का निर्यात होने से संकुचन तथा बेकारी के रोग उत्पन्न हुए, परन्तु अमेरिका में स्वर्ण के आयात से स्फीति उत्पन्न नहीं हुई थी। प्रो० जॉन एच० विलियम्स ने संकुचन की प्रवृत्ति के दो मुख्य कारण बताये हैं—सभी स्वर्णमान देशों के लिए भुगतान शेष (balance of payments) का समान आर्थिक महत्व न होना, तथा सभी देशों का आर्थिक दृष्टि से समान आकार न होना।[1]

(2) **आर्थिक संकट केवल राष्ट्रीय न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय हो जाते हैं।** एक देश का आर्थिक संकट दूसरे देशों तक आसानी से पहुँच जाता है। एक देश में अव्यवस्था होने पर लोग स्वर्ण के रूप में अपनी सम्पत्ति एक सुव्यवस्थित देश में भेजना आरम्भ कर देंगे जिसके परिणामस्वरूप वहाँ की मौद्रिक स्थिरता भी भंग हो जायेगी। प्रो० विलियम्स के अनुसार, "स्वर्णमान एक देश से दूसरे देश में मन्दी तथा तेजी के भयानक रोगों को फैलाने का उत्तम साधन रहा है।"[2]

(3) **स्वयं-चालकता अपूर्ण होती है।** युद्ध के पश्चात स्वर्णमान में स्वयं-संचालकता का भारी अभाव था। यह स्वीकार कर लेने पर भी कि स्वर्णमान एक स्वचालित मान है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इसके परिणामस्वरूप मुद्रा तथा साख का प्रसार अथवा संकुचन देशों की आर्थिक स्थिरता के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता है। इंगलैण्ड में मैकमिलन समिति ने लिखा था कि "वर्तमान संसार में जहाँ एक ओर तो स्वर्ण-आयातों को निष्फल करके इनको साख का विस्तार करने से रोकने की घनी सम्भावना है तथा दूसरी ओर कुछ सामाजिक कारणों से साख-संकुचन को मौद्रिक वेतनों व अन्य लागतों पर अपना प्रभाव डालने से रोका जाता है, सन्तुलन की पुनःस्थापना के पूर्व ही स्वर्णमान के सम्पूर्ण यन्त्र का खण्डन होना स्वाभाविक है।"[3]

(4) **विनिमय-स्थिरता तथा कीमत-स्थिरता एक साथ सम्भव नहीं होती।** अन्तर्युद्ध-काल का अनुभव यह बताता है कि स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय-स्थायित्व प्राप्त करने के लिए कीमत-स्तर के स्थायित्व का बलिदान करना पड़ता है। स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा विनिमय-दर स्थिर रह सकती है, किन्तु आन्तरिक कीमत-स्तर के उतार-चढ़ाव रुकते नहीं बल्कि उनको प्रोत्साहन मिलता है। आन्तरिक स्थिरता के लिए अधिक चिन्तित होना ही युद्धोत्तर स्वर्णमान के खण्डन का मुख्य कारण था।

(5) **स्वर्ण-कोषों तथा सिक्कों के रूप में स्वर्ण का अपव्यय होता है।** प्रबन्धित मान को अपनाने से बिना स्वर्ण-कोषों के वही परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं जो स्वर्णमान करता है। स्वर्णमान न होने से स्वर्ण का अधिक उपयोगी प्रयोग किया जा सकता है।

(6) **आर्थिक स्थिरता एवं समृद्धि के लिए अनुपयुक्त है।** स्वर्ण का असमान तथा असन्तुलित वितरण मुद्रा-स्फीति तथा संकुचन की प्रवृत्तियों को जन्म देता है, जिससे आर्थिक अव्यवस्था फैलती है।

---

1 John H. Williams "The Adequacy of Existing Currency Mechanism under Varying Circumstances", *American Economic Review*, March 1937, Supplement, p 154
2 John H. Williams "The Post-war Monetary Plans", *American Economic Review*, March 1944, Supplement, p 373
3 *Macmillan Committee Report*, (Great Britain), 1931, p 108

(7) **वर्तमान परिस्थितियों के लिए पूर्णतया अनुपयुक्त है।** आज के युग में प्रत्येक अर्थ व्यवस्था का उद्देश्य पूर्ण रोजगार तथा आर्थिक व सामाजिक न्याय प्राप्त करना है जिसके लिए कुशल मौद्रिक प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। लक्ष्यों की पूर्ति किसी स्वचालित अथवा अर्द्ध-स्वचालित प्रणाली द्वारा नहीं की जा सकती। केन्ज ने ठीक ही लिखा है कि वर्तमान युग में प्रबन्धित मान एक अनिवार्य आवश्यकता है तथा स्वर्णमान अब एक बीते युग की बात है।

(8) **नियोजित अर्थ-व्यवस्था तथा स्वर्णमान एक-दूसरे के विरोधी हैं।** स्वर्णमान का आधार अबन्ध नीति (laissez-faire policy) होती है, जबकि आर्थिक नियोजन राज्य-हस्तक्षेप की नीति पर आधारित है। आर्थिक विकास की योजनाओं को पूरा करने के लिए मौद्रिक विस्तार करना पड़ता है जिसके लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) को अपनाना आवश्यक-सा हो जाता है। स्वर्णमान के अन्तर्गत यह सब करना सम्भव नहीं हो पाता है। चार्ल्स ओ॰ हार्डी के शब्दों में, "स्वर्णमान समाज-नियन्त्रण तथा सरकारी नियोजन की दिशा में विद्यमान वर्तमान विचारधारा के साथ पूर्णतया बेमेल है। यह उन लोगों के विचारों का प्रतीक है जिनके विचार में केवल वही सरकार श्रेष्ठ है जो न्यूनतम प्रशासन करती है। यद्यपि राज्य की यह विशेषता आरम्भ में अच्छाई समझी जाती थी, परन्तु आज यही विशेषता बुराई समझी जाती है।"[1]

स्वर्णमान के सफल संचालन के लिए आवश्यक शर्तें

स्वर्णमान एक 'स्वतन्त्र मान' (laissez-faire standard) है, जो स्वचालकता के गुण के कारण बिना सरकारी हस्तक्षेप (अथवा न्यूनतम हस्तक्षेप) के कार्यशील रह सकता है। परन्तु जैसा कि क्राउथर ने लिखा है, "स्वर्णमान एक ईर्ष्यालु देवता है। यह तभी कार्य करता है जब एक-मात्र इसी की साधना की जाती है।"[2] दूसरे शब्दों में, स्वर्णमान के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि इसके नियमों का पूरी तरह से पालन किया जाये। इन नियमों को **'स्वर्णमान खेल के नियम'** (Rules of the Gold Standard Game) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वे सभी सहायक परिस्थितियाँ मौजूद हों जो स्वर्णमान के स्वतन्त्र संचालन को कार्यशील रख सकें। मुख्य रूप में स्वर्णमान की सफलता निम्न-लिखित बातों पर निर्भर करती है

(1) **स्वर्णमान के स्वर्ण नियम** (Golden Rule) **का अनुसरण**—स्वर्णमान का सफल संचालन तभी सम्भव है जब विदेशी विनिमय बाजार में किसी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति में स्थायी असन्तुलन न होने पाये। कभी भी असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होने पर उसे स्वर्ण के प्रवाह (movement of gold) द्वारा सुधारा जा सकता है। **'स्वर्ण का प्रवाह सिद्धान्त'** यह है कि यदि किसी देश में कीमत-स्तर तथा उत्पादन-व्यय (cost-price structure) ऊँचा हो, तो उस देश की मुद्रा की माँग कम और पूर्ति अधिक होने के कारण उस देश में स्वर्ण का बहिर्प्रवाह (outflow of gold) होगा। इसके विपरीत, विदेशों की अपेक्षा कीमत तथा लागत स्तर नीचा होने पर स्वर्ण का लगातार अन्तर्प्रवाह (inflow of gold) होगा। स्वर्ण के देश के बाहर जाने पर आन्तरिक व्यवस्था में ऐसे उपाय करने होते हैं कि कीमत-लागत स्तर गिरने लगे ताकि बहिर्प्रवाह रुक जाये। स्वर्ण के अन्तर्प्रवाह के साथ-साथ कीमत-लागत स्तर ऊँचा होना चाहिए। यह दोनों कार्य साख के संकुचन तथा विस्तार द्वारा किये जा सकते हैं। क्राउथर के शब्दों में, **"स्वर्णमान का स्वर्ण नियम यह है कि जब देश में स्वर्ण आ रहा हो तो साख का विस्तार करो तथा जब स्वर्ण का निर्यात हो रहा हो तो साख का संकुचन करो।"**[3]

साख का विस्तार अथवा संकुचन ब्याज-दर के परिवर्तनों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ब्याज दर बढ़ाने से आन्तरिक तथा विदेशी ऋण कम होंगे अर्थात् साख संकुचन होगा, मूल्य-

---

1 Charles O. Hardy *The Post war Role of Gold*, p 11.

2 "Gold Standard is a jealous god. It will work provided it is given exclusive devotion" —Crowther *An Outline of Money*, p. 306

3 "The golden rule of the gold standard is, expand credit when gold is coming in, contract when gold is going out"—Crowther. *An Outline of Money*, p. 304

लागत स्तर में कमी होगी तथा विदेशी पूँजी का आगमन होगा। ब्याज-दर घटाने का प्रभाव इसके विपरीत होगा। ब्याज-दर में कमी के कारण स्वर्ण का अन्तर्प्रवाह रुक जाता है और बहिर्प्रवाह को प्रोत्साहन मिलता है। अस्थायी असन्तुलन की स्थिति में ये सब उपाय करना आवश्यक नहीं परन्तु यदि स्वर्ण-प्रवाह मूल्य अथवा आय परिवर्तनों (price and income effects) का परिणाम है, तो केन्द्रीय बैंक उपर्युक्त नियम का उल्लंघन अधिक समय तक नहीं कर सकता।

व्यावहारिक रूप में, स्वर्णमान के अन्तर्गत किसी भी राष्ट्र द्वारा स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपनाने की अधिक सम्भावना नहीं रहती। मुद्रा अधिकारियों तथा केन्द्रीय बैंकों को स्वर्ण-गतियों से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों तथा आन्तरिक प्रवृत्तियों के अनुसार ही अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन लाना होता है। प्रत्येक देश की बैंकिंग नीति अन्य देशों के औसत व्यवहार के समान होती है, इसमें देश का ऐच्छिक एवं स्वतन्त्र योगदान कम होता है।

(2) **स्वतन्त्र विदेशी व्यापार**—स्वतन्त्र व्यापार की नीति का पालन करना स्वर्णमान का दूसरा नियम है। विदेशी व्यापार पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध अथवा रुकावट न होने पर ही स्वर्णमान सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है। संरक्षण (*protection*), आयात-निर्यात नियन्त्रण तथा लाइसेंस इत्यादि की नीति अपनाने से आवश्यक समायोजन नहीं हो पाता। भुगतान-शेष सन्तुलित रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतन्त्र होना चाहिए। देश का भुगतान-शेष प्रतिकूल होने पर स्वर्ण का निर्यात होगा और प्रथम नियम के अनुसार मुद्रा की मात्रा कम होगी जिसके परिणामस्वरूप कीमतें गिरने लगेंगी, आयात कम होगा तथा निर्यात बढ़ जायेगा। इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार की नीति से भुगतान-शेष अपने आप सन्तुलित हो जायेगा।

(3) **लोचदार अर्थ-व्यवस्था**—स्वर्णमान के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि देश की अर्थ-व्यवस्था लचीली (flexible) तथा स्पर्धात्मक (competitive) हो ताकि स्वर्ण-प्रवाहों का प्रभाव तुरन्त ही देश में मुद्रा की मात्रा, वस्तुओं के मूल्यों, मजदूरी-दरों, आय तथा लागत स्तरों पर पड़ सके। स्वर्णमान भली प्रकार कार्य तभी कर पायेगा जब स्वर्ण के निर्यात का प्रभाव मुद्रा-संकुचन (deflation) तथा स्वर्ण के आयात का प्रभाव मुद्रा-स्फीति (inflation) हो। कीमत-स्तरों में आवश्यक परिवर्तन लाना पड़ता है तथा मजदूरी की दरें लचीली रखनी पड़ती हैं। श्रम-संघों के विरोध स्वीकार नहीं किये जा सकते। मान लीजिए, देश में स्वर्ण का आयात हो रहा है परन्तु कीमतों में वृद्धि नहीं होती, तो स्वर्ण का आयात होता ही रहेगा, उसे रोकना कठिन होगा। प्रथम युद्धकाल में स्वर्ण की गतियों द्वारा उत्पन्न होने वाले कीमत-लागत सम्बन्धी परिणामों में बाधाएँ उत्पन्न होने पर ही स्वर्णमान का सुचारु रूप से कार्य करना असम्भव हो गया।

(4) **माँग की मूल्य-सापेक्षता**—देश के आयात-निर्यात की मात्रा पर उनकी माँग की मूल्य-सापेक्षता (price elasticity) का भी काफी प्रभाव पड़ता है। भुगतान-शेष में शीघ्र तथा पर्याप्त सन्तुलन-प्राप्ति के लिए आयातों तथा निर्यातों की माँग अत्यधिक मूल्य-सापेक्ष होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, मूल्यों में थोड़ा-सा ही परिवर्तन होने पर आयातों तथा निर्यातों में पर्याप्त परिवर्तन होना चाहिए। ऐसा होने से सन्तुलन शीघ्र स्थापित होगा।

(5) **सन्तुलित भुगतान-शेष**—स्वर्णमान अपनाने वाले देश की विदेशी भुगतान सम्बन्धी स्थिति में सन्तुलन अथवा लगभग सन्तुलन होना चाहिए जिससे काफी अधिक मात्रा में स्वर्ण-प्रवाह न हो। बड़े पैमाने पर स्वर्ण का आयात-निर्यात अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त, भुगतान-शेष में भारी असन्तुलन रहने पर सम्भव है कि किसी देश को इतना अधिक स्वर्ण देना पड़े कि वह स्वर्णमान को छोड़ने के लिए ही विवश हो जाय।

(6) **विदेशी ऋण**—स्वर्णमान की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी का आवागमन अर्थ-व्यवस्था में अस्तव्यस्तता उत्पन्न न करे। बहुत बड़ी मात्रा में पूंजी का अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह कुछ देशों के लिए परेशानी का कारण बन सकता है। परन्तु आवश्यकतानुसार अल्पकालीन पूँजी-प्रवाह स्वर्णमान के अन्तर्गत सन्तुलन की स्थापना में सहायक होता है और इस पर किसी प्रकार का कृत्रिम नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। स्वर्णमान वाले देशों के लिए ऐसी व्यवस्था होना आवश्यक है कि उन्हें अन्य देशों से अस्थायी ऋण मिलते रहें जिससे वे बिना स्वर्णमान का

त्याग किये अपने भुगतान-शेष के असन्तुलन को ठीक कर सके। अधिक ऋण-भार अच्छा नहीं परन्तु थोड़ी मात्रा में अल्पकालीन विदेशी ऋण कभी-कभी तो नितान्त आवश्यक हो जाता है।

(7) **स्वर्ण कोषों की यथेष्ट मात्रा तथा समान वितरण**—स्वर्णमान अपनाने वाले देश के पास यदि यथेष्ट मात्रा में स्वर्ण-कोष नहीं है, तो वह न तो अपनी मौद्रिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है और न ही भुगतान ठीक से कर सकता है। इन परिस्थितियों में उस देश के लिए स्वर्णमान पर बने रहना कठिन हो जायगा। सभी देशों द्वारा समानता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने तथा आर्थिक प्रगति के मार्ग पर साथ साथ बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि सब देशों में स्वर्ण कोषों के वितरण में अधिक असमानताएँ न हों।

(8) **स्थिर स्वर्ण-समता दरें**—जन-विश्वास प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि स्वर्ण समता-दरें (gold parity rates) स्थिर रहें। इसके लिए देश के मौद्रिक अधिकारी द्वारा असीमित मात्रा में निश्चित कीमत पर स्वर्ण का क्रय विक्रय होते रहना चाहिए ताकि जनता को यह विश्वास हो कि मुद्रा अवमूल्यन (devaluation) का भय नहीं है।

(9) **व्यापक क्षेत्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग**—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता के लिए अधिक से अधिक देशों द्वारा स्वर्णमान अपनाया जाना आवश्यक है। साथ में यह भी आवश्यक है कि स्वर्णमान अपनाने वाले देशों में परस्पर सहयोग हो, ताकि इस मान में स्वचालकता का गुण बना रह सके। अलग-अलग देशों द्वारा आन्तरिक नीतियाँ भी ऐसी अपनायी जायें कि कीमत-स्तरों में अन्तर्राष्ट्रीय समानता स्थापित हो सके। क्राउथर ने लिखा है कि "स्वर्ण नियम कीमत-स्तर की गम्भीरता बनाये रखने की पद्धति नहीं है, अपितु इसके अन्तर्गत इस बात की व्यवस्था रहती है कि प्रत्येक देश का कीमत-स्तर समान रूप से नशे में चूर रहेगा।"[1]

(10) **राजनीतिक स्थिरता**—राजनीतिक अस्थिरता तथा आन्तरिक अशान्ति की परिस्थितियों में जनता में भविष्य के प्रति एक अनिश्चितता की भावना उत्पन्न होती है। परिणामस्वरूप, स्वर्ण देश के बाहर भेजा जाने लगता है। स्वर्ण-कोष कम हो जाने पर किसी भी देश का स्वर्णमान पर टिके रहना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वर्णमान अच्छे समय का साथी है, संकटकाल का नहीं।

उपर्युक्त परिस्थितियाँ अनुकूल होने पर तथा स्वर्णमान के नियमों का पालन करने पर स्वर्णमान सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है। जैसे ही परिस्थितियाँ विपरीत हुई, देशों ने नियमों का उल्लंघन किया जिसके परिणामस्वरूप स्वर्णमान का अन्त हो गया।

स्वर्णमान का पतन

सन् 1900 से 1914 तक का काल स्वर्णमान का स्वर्ण युग (golden period of the gold standard) कहलाता है, क्योंकि स्वर्णमान के विकास की परिस्थितियाँ अनुकूल थीं और प्रथम युद्ध आरम्भ होने तक यह मान यथेष्ट स्थिरता ग्रहण कर चुका था। परन्तु युद्धकालीन परिस्थितियों में स्वर्णमान लड़खड़ा गया तथा थोड़े समय बाद ही इसका परित्याग करना पड़ा। युद्ध सम्बन्धी बढ़ी हुई मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वर्णमान द्वारा न की जा सकी और अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा का निर्गमन करना पड़ा, जिससे घरेलू (domestic) स्वर्णमान का अन्त हुआ। स्वर्ण के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देने से अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान समाप्त हो गया।

युद्धकाल में मुद्रा प्रसार के कारण कीमत स्तर बहुत ऊँचे हो गये थे तथा अर्थ व्यवस्थाएँ अस्त-व्यस्त हो गयी थीं। सुधार के लिए यह आवश्यक समझा जाने लगा कि स्वर्णमान को फिर से अपनाया जाये। परन्तु अब परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। पत्र मुद्रा का इतना अधिक चलन किया जा चुका था कि उसका सकुंचन करना असम्भव था। अनेक देश स्वर्ण की बहुत बड़ी मात्रा खो बैठे थे तथा अमरीका के ऋणी थे। स्वर्ण चलनमान अपनाने का तो अब प्रश्न ही नहीं उठता था। परन्तु युद्धोत्तर-काल में स्वर्ण धातुमान तथा स्वर्ण विनिमय मान के रूप में स्वर्णमान फिर से अपनाया गया।

---

1 Crowther *An Outline of Money*, p 307

सन् 1919 में सर्वप्रथम अमेरिका ने स्वर्णमान पुनः अपनाया। बाद में 30 अन्य देशों ने भी इसे अपना लिया। 1928 में फ्रांस के स्वर्णमान अपनाने पर स्वर्णमान लगभग पूरी तरह पुनः स्थापित हो गया। परन्तु युद्धोत्तर-काल में स्वर्णमान अधिक समय तक कायम न रह सका। इंगलैण्ड ने 21 सितम्बर, 1931 को इसका परित्याग किया। अमेरिका ने 1933 में और फ्रांस ने 1936 में इसे समाप्त कर दिया। अन्य देश जिनकी मुद्राएँ इन देशों से सम्बन्धित थीं, स्वाभाविक रूप से स्वर्णमान से हट गये। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के पूर्व एक-एक करके सभी देशों में स्वर्णमान का अन्त हो चुका था।

पतन के कारण

युद्धोत्तर-काल में पुनःस्थापित स्वर्णमान के पतन का मुख्य कारण तीसे की विश्वव्यापी मन्दी (Great Depression) थी, परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी थे जिनमें से निम्न-लिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं

(1) **नियमों की अवहेलना**—स्वर्णमान के सचालन के लिए इसके नियमों का भक्तिभाव से पालन करना आवश्यक है। देश में स्वतन्त्र व्यापार होना चाहिए, स्वर्ण की गतियों में कोई हस्तक्षेप न हो तथा देश की अर्थ-व्यवस्था लोचपूर्ण हो। युद्धोत्तर स्वर्णमान में इन नियमों की अवहेलना की गयी, और जैसा कि प्रो० बैण्ट ने लिखा है, "स्वर्णमान अब केवल मान्त्रिक महानुभूतियों पर आधारित रह गया था।"

विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। स्वर्णमान के अन्तर्गत व्यापार का सन्तुलन स्वतन्त्र आयात-निर्यात द्वारा होता है। परन्तु युद्धोत्तर-काल में स्वर्णमान वाले देशों ने विदेशी वस्तुओं पर ऊँचे आयात-कर लगा दिये। यहाँ तक कि अमेरिका ने इतने ऊँचे आयात-कर लगा दिये कि अन्य देश ऐसा ही करने के लिए विवश हो गये। यदि एक देश के निर्यात अधिक न हो पायें तो उसे अपने आयात कम करने ही पड़ते हैं। व्यापारिक प्रतिबन्धों के कारण ऋणी देशों को अपने ऋणों का भुगतान स्वर्ण में ही करना पड़ा और उनकी अपनी आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी। इन परिस्थितियों ने स्वर्णमान का सचालन असम्भव बना दिया।

बड़े देशों ने स्वर्ण-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया। 1920 से 1924 तक अमेरिका ने अपना स्वर्ण आयात अस्थायी आयात कहकर देश के बाहर नहीं जाने दिया। 1924 के पश्चात इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने भी इसी नीति को अपनाया।

स्वर्णमान के स्वर्ण नियम का भी पालन नहीं हुआ। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, स्वर्णमान का स्वर्ण नियम (golden rule) यह है कि जब स्वर्ण देश में आ रहा है तो साख तथा मुद्रा का प्रसार करो, और जब स्वर्ण देश से जा रहा है तो सकुचन करो। युद्धोत्तर-काल में जिन देशों के स्वर्ण-कोष बढ़ रहे थे उन्होंने मुद्रा तथा साख का विस्तार इस अनुपात में नहीं होने दिया। 1925 में इंगलैण्ड द्वारा स्टर्लिङ्ग का स्वर्ण में अधिमूल्यन (over-valuation) कर देने पर उसका भुगतान-शेष प्रतिकूल हो गया अर्थात् इंगलैण्ड के आयात बढ़ गये। विदेशी भुगतान करने में इंगलैण्ड का स्वर्ण निरन्तर देश के बाहर जा रहा था, परन्तु मुद्रा-सकुचन नहीं किया गया। फ्रांस द्वारा अपनी मुद्रा फ्रैंक (Franc) का अवमूल्यन (devaluation) करने के कारण उसके निर्यात बढ़े और देश में स्वर्ण आने लगा। परन्तु उसके साथ-साथ मुद्रा-प्रसार नहीं होने दिया गया। देशों की आन्तरिक व्यवस्था में लोच के अभाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सन्तुलन स्थापित करना कठिन हो गया और विवश होकर स्वर्णमान का अन्त करना पड़ा।

(2) **कीमत-स्तर की स्थिरता को विनिमय-दर की स्थिरता से अधिक महत्व देना**—स्वर्णमान के सफल सचालन के लिए विनिमय-दरों में स्थिरता बनाये रखना आवश्यक है, परन्तु युद्धोत्तर-काल में स्वर्णमान वाले देश विनिमय-दर की स्थिरता की अपेक्षा आन्तरिक कीमत-स्तर में स्थिरता को अधिक महत्व देने लगे। कुछ देशों में उत्पादक-संघ (cartels) तथा नियन्त्रण कम्पनियाँ (holding companies) स्थापित हो जाने से एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न हुई तथा मूल्यों में स्पर्द्धा करना कठिन हो गया। इन परिस्थितियों में स्वर्णमान वाले सब देशों में कीमत-स्तरों में समानता लाना असम्भव हो गया। कीमत-स्थिरता की राष्ट्रीय नीतियाँ स्वर्णमान के सफल सचालन में बाधा बन गयीं।

(3) **स्वर्ण का असन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय वितरण**—युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण स्वर्ण-कोषों का अन्तर्राष्ट्रीय वितरण असमान हो गया। एक ओर अमेरिका तथा फ्रान्स के पास बड़ी मात्रा में स्वर्ण इकट्ठा हो गया, जबकि दूसरी ओर जर्मनी तथा पूर्वी यूरोप के देशों के पास स्वर्ण-कोष बहुत कम रह गये। जिन देशों के पास स्वर्ण अधिक था उन्होंने इसके निर्यात पर नियन्त्रण लगा दिये। कुछ देशों के स्वर्ण-कोष निरन्तर बढ़ रहे थे जबकि अन्य कुछ देशों के कोष घटते जा रहे थे। अनेक देशों के लिए स्वर्ण का अभाव स्वर्णमान के पतन का कारण बना।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय ऋण-व्यवस्था में शिथिलता**—प्रथम युद्ध से पूर्व असन्तुलित भुगतान-शेष वाले देश अपनी अर्थ-व्यवस्था सुधारने के लिए अन्य देशों से अल्पकालीन ऋण ले लेते थे। 1927 में अकेले अमेरिका द्वारा दिये गये ऋणों की राशि लगभग 100 करोड़ डालर थी, परन्तु इसके बाद इसमें निरन्तर कमी होने लगी और 1929 में यह केवल 30 करोड़ डालर रह गयी। ऋणों के अभाव में भुगतान शेष सन्तुलित करने के लिए स्वर्ण का निर्यात करना पड़ा जो बहुधा वापस नहीं लौटा, और स्वर्णमान का अन्त हो गया।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान**—प्रथम युद्ध में जर्मनी की पराजय हुई और शान्ति-सन्धि के अनुसार उसे विजेता देशों को युद्ध का हर्जाना (war-reparations) देना पड़ा। यह हर्जाना मुख्यतः अमेरिका तथा फ्रान्स को मिलना था। इन देशों ने हर्जाने की अदायगी स्वर्ण के रूप में मांगी, जिसके लिए जर्मनी को सोने की बहुत बड़ी मात्रा की आवश्यकता थी। मित्र राष्ट्र भी अमेरिका के ऋणी थे। ऊँचे आयात-कर लगाकर अमेरिका ने वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिये। ऋणी देशों को भी ऋण की रकम तथा ब्याज स्वर्ण के रूप में ही अदा करनी पड़ी। संसार का लगभग 80 प्रतिशत सोना अकेले अमेरिका के पास पहुँच गया और जो कुछ अन्य देशों के पास बचा उससे स्वर्णमान नहीं चलाया जा सकता था।

(6) **अल्पकालीन शरणार्थी पूंजी का आतंक**—प्रथम युद्ध के पूर्व अनेक देश लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से अपनी पूँजी विदेशों में लगाते थे। युद्धोत्तर-काल में स्वर्ण खोने वाले देशों ने विदेशी पूँजी पर अनेक प्रतिबन्ध लगाना प्रारम्भ किये। भयग्रस्त विनियोजक अपनी पूँजी अधिक सुरक्षित स्थानों को भेजने लगे। इसी कारण इसे शरणार्थी पूंजी (refugee capital) कहा जाने लगा। इस प्रकार की पूँजी का एक देश से दूसरे देश को आवागमन इतना आकस्मिक तथा तीव्र था कि सर्वत्र आतंक तथा गड़बड़ी का वातावरण बन गया। फ्रांसीसी पूँजीपतियों ने बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी इंगलैण्ड में लगा रखी थी। जब उन्होंने उसे वापस मांगा तो इंगलैण्ड इतना बड़ा भुगतान स्वर्ण में न कर सका और विवश होकर इंगलैण्ड को स्वर्णमान त्यागना पड़ा।

(7) **आर्थिक राष्ट्रवाद का विकास**—प्रथम महायुद्ध के पूर्व प्रत्येक देश में उन्हीं उद्योगों का विकास किया गया था जिनमें उन्हें तुलनात्मक लाभ था, और अन्य आवश्यकताएँ वे स्वतन्त्र व्यापार द्वारा दूसरे देशों में बनी वस्तुओं से पूरी करते थे। युद्धकाल के अनुभवों ने उन्हें आत्म-निर्भरता के लिए प्रेरित किया। नये उद्योग स्थापित हुए और उन्हें संरक्षण देने के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति का परित्याग करना पड़ा। इंगलैण्ड ने साम्राज्य अधिमान (Imperial Preferences) की नीति अपनायी तथा अमेरिका ने तट-कर (tariff duties) असाधारण रूप से बढ़ा दिये। यह प्रवृत्तियाँ स्वर्णमान के नियमों के विरुद्ध थीं और इनसे स्वचालकता का गुण समाप्त हो गया तथा अन्त में स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा।

(8) **राजनीतिक अस्थिरता**—युद्धोत्तर-काल में अनेक देशों में राजनीतिक अस्थिरता, दलगत राजनीति, मजदूर-मालिक संघर्ष आदि के कारण उत्पादन तथा व्यापार में अस्थिरता उत्पन्न हो गयी। लोगों का सरकार तथा सरकार द्वारा अपनायी गयी नीतियों में विश्वास कम हो गया। अस्थिरता के परिणामस्वरूप स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा।

(9) **आन्तरिक कीमतों में लोच का अभाव**—युद्ध समाप्त होने के बाद विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं में लोच का गुण न रहा, जबकि स्वर्णमान केवल लोचपूर्ण व्यवस्था में ही कार्य कर पाता है। एकाधिकार तथा गुटबन्दी के कारण कीमतों में परिवर्तन करना कठिन हो गया था तथा श्रम-संघों (trade-unions) के कारण श्रम-लागतें स्थिर हो चुकी थीं। इंगलैण्ड में मुद्रा के विदेशी

मूल्य की तुलना में कीमत-स्तर ऊँचा था, परन्तु उसे कम न किया जा सका। दूसरी ओर, अमेरिका में अधिक स्वर्ण आयात के कारण कीमतें बढ़नी चाहिए थीं, परन्तु कीमतों में अनुपात से बहुत कम वृद्धि हुई। यह परिस्थितियाँ स्वर्णमान के लिए हानिकर सिद्ध हुईं।

(10) **सभी देशों की पारस्परिक निर्भरता**—स्वर्णमान के अन्तर्गत प्रत्येक देश अन्य देशों से सम्बन्धित होता है। यदि एक देश में मुद्रा-प्रसार अथवा सकुचन की स्थिति हो, तो स्वाभाविक रूप से इसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ता है। इस प्रकार की निर्भरता को अच्छा नहीं समझा जाने लगा और स्वर्णमान का परित्याग कर दिया गया।

(11) **सन् 1929 की महान् मन्दी**—स्वर्णमान को सबसे बड़ा आघात 1929 की महान् मन्दी (Great Depression) से पहुँचा। इसका प्रारम्भ अमेरिका में 'वाल स्ट्रीट सकट' (Wall Street Crisis) से हुआ। 1928 में अमरीकी पूँजीपतियों ने पूँजी का निर्यात बन्द करके उनका प्रयोग वाल स्ट्रीट के सट्टा बाजार में करना शुरू कर दिया। न केवल अमेरिका अपितु यूरोप के पूँजीपतियों की भी पूँजी यहाँ आने लगी। 1929 में वाल स्ट्रीट में सकट उत्पन्न हुआ जो स्वर्णमान के कारण सभी देशों में फैल गया। मुद्रा की कमी के कारण कीमतें गिरीं और वस्तुओं की माँग व पूर्ति में सन्तुलन बिगड़ गया। वाल स्ट्रीट के सटोरियों को बड़ी हानि उठानी पड़ी। अल्पकालीन ऋणों की वसूली आरम्भ होने पर सर्वप्रथम आस्ट्रिया और उसके पश्चात हगरी तथा जर्मनी को विदेशी पूँजी के भुगतान पर न केवल प्रतिबन्ध लगाने पड़े, वरन् स्वर्णमान का भी परित्याग करना पड़ा।

अविश्वास, असहयोग और अव्यवस्था ने अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न किया, स्वर्णमान आर्थिक सकट का सामना न कर सका और अन्तत वह टूट गया। स्वर्णमान का परित्याग करते ही विनिमय-दरों की अनिश्चितता और भी बढ़ गयी। इसके पश्चात, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 1936 में अमेरिका, फ्रांस तथा ब्रिटेन में एक त्रि-पक्षीय समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत स्वर्ण-कोष मान अपनाया गया। परन्तु द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होते ही इसका भी अन्त हो गया।

स्वर्णमान का भविष्य

स्वर्णमान पुराने रूढ़िवादी स्वयचालित रूप में समाप्त हो चुका है और इसके पुन लौटने की सम्भावना भी नहीं है। घरेलू स्वर्णमान के पुन स्थापित होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर ससार के सभी देशों ने पुन एक ऐसी मौद्रिक व्यवस्था अपनाने की इच्छा व्यक्त की जो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर आधारित रहकर विनिमय-दरों में स्थिरता ला सके और साथ ही देशों को आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रखे। इगलैण्ड की ओर से केन्ज योजना (*Keynes Plan*) तथा अमेरिका की ओर से ह्वाइट योजना (White Plan) प्रस्तुत की गयी। 1944 में ब्रेटनवुड्स (अमेरिका) सम्मेलन में 44 देशों के प्रतिनिधियों ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विश्व-बैंक स्थापित करने का निश्चय किया।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा सदस्य देशों के अभ्यश (quota) निश्चित किये गये हैं। प्रत्येक सदस्य देश अपने अभ्यश का 25 प्रतिशत (अथवा कुल स्वर्ण तथा डालर कोष का 10 प्रतिशत—इसमें जो भी कम हो) स्वर्ण में जमा कराता है। सदस्य देशों की मुद्रा की इकाइयों के समभूल्य (par values) स्वर्ण के रूप में निश्चित किये गये हैं। इस प्रकार, "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने स्वर्ण समताओं के साथ अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को एक परिष्कृत रूप में जिसमें आधारभूत असन्तुलन के समय किसी भी मुद्रा को अवमूल्यन की बराबर अनुमति प्राप्त हो सकेगी, पुन स्थापित कर दिया है।"[1] जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कोष द्वारा अपनायी गयी योजना को ही स्वर्ण-समतामान (**Gold Parity Standard**) का नाम दिया जाता है।

---

1 "The International Monetary Fund has reinstated an international gold standard with gold parities, modified by a provision for regularly sanctioning devaluation of any money unit in the event of a fundamental disequilibrium"—R G Hawtrey *Currency and Credit*, p. 211.

इसमें सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की योजना में स्वर्ण का महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जून 1968 में विश्व की सम्पूर्ण तरल सम्पत्ति (liquidity stock) का 53 प्रतिशत भाग स्वर्ण के रूप में ही था। परन्तु स्वर्ण का मौद्रिक महत्व दिन प्रतिदिन कम हो रहा है। 1948 से 1964 के बीच स्वर्ण का मौद्रिक स्टाक केवल 1 4 प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ा है और उसके बाद और भी कम हो गया है। दूसरी ओर गैर मौद्रिक कार्यों के लिए स्वर्ण की माग इतनी बढ़ी है कि मार्च 1968 से अमरिका तथा स्वर्ण पूल (Gold Pool) के अन्य देशों को खुले बाजार में स्वर्ण को बिना रोकने का निश्चय करना पड़ा। कुछ भी हो स्वर्ण का अब वह महत्व नहीं रहा जो स्वर्णमान में था। स्वर्ण को अब केवल एक सेवक का स्थान प्राप्त है और वह भी ऐसा सेवक जिसका महत्व घटता जा रहा है, जबकि स्वर्णमान में स्वर्ण को एक तानाशाह (dictator) का स्थान प्राप्त था।[1]

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 स्वर्णमान क्या है ? अन्य मानों की अपेक्षा यह किस प्रकार उत्तम है ?

[संकेत प्रथम भाग में स्वर्णमान की परिभाषा दीजिए तथा मुख्य विशेषताओं का विवेचना कीजिए। दूसरे भाग में स्वर्णमान के अन्य मुद्रा मानों से तुलनात्मक गुण तथा दोषों की व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि स्वर्णमान का अच्छा चलन केवल अनुकूल परिस्थितियों में ही प्राप्त होता है।]

2 स्वर्णमान के विभिन्न रूपों का विवेचन कीजिए तथा उनके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।

[संकेत स्वर्णमान के चारों भेदों की विशेषताएँ, गुण तथा दोष विस्तारपूर्वक बताइए।]

3 स्वर्ण-चलनमान तथा स्वर्ण-धातुमान में क्या अन्तर है ? स्वर्ण-चलनमान का क्यों परित्याग करना पड़ा ?

[संकेत दोनों प्रणालियों की विशेषताओं के आधार पर अन्तर स्पष्ट कीजिए और स्वर्ण-चलनमान के दोष विस्तारपूर्वक समझाने के पश्चात स्वर्ण-धातुमान की तुलनात्मक श्रेष्ठता का उल्लेख कीजिए।]

4 स्वर्ण विनिमय मान की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए तथा इसके सापेक्ष गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।

[संकेत स्वर्ण विनिमय मान की विशेषताएँ बताने के बाद स्वर्णमान के अन्य रूपों की तुलना में इसके गुण तथा दोष समझाइए।]

5 घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान से क्या अभिप्राय है ? अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के गुण तथा दोष बताइए।

[संकेत स्वर्णमान के कार्यों के आधार पर घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का भेद स्पष्ट कीजिए, दोनों की विशेषताएँ बताइए तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के गुण-दोषों का विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए।]

6 स्वर्णमान के नियम क्या हैं ? इन नियमों की किस प्रकार अवहेलना करने से स्वर्णमान का पतन हुआ ?

[संकेत प्रथम भाग में स्वर्णमान के तीन नियम—स्वर्ण नियम (अर्थात् लोचपूर्ण अर्थ-व्यवस्था) स्वतन्त्र व्यापार तथा मुक्त स्वर्ण प्रवाह—स्पष्ट रूप से समझाइए। दूसरे भाग में 1931 के पूर्व स्वर्णमान वाले देशों द्वारा इन नियमों का किस प्रकार उल्लंघन हुआ और उनके क्या प्रभाव हुए विस्तारपूर्वक स्पष्ट कीजिए।]

7 स्वर्णमान की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें क्या हैं ? वर्तमान युग में क्या उन्हें पूरा किया जा सकता है ?

[संकेत स्वर्णमान की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें बताने के बाद यह स्पष्ट रूप से बताइए कि वर्तमान युग की परिस्थितियों में स्वर्णमान अपने वास्तविक रूप में नहीं अपनाया जा सकता।]

8 स्वर्णमान के पतन के क्या कारण थे ? क्या वर्तमान युग में स्वर्णमान किसी रूप में प्रचलित है ?

[संकेत स्वर्णमान के पतन के कारण बताने के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना तथा स्वर्ण-समता मान की मुख्य विशेषताओं का विवरण दीजिए।]

---

1 For detailed discussion see chapter 27

6

पत्र-मुद्रामान
[PAPER MONEY STANDARD]

"पत्र-चलन के प्रबन्ध और नियन्त्रण में छोटी-सी भूलें भी विनाशकारी प्रभाव दिखाती हैं जिनकी कल्पना अन्य मुद्रामानों में नहीं की जा सकती है।"[1]
—किनले

पत्र-मुद्रामान जिसे 'प्रबन्धित चलन-मान' (Managed Currency Standard) भी कहते हैं, वह मुद्रा-प्रणाली है जिसके अन्तर्गत देश की प्रमुख मुद्रा कागजी नोटों के रूप में होती है। कुछ निकृष्ट धातुओं के सिक्के भी चलन में होते है, परन्तु उनका प्रयोग सांकेतिक मुद्रा के रूप में किया जाता है और वे प्राय सीमित विधिग्राह्य होते हैं। पत्र-मुद्रा का मूल्यवान धातुओं—स्वर्ण अथवा रजत—से कोई सम्बन्ध नहीं होता। कुछ अर्थशास्त्री इसे प्रादिष्ट मान (Fiat Standard) भी कहते हैं।

पत्र-मुद्रा के चलन का सबसे पहला उल्लेख चीन के इतिहास में मिलता है जहाँ 790 ई० में सग सरकार द्वारा यह प्रचलित की गयी थी। तुलनात्मक रूप से, यूरोप में पत्र-मुद्रा का चलन बाद में हुआ। समय-समय पर अनेक देशों में प्रतिनिधि तथा परिवर्तनीय मुद्रा के रूप में पत्र-मुद्रा का प्रयोग किया गया। कुछ असाधारण परिस्थितियों में कुछ देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा भी निर्गमित हुई, जैसे—फ्रान्सीसी क्रान्ति के समय एसाइनेट्स (Assignets) तथा अमरीकी गृह-युद्ध के समय में ग्रीनबैक्स (Greenbacks)। परन्तु प्रधान मुद्रा के रूप में सभी देशों में पत्र-मुद्रा का प्रयोग प्रथम महायुद्ध के समय से आरम्भ हुआ। दोनों महायुद्धों, विश्वव्यापी मन्दी तथा स्वर्णमान के पतन से पत्र-मुद्रा को विशेष प्रोत्साहन मिला और आज संसार के सभी देशों में प्रबन्धित चलनमान के रूप में पत्र-मुद्रा चलन में है।

पत्र-मुद्रामान की प्रमुख विशेषताएँ

1 पत्र-मुद्रा देश की प्रमुख मुद्रा होती है और असीमित विधिग्राह्य है। कुछ धात्विक सिक्के भी चलन में होते हैं, परन्तु उनका प्रयोग प्राय छोटे भुगतानों के लिए किया जाता है, और वे सहायक मुद्रा के नाते बहुधा सीमित विधिग्राह्य होते हैं।

2 पत्र-मुद्रा का किसी भी मूल्यवान धातु से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह अपरिवर्तनशील होती है इसलिए इसके पीछे धात्विक कोष रखने की आवश्यकता नहीं होती। पत्र-मुद्रा का मूल्य स्वतन्त्र रूप से निश्चित होता है।

3 मुद्रा की पूर्ति को माँग के अनुसार नियमित करना सरकार अथवा मुद्रा अधिकारी (प्राय. देश के केन्द्रीय बैंक) का कार्य होता है। प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य कीमत तथा आय-स्तरों में स्थिरता लाना होता है।

1 "Even the minor lapses in the management and control of paper currency may bring disastrous effects that can not be conceived of under any other form of monetary standard"—Kinley, *Money*, p. 35

4 विदेशी भुगतानों के लिए **स्वर्ण-कोषों अथवा विदेशी विनिमय** की आवश्यकता होती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के बाद सदस्य देशों को विदेशी भुगतानों के लिए व्यक्तिगत कोष रखने की आवश्यकता नहीं रहती। विदेशी विनिमय-दर का निर्धारण कोष को सूचित की हुई समता-दरों के आधार पर होता है।

पत्र-मुद्रामान के गुण

पत्र-मुद्रामान में अनेक गुण हैं, जिनमें से निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं

(1) मुद्रा-प्रणाली में **लोच का गुण** होना आवश्यक होता है। स्वर्णमान में मौद्रिक आवश्यकताओं में परिवर्तन के साथ-साथ मुद्रा की मात्रा को घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता था, परन्तु पत्र-मुद्रा के अन्तर्गत स्थिरता एवं विकास में सम्बन्धित उपर्युक्त मौद्रिक परिवर्तन सुविधापूर्वक किये जा सकते हैं। केन्ज ने प्रबन्धित चलनमान का समर्थन इसकी लोच के कारण ही किया था।

(2) पत्र-मुद्रामान **अत्यन्त मितव्ययी** प्रणाली है। सिक्कों की ढलाई आदि पर व्यय नहीं करना पड़ता। धात्विक कोषों की भी आवश्यकता नहीं होती, इसलिए निर्धन देश भी इसे अपना सकते हैं। बहुमूल्य धातुओं का प्रयोग विदेशी भुगतान अथवा औद्योगिक कार्यों के लिए किया जा सकता है। एडम स्मिथ ने बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है "पत्र-मुद्रा आकाश-मार्ग के समान है, उसके नीचे की भूमि भी प्रयोग में आ सकती है और उस पर अन्न आदि का उत्पादन कर मानव की अन्य आवश्यकताएँ पूरी की जा सकती हैं।"

(3) मुद्रा की पूर्ति को माँग के साथ सन्तुलित करके पत्र-मुद्रामान के अन्तर्गत **आन्तरिक कीमत-स्तर में स्थिरता** बनाये रखना सम्भव होता है। इससे आर्थिक विकास तथा व्यावसायिक स्थिरता को प्रोत्साहन मिलता है।

(4) पत्र-मुद्रामान अपनाने से **स्वर्ण-प्रवाहों के प्रभावों से मुक्ति** मिल जाती है। देश की आन्तरिक अर्थ व्यवस्था को बाहरी अस्थिरता के प्रभावों से बचाया जा सकता है। अब यह आवश्यक नहीं रहा कि एक देश में मन्दी अन्य देशों में वैसी ही स्थिति उत्पन्न कर दे।

(5) देशों में **उत्पादन के साधनों का पूर्ण उपयोग** सम्भव होता है। स्वर्णमान की प्रवृत्ति प्रायः मुद्रा-सकुचन की ओर होती है। पत्र-मुद्रामान के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपनी मुद्रा नीति का निर्धारण इस प्रकार करता है कि विकास सम्बन्धी मौद्रिक आवश्यकताओं को पूर्ण रूप से पूरा किया जा सके और उत्पादन के सभी साधनों का उपयोग सम्भव हो सके।

(6) पत्र मुद्रामान **सकटकाल का मित्र है**। किसी भी सकटकालीन स्थिति में जब सरकार को अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है उस समय पत्र-मुद्रामान सबसे अच्छा साथी सिद्ध होता है। केन्ज के शब्दों में, "सरकार पत्र-मुद्रा द्वारा उस कठिन समय में जीवित रह सकती है जब अन्य किसी साधन द्वारा जीवित रहना कठिन होता है। यह एक इस प्रकार का कर है जिससे बचना जनता के लिए अत्यधिक कठिन होता है तथा जिसको सबसे अधिक कमजोर सरकार भी, जो अन्य किसी कर को लागू करने में असमर्थ होती है, लागू कर सकती है।"[1]

पत्र-मुद्रामान के दोष

पत्र-मुद्रामान में उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ निम्नलिखित गम्भीर दोष भी हैं

(1) **आवश्यकता से अधिक मात्रा में पत्र-मुद्रा का प्रचलन** करके कोई भी विवेकहीन सरकार अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर सकती है। संसार में अति-स्फीति (hyper-inflation) का सम्बन्ध पत्र-मुद्रा के अत्यधिक निर्गमन से ही रहा है। पत्र-मुद्रा का प्रयोग करने वाले देशों में मुद्रा-स्फीति का भय निरन्तर बना रहता है।

(2) **आन्तरिक कीमतों में अनावश्यक उतार-चढ़ाव** होते रहते हैं जिनके लिए मुख्य रूप से मौद्रिक कारण ही उत्तरदायी होते हैं। पिछले कुछ वर्षों से भारत में निरन्तर बढ़ती हुई कीमतों का मुख्य कारण मुद्रा-प्रसार बताया जाता है।

1 Keynes . *A Tract on Monetary Reform*, (1923), p. 41

(3) **पत्र-मुद्रामान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय-दर की अस्थिरता** को प्रोत्साहन मिलता है। देश के आन्तरिक कीमत-स्तर दूसरे देशों के कीमत-स्तर की तुलना में अधिक घटने-बढ़ने पर तो विनिमय-दर में स्थिरता बनाये रखना बहुत कठिन हो जाता है। क्राउथर के शब्दों में, "सन् 1931 के बाद का प्रबन्धित चलनमान स्वर्णमान की भाँति ही नितान्त असफल रहा है। निस्सन्देह राष्ट्रों को अपनी इच्छित आन्तरिक नीतियाँ चुनने की स्वतन्त्रता थी, परन्तु निर्यात उद्योगों में जो सैकड़ों हजारों बेरोजगार हुए वे इस बात के खामोश गवाह हैं कि विशुद्ध आन्तरिक नीति चाहे कितनी ही सफलतापूर्वक कार्यान्वित की जाये, सीमा-युक्त ही होती है। अस्थिर विनिमय-दरों ने राष्ट्रों के भुगतान-सन्तुलन की विषमता को दूर नहीं किया है, जिससे विदेशी व्यापार पर अब भी अकुश लगाने पड़ते हैं।"[1]

(4) **स्वयं-चालकता के अभाव** के कारण पत्र-मुद्रा का प्रबन्ध बहुत ही सावधानी से करना पड़ता है। किनले ने ठीक ही कहा है, "पत्र-चलन के प्रबन्ध और नियन्त्रण में थोड़ी-सी भूल विनाशकारी प्रभाव दिखाती है जिसकी कल्पना अन्य मुद्रामानों में नहीं की जा सकती है।"[2]

(5) **पत्र-मुद्रा में जनता का विश्वास कम होता है।** चैपमैन के शब्दों में, "एक अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा को लोग शका की दृष्टि से देखते हैं। लोगों को यह डर होता है कि कहीं इसका अत्यधिक निर्गमन न कर दिया जाये। जो सरकारें प्रत्यक्ष रूप से अधिक कर लगाकर जनता की लोकप्रियता नहीं खोना चाहती है, वे अप्रत्यक्ष रूप से अधिक नोट निकाल कर उस पर कर लगाती हैं। छापेखाने द्वारा प्रसाधन बहुत शीघ्रता से प्राप्त किये जा सकते हैं। जैसे-जैसे अधिक परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा एक निश्चित मात्रा से ऊपर निकाली जाती है वैसे-वैसे उसका मूल्य गिरता जाता है, तथा चलन में जनता का विश्वास भी उत्तरोत्तर कम होता जाता है।"[3]

उपर्युक्त तथ्यों का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पत्र-मुद्रा में बताये गये दोष वास्तव में पत्र-मुद्रा के नहीं हैं, बल्कि यह दोष मुद्रा-अधिकारी की लापरवाही, अदूरदर्शिता तथा अज्ञानता का परिणाम होते हैं। समस्त दोष पत्र-मुद्रा की मात्रा पर कुशल नियन्त्रण द्वारा दूर हो सकते हैं। आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था का यथोचित विकास करने के लिए पत्र-मुद्रामान सबसे अच्छी प्रणाली है, परन्तु इसे नियन्त्रण में रखना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान और आर्थिक सहयोग के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक ने अनुकूल वातावरण तैयार करने में सक्रिय सहयोग प्रदान किया है।

वास्तव में, स्वर्ण-चलनमान के अन्तर्गत विनिमय-दर स्थिर रहना और पत्र-मुद्रामान के अन्तर्गत परिवर्तनशील रहना, दोनों ही दोषपूर्ण हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की योजनाओं के अन्तर्गत दोनों का उचित समन्वय हुआ है। विनिमय-दरों की स्थिरता के लिए सदस्य देशों की मुद्राओं का सम-मूल्य स्वर्ण के रूप में प्रकट किया गया है, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर विनिमय-दर में भी परिवर्तन किया जा सकता है।

नोट-निर्गमन के सिद्धान्त १५७५ -

नोट-निर्गमन के दो मुख्य सिद्धान्त हैं—(1) करेन्सी अथवा चलन सिद्धान्त (Currency Principle), तथा (2) बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle)। इन दोनों सिद्धान्तों का सम्बन्ध इंगलैण्ड में 19वीं शताब्दी के उन दो सम्प्रदायों से है जो करेन्सी सम्प्रदाय (Currency School) तथा बैंकिंग सम्प्रदाय (Banking School) के नाम से प्रसिद्ध हैं।

करेन्सी अथवा चलन सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार नोट वास्तविक मुद्रा है, 'साख-पत्र' अथवा मुद्रा का स्थानापन्न नहीं। नोट का निर्गमन-उद्देश्य केवल धातु को घिसने से बचाना है, इसलिए नोट कोष में रखी धातु का प्रतिनिधित्व करते हैं अथवा उसके प्रमाण-पत्र (certificates) हैं। पत्र-मुद्रा में परिवर्तनशीलता हो

1 Crowther. *An Outline of Money*, p. 245.
2 Kinley: *Money*, p. 351.
3 Chapman. *An Outline of Political Economy*, p. 245

तथा उसके सचालन के पीछे शत-प्रतिशत धात्विक कोष रखा जाये। इस सिद्धान्त मे सुरक्षा पर अत्यधिक जोर होने के कारण इसे 'सुरक्षा सिद्धान्त' (Security Principle) भी कहते हैं।

चलन सिद्धान्त के अनेक गुण हैं—(1) चलन के पीछे शत-प्रतिशत कोष रखे होने के कारण सुरक्षा प्राप्त होती है और मुद्रा अधिकारी अपनी मनमानी नही कर पाता। (2) इसमे जनता का पूर्ण विश्वास होता है। (3) धातु की घिसावट से होने वाली हानि की बचत होती है, जबकि धात्विक मुद्रा के सभी लाभ प्राप्त होते रहते है।

व्यावहारिक रूप मे दोष ये हैं—(1) लोच का अभाव होता है। जब तक कोष की मात्रा न बढे, चलन की मात्रा भी नही बढायी जा सकती, भले ही देश की मौद्रिक आवश्यकताएँ कितनी ही अधिक क्यो न हो। (2) मितव्ययता का भी अभाव होता है, क्योंकि चलन के पीछे धात्विक कोषो के रूप मे मूल्यवान धातु बेकार रखी रहती है। (3) निर्धन देशो के लिए, विकासशील देशो के लिए तथा ऐसे देशो के लिए जिनके पास सोना अथवा चाँदी कम हो, यह सिद्धान्त अव्यावहारिक है।

बैंकिंग सिद्धान्त

इस सिद्धान्त द्वारा मुद्रा-प्रणाली मे लोच की अनिवार्यता को अधिक महत्व देने के कारण इसे 'लोच सिद्धान्त' (Elasticity Principle) भी कहते है। इस सिद्धान्त के अनुसार कुल मुद्रा-मात्रा के मूल्य का शत-प्रतिशत धात्विक कोष रखना आवश्यक नही है। परिवर्तनशीलता थोडे कोष से भी बनाये रखी जा सकती है। नोट-निर्गमन का कार्य प्राय. एक बैंक (जो देश का केन्द्रीय बैंक होता है) को सौंप दिया जाता है जो मुद्रा की माँग के आधार पर पत्र-मुद्रा का निर्गमन तथा नियमन करता है। आजकल इस सिद्धान्त के अनुसार ससार के सभी देशो मे पत्र मुद्रा का निर्गमन होता है। बैंकिंग सिद्धान्त मे दो महत्वपूर्ण गुण हैं (1) लोच, तथा (2) मूल्यवान धातुओ की दोहरी बचत। इसके दोष ये है (1) सुरक्षा के अभाव के कारण मुद्रा-प्रसार का भय बना रहता है, तथा (2) जनता का विश्वास कम होता है।

निष्कर्ष—पत्र-मुद्रा के निर्गमन के दोनो सिद्धान्तो के गुण तथा दोष देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ चलन सिद्धान्त सम्भवत सैद्धान्तिक दृष्टि से अच्छा है वहाँ बैंकिंग सिद्धान्त म व्यावहारिकता का गुण है। सुरक्षा का गुण होना आवश्यक है, परन्तु इसके साथ-साथ मुद्रा-प्रणाली मे लोच का गुण होना भी उतना ही आवश्यक है। चूँकि वर्तमान परिस्थितियो मे मुद्रा के चलन के पीछे शत-प्रतिशत धात्विक कोष रखना सम्भव नही है, इसलिए व्यावहारिक रूप मे केवल बैंकिंग सिद्धान्त ही अपनाया जा सकता है। उचित नियन्त्रण द्वारा इसमे लोच के साथ साथ पर्याप्त सुरक्षा भी प्राप्त हो जाती है। यही कारण है कि आज के विश्व मे लगभग सभी देशो द्वारा पत्र मुद्रा का निर्गमन बैंकिंग सिद्धान्त के आधार पर किया जा रहा है।

पत्र-मुद्रा का निर्गमन कौन करे ?

पत्र-मुद्रा के निर्गमन का अधिकार किसे हो ? यह एक बडा विवादपूर्ण विषय रहा है। इस सम्बन्ध मे एक प्रश्न तो यह है कि यह अधिकार सरकार को हो अथवा बैंक को ? दूसरा, यदि यह अधिकार बैंक को दिया जाय तो सभी बैंको को दिया जाय अथवा देश के केन्द्रीय बैंक को दिया जाय ? इन प्रश्नो को लेकर पत्र-मुद्रा के प्रारम्भिक काल मे काफी मतभेद रहे हैं, परन्तु अनुभव के आधार पर अब सभी अर्थशास्त्री एकमत है कि चाहे निर्गमन कोई भी करे किन्तु उस पर सरकारी नियन्त्रण रहना आवश्यक है।

सरकार द्वारा नोट-निर्गमन

सरकार द्वारा पत्र-मुद्रा के निर्गमन के पक्ष मे कहा जाता है कि—

1 सरकार द्वारा पत्र मुद्रा चलन मे अधिक सुरक्षा रहती है, क्योंकि सम्पूर्ण देश के हितो को सामने रखा जाता है।

2 सरकार पर लोगो का विश्वास होने के कारण सरकार द्वारा जारी किये गये नोटो मे भी लोगो का विश्वास होता है।

3 सरकारी नोटों के पीछे किसी धात्विक आड की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि सरकारी नोटों के लिए सम्पूर्ण राष्ट्रीय सम्पत्ति की आड होती है।

4 मुद्रा-प्रणाली का कुशलतापूर्वक प्रबन्ध सरकार द्वारा ही सम्भव होता है, क्योंकि वह कानून बनाने और उनको लागू करने की शक्ति रखती है। सरकार को अधिक विश्वसनीय जानकारी, आँकडे तथा विशेषज्ञों की सलाह उपलब्ध होती है।

5 मुद्रा निर्माण का कार्य सदैव सरकार द्वारा किया गया है, इसलिए पत्र-मुद्रा का चलन भी सरकार द्वारा ही किया जाय।

6 यदि बैंक पत्र-मुद्रा का निर्गमन करें तो सरकार को उसमें हस्तक्षेप करना पडता है, अतएव अच्छा यही है कि स्वयं सरकार ही नोटों का निर्गमन करे।

बैंक द्वारा नोट-निर्गमन

बैंकों द्वारा निर्गमन के पक्ष में (अथवा सरकार द्वारा निर्गमन के विरुद्ध) प्राय निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं

1 बैंकों का व्यापार तथा उद्योगों से निकट सम्पर्क उन्हें मौद्रिक आवश्यकताओं में होने वाले परिवर्तन जानने में सहायक होता है, जबकि सरकार द्वारा अनुमान लगा सकना सहज नहीं होता। बैंकों द्वारा नोट-निर्गमन अधिक लोचपूर्ण होता है तथा माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करता है।

2 सरकारी कार्यों में विलम्ब होता है, जबकि बैंक सुव्यवस्थित रूप से शीघ्र कार्य कर सकते हैं। मौद्रिक प्रणाली में कुशलतापूर्वक उचित परिवर्तन करने के लिए बैंक द्वारा मुद्रा-प्रणाली का सचालन श्रेष्ठ होता है।

3 बैंकों की मौद्रिक नीति राजनीति के प्रभावों से मुक्त रहकर केवल आर्थिक विचारों पर आधारित होती है। लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए कोई भी सरकार करों को कम करके उनकी क्षतिपूर्ति पत्र-मुद्रा के निर्गमन से कर सकती है। परन्तु बैंक केवल आर्थिक आवश्यकताओं का ही ध्यान रखता है।

4 एक अच्छा राजनीतिज्ञ कुशल बैंकर नहीं होता, इसलिए पत्र-मुद्रा के निर्गमन का कार्य राजनीतिज्ञों के हाथ में रखना ठीक नहीं होता।

5 नोट निर्गमन सम्बन्धी बैंकिंग सिद्धान्तों का पालन बैंक अच्छी तरह से कर सकता है, जबकि सरकार इसकी उपेक्षा भी कर सकती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नोट-निर्गमन के लिए बैंक अधिक उपयुक्त **संस्था है।** लोच, कुशलता, सुरक्षा, सन्तुलन, मुद्रा-प्रसार पर नियन्त्रण आदि की दृष्टि से बैंक अधिक प्रभावपूर्ण होते हैं। जहाँ तक जनता के विश्वास का प्रश्न है, सरकार की अपेक्षा बैंक में जनता का विश्वास कम नहीं होता। बैंकों द्वारा नोट-निर्गमन के यदि कुछ दोष हैं तो उन्हें दूर करने के लिए सरकार उचित नियम बना सकती है। सरकारी नियन्त्रण द्वारा सरकार की आर्थिक नीति तथा बैंक की मौद्रिक नीति में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। ससार के सभी देशों में मुद्रा-सचालन का कार्य केन्द्रीय बैंक को सौंपा जाता है, क्योंकि यह एक ओर तो प्राय सरकारी बैंक होता है, दूसरी ओर देश का सर्वोच्च बैंक होने के नाते सभी बैंकिंग सस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है।

एक अथवा अनेक बैंकों द्वारा नोट-निर्गमन

यह स्वीकार कर लेने पर कि बैंक द्वारा नोट-निर्गमन होना अधिक अच्छा है, एक प्रश्न और उठता है कि यह कार्य केवल एक बैंक का एकाधिकार हो अथवा अनेक बैंकों द्वारा किया जाय? दूसरे शब्दों में, एकाकी नोट-निर्गमन प्रणाली (Single Note Issue System) अपनायी जाये अथवा बहुल नोट निर्गमन प्रणाली (Multiple Note Issue System)? प्रारम्भ में अधिकांश देशों में नोट निर्गमन का अधिकार अनेक बैंकों को था। परन्तु अनुभव किया गया कि इनमें अनेक बुराइयाँ थीं। ससार भर में सामान्य प्रवृत्ति केन्द्रीय बैंक को नोट-निर्गमन का एकाधिकार देने की है, और इसे ही अच्छा समझा जाता है।

बहुल नोट-निर्गमन प्रणाली के दोष—अनेक बैंको द्वारा नोट-निर्गमन करने मे निम्नलिखित दोष पाये जाते है

(1) नोटो मे एकरूपता नही रहती तथा मुद्रा मे परिचयता का गुण समाप्त हो जाता है।

(2) बैंको मे परस्पर प्रतिस्पर्धा होने से सामान्य हितो की अवहेलना हो सकती है।

(3) प्रत्येक बैंक का कार्य, ढग तथा नीतियाँ अलग-अलग होती है।

(4) अलग-अलग बैंको पर सरकार द्वारा प्रभावपूर्ण निरीक्षण सुविधापूर्वक नही हो पाता।

(5) प्रत्येक नोट-निर्गमन करने वाले बैंक को कुछ धात्विक कोष रखना पडता है। अनेक कोष होने पर बहुत अधिक मात्रा मे धातुएँ कोषो मे निष्क्रिय पडी रहती हैं। सकट-काल मे इन कोषो को एक साथ प्रयोग कर सकने मे भी कठिनाई होती है।

एकाकी नोट-निर्गमन प्रणाली के लाभ—जहाँ अनेक बैंको द्वारा नोट-निर्गमन मे अनेक दोष है वहाँ एक ही बैंक का एकाधिकार होने मे अनेक अच्छाइयाँ हैं, जैसे—

(1) पत्र मुद्रा मे एकरूपता होती है जिससे उसके खरे-खोटे की पहचान करने मे सुविधा होती है।

(2) मुद्रा की माग तथा पूर्ति के बीच सन्तुलन बनाये रखने मे सुविधा होती है।

(3) धातु-कोष म मितव्ययता होती है, क्योकि यह एक ही बैंक मे केन्द्रित रहता है तथा सकट के समय सुविधापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

(4) सरकार को निरीक्षण तथा नियन्त्रण रखने म सुविधा होती है।

(5) बैंक की प्रतिष्ठा अधिक होने के कारण उसमे जनता का विश्वास अधिक होता है।

(6) पारस्परिक प्रतियोगिता के अभाव के कारण जन-हित सुरक्षित रहते हैं।

इस प्रकार अनेक बैंको की अपेक्षा नोट-निर्गमन पर **एक ही बैंक का अधिकार होना अधिक उपयुक्त है और यह अधिकार देश के केन्द्रीय बैंक को ही दिया जाना चाहिए।**

नोट-निर्गमन की पद्धतियाँ

पत्र मुद्रा निर्गमन की मुख्य सात पद्धतियाँ है, जिनका वर्णन नीचे किया गया है.

1 निश्चित विश्वासाश्रित निर्गमन पद्धति (Fixed Fiduciary System)

इस पद्धति के अन्तर्गत मुद्रा अधिकारी एक निश्चित सीमा तक, बिना किसी प्रकार का धातुकोष रखे, केवल सरकारी प्रतिभूतियो के आधार पर पत्र-मुद्रा निर्गमन का अधिकार रखता है। देश की मौद्रिक आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए यह सीमा काफी सोच-विचार कर निर्धारित की जाती है, परन्तु बाद मे विधान मे सशोधन करके आवश्यकतानुसार घटाई बढाई भी जा सकती है। चूँकि यह सीमा विश्वास पर आश्रित होती है और निश्चित होती है, इसीलिए इसे निश्चित विश्वासाश्रित चलन पद्धति कहते है। इस सीमा से अधिक नोट जारी करने के लिए शत-प्रतिशत धात्विक कोष की आड रखना आवश्यक होता है।

1844 ई० मे इगलैण्ड मे बैंक अधिनियम, जो पील एक्ट (Peel Act) के नाम से प्रसिद्ध है, के अन्तर्गत इस प्रणाली को अपनाया गया था। समय-समय पर विश्वासाश्रित सीमा मे परिवर्तन होते रहे। जापान तथा नार्वे मे भी इस प्रणाली को अपनाया गया था। भारत मे यह प्रणाली 1861 से 1920 तक प्रचलित रही।

इस प्रणाली मे **गुण** ये हैं (1) इस प्रणाली मे **सुरक्षा** का गुण पाया जाता है क्योंकि बिना कोष रखे नोट एक निश्चित सीमा तक ही जारी किये जा सकते हैं और इसके बाद 100% कोष रखना पडता है। (2) पत्र-मुद्रा के अति-निर्गमन (over-issue) का भय नही होता। (3) इसमे जनता का विश्वास रहता है।

इस प्रणाली के उल्लेखनीय **दोष** ये हैं (1) इसमे लोच का अभाव होता है। (2) इसमे सुविधा का अभाव होता है। कोष कम होते ही मुद्रा की मात्रा भी कम करनी पडेगी, भले ही

मुद्रा की माँग अधिक हो। (3) यह प्रणाली अपव्ययी है, क्योंकि अनावश्यक रूप में कोष रखने पड़ते हैं। (4) मुद्रा की आवश्यकता स्वर्ण की मात्रा से अधिक होने पर मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती तथा व्यापारिक विकास में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं।

2. अधिकतम विश्वासाश्रित निर्गमन पद्धति (Maximum Fiduciary System)

इस प्रणाली में कानून द्वारा पत्र-मुद्रा निर्गमन की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी जाती है। इस सीमा तक चलन के पीछे धातु-कोष रखना या न रखना मुद्रा अधिकारी द्वारा ही निश्चित किया जाता है। निर्धारित सीमा से अधिक नोट शत-प्रतिशत धातु-कोष के आधार पर भी नहीं छाप जा सकते। वैसे विधान द्वारा सीमा में परिवर्तन सम्भव होता है। प्राय यह सीमा देश की सामान्य मौद्रिक आवश्यकताओं से कुछ अधिक ही रखी जाती है। 1928 तक यह प्रणाली फ्रांस में प्रचलित थी, और समय-समय पर निर्धारित सीमा में परिवर्तन होते रहे। इंग्लैण्ड में भी मैक-मिलन समिति ने यह प्रणाली अपनाने की सिफारिश की थी।

इस प्रणाली में मुख्य गुण ये हैं (1) इसमें मितव्ययता होती है, क्योंकि धातु-कोष बेकार नहीं रखना पड़ता। (2) इसमें लोच का गुण भी होता है, क्योंकि अधिकतम सीमा आवश्यकता-नुसार बदलती रहती है।

इस प्रणाली के दोष ये बताये जाते हैं (1) सरकार अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर सकती है। अधिकतम सीमा को इतना बढ़ाया जा सकता है कि मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाय। (2) यह एक रूढ़िवादी पद्धति है जिसमें लोच की अपेक्षा सुरक्षा पर अधिक बल दिया जाता है। (3) बार-बार अधिकतम सीमा में परिवर्तन न करने पर बढ़ती हुई व्यापारिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पाती।

3 आनुपातिक निधि पद्धति (Proportional Reserve System)

यह पद्धति नोट-निर्गमन के बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अन्तर्गत कानून द्वारा यह निश्चित कर दिया जाता है कि पत्र-मुद्रा निर्गमन के पीछे कितने प्रतिशत कोष रखा जायेगा। शेष भाग अधिकृत प्रतिभूतियों के रूप में रखा जाता है। यदि 40% धातु-कोष रखना आवश्यक है, तो 100 रुपये के नोट छापने के लिए 40 रुपये के मूल्य की धातु अथवा सिक्के और 60 रुपये की अधिकृत प्रतिभूतियाँ कोष में रखी जायेंगी। प्रथम महायुद्ध के पश्चात यह प्रणाली अनेक देशों द्वारा अपनायी गयी। 1927 में भारत में हिल्टन-यंग कमीशन की सिफारिश पर इस प्रणाली को अपनाया गया था, परन्तु 1957 में इसको त्यागकर न्यूनतम निधि प्रणाली को अपना लिया गया। इस प्रणाली के गुण-दोष निम्नलिखित हैं

गुण—(1) थोड़े से धातु-कोष के आधार पर बड़ी मात्रा में नोट जारी किये जा सकते हैं, इसलिए इस प्रणाली में लोच तथा मितव्ययता के गुण हैं। (2) परिवर्तनशीलता को बनाये रखना सम्भव हो सकता है, क्योंकि मुद्रा अधिकारी के पास एक निश्चित अनुपात में धातु-कोष रखा रहता है। (3) मुद्रा-प्रसार पर रोक रहती है।

दोष—(1) धातु अनावश्यक रूप से कोष में रखी रहती है। (2) कोष में कमी हो जाने पर मुद्रा-संकुचन करना बहुत कठिन होता है। (3) परिवर्तनशीलता व्यावहारिक नहीं होती, क्योंकि कोष कम होने पर चलन की मात्रा को कई गुना अधिक कम करना पड़ता है।

4 आंशिक अनुपात निधि पद्धति (Percentage Reserve System)

यह प्रणाली आनुपातिक निधि प्रणाली का ही एक संशोधित रूप है। इसमें धातु-कोष का कुल पत्र-मुद्रा के साथ अनुपात निर्धारित करने के साथ-साथ उसकी न्यूनतम मात्रा भी निर्धारित कर दी जाती है। निर्धारित आनुपातिक कोष में बहुमूल्य धातुओं के अतिरिक्त विदेशी प्रतिभूतियों (foreign securities) को भी सम्मिलित किया जा सकता है। 1956 के पूर्व जब यह प्रणाली भारत में प्रचलित थी तो कुल पत्र-मुद्रा का 40 प्रतिशत भाग स्वर्ण तथा विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में कोष में रखना होता था और शेष 60 प्रतिशत अन्य अधिकृत प्रतिभूतियों के रूप में रखा जाता

था। धातु निधि में कम से कम 40 करोड़ रुपये के मूल्य का स्वर्ण रखना होता था और यह मूल्य निर्धारण 21 रु० 3 आना 10 पाई प्रति तोला के हिसाब से होता था।

केन्ज ने लिखा था कि "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिशत अथवा आंशिक अनुपात निधि पद्धति का कोई स्वस्थ आधार न तो तर्क में है और न सामान्य बुद्धि में।" इस पद्धति के प्रमुख गुण तथा दोष निम्नलिखित हैं

गुण—(1) इसमें आनुपातिक निधि पद्धति के सभी लाभ उपलब्ध होते हैं। (2) इसमें धातु की बचत होती है क्योंकि विदेशी प्रतिभूतियाँ भी सम्मिलित कर ली जाती हैं।

दोष—(1) इसमें आनुपातिक निधि पद्धति के सभी दोष होते हैं। (2) विदेशों में कोषों का रखना तथा विनियोग करना असुरक्षित होता है।

5 साधारण जमा पद्धति (Simple Deposit System)

इस पद्धति के अनुसार सम्पूर्ण पत्र-मुद्रा के पीछे शत-प्रतिशत धातु-कोष रखना पड़ता है। इस प्रकार पत्र मुद्रा प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा ही होती है। प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के सभी गुण तथा दोष इसमें पाये जाते हैं।

गुण—(1) यह बहुत सरल प्रणाली है तथा इसमें जनता का बहुत अधिक विश्वास रहता है। (2) मुद्रा-प्रसार का भय नहीं रहता। (3) पत्र मुद्रा परिवर्तनशील होती है।

दोष—(1) लोच का नितान्त अभाव रहता है। (2) धातुएँ कोष में बेकार पड़े रहने के कारण अपव्ययता होती है। (3) वर्तमान परिस्थितियों में अव्यावहारिक है।

6 कोषागार विपत्र जमा पद्धति (The Bonds Deposit System)

इस पद्धति में पत्र मुद्रा के पीछे धातु कोष नहीं रखा जाता, बल्कि नोटों का निर्गमन कोषागार विपत्रों (treasury bills) तथा सरकारी बौण्ड्स के आधार पर किया जाता है। यह विपत्र अथवा बौण्ड्स सरकार के अल्पकालीन प्रतिज्ञा पत्र (I O Us) होते हैं जिनका उद्देश्य पत्र मुद्रा की सुव्यवस्था करना होता है तथा सरकार इन्हीं के द्वारा मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखती है। 1902 में कुछ अंशों में इस प्रणाली को भारत में अपनाया गया था, किन्तु 1905 में इसका परित्याग कर देना पड़ा। अमेरिका ने भी इसे 1913 के पूर्व कुछ समय के लिए अपनाया था।

गुण—(1) मुद्रा प्रसार का भय नहीं रहता। (2) कोष में धातुएँ व्यर्थ नहीं रखी रहतीं।

दोष—(1) इसमें विश्वास का अभाव रहता है। (2) इसमें लोच का भी अभाव होता है, क्योंकि मुद्रा अधिकारी अपनी पूँजी व कोष की मात्रा से अधिक मूल्य के परिपत्र सरकार से प्राप्त नहीं कर पाता।

7 न्यूनतम निधि प्रणाली (Minimum Reserve System)

इस पद्धति में धातु कोष की एक न्यूनतम मात्रा निश्चित कर दी जाती है। यह न्यूनतम निधि रखकर मुद्रा अधिकारी कितनी भी मात्रा में नोट जारी कर सकता है। **भारत में आजकल यही पद्धति प्रचलित है।** 1957 के अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को पत्र मुद्रा की आड़ में केवल 200 करोड़ रुपये की न्यूनतम निधि रखनी पड़ती है, जिसमें से 115 करोड़ रुपए का सोना होना आवश्यक है। शेष 85 करोड़ रुपये विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में हो सकते हैं।

गुण—(1) इसमें लोच बहुत अधिक है, तथा (2) सोने की बचत होती है।

दोष—(1) मुद्रा-प्रसार का भय होता है (2) जनता का अधिक विश्वास नहीं होता, तथा (3) बहुत अधिक प्रबन्धित एवं जटिल होती है।

निष्कर्ष—पत्र मुद्रा निर्गमन की अनेक पद्धतियों के गुण तथा दोष देखने के बाद यह प्रश्न उठता है कि कौनसी पद्धति श्रेष्ठतम है। एक श्रेष्ठ पत्र-मुद्रा निर्गमन पद्धति में लोच, मितव्ययता, सरलता, जन-विश्वास, अनावश्यक प्रसार के प्रति सुरक्षा आदि गुणों का होना आवश्यक है। यह सब गुण प्राप्त करने के लिए पत्र मुद्रा की आड़ में धात्विक कोषों की आवश्यकता नहीं होती। जनता का विश्वास मुद्रा की परिवर्तनशीलता के कारण नहीं वरन् सरकार तथा केन्द्रीय बैंक की स्वस्थ और कुशल नीतियों के कारण होता है। क्राउथर के विचार में, "सबसे विवेकपूर्ण पद्धति तो

किसी भी सीमा को निर्धारित न कर मुद्रा अधिकारियों की समझदारी पर विश्वास करना ही है।" यदि मुद्रा अधिकारी पर नियन्त्रण रखना आवश्यक ही हो तो निर्गमन के पीछे न्यूनतम धातु-निधि की मात्रा तथा पत्र मुद्रा निर्गमन की अधिकतम सीमा का निर्धारण किया जा सकता है। इन प्रतिबन्धों के आधार पर अपनायी गयी प्रणाली न्यूनतम कोष प्रणाली तथा अधिकतम विश्वासाश्रित प्रणाली का समन्वित रूप होगी।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. प्रवर्तित चलनमान से क्या अभिप्राय है? इसके गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।

   [संकेत प्रथम भाग में प्रवर्तित चलनमान (अथवा पत्र-मुद्रामान) की परिभाषा दीजिए और विशेषताएं समझाइए। दूसरे भाग में इसके गुण तथा दोषों का विस्तारपूर्वक विवरण दीजिए।]

2. नोट निर्गमन के करेंसी तथा बैंकिंग सिद्धान्तों में अन्तर स्पष्ट कीजिए। इन दोनों में अधिक उपयुक्त कौनसा सिद्धान्त है?

   [संकेत दोनों सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए उनमें अन्तर स्पष्ट कीजिए तथा दोनों के गुण-दोषों के विवरण के आधार पर यह बताइए कि वर्तमान युग में बैंकिंग सिद्धान्त ही अधिक व्यावहारिक है।]

3. सरकार द्वारा नोट निर्गमन तथा बैंक द्वारा नोट-निर्गमन के आपेक्षिक लाभों को बताइए।

   [संकेत पहले सरकार द्वारा नोट छापने के पक्ष में तर्क दीजिए और फिर बैंक द्वारा नोट छापने के पक्ष में। अन्त में यह स्पष्ट रूप से बताइए कि नोट निर्गमन का कार्य केन्द्रीय बैंक को सौंपना अधिक सर्वोत्तम होता है।]

4. पत्र-मुद्रा निर्गमन की विभिन्न पद्धतियों के गुण दोषों का विवेचन कीजिए। आपकी सम्मति में कौनसी पद्धति सबसे अच्छी है?

   [संकेत सभी पद्धतियों के गुण तथा दोष बताइए और इस निष्कर्ष पर आइए कि जिस पद्धति में लोच तथा सुरक्षा दोनों हों और साथ में अपव्यय भी न हो वही सबसे अच्छी है। इस आधार पर न्यूनतम कोष प्रणाली तथा आनुपातिक विश्वासाश्रित प्रणाली का एक समन्वित रूप सर्वोत्तम होगा।]

5. एक अच्छी मुद्रा प्रणाली की विशेषताएं बताइए। भारतीय पत्र-मुद्रा प्रणाली में ये विशेषताएं कहां तक पायी जाती हैं?

   [संकेत अच्छी मुद्रा प्रणाली के अध्याय में बताए गए गुणों का विवेचन कीजिए। यह बताइए कि इनमें से कौन-कौनसे गुण भारतीय प्रणाली में हैं और कौन-कौनसे नहीं हैं।]

6. नोट निर्गमन की विभिन्न पद्धतियां बताइए। हमारे देश में कौनसी पद्धति अपनायी गयी है?

   [संकेत सभी पद्धतियों की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए और भारत की वर्तमान पद्धति—न्यूनतम निधि प्रणाली—का विस्तारपूर्वक विवरण दीजिए।]

7. टिप्पणियां लिखिए बहुमूल्यी पत्र-मुद्रा निर्गमन प्रणाली, विश्वासाश्रित पत्र-मुद्रा, निरर्थक पत्र-मुद्रा, निर्गमन का करेंसी सिद्धान्त।

   [संकेत प्रश्न का विषयवस्तु तथा गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।]

7

मुद्रा-मूल्य के सिद्धान्त

[THEORIES OF VALUE OF MONEY]

"मुद्रा भी अन्य आर्थिक वस्तुओं में से एक है। अत उसका मूल्य भी अन्य वस्तुओं की भांति उसकी मांग एव पूर्ति द्वारा निश्चित किया जाता है।"[1]

—रॉबर्टसन

मुद्रा का मूल्य

'मुद्रा का मूल्य' एक ऐसा विचार (concept) है जिसके अनेक अर्थ लगाये जा सकते है। **कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार मुद्रा-मूल्य से अभिप्राय ब्याज-दर से होता है।** उनके विचार मे वस्तु-बाजार की भाँति मुद्रा का भी बाजार होता है जिसमें मुद्रा का क्रय-विक्रय होता है। किसी व्यक्ति को लौटाने की प्रतिज्ञा पर मुद्रा देना मुद्रा का विक्रय होता है और इसके बदले मे जो ब्याज ली जाये वही मुद्रा का मूल्य होगी। मुद्रा-बाजार के सम्बन्ध मे ब्याज को ही मुद्रा का मूल्य समझा जा सकता है, परन्तु वास्तव म मुद्रा के मूल्य मे आशय ब्याज-दर नही है। **कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो के विचार में मुद्रा-मूल्य से अभिप्राय विदेशी विनिमय-दर से होता है।** स्वदेशी मुद्रा का बाह्य मूल्य (external value) अर्थात् इसके बदले में प्राप्त होने वाली विदेशी मुद्रा की मात्रा को विदेशी व्यापार के सम्बन्ध मे मुद्रा का मूल्य कहा जा सकता है, परन्तु सही अर्थ यह भी नही है।

मुद्रा के मूल्य का सही अर्थ मुद्रा की क्रय-शक्ति (purchasing power) है। दूसरे शब्दों मे, मुद्रा-मूल्य से अभिप्राय वस्तुओ तथा सेवाओं की उस मात्रा से है जो किसी निश्चित समय पर मुद्रा की एक और इकाई के बदले मे प्राप्त की जा सकती है।[2] अब प्रश्न यह उठता है कि मुद्रा विनिमय-माध्यम होने के नाते अपने बदले में अनेक प्रकार की वस्तुऐं तथा सेवाएँ प्राप्त कर सकती है, तो क्या हमें मुद्रा का मूल्य इन अलग-अलग वस्तुओं के रूप मे व्यक्त करना होगा अथवा इन सब मे से किसी एक वस्तु के रूप मे? इन दोनो म से कोई सा भी तरीका अपनाना न तो व्यावहारिक है और न उचित है। मुद्रा सामूहिक मूल्य-मापक का कार्य करती है, इसलिए मुद्रा का मूल्य नापने का आधार **वस्तुओ तथा सेवाओ की सामूहिक मात्रा** होती है। केन्ज ने लिखा है कि "मुद्रा की क्रय-शक्ति किसी विशेष स्थिति मे ,वस्तुओ और सेवाओ की उस मात्रा पर आधारित होती है जो मुद्रा की एक इकाई खरीद सकती हैं। इससे यह अर्थ निकलता है कि मुद्रा का मूल्य एक ऐसी सम्पूर्ण वस्तु (composite commodity) के मूल्य द्वारा नापा जा सकता है जो उन विभिन्न वस्तुओं व सेवाओ की अनुपाती मात्राओं का सग्रह है जिनको आय खर्च करके प्राप्त किया जाता है।"[3]

---

[1] ...e more we can keep on the right lines if we start by remembering that money is only ...of many economic things Its value, therefore, is primarily determined by exactly the ... two factors as determine the value of any other thing, namely, the conditions of ...nd for it and quantity of it available "—D H Robertson, *Money*, p 28

[2] Robertson *Money*, p 17.

[3] Keynes : *A Treatise on Money*, Vol. I.

मुद्रा-मूल्य तथा सामान्य कीमत-स्तर

यह तो स्पष्ट ही है कि मुद्रा का मूल्य सामान्य कीमत-स्तर (general price level) से सम्बन्धित होता है, परन्तु यह समझना आवश्यक है कि इन दोनों में विपरीत सम्बन्ध होता है। सुप्रसिद्ध अमेरिकी अर्थशास्त्री इविंग फिशर के शब्दों में, "मुद्रा की क्रय शक्ति कीमत-स्तर के विपरीत होती है, इसलिए मुद्रा की क्रय-शक्ति का अध्ययन कीमत-स्तर का अध्ययन है।"[1] वस्तुओं की कीमतें बढ़ने का अर्थ यह होता है कि मुद्रा की एक इकाई (जैसे, एक रुपया) के बदले में अब कम मात्रा में वस्तुएँ मिलती हैं। यह इस बात का सूचक है कि मुद्रा का मूल्य घट गया है। इसी प्रकार कीमत-स्तर घटने पर मुद्रा का मूल्य बढ़ता है।

सामान्य कीमत-स्तर विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों का औसत है। इसके घटने-बढ़ने का अर्थ यह नहीं होता कि सभी वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें समान रूप से घट-बढ़ रही हैं। अलग-अलग वस्तुएँ लेने पर यह सम्भव है कि कुछ की कीमतें बढ़ी हों और कुछ की कम हुई हों। इसीलिए कुछ अर्थशास्त्रियों, जैसे हायेक (Hayek), ने सामान्य कीमत के विचार की आलोचना की है। परन्तु, चूंकि सामान्य कीमत-स्तर सभी प्रकार की वस्तुओं की कीमतों का औसत होता है, इसलिए यह भले ही शत प्रतिशत ठीक न हो, परन्तु फिर भी काफी अंश तक ठीक होता है।

मुद्रा-मूल्य की धारणा को निश्चित रूप देने के लिए काउथर ने मुद्रा के तीन प्रामाणिक मूल्य बताये हैं: थोक मूल्य (Wholesale Value), फुटकर मूल्य (Retail Value), तथा श्रम-मूल्य (Labour Value)। व्यावहारिक रूप में ये तीनों प्रमाप कई त्रुटियों तथा कठिनाइयों से युक्त हैं, परन्तु साधारणतः थोक मूल्य का आधार अधिक उपयुक्त समझा जाता है।

मुद्रा की माँग तथा पूर्ति

बाजार में वस्तुओं का मूल्य उनकी माँग तथा पूर्ति के आधार पर निर्धारित होता है। वस्तु की माँग तथा मूल्य का सीधा सम्बन्ध होता है, अर्थात् माँग बढ़ने पर मूल्य बढ़ता है तथा माँग कम होने पर मूल्य घटता है। परन्तु वस्तु की पूर्ति तथा मूल्य का सम्बन्ध विपरीत होता है, अर्थात् पूर्ति बढ़ने पर मूल्य घटता है और पूर्ति घटने पर मूल्य बढ़ता है। वस्तु के मूल्य का निर्धारण सामान्यतः माँग तथा पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा होता है और जिस बिन्दु पर इन दोनों में सन्तुलन स्थापित हो जाय, वहीं पर वस्तु का मूल्य निर्धारित हो जाता है। यदि मुद्रा को भी अन्य वस्तुओं के समान एक वस्तु माना जाय तो इसके मूल्य निर्धारण के लिए 'मुद्रा की माँग' तथा 'मुद्रा की पूर्ति' के अर्थों का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

मुद्रा की माँग—किसी भी वस्तु की माँग उसकी उपयोगिता के कारण की जाती है। परन्तु मुद्रा की उपयोगिता का स्वरूप अन्य वस्तुओं से भिन्न होता है। मुद्रा की उपयोगिता प्रत्यक्ष नहीं होती, बल्कि विनिमय-माध्यम के रूप में अन्य वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त करने में होती है। इस प्रकार, **मुद्रा की माँग किसी देश में विनिमय के लिए उपलब्ध होने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा पर निर्भर करती है।** बाजार में उपलब्ध वस्तुएँ तथा सेवाएँ जो मुद्रा के बदले में प्राप्त की जा सकें, मुद्रा की माँग ही तो है। इन वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा का घटना-बढ़ना मुद्रा की माँग का भी घटना-बढ़ना है।

किसी भी समय में विनिमय के लिए उपलब्ध वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा अनेक बातों से प्रभावित होती है, जैसे—उत्पादन के साधनों की अल्पता अथवा बहुलता, उत्पादन के साधनों की कुशलता अथवा वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान, उत्पादन का पैमाना और व्यापारिक संगठन, उत्पत्ति के साधनों का रोजगार स्तर, उत्पादन और उपभोग में अन्तर तथा वस्तुओं के हस्तान्तरण की गति, इत्यादि। इन बातों के अतिरिक्त, जनसंख्या का आकार, देश का क्षेत्रफल और प्राकृतिक साधन तथा मुद्रा की पूर्ति आदि का भी मुद्रा की माँग पर प्रभाव पड़ता है। एक विकसित अथवा विकासशील देश में एक पिछड़े हुए देश की अपेक्षा मुद्रा की माँग अधिक होना स्वाभाविक है।

1 "The purchasing power of money is the reciprocal of the level of prices, so that study of the purchasing power of money is identical with the study of price level." —Irving Fisher: *The Purchasing Power of Money*, p. 14.

मुद्रा को नकद या तरल (liquid) रूप में रखने की माँग, केन्ज के अनुसार, तीन उद्देश्यों से की जाती है (1) लेन-देन सम्बन्धी उद्देश्य (the transactions motive), (2) दूरदर्शिता या सतर्कता-उद्देश्य (the precautionary motive), तथा (3) सट्टा-उद्देश्य (the speculative motive)। स्पष्ट है कि लेन-देन अथवा व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति में मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करती है और अन्य उद्देश्यों की पूर्ति में वह मूल्य-सचय का कार्य करती है। इस प्रकार, मुद्रा की माँग के निर्धारण में व्यावसायिक उद्देश्य तथा सम्पत्ति-मूलक उद्देश्य दोनों ही महत्वपूर्ण है।

मुद्रा की पूर्ति—वे समस्त साधन जिनका प्रयोग विनिमय-माध्यम के रूप में किया जाता है, मुद्रा की पूर्ति है। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति में विधिग्राह्य मुद्रा (धातुमान तथा पत्र-मुद्रा) एवं ऐच्छिक मुद्रा (साख मुद्रा) सभी सम्मिलित होते है। मौद्रिक साधनों की पूर्ति की मात्रा अनेक तत्वों द्वारा प्रभावित होती है, जैसे—सरकार द्वारा मुद्रा की पूर्ति, राष्ट्र की स्वर्ण सम्पत्ति, बैंकों का सुरक्षित कोष, साख-मुद्रा का विस्तार, आर्थिक विकास का स्तर, विनिमय के लिए वस्तुओं की मात्रा, सामाजिक रिवाज तथा व्यक्तिगत स्वभाव, इत्यादि।

मुद्रा की उपलब्ध मात्रा अथवा पूर्ति किसी निश्चित समय (point of time) से सम्बन्ध रखती है। यदि हमें मुद्रा की पूर्ति किसी निश्चित अवधि (period of time), जैसे एक वर्ष, में देखनी हो, तो उसके लिए **मुद्रा की चलन-गति** (velocity of circulation) पर विचार करना होगा।

एक निश्चित समय में मुद्रा की एक इकाई औसतन जितने बार भुगतान करने के लिए प्रयोग की जाती है, उसे मुद्रा की चलन-गति कहते हैं। मुद्रा की मात्रा को चलन गति से गुणा करने पर मुद्रा की सप्रभाविक पूर्ति (effective supply) मालूम की जा सकती है। यदि एक रुपये का नोट एक के बाद दूसरे 10 हाथों में जाता है और हर बार विनिमय-माध्यम का कार्य करता है, तो इसकी चलन-गति 10 हुई। चूंकि इस एक रुपये ने 10 रुपये का कार्य किया, इसलिए मुद्रा की सप्रभाविक पूर्ति $1 \times 10 = 10$ रुपये हुई।

मुद्रा की चलन-गति को प्रभावित करने वाली दशाएँ

1 **मुद्रा की मात्रा** आवश्यकता से कम होने पर उसकी चलन-गति अधिक होती है, क्योंकि उसका बार-बार प्रयोग होता है। अधिक मात्रा में मुद्रा उपलब्ध होने पर चलन गति कम हो जाती है।

2 **उपभोग की प्रवृत्ति** (propensity to consume) अधिक होने पर चलन-गति अधिक होगी, परन्तु यदि बचत की प्रवृत्ति (propensity to save) प्रबल है, तो चलन-गति कम होगी।

3 **नकद क्रय-विक्रय की प्रवृत्ति** होने पर मुद्रा की चलन-गति अधिक होती है और उधार क्रय-विक्रय की प्रवृत्ति होने पर चलन-गति कम होती है।

4 **उधार सौदों के भुगतान की औसत अवधि** अधिक होने पर चलन-गति कम होगी और यदि थोड़े समय बाद भुगतान किया जाये तो चलन-गति अधिक होगी।

5 **जनता की तरलता-पसन्दगी** (liquidity preference) अर्थात् अपने पास नकद धन रखने की प्रवृत्ति अधिक होने पर चलन गति कम हो जाती है और तरलता पसन्दगी कम होने पर चलन-गति अधिक होती है।

6 **उधार सम्बन्धी सुविधाएँ** उधार क्रय-विक्रय को प्रोत्साहन देती हैं जिससे चलन गति कम हो जाती है। उधार सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव में नकद भुगतान करने पड़ते हैं और चलन-गति बढ़ जाती है।

7 **मजदूरी के भुगतान का ढंग** भी चलन-गति को प्रभावित करता है। मजदूरी-भुगतान की अवधि लम्बी होने पर मजदूर को नकद धन बचाकर रखना पड़ता है, इसलिए चलन-गति कम हो जाती है। मजदूरी का भुगतान दैनिक अथवा साप्ताहिक होने पर चलन-गति अपेक्षाकृत अधिक होगी।

8. यातायात और संदेशवाहन के साधन उन्नत दशा में होने पर विनिमय का क्षेत्र विस्तृत होता है, जिसके परिणामस्वरूप चलन-गति बढ़ जाती है। एक गांव की तुलना में एक बड़े शहर में चलन-गति अधिक होती है।
9. कीमत सम्बन्धी भावी अनुमान वृद्धि के होने पर वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है जिसका स्वाभाविक परिणाम चलन-गति में वृद्धि होना होता है। भविष्य में कीमतें गिरने की आशंका होने पर लोग अपनी माँग को भविष्य के लिए टाल देते हैं और चलन-गति कम हो जाती है।
10. आर्थिक विकास का स्तर ऊँचा होने पर विनिमय बढ़ता है तथा चलन-गति में वृद्धि होती है। पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था में चलन-गति अपेक्षाकृत कम होगी।
11. राजनीतिक शान्ति होने पर उधार की प्रथा बढ़ती है और चलन-गति कम हो जाती है। राजनीतिक अस्थिरता के कारण अविश्वास बढ़ता है और नकद भुगतान की प्रवृत्ति के कारण चलन-गति बढ़ती है।
12. साख-मुद्रा की गतिशीलता अधिक होने पर साख-मुद्रा की चलन-गति में भी वृद्धि होती है। देश की आर्थिक सम्पन्नता, आर्थिक विकास में प्रगति तथा बैंकिंग प्रणाली का विकास साख-मुद्रा की चलन-गति बढ़ाते हैं।

माँग-पूर्ति के सन्तुलन द्वारा मुद्रा-मूल्य का निर्धारण

इस प्रकार, एक ओर तो मुद्रा की माँग को प्रभावित करने वाली शक्तियाँ और दूसरी ओर मुद्रा की मात्रा तथा चलन-गति अर्थात् पूर्ति को प्रभावित करने वाली शक्तियाँ निरन्तर कार्यशील रहती हैं। मुद्रा का मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होता है जहाँ माँग तथा पूर्ति में सन्तुलन स्थापित हो जाय। सन्तुलन बदल जाने पर मूल्य भी बदल जायगा।

मूल्य-निर्धारण का माँग-पूर्ति सिद्धान्त मुद्रा के लिए तभी लागू हो सकता है जब मुद्रा को भी विनिमय की अन्य वस्तुओं के समान समझा जाय। परन्तु, **वास्तव में साधारण वस्तुओं में तथा मुद्रा में बहुत अन्तर है :**

1. मुद्रा की स्वतः कोई प्रत्यक्ष उपयोगिता नहीं होती, जबकि अन्य वस्तुएँ प्रत्यक्ष रूप से उपयोगी होती हैं।
2. मुद्रा की चलन में गति होती है। प्रत्येक हस्तान्तरण में यह अपने बदले में वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त करती है जबकि अन्य वस्तुएँ एक ही बार प्रयोग में आती हैं।
3. मुद्रा की माँग अल्पकाल में प्रायः स्थिर रहती है, जबकि वस्तुओं की माँग अल्पकाल तथा दीर्घकाल दोनों में ही घटती-बढ़ती रहती है।
4. मुद्रा की मात्रा आदि सरकार की मौद्रिक नीति पर निर्भर करती है, जबकि वस्तुओं का उत्पादन प्राकृतिक तथा अन्य साधनों के उपयोग पर निर्भर करता है।
5. मुद्रा अन्य वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण का माध्यम होती है, अन्य वस्तुओं के समान नहीं। वस्तुओं तथा सेवाओं की कुल मात्रा मुद्रा के मूल्य को प्रभावित करती हैं।

मुद्रा तथा अन्य वस्तुओं में उपर्युक्त मौलिक अन्तर होने पर अन्य वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण का सिद्धान्त मुद्रा पर लागू नहीं किया जा सकता। मुद्रा-मूल्य के निर्धारण के लिए किसी अन्य सिद्धान्त को देखना होगा।

मुद्रा-मूल्य का निर्धारण

मुद्रा के मूल्य-निर्धारण में सम्बन्धित महत्वपूर्ण सिद्धान्त ये हैं—(1) मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त, (2) मुद्रा का राजकीय सिद्धान्त, (3) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त, (4) परिमाण सिद्धान्त का कैम्ब्रिज समीकरण, तथा (5) मुद्रा का आय सिद्धान्त।

1. मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त (Commodity Theory of Money)

मुद्रा के वस्तु सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा अन्य वस्तुओं के समान एक वस्तु है तथा इसका मूल्य भी अन्य वस्तुओं की भाँति इसकी माँग तथा पूर्ति के आधार पर निर्धारित होता है। परन्तु

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मुद्रा की माँग तथा पूर्ति से अभिप्राय उस वस्तु से है जिससे मुद्रा बनी है। यदि मुद्रा सोने से बनी है तो मुद्रा का मूल्य सोने की माँग तथा पूर्ति के आधार पर निर्धारित होगा।

मुद्रा-मूल्य का यह सिद्धान्त मुद्रा के प्राचीन रूप वस्तु-मुद्रा (commodity money) पर आधारित है। इस सिद्धान्त के संशोधित रूप में यह स्वीकार किया गया है कि मुद्रा का मूल्य मुद्रा-वस्तु की मौद्रिक माँग तथा पूर्ति से सम्बन्धित है, जबकि प्राचीन रूप में कुल माँग तथा पूर्ति से इसका सम्बन्ध समझा जाता था। इस सिद्धान्त के समर्थकों में रॉबर्टसन तथा जे० एल० लाफलिन (J L Laughlin) के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ वर्ष पूर्व अमेरिकी अर्थशास्त्री वारेन तथा पियर्सन (Warren and Pearson) ने यह कहा था कि चूँकि डालर के पीछे यथेष्ट मात्रा में स्वर्ण-कोष है, इसलिए डालर का मूल्य स्वर्ण द्वारा निर्धारित होता है। 1930 की मन्दी के काल में भी यह सोचकर कि स्वर्ण का मूल्य बढ़ने से वस्तुओं के मूल्य बढ़ेंगे, अमरीका में स्वर्ण का मूल्य बढ़ा दिया गया था। मुद्रा-कोषों की शक्ति में वृद्धि करने के लिए गत वर्षों में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रो० हरोड (Harrod) द्वारा स्वर्ण-मूल्य में वृद्धि की माँग करना इस बात का प्रमाण है कि इस सिद्धान्त का प्रभाव पूर्णतया समाप्त नहीं हो पाया है।

वास्तव में, वस्तु सिद्धान्त का महत्व तभी तक था जब तक धात्विक मुद्राएँ चलन में थीं। आजकल के युग में जबकि सभी देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा चलन में है, इस सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं रहा। यह ठीक है कि पत्र-मुद्रा निर्गमन के पीछे स्वर्ण-निधि रखी रहती है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव यह सिद्ध करता है कि स्वर्ण का मूल्य लगभग स्थिर रहने पर भी संसार के सभी देशों में मुद्रा के मूल्य में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। इस प्रकार वर्तमान युग में इस सिद्धान्त का मुद्रा के मूल्य की व्याख्या करने में कोई महत्व नहीं रहा।

2 मुद्रा का राजकीय सिद्धान्त (State Theory of Money)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक फ्रेड्रिक नैप (Fredric Knapp) के अनुसार "मुद्रा की आत्मा इसकी इकाइयों में प्रयुक्त सामग्री में निहित नहीं है, अपितु उन कानूनी अध्यादेशों में है जो इसके प्रयोग को नियमित करते है।"[1] दूसरे शब्दों में, चूँकि मुद्रा का निर्गमन तथा नियन्त्रण सरकार करती है, इसलिए इसका मूल्य भी शासन द्वारा निर्धारित होता है। सरकार मुद्रा के मूल्य को अनेक प्रकार से प्रभावित करती है (i) वैधानिक स्वीकृति देने से मुद्रा का मूल्य उत्पन्न होता है, (ii) मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन द्वारा भी इसका मूल्य प्रभावित होता है, (iii) वस्तुओं का मूल्य-नियन्त्रण (price control) करके भी सरकार मुद्रा के मूल्य को प्रभावित करती है। मुद्रा के इस राजकीय सिद्धान्त में भी अनेक त्रुटियाँ हैं

(1) यह कहना कि केवल वैधानिक स्वीकृति के आधार पर ही किसी वस्तु को मुद्रा का रूप मिल जाता है, पूर्णतया सत्य नहीं है। वैधानिक मान्यता होने पर भी जनता का विश्वास होना बहुत आवश्यक है। प्रथम युद्धोत्तर-काल में जर्मनी में मार्क को वैधानिक मान्यता प्राप्त थी, परन्तु जनता ने उसका प्रयोग बन्द कर दिया था। यदि सरकार वर्तमान भुगतान केवल अधिकृत मुद्रा में ही करने के लिए जनता को विवश कर दे, तो भी जनता की स्वीकृति न होने पर यह भविष्य के सौदों तथा बचत की क्रियाओं के लिए प्रयोग नहीं की जायेगी।

(2) यह ठीक है कि मुद्रा की मात्रा का उसके मूल्य पर प्रभाव पड़ता है, परन्तु सरकार मात्रा में परिवर्तन करने के लिए केवल माध्यम मात्र होती है, मूल्य का निर्धारण तो मुद्रा की मात्रा द्वारा हुआ है।

(3) सरकार द्वारा वस्तुओं के मूल्य नियन्त्रण का प्रभाव सीमित होता है। एक तो केवल कुछ ही वस्तुओं की कीमत नियन्त्रित की जाती है और वह भी प्रायः प्रचलित कीमतों के आधार पर, दूसरे, नियन्त्रण के बाद भी चोर-बाजार में इन वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता रहता है।

---

1 "The soul of currency is not in the material of the pieces, but in the legal ordinances which regulate their use"—George F. Knapp *The State Theory of Money*, abridged translation by Bonar, p. 2.

अत सरकार मुद्रा के मूल्य को प्रभावित कर सकती है परन्तु उसका वास्तविक निर्धारण अन्य बातों पर निर्भर करता है। मुद्रा के मूल्य मे सरकार की इच्छानुसार परिवर्तन नही हो पाते, और न ही उसके निर्धारण मे सरकार का बहुत बडा हाथ होता है।

(3) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money)

मुद्रा के मूल्य का निर्धारण मुद्रा के परिमाण अथवा मात्रा मे होने वाले परिवर्तनो के आधार पर होता है। इस विचार का उल्लेख 16वी शताब्दी के कुछ लेखो मे सर्वप्रथम मिलता है। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि इस विचार का जन्मदाता कौन था। कुछ अर्थशास्त्री इटैलियन विचारक दवन जैत्ती (Dauan Zatti) को इसका जन्मदाता होने का श्रेय देते हैं। एक सिद्धान्त के रूप मे इसकी क्रमबद्ध व्याख्या सन् 1691 मे अंग्रेज तत्वज्ञानी जॉन लॉक (John Locke) ने की थी। 1752 मे डेविड ह्यूम (David Hume) ने इसमे सुधार करके सविस्तार व्याख्या की। इन प्राचीन वर्णनो मे मुद्रा की मात्रा तथा मूल्य मे पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या की गयी थी, परन्तु यह नही बताया गया था कि मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप किस अनुपात मे मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन होगा। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा की मात्रा तथा मूल्य के पारस्परिक सम्बन्ध को आनुपातिक सम्बन्ध नही समझा गया था।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो (Classical Economists) ने मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त को स्पष्ट रूप प्रदान किया। उन्होने यह बताया कि **मुद्रा की मात्रा तथा मूल्य के बीच विपरीत समानुपातिक सम्बन्ध है।** *अन्य बातें समान रहने पर, मुद्रा की मात्रा दुगुनी होने से इसका मूल्य आधा रह जायेगा अथवा मात्रा आधी होने पर मूल्य दुगुना हो जायेगा।*

जॉन स्टुअर्ट मिल (J S Mill) के अनुसार, "यदि अन्य बाते यथास्थिर रहें, तो मुद्रा के मूल्य मे इसके परिमाण के विपरीत दिशा मे परिवर्तन होते है, परिमाण की प्रत्येक वृद्धि मूल्य को उसी अनुपात मे घटाती है और परिमाण की प्रत्येक कमी उसे उसी अनुपात मे बढाती है।"[1]

विकसैल (Wicksell) के अनुसार, "मुद्रा के मूल्य अथवा मुद्रा की क्रय शक्ति म इसकी मात्रा के विपरीत अनुपात मे परिवर्तन होते रहते है, जिसस मुद्रा के परिमाण की प्रत्येक वृद्धि या कमी, यदि अन्य बाते समान रहे, वस्तुओं और सेवाओ मे उसकी क्रय-शक्ति मे आनुपातिक कमी या वृद्धि उत्पन्न करेगी, और इस प्रकार वस्तुओ की कीमतो मे वैसी ही वृद्धि अथवा कमी होगी।"[2]

टॉसिग (Taussig) के अनुसार, "यदि मुद्रा की मात्रा दुगुनी कर दी जाये, तो अन्य बाता के समान रहते हुए, कीमतें भी पहले की तुलना मे दुगुनी हो जायेगी और मुद्रा का मूल्य पहले की तुलना म आधा हो जायेगा। इसके विपरीत, यदि मुद्रा की मात्रा आधी कर दी जाय, तो अन्य बातें समान रहते हुए, कीमतें भी पहले की तुलना मे आधी हो जायेंगी और मुद्रा का मूल्य पहले की तुलना म दुगुना हो जायेगा।"[3]

उक्त परिभाषाओ मे यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि मुद्रा के परिमाण तथा मुद्रा के मूल्य मे विपरीत आनुपातिक सम्बन्ध (inverse proportional relationship) होता है तथा मुद्रा के परिमाण और कीमत-स्तर मे सीधा आनुपातिक सम्बन्ध (direct proportional relationship) होता है। उदाहरणार्थ, मुद्रा के परिमाण मे 10% वृद्धि होने पर कीमत-स्तर (price level) म भी 10% वृद्धि होगी, और मुद्रा का मूल्य 10% घट जायगा। परन्तु ऐसा तभी होगा

---

1 "The value of money, other things being the same, varies inversely as its quantity, every increase of quantity lowers the value and every diminution raising it in a ratio exactly equivalent —J S Mill *Principles of Political Economy*, Vol II, p 15

2 ' The value or purchasing power of money varies in inverse proportion to its quantity, so that an increase or decrease in the quantity of money, other things being equal, will cause a proportionate decrease or increase in its purchasing power in terms of other goods, and thus a corresponding increase or decrease in all commodity prices ' —Wicksell *Lectures on Political Economy*, Vol II, p 141

3 "Double the quantity of money and other things being equal, prices will be twice as high as before and the value of money half Half the quantity of money and other things being equal, prices will be one-half of what they were before and the value of money double —Taussig *Principles of Economics*, p 250

जबकि "अन्य बातें समान रहे"। इस प्रकार, मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कुछ मान्यताओं पर आधारित है।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की मान्यताएँ

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त तभी कार्यशील होता है जब निम्नलिखित बातों मे कोई परिवर्तन नहीं होता

1 व्यापार की मात्रा अथवा मुद्रा की माँग मे कोई परिवर्तन न हो।
2 वस्तु-विनिमय के द्वारा सम्पन्न होने वाले सौदों मे कोई परिवर्तन न हो।
3 साख मुद्रा तथा विधिग्राह्य मुद्रा के अनुपात म कोई परिवर्तन न हो।
4 मुद्रा की चलन-गति म कोई परिवर्तन न हो।

उपर्युक्त मान्यताओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने मे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये मान्यताएँ अवास्तविक तथा अव्यावहारिक हैं। इसी कारण मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की बहुत अधिक आलोचना की जाती है तथा इसे अवास्तविक समझा जाता है।

सिद्धान्त का समीकरण

मुद्रा के परिमाण म परिवर्तन के परिणामस्वरूप कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तन को समीकरण (equation) के रूप म प्रस्तुत किया जाता है। समय-समय पर समीकरण के रूप म भी परिवर्तन होता रहा है, परन्तु इर्विंग फिशर (Irving Fisher) द्वारा दिया गया समीकरण सबसे अधिक प्रसिद्ध ह। फिशर के पूर्व समीकरण को निम्न ढग से प्रस्तुत किया जाता था

सर्वप्रथम दिया गया समीकरण $P=\frac{M}{T}$ था, जिसमे P से अभिप्राय सामान्य कीमत-स्तर (general price level), M स देश मे प्रचलित मुद्रा की मात्रा तथा T से देश में व्यापार की वस्तुओं तथा सेवाओं से था। परन्तु बाद मे इस समीकरण को अधूरा समझा गया क्योंकि इसम चलन-गति को सम्मिलित नही किया गया था, जबकि मुद्रा की पूर्ति केवल प्रचलित मुद्रा की मात्रा ही नहीं, अपितु उसकी चलन-गति पर भी आश्रित होती है।

बाद मे, चलन-गति को सम्मिलित कर लेने पर समीकरण का रूप $P=\frac{MV}{T}$ अथवा $PT=MV$ हो गया। यहाँ V से अभिप्राय मुद्रा की चलन-गति (velocity of circulation) से है। PT, अर्थात् एक विशेष कीमत-स्तर पर उपलब्ध व्यापार की वस्तुएँ तथा सेवाएँ, मुद्रा की माँग होगी। MV, अर्थात् प्रचलित मुद्रा की कुल मात्रा तथा उसकी चलन-गति, मुद्रा की पूर्ति को सूचित करती है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, T तथा V को स्थिर माना जाना है। इस प्रकार, M की मात्रा बढ जाने पर P भी समानुपातिक रूप मे बढ जाता है, तथा M घट जाने पर P मे समानुपातिक कमी होती है।

फिशर का समीकरण—उपर्युक्त समीकरण की एक मुख्य अपूर्णता यह थी कि इसमे साख-मुद्रा को सम्मिलित नही किया गया था, जबकि वर्तमान युग मे साख-मुद्रा का विनिमय माध्यम के रूप में महत्वपूर्ण स्थान है। इस त्रुटि को दूर करने के लिए इर्विंग फिशर ने परिमाण समीकरण को निम्न तरीके से प्रस्तुत किया

$$MV+M'V'=PT$$

$$\text{Or} \quad \frac{MV+M'V'}{T}=P$$

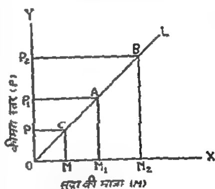
इसी समीकरण मे M' प्रचलन मे साख-मुद्रा की मात्रा तथा V' साख-मुद्रा की चलन-गति है। इस प्रकार, कुल प्रचलित मुद्रा × औसत गति + कुल प्रचलित साख-मुद्रा × साख-मुद्रा की औसत चलन-गति ÷ कुल व्यापारिक वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा = कीमत-स्तर।

उपर्युक्त समीकरण मे $MV+M'V'$ मुद्रा की पूर्ति तथा PT मुद्रा की माँग के सूचक हैं। P अर्थात् **कीमत-स्तर एक निष्क्रिय घटक** (passive factor) है जो अन्य घटकों के द्वारा

निर्धारित होता है, स्वयं उनको निर्धारित नहीं करता। चूँकि P मुद्रा की कुल पूर्ति $(M+M'V')$ के बराबर है, इसलिए इनका पारस्परिक सीधा आनुपातिक सम्बन्ध है। फिशर ने यह समीकरण प्रतिपादित करते समय यह मान लिया है कि VV' तथा T स्थिर रहते हैं और M तथा M' के **बीच एक निश्चित अपरिवर्तनशील अनुपात रहता है।** स्वयं फिशर के ही शब्दों में, "अल्पकाल में व्यवसाय अथवा मुद्रा द्वारा किया गया कार्य यथास्थिर रहता है, क्योंकि इस काल में जनसंख्या में परिवर्तन नहीं होते हैं। प्रति व्यक्ति उत्पादन में कोई परिवर्तन नहीं होता। उत्पत्ति का जो प्रतिशत उत्पादकों द्वारा उपयोग किया जाता है, वह भी यथास्थिर रहता है। वस्तु-विनिमय तथा मुद्रा-विनिमय के अनुपात में कोई परिवर्तन नहीं होता और वस्तुओं की चलन-गति भी नहीं बदलती। इस काल में उत्पादन सम्बन्धी रीतियाँ तथा लोगों की उपभोग सम्बन्धी आदतें भी लगभग निश्चित रहती हैं। अस्तु, मुद्रा की माँग स्थिर होती है।"

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि VV' तथा T स्थिर रहते तथा M और M' में एक निश्चित अपरिवर्तनशील अनुपात रहेगा, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि P (सामान्य कीमत-स्तर) में होने वाले सभी परिवर्तन केवल M के परिवर्तनों के कारण ही होते हैं। P तथा M में सीधा समानुपातिक सम्बन्ध होता है जो रेखाचित्र (2) द्वारा समझा जा सकता है।

प्रचलित मुद्रा की मात्रा (M) OX रेखा पर तथा कीमत-स्तर (P) OY रेखा पर दिखाये गये हैं। मुद्रा की मात्रा OM_1 होने पर कीमत-स्तर OP_1 है। मुद्रा की मात्रा में यदि वृद्धि होकर OM_2 के बराबर हो जाती है तो कीमत-स्तर भी उतना ही बढ़कर OP_2 के बराबर हो जाता है। मुद्रा की मात्रा कम होने पर कीमत-स्तर भी कम होता है, क्योंकि OM मुद्रा की मात्रा होने पर कीमत-स्तर OP है। A, B तथा C बिन्दुओं को मिला देने पर हमें OL वक्र-रेखा प्राप्त होती है जो मुद्रा की मात्रा तथा कीमत-स्तर में परिवर्तनों के पारस्परिक आनुपातिक सम्बन्ध को दिखाती है।



चित्र 2

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचना

फिशर द्वारा परिमाण सिद्धान्त में सुधार तथा संशोधन किये जाने पर भी मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त की कटु आलोचनाएँ की जाती हैं, जो मुख्यतः निम्न हैं

(1) मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त तभी लागू होता है जब "अन्य बातें समान रहें"। फिशर के अनुसार अल्पकाल में V, V', T तथा M_1 के M से अनुपात स्थिर रहते हैं। परन्तु व्यावहारिक अनुभव यह बताता है कि ये सब अल्पकाल में भी परिवर्तनीय हैं।

1. फिशर के समीकरण में यह माना गया है कि विधिग्राह्य मुद्रा की पूर्ति (M) में परिवर्तन होने पर उसकी चलन गति (V) स्थिर रहती है, तथा वह एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। M में परिवर्तन होने पर V में अपने आप ही परिवर्तन हो जाता है। M के बढ़ने से जैसे ही कीमत-स्तर (P) में वृद्धि होगी, भविष्य में कीमत और अधिक बढ़ जाने की सम्भावना से क्रय विक्रय बढ़ जायेगा तथा चलन-गति (V) में भी वृद्धि होगी। चलन की मात्रा बढ़ने का यदि क्रय विक्रय पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता तो चलन की गति अथवा V का पहले से कम हो जाना स्वाभाविक है, क्योंकि मुद्रा की मात्रा अधिक होने पर प्रत्येक इकाई का प्रयोग कम भुगतानों के लिए किया जाता है। इस प्रकार, M में परिवर्तन होने पर V को स्थिर नहीं रखा जा सकता।

2 साख-मुद्रा की मात्रा (M') में परिवर्तन होने पर उसकी चलन-गति (V') को स्थिर मानना भी गलत है। M में परिवर्तन होने पर जिन कारणो से V प्रभावित होती है, वही कारण M में परिवर्तन होने पर V' को भी प्रभावित करते हैं। साख मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर इसकी चलन-गति को स्थिर मानना अवास्तविक है।

3 मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होने पर देश के व्यापार की मात्रा (T) को स्थिर मानना भी भ्रमपूर्ण है। M के बढने से P में वृद्धि होती है। ऊँची कीमतो से उत्पादको को लाभ होता है और वह अधिक उत्पादन करने लगते हैं तथा T में स्वाभाविक रूप से वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार, M के बढने से T में वृद्धि होगी तथा M के घट जाने पर T कम हो जायेगा।

कुछ अर्थशास्त्रियो के विचार में, पूर्ण रोजगार के बिन्दु (point of full employment) पर जब उत्पत्ति का प्रत्येक साधन पूर्णत काम में लगा होता है, तो वस्तुओ तथा सेवाओं के उत्पादन की मात्रा स्थिर हो जाती है तथा मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तन का इस पर कोई प्रभाव नही पडता। परन्तु आलोचको का मत है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति चिरस्थायी नही होती। कुछ समय बाद ही, मनोवैज्ञानिक कारणोवश, मुद्रा की माँग में होने वाली प्रत्येक वृद्धि के साथ कीमत-स्तर अनुपात से अधिक बढने लगता है।

4 मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त में विधिग्राह्य मुद्रा (M) तथा साख-मुद्रा (M') का अनुपात स्थिर मानना भी अवास्तविक है। M में परिवर्तन होने से M' में परिवर्तन उसी अनुपात में नही होता क्योकि इनमें कोई भी स्थिर, निश्चित तथा अपरिवर्तनशील सम्बन्ध नही होता। प्राय मुद्रा-प्रसार की स्थिति में एक ओर तो बैंको के निक्षेप बढते हैं तथा दूसरी ओर उत्पादन बढाने के लिए ऋणों की माँग बढती है जिसके कारण M' में अनुपात से अधिक वृद्धि होती है। मुद्रा-सकुचन के कारण ऋणो की माँग कम हो जाती है तो M' का अनुपात भी कम होता है।

सिद्धान्त की मान्यताएँ गलत होने के कारण कीमत-स्तर पर केवल M का ही प्रभाव नही होता, बल्कि V, V', T तथा M' भी उसे प्रभावित करते है। P में उस समय भी परिवर्तन हो सकता है जब M में कोई परिवर्तन नही होता, केवल V में परिवर्तन होता है। दूसरी ओर, M में परिवर्तन होने पर भी यह आवश्यक नही कि P में भी परिवर्तन हो, क्योंकि T में होने वाला परिवर्तन M के परिवर्तन को अप्रभावी कर सकता है।

(2) समीकरण के तत्वों (factors) का मापना बहुत कठिन है। किसी समय चलन में मुद्रा की मात्रा (M) जानने के लिए निजी कोषो में सचित मुद्रा की मात्रा जानना आवश्यक होता है, परन्तु इसका अनुमान लगाना बहुत कठिन होता है। भारत जैसे देशो में बहुत भारी बिना हिसाब की मुद्रा (unaccounted money) भी चलन में होती है। इसी प्रकार, किसी समय कितने साख-पत्र चलन में हैं, इसका अनुमान करना कठिन होता है। चलन-गति की सही सही माप कर पाना कठिन ही नही, लगभग असम्भव है। केवल मुद्रा का ही नही, वस्तुओ का भी प्रचलन-वेग होता है, क्योकि उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुँचने में प्रत्येक वस्तु को अनेक हाथो से होकर जाना पडता है। फिशर द्वारा V, V' तथा T को स्थिर मान लेने से समस्या हल नही होती, क्योंकि ये सब स्थिर नही रहते, परिवर्तनशील होते है। सामान्य कीमत-स्तर (P) भी औसत होने के कारण वास्तविक स्थिति प्रकट नही करता और न ही यह मुद्रा की क्रय-शक्ति का सही माप होता है।

(3) कीमत-स्तर केवल मुद्रा की मात्रा द्वारा ही निर्धारित नहीं होता, अमौद्रिक कारणो का भी उस पर प्रभाव पडता है। माँग में असाधारण परिवर्तन, अकस्मात् राजनीतिक अशाति, उत्पादन की मात्रा तथा लागत में परिवर्तन, सरकार की वित्त-नीति, विदेशी बाजारो के उतार-चढाव इत्यादि ऐसे कारण है जिनका रूप अमौद्रिक होते हुए भी इनका कीमत-निर्धारण पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। डी कॉक (De Cock) ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है,

"इस सिद्धान्त मे मुद्रा की मात्रा पर अनावश्यक रूप से बल दिया गया है, मानो यही आर्थिक परिवर्तन का एकमात्र अथवा प्रमुख कारण हो। यह कीमतो के स्तर पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देता है, जैसे कीमतो मे परिवर्तन अर्थ-व्यवस्था के सबसे खतरनाक तथा महत्वपूर्ण तत्व हो यही नही, मुद्रा के परिमाण और वस्तुओ की कीमतो के स्तर मे कोई निकट और प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है।"[1]

(4) मुद्रा के मूल्य-निर्धारण मे यह सिद्धान्त मुद्रा की पूर्ति को अधिक महत्व देता है। मुद्रा की माँग (व्यापार की मात्रा) को स्थिर मान लेने से मूल्य-निर्धारण मे माँग-पक्ष का महत्व समाप्त-सा हो जाता है और केवल पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनो को मूल्य-परिवर्तनो का कारण समझा जाता है, जो सर्वथा गलत है। केन्ज द्वारा प्रतिपादित मुद्रा के मूल्य निर्धारण सिद्धान्त मे माँग पक्ष को भी उचित महत्व दिया गया है।

(5) इस सिद्धान्त द्वारा यह स्पष्ट नहीं होता कि मुद्रा की पूर्ति में होने वाले परिवर्तन कीमत-स्तर को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। यह सिद्धान्त मुद्रा की मात्रा तथा कीमत-स्तर मे प्रत्यक्ष तथा आनुपातिक सम्बन्ध पर आधारित है। किन्तु हायेक (Hayek) तथा हॉट्रे (Hawtrey) के विचार मे यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष न होकर ब्याज मे होने वाले परिवर्तनो द्वारा परोक्ष रूप से होता है। परिमाण सिद्धान्त इस सम्बन्ध के वास्तविक रूप का स्पष्टीकरण नहीं करता, यह इसकी एक बहुत बडी त्रुटि है।

(6) परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की चलन-गति को विवेचना नहीं करता। हम देख चुके है कि मुद्रा की चलन-गति अनेक बातो द्वारा प्रभावित होती है, परन्तु यह सिद्धान्त उनकी विवेचना नही करता। मार्शल के अनुसार, मुद्रा के मूल्य निर्धारण सम्बन्धी सिद्धान्त का मुद्रा की चलन-गति को प्रभावित करने वाले कारणो पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

(7) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त व्यापार-चक्रो के कारण कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो की व्याख्या नहीं करता। आर्थिक क्रियाओ का उतार-चढाव, जिन्हे व्यापार-चक्र (trade cycles) कहा जाता है, एक स्वाभाविक क्रम है। तेजी अथवा समृद्धि (boom or prosperity) के पश्चात सुस्ती (recession) और फिर मन्दी की स्थिति (depression) आती है, चेतना की स्थिति (recovery) उत्पन्न होने पर आर्थिक दशा फिर से सुधरने लगती है। मन्दी की स्थिति मे मुद्रा की मात्रा यथास्थिर रहने पर भी कीमत-स्तर गिर जाता है तथा मुद्रा का मूल्य ऊँचा होता है। तेजी के काल म मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन हुए विना ही कीमत-स्तर ऊँचा उठ जाता है तथा मुद्रा का मूल्य गिर जाता है। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कीमतो की समस्या के इस पहलू की व्याख्या नही करता। क्राउथर के अनुसार, "परिमाण सिद्धान्त अधिक से अधिक व्यापार-चक्रो के कारणो का अपूर्ण मार्गदर्शन है। मुद्रा का अभाव चेतना को मन्दी मे बदल सकता है, किन्तु यह एक-मात्र कारण नही है, मन्दी उस समय प्रारम्भ हो सकती है जब मुद्रा का कोई अभाव न हो।"[2]

(8) यह सिद्धान्त सापेक्ष कीमतो (relative prices) मे उत्पन्न हुए परिवर्तनो को स्पष्ट नहीं करता। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा तथा सामान्य कीमत-स्तर (general price level) के पारस्परिक सम्बन्धो की व्याख्या की जाती है, परन्तु व्यक्तिगत कीमतो की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, जबकि व्यावहारिक दृष्टिकोण से उनका भी महत्व होता है। उदाहरणत एक निर्धन देश मे खाद्य सामग्री की कीमतो मे वृद्धि के कारणो का जानना सामान्य कीमत-स्तर मे वृद्धि के ज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण होगा। प्रो॰ हायेक (F A Von Hayek) तथा प्रो॰ चेण्ड-लर (Lester V. Chandler) न मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त की इसी आधार पर आलोचना की है।

(9) विनिमय-समीकरण मे कुछ असंगतियाँ (inconsistencies) भी हैं। हॉम (Halm) के अनुसार, "हमे समीकरण के इस दोष को नही भूलना चाहिए कि यद्यपि मुद्रा की मात्रा (M) समय के क्षण (point of time) से सम्बन्धित है, परन्तु इसकी चलन-गति (V) का सम्बन्ध समय की अवधि (period of time) से है। ऐसी स्थिति म MV का अर्थ यह होगा कि जब तक यह न माना

1 De Cock · *Central Banking*, p 146.
2 G. Crowther *An Outline of Money*, p 117.

जाय कि M मुद्रा की वह मात्रा है जो समय के निश्चित क्षण में नहीं बल्कि समय की अवधि में चलन में होती है तब तक दो असमान तत्वों को एक साथ गुणा करने के कारण असंगति की भयानक समस्या उत्पन्न हो जायेगी।"[1]

(10) **मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की तर्क-विधि उल्टी है।** P को निष्क्रिय तत्व मानते हुए, मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तन को कारण (cause) तथा कीमत-स्तर में होने वाले परिवर्तन को परिणाम (result) समझा गया है। प्रायः होता भी ऐसा ही है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन के परिणामस्वरूप कीमत-स्तर में उतार-चढ़ाव होता है। परन्तु कुछ आलोचकों का मत है कि स्थिति इसके विपरीत भी हो सकती है, अर्थात् कीमतों का उतार-चढ़ाव मुद्रा की मात्रा को प्रभावित कर सकता है। कीमतें बढ़ने पर मुद्रा की चलन-गति तो बढ़ ही जाती है, साख-मुद्रा तथा विधि ग्राह्य मुद्रा की भी मात्रा बढ़ती है।

(11) **मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की क्रय शक्ति का सही ढंग से माप करने के बजाय नकद सौदों का मापक बन जाता है।** सामान्य कीमत-स्तर में केवल उपभोग की वस्तुओं की कीमतें ही नहीं होतीं बल्कि अनेक उत्पादक वस्तुएँ भी सम्मिलित होती हैं। सभी प्रकार की वस्तुओं का समावेश होने के कारण मुद्रा की क्रय-शक्ति की उचित माप नहीं हो पाती जिसका उपभोक्ता की दृष्टि से बहुत महत्व है। इसीलिए केन्ज का विचार है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की क्रय शक्ति की माप करने के स्थान पर नकद व्यवसाय की माप करता है।

(12) **यह सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य का दीर्घकालीन विश्लेषण करता है।** सिद्धान्त की मान्यताओं की अवास्तविकता के आधार पर की गयी आलोचना के सम्बन्ध में फिशर ने यह स्पष्टीकरण दिया था कि ये मान्यताएँ अल्पकाल में कभी-कभी ठीक नहीं भी होतीं, किन्तु दीर्घकाल में ठीक होती हैं। वास्तव में, अल्पकाल में मुद्रा के मूल्य में इतने भयंकर तथा महत्वपूर्ण परिवर्तन हो सकते हैं कि उनकी उपेक्षा करना सर्वथा अनुचित होगा। केन्ज के अनुसार, "दीर्घकाल के अध्ययन से क्या लाभ है, दीर्घकाल में तो हम सब मर जाते हैं।"

(13) **परिमाण सिद्धान्त समय विलम्ब के महत्व को स्वीकार नहीं करता।** M में होने वाले परिवर्तनों का P पर तत्काल ही प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि धीरे-धीरे पड़ता है। यह सम्भव है कि इस अन्तरिम काल में परिस्थितियों में कुछ परिवर्तन हो जाय तथा कीमत-स्तर (P) में होने वाले परिवर्तन मुद्रा की मात्रा (M) में होने वाले परिवर्तनों के अनुपात में हों। परिमाण सिद्धान्त इस विषय पर मौन है।

(14) **इस सिद्धान्त में मुद्रा के मूल्य संचय कार्य का ध्यान नहीं रखा जाता।** मुद्रा का कार्य केवल विनिमय का माध्यम होना ही नहीं है, अपितु यह मूल्य का संचय भी करती है। केन्ज के विचार में मूल्य-निर्धारण में मुद्रा की केवल उस मात्रा का महत्व है जो तरल मुद्रा (liquid money) है तथा जो विनिमय-माध्यम के रूप में कार्य करती है। संचित मुद्रा (hoarded money) को मुद्रा की मात्रा (M) में सम्मिलित करना गलत है। परन्तु परिमाण सिद्धान्त का इस सम्बन्ध में दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं है।

(15) **मुद्रा का मूल्य कुल आय का परिणाम होता है, मुद्रा की मात्रा का नहीं।** क्राउथर के शब्दों में, 'मुद्रा का मूल्य, यथार्थ में, आयों के योग का परिणाम है न कि मुद्रा की मात्रा का। इस प्रकार, कुल आयों में होने वाले उतार-चढ़ाव के कारणों को खोजने की दिशा में हमें कार्य करना चाहिए।"[2]

(16) **यह सिद्धान्त खर्चे के आकार में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या नहीं करता।** फिण्डले शिराज (Findlay Shirras) के अनुसार, "खर्चे के आकार की तुलना में मुद्रा की मात्रा एक गौण कारण है। मूल्य-परिवर्तन आर्थिक प्रणाली की सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना नहीं है तथा आज हम सभी का यह कहना है कि मन्दी का कारण आय तथा खर्चे की कमी है, न कि

1 G. N. Halm *Monetary Theory*, p. 22.
2 G. Crowther *An Outline of Money*, p. 124

मुद्रा की कमी।"[1] परिमाण समीकरण द्वारा यह नहीं पता चलता कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन किस प्रकार खर्च में परिवर्तन करते हैं जिसके कारण कीमतें प्रभावित होती हैं।

(17) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को सिद्धान्त कहना उचित नहीं है। निकलसन (Nicholson) के अनुसार मुद्रा की मात्रा तथा कीमत-स्तर में सम्बन्ध एक साधारण तथ्य है, उसमें केवल एक प्रवृत्ति का पता चलता है और प्रवृत्ति को ही सिद्धान्त कहना युक्तिसगत नहीं है। मार्गेट (Marget) के शब्दों में, "परिमाण समीकरण उन कारणों अथवा तत्वों का जिनका प्रभाव सम्भवत कीमतों पर पड़ता है, केवल एक संक्षिप्त (shortband) वर्णन है।"[2]

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में सत्यता

उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर कोई भी व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि मुद्रा का परिणाम सिद्धान्त निरर्थक ही है। केन्ज के विचारानुसार यह सिद्धान्त न केवल दोषपूर्ण तथा काल्पनिक है, अपितु अपूर्ण भी है। गणित की दृष्टि से भी यह सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है। यह सब कुछ देखने के पश्चात भी सत्य तो यह है कि इस सिद्धान्त को पूर्णत तथ्यहीन नहीं कहा जा सकता। **मुद्रा की मात्रा तथा कीमत-स्तर में भले ही प्रत्यक्ष समानुपातिक सम्बन्ध न हो परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मुद्रा की मात्रा का कीमत-स्तर पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य रहता है।** स्वय फिशर ने अनेक ऐसे ऐतिहासिक उदाहरण दिये हैं जब मुद्रा की मात्रा का कीमत स्तर पर प्रभाव पड़ा है .

1 *स्पेन के खोजकर्ताओं द्वारा अमरिका में चाँदी की खानों का पता चलने पर जब* उन्होंने चाँदी यूरोप के देशों में भेजनी आरम्भ की तो चाँदी के सिक्कों की मात्रा बढ़ी और कीमत-स्तर भी ऊँचा हो गया। कालान्तर में इन देशों में जनसंख्या बढ़ने पर जब मुद्रा की माँग बढ़ी और दूसरी ओर अमरिका से चाँदी का आयात कम हो गया, तो कीमत-स्तर नीचा हो गया।

2 इगलैण्ड में सन् 1820–1844 की अवधि में मुद्रा की पूर्ति माँग की अपेक्षा कम होने पर वस्तुओं की कीमतों में भारी गिरावट आयी थी।

3 सन् 1844 के आस-पास आस्ट्रेलिया और कैलीफोर्निया की खानों से जब सोना स्वर्णमान वाले देशों को गया, तो मुद्रा की मात्रा बढ़ी जिससे मुद्रा का मूल्य गिर गया। परन्तु बाद में जब इन खानों से सोना निकालना बन्द कर दिया गया, तो मुद्रा का मूल्य बढ़ गया अर्थात् कीमत-स्तर गिर गया।

4 1873 में मैक्सिको में चाँदी की खानों का पता चलने पर रजतमान वाले देशों में मुद्रा *की मात्रा बढ़ी तथा कीमत-स्तर भी ऊँचा हुआ।*

5 1896 में ट्रान्सवाल में सोने की खानें मिलने पर स्वर्णमान वाले देशों में कीमत-स्तर बढ़ गया।

6 प्रथम महायुद्ध तथा युद्धोत्तर-काल में जर्मनी में पत्र मुद्रा के अधिक प्रसार के कारण कीमतें बहुत अधिक बढ़ गयीं।

7 1929 तथा उसके बाद मन्दी काल में मुद्रा-संकुचन के कारण कीमतें गिरी।

8 द्वितीय महायुद्ध-काल में भी पत्र-मुद्रा के अधिक प्रसार के कारण कीमतों में काफी वृद्धि हुई।

यदि हम अपने देश का ही उदाहरण लें तो पिछले कुछ वर्षों से लगातार कीमतें बढ़ने में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होना एक महत्वपूर्ण कारण रहा है।[3]

---

1 G Findlay Shirras *Economic Journal*, Sept 1947, p 398

2 "The quantity equations themselves are nothing more or less than shorthand expression designed to indicate the nature of variables whose operation can be shown to influence prices "—A W. Marget *The Theory of Prices*, p 81

3 इस विषय के विस्तारपूर्वक अध्ययन के लिए प्रस्तुत पुस्तक के लेखक डा० टी० टी० सेठी की पुस्तक '*Price Strategy in Indian Planning*' देखिए।

यदि मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त के गणितात्मक स्वरूप पर ध्यान न दें और इसे एक प्रवृत्ति का सूचक मान लें, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कुछ विशेष परिस्थितियों में मुद्रा की मात्रा का कीमत-स्तर पर आनुपातिक तो नहीं परन्तु कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। रॉबर्टसन के साथ हमें सहमत होना ही पड़ेगा कि "मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य समझने के लिए एक विचित्र सत्य है जिसका समझना वास्तविक जीवन में मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं की कीमत में सम्पर्क स्थापित करने के लिए आवश्यक है।"

4 केम्ब्रिज विचारधारा (Cambridge Approach)

फिशर की व्याख्या में सुधार के रूप में केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों—मार्शल, पीगू, रॉबर्टसन, केन्ज—ने एक अन्य व्याख्या प्रस्तुत की है जिसे 'केम्ब्रिज व्याख्या' कहा जाता है। वैसे तो इसकी ओर कुछ संकेत प्राचीन अर्थशास्त्रियों—पैटी, लॉक, केण्टिलन तथा एडम स्मिथ—के लेखों में भी मिलते हैं, परन्तु इसका वास्तविक विकास केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों द्वारा ही हुआ है। जिस प्रकार अमेरिका में फिशर की व्याख्या बहुत प्रसिद्ध है यूरोप, विशेषत इंगलैण्ड, में केम्ब्रिज व्याख्या को अधिक मान्यता दी गयी है।

फिशर की व्याख्या को नकद-भुगतान दृष्टिकोण (Cash Transaction Approach) तथा केम्ब्रिज व्याख्या को नकद-शेष दृष्टिकोण (Cash Balance Approach) भी कहा जाता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, फिशर की व्याख्या मुद्रा की उस मात्रा से सम्बन्धित है जो एक समय-अवधि (period of time) में विनिमय-कार्यों अथवा नकद भुगतानों के लिए काम में आती है। दूसरी ओर केम्ब्रिज व्याख्या उस मुद्रा मात्रा से सम्बन्धित है जिसे लोग किसी समय विन्दु (point of time) पर नकद कोष के रूप में अपने पास रखना चाहते हैं।

फिशर ने अपने समीकरण में मुद्रा की माँग को कुल व्यापारिक सौदों के मूल्य के बराबर माना था। केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों के अनुसार समाज की प्रत्येक अवस्था में लोग अपनी आय का कुछ भाग भविष्य के लिए बचाकर मुद्रा के रूप में रखना चाहते हैं। इसमें उनका उद्देश्य भविष्य में अपने उपभोग की वस्तुएँ खरीदना हो सकता है, अथवा वे इसे भविष्य की आकस्मिक आवश्यकताओं आदि के लिए सुरक्षात्मक उद्देश्य से बचाकर रखते हैं, अथवा इस बचत का उद्देश्य लाभोपार्जन हो सकता है। इस प्रकार नकद रूप में रखी हुई धन-राशि का उद्देश्य वस्तुओं तथा सेवाओं पर अधिकार सुरक्षित करना होता है। मार्शल के अनुसार, इस प्रकार समाज द्वारा रखी गयी कुल नकद राशि निश्चय ही सम्पूर्ण वार्षिक लाभ तथा सम्पत्ति का अंग होती है। **केम्ब्रिज दृष्टिकोण के अनुसार, समाज में मुद्रा की माँग व्यापारिक सौदों की मात्रा पर निर्भर नहीं करती, वरन् समाज द्वारा मुद्रा की नकद राशि अपने पास रखने की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है।** फिशर एवं केम्ब्रिज विचारधारा में यह सबसे बड़ा अन्तर है। चूँकि केम्ब्रिज दृष्टिकोण में मुद्रा की माँग सम्बन्धी धारणा को एक मौलिक तथा महत्वपूर्ण रूप दिया गया है, इसलिए इसे कुछ लोग 'मुद्रा का माँग सिद्धान्त' (Demand Theory of Money) कहते हैं।

केम्ब्रिज समीकरण में मुद्रा की माँग का अर्थ नकद-शेष (cash balances) **की माँग से लगाया जाता है।** नकद-शेष की यह माँग कुल वास्तविक राष्ट्रीय आय (real national income) अर्थात् अन्तिम उपभोग के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं के वार्षिक उत्पादन (annual goods and services produced for final consumption) से सम्बन्धित होती है। चूँकि सम्पूर्ण वास्तविक आय का उपभोग एक साथ नहीं कर लिया जाता, इसलिए नकद-शेष की माँग सम्पूर्ण वास्तविक आय के एक अंश के बराबर होती है। इस प्रकार, मुद्रा की माँग से अभिप्राय वास्तविक आय के उस अनुपात से है जिसे मुद्रा के रूप में रखा जाता है। केम्ब्रिज समीकरण में इसे K द्वारा व्यक्त किया जाता है।

मुद्रा की माँग अनेक बातों से प्रभावित होती है, जिनमें से कुछ निम्न हैं :

1. **मुद्रा की माँग का आधार कुल वास्तविक राष्ट्रीय आय है।** ऊपर बताया जा चुका है

कि किसी समय समाज द्वारा की गयी नक्द-कोष की माँग सम्पूर्ण वास्तविक आय के एक भाग के बराबर होती है ।

2. मुद्रा की माँग के निर्धारण मे समय-अवधि का महत्वपूर्ण स्थान है जिसे ध्यान मे रख कर समाज द्वारा मुद्रा के रूप मे नकद राशि रखी जाती है'। व्यापार का परिमाण स्थिर रहने पर भी समय-अवधि अधिक होने पर मुद्रा की माँग अधिक होगी तथा कम होने पर मुद्रा की माँग कम होगी । यदि लोग अपनी वार्षिक वास्तविक आय के दो माह के बराबर नक्द मुद्रा चाहते हैं तो K 1/6 होगा । एक माह के बराबर ही नकद मुद्रा चाहने पर K 1/12 होगा ।

3. मुद्रा की चलन-गति (V) तथा मुद्रा की माँग (K) मे सर्वथा विपरीत सम्बन्ध है । यदि किसी समय K 1/6 है तो इसका अर्थ यह हुआ कि सम्पूर्ण वास्तविक आय की खरीद के लिए नकद राशि को छ बार व्यय करना होगा । स्पष्ट है कि K 1/6 होने पर चलन-गति (V) 6 होगी ।[1] इस प्रकार,

$$K=\frac{1}{6},\quad V=6 \quad \text{or} \quad K=\frac{1}{V},\quad V=\frac{1}{K}$$



4. मुद्रा की माँग लोगो की तरलता-पसन्दगी (liquidity preference) पर निर्भर करती है । संचित मुद्रा का प्रयोग कई प्रकार से किया जा सकता है । इसे जायदाद खरीदने के काम मे, अथवा वस्तुओ का स्टॉक करने मे, अथवा कम्पनियो के शेयर खरीदने मे भी लगाया जा सकता है । परन्तु ऐसा करने से मुद्रा मे तरलता (liquidity) बहुत कम हो जाती है क्योकि आवश्यकता पड़ने पर इन्हे शीघ्र बेचकर इनके बदले मे कुछ और प्राप्त नही किया जा सकता । परन्तु मनुष्य के पास रखे हुए नकद धन मे सबसे अधिक तरलता होती है, क्योंकि उसे किसी भी समय किसी भी उपयोग मे लगाया जा सकता है । केम्ब्रिज विचार के अनुसार व्यक्तियो मे तरलता-पसन्दगी अधिक होने पर वे अधिक मुद्रा अपने पास रखना चाहेंगे, और मुद्रा की माँग अधिक होगी । तरलता-पसन्दगी कम होने पर मुद्रा की माँग भी कम होगी ।

5. मुद्रा की माँग पर अन्य बातो का भी प्रभाव पड़ता है, जैसे—आय प्राप्त होने की अवधि, वस्तुओं का कीमत-स्तर, देश की जनसंख्या, धन का वितरण, व्यवसाय की दशा, लेन-देन की आदत, मुद्रा की चलन-गति इत्यादि । वास्तव मे, उन सब बातो का जिनसे मुद्रा की चलन-गति बढती है, मुद्रा की माँग पर इसके विपरीत प्रभाव पड़ता है ।

केम्ब्रिज समीकरण (Cambridge Equation)

केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने नकद कोष की विचारधारा के समर्थन मे अलग-अलग समीकरण दिए हैं ।

मार्शल (Marshall) ने मुद्रा की माँग का आय तथा सम्पत्ति से सम्बन्ध निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त किया है :

$$M=ky+k'A$$

M मुद्रा की मात्रा का सूचक है, y मौद्रिक आय को सूचित करता है, k आय का वह भाग है जिसे लोग मुद्रा के रूप मे रखते हैं, A कुल सम्पत्ति के मूल्य का सूचक है तथा k' सम्पत्ति का वह भाग है जो मुद्रा के रूप मे रखा जाता है ।

बाद मे मार्शल के समर्थकों द्वारा सम्पत्ति-भाग ($k'A$) को अनावश्यक समझकर हटा दिया गया तथा समीकरण को निम्नलिखित रूप मे स्वीकार किया गया

$$M=ky$$

---

1 फिशर के समीकरण की V वास्तव मे $1/K$ से बड़ी होगी, क्योंकि वार्षिक भुगतानों का मूल्य कुल वार्षिक वास्तविक आय के मूल्य से अधिक होता है । देखिए, A. C. L. Day : *Outline of Monetary Economics*, p. 250 (फुटनोट) ।

किसी भी वर्ष की कुल मौद्रिक आय उस वर्ष में कुल वास्तविक उत्पादन (O) तथा कीमत स्तर (P) का गुणनफल होती है, इसलिए $y=PO$

चूँकि $M=ky$ अथवा $M=kPO$ का एक ही अर्थ है,

इसलिए $P=\frac{M}{kO}$

प्रो० पीगू (Pigou) ने मार्शल द्वारा दिये गये समीकरण को अधिक स्पष्ट करने के लिए निम्न समीकरण दिया है

$$P=\frac{KR}{M}$$

इस समीकरण में R से अभिप्राय समाज की वास्तविक आय से है जिसका किसी दिये हुए समय (उदाहरणार्थ एक वर्ष) में उपभोग किया जाता है। K वास्तविक आय का वह अनुपात है जो मुद्रा के रूप में रखा गया है। M कुल मुद्रा की मात्रा का तथा P मुद्रा के मूल्य का सूचक है।

उदाहरणार्थ वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में (पीगू ने इसे गेहूँ के रूप में मापा है) यदि वास्तविक आय 1000 इकाइयां है जिसका $\frac{1}{4}$ भाग नकद मुद्रा के रूप में रखा जाता है, तथा कुल मुद्रा की मात्रा 500 रुपये है, तो स्थिति यह होगी $R=1000$, $K=\frac{1}{4}$ तथा $M=500$ रुपये। ऐसा होने पर—

$$P=\frac{1000\times\frac{1}{4}}{500}=\frac{1}{2}$$

इस आधार पर मुद्रा का मूल्य 1 रुपये की $\frac{1}{2}$ इकाई होगा, अथवा प्रति इकाई कीमत 2 रुपये होगी।

समाज में लोग अपनी आय नकदी के रूप में रखने के अतिरिक्त बैंक जमाओं (bank deposits) के रूप में भी रखते हैं। प्रो० पीगू ने बैंक जमाओं को पृथक स्थान दिया है जबकि केम्ब्रिज समीकरण के मौलिक रूप में इनको जनता के नकद कोषों में ही सम्मिलित कर लिया गया था। संशोधन के पश्चात समीकरण का रूप निम्नवत् है

$$P=\frac{KR}{M}\,[C+h(1-C)]$$

अथवा

$$M=\frac{KR}{P}\,[C+h(1-C)]$$

P, K, R तथा M का वही अर्थ है जो पहले समीकरण में था। C का अभिप्राय उस (विधिग्राह्य) नकद राशि से है जिसे जनता अपने पास रखती है। h बैंक जमाओं का वह अनुपात है जिसे बैंक अपने पास नकद के रूप में रखते हैं। $1-C$ विधिग्राह्य नकद कोषों का वह भाग है जिसे लोग बैंकों में जमाओं के रूप में रखते हैं। इस समीकरण में बैंकों की जमा राशि को अलग स्थान देने के अतिरिक्त और कोई विशेष परिवर्तन नहीं है। परन्तु, चूँकि परम्परा से बैंकों में जमा राशि को नकद कोष के रूप में ही स्वीकार कर लिया जाता रहा है, इसलिए व्यवहार में प्राय मूल समीकरण $P=\frac{KR}{M}$ का ही प्रयोग किया जाता है।

फिशर एवं केम्ब्रिज विचारधारा में अन्तर

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि फिशर तथा केम्ब्रिज विचारधारा में मुख्य अन्तर 'मुद्रा की माँग' की धारणा की व्याख्या में है। फिशर के अनुसार मुद्रा की माँग व्यापार की मात्रा (T) पर निर्भर करती है, अर्थात् मुद्रा की माँग तुरन्त व्यय करने के लिए की जाती है, जबकि केम्ब्रिज विचारधारा के अनुसार मुद्रा की माँग मुद्रा संचय करने के लिए की जाती है।

इसके अतिरिक्त कीमत-स्तर (P) के निर्धारण में फिशर ने मुद्रा के परिमाण (अर्थात् पूर्ति) को महत्वपूर्ण माना है, जबकि केम्ब्रिज विचारधारा के अन्तर्गत मुद्रा की माँग को अधिक महत्व दिया गया है।

केन्ज के अनुसार फिशर के समीकरण मे P का सम्बन्ध सामान्य कीमत स्तर से है, परन्तु केम्ब्रिज समीकरण मे P का सम्बन्ध केवल उपभोग की वस्तुओ से है।

फिशर का समीकरण P का वह चित्र उपस्थित करता है जो क्रय-विक्रय के समाप्त होने के बाद (transaction ex-post) उत्पन्न होता है जबकि केम्ब्रिज समीकरण मे P क्रय-विक्रय के पूर्व (transaction ex-ante) का चित्र है।

फिशर के समीकरण मे मुद्रा की चलन-गति (V) पर जोर दिया गया है, जबकि केम्ब्रिज समीकरण म नकद-शेषो (cash balances) अथवा K पर जोर दिया गया है। रॉबर्टसन के अनुसार फिशर के समीकरण का सम्बन्ध उड़ती हुई मुद्रा (money on the wings) मे है, और केम्ब्रिज समीकरण का सम्बन्ध बैठी हुई मुद्रा (money sitting) से है। दूसरे शब्दो मे, फिशर की व्याख्या मे मुद्रा के विनिमय माध्यम सम्बन्धी कार्य पर बल दिया गया है, जबकि केम्ब्रिज व्याख्या इसके मूल्य-सचय कार्य पर बल देती है।

दोनो समीकरणो मे उपर्युक्त अन्तरो के बावजूद कुछ अर्थशास्त्री ऐसा सोचते है कि इनमे कोई विशेष मौलिक अन्तर नही है। यदि दोनो समीकरण एक ही आधार पर रखे जायें, अर्थात् पीगू के P (मुद्रा-मूल्य) को फिशर के P (मूल्य स्तर) मे परिणत कर दिया जाय तथा दोनो मे साख मुद्रा को अलग स्थान न देकर कुल मुद्रा म ही सम्मिलित कर दिया जाय, तो स्थिति इस प्रकार होगी

$$P=\frac{MV}{T} \text{ or } P=\frac{M}{KR}$$

MV तथा M समान हैं। अब अन्तर केवल इतना रह जाता है कि T तो समस्त सौदो का योग है, जबकि KR नकद मुद्रा की वह मात्रा है जो वस्तुओ तथा सेवाओ पर अधिकार प्राप्त करने के लिए रखी जाती है। यह ठीक है कि फिशर के समीकरण मे V को महत्व दिया गया है तथा केम्ब्रिज समीकरण म K महत्वपूर्ण है, परन्तु चूंकि K और V का विपरीत सम्बन्ध है, इसलिए $K=\frac{1}{V}$ कहा जा सकता है। इस आधार पर केम्ब्रिज समीकरण को फिशर के समीकरण के रूप मे आसानी से बदला जा सकता है, जैसे—

$$M=KTP^1 \text{ or } M=\frac{1}{V}TP \text{ or } MV=PT$$

इस प्रकार, दोनो समीकरण एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक ही सिद्धान्त के दो रूप हैं। परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि केम्ब्रिज समीकरण फिशर के समीकरण का एक सुधार है।

केम्ब्रिज विचारधारा की श्रेष्ठता

फिशर की व्याख्या की तुलना म केम्ब्रिज व्याख्या की श्रेष्ठता निम्नलिखित बातो से स्पष्ट हो जाती है

1. केम्ब्रिज समीकरण मुद्रा की माँग तथा पूर्ति दोनो के व्यावहारिक विश्लेषण पर आधारित है, अत यह मुद्रा के मूल्य निर्धारण सिद्धान्त को मांग तथा पूर्ति के सामान्य मूल्य निर्धारण सिद्धान्त स समन्वित कर देता है।
2. फिशर की व्याख्या से यह स्पष्ट नही होता कि मुद्रा की मात्रा म परिवर्तन होन से कीमत-स्तर म कैसे परिवर्तन होता है, परन्तु केम्ब्रिज व्याख्या कारण-परिणाम सम्बन्ध को स्पष्ट कर देती है। मुद्रा की मात्रा स्थिर रहने पर भी मुद्रा रखने की इच्छा म परिवर्तन कीमतो मे परिवर्तन का कारण बन सकता है।

---

1 रॉबर्टसन द्वारा दिय गये समीकरण का यही रूप है। इसम M मुद्रा की पूर्ति का सूचक है। K समय की अवधि जिसम सचय होता है, T व्यापार का परिमाण तथा P कीमत-स्तर, KTP सम्मिलित रूप से माँग के सूचक हैं।

3. फिशर की व्याख्या केवल दीर्घकालीन परिवर्तनों को ही महत्व देती है, परन्तु केम्ब्रिज व्याख्या अल्पकालीन परिवर्तनों का भी समाधान प्रस्तुत करती है।
4. हिक्स (Hicks) के अनुसार, केम्ब्रिज व्याख्या में वस्तुओं की माँग के वास्तविक कारण पर प्रकाश डाला गया है और उसके प्रभाव को भी स्पष्ट किया गया है। फिशर की व्याख्या इस दिशा में निष्क्रिय है।
5. केम्ब्रिज व्याख्या के आधार पर 'तरलता पसन्दगी सिद्धान्त' (Liquidity Preference Theory) का निर्माण हुआ है जो आय तथा रोजगार के निर्धारण में तथा आर्थिक संकट का नियन्त्रण करने की दृष्टि से मौद्रिक अधिकारियों की सीमाओं को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

केम्ब्रिज समीकरण में केन्ज द्वारा संशोधन

लॉर्ड केन्ज (Lord J M Keynes) भी केम्ब्रिज सम्प्रदाय के सदस्य थे, परन्तु पीगू द्वारा दिये गये समीकरण से सन्तुष्ट न होने के कारण उन्होंने अपनी पुस्तक *'A Tract on Monetary Reform'* में परिमाण सिद्धान्त का एक अलग से समीकरण दिया। केन्ज की मान्यता यह थी कि उपभोग इकाइयों (consumption units) से सम्बन्धित वास्तविक लेन-देन (real transactions) की एक निश्चित मात्रा के बराबर लोग अपने पास वास्तविक शेष (real balances) रखते हैं। वास्तविक शेष तथा वास्तविक लेन-देन की मात्राओं के आपसी सम्बन्ध अपरिवर्तित रहने पर नकद-शेष की मात्रा वास्तविक शेष में सम्मिलित उपभोग-इकाइयों की कीमतों द्वारा निर्धारित होती है। केन्ज द्वारा दिया गया समीकरण, जिसे 'वास्तविक शेष समीकरण' (Real Balance Equation) कहते हैं, इस प्रकार है

$$n=p\ (k+rk')$$

जिसमें n=चलन में नकद मुद्रा की कुल मात्रा, p=एक उपभोग-इकाई की कीमत, k=उपभोग-इकाइयों की संख्या जिन्हें समाज नकदी के रूप में रखना चाहता है, r=बैंकों के नकद-कोष का इनकी जमाओं (deposits) से अनुपात, k'=उपभोग-इकाइयों की संख्या जिन्हें समाज बैंक जमाओं के रूप में रखना चाहता है।

इस प्रकार, k k' तथा r स्थिर रहने पर (क्योंकि जनता की मुद्रा रखने की आदत में अल्पकाल में परिवर्तन नहीं होता) p में n के परिवर्तनों के अनुपात में घटा-बढ़ी होती है। यह समीकरण बताता है कि मुद्रा की माँग वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा पर निर्भर नहीं करती, अपितु जनता की नकदी के रूप में रखी मुद्रा पर आश्रित रहती है। कीमत-स्तर लोगों की उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं पर निर्भर करता है, क्योंकि इसी आधार पर लोग अपनी आय का एक भाग अपने पास नकदी के रूप में रखते हैं।

केन्ज का समीकरण केम्ब्रिज समीकरण के समान ही है क्योंकि इनके परिवर्तित रूप $p=\frac{n}{k+rk'}$ तथा $p=\frac{M}{KR}$ में कोई अन्तर नहीं है। यह फिशर के समीकरण से भी अधिक भिन्न नहीं है। मुख्य अन्तर केवल इतना है कि केन्ज एक नियत समय (point of time) की ओर संकेत करता है जिसमें समाज नकद के रूप में मुद्रा भविष्य के लेन-देन के लिए रखना चाहता है, तथा फिशर समय की एक अवधि (period of time) की ओर संकेत करता है, जिसमें मुद्रा विनिमय-भुगतानों के लिए आवश्यक समझी जाती है।

केन्ज का समीकरण त्रुटियों से रहित नहीं है। स्वयं केन्ज ने ही अपनी एक अन्य पुस्तक *'A Treatise on Money'* में इसकी आलोचना की है

1. केन्ज के समीकरण में p केवल उपभोग की इकाइयों से सम्बन्धित मूल्य स्तर की माप करता है, जबकि मुद्रा का संचय उपभोग के अतिरिक्त अनेक व्यापारिक तथा व्यक्तिगत कार्यों के लिए भी किया जाता है। इस प्रकार यह मुद्रा के मूल्य का संकुचित अर्थ में अध्ययन करता है।

2 मुद्रा सचय के तीन मुख्य उद्देश्य हो सकते हैं—सौदों के लिए (Transaction motive), सुरक्षात्मक (Precautionary motive), तथा सट्टेबाजी का उद्देश्य (Speculative motive)। परन्तु उपर्युक्त समीकरण म नकद मुद्रा रखने के लिए केवल प्रथम उद्देश्य को ही महत्व दिया गया है।

3 k, k' तथा r स्थिर रहने पर n और p मे एक आनुपातिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है। परन्तु वास्तविकता यह है कि मुद्रा की मात्रा अथवा ब्याज-दर मे परिवर्तन होने पर स्थिर माने गये तीनों तत्वो मे भी परिवर्तन होते हैं और n तथा p मे सीधा आनुपातिक सम्बन्ध नही रहता।

4 k तथा k' की सही माप करना कठिन है। निश्चित रूप से यह नहीं जाना जा सकता कि उपभोग की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए लोग अपनी आय का कितना भाग नकद अथवा साख-मुद्रा के रूप मे रखेंगे। इस अनिश्चितता के कारण समीकरण का व्यावहारिक महत्व कम हो जाता है।

वास्तविक शेष समीकरण के उक्त दोषो को ध्यान म रखते हुए केन्ज ने अपनी पुस्तक '*A Treatise on Money*' म इस समीकरण के सुधार के रूप मे **मौलिक समीकरणो** (Fundamental Equations) का निर्माण किया है। इनके द्वारा मुद्रा की मात्रा म परिवर्तनो का प्रभाव केवल कीमत-स्तर पर ही नही बल्कि लाभ, उत्पादन तथा आय के विवरण और पूंजी के निसचय के सम्बन्ध मे भी दिखाने का प्रयास किया गया है। मौलिक समीकरणो म व्यय (expenditure) तथा विनियोग (investment) को विशेष महत्व दिया गया है। परन्तु जैसा कि स्वय केन्ज ने स्वीकार किया है, "*ये समीकरण केवल विधिवत् एकरूपता व सिद्धवचन है, जो स्वय अपने आप कुछ भी नही बताते है और इस प्रकार मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के ही भिन्न रूपों के समान हैं।*"[1] वास्तव मे, ये समीकरण केवल मानसिक व्यायाम के साधन मात्र हैं, इनका कोई व्यावहारिक महत्व नही है।

5 मुद्रा का आय सिद्धान्त अथवा बचत एव विनियोग सिद्धान्त

मुद्रा का आय सिद्धान्त मुद्रा-मूल्य के स्पष्टीकरण का आधुनिक सिद्धान्त है। मुद्रा के मूल्य-निर्धारण मे यह सिद्धान्त बचत तथा विनियोग को महत्व देता है, इसलिए इसे बचत तथा विनियोग सिद्धान्त भी कहा जाता है।

यह सिद्धान्त केन्ज की ही देन समझा जाता है, यद्यपि इसे केन्ज के पूर्व भी प्रस्तुत किया जा चुका था। इसका उल्लेख टूक, विकसेल, आफ्तालियो, शुम्पिटर, हॉट्रे तथा रॉबर्टसन के लेखो मे मिलता है। सर्वप्रथम, 1844 मे टॉमस टूक (Thomas Tooke) ने लिखा था कि कीमतो का निर्धारण मुद्रा की मात्रा से नही वरन् मौद्रिक आय से होता है, मुद्रा की मात्रा तो स्वय कीमतो का परिणाम है।[2] टूक के सिद्धान्त को आधार मानते हुए स्वीडन के अर्थशास्त्री विकसेल (Wicksell) ने यह मत प्रकट किया कि कीमतो पर आय का महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। विकसेल के अनुसार, आय मे परिवर्तन वास्तविक ब्याज-दर (*natural rate of interest*) तथा बाजार ब्याज-दर (market rate of interest) पर निर्भर करता है। ब्याज-दर सन्तुलित होने पर आय स्थायी होती है तथा कीमतें भी स्थिर रहती हैं। ब्याज-दर कम होने पर विनियोग अधिक होगा, आय मे वृद्धि होगी तथा कीमत-स्तर ऊँचा होगा। ऊँची ब्याज-दर का प्रभाव इसके विपरीत होगा।

सन् 1825 मे फ्रांसीसी अर्थशास्त्री आफ्तालियो (Aftalion) ने आय सिद्धान्त को समीकरण के रूप मे प्रस्तुत किया। यह समीकरण $R=PQ$ है, जिसमे R=मौद्रिक आय, P=कीमत-स्तर, Q=कुल उत्पादन है। इसके आधार पर आफ्तालियो ने विचार प्रकट किया कि कीमत-

---

1 "All these equations are purely formal; they are mere identities, truisms which tell us nothing in themselves In this respect they resemble all other versions of the Quantity Theory of Money —J M. Keynes *A Treatise on Money*, Vol I, p 138

2 Thomas Tooke. *An Enquiry into the Currency Principle*, (1844), pp 123-24

स्तर में परिवर्तन मौद्रिक आय तथा वास्तविक आय (उत्पादन) के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर करता है। वास्तविक आय से मौद्रिक आय अधिक होने पर कीमत-स्तर बढ़ता है तथा मौद्रिक आय कम रहने पर घटता है।

आय सिद्धान्त का श्रेय केन्ज को इसलिए दिया जाता है कि उन्होंने इसे एक स्पष्ट तथा सरल समीकरण के रूप में प्रस्तुत किया। केन्ज के विचारों में परिवर्तन होता रहा। *'A Treatise on Money'* में केन्ज द्वारा व्यक्त किये गये विचार विक्सेल के विचारों से मिलते थे। परन्तु अपनी महान् पुस्तक *'General Theory of Employment, Interest and Money'* (1939) में उन्होंने पुराने विचारों को बिलकुल बदल दिया और निम्नलिखित समीकरण को प्रस्तुत किया

$$Y=C+S$$
$$Y=C+I$$
अथवा
$$I=Y-C$$
$$S=Y-C$$
$$C+S=C+I$$
अतः
$$S=I$$

Y=कुल आय
C=उपभोग
S=बचत
I=विनियोग

बचत 'आय' का वह भाग है जो उपभोग पर व्यय नहीं किया जाता तथा विनियोग आय का वह भाग है जो पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) पर व्यय किया जाता है। चूँकि आय केवल दो प्रकार से इस्तेमाल होती है उपभोग पर तथा बचत पर, इसलिए कुल आय=उपभोग+बचत ($Y=C+S$)।

केन्ज की यह मान्यता है कि बचत (S) तथा विनियोग (I) दोनों समान रहते हैं। व्यक्तिगत दृष्टिकोण से इनमें अन्तर होना सम्भव है, परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से नहीं। इसलिए यह कहना कि कुल आय $C+S$ के बराबर होती है अथवा $C+I$ के बराबर होती है, एक ही बात है। समाज की कुल बचत (S) बराबर होती है आय—उपभोग ($S=Y-C$) के, इसलिए विनियोग (I) भी $Y-C$ के बराबर होना चाहिए, क्योंकि बचत तथा विनियोग दोनों बराबर होंगे, अतएव $S=I$

केन्ज के अनुसार देश की अर्थ-व्यवस्था में सन्तुलन (equilibrium) तभी तक रहता है जब तक कि बचत तथा विनियोग में समानता होती है। इनमें असमानता होने पर असन्तुलन (disequilibrium) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। बचत की मात्रा विनियोग की मात्रा से अधिक होने पर कीमत स्तर नीचे गिरता है (अथवा मुद्रा का मूल्य बढ़ता है), और विनियोग बचत से अधिक होने पर कीमत-स्तर ऊँचा उठता है (अथवा मुद्रा का मूल्य गिरता है)। बचत तथा विनियोग बराबर रहने पर सन्तुलन की स्थिति होती है।

मुद्रा के आय सिद्धान्त के अनुसार अल्पकाल में कीमत स्तर में होने वाले परिवर्तन समाज द्वारा किये गये व्यय की मात्रा पर निर्भर करते हैं। वस्तुओं की मात्रा यथास्थिर रहने पर अथवा बढ़ जाने पर यदि उपभोग-व्यय की मात्रा घट जाती है (अर्थात् बचत बढ़ती है), तो कीमत-स्तर नीचे गिर जाता है। इसके विपरीत, यदि वस्तुओं की मात्रा यथास्थिर रहने पर अथवा बढ़ जाने पर उपभोग व्यय में भी वृद्धि होती है तो कीमत स्तर में वृद्धि होगी, अर्थात् मुद्रा का मूल्य गिर जायेगा। मन्दी काल में उपभोग-व्यय कम होने के कारण ही कीमतें गिरती हैं, तथा तेजी के काल में व्यय बढ़ने के कारण कीमतें ऊँची होती हैं। व्यय में परिवर्तनों का कारण आय में होने वाला परिवर्तन होता है। इस प्रकार कीमतों में परिवर्तन का कारण समाज की आय में होने वाला परिवर्तन है, और आय का स्तर समाज की बचत तथा विनियोग की मात्राओं पर निर्भर करता है।

आय सिद्धान्त की श्रेष्ठता

आधुनिक अर्थशास्त्री मुद्रा के मूल्य निर्धारण के लिए परिमाण सिद्धान्त की तुलना में आय अथवा बचत-विनियोग सिद्धान्त को श्रेष्ठ समझते हैं। आय सिद्धान्त मौद्रिक प्रश्नों से सम्बन्धित कुछ ऐसी बातें बताता है जिनकी व्याख्या परिमाण सिद्धान्त द्वारा नहीं की जाती है.

1 आय सिद्धान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा की कमी के कारण तेजी (boom) कैसे रुक जाती है, जबकि मुद्रा की मात्रा बढाने से मन्दी को नही रोका जा सकता। यह एक सर्वविदित बात है कि विनियोग में वृद्धि के लिए बैंकों से अधिक ऋण प्राप्त होना आवश्यक होता है। ऐसा न होने पर विनियोग की मात्रा बचत की मात्रा से कम हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप कीमतें गिरने लगती हैं तथा मन्दी की सृष्टि होने लगती है। इस प्रकार मुद्रा के अभाव मे तेजी रुक सकती है, परन्तु मन्दी की स्थिति मे मुद्रा तथा बैंक ऋणों की मात्रा बढाने से विनियोग की मात्रा को नही बढाया जा सकता। विनियोग मे वृद्धि लाभ की आशा अधिक होने पर ही सम्भव होती है। मन्दी के समय भविष्य के प्रति निराशा होने के कारण बढी हुई मुद्रा विनियोग को नही बढा सकती। इस प्रकार मुद्रा की उपमा ग्रामोफोन के नियन्त्रण-यन्त्र (गवर्नर) से दी जा सकती है जो ग्रामोफोन की चाल को एक सीमा से अधिक बढने नही देता, परन्तु बन्द हो जाने पर यह ग्रामोफोन को चालू नही कर सकता। बचत-विनियोग सिद्धान्त मन्दी अथवा तेजी के कारण कीमत-स्तर में होने वाले परिवर्तनों की सन्तोषजनक व्याख्या करता है।

2 आय सिद्धान्त परिमाण सिद्धान्त की अपेक्षा मुद्रा की चलन-गति (velocity of circulation) पर अधिक प्रकाश डालता है। परिमाण सिद्धान्त की दोनों व्याख्याएँ (फिशर तथा केम्ब्रिज) से हमें केवल इतना पता चला है कि V तथा K का विपरीत सम्बन्ध है। मुद्रा का नकद सचय (K) अधिक होने पर उसकी चलन-गति (V) कम हो जायेगी। ऐसा क्यों होता है? इसका सन्तोषजनक उत्तर इन व्याख्याओं में नहीं मिलता। आय सिद्धान्त यह स्पष्ट रूप से बताता है कि V तथा K में परिवर्तन लोगों की उपभोग अथवा बचत सम्बन्धी प्रवृत्ति मे परिवर्तनों का परिणाम होते हैं।

3 आय सिद्धान्त द्वारा दी गयी व्याख्या का ढग अधिक वैज्ञानिक है। मुद्रा की पूर्ति अधिक होने से ब्याज-दर कम होती है, जिससे विनियोग की वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है। विनियोग की वृद्धि के कारण रोजगार में वृद्धि होती है, जिससे आय बढती है और कीमतें बढ जाती हैं। इस प्रकार मुद्रा की कीमतों पर प्रभाव ब्याज-दर, विनियोग, रोजगार तथा आय के माध्यम से पडता है। यह व्याख्या परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक तथा विस्तृत है।

4 व्यावहारिक दृष्टिकोण से आय सिद्धान्त अत्यन्त सरल एव सूक्ष्म सिद्धान्त है और इसका समीकरण अत्यन्त स्पष्ट है। इसके सब तत्वों Y, S, I तथा C की गणना करना भी कठिन नहीं है, और इनसे सम्बन्धित सही आँकडे प्राप्त हो सकते हैं।

निष्कर्ष—वैसे तो केन्ज के आय सिद्धान्त की भी आलोचना की जाती है, परन्तु अल्पकालीन मूल्य-निर्धारण में यह सिद्धान्त मुद्रा परिमाण सिद्धान्त मे श्रेष्ठ है। वास्तविकता यह है कि आय सिद्धान्त तथा परिमाण सिद्धान्त दोनों ही अलग-अलग क्षेत्रों म महत्वपूर्ण हैं। आय सिद्धान्त अल्पकालीन मूल्य-निर्धारण पर प्रकाश डालता है जबकि परिमाण सिद्धान्त दीर्घकालीन मूल्य की व्याख्या करता है। क्राउयर के शब्दों मे, "मुद्रा परिमाण सिद्धान्त समुद्र के औसत स्तर को मापता है जबकि बचत और विनियोग सिद्धान्त इसके ज्वार-भाटों के वेग को।" (The Quantity Theory of Money explains, as it were the average level of sea, the Saving and Investment Theory explains the violence of the tides")

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 मुद्रा की माँग तथा पूर्ति से क्या अभिप्राय है? इन पर कौन-कौनसी बातों का प्रभाव पडता है?
[संकेत—मुद्रा की माँग तथा पूर्ति का अर्थ स्पष्ट कीजिए और इन दोनों को प्रभावित करने वाली दशाओं की अलग-अलग विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

2 मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए और इसकी सीमाओं पर प्रकाश डालिए।

[संकेत—परिमाण सिद्धान्त की परिभाषाएँ, मान्यताएँ तथा समीकरण बताने के बाद इसकी मीमांसा (आलोचनाओं) का विवेचन कीजिए।]

3 मुद्रा के मूल्य से क्या अभिप्राय है? क्या फिशर का परिमाण समीकरण मुद्रा के मूल्य निर्धारण की एक सन्तोषजनक व्याख्या है?

[संकेत—'मुद्रा के मूल्य' का सही अर्थ तथा कीमत स्तर से उसके सम्बन्ध की व्याख्या के पश्चात फिशर का समीकरण सरल में स्पष्ट कीजिए। विस्तारपूर्वक आलोचना के पश्चात यह बताइए कि अधिक उपयोगी न होने पर भी फिशर की व्याख्या पूर्णतः निरर्थक नहीं है।]

4 मुद्रा परिमाण सिद्धान्त का कैम्ब्रिज समीकरण दीजिए। क्या आप इसे फिशर के समीकरण पर एक सुधार मानते हैं?

[संकेत—कैम्ब्रिज समीकरण के विभिन्न रूप स्पष्ट करने के पश्चात इनका फिशर के समीकरण से अन्तर बताइए तथा यह स्पष्ट कीजिए कि किन किन बातों में यह उससे श्रेष्ठ है। अन्त में यह भी बताइए कि दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।]

5 मुद्रा परिमाण सिद्धान्त अन्य बातें स्थिर रहने पर ही सत्य सिद्ध होता है। यह अन्य बातें क्या हैं और क्या व्यवहार में वे स्थिर रहती हैं?

[संकेत—परिमाण सिद्धान्त की परिभाषाओं के आधार पर यह बताइए कि इसकी कुछ मान्यताएँ हैं उनका उल्लेख कीजिए तथा व्यावहारिक जीवन में उनकी अव्यावहारिकता पर प्रकाश डालिए।]

6 केन्ज द्वारा प्रतिपादित मुद्रा के आय सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। यह मुद्रा परिमाण सिद्धान्त से किन बातों में श्रेष्ठ है?

[संकेत—आय अथवा बचत विनियोग सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक समझाइए तथा परिमाण सिद्धान्त की तुलना में इसकी श्रेष्ठता का उल्लेख कीजिए।]

7 टिप्पणियाँ लिखिए (1) केन्ज का संशोधित कैम्ब्रिज समीकरण (2) बचत विनियोग समीकरण (3) मुद्रा की चलन-गति (4) मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त।

[संकेत—प्रत्येक का अर्थ तथा उनसे सम्बन्धित अन्य बातों का विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए।]

8

मुद्रा-मूल्य के परिवर्तनों का माप—निर्देशांक

[MEASUREMENT OF CHANGES IN MONEY-VALUE—INDEX NUMBERS]

"मुद्रा की क्रय-शक्ति का ठीक-ठीक माप न केवल असम्भव है, अपितु अविचारणीय भी है।"[1]
—मार्शल

मुद्रा का मूल्य उसकी क्रय-शक्ति है जिसमे सदा परिवर्तन होते रहते है। चूंकि मुद्रा के मूल्य तथा वस्तुओ और सेवाओं की कीमत मे विपरीत सम्बन्ध है, इसलिए मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का प्रभाव वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमत पर पडता है। कीमतो मे होने वाले परिवर्तनो का उत्पादन, रोजगार, आय तथा व्यय आदि अनेक आर्थिक क्रियाओं पर प्रभाव पडता है। जे० एल० हैन्सन के अनुसार, 'मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन उन सभी व्यक्तियो के लिए महत्वपूर्ण है जिन्हे अपनी आय मुद्रा के रूप मे प्राप्त होती है और जो मुद्रा के बदले मे वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय मे सलग्न हैं।" किसी भी देश मे आर्थिक स्थिति की जानकारी तथा उचित आर्थिकनीतियों के निर्धारण के लिए मुद्रा-मूल्य के परिवर्तनो के माप का बडा व्यावहारिक महत्व होता है। इन परिवर्तनो का माप एक गणितीय विधि से किया जाता है, जिसे निर्देशाक अथवा सूचक-अक (Index Numbers) कहते है।

निर्देशांक से अभिप्राय

सेक्रिस्ट (Secrist) के अनुसार, "निर्देशाक अको की एक श्रृखला है जिसके द्वारा किसी भी सामग्री के समय-समय अथवा स्थान-स्थान के परिवर्तनो को नापा जाता है।" मुद्रा के मूल्य का अनुमान वस्तुओं तथा सेवाओ की कीमत से लगाया जाता है। **किसी एक समय को आधार मानकर उसकी तुलना मे हुई कमी अथवा वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है।** व्यावहारिक अनुभव यह बताता है कि सभी वस्तुओं की कीमतो मे परिवर्तन एक साथ और एक ही दिशा मे समान रूप से नही होते और न ही उनके घटने-बढने की गति समान होती है। परन्तु इस प्रकार की स्थिति मे भी कीमत-परिवर्तन की एक सामान्य प्रवृत्ति होती है जिसे इन विभिन्न परिवर्तनो के औसत द्वारा जाना जा सकता है। निर्देशाक, जो एक तालिका के रूप मे क्रमबद्ध किये गये विभिन्न कीमत-स्तरों की औसत सख्या है, सामान्य कीमत-स्तर की केन्द्रीय प्रवृत्ति को प्रकट करता है। चैण्डलर के शब्दो मे, "कीमत का निर्देशाक आधार-वर्ष की तुलना मे किसी अन्य समय मे कीमतो की औसत ऊँचाई को प्रकट करने वाली सख्या है।"[2]

बढते हुए निर्देशाक इस बात के सूचक हैं कि सामान्य कीमत-स्तर बढ रहा है अथवा मुद्रा का मूल्य गिर रहा है। इसके विपरीत, गिरते हुए निर्देशाक सामान्य कीमत-स्तर के घटने अथवा मुद्रा का मूल्य बढने के सूचक हैं।

1 "A perfectly exact measure of the purchasing power of money is not only unattainable but even unthinkable."—Marshall

2 "An index number of prices is a figure showing the height of average prices at one time relative to their height at some other time that is taken as the base period."—Lester V. Chandler : *An Introduction to Monetary Theory*, p 10.

निर्देशांको के प्रकार

निर्देशांको के विषय पर सर्वप्रथम पुस्तक विशप फ्लीटवुड (Bishop Fleetwood) द्वारा 1707 ई० म लिखी गयी थी, परन्तु इनका वास्तविक प्रयोग 1860 के बाद ही आरम्भ हुआ। शुरू मे इनका प्रयोग अधिकतर मूल्य-परिवर्तनो की माप के लिए ही किया जाता था, किन्तु आर्थिक विकास के साथ साथ इनका प्रयोग अर्थ व्यवस्था के अन्य अगो की माप के लिए भी किया जाने लगा। आजकल निर्देशाक अनेक प्रकार के होते हैं, जिनमे मुख्य निम्नलिखित हैं .

(1) **थोक कीमतो के निर्देशाक** (The Wholesale Price Index Numbers)—वस्तुओ की थोक कीमतो के आधार पर तैयार किये गये ये निर्देशाक सामान्य कीमत-स्तर मे परिवर्तन मापने के लिए बहुत उपयोगी होते हैं। चूँकि इनमे कच्चे पदार्थों (raw materials) की थोक कीमतें भी सम्मिलित होती हैं, इसलिए उत्पादको के लिए इनका विशेष महत्व होता है। सरकार को भी अपनी मुद्रा तथा कीमत-नीति के निर्धारण मे इन निर्देशाकों से काफी सहायता मिलती है। भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार (Economic Adviser to the Government of India) द्वारा बनाये गये थोक कीमतो के निर्देशाक की नयी श्रेणी (New Series) म 139 विभिन्न वस्तुओ की थोक कीमतें सम्मिलित है। इन वस्तुओ को 7 मुख्य वर्गों म विभाजित किया जाता है (1) खाद्य-पदार्थ (food articles), (2) शराब तथा तम्बाकू (liquor and tobacco), (3) ईंधन, शक्ति रोशनी तथा स्नेहक पदार्थ (fuel, power, light and lubricants), (4) औद्योगिक कच्चे पदार्थ (industrial raw materials), (5) रासायनिक पदार्थ (chemicals), (6) मशीनरी तथा यातायात का साज सामान (machinery and transport equipment), तथा (7) निर्मित पदार्थ (manufactures)। सभी वस्तुओं को उनके सापेक्षिक महत्व के अनुसार भार (weight) प्रदान किया जाता है। थोक कीमतो के निर्देशाक तैयार करना सरल होता है, परन्तु व्यवहार में उपभोक्ता का सम्बन्ध फुटकर कीमतो (retail prices) से अधिक होता है। इसलिए थोक कीमत निर्देशाक के आधार पर ठीक-ठीक अनुमान नही लग पाता कि मुद्रा की क्रय-शक्ति मे परिवर्तनों का उपभोग पर क्या प्रभाव पड़ा है।

(2) **जीवन-निर्वाह व्यय-निर्देशाक** (Cost of Living Index Numbers)—लोगो के उपभोग व्यय मे परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के निर्देशाको की आवश्यकता होती है। इनको उपभोक्ता कीमत निर्देशाक (Consumer Price Index Numbers) भी कहा जा सकता है। श्रमिक वर्ग (working class) के लिए यह निर्देशाक अलग से तैयार किये जाते हैं, जिनसे श्रमिको की आर्थिक स्थिति एव समस्याओ का अध्ययन किया जाता है तथा उनके वेतन तथा महँगाई भत्ते निर्धारित किये जाते है। भारत मे श्रमिक-वर्ग के उपभोक्ता कीमत निर्देशाक 27 केन्द्रों के लिए बनाये जाते है (जिनम से 17 केन्द्रो के लिए प्रकाशित होते हैं)। जानकारी प्राप्त करने का मुख्य साधन पारिवारिक बजट होता है। मध्यम-वर्ग के लिए 45 शहरो से 180 वस्तुओ तथा सेवाओ की फुटकर कीमतो के आधार पर भारत मे जो सूचकाक बनाये जाते है, उनको 'Consumer Price Index Numbers for Urban Non-manual Employees' कहते हैं।

(3) **प्रतिभूति कीमत निर्देशाक** (Index Numbers of Security Prices)—विभिन्न वर्गो की औद्योगिक तथा सरकारी प्रतिभूतियो के मूल्य निर्देशाक तैयार किये जाते है जिनसे इनके मूल्य मे परिवर्तन का ज्ञान होता रहता है। कुछ औद्योगिक प्रतिभूतियो पर प्राप्त लाभाश के भी सूचकाक तैयार किये जाते है जिनसे उद्योगो की स्थिति की जानकारी प्राप्त होती है।

(4) **उत्पादन निर्देशाक** (Production Index Numbers)—देश मे उत्पादन की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि की जानकारी के लिए भी निर्देशाक तैयार किये जाते है। भारत मे कृषि-उत्पादन तथा औद्योगिक उत्पादन के निर्देशाक अलग-अलग होते है। इनकी सहायता से उत्पादन स्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

(5) **आयात निर्यात निर्देशाक** (Index Numbers of Imports and Exports)—विदेशी व्यापार म आने वाली वस्तुओ—आयात तथा निर्यात—की कीमतो के आधार पर निर्देशाक तैयार किये जाते हैं जिनसे विदेशी व्यापार की स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है।

उपर्युक्त निर्देशांकों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के निर्देशांक भी होते हैं, जैसे—आय निर्देशांक, आर्थिक स्थिति निर्देशांक इत्यादि। इस प्रकार इनका क्षेत्र केवल वस्तुओं की कीमतों के माप तक ही सीमित नहीं है, परन्तु मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन जानने के लिए कीमत निर्देशांक ही महत्वपूर्ण है।

निर्देशांक का निर्माण

निर्देशांक के निर्माण में साधारणतया निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना पड़ता है

(1) **निर्देशांक का उद्देश्य (Purpose of Index Number)**—जैसा कि बताया जा चुका है, निर्देशांक अनेक प्रकार के होते हैं तथा अलग-अलग उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। कोई भी निर्देशांक बनाने के पूर्व इसका उद्देश्य निश्चित करना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए, यदि हमारा उद्देश्य उत्पादकों की क्रय शक्ति में परिवर्तन का अध्ययन करना है, तो उसके लिए थोक कीमतों का निर्देशांक उपयुक्त होगा। किन्तु यदि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन का प्रभाव उपभोक्ताओं पर देखना है, तो फुटकर कीमतों पर आधारित जीवन-निर्वाह व्यय निर्देशांक अधिक उपयोगी होगा। हैबरलर के अनुसार, "एक कीमत-स्तर की आर्थिक दृष्टि से उपयोगी परिभाषा हमारे मस्तिष्क में उद्देश्य से स्वतन्त्र नहीं हो सकती, और प्रत्येक उद्देश्य के लिए एक भिन्न प्रकार का निर्देशांक तैयार करना चाहिए।"[1]

(2) **आधार-वर्ष का चुनाव (Selection of the Base Year)**—निर्देशांक के निर्माण में हमें एक आधार-वर्ष का चुनाव करना पड़ता है जिसकी तुलना में प्रचलित कीमतों के परिवर्तनों का माप किया जाता है। आधार-वर्ष का औसत निर्देशांक 100 के बराबर मान लिया जाता है। यों तो किसी भी वर्ष को आधार माना जा सकता है, परन्तु सही जानकारी के लिए यह आवश्यक है कि यह एक सामान्य (*normal*) वर्ष हो। अभिप्राय यह है कि आधार-वर्ष आर्थिक तथा राजनैतिक अस्त-व्यस्तता से मुक्त हो। न तो यह किसी विशेष मुद्रा प्रसार अथवा संकुचन का वर्ष हो, और न ही युद्ध-काल का। वास्तव में एक उपयुक्त आधार-वर्ष एक जल-विभाजक के समान दो आर्थिक युगों का मध्य-स्थल होता है। भारत में थोक कीमतों के निर्देशांक 1961-62 को आधार मानते हैं।

(3) **वस्तुओं तथा सेवाओं का चुनाव (*Selection of Commodities and Services*)**—मुद्रा के माध्यम से इतनी अधिक वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है कि प्रत्येक वस्तु तथा सेवा की कीमत का निर्देशांक तैयार करना असम्भव होता है। अतएव कुछ विशेष वस्तुएँ तथा सेवाएँ चुन ली जाती हैं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि चुनी हुई वस्तु एक वस्तु-समूह का प्रतिनिधित्व करती हो। निर्देशांक में सम्मिलित वस्तुओं तथा सेवाओं की संख्या न तो इतनी कम हो कि उससे सामान्य प्रवृत्ति का ज्ञान न हो पाय और न ही इतनी अधिक हो कि उनको संभालने में कठिनाई हो। फिशर के अनुसार, *"जब तक निर्देशांक में 20 से अधिक वस्तुओं को सम्मिलित नहीं किया जाय तब तक इसकी कोई विशेष व्यावहारिक उपयोगिता नहीं होगी। यदि यह संख्या 50 तक हो, तो और अच्छी बात है।"*

(4) **वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों का चयन (Selection of the Prices of Commodities and Services)**—वस्तुओं तथा सेवाओं को चुन लेने के पश्चात यह निश्चय करना होता है कि निर्देशांक बनाने में इनकी कौनसी कीमतों का प्रयोग किया जाय। वस्तुओं की कीमतें थोक भी होती हैं तथा फुटकर भी, इसके अतिरिक्त कुछ नियन्त्रित (controlled) कीमतें भी होती हैं। थोक कीमतें मालूम करना सरल होता है, मुद्रा की सामान्य क्रय-शक्ति की जानकारी के लिए इनको लिया जा सकता है। किन्तु जीवन निर्वाह व्यय निर्देशांक के लिए फुटकर कीमतें ही अधिक उपयुक्त होंगी।

---

1 "An economically relevant definition of price level cannot be independent of purpose in mind and for each purpose a separate index number must be computed."—Haberler 'The Meaning and use of a General Price Index', *Quarterly Journal of Economics*, 1928, p 436

(5) **कीमतों का औसत निकालना (To Find out the Average of Prices)**—आधार-वर्ष में सब कीमतों को 100 मानते हुए अन्य वर्षों की कीमतों को आधार-वर्ष की कीमत के प्रतिशत में दिखाया जाता है। मान लीजिए आधार-वर्ष में गेहूँ की कीमत 50 रु० प्रति क्विण्टल है और निर्देशाक तैयार किये जाने वाले वर्ष में 200 रु० प्रति क्विण्टल, तब प्रतिशत के रूप में यह $\frac{200 \times 100}{50}$ = 400 होगा। इसी प्रकार, सभी वस्तुओं की कीमत का प्रतिशत अलग-अलग निकालने के बाद इन्हें जोड़कर वस्तुओं की संख्या से भाग देकर जो औसत निकाला जाता है उसे ही निर्देशाक कहते हैं। *आधार-वर्ष का औसत 100 ही रहता है, परन्तु अन्य वर्षों का इससे कम या अधिक हो सकता है।* इनके अन्तर से ही कीमत परिवर्तन की मात्रा का अनुमान लगाया जाता है। औसत निकालने में एक समस्या यह भी होती है कि औसत निकालने की कौनसी विधि अपनायी जाय। निर्देशाक बनाने में प्रायः अंकगणितीय औसत (arithmetical average) तथा रेखागणितीय औसत (geometrical average) का ही प्रयोग किया जाता है। विभिन्न मदों के मध्य अन्तर अधिक होने पर रेखागणितीय औसत अधिक सही परिणाम देता है।

साधारण निर्देशांक (Simple Index Number)

साधारण निर्देशाक के निर्माण के लिए हम अलग-अलग वस्तुओं की कीमतें आधार वर्ष में देख लेते हैं और प्रत्येक वस्तु की कीमत का निर्देशाक 100 के बराबर मान लेते हैं। तत्पश्चात चालू वर्ष की कीमतों को आधार-वर्ष की कीमतों के प्रतिशत में दिखाते हैं। चालू वर्ष से सम्बन्धित प्राप्त अंक जोड़ लिये जाते हैं, जिन्हें वस्तुओं की संख्या से विभाजित करने पर निर्देशाक प्राप्त हो जाता है। **कुछ काल्पनिक अंकों के आधार पर साधारण निर्देशाक के निर्माण** की विधि का एक उदाहरण नीचे दिया गया है।

थोक कीमतों का साधारण निर्देशाक
(आधार 1950=100)

(कीमत प्रति 40 किलो रुपयों में)

वस्तु संख्या	वस्तुएँ	आधार वर्ष 1950		सन् 1960		सन् 1970	
		कीमत	निर्देशाक	कीमत	निर्देशाक	कीमत	निर्देशाक
1	गेहूँ	10	100	20	200	45	450
2	चावल	20	100	50	250	70	350
3	दाल	15	100	30	200	45	300
4	चीनी	30	100	45	150	90	300
5	घी	200	100	300	150	500	250
			$\frac{500}{5}$ =100		$\frac{950}{5}$ =190		$\frac{1650}{5}$ =330

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि 1950, जो आधार-वर्ष है, का निर्देशाक 100 है, यह बढ़कर 1960 में 190 तथा 1970 में 330 हो गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि 1950 की तुलना में 1960 में 90 प्रतिशत कीमतें बढ़ी है तथा 1970 में 230 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। दूसरे शब्दों में, 1950 की तुलना में 1960 में मुद्रा का मूल्य 90 प्रतिशत तथा 1970 में 230 प्रतिशत कम हो गया है।

भारशील निर्देशांक (Weighted Index Number)

साधारण निर्देशाक इस मान्यता पर आधारित होता है कि इसमें सम्मिलित सभी वस्तुएँ समान महत्व की होती हैं। परन्तु वास्तविक जीवन में विभिन्न वस्तुओं का महत्व अलग-अलग होता है। उदाहरण के लिए, गेहूँ अथवा चावल की कीमतों में परिवर्तन का प्रभाव घी की कीमत

के परिवर्तन से अधिक होगा। इसलिए गेहूँ तथा घी को एकसा महत्व देना अवास्तविक होगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए विभिन्न वस्तुओं पर खर्च की गयी आय के औसत अनुपात के आधार पर अलग-अलग भार (weight) निश्चित किया जाता है। कीमत निर्देशांक को किसी वस्तु को दिये गये भार से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त होता है, उसको भारों के योग से विभाजित करने पर भारशील निर्देशांक प्राप्त किया जा सकता है। पहले उदाहरण में ली गयी वस्तुओं की कीमतों के भारशील निर्देशांक नीचे दिये गये हैं।

थोक कीमतों का भारशील निर्देशांक
(आधार 1950=100)

(कीमत प्रति 40 किग्रा रुपयों में)

क्रम संख्या	वस्तुएँ	भार	आधार-वर्ष 1950		सन् 1960		सन् 1970	
			कीमत	निर्देशांक	कीमत	निर्देशांक	कीमत	निर्देशांक
1	गेहूँ	7	10	100×7=700	20	200×7=1400	45	450×7=3150
2	चावल	5	20	100×5=500	50	250×5=1250	70	350×5=1750
3	दाल	4	15	100×4=400	30	200×4= 800	45	300×4=1200
4	चीनी	3	30	100×3=300	45	150×3= 450	90	300×3= 900
5	घी	1	200	100×1=100	300	150×1= 150	500	250×1= 250
		20		2000		4050		7250
				20		20		20
				=100		=202 5		=362 5

वही वस्तुएँ जिनकी कीमत के साधारण निर्देशांक 1950 के आधार पर 1960 में 190 तथा 1970 में 330 थे, भारशील होने पर 1960 में 202 5 तथा 1970 में 353 5 हो जाते हैं। भारशील निर्देशांक कीमतों में परिवर्तन सम्बन्धी सूचना साधारण निर्देशांक की अपेक्षा अधिक सही तरीके से व्यक्त करते हैं।

निर्देशांक की कठिनाइयाँ

एक सही निर्देशांक के निर्माण में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं

(1) **आधार-वर्ष के चुनाव में कठिनाई**—जैसा कि ऊपर बताया गया है, निर्देशांक के निर्माण में एक उपयुक्त आधार-वर्ष का होना आवश्यक होता है। आधार के रूप में चुने गये वर्ष का आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के दृष्टिकोण से सामान्य (normal) वर्ष होना भी आवश्यक होता है। परन्तु इस प्रकार के वर्ष का चयन करना कोई सरल कार्य नहीं होता, क्योंकि प्राय कोई भी वर्ष कुछ विशेष घटनाओं से सर्वथा रहित नहीं होता। इसके अतिरिक्त परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर आधार-वर्ष बदलते रहना पड़ता है। उदाहरणतया वर्तमान परिस्थितियों में द्वितीय युद्ध के पूर्व का कोई वर्ष आधार मानना अनावश्यक तथा अव्यावहारिक होगा।

(2) **प्रतिनिधि वस्तुओं तथा सेवाओं के चुनाव में कठिनाई**—वस्तुओं तथा सेवाओं का चुनाव निर्देशांक के उद्देश्य के अनुसार ही करना होता है। उदाहरण के लिए, यदि जीवन निर्वाह व्यय निर्देशांक बनाना है तो श्रमिकों के उपभोग पर आधारित निर्देशांक मध्यम वर्ग के लिए बेकार सा ही होगा, क्योंकि उनके उपभोग की वस्तुएँ भिन्न प्रकार की होती हैं। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह होती है कि समय में अन्तर के साथ-साथ वस्तुओं के गुण तथा स्वभाव में भी अन्तर पड़ जाता है। किसी एक वर्ग द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं में भी विभिन्नता आती रहती है।

(3) **कीमत-सकलन सम्बन्धी कठिनाई**—कीमतों से सम्बन्धित आँकड़े इकट्ठा करना एक कठिन तथा व्ययपूर्ण कार्य होता है। सगठित बाजार में थोक कीमतें जानने में तो विशेष कठिनाई नहीं होती, परन्तु जीवन-निर्वाह व्यय निर्देशांक के निर्माण में फुटकर कीमतें ही लेनी पड़ती हैं, जो

बहुत कठिन कार्य होता है। चूंकि विभिन्न स्थानों में एक ही वस्तु की फुटकर कीमत अलग-अलग होती है, इसलिए इन कीमतों के आधार पर बनाये गये निर्देशांक बहुत अधिक विश्वासप्रद सूचना नहीं दे पाते। कीमतों में विभिन्नताओं के कारण एक समय या एक देश के लिए बनाये गये निर्देशांक दूसरे समय या देश से सम्बन्धित सूचना नहीं दे पाते।

(4) **वस्तुओं के भार-निर्धारण में कठिनाई**—अलग-अलग वस्तुओं के महत्व में अन्तर होने के कारण निर्देशांक के निर्माण में उन्हें भार (weight) प्रदान करना पड़ता है। किन्तु विभिन्न वस्तुओं के सापेक्षिक महत्व तथा भार निश्चित करना एक कठिन कार्य है। एक ही वस्तु अलग-अलग व्यक्तियों तथा वर्गों के लिए भिन्न-भिन्न महत्व रखती है। समय तथा रुचियों में परिवर्तन के अनुसार भी वस्तुओं का महत्व बदलता रहता है। अतएव विभिन्न वस्तुओं को दिये गये भार अधिकांशतः अनुमानजनक ही होते हैं, जिनका सही होना आवश्यक नहीं होता।

(5) **औसत निर्धारण की कठिनाई**—औसत निकालने के कई तरीके हैं और अलग अलग तरीकों से औसत निकालने पर अलग-अलग निर्देशांक प्राप्त होते हैं। निर्देशांक-निर्माण के लिए किस औसत का प्रयोग किया जाय, यह निश्चय करना कठिन होता है।

(6) **समय में अन्तर के साथ साथ वस्तुओं के संग्रह में परिवर्तन की कठिनाई**—दो विभिन्न वर्षों की तुलना करते समय एक कठिनाई जो सामने आती है, यह है कि समय में अन्तर के साथ-साथ बहुत-सी नयी वस्तुएँ उपभोग में आती हैं अथवा महत्वपूर्ण हो जाती हैं, जबकि कुछ अन्य वस्तुएँ उपभोग से निकल जाती हैं। उदाहरण के लिए, नायलॉन के बने वस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ आज जितनी अधिक उपभोग की जाती हैं, कुछ वर्ष पूर्व नहीं थीं। आदत, अभिरुचि, आविष्कार तथा आय व कीमत में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं के प्रकार, मात्रा तथा गुण बदलते रहते हैं, जिसके कारण उनकी तुलना आधार-वर्ष से करना कठिन होता है। इस कठिनाई को कम करने के लिए मार्शल ने शृंखलाबद्ध निर्देशांक (Chain Index Numbers) के निर्माण का सुझाव दिया था जिसके द्वारा दो वर्षों की कीमतों की तुलना बीच के वर्षों की कीमतों के साथ कर सकते हैं। परन्तु यह भी कोई सरल पद्धति नहीं है, इसमें भी अनेक कठिनाइयाँ हैं।

निर्देशांक-निर्माण सम्बन्धी उक्त कठिनाइयों के कारण ही मार्शल ने यह निराशापूर्ण विचार प्रकट किया था कि "मुद्रा की क्रय-शक्ति का ठीक-ठीक माप न केवल असम्भव है, अपितु अविचारणीय भी है।" परन्तु फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि निर्देशांक पूर्णतया निरर्थक नहीं होते। व्यावहारिक कठिनाइयों के रहते हुए भी इनसे परिवर्तन की मात्रा का कुछ अनुमान तो हो ही जाता है। इस सम्बन्ध में रॉबर्टसन का विचार अधिक विवेकपूर्ण है कि "मुद्रा के मूल्य के परिवर्तन का उचित माप न तो सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्भव है, न व्यावहारिक दृष्टि से ही। फिर भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होता है, और यदि पर्याप्त सावधानी से काम लिया जाय तो कुछ व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए उसका माप काफी हद तक ठीक हो सकता है।"[1] निर्देशांक के निर्माण में जिन बातों के प्रति सावधानी आवश्यक होती है उनका उल्लेख पहले किया ही जा चुका है। उन बातों को ध्यान में रखने पर पूर्णतया सत्य न सही परन्तु काफी उपयोगी अनुमान प्राप्त किये जा सकते हैं।

निर्देशांकों की सीमाएँ

निर्देशांकों के निर्माण में न केवल अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आती हैं, बल्कि कुछ सैद्धान्तिक सीमाएँ भी होती हैं, जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं

1. निर्देशांक अनुमानजनक होते हैं तथा इनमें गणितात्मक सत्यता का अभाव रहता है।
2. भारशील निर्देशांक में भार-निर्धारण अवैज्ञानिक तथा ऐच्छिक होता है। भिन्न भिन्न वर्षों में एक ही वस्तु के भार बदल जाते हैं जिसके कारण परिणामों में भी अन्तर हो सकता है।

1 "The conclusion then is that neither in practice nor perhaps in theory it is possible to measure accurately the changes in the value of money Nevertheless, there is no doubt that the value of money changes, and if sufficient care is taken, measures accurate enough for some practical purposes can be found and used"—Robertson

3 इनका उपयोग केवल एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति तक ही सीमित होता है, क्योंकि जिस विशेष उद्देश्य के लिए निर्देशांक तैयार किया जाता है केवल उसके लिए ही वह उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

4 विभिन्न देशो मे आर्थिक परिवर्तनो की तुलना करने मे यह अधिक उपयोगी नही होते क्योंकि अलग अलग देशो म प्राय आधार-वर्ष, वस्तुओ तथा वस्तुओ की कीमतो म अन्तर होते हैं।

5 निर्देशांक द्वारा प्रकट किये गये परिणाम भ्रामक हो सकते हैं क्योकि यह सब तथ्यो का प्रयोग न कर केवल नमूने के तथ्य ही काम मे लाते हैं। वस्तुओं की उचित कीमत की जानकारी प्राप्त करना भी कठिन होता है तथा भार निर्धारण, वस्तुओ के चुनाव तथा उचित आधार के चुनाव में अनेक त्रुटियां हो सकती हैं।

निर्देशांक की सीमाओ के बारे मे कॉलबोर्न ने लिखा है कि "इस परिवर्तनशील ससार मे सैद्धान्तिक दोषो से बच सकना कठिन है और निकट भविष्य म, जहां तक हम देख सकते है, सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्देशांक-निर्माण की श्रेष्ठतम पद्धतियो का प्रयोग होना सम्भव नही होगा।"[1]

निर्देशांकों के लाभ

निर्देशांक के निर्माण की व्यावहारिक कठिनाइयां तथा सैद्धान्तिक सीमाएँ उनकी उपयोगिता को समाप्त नही कर देती। वास्तव म सीमाएँ तो प्राय सम्पूर्ण आर्थिक खोज मे निहित होती हैं, परन्तु सावधानी से इनका बहुत कुछ निवारण किया जा सकता है। निर्देशांक को आर्थिक जगत के दबावों को नापने का यन्त्र कहा जाता है। भले ही यह एक अपूर्ण यन्त्र सही, परन्तु इसका प्रयोग त्याग देना सम्भव नही है। व्यावहारिक रूप मे निर्देशांको से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं

(1) **मुद्रा के मूल्य का माप**—मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो का मूल्यांकन कई पहलुओ मे आवश्यक है। भविष्य के भुगतानो की सुविधा के लिए उत्पादन तथा रोजगार की दिशा निर्धारित करने के लिए तथा विभिन्न स्थानो अथवा वर्गों के लोगो की वास्तविक आय की जानकारी प्राप्त करने के लिए मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन को नापना आवश्यक होता है। इस कार्य मे निर्देशांक हमारे बहुत बडे सहायक हैं। क्राउथर के अनुसार, "निर्देशांक की टेकनीकल पद्धति के प्रयोग द्वारा मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो का माप सम्भव है।"

(2) **जीवन-स्तर मे परिवर्तन का ज्ञान**—समाज के विभिन्न वर्गों के जीवन-स्तर म सुधार के लिए यह आवश्यक होता है कि उनकी वास्तविक आय (real income) मे वृद्धि हो अर्थात् वे अपनी बढी हुई आय से वस्तुओं तथा सेवाओ की अधिक मात्रा प्राप्त कर सकें। कीमतें बढते रहने से मौद्रिक आय (money income) मे वृद्धि हो जाने पर भी वास्तविक आय नही बढती। जीवन-निर्वाह व्यय निर्देशांक से यह पता चलता है कि रहन-सहन का व्यय बढ रहा है या घट रहा है, अर्थात् वास्तविक आय मे कैसा परिवर्तन हो रहा है। इसी के आधार पर मजदूरो तथा मालिको के झगडे भी तय किये जा सकते हैं।

(3) **मजदूरी निर्धारण मे उपयोगिता**—चूंकि निर्देशांक वास्तविक आय मे होने वाले परिवर्तनो का सूचक होता है, इसलिए श्रमिको की मजदूरी के निर्धारण मे इससे बहुत सहायता मिलती है। प्राय प्रयास यह किया जाता है कि मजदूरो की वास्तविक आय न गिरने पाये जिससे उनके जीवन स्तर म गिरावट न हो।

(4) **उत्पादन सम्बन्धी जानकारी**—निर्देशांक से यह भी पता चलता है कि विभिन्न आर्थिक क्षेत्रो म विकास की स्थिति क्या है। कौन कौनसे उद्योगो मे उत्पादन बढ रहा है और कौनसे ऐसे हैं जिनम घट रहा है। कृषि-उत्पादन मे वृद्धि अथवा कमी का भी ज्ञान प्राप्त होता है। इसी जानकारी के आधार पर औद्योगिक तथा कृषि-विकास की नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं।

---

1 " the theoretical shortcomings are ineluctable in a changing world and at no time which we can foresee in the future could the theoretically best methods of compiling index numbers be put into operation" —Coulborn *A Discussion of Money*, p 80

(5) **विदेशी व्यापार सम्बन्धी ज्ञान**—आयात तथा निर्यात निर्देशांक से विदेशी व्यापार की स्थिति का ज्ञान होता है और इसके आधार पर भुगतान-सन्तुलन सुधारने के प्रयास किये जाते हैं।

(6) **व्यापार में सहयोग**—निर्देशांकों से प्राप्त जानकारी के आधार पर उत्पादक तथा व्यापारी आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाते हैं तथा उसके अनुसार अपनी योजनाएँ तैयार करते हैं। फिशर के अनुसार, "वस्तुओं का कीमत-स्तर स्थायी रखने तथा व्यापार में स्थिरता लाने के लिए निर्देशांक बहुत उपयोगी है।"

(7) **मौद्रिक तथा विकास सम्बन्धी नीति का निर्धारण**—स्थिरता एवं विकास के उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार को उपयुक्त नीति का निर्माण करना होता है। आधुनिक अर्थ-व्यवस्थाओं में कोई भी मौद्रिक अथवा विकास सम्बन्धी नीति विभिन्न प्रकार के निर्देशांकों की सहायता के बिना निर्धारित नहीं की जा सकती। हॉम के विचार में, "कीमत-स्तर जो निर्देशांकों के माध्यम से सुविधापूर्वक व्यक्त किये जा सकते हैं, मौद्रिक नीति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोगी हो सकते हैं।"

इस प्रकार, कीमत तथा आय की स्थिरता, व्यापारिक तथा औद्योगिक विकास, आर्थिक नीति के निर्माण आदि महत्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति में निर्देशांक द्वारा प्राप्त किये गये संकेत बहुत उपयोगी होते हैं। किन्तु, जैसा कि पहले बताया गया है, इनके निर्माण में विशेष योग्यता तथा सतर्कता की आवश्यकता होती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. **निर्देशांक क्या हैं और कैसे तैयार किये जाते हैं? साधारण तथा भारशील निर्देशांकों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।**
   [संकेत—निर्देशांक की परिभाषा तथा इनके निर्माण में ध्यान रखने वाली बातों की विवेचना के पश्चात् साधारण तथा भारशील निर्देशांकों में अन्तर उदाहरण की सहायता से समझाइए।]
2. **निर्देशांक के निर्माण में कौन-कौनसी कठिनाइयाँ सामने आती हैं? इनको कहाँ तक विश्वसनीय माना जा सकता है?**
   [संकेत—निर्देशांक निर्माण की कठिनाइयों तथा सीमाओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए और बताइए कि इनसे प्राप्त परिणाम पूर्णतया सत्य नहीं होते परन्तु फिर भी इनके आधार पर स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।]
3. **विभिन्न प्रकार के निर्देशांकों का उल्लेख कीजिए तथा इनके महत्व की व्याख्या कीजिए।**
   [संकेत—अलग-अलग उद्देश्यों के लिए बनाये गये निर्देशांकों का विवरण देने के पश्चात् निर्देशांकों से प्राप्त होने वाले लाभों की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।]
4. **"निर्देशांक देश की आर्थिक प्रगति के सूचक यन्त्र हैं।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं?**
   [संकेत—निर्देशांकों के निर्माण के विभिन्न उद्देश्यों तथा उनसे प्राप्त लाभों की व्याख्या के पश्चात् उनकी सीमाओं का उल्लेख कीजिए और बताइए कि ये एक संकेत मात्र हैं।]

9

मुद्रा-मूल्य में परिवर्तन—मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संकुचन

[CHANGES IN MONEY VALUE—INFLATION AND DEFLATION]

"यदि मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है, तो मुद्रा-संकुचन अनुपयुक्त है।"[1]

—कैन्ज

प्रत्येक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा के मूल्य में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों के मुख्यतया दो रूप होते हैं—मुद्रा-स्फीति (Inflation), तथा अव-स्फीति अथवा मुद्रा-संकुचन (Deflation)। पिछले 40 वर्षों में दो अन्य शब्दों का भी प्रयोग किया गया है—प्रस्फीति (Reflation) तथा अवस्फीति (Disinflation)। किसी भी मौद्रिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा-मूल्य में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों का स्वरूप तथा स्वभाव भली प्रकार समझ लिया जाय।

मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-स्फीति

मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन—ये दो ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है। प्रारम्भ में मुद्रा प्रसार का अर्थ यह समझा जाता था कि मुद्रा की मात्रा का विस्तार उसके पीछे रखे जाने वाले सुरक्षित कोष के अनुपात में अधिक हो गया है। परन्तु बाद में इसका प्रयोग उस स्थिति के लिए किया जाने लगा जबकि मुद्रा की मात्रा वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा से अधिक हो जाती है, जिसके परिणाम-स्वरूप कीमतों में वृद्धि होने लगती है। आधुनिक काल में केन्ज तथा उनके समर्थकों ने मुद्रा-प्रसार को रोजगार की स्थिति से सम्बन्धित किया है। मुद्रा-प्रसार की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

क्राउथर के विचार में, "मुद्रा-प्रसार की सरलतम तथा सर्वाधिक उपयोगी परिभाषा यह हो सकती है कि **मुद्रा-प्रसार वह स्थिति है जिसमें मुद्रा-मूल्य गिरता है अर्थात् कीमतें बढ़ती हैं।** ... 'मुद्रा-प्रसार प्राय बढ़ती हुई क्रियाशीलता तथा रोजगार से सम्बन्धित किया जाता है।"[2] इसमें सन्देह नहीं कि यह परिभाषा अति सरल है, परन्तु यह सही स्थिति को व्यक्त नहीं करती। वास्तव में, मुद्रा की मात्रा में प्रत्येक वृद्धि तथा उसके परिणामस्वरूप कीमतों में होने वाली वृद्धि मुद्रा-प्रसार नहीं कहलायेगी। उदाहरणार्थ, मन्दी-काल में मुद्रा की मात्रा में किया गया विस्तार तथा कीमतों का चढ़ाव मुद्रा-प्रसार नहीं कहा जायेगा, क्योंकि यह अर्थ-व्यवस्था के लिए हानिकारक नहीं, अपितु हितकर होता है। इसी प्रकार, रोजगार की स्थिति में प्रत्येक सुधार मुद्रा-प्रसार से सम्बन्धित करना अनुचित होगा।

केमरर (Kemmerer) के अनुसार, मुद्रा प्रसार वह स्थिति है 'जिसमें किये जाने

---

1 "Inflation is unjust and Deflation is inexpedient. Of the two perhaps deflation is the worse because it is worse in an impoverished world to provoke unemployment than to disappoint the rentier."—J. M. Keynes, *A Tract on Monetary Reform*.

2 "The simplest and most useful definition seems to be that inflation is a state in which the value of money is falling, i.e., prices are rising. Inflation is usually associated with rising activity and employment."—Crowther, *An Outline of Money*, p 107.

वाले व्यापार की तुलना मे चलन तथा निक्षेप मुद्रा की मात्रा अधिक हो।"[1] इस प्रकार केमरर उस स्थिति को मुद्रा प्रसार समझता है जब देश म व्यापार की मात्रा के रूप मे प्रकट की जाने वाली मुद्रा की माँग की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति अधिक होती है। जैसा कि केमरर ने एक अन्य स्थान पर लिखा है, यह आवश्यक नही कि मुद्रा-प्रसार की स्थिति मुद्रा की मात्रा बढने पर ही उत्पन्न हो। मुद्रा की मात्रा स्थिर रहने पर भी व्यापार की मात्रा म कमी हो सकती है, जिसके फलस्वरूप कीमतें बढने लगें और मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाय।

जैसा कि क्राउथर द्वारा दी गयी परिभाषा मे कहा गया है, यह आवश्यक नही कि मुद्रा की मात्रा म प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-प्रसार ही हो, कभी कभी यह वृद्धि मन्दी के पश्चात आर्थिक उत्थान के लिए भी की जा सकती है। इसके अतिरिक्त केमरर की परिभाषा कुछ अस्पष्ट भी है क्योकि इसने हमे यह नहीं पता चलता कि हम व्यापार तथा व्यवसाय की मौद्रिक आवश्यकताओ को कैसे निर्धारित करें। प्राय कीमतें बढने पर यह कहा जा सकता है कि मुद्रा की पूर्ति मुद्रा की माँग से अधिक है। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योकि हो सकता है कि कीमतो मे वृद्धि किसी अमौद्रिक कारण से हुई हो। इस प्रकार एक ओर तो मुद्रा की माँग का सही अनुमान लगाना कठिन होता है, दूसरी ओर मुद्रा की पूर्ति का अनुमान लगाना भी कठिन है, क्योकि चलन की मात्रा के साथ साथ चलन-गति (velocity) भी पूर्ति को प्रभावित करती है। अतएव मुद्रा की माँग तथा पूर्ति के आधार पर केमरर द्वारा दी गयी मुद्रा-प्रसार की परिभाषा को सन्तोषजनक नही कहा जा सकता।

हॉट्रे के अनुसार, "आर्थिक जीवन की **वह दशा जिसमे चलन का अत्यधिक निर्गमन हो, मुद्रा-प्रसार है।"**[2] केमरर की परिभाषा के समान यह भी अस्पष्ट है क्योकि "अत्यधिक निर्गमन" से अभिप्राय स्पष्ट नही है। यदि इसका निर्धारण मुद्रा की माँग के आधार पर करना है तो इसकी कठिनाइयो का उल्लेख हम केमरर की परिभाषा की आलोचना करते समय कर चुके हैं।

पीगू न मुद्रा-प्रसार की परिभाषा म एक विभिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। उनके विचार म, "मुद्रा प्रसार की स्थिति तब होती है जब मौद्रिक आय उत्पादन की तुलना मे बढ रही हो।"[3] एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है कि "मुद्रा-प्रसार उस समय होता है जब उत्पादन के साधनो, जिनको भुगतान के रूप म मौद्रिक आय प्राप्त होती है, के द्वारा किये गये कार्य की तुलना म मौद्रिक आय तेजी से बढ रही होती है।"[4] इस प्रकार, प्रो० पीगू के अनुसार मुद्रा प्रसार की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब देश म वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन में वृद्धि की तुलना म लोगो की मौद्रिक आय अधिक बढ जाती है। मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होने पर मौद्रिक आय बढती है जिसके परिणामस्वरूप उपभोग की वस्तुओ तथा सेवाओं की माँग बढती है तथा उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। धीरे धीरे उत्पादन की वृद्धि तथा मौद्रिक आय की वृद्धि में साम्य (equilibrium) स्थापित हो जाता है। इस बिन्दु के आगे मौद्रिक आय मे वृद्धि होने पर उत्पादन म वृद्धि नहीं होती, बल्कि वस्तुओं तथा सेवाओ की कीमतो म वृद्धि होने लगती है। यही असन्तुलन की स्थिति, जबकि मौद्रिक आय की वृद्धि उत्पादन की वृद्धि से अधिक होती है, मुद्रा-प्रसार की स्थिति होती है।

यह स्पष्ट है कि पीगू के अनुसार कीमतो की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा प्रसार नहीं है। उनके अनुसार पाँच दशाओ म कीमतो की वृद्धि मुद्रा प्रसार की श्रेणी में आती है (1) मौद्रिक आय म वृद्धि हो रही हो जबकि उत्पादन की मात्रा स्थिर हो, (2) मौद्रिक आय मे वृद्धि हो रही हो जबकि राष्ट्रीय उत्पादन की मात्रा घट रही हो, (3) मौद्रिक आय मे वृद्धि इतनी तीव्र हो कि उसका अनुपात उत्पादन की वृद्धि से अधिक हो (4) मौद्रिक आय यथास्थिर हो परन्तु राष्ट्रीय उत्पादन घट रहा हो, तथा (5) मौद्रिक आय घट रही हो और साथ मे उत्पादन मे भी कमी हो रही हो।

---

1 "Inflation is too much currency in relation to the physical volume of business being done —E W Kemmerer *A B C of Inflation* p 6

2 "The state in which there is over issue of currency is called inflation " —Hawtray

3 "Inflation exists when money income is expanding more than in proportion to income earning activity —Pigou · 'Types of War Inflation', *Economic Journal* Dec 1941, p 4

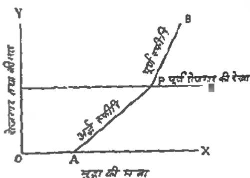
4 "Inflation is taking place when money income is expanding relatively to the output of work by productive agents for which it is the payment —Pigou *The Veil of Money*, p 34.

इस प्रकार प्रो० पीगू की मुद्रा-स्फीति की धारणा उत्पादन के साथ जुडी हुई है, जिससे यह ऊपर बतायी गयी सभी परिभाषाओ मे सबसे अधिक व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक है।

पूर्ण तथा अर्द्ध-स्फीति

प्रो० केन्ज ने मुद्रा प्रसार अथवा स्फीति को रोजगार की स्थिति से सम्बन्धित किया है। केन्ज के विचारानुसार पूर्ण रोजगार की अवस्था तक पहुँचने के पूर्व यदि मुद्रा की मात्रा का प्रसार होता है तो उसका एक भाग तो रोजगार के विस्तार मे सहायक होगा, परन्तु दूसरा भाग उत्पादन-लागत मे वृद्धि द्वारा कीमतो को बढायेगा। पूर्ण रोजगार की अवस्था के पूर्व की इस स्थिति को केन्ज ने अर्द्ध स्फीति (semi-inflation) कहा है। पूर्ण रोजगार के बिन्दु तक पहुँचने के बाद यदि मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होती है तो यह रोजगार को तो बढायेगी नही क्योंकि उत्पादन के अन्य साधनों का पूर्ण उपयोग हो चुका है, इससे केवल कीमते ही बढेंगी। केन्ज के अनुसार यह स्थिति पूर्ण-स्फीति (final inflation) की होगी।

प्रस्तुत रेखाचित्र (3) म *D* रेखा पूर्ण रोजगार की अवस्था को दिखाती है। मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि के परिणामस्वरूप यदि कीमतो मे वृद्धि रेखा *D* तक होती है, तो यह अर्द्ध-स्फीति की स्थिति होगी, और इसके आगे होने पर पूर्ण स्फीति की। कीमत की वक्र-रेखा पूर्ण रोजगार की रेखा को *P* बिन्दु पर छूती है।



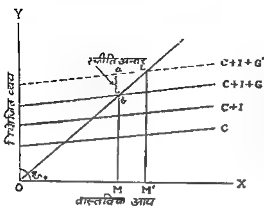
चित्र 3

आधुनिक अर्थशास्त्री प्राय केन्ज के विचारो को ही अधिक युक्तिसगत स्वीकार करते हैं। परन्तु यह विचार भी त्रुटियो से रहित नही है। पूर्ण रोजगार की स्थिति एक यथार्थ न होकर एक कल्पना मात्र है। इसको आधार मानना केवल सैद्धान्तिक रूप म ही ठीक हो सकता है, व्यावहारिक रूप म नही। इसके अतिरिक्त, यह विचार मान लेने पर ऐसे देशो मे जहाँ पूर्ण विकास नही हुआ है, स्फीति की स्थिति कैसी भी होने पर उसे अर्द्ध-स्फीति ही कहा जायेगा। अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि अधिकाश परिस्थितियो मे अकेला मुद्रा-प्रसार विकास को प्रोत्साहित नहीं कर पाता, बल्कि कभी-कभी तो यह अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न करके विकास के मार्ग म एक बाधा बन जाता है। यह सब व्यावहारिक कठिनाइयाँ देखते हुए, यही कहना अधिक उपयुक्त है कि मुद्रा की प्रचलित मात्रा म क्रय के लिए उपलब्ध वस्तुओ तथा सेवाओ की तुलना मे तीव्र तथा अचानक वृद्धि होना मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न करता है।

स्फीतिक अन्तर

मुद्रा-स्फीति की व्याख्या म प्रो० केन्ज ने स्फीतिक अन्तर (inflationary gap) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यह विचार उस स्थिति का निरूपण करता है जिसमे स्फीति के पूर्व (pre-inflation) की कीमतो पर आय का वह भाग जिसे खर्च करने की सम्भावना होती है, उपलब्ध उत्पादन अथवा पूर्ति की मात्रा से अधिक होता है। उपलब्ध उत्पादन रोजगार की मात्रा तथा उत्पादन की तकनीकी (technical) दशाओ पर निर्भर करता है। सम्भावित अथवा नियोजित व्यय (planned expenditure) उपभोग (*C*), विनियोग (*I*), तथा सरकारी व्यय (*G*) द्वारा निर्धारित होता है। जब समाज द्वारा नियोजित व्यय की मात्रा कुल उपलब्ध उत्पादन के मूल्य से (पूर्व-स्फीति कीमतो के आधार पर) अधिक होती है तो स्फीति-अन्तर उत्पन्न हो जाता है। मान लीजिए, किसी देश की कुल आय 1,000 करोड रुपये है, जिसमे से 100 करोड रुपये करो के रूप मे लोगो से ले लिये गये हैं। अब लोगो के पास व्यय के लिए 900 करोड रुपये हैं। परन्तु यदि उपलब्ध उत्पादन, स्थिर कीमतो के आधार पर, 800 करोड रुपये के मूल्य का ही है, तो स्फीति-अन्तर 900—800=100 करोड रुपये होगा।

प्रस्तुत रेखाचित्र (4) में वास्तविक आय को OX तथा नियोजित व्यय को OY रेखाओं पर नापा गया है। C रेखा द्वारा उपभोग, $C+I$ द्वारा उपभोग तथा विनियोग, और $C+I+G$ द्वारा उपभोग तथा सरकारी व्यय को व्यक्त किया गया है। आय के OM स्तर पर लोगों तथा सरकार द्वारा उपभोग व विनियोग के रूप में किया गया कुल व्यय $(C+I+G)$ वर्तमान कीमतों पर कुल आय OM के बराबर है। इस बिन्दु पर वर्तमान कीमतों के आधार पर पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान है। इस प्रकार आय तथा व्यय सन्तुलित अवस्था में हैं और स्फीति-अन्तर की मात्रा शून्य है। अब यदि किसी कारण वश सरकारी व्यय (G) में वृद्धि हो जाती है, तो सन्तुलन बनाये रखने के लिए वास्तविक आय अथवा कुल उत्पादन में भी उसी अनुपात में वृद्धि होनी चाहिए। अर्थात् वास्तविक आय में MM' वृद्धि होना आवश्यक है, अन्यथा असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होगी और कीमत-स्तर में वृद्धि होगी। $C+I+G'$ रेखा, जो बढ़े हुए सरकारी व्यय को दिखाती है, तथा $C+I+G$ रेखा में अन्तर (ab) स्फीति-अन्तर को दिखाता है। यह अन्तर तब तक बना रहेगा जब तक वास्तविक आय में MM' के बराबर वृद्धि नहीं होती। आय में वृद्धि होने पर स्फीति-अन्तर समाप्त हो जायेगा तथा कीमतों का बढ़ना रुक जायेगा।



चित्र 4

मुद्रा-स्फीति की जाँच

जैसा कि ऊपर बताया गया है, मुद्रा की प्रचलित मात्रा (अथवा पूर्ति) के उत्पादन अथवा आय की मात्रा (अथवा माँग) से अधिक होने के कारण कीमतों में वृद्धि (अथवा मुद्रा-मूल्य में कमी) होने पर मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस प्रकार से कीमत-स्तर में होने वाली प्रत्येक वृद्धि को मुद्रा-स्फीति नहीं कहा जा सकता। मन्दी की स्थिति में जब कीमत-स्तर असाधारण रूप से गिर जाता है, मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करने से यदि कीमत-स्तर में कुछ वृद्धि होती है, तो उसे मुद्रा-स्फीति नहीं कहा जायगा। जैसा कि पहले बताया गया है, केन्ज के अनुसार मुद्रा-स्फीति की स्थिति पूर्ण रोजगार के बिन्दु के उपरान्त उत्पन्न होती है, किन्तु सुविधा के लिए हम कीमत-स्तर में होने वाली असाधारण तीव्र वृद्धि को ही मुद्रा-स्फीति का सूचक मानते हैं।

मुद्रा-स्फीति का क्रम एक बार आरम्भ होने पर बढ़ता ही जाता है। कीमतों में वृद्धि के कारण व्यय की मात्रा बढ़ने लगती है तथा बचत की मात्रा कम हो जाती है। व्यापारी भी भविष्य में अधिक लाभ की आशा से वस्तुओं की माँग बढ़ा देते हैं। अधिक व्यय के परिणामस्वरूप वस्तुओं तथा सेवाओं की कुल माँग में वृद्धि हो जाती है जिसका प्रभाव कीमतों, वेतनों, उत्पादन-लागत इत्यादि पर वृद्धि के रूप में पड़ता है। उत्पादन की मात्रा में इसी अनुपात में वृद्धि न होने पर मुद्रा के मूल्य में निरन्तर कमी होने लगती है। इन परिस्थितियों में यदि मुद्रा की मात्रा में और वृद्धि कर दी जाय तो भयंकर स्थिति उत्पन्न हो सकती है। स्फीति के क्रम में रुकावट न डालने पर एक व्यवस्था ऐसी आती है जबकि अति-स्फीति (hyper-inflation) अथवा तीव्रगामी स्फीति (galloping inflation) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

स्फीति के रूप

स्फीति कई प्रकार की होती है। इसके विभिन्न रूपों के वर्गीकरण के कई आधार हैं :

(1) **कारणों के अनुसार**—स्फीति की स्थिति उत्पन्न होने के कारणों के आधार पर स्फीति के अनेक रूप हो सकते हैं। यदि कीमत-स्तर में वृद्धि वस्तुओं की पूर्ति में कमी के कारण होती है,

तो उस स्थिति को **'वस्तु स्फीति'** (Commodity Inflation) कहते हैं। यदि कीमतो मे वृद्धि चलन मे मुद्रा की मात्रा अत्यधिक बढ जाने के कारण होती है, तो उसे **'मुद्रा-स्फीति'** (Currency Inflation) कहा जाता है। स्फीति का मुख्य कारण साख की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि होने पर **'साख स्फीति'** (Credit Inflation) की स्थिति उत्पन्न होती है। करो मे वृद्धि तथा अन्य वित्तीय कारणो से स्फीति उत्पन्न होने पर उसे **'वित्तीय स्फीति'** (Fiscal or Budgetary Inflation) कहा जाता है। इसी प्रकार, **अति-विनियोगी स्फीति** (Over-investment Inflation), **अल्प-उत्पादन स्फीति** (Under-production Inflation) आदि अन्य अनेक रूप होते हैं।

कारणो के आधार पर **माँग-प्रेरित स्फीति** (Demand-pull Inflation) तथा **लागत-वृद्धि स्फीति** (Cost-push Inflation) मे भी भेद किया जाता है। माँग-प्रेरित स्फीति वह स्थिति है जिसमे वस्तुओ तथा सेवाओ के लिए समर्थ (effective) माँग सम्पूर्ण उत्पादन की तुलना मे अधिक होती है। इसके कई कारण हो सकते हैं, जैसे चलन तथा साख की मात्रा मे वृद्धि होने से लोगो के पास क्रय-शक्ति का बढ जाना, विनियोग की मात्रा मे वृद्धि होना, मौद्रिक आय मे वृद्धि होना, उपभोग-प्रवृत्ति मे वृद्धि होना इत्यादि।

उत्पत्ति के साधनो का मूल्य, बिना उनकी उत्पादकता (productivity) मे किसी प्रकार की वृद्धि हुए, बढ जाना अथवा उत्पादकता-वृद्धि से अधिक अनुपात मे साधन का मूल्य बढना, उत्पादन-लागत को बढा देता है। श्रम-सघो के दबाव मे मजदूरी मे वृद्धि के कारण उत्पादन-लागत बढेगी जिसके परिणामस्वरूप कीमते बढेंगी। एक वस्तु की कीमत मे वृद्धि का प्रभाव अन्य वस्तुओ की कीमत पर भी पडेगा तथा सामान्य कीमत-स्तर ऊँचा हो जाएगा। उत्पादन-लागत मे वृद्धि के कारण उत्पन्न हुई यह स्थिति लागत-वृद्धि स्फीति की होगी।

(2) **स्फीति-प्रक्रिया की प्रकृति के अनुसार**—उन क्रियाओ के आधार पर जिनके द्वारा स्फीति उत्पन्न होती है, स्फीति के तीन रूप हो सकते हैं

1. **घाटा-प्रेरित स्फीति** (Deficit-induced Inflation)—सरकार का व्यय अपनी आय से अधिक होने पर जब घाटे की पूर्ति हीनार्थ-प्रबन्धन (deficit financing) द्वारा की जाती है तो चलन मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होती है तथा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।
2. **वेतन-प्रेरित स्फीति** (Wage-induced Inflation) वह स्थिति है जबकि मजदूरी मे वृद्धि का अनुपात श्रम की उत्पादकता से अधिक है तथा जिसके कारण उत्पादन-लागत तथा कीमत-स्तर मे वृद्धि होती है।
3. **लाभ-प्रेरित स्फीति** (Profit-induced Inflation) के अन्तर्गत उत्पादन-लागत मे कमी होने पर कीमतो को नीचे गिरने से जब कृत्रिम उपायो द्वारा रोका जाता है तो उत्पादको के लाभ मे वृद्धि होती है। कीमतें बढती तो नही परन्तु नीचे भी नहीं आ पाती। इस प्रकार की स्थिति को केन्ज ने लाभ-प्रेरित स्फीति कहा है।

(3) **समय के अनुसार**—समय के अनुसार स्फीति का वर्गीकरण **युद्ध कालीन स्फीति** (War-period Inflation), **युद्ध-पश्चात स्फीति** (Post-war Inflation) तथा **शान्तिकालीन स्फीति** (Peace-time Inflation) मे किया जाता है। युद्ध-काल मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि, उत्पादन के ढाँचे मे परिवर्तन तथा विदेशी व्यापार की समस्याओ के कारण स्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है, जो युद्ध-पश्चात काल मे भी बनी रहती है। शान्ति-काल मे आर्थिक विकास के कार्यक्रमो को पूरा करने के लिए अथवा किसी अन्य उद्देश्य से मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करने पर भी स्फीति की स्थिति हो सकती है।

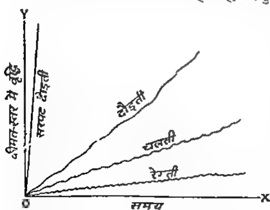
(4) **आकार के अनुसार**—आकार के आधार पर स्फीति 'व्यापक स्फीति' (Comprehensive Inflation) तथा 'खण्डीय स्फीति' (Sectional Inflation) हो सकती है। जब सभी वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि हो तो व्यापक स्फीति होती है, और जब कुछ विशेष वस्तुओ की कीमतो मे ही वृद्धि हो तो खण्डीय स्फीति की स्थिति होती है। खण्डीय स्फीति की स्थिति प्राय अस्थायी प्रकार की होती है।

(5) **नियन्त्रण के अनुसार**—स्फीति का वर्गीकरण **'खुली स्फीति'** (Open Inflation) तथा **'दबी स्फीति'** (Suppressed Inflation) में भी किया जाता है। कीमतों की वृद्धि पर किसी प्रकार का नियन्त्रण होने से जब उनमें स्वतन्त्र रूप से वृद्धि होती है तो ऐसी स्थिति को 'खुली स्फीति' कहते हैं। 'दबी स्फीति' से अभिप्राय उस परिस्थिति से है जिसमें सरकार द्वारा कीमत नियन्त्रण (price control) तथा राशनिंग की नीतियों द्वारा कीमतों को नियन्त्रित रखने का प्रयास किया जाता है। पूर्ति की मात्रा को नियन्त्रित करके सरकार मुद्रा की मात्रा में होने वाली वृद्धि का प्रभावहीन बना देती है। व्यावहारिक रूप में नियन्त्रण पूर्ण रूप में सफल नहीं हो पाते तथा कीमतों में कुछ वृद्धि हो ही जाती है, परन्तु यह वृद्धि उस वृद्धि की अपेक्षा बहुत कम होती है जो नियन्त्रण न रहने की स्थिति में होती।

(6) **गति के अनुसार**—स्फीति की गति (speed) के आधार पर स्फीति के चार रूप होते हैं

1. **रेंगती स्फीति** (Creeping Inflation)—यह उस परिस्थिति की सूचक है जबकि कीमत-स्तर में धीरे-धीरे वृद्धि होती है। केन्ज के विचार में इस प्रकार की हल्की-सी स्फीति अर्थ व्यवस्था को विकासोन्मुख रखने के लिए आवश्यक है। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह रेंगती हुई स्फीति बाद में कहीं चलना, कूदना तथा दौड़ना आरम्भ न कर दे।
2. **चलती स्फीति** (Walking Inflation)—रेंगती स्फीति की गति कुछ बढ़ जाने पर जब कुछ खतरे के चिह्न दिखायी पड़ने लगें तो यह चलती स्फीति की स्थिति होती है।
3. **दौड़ती स्फीति** (Running Inflation)—इस स्थिति के अन्तर्गत कीमतों में तेजी से वृद्धि होने से स्थिर आय वाले लोगों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।
4. **सरपट दौड़ती स्फीति** (Galloping, Runaway or Hyper Inflation)—यह वह स्थिति होती है जिसमें कीमतें इतनी तीव्रता से बढ़ती हैं कि वृद्धि की कोई सीमा ही नहीं होती और न ही इसके बारे में अनुमान लगाना सम्भव होता है। मुद्रा का मूल्य इतना अधिक गिर जाता है कि लोगों का मुद्रा में विश्वास नहीं रहता। प्रथम युद्ध के पश्चात जर्मनी तथा आस्ट्रेलिया में इसी प्रकार की स्थिति हो गयी थी जबकि एक दिन में कई बार थोड़ी-थोड़ी देर के बाद कीमतों में परिवर्तन होते थे। एक ही समय में चाय पीने पर पहले प्याले की कीमत दूसरे प्याले की कीमत से भिन्न हो जाती थी। इन परिस्थितियों में सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाती है।

उपर्युक्त चारों स्थितियाँ निम्नांकित रेखाचित्र (5) द्वारा दिखायी गयी हैं। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, रेंगती स्फीति की गति धीमी होती है, परन्तु उसके बाद की स्थितियाँ में क्रमशः बढ़ती जाती हैं, जबकि सरपट दौड़ती स्फीति की तो कोई सीमा ही नहीं रहती। साधारण रूप से, कीमत-स्तर में लगभग 2 अथवा 3 प्रतिशत के करीब वार्षिक वृद्धि दर रेंगती स्फीति की सूचक होती है। 2 3 प्रतिशत से 10 प्रतिशत के बीच वार्षिक वृद्धि चलती स्फीति तथा 10 प्रतिशत वार्षिक से अधिक दौड़ती स्फीति की स्थिति कही जा सकती है। सरपट दौड़ती स्फीति में तो एक वर्ष में अनिश्चित रूप से कितनी भी वृद्धि हो सकती है। अस्थिरता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि कोई भी अनुमान लगाना सम्भव नहीं होता। इस प्रकार स्फीति अपनी लपटों में स्वयं ईंधन डालती है। (It adds fuel to its own flames)।



चित्र 5

स्फीति के उपर्युक्त विभिन्न रूपो के अतिरिक्त वर्गीकरण के कुछ अन्य आधार भी हैं, जैसे समय की अवधि के आधार पर वर्गीकरण अल्पावधि (short period) स्फीति, दीर्घावधि (long-period) स्फीति तथा चिरकालीन (secular) स्फीति मे किया जा सकता है। रोजगार की स्थिति के आधार पर, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, स्फीति का वर्गीकरण पूर्ण-स्फीति (full-inflation) तथा अर्द्ध-स्फीति (semi-inflation) म किया जाता है। इस प्रकार स्फीति के रूप, वेग, समय, आकार अथवा कारण इत्यादि अलग-अलग होते हैं।

मुद्रा-स्फीति के कारण

उपर्युक्त व्याख्या से यह तो स्पष्ट हो ही गया ह कि मुद्रा-स्फीति का मुख्य कारण मुद्रा की माँग (अर्थात् उत्पादन) का मुद्रा की पूर्ति की अपेक्षा अधिक होना होता है। इसलिए मुख्य रूप से मुद्रा-स्फीति के कारण दो प्रकार के हैं—मुद्रा की मात्रा अथवा मौद्रिक आय म वृद्धि करने वाले, तथा उत्पादन की मात्रा मे कमी करने वाले।

(1) मौद्रिक आय मे वृद्धि (Increase in Money Incomes)—मौद्रिक आय बढ जाने पर वस्तुओ तथा सेवाओ की माँग बढ जाना स्वाभाविक होता है। उत्पादन के उस अनुपात मे न बढने पर असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तथा कीमते बढने लगती हैं। मौद्रिक आय मे वृद्धि निम्नलिखित कारणो से प्रभावित होती है

1. **सरकार की मुद्रा तथा साख सम्बन्धी नीति**—अत्यधिक मात्रा मे पत्र मुद्रा के निर्गमन द्वारा मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न होती है। यदि यह मात्रा उचित रूप मे नियन्त्रित न हो तो मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहित करती ह जो कालान्तर मे भयकर रूप भी धारण कर सकती है। केन्द्रीय बैंक की ब्याज-दर-नीति (bank rate policy) तथा खुले बाजार म प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय (open market operations) साख की मात्रा को प्रभावित करते हैं। नीची बैंक-दर होने पर ऋणो के लिए माँग बढती है तथा साख का प्रसार होता है। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार म प्रतिभूतियाँ (securities) खरीदने पर प्रचलन मे मुद्रा की मात्रा बढती है। सरकार तथा केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति के परिणामस्वरूप चलन तथा साख की मात्रा बढने से मौद्रिक आय बढती है जो असन्तुलन की स्थिति मे मुद्रा-स्फीति का एक महत्वपूर्ण कारण बन जाती है।
2. **व्यापारिक बैंको की साख-नीति**—साख की माँग अधिक होने पर व्यापारिक बैंक अपनी जमा-राशियो (deposits) के पीछे रखे जाने वाले नकद कोषो के अनुपात को कम करके अधिक साख का निर्माण करते हैं। साख का विस्तार मुद्रा-स्फीति का एक महत्वपूर्ण कारण हो सकता है।
3. **मुद्रा की चलन-गति मे वृद्धि**—लोगो की उपभोग-प्रवृत्ति (propensity to consume) तथा पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता (marginal efficiency of capital) बढ जाने के कारण अथवा तरलता पसन्दगी (liquidity preference) कम हो जाने के कारण बचत की मात्रा कम होती है। मुद्रा की चलन-गति (velocity) बढ जाती है, विशेष रूप से तेजी की स्थिति म तो चलन गति काफी अधिक होती है। चूंकि चलन गति मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करती है, इसलिए इसमे वृद्धि के कारण कीमतो म वृद्धि होती है तो मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन मिलता है।
4. **घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing)**—सरकार का व्यय आय से अधिक होने पर घाटे को अधिक मुद्रा-निर्गमन अथवा साख प्रसार द्वारा पूरा करना घाटे की वित्त व्यवस्था अथवा हीनार्थ प्रबन्धन कहलाता है। पाश्चात्य देशो मे यह घाटा प्राय जनता तथा बैंको से ऋण लेकर पूरा किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप साख की मात्रा मे वृद्धि होती है। परन्तु भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देशो मे सरकार केन्द्रीय बैंक से ऋण लेती है। केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियो के आधार पर मुद्रा के निर्गमन

की मात्रा को बढाकर घाटे को पूरा कर देता है। इस प्रकार हीनार्थ-प्रबन्धन मे मुद्रा-प्रसार होना है, मौद्रिक आय मे वृद्धि होती है तथा स्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है।

5 **अनुत्पादक व्यय मे वृद्धि**—सरकार द्वारा ऐसा व्यय बढने पर जो उत्पादन-वृद्धि मे सहायक नही होता, मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है। युद्ध तथा रक्षा सम्बन्धी व्यय इसी प्रकार का होता है। प्रशासन-सम्बन्धी व्यय मे वृद्धि (कर्मचारियो के वेतन तथा भत्ते बढने के कारण अथवा प्रशासन के विस्तार के कारण) उत्पादन मे प्राय कोई वृद्धि नही होती, जबकि मौद्रिक आय मे इसके कारण वृद्धि होती है। दीर्घकालीन उत्पादन के कार्यो मे विनियोग (investment) के रूप मे लगे धन की वृद्धि से भी तत्काल उत्पादन मे वृद्धि न होने के कारण उस समय तक मुद्रा-स्फीति की स्थिति रहने की सम्भावना रहती है जब तक कारखानों का पूर्ण निर्माण नही हो जाता तथा उनसे उत्पादन प्राप्त नही होने लगता।

6 **वित्तीय अव्यवस्था**—सरकार द्वारा लगाये गये करो की पूरी वसूली न होने पर 'बिना हिसाब की मुद्रा' (unaccounted money) की मात्रा बढ जाती है। यह अनियन्त्रित रूप से वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग पर दबाव डालती है, जिसके कारण कीमतो म वृद्धि होती है तथा मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त, **बढती हुई जनसख्या की मौद्रिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए, बिना उत्पादन की मात्रा मे पर्याप्त वृद्धि किये मुद्रा की मात्रा बढाना तथा बिना उत्पादकता बढे श्रम तथा अन्य साधनो की आय मे वृद्धि करना**, मौद्रिक आय मे वृद्धि के अन्य कारण हो सकते है, जिनके परिणामस्वरूप मुद्रा-स्फीति को बल प्राप्त होता है। प्राय यह भी देखा गया है कि **विदेशी पूंजी का निरन्तर आयात परोक्ष रूप से स्फीति का आयात होता है।**

(2) **उत्पादन मे कमी**—उत्पादन मे कमी के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं

1 **प्राकृतिक कारण**—बाढ, भूकम्प, सूखा आदि प्राकृतिक विपत्तियाँ उत्पादन की मात्रा को कम कर देती है। इनका प्रभाव मुख्य रूप से कृषि-उत्पादन पर पडता है, इसीलिए एक कृषि-प्रधान देश मे सदा अनिश्चितता की स्थिति बनी रहती है। इन कारणो से कृषि-उत्पादन मे कमी होने पर उद्योगो के लिए कच्चे माल की कमी हो जाती है तथा कीमते बढती है। उपभोक्ता के लिए अन्न की कमी तथा खाद्य-पदार्थो की कीमतो मे वृद्धि होती है। मौद्रिक आय स्थिर रहने पर भी यदि किसी वर्ष म प्राकृतिक कारणो से उत्पादन कम हो जाता है, तो मुद्रा-स्फीति के लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

2 **ह्रास नियम के अनुसार उत्पादन**—उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) के लागू होने पर अधिक लागत से कम उत्पादन प्राप्त होता है। उत्पादन-लागत मे वृद्धि के परिणामस्वरूप कीमते बढती हैं तथा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दूसरे शब्दो मे, **विनियोग के अनुपात से उत्पादन कम होना** मुद्रा-स्फीति का एक महत्वपूर्ण कारण हो सकता है।

3 **कच्चे माल की कमी**—उत्पादन मे वृद्धि तभी सम्भव होती है जब पर्याप्त मात्रा म कच्चा माल उपलब्ध हो। स्वदेश मे उपलब्ध न होने पर इसे विदेशो से सुविधापूर्वक उचित मूल्य पर प्राप्त किया जा सके। कच्चे माल की कमी के कारण उत्पादन म कमी होगी तथा स्फीति का वातावरण उत्पन्न हो जायेगा।

4 **सरकार की कर तथा व्यापार सम्बन्धी नीति**—उत्पादन पर अधिक कर होने के कारण वस्तुओ की कीमतो में वृद्धि होती है तथा उनकी माग कम हो जाने के कारण उनका उत्पादन भी गिर जाता है। इसके अतिरिक्त, सरकार द्वारा निर्यात (export) को प्रोत्साहन देने पर देश मे वस्तुओ की मात्रा कम हो जाती है, तथा कीमतें बढने लगती हैं। इस प्रकार सरकार की आर्थिक नीति भी मुद्रा स्फीति का एक कारण बन सकती है।

5. **उत्पादन के तरीके**—यदि उत्पादन के प्राचीन तथा अनुपयुक्त तरीके अपनाये जाते हैं तो उत्पादन-लागत अधिक होती है तथा उत्पादन की मात्रा कम। तकनीकी (technical) जानकारी के अभाव तथा उत्पादन के वैज्ञानिक व उन्नत तरीके न अपनाने पर उत्पादन की मात्रा नहीं बढ़ पाती तथा मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है।
6. **औद्योगिक अशान्ति**—मजदूरों तथा मालिकों के बीच सहयोग की सम्भावना न होने पर जब मजदूर अपने श्रमिक-संघों (trade unions) को संगठित करके हड़तालें आदि करते हैं और उनके विरोध में मिल-मालिक तालेबन्दी की नीति अपनाते हैं, तो उत्पादन में कमी होना स्वाभाविक होता है और इसका परिणाम मुद्रा-स्फीति होती है।
7. **उत्पादन का ढाँचा**—उत्पादन के ढाँचे में असन्तुलन के कारण भी मुद्रा-स्फीति हो सकती है। किसी भी देश में अनेक प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन की आवश्यकता होती है। परन्तु यदि उपभोग के पदार्थों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि नहीं होती तथा अन्य पदार्थों के उत्पादन को अत्यधिक महत्व दिया जाता है तो आय में तो वृद्धि होती है, परन्तु आय के बदले में प्राप्त की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा कम होने के कारण उनकी कीमतें ऊँची होती हैं तथा मुद्रा-स्फीति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। युद्ध-काल में मुद्रा-स्फीति का कारण उत्पादन के ढाँचे में परिवर्तन होना ही होता है। इसी प्रकार एक विकासशील देश जो उपभोग उद्योगों के विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं देता तथा आधार-उद्योगों (basic industries) को प्राथमिकता देता है, मुद्रा-स्फीति को निमन्त्रण देता है।

उपर्युक्त कारणों के परिणामस्वरूप जब कभी मुद्रा एवं साख की मात्रा तथा उपलब्ध उत्पादन की मात्रा में असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होगी, तो मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। इसका अर्थ यह नहीं कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि अथवा उत्पादन की मात्रा में कमी का परिणाम सदा मुद्रा-स्फीति ही होता है। वास्तव में, मुद्रा स्फीति इन दोनों में असन्तुलन की स्थिति का परिणाम होती है।

मुद्रा-स्फीति के प्रभाव

मुद्रा-स्फीति एक आर्थिक रोग है जो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करता है। प्रो० सी० एन० वकील के शब्दों में, "स्फीति एक डाकू के समान है। दोनों ही अपने-अपने शिकारों को उनकी कुछ वस्तुओं से वंचित कर देते हैं, अन्तर बस इतना है कि डाकू दिखायी देता है, स्फीति दिखायी नहीं देती है। डाकू का शिकार एक समय केवल एक अथवा थोड़े-से व्यक्ति होते हैं, स्फीति का शिकार सम्पूर्ण राष्ट्र होता है। डाकू को न्यायालय में घसीटकर लाया जा सकता है, किन्तु स्फीति वैधानिक होती है।"[1]

मुद्रा स्फीति के परिणामस्वरूप सभी वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों में समान रूप से परिवर्तन नहीं होते, न ही समाज में सभी व्यक्तियों अथवा वर्गों की मौद्रिक आय में समान रूप से वृद्धि होती है। आय के वितरण में असमानता तथा रोजगार एवं उत्पत्ति के साधनों की स्थिति में परिवर्तन के कारण मुद्रा-स्फीति का प्रभाव समाज में विभिन्न वर्गों पर अलग-अलग पड़ता है।

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन के प्रभाव के अध्ययन के लिए प्रो० केन्ज ने समाज को तीन वर्गों में बाँटा है—व्यापारी अथवा उत्पादक वर्ग, विनियोगी वर्ग तथा श्रमिक या कर्मचारी वर्ग। इनके अतिरिक्त हम दो अन्य वर्ग भी ले सकते हैं—उपभोक्ता वर्ग तथा ऋणी या ऋणदाता वर्ग।

---

1 "Inflation may be compared to a robber. Both deprive the victim of some possession with the difference that the robber is visible inflation is invisible, the robber's victim may be one or a few at a time, the victims of inflation are the whole nation, the robber may be dragged to a court of law, inflation is legal."—C N Vakil *Financial Burden of War on India*

यह स्मरण रहे कि समाज के विभिन्न वर्गों को व्यावहारिक रूप में एक-दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए एक ही व्यक्ति पर मुद्रा स्फीति के अलग-अलग प्रकार के प्रभाव पड़ते है, परन्तु सुविधा के लिए हमने निम्नलिखित वर्गों को ही अध्ययन का आधार माना है :

उत्पादक वर्ग (Producers)—इस वर्ग में हम कृषक, उद्योगपति, व्यापारी आदि को सम्मिलित कर सकते है। सामान्यतया मुद्रा-प्रसार के कारण इन लोगों को लाभ होता है, जिसके तीन प्रमुख कारण है

1 स्फीति-काल में उत्पादन-लागत में उस अनुपात में वृद्धि नही होती जिस अनुपात में कीमते बढ़ती है। उत्पादन की क्रिया में कुछ समय लगता है। कच्चा माल पहले से ही खरीदा जाता है जिसकी कीमत बाद में बढ जाती है। इसमें कम लागत पर उत्पादन करके उत्पादक माल महँगे दामो मे बेचता है।

2 स्फीति-काल में वस्तुओ की माँग बहुत अधिक बढ़ जाती है और कीमतें तेजी से बढ़ती है। उत्पादक का माल शीघ्र ही बिक जाता है और उसकी पूँजी माल में फँसी (blocked) नही रहती।

3 उत्पादन के खर्चे तथा मजदूरी उस अनुपात मे नहीं बढते जिस अनुपात में कीमतें बढ़ती है। इसमे भी उत्पादकों को लाभ होता है।

उत्पादकों के समान व्यापारियों को भी मुद्रा स्फीति से लाभ होता है, क्योंकि जिस समय ये माल खरीदते है, कीमते अपेक्षाकृत कम होती हैं, जो माल के बिकने तक निरन्तर रूप से बढ़ती रहती है। इस प्रकार व्यापारियो को अप्रत्याशित लाभ (windfall gains) होता है। उनके द्वारा लिये गये ऋणों का भी वास्तविक मूल्य घट जाता है।

यह स्मरण रहे कि अत्यधिक लाभ की प्राप्ति पूँजीवाद की जड़ों को कमजोर बना देती है। अस्थिरता तथा अनिश्चितता के वातावरण में सट्टेबाजी इत्यादि क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है। केन्ज के शब्दो मे, "यदि मुद्रा के मूल्य में कमी विनियोग को हतोत्साहित करती है तो यह व्यापारियों को बदनाम भी करती है।"[1]

विनियोगी वर्ग (Investors)—इस वर्ग में उन लोगों को सम्मिलित किया जाता है जो उद्योग एवं व्यवसाय में अपने धन का विनियोग (investment) करके उससे आय प्राप्त करते है। विनियोगकर्ता दो प्रकार के होते है—**प्रथम**, वे जिनकी आय निश्चित होती है। इन लोगो ने सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों के ऋण-पत्रों (debentures) अथवा सरकारी प्रतिभूतियों (government securities) में धन लगा रखा होता है जिस पर उन्हें निश्चित दर से ब्याज मिलती है। **द्वितीय**, वे जिनकी आय व्यापार अथवा कीमतों में परिवर्तन से प्रभावित होती है। इस श्रेणी में वे लोग आते है जिन्होंने सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों के अंश (shares) खरीद रखे होते हैं तथा उन पर उन्हें लाभांश (dividend) प्राप्त होता है।

मुद्रा-स्फीति का प्रभाव दोनों वर्गों पर अलग-अलग पड़ता है। प्रथम वर्ग के लोगों की आय स्थिर होने के कारण मुद्रा-स्फीति के कारण उनकी वास्तविक आय (real income) बहुत गिर जाती है, क्योंकि उनकी आय के बदले में उन्हें प्राप्त होने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा पहले की अपेक्षा कम हो जाती है। परन्तु द्वितीय वर्ग के लोगो को लाभ होता है, क्योंकि कम्पनियों के लाभ मे वृद्धि होती है तथा विनियोगकर्ताओं को प्राप्त होने वाले लाभांश बढ़ जाते हैं।

कुछ विनियोजकों को प्राप्त होने वाले लाभ में वृद्धि होने पर भी वास्तविकता यह है कि मुद्रा-स्फीति की दशा में सभी विनियोगों की रकम का वास्तविक मूल्य कम हो जाता है तथा दीर्घ-काल में उन्हें घाटा ही होता है। स्फीति-काल में लगायी गयी अतिरिक्त मशीनें आदि स्फीति के पश्चात बेकार हो जाती है और विनियोग की पूरी रकम ही डूबती दिखायी पड़ती है।

श्रमिक अथवा वेतनभोगी वर्ग (The Wage-earners)—इस वर्ग में वे लोग आते हैं जो अपनी सेवाओं की बिक्री से आय प्राप्त करते है। औद्योगिक तथा कृषि मजदूर, दफ्तरों के कर्म

---

1 "If the fall in the value of money discourages investment, it also discredits enterprise" —Keynes

चारी, अध्यापक तथा पेन्शन प्राप्त करने वाले लोग इसी वर्ग मे आते है। स्फीति के कारण सबसे अधिक कष्ट मध्यम वर्ग (middle class) को होता है, क्योंकि इस वर्ग मे अधिकतर वेतन प्राप्त करने वाले अधिकारी, बुद्धिजीवी, पेन्शन प्राप्त करने वाले, ब्याज की आय व मकान के किराये के सहारे जीवन-निर्वाह करने वाले लोग सम्मिलित होते हैं, जो कीमते बढ जाने पर अपनी आय नही बढा पाते। केमरर के शब्दो मे, "मध्यम वर्ग, जो अपने बडे परिश्रम तथा बचत करने की आदत के द्वारा अपने बच्चो को शिक्षा देने व भविष्य मे बीमारी तथा वृद्ध अवस्था का सामना करने के उद्देश्य से कुछ बचत का निश्चय करता है, स्फीति के दिनो मे अपने को गम्भीर परिस्थिति मे पाता है। आय की तुलना मे रहन-सहन का व्यय अधिक बढ जाता है। सारी बचत समाप्त हो जाती है तथा कठिन परिश्रम, स्वतन्त्रता व बचत करने की आदत झूठे देवता दिखायी पडते हैं। ऐसी परिस्थिति म मध्यम वर्ग पर निराशा तथा असफलता की भावना के बादल छा जाते है।"[1]

श्रमिको की मजदूरी सदा कीमतो के पीछे रहती है (wages always tend to lag behind prices)। मुद्रा-स्फीति के परिणामस्वरूप कीमतों में वृद्धि होने पर मजदूरी को साथ-साथ नही बढाया जा सकता। इस सम्बन्ध मे यह बता देना आवश्यक है कि श्रमिको पर स्फीति का प्रभाव इतना अधिक नही पडता जितना मध्यम वर्ग के लोगों पर। श्रमिक-सघो (trade unions) के सगठन द्वारा मजदूर मालिको पर दबाव डालते हैं कि जीवन-निर्वाह व्यय (cost of living) मे वृद्धि के साथ उनकी मौद्रिक आय मे भी वृद्धि की जाय और उन्हे अधिक महँगाई भत्ते दिये जायें ताकि उनकी वास्तविक आय में कमी न आने पाये। इसके अतिरिक्त, स्फीति-काल मे रोजगार की स्थिति भी अच्छी होती है, जिससे श्रमिको को लाभ होता है। श्रमिको को ये सब लाभ होते हुए भी प्राय यह देखा गया है कि कीमतो के निरन्तर बढते रहने पर मजदूरी पिछड जाती है तथा मजदूर अपनी वास्तविक आय को स्थिर नही रख पाते। परिणामस्वरूप औद्योगिक झगडो तथा हडतालो आदि मे वृद्धि होती है।

उपभोक्ता वर्ग (Consumers)—समाज का प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता है और इस रूप म उस पर मुद्रा स्फीति का प्रभाव अवश्य पडता है। यदि आय पर ध्यान न दिया जाय तथा व्यय के आधार पर ही देखा जाय तो प्रत्येक उपभोक्ता पर स्फीति का बुरा प्रभाव पडता है। कुछ लोग अवश्य ऐसे होते हैं जिनकी आय स्फीति-काल म बढती है। उनको स्फीति से उपभोक्ता के रूप मे अधिक हानि नही होती। परन्तु ऐसे लोगो को जिनकी आय मे कोई विशेष परिवर्तन नही होता, स्फीति के कारण बहुत कष्ट उठाना पडता है। उनकी वास्तविक आय निरन्तर कम होती जाती है और वे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर पाते तथा उनका जीवन-स्तर गिर जाता है। एक डाकू के समान स्फीति उपभोक्ता को बुरी तरह से लूटती है और वह बेचारा बेबस देखता रह जाता है।

ऋणी तथा ऋणदाता वर्ग (Debtors and Creditors)—मुद्रा-स्फीति से ऋणी वर्ग को लाभ तथा ऋणदाता वर्ग को हानि होती है। कीमत-स्तर मे वृद्धि होने पर पहले मे दिय गये ऋणो की ब्याज की दर नहीं बढती जिसके कारण ऋणदाता को मिलने वाली ब्याज की क्रय शक्ति कम हो जाती है। यदि स्फीति-काल में ही ऋणी मूलधन लौटा देता है तो ऋणी को लाभ तथा ऋण दाता को हानि होती है, क्योंकि जब ऋण दिया गया था उस समय उसकी क्रय-शक्ति अधिक थी, परन्तु अब जब लौटाया जा रहा है तो उसकी क्रय-शक्ति गिरी हुई है। प्राय यह कहा जाता है कि स्फीति-काल मे ऋणो के लिए माँग अधिक होने के कारण ऋणदाता को यह लाभ होता है कि उसे अधिक ऊँची ब्याज-दर प्राप्त होती है, जबकि ऋणी को ऊँची ब्याज-दर के कारण हानि होती है। इस सम्बन्ध मे यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ब्याज-दर बढने से ऋणी को वास्तव मे हानि नहीं होती क्योंकि वह अधिक लाभ का उपार्जन कर रहा होता है, जबकि ऋणदाता ऊँची ब्याज-दर के लालच मे पूरी रकम ही खतरे मे डाल देता है। निरन्तर कीमतें बढने रहने से हो सकता है कि ऋण की रकम वापस लौटाने पर बहुत ही कम क्रय-शक्ति रह जाय। ऋणदाता

1 E W. Kemmerer *The A B C of Inflation*, p 94.

को लाभ तभी हो सकता है जब कीमतों की वृद्धि-दर ब्याज-दर से कम हो, अधिक नहीं। मान लीजिए ब्याज-दर 10 प्रतिशत वार्षिक है जबकि मुद्रा का मूल्य 20 प्रतिशत वार्षिक की दर से घट रहा है, तो ऋणदाता को हानि होना स्वाभाविक ही है।

समाज में विभिन्न वर्गों को प्रभावित करने के अतिरिक्त मुद्रा-स्फीति के कुछ अन्य आर्थिक, नैतिक अथवा सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभाव भी होते हैं, जिनमे से निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं.

आर्थिक प्रभाव

स्फीति-काल मे उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि होती है तथा ऋणी उत्पादकों और व्यापारियों को लाभ प्राप्त होता है। परन्तु मुद्रा-स्फीति के दुष्परिणाम भी कम नहीं होते। इससे न केवल उपभोक्ताओं, विनियोजकों तथा ऋणदाताओं को हानि होती है, बल्कि अनेक अन्य आर्थिक समस्याएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं जो निम्नलिखित हैं

(1) **धन का पुनर्वितरण**—स्फीति-काल में धन तथा आय के वितरण में असमानताएँ बढ़ जाती हैं। उद्योगपति, व्यापारी तथा परिवर्तनशील आय वाले विनियोगकर्ता जो पहले से ही धनी होते हैं, स्फीति-काल में अधिक लाभ की प्राप्ति के कारण अधिकाधिक धनी होते जाते हैं। दूसरी ओर श्रमिक, वेतन-भोगी तथा निश्चित आय वाले उपभोक्ता अनेक कठिनाइयों का सामना करते हैं तथा अधिकाधिक निर्धन होते जाते हैं। उनकी वास्तविक आय निरन्तर घटती जाती है। धन तथा आय के वितरण में पहले से अधिक विषमताएँ उत्पन्न होना समाज में आर्थिक कल्याण की मात्रा को कम कर देता है।

(2) **मुद्रा में अविश्वास**—मुद्रा का मूल्य निरन्तर घटते जाने के कारण लोगों का मुद्रा में विश्वास कम हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप बचतें हतोत्साहित होती हैं। बचत में कमी का प्रभाव विनियोग पर पड़ना स्वाभाविक होता है। हॉट्रे के अनुसार, "मुद्रा-प्रसार के कारण मुद्रा में अविश्वास उत्पन्न हो जाता है और इसके फलस्वरूप दीर्घकालीन ऋणों का देना या तो बिलकुल बन्द हो जाता है अन्यथा ऋणदाता मूल्य में हानि के जोखिम की क्षतिपूर्ति के रूप में ब्याज की बहुत ऊँची दर माँगते हैं।"[1]

(3) **करों में वृद्धि**—स्फीति काल में सरकार का व्यय भी बढ़ जाता है जिसकी पूर्ति के लिए सरकार अधिकाधिक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर लगाती है जिनसे आय कम हो जाती है तथा वस्तुओं की कीमतों में कर के रूप में वृद्धि होती है। प्रत्यक्ष कर, जो आय तथा सम्पत्ति पर होते हैं, सरकार द्वारा बहुत अधिक नहीं बढ़ाये जा सकते, क्योंकि उनमें अधिक उत्पादन हतोत्साहित होता है। पूँजीपति वर्ग के लोग संगठित रूप से सरकार पर दबाव भी डालते हैं और सरकार को प्रायः उनके आगे झुकना पड़ता है। प्रत्यक्ष करों में अधिक वृद्धि के कारण करों का उपभोक्ता पर भार बहुत अधिक बढ़ जाता है।

(4) **सार्वजनिक ऋणों में वृद्धि**—स्फीति-काल में सरकार बजट के घाटे की पूर्ति के लिए यदि हीनार्थ-प्रबन्धन (deficit financing) का ही सहारा ले तो स्थिति और अधिक बिगड़ जाने का भय होता है। करों में वृद्धि भी असीमित रूप से नहीं की जा सकती, इसलिए सरकार अधिक ऋण लेती है। यदि यह ऋण बैंकों से लिया जाय तो साख का प्रसार होता है, लोगों से ऋण लेने पर उनके पास मुद्रा की मात्रा कम रह जाती है, जिससे स्फीति के नियन्त्रण में सहायता मिलती है। परन्तु इन ऋणों की ब्याज के रूप में सरकार के ऊपर इतना बोझ बढ़ जाता है कि बजट के घाटे में प्रति वर्ष वृद्धि ही होती जाती है और सरकार आर्थिक संकट की स्थिति में रहती है।

(5) **विदेशी व्यापार में असन्तुलन**—आन्तरिक कीमत-स्तर के बढ़ते जाने के कारण स्फीति-काल में आयातों (imports) को प्रोत्साहन मिलता है तथा निर्यात (exports) कम हो जाते हैं। इन परिस्थितियों में देश का व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है तथा सरकार को

1 "Inflation causes distrust of money and thereby long term lending is put a stop to, or the lenders demand compensation for the risk of loss of value in the form of a very high rate of interest "—R. G Hawtrey. *Currency and Credit*, p 193

विदेशी विनिमय सम्बन्धी अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। विदेशी मुद्राओं की माँग बढने के कारण उनका मूल्य देश की मुद्रा मे बढ जाता है। स्फीति की स्थिति वाला देश अधिक दिनो तक विनिमय-दरो मे स्थिरता नही बनाये रख सकता और उसे अपनी मुद्रा का अवमूल्यन (devaluation) करना पड़ता है।

(6) **नियन्त्रित आर्थिक प्रणाली**—स्फीति-काल मे सरकार को आर्थिक क्रियाओं पर अनेक नियन्त्रण लगाने पडते है, जैसे राशनिंग, मूल्य नियन्त्रण इत्यादि। स्वतन्त्र आर्थिक प्रणाली समाप्त होने के कारण लोगो की सरकार पर निर्भरता बढ जाती है। व्यावहारिक रूप मे सरकार अपने उद्देश्यों की पूर्ति भी नही कर पाती क्योंकि नियन्त्रण को पूर्ण रूप से लागू करना सम्भव नही होता। लोगो को अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा मे न मिलने पर काले बाजार (black market) का विकास होता है। नियन्त्रित कीमतो वाली आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन मे कमी होने लगती है और ऐसी आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि होती है जिनकी कीमते बढ रही होती हैं। प्रो० मिल्टन फ्रीड्मेन (Milton Friedman) के अनुसार दबी अथवा नियन्त्रित (suppres sed) स्फीति खुली (open) स्फीति की तुलना मे अधिक हानिकारक होती है।

उपर्युक्त आर्थिक दुष्परिणामो के कारण स्फीति पूँजीवाद की जडो को हिला देती है। जैसे-जैसे स्फीति के वेग मे वृद्धि होती हैं, आर्थिक असन्तुलन भी बढता जाता है। अधिक लाभ के प्रलो-भन में उत्पादन बढता जाता है, जबकि दूसरी ओर लोगो की वास्तविक आय मे निरन्तर कमी के कारण उत्पादन के लिए माँग कम होने लगती है। परिणामस्वरूप अति-उत्पादन की स्थिति उत्पन्न होती है, कारखाने बन्द होने लगते है तथा बेकारी फैलने लगती है। सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है तथा मन्दी की स्थिति उत्पन्न होती है।

नैतिक प्रभाव

स्फीति की दशा म प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय बढाने के लिए चिन्तित रहता है और इसके लिए वह कैसे भी साधन अपनाने को तैयार हो जाता है, भले ही वे अनुचित तथा अनैतिक हो। चोरबाजारी, मुनाफाखोरी, भ्रष्टाचार तथा घूँसखोरी आदि बुराइयो को प्रोत्साहन मिलता है तथा समाज का नैतिक पतन हो जाता है। फ्रांसीसी क्रान्ति-काल मे मुद्रा-प्रसार के कारण "फ्रांस के प्रमुख शहरों म विलासिता तथा दुराचार, जो लूटने की अपेक्षा अधिक गम्भीर दोष थे, चारो ओर फैल गये थे। देश मे जुए की भावना दिन-प्रतिदिन बढती जा रही थी। यह दुराचार केवल व्यापारियो तक ही सीमित नही था बल्कि इसका श्राप उन उच्च सरकारी अधिकारियो व नेताओं मे भी फैल गया था जो कुछ ही समय पूर्व विलासिता, बेईमानी तथा बेपरवाही के दोषो से दूर रहते थे।"[1] जर्मनी मे युद्ध-पश्चात काल मे अति स्फीति की अवस्था मे तो लोगो का इतना अधिक नैतिक पतन हुआ था कि "नवयुवतियाँ अपने दोषो की बडी शेखी से व्याख्या करती थी। सोलह साल की अवस्था तक पवित्र कुमारी रहना उन दिनो बर्लिन म लज्जाजनक समझा जाता था। प्रत्येक लडकी अपने दूषित अनुभवों को बताने मे गर्व समझती थी।[2] प्रो० गैलब्रेथ ने व्यग्यपूर्ण शब्दो मे लिखा है कि "मौद्रिक आय की दृष्टि से अगर विचार किया जाय तो जिस समाज म लगा-तार मुद्रा-स्फीति है उसमे निस्सन्देह शिक्षक, धर्मगुरु या पुलिस का कार्य करने की अपेक्षा सट्टेबाजी या वेश्यावृत्ति करना अधिक लाभदायक है।"[3]

---

1 "In the leading French cities now arose a luxury and licence which was a greater evil than the plundering that ministered to it In the country the gambling spirit spread more and more Nor was this reckless and corrupt spirit confined to businessmen, it began to break out in official circles, and publicmen who a few years ago, had been thought above all possibility of taint became luxurious, reckless, cynical and finally corrupt. —Andrew D White *Fiat Money Inflation in France*, p 27

2 "Young girls bragged proudly of their perversion, to be sixteen and under the suspicion of virginity would have been considered a disgrace in any school of Berlin at that time, every girl wanted to be able to tell of her adventures, and the more exotic the better.' (Quoted from *Hyper-inflation to Devaluation* by S K Muranjan, p 10)

3 "In a free market in an age of endemic inflation it is unquestionably rewarding in purely pecuniary term to be speculator or prostitute than a teacher, preacher or policeman" —Galbraith · *Affluent Society*

राजनीतिक प्रभाव

मुद्रा-स्फीति के केवल आर्थिक तथा सामाजिक प्रभाव ही नही होते, इसके राजनीतिक परिणाम भी होते हैं। मुद्रा-स्फीति काल मे जनता मे सरकार के प्रति असन्तोष बढता है तथा तनावपूर्ण वातावरण उत्पन्न हो जाता है। राजनीतिक पार्टियाँ इस स्थिति से लाभ उठाती हैं तथा राज्य सत्ता को बदल देती हैं। सन् 1923 से 1933 के बीच जर्मनी मे हिटलर तथा उसकी नाजी पार्टी द्वारा सत्ता हथियाने का एक प्रमुख कारण उस समय विद्यमान स्फीति की भयानक परिस्थिति थी। स्फीति के कारण जनता मे असन्तोष होने पर ही इटली, स्पेन, फ्रास आदि मे राजनीतिक परिवर्तन हुए थे। स्फीति के कारण मजदूर वर्ग असन्तुष्ट रहता है तथा राजनीतिक क्रान्ति के लिए प्रयत्न करता है। स्फीति-काल मे सरकार द्वारा तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाने पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को आघात पहुँचता है तथा प्रजातन्त्र अव्यावहारिक हो जाता है।

मुद्रा-स्फीति के प्रभावो की व्याख्या के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा-स्फीति एक अनार्थिक रोग है। रोग चाहे कैसा ही हो, कभी अच्छा नही होता और उसका उपचार करना आवश्यक होता है। मुद्रा-स्फीति एक ऐसा रोग है जिसका उपचार न होने पर यह दिन-प्रतिदिन बढता ही जाता है। कुछ लोग सोचते है कि उत्पत्ति तथा रोजगार के दृष्टिकोण से थोडी-सी स्फीति अच्छी होती है। अमेरिका मे सेमुअलसन एव सोलो ने अनुमान लगाया है कि कीमतें स्थिर रहने पर 6 प्रतिशत बेकारी मे वृद्धि होगी।[1] परन्तु स्फीति का किसी भी रूप तथा मात्रा मे समर्थन करना पूर्णतया गलत है। थोडी-सी स्फीति बढते बढते भयकर रूप भी धारण कर सकती है। सी० केन्बी बाल्डरस्टान के शब्दो मे, "यह हमारी सबसे बडी भूल है कि हम यह विचारने लगते हैं कि थोडी-सी स्फीति अच्छी होती है। परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि इतनी थोडी-सी स्फीति से भी जब मूल्यो मे केवल 2 प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि होती है तो कीमत-स्तर केवल 35 वर्षो मे दुगुना हो जाता है। यदि एक बार रेगती हुई स्फीति को समाज स्वीकार कर लेता है, तब कुछ ही समय पश्चात यह बच्चा रेगना बन्द करके चलने, दौडने तथा कूदने लग जाता है।"[2]

मुद्रा-स्फीति तथा आर्थिक विकास

कीमत-स्तर मे परिवर्तनो का आर्थिक विकास पर अनेक प्रकार से प्रभाव पडता है। कीमतें न केवल उत्पादन की मात्रा को प्रभावित करती हैं बल्कि आय को भी, और आय मे परिवर्तन के द्वारा उपभोग-स्तर भी प्रभावित होता है। कीमते ही बचत तथा विनियोग की मात्रा को निर्धारित करती है। प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था—नियोजित अथवा अनियोजित, विकसित अथवा विकासशील—मे कीमतो का काफी विस्तृत प्रभाव होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि आर्थिक विकास मे किस प्रकार की कीमतें अधिक सहायक होती है। प्रमुख **अर्थशास्त्रियो मे अनेक ऐसे हैं जिनके विचार मे बढती हुई कीमतें (अथवा मुद्रा-स्फीति) किसी न किसी प्रकार से आर्थिक विकास मे सहायक होती हैं, और वे कुछ अशो मे मुद्रा स्फीति को अनिवार्य भी समझते हैं।** उदाहरणार्थ, केन्ज ने विकास के लिए उपयुक्त वातावरण के लिए बढते हुए कीमत-स्तर को आवश्यक समझा तथा अनेक देशो मे आर्थिक विकास का श्रेय लाभ-स्फीति (profit inflation) को दिया।[3] प्रो० रोस्टोव (Rostow) ने भी इस बात का समर्थन किया है कि अनेक देशो के विकास मे स्फीति का महत्वपूर्ण हाथ रहा है।[4]

---

1 P A Samuelson and R M Solow, 'Problems of Achieving and Maintaining a Stable Price Level," *American Economic Review*, May 1960, p 192

2 "A misconception that is part of intellectual currency today is that a little inflation is a good thing A little inflation sometimes thought of as roughly 2 per cent a year would double the price level every 35 years However, even if we accept this inevitability of creeping inflation and I certainly do not, it is not possible to have just a 'little inflation Once community accepts the prospect of continued inflation and begins to make its business decisions in the light of that prospect, the infant ceases to creep It learns to walk, run and finally gallop even though the gallop may carry it over the brink of the precipice that every one agrees must be avoided' —Address of Mr C Canby Balderston, Vice-Chairman of Federal Reserve Board of Governers, May 1957

3 Keynes *A Treatise on Money*, Vol. II, Chapter 30

4 W. W Rostow, "The Take off into Self-Sustained Growth," *Economic Journal*, March, 1956

प्रो० आर्थर लेविस (Arthur Lewis) के विचारानुसार, मुद्रा-स्फीति विकास की ही एक उपज (by product) होती है। विनियोग में वृद्धि से मौद्रिक आय में वृद्धि होती है परन्तु उत्पादन में तत्काल वृद्धि नहीं होती, निर्माण-कार्यों के पूरा होने में कुछ समय लगता है। परिणामस्वरूप, माँग तथा पूर्ति के असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होती है जो मुद्रा-स्फीति को जन्म देती है। विनियोग की मात्रा की तुलना में बचत की मात्रा का कम होना स्थिति को और भी जटिल बना देता है। एक विकासोन्मुख अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था में तो मुद्रा-स्फीति से बचना अत्यन्त कठिन होता है क्योंकि उत्पादन का ढाँचा पिछड़ा होने के कारण उत्पादन में उस तेजी से वृद्धि नहीं हो पाती जिस तेजी से वस्तुओं के लिए माँग बढ़ती है। ऐसे देशों में साधनों में कमी के कारण हीनार्थ-प्रबन्धन (deficit financing) की मात्रा भी काफी अधिक होती है।

जो लोग आर्थिक विकास के लिए मुद्रा-स्फीति को आवश्यक समझते हैं, उनके तर्क मुख्य रूप से ये हैं : (1) स्फीति की दशा में विनियोग में वृद्धि होती है तथा रोजगार बढ़ता है, (2) अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है, (3) विकास के लिए राष्ट्रीय प्रयत्नों को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि स्फीति की स्थिति का सामना करने के लिए अधिक उत्पादन तथा आय की आवश्यकता समझी जाती है, तथा (4) विदेशी पूँजी का आयात बढ़ता है जो विकास में सहायक होता है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर ऐसा लगता है कि स्फीति के पक्ष में दिये गये तर्क केवल मुद्रा-स्फीति के गुणों वाले पहलू को ही देखते हैं तथा इसके दोषों को भूल जाते हैं। मुद्रा-स्फीति के जो कुछ भी लाभ बताये जाते हैं उनमें सच्चाई का अंश बहुत ही कम है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मुद्रा-स्फीति के अनेक दुष्परिणाम होते हैं। यदि कुछ लाभ हैं तो केवल कुछ वर्गों के लिए ही, जिसके कारण आर्थिक विषमताओं अथवा असमानताओं में वृद्धि होती है तथा आर्थिक व सामाजिक न्याय की अवहेलना होती है। उत्पत्ति के ढाँचे में ऐसे परिवर्तन होते हैं जिनका उद्देश्य अधिक व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करना होता है, सामाजिक हितों की रक्षा करना नहीं। जो कुछ नियन्त्रण लगाये जाते हैं, प्रभावपूर्ण नहीं हो पाते तथा मुद्रा की विनिमय दर गिरने लगती है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मुद्रा-स्फीति का आर्थिक विकास से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। अमेरिका में 1865 से 1879 के बीच पन्द्रह वर्षों में कीमतें तो लगभग आधी रह गयीं, जबकि विकास की गति बहुत तेज थी। इंगलैण्ड में 1870 से 1895 के बीच कीमतें गिरीं तथा उसके पश्चात् 1913 तक बढ़ीं, परन्तु विकास तथा उत्पादन-वृद्धि-दर उस काल में अधिक ऊँची थी जिसमें कीमतें गिर रही थीं। वर्तमान समय में भी अनेक देशों में सन्तोषजनक आर्थिक प्रगति की गयी है जबकि उनमें कीमतें लगभग स्थिर रही हैं। भारत में भी प्रथम योजना-काल में सन्तोषजनक विकास हुआ, जबकि कीमतें लगभग 13 प्रतिशत गिरीं। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि मुद्रा-स्फीति की स्थिति का होना आर्थिक विकास के लिए आवश्यक नहीं है। परन्तु यह स्मरण रहे कि इसका अर्थ यह नहीं कि गिरती हुई कीमत ही आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देती है। वास्तविकता तो यह है कि मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकुचन दोनों ही अर्थ-व्यवस्था में असन्तुलन को जन्म देती हैं तथा आर्थिक विकास में बाधाएँ उत्पन्न करती हैं, सहायक नहीं होतीं। आर्थिक विकास के लिए सबसे उपयुक्त कीमत-स्तर—स्थिर कीमत-स्तर—है।[1]

मुद्रा-स्फीति को रोकने के उपाय

मुद्रा-स्फीति के दोषों को देखते हुए इसकी रोकथाम करना प्रत्येक सरकार का आवश्यक कर्तव्य होता है। स्फीति की स्थिति का आरम्भ होते ही इसे दबा देना अधिक अच्छा होता है।[2] स्फीति के वेग को रोकने के लिए ये उपाय अपनाये जा सकते हैं

---

[1] T T Sethi *Price Strategy in Indian Planning*, Chapter XI.

[2] "If at the outset inflation is allowed to gain a footing, it is only likely to get out of control." —Hawtrey, *Currency and Credit*, p 200

(1) **मौद्रिक उपाय** (Monetary measures)—सरकार तथा केन्द्रीय बैंक कुछ ऐसे मौद्रिक उपाय अपनाते है जिनका उद्देश्य मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करना होता है, अर्थात्—

1 सरकार को चाहिए कि मुद्रा-निर्गमन सम्बन्धी नियमो को कडा कर दे ताकि केन्द्रीय बैंक सुविधापूर्वक अतिरिक्त मुद्रा जारी न कर सके। इसके लिए पत्र-मुद्रा निर्गमन के पीछे रखे जाने वाले कोषो की मात्रा मे वृद्धि की जा सकती है।

2 मुद्रा स्फीति भयकर होने की दशा मे पुरानी मुद्रा समाप्त करके उसके बदले मे नयी मुद्रा कम मात्रा मे दे दी जाती है। प्रथम महायुद्ध के बाद रूस मे इसी नीति को अपनाया गया था।

3 साख-नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको को इस प्रकार के निर्देशन देता है कि वे साख का अधिक सृजन तथा प्रसार न करें। बैंक-दर मे वृद्धि, प्रतिभूतियो की बिक्री, बैंको के न्यूनतम नकद कोषों की मात्रा मे वृद्धि, साख की राशनिंग इत्यादि ऐसे उपाय है जिनसे साख का सकुचन होता है। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको को इस प्रकार के आदेश देता है कि व कुछ आवश्यक वस्तुओ, जैसे अनाज इत्यादि, को गोदामो मे रखकर उसके आधार पर ऋण न दें। इससे माल बाजार मे आने लगता है तथा कीमतो पर प्रभाव पडता है।

(2) **वित्तीय उपाय** (Fiscal measures)—मुद्रा-स्फीति के उपचार के लिए मौद्रिक उपायो के साथ-साथ निम्नलिखित वित्तीय उपायों को भी अपनाना पडता है

1 स्फीति के नियन्त्रण के लिए यथासम्भव बजट सन्तुलित रखना आवश्यक होता है। घाटे का बजट होने पर सरकार को मुद्रा-निर्गमन करना पडता है।

2 करो मे वृद्धि के द्वारा सरकार अपने साधनो मे वृद्धि कर सकती है तथा समाज म अतिरिक्त क्रय-शक्ति को प्रभावहीन बना सकती है।

3 सार्वजनिक ऋण मे वृद्धि से एक ओर तो लोगो के पास तरल मुद्रा की मात्रा कम होती है, दूसरी ओर सरकार ऋणो से प्राप्त किये गये धन को उत्पादन की वृद्धि करने मे प्रयोग करती है, इसलिए स्फीति का वेग नियन्त्रित होता है।

4 सरकार को चाहिए कि सरकार द्वारा किये गये उत्पादन-कार्यो मे वह पर्याप्त लाभ प्राप्त करे, और ऐसे उपाय अपनाये जिनसे इनकी कार्यक्षमता मे वृद्धि हो सके।

5 सार्वजनिक व्यय, विशेषकर अनुत्पादक व्यय, को कम करना भी बहुत आवश्यक होता है।

6 वित्तीय उपायो द्वारा उपभोग को हतोत्साहित करके बचत को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(3) **व्यापार सम्बन्धी उपाय** (Commercial measures)—स्फीति की दशा मे आयात की मात्रा को बढाना होता है जिससे उपलब्ध वस्तुओ की मात्रा मे वृद्धि हो सके। परन्तु व्यावहारिक रूप मे ऐसा करना सम्भव नही हो पाता, क्योंकि बिना निर्यात बढे आयात नही बढाये जा सकते, और निर्यात बढाना ऐसे देशो के लिए बहुत कठिन होता है क्योंकि आन्तरिक कीमत-स्तर विदेशी कीमतों की अपेक्षा ऊँचा होता है। इन परिस्थितियो मे सरकार द्वारा निरन्तर ऐसे उपाय अपनाने की आवश्यकता होती है जिनसे नियन्त्रित रूप से आयात तथा निर्यात बढ सकें। विदेशी विनिमय-दर को गिराना अथवा अवमूल्यन (devaluation) करना बहुत ही खतरनाक होता है। यदि अधिमूल्यन सम्भव न हो तो कम से कम विनिमय-दर मे स्थिरता बनाये रखना चाहिए।

(4) **विनियोग-नियन्त्रण सम्बन्धी उपाय** (Investment Control measures)—स्फीति काल मे प्राय विनियोग की मात्रा बढती है जिसके कारण न केवल मौद्रिक आय मे वृद्धि होती है, अपितु उत्पादन मे आनुपातिक वृद्धि न होने के कारण मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन मिलता है। यह तो नही कहा जा सकता कि विनियोग की वृद्धि को रोक दिया जाय, परन्तु सरकार को यह अवश्य देखना पडता है कि बढते हुए विनियोग के परिणामस्वरूप उत्पादन मे तत्काल तथा यथेष्ट मात्रा

मे वृद्धि हो। ऐसे कार्य जिनमे बहुत अधिक पूंजी का विनियोग होता है तथा उत्पादन की प्राप्ति दीर्घकाल में होती है, स्फीति-काल मे उपयुक्त नही होते।

(5) **आय-नियन्त्रण सम्बन्धी उपाय (Income Control measures)**—पिछले कुछ वर्षों मे पाश्चात्य देशो मे स्फीति-नियन्त्रण के लिए आय-नीति (income policy) के अपनाने के पक्ष में अनेक सुझाव दिये गये हैं। आय-नीति का उद्देश्य मजदूरी बन्धन (wage freeze) के उपाय करना होता है ताकि बढती हुई मजदूरी उत्पादन की लागत में वृद्धि के द्वारा मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन न दे पाये। मजदूरी बढने से लागत तथा कीमते बढती है जिसके कारण पुन मजदूरी को बढाना पडता है, और इस प्रकार एक ऐसा विषम चक्र बन जाता है जिससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। बढती कीमतो की स्थिति मे व्यावहारिक रूप से आय अथवा मजदूरी को स्थिर रखना बहुत कठिन होता है, परन्तु, फिर भी, सरकार द्वारा ऐसे उपाय तो किये ही जा सकते है कि विभिन्न वर्गों द्वारा आय मे अनुचित वृद्धि के लिए दबाव प्रभावपूर्ण न होने पाये।

(6) **प्रत्यक्ष नियन्त्रण (Direct Controls)**—ऊपर बताये गये सभी उपाय मुद्रा-स्फीति को अप्रत्यक्ष रूप मे नियन्त्रित करते हैं। स्फीति कम करने के लिए सरकार वस्तुओ की कीमतो को प्रत्यक्ष रूप मे भी नियन्त्रित कर सकती है, विशेषकर आवश्यक वस्तुओ की कीमतो को तो नियन्त्रित कर ही देना चाहिए। जिन वस्तुओ की माँग पूर्ति की अपेक्षा बहुत अधिक है उनका राशनिंग करना चाहिए। विदेशी व्यापार पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण तथा देश की औद्योगिक नीति पर नियन्त्रण भी मुद्रा-स्फीति के विरुद्ध प्रयोग में लाये जाते हैं।

(7) **उत्पादन-वृद्धि (Increase in Production)**—मुद्रा-स्फीति का प्रभाव कम करने के लिए उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि करना भी आवश्यक होता है। ऐसे उद्योगो को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिनमे पूंजी का विनियोग तो कम हो परन्तु शीघ्र उत्पादन द्वारा उपभोक्ताओ की आवश्यकताएँ अधिक से अधिक पूरी की जा सकें। कृषि के उत्पादन म वृद्धि मुद्रा स्फीति के नियन्त्रण म विशेष रूप से सहायक होती है।

यह स्मरण रहे कि मुद्रा-स्फीति के नियन्त्रण के लिए कोई भी अकेला उपाय प्रभावपूर्ण नही हो पाता, इसलिए एक साथ विभिन्न उपाय अपनाने पडते है। अप्रत्यक्ष उपायो मे मौद्रिक, वित्तीय, व्यापारिक, विनियोग तथा आय सम्बन्धी विभिन्न उपाय एक-दूसरे से जुडे रहते है और उनको एक-दूसरे के सहयोग की आवश्यकता होती है। अप्रत्यक्ष उपायो के साथ-साथ कुछ विशेष वस्तुओ की कीमतो को प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित करना भी आवश्यक होता है तथा उत्पादन-वृद्धि के प्रयास करना भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। इस प्रकार, सन्तोषजनक रूप से मुद्रा स्फीति के नियन्त्रण के लिए उपर्युक्त सभी उपायो को एक साथ अपनाना ही अधिक उपयुक्त होता है।

मुद्रा-संकुचन अथवा अवस्फीति

स्फीति के समान अवस्फीति (deflation) भी एक आर्थिक रोग है जिसके लक्षण स्फीति के पूर्णतया विपरीत होते है। क्राउथर के अनुसार, "मुद्रा संकुचन वह स्थिति है जिसमे मुद्रा का मूल्य बढता है अर्थात् कीमतें गिरती हैं।"[1] परन्तु जिस प्रकार कीमतो की प्रत्येक वृद्धि को स्फीति नही कहा जा सकता, ठीक इसी प्रकार कीमतो की प्रत्येक गिरावट को अवस्फीति नही कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, स्फीति के पश्चात कीमतो मे गिरावट अवस्फीति नही बल्कि विस्फीति (disinflation) कहलाती है। संक्षेप मे, अवस्फीति की दशा मे कीमतो म गिरावट के अतिरिक्त उत्पादन तथा रोजगार म भी गिरावट होती है। कॉलबोर्न ने ठीक ही लिखा है कि 'अनैच्छिक बेरोजगारी मुद्रा-संकुचन की कसौटी होती है।"[2] कुछ लेखको ने अवस्फीति को मुद्रा की माँग तथा पूर्ति (अर्थात् उत्पादन तथा मौद्रिक आय) मे भी सम्बन्धित किया है। प्रो० पीगू के अनुसार, "मुद्रा-अवस्फीति कीमत-स्तर के गिरने की वह अवस्था है जो उस समय उत्पन्न होती है जब वस्तुओ तथा सेवाओ

1 "Deflation ... becomes a state in which the value of *money*, is rising, *i e*, prices are falling"—Crowther *An Outline of Money*, p 107

2 "Involuntary unemployment ... is the hall mark of deflation"—Coulborn *A Discussion of Money*, p 163

का उत्पादन मौद्रिक आय की तुलना मे तेजी से बढता है।" इस प्रकार, केवल निम्नलिखित दशाओ मे कीमतों का गिरना मुद्रा-सकुचन की श्रेणी मे आता है :

1. उत्पादन मे वृद्धि होती है, किन्तु मौद्रिक आय मे कोई परिवर्तन नही होता।
2. मौद्रिक आय घटती है, किन्तु उत्पादन मे कोई परिवर्तन नही होता।
3. मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनों घटते है, किन्तु अपेक्षाकृत मौद्रिक आय अधिक तेजी से घटती है।
4. मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनो मे वृद्धि होती है, किन्तु उत्पादन अधिक तेजी से बढता है।
5. मौद्रिक आय घटती है, किन्तु उत्पादन बढता है।

मुद्रा-सकुचन के कारण

1. मुद्रा की मात्रा का मुद्रा की माँग अथवा वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन से कम होने पर मुद्रा-सकुचन की स्थिति उत्पन्न होती है। कीमतो के गिरने का चक्र एक बार आरम्भ होने पर आर्थिक जगत म निराशा की भावना फैलती है जिसमे मुद्रा-सकुचन और भी अधिक फैलता है।
2. सरकार चलन की कुछ मात्रा को वापस लेकर अथवा रद्द करके मुद्रा की पूर्ति मे कमी कर सकती है जिससे सकुचन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।
3. वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि हो जाना जबकि मुद्रा की मात्रा में कोई परिवर्तन न हो, मुद्रा-सकुचन का महत्वपूर्ण कारण होता है। अति-उत्पादन (over production) की स्थिति म कीमते गिरती हैं, कारखाने बन्द होने लगते हैं तथा बेकारी फैलती है।
4. केन्द्रीय बैंक साख-नियन्त्रण की नीति द्वारा मुद्रा-सकुचन की स्थिति पैदा कर सकता है। ऊँची बैंक-दर के कारण साख का सकुचन होता है। प्रतिभूतियो की खुले बाजार म बिक्री से प्रचलन मे मुद्रा की मात्रा कम होती है। बैंको के रक्षित कोष की मात्रा बढाने से तथा जनता से अधिक ऋण प्राप्त करने पर केन्द्रीय बैंक साख तथा मुद्रा का सकुचन कर सकता है।
5. सरकार द्वारा अधिक मात्रा मे करारोपण (taxation) करने पर लोगों के पास मुद्रा की मात्रा (अथवा क्रय शक्ति) कम हो जाती है। दूसरी ओर सरकार के वित्तीय साधन बढने से उत्पादन के लिए सरकारी विनियोग की मात्रा बढती है तथा उत्पादन मे वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार का असन्तुलन मुद्रा-सकुचन को जन्म देता है।
6. स्वर्णमान वाले देश मे व्यापार तथा उद्योगो का विकास होने पर यदि स्वर्ण-कोषो के अभाव के कारण मुद्रा की मात्रा म उत्पादन की वृद्धि के अनुपात मे वृद्धि नही हो पाती थी, तो उन देशो मे मुद्रा सकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। इस कारण का अब तो कोई व्यावहारिक महत्व नही रहा, केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है।

मुद्रा-सकुचन के प्रभाव

अवस्फीति अथवा मुद्रा-सकुचन की स्थिति म कीमते नीचे गिरती हैं तथा उत्पादन घट जाता है और बेरोजगारी बढती है। इन परिस्थितियों मे अवस्फीति सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करती हैं और इसका विभिन्न वर्गों पर प्रभाव मुद्रा स्फीति के प्रभाव के विपरीत होता है। विभिन्न वर्गों पर पडने वाले प्रभाव निम्नलिखित हैं

(1) **उत्पादक तथा व्यापारी वर्ग**—मुद्रा-सकुचन की स्थिति मे उत्पादको तथा व्यापारियों को हानि होती है क्योंकि कीमते तेजी से गिरती है, जबकि उत्पादन-लागत उस अनुपात मे नहीं गिर पाती। लगान, ब्याज तथा मजदूरी आदि का गिरना बहुत कठिन होता है। पहले से खरीदे हुए कच्चे माल का मूल्य भी गिर जाता है। वस्तुओ की माँग कम होने के कारण उत्पादको तथा व्यापारियो के पास स्टॉक जमा हो जाते हैं। विशेषकर कृषि-उत्पादकों पर मुद्रा-सकुचन का बहुत

अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि उनके उत्पादन की मात्रा तथा लागत लगभग स्थिर रहते हैं, जबकि उनके उत्पादन के मूल्य में बहुत अधिक कमी हो जाती है।

(2) **विनियोगी वर्ग**—अपरिवर्तनशील आय वाले विनियोगी को लाभ होता है क्योंकि उसे प्राप्त होने वाली मौद्रिक आय का वास्तविक मूल्य बढ़ जाता है अर्थात् क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। इसके विपरीत, परिवर्तनशील आय वाले विनियोगकर्ताओं को हानि होती है। जैसे, सम्मिलित पूंजी कम्पनियों के अंशधारियों (shareholders) के लाभांश कम हो जाते हैं, क्योंकि कम्पनियाँ घाटे में होती हैं।

(3) **वेतनभोगी तथा श्रमिक वर्ग**—एक प्रकार से तो वेतनभोगी, श्रमिक तथा निश्चित आय वाले लोग मुद्रा-संकुचन काल में लाभ का अनुभव करते हैं क्योंकि उनकी आय में उस अनुपात में कमी नहीं हो पाती जिस अनुपात में कीमतें गिरती हैं। इस वर्ग को उपलब्ध क्रय-शक्ति की मात्रा बढ़ जाती है। परन्तु एक अन्य पहलू से देखने पर इस वर्ग में बेरोजगारी बढ़ने के कारण इनको बहुत हानि होती है। मालिकों द्वारा छंटनी तथा तालाबन्दी के विरुद्ध मजदूरों को आन्दोलन करना पड़ता है तथा औद्योगिक अशान्ति बढ़ जाती है।

(4) **उपभोक्ता वर्ग**—उपभोक्ता को कम कीमत पर अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, इसलिए उसे मुद्रा-संकुचन से लाभ होता है। उसकी क्रय-शक्ति बढ़ जाती है तथा वह वस्तुओं और सेवाओं की अधिक मात्रा खरीद सकता है। परन्तु स्मरण रहे कि उपभोक्ता को मुद्रा-संकुचन से लाभ तभी होगा जबकि उसकी मौद्रिक आय यथास्थिर रहे। मौद्रिक आय के गिर जाने पर, जैसा कि प्रायः मुद्रा-संकुचन काल में होता है, उपभोक्ता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(5) **ऋणी तथा ऋणदाता वर्ग**—मुद्रा-संकुचन की दशा में ऋणदाता को लाभ तथा ऋणी को हानि होती है क्योंकि ऋणदाता को प्राप्त होने वाली ब्याज की क्रय-शक्ति अधिक होती है, और यदि मूलधन इसी काल में लौट आये तो और भी अधिक लाभ होता है। ऋणदाताओं को एक हानि अवश्य होती है कि ऋणों की माँग कम होने पर ब्याज-दर गिर जाती है तथा उनके पास कुछ रकम बेकार रखी रहती है। परन्तु एक निर्धन तथा कृषि-प्रधान देश में ऋण की माँग घटती नहीं, बल्कि उपभोग के लिए बढ़ जाती है तथा ऋणदाता मनमानी ब्याज-दर प्राप्त करते हैं।

मुद्रा-संकुचन के अन्य प्रभाव

विभिन्न वर्गों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ने के अतिरिक्त मुद्रा-संकुचन सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है। विदेशी व्यापार के क्षेत्र में देश के निर्यात बढ़ते हैं तथा आयात कम होते हैं जिसके कारण देश का भुगतान-सन्तुलन (balance of payments) अनुकूल हो जाता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि इस काल में उत्पादन की मात्रा कम होने के कारण निर्यात-क्षमता अधिक होती ही नहीं। इस प्रकार से मुद्रा-संकुचन के दुष्परिणाम अधिक होते हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है

(1) **रोजगार में कमी**—वर्तमान शताब्दी में 'तीसा' की महान् अवस्फीति इस बात का प्रमाण है कि अवस्फीति-काल कितना कष्टदायक होता है। 1930 में अमेरिका में $1\frac{1}{2}$ करोड़ लोग बेकार थे। इसी प्रकार इंगलैण्ड में कुल श्रमिकों में से लगभग 20 प्रतिशत बेकार थे। इन लोगों के लिए कहीं कोई काम नहीं था तथा इनके भूखों मरने की नौबत आ गयी थी।

(2) **कर-भार में वृद्धि**—मुद्रा-संकुचन काल में मुद्रा का मूल्य अधिक होने के कारण करदाताओं को क्रय-शक्ति के रूप में अधिक कर भुगतान पड़ते हैं जबकि मौद्रिक रूप में कर-भार कम होता है। जिन उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं की आय में कमी होती है उनके लिए तो करों की अदायगी और भी अधिक कष्टदायक होती है।

(3) **सरकारी ऋणों के भार में वृद्धि**—मुद्रा का मूल्य बढ़ने के कारण सरकार पर ऋण का भार बढ़ जाता है जिसका सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। बेकारी की समस्या हल करने के लिए स्वयं सरकार को भी कुछ उत्पादक कार्यों में विनियोग करना पड़ता है और इसके

लिए उसे अतिरिक्त ऋण लेना पडता है। करो की वसूली भी कम होने के कारण ऋण की मात्रा बढ़ानी पड़ती है।

(4) **बैंकिंग व्यवस्था पर प्रभाव**—व्यापार तथा उत्पादन मे मन्दी होने के कारण ऋणो की माँग कम हो जाती है। पुराने ऋण भी लौट नही पाते। इस प्रकार बैंको व बीमा कम्पनियो का काम केवल मन्दा ही नही पडता, बल्कि उनके टूटने का भय उत्पन्न हो जाता है।

(5) **सामाजिक तथा नैतिक दुष्परिणाम**—मजदूरो तथा मालिको मे सघर्ष के कारण औद्योगिक शान्ति भग होती है। बेकारी बढने के कारण लोगो का नैतिक पतन होता है। एक बेकार व्यक्ति देशद्रोही तथा समाजद्रोही हो सकता है जिससे देश की शान्ति भग होने का भय बना रहता है।

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा-सकुचन काल मे व्यवसाय, उद्योग, कृषि विनियोजन, बैंक-व्यवस्था तथा विदेशी व्यापार मे मन्दी आ जाती है तथा बेरोजगारी बहुत अधिक बढती है जिसके कारण अर्थ-व्यवस्था पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पडता है। मुद्रा-सकुचन को रोकना अति आवश्यक होता है।

मुद्रा-सकुचन को रोकने के उपाय

मुद्रा-सकुचन को रोकने के लिए उत्पादन की मात्रा तथा रोजगार के स्तर मे वृद्धि होना आवश्यक होता है और इसके लिए अनेक ऐसे उपाय करने पडते हैं जिनसे कुल प्रभावपूर्ण माँग (total effective demand) म वृद्धि हो। मुद्रा-सकुचन को रोकने के लिए अपनायी गयी नीतियो का यह उद्देश्य होता है कि उपभोग तथा विनियोग की मात्रा मे वृद्धि करके कुल प्रभावपूर्ण माँग म वृद्धि हो, और इसके लिए निम्नलिखित उपाय अपनाये जा सकते हैं

(1) **मौद्रिक उपाय**—केन्द्रीय बैंक मौद्रिक नीति के अन्तर्गत ऐसे प्रयास करता है कि साख का प्रसार हो सके। बैंक-दर मे कमी करने पर अन्य बैंक कम ब्याज पर ऋण दे सकते हैं जिससे व्यावसायिक क्षेत्र को ऋण लेने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। ऋणो की माँग बढने से साख का प्रसार होता है। खुले बाजार की क्रियाओ के द्वारा प्रतिभूतियों को ऊँची कीमतो पर खरीदने से लोगों के पास मुद्रा की मात्रा बढायी जा सकती है। मुद्रा तथा साख की मात्रा बढने से समाज मे विनियोग की मात्रा भी बढती है। परन्तु इस सम्बन्ध म यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक की साख तथा मुद्रा प्रसार की नीति व्यावहारिक रूप म बहुत अधिक प्रभावपूर्ण नही हो पाती। केन्द्रीय बैंक द्वारा दी गयी सुविधाओ का उपभोग तभी सम्भव होता है जब उत्पादक तथा व्यापारी वर्ग मे भविष्य के प्रति उदासीनता तथा निराशा न हो। क्राउथर ने इस सम्बन्ध म उद्यमकर्ता की तुलना घोडे से की है जिसके सामने (अधिक मुद्रा की पूर्ति के रूप में) केन्द्रीय बैंक अधिक पानी रख सकता है परन्तु घोडे को अधिक पानी पीने के लिए बाध्य नही किया जा सकता। इस प्रकार मौद्रिक नीति की सफलता बहुत कुछ उद्यमकर्ताओ की मनोवृत्ति पर निर्भर करती है, जो मुद्रा सकुचन काल मे प्राय निराशापूर्ण होती है।

(2) **वित्तीय उपाय**—मुद्रा-सकुचन की स्थिति मे मौद्रिक उपायो की अपेक्षा वित्तीय उपाय अधिक प्रभावपूर्ण होते हैं। मुद्रा सकुचन को रोकने के लिए निम्नलिखित वित्तीय उपाय अपनाए जा सकते हैं

1 **सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि**—रोजगार मे वृद्धि करने के उद्देश्य से सरकार आर्थिक विकास तथा निर्माण की विभिन्न योजनाओ को बनाती है जिनको सार्वजनिक व्यय की मात्रा में वृद्धि करके पूरा किया जा सकता है। विश्वव्यापी मन्दी-काल म अमेरिका द्वारा अपनायी गयी न्यू डील (New Deal) योजना का यही उद्देश्य था। इस योजना के अन्तर्गत जगलों को साफ करने, सडके बनाने आदि अनेक कार्यो पर लोगो को लगाकर बेकारी समाप्त करने का सफल प्रयत्न किया गया था।

2 **ऋणो का भुगतान**—मुद्रा-सकुचन की दशा म सरकार सार्वजनिक ऋणो का भुगतान करके ऋणदाताओ के मौद्रिक साधनो की वृद्धि करती है ताकि वे अपने व्यय म वृद्धि कर सकें।

3 **करों में कमी**—करों में छूट देने पर उत्पादकों को उत्पादन बढ़ाने में प्रोत्साहन मिलता है। करों में कमी के कारण करदाताओं के पास अधिक क्रय-शक्ति बची रहती है। यदि उनकी उपभोग प्रवृत्ति प्रबल होती है तो वे अपने व्यय को बढ़ा देते हैं जिससे माँग में वृद्धि होती है।

4 **आर्थिक सहायता**—मुद्रा-संकुचन काल में बन्द हुए उद्योगों को सरकार आर्थिक सहायता देकर पुनर्निर्माण के लिए प्रेरित कर सकती है, जिससे वे पुनः खड़े हो सकें।

(3) *अन्य उपाय* (Other Measures)—मौद्रिक तथा वित्तीय उपायों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपाय भी अपनाये जा सकते हैं, जैसे—

1. **निर्यात में वृद्धि तथा आयातों में कमी**—मुद्रा-संकुचन काल में देश में अति-उत्पादन (over-production) की स्थिति उत्पन्न होने पर सरकार को इन वस्तुओं का निर्यात यथासम्भव बढ़ाना चाहिए तथा इनके आयात पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए।
2. **अतिरिक्त उत्पादनों को नष्ट करना**—यदि उपलब्ध उत्पादन की बिक्री किसी प्रकार सम्भव न हो सके तो उत्पादन की अतिरिक्त मात्रा को नष्ट कर देना चाहिए। इसमें तत्काल तो उत्पादकों को हानि होती है परन्तु कालान्तर में जैसे ही उत्पादन तथा कीमत-वृद्धि का क्रम आरम्भ होता है, उत्पादक अपनी हानि की पूर्ति कर लेते हैं तथा उन्हें लाभ की प्राप्ति होने लगती है। वैसे, अतिरिक्त उत्पादन को नष्ट करने की अपेक्षा यदि सरकार इसको व्यापारियों से खरीद ले और बाद में धीरे-धीरे इसकी बिक्री करे तो भी समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है और इसमें हानि भी नहीं होती।

मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन की तुलना

मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन दोनों ही आर्थिक रोग हैं जो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। मुद्रा-प्रसार उत्पादन की वृद्धि में सहायक हो सकता है तथा मुद्रा-संकुचन आय के समान वितरण में। परन्तु यह तभी सम्भव है जब ये दोनों ही सरकार के नियन्त्रण में हों। एक निश्चित सीमा के पश्चात दोनों के परिणाम बहुत सकटपूर्ण होते हैं। तेजी से बढ़ती तथा घटती कीमतें दोनों ही दोषपूर्ण दशाएँ हैं।

प्रो० केन्ज के विचारानुसार, "**मुद्रा-प्रसार अन्यायपूर्ण (unjust) है तथा मुद्रा-संकुचन अनुपयुक्त (inexpedient) है।** दोनों में सम्भवतः मुद्रा-संकुचन अधिक खराब है क्योंकि एक निर्धन विश्व में किराये की आमदनी पर निर्भर करने वाले अनुत्पादक व्यक्ति को निराश करने की अपेक्षा बेकारी उकसाना अधिक खराब होता है।"[1]

मुद्रा-प्रसार अन्यायपूर्ण क्यों ?

मुद्रा-प्रसार अनेक कारणों से अन्यायपूर्ण होता है

(1) बचत करने वाले लोग जो भविष्य के लिए मुद्रा बचाकर रखते हैं, उनको मुद्रा का मूल्य कम हो जाने के कारण बहुत हानि होती है। इसी प्रकार, सरकारी प्रतिभूतियों आदि के रूप में अपने धन का विनियोग करने वाले लोगों को भी बहुत हानि होती है। प्रो० वकील ने इसीलिए मुद्रा-स्फीति को अदृश्य डकैत कहा है।

(2) ऋणदाता को हानि उठानी पड़ती है। अत्यधिक त्याग करके अपनी मुद्रा दूसरे को देने वाला व्यक्ति तो घाटे में रहता है, जबकि उधार लेने वाले को बैठे-बिठाये असाधारण लाभ की प्राप्ति होती है। इंगलैण्ड में 1919 में ऋण लेने वाले व्यक्ति को 1920 में लौटाने पर लगभग 46% का लाभ हुआ।

(3) केन्ज ने मुद्रा-प्रसार को धन वितरित करने का शक्तिशाली इंजन बताते हुए कहा है कि यह इंजन बिलकुल अन्धा होकर धन का वितरण करता है, क्योंकि यह किसी व्यक्ति के गुणों तथा अवगुणों का विचार नहीं करता।

---

1 J M Keynes - *A Tract on Monetary Reform.*

(4) मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति एक प्रकार के अदृश्य करारोपण (invisible taxation) की होती है। सरकार बजट सम्बन्धी घाटे की पूर्ति के लिए अधिक मुद्रा का निर्गमन करके मुद्रा के मूल्य को गिरा देती है जिसके कारण उपभोक्ता अनेक वस्तुओं तथा सेवाओं के उपभोग से वंचित रह जाता है, सरकार उसकी क्रय-शक्ति को अप्रत्यक्ष रूप से छीन लेती है।

(5) मुद्रा प्रसार का भार निर्धनों पर अधिक पड़ता है क्योंकि आवश्यक वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाने के कारण उनके लिए पेट भरना भी कठिन हो जाता है। उत्पादक तथा व्यापारी वर्ग के धनी लोगों की आय म वृद्धि होने के कारण उन्हें तो मुद्रा-प्रसार से लाभ ही होता है, सकट तो केवल निर्धनों के लिए होता है। इस प्रकार स्फीति काल मे वितरण मे विषमताएँ और भी बढ़ जाती हैं।

(6) मुद्रा-प्रसार से देश म जो एक प्रकार की कृत्रिम सम्पन्नता (artificial prosperity) उत्पन्न होती है वह स्थायी नही होती। कीमतें बढ़ते-बढ़ते उस सीमा तक जा पहुँचती हैं जहाँ अर्थ व्यवस्था अस्त व्यस्त होने लगती है तथा अवस्फीतिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। आर्थिक स्थिरता न होने के कारण समाज मे अलग-अलग वर्गों को कभी लाभ तो कभी हानि होती रहती है।

उपर्युक्त विवेचन म स्पष्ट है कि केन्ज ने मुद्रा प्रसार को अन्यायपूर्ण ठीक ही बताया है।

मुद्रा-सकुचन अनुपयुक्त क्यों ?

यदि मुद्रा-प्रसार अन्यायपूर्ण है, तो मुद्रा सकुचन अनुपयुक्त है, क्योंकि—

(1) मुद्रा-सकुचन बेकारी की गम्भीर समस्या को उत्पन्न करता है। बेकार लोग समाज के ऊपर एक भार होते है जिनके लिए खाने-पीने की व्यवस्था तो करनी ही होती है, परन्तु समाज को उनसे मिलता कुछ नहीं। अधिक समय तक बेकार रहने से श्रमिक की कार्यक्षमता अथवा काम करने की योग्यता पर भी प्रभाव पड़ता है। स्फीति-काल मे तो मजदूर की आधी रोटी छिन जाती थी परन्तु बेकारी के कारण तो उसकी पूरी रोटी ही छिन जाती है, जिसके कारण देश की आर्थिक स्थिति और भी अधिक प्रतिकूल हो जाती है।

(2) कृषि, व्यापार तथा उद्योग सभी का पतन होता है तथा उत्पादक वर्ग निराशावादी हो जाता है। गिरती हुई कीमते उत्पादन पर रोक लगाती हैं तथा देश को निर्धन बना देती हैं।

(3) मुद्रा-सकुचन की स्थिति इसलिए भी अनुपयुक्त है कि एक बार आरम्भ होने पर इसका नियन्त्रण करना बहुत कठिन हो जाता है। यह एक साधारण नियम है कि ऊपर से नीचे गिरना आसान है परन्तु नीचे से ऊपर उठना बहुत कठिन होता है। एक व्यापार चक्र में मुद्रा सकुचन काल की अवधि मुद्रा-प्रसार काल की अवधि की अपेक्षा अधिक लम्बी होती है।

मुद्रा-सकुचन की स्थिति म बेकारी फैलती है, उद्योग-धन्धे ठप हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण समाज का आर्थिक पतन होता है, **इसीलिए केन्ज ने मुद्रा-सकुचन को मुद्रा-प्रसार से भी अधिक बुरा बताया है।**

वास्तविकता तो यह है कि मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-सकुचन दोनों ही दोषपूर्ण तथा हानिकारक हैं। इन दोनों मे से किसी एक को अच्छा तथा दूसरे को बुरा बताना एक चोर तथा डाकू म तुलना करने के समान है। स्वय केन्ज के शब्दों म, **"यह आवश्यक नहीं कि हम एक बुराई को दूसरी से तोलकर देखें। यह स्वीकार कर लेना आसान है कि दोनों ही ऐसी बुराइयां हैं जिनसे दूर रहना चाहिए।"**[1] सैलिगमैन के अनुसार, "उठती तथा गिरती हुई दोनों ही प्रकार की कीमतें अस्थिर साम्य को जन्म देती हैं, जिससे उद्योगों मे अस्तव्यस्तता उत्पन्न होती है तथा विभिन्न वर्गों को असमान लाभ तथा हानियाँ होती हैं। ऊँची तथा नीची कीमतें स्वय इतनी अहितकर नहीं होतीं, जितनी ऊपर उठती हुई अथवा नीचे गिरती हुई कीमत।"[2] यदि दोनों बुराइयों मे चुनाव करना ही पड़ जाय तो मुद्रा-सकुचन अधिक बुरा होता है।

---

1 "... it is not necessary that we should weight one evil against the other ... It is easier to agree that both are evils to be shunned." —Keynes *A Tract on Monetary Reform*

2 "Both rising and falling prices create an unstable equilibrium which means disturbance in industry and unequal gains or losses to different classes ... It is not high or low prices as such which do the harm, but rising or falling prices." —Seligman *Principles of Economics*

मुद्रा-संस्फीति

मुद्रा-स्फीति से मिलती-जुलती एक अन्य स्थिति मुद्रा-सस्फीति (reflation) की होती है। आर्थिक मन्दी की दशा मे अर्थ-व्यवस्था को पुन सन्तुलित स्थिति मे लाने के लिए जब नियन्त्रित रूप से मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि की जाती है, तो उसे 'मुद्रा-सस्फीति' अथवा 'मुद्रा-प्रत्यवस्फीति' कहते हैं। कोल ने लिखा है कि "मुद्रा-सस्फीति को मन्दी के प्रभावो को दूर करने के लिए किये जाने वाले मुद्रा-प्रसार के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है।"[1]

मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-सस्फीति की प्रकृति लगभग एक-सी होती है। दोनो ही म मुद्रा की मात्रा बढती है तथा कीमतो मे वृद्धि होती है, परन्तु फिर भी दोनो के बीच कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं .

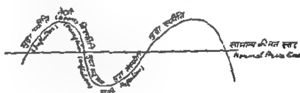
1 मुद्रा-स्फीति के कारण प्राकृतिक होते हैं अथवा ऐच्छिक, जबकि मुद्रा सस्फीति सदा ही ऐच्छिक होती है। दूसरे शब्दो मे, कीमतो को फिर से सामान्य स्तर पर लाने के लिए मुद्रा-सस्फीति की नीति एव योजना के अनुसार अपनायी जाती है।

2 मुद्रा-स्फीति का आरम्भ कीमतो के सामान्य स्तर से ऊपर उठ जाने पर होता है, जबकि मुद्रा-सस्फीति का उद्देश्य कीमतो को सामान्य स्तर पर लाना होता है। मुद्रा-सस्फीति उद्धार-काल (period of recovery) से सम्बन्धित होती है तथा कीमतो को सामान्य स्तर पर लाने के पश्चात समाप्त हो जाती है। इसके आगे बढने पर मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

3. मुद्रा-स्फीति के परिणाम हानिकारक होते है तथा यह विनाशकारी हो सकती है, परन्तु मुद्रा-सस्फीति निर्माणात्मक होती है क्योंकि इसका उद्देश्य मन्दी की स्थिति का उपचार करना होता है।

4 मुद्रा-स्फीति के अन्तर्गत कीमते तेजी से बढ सकती हैं, परन्तु मुद्रा सस्फीति म कीमतें धीरे धीरे ऊपर उठती है।

प्रस्तुत रेखाचित्र (6) मे स्पष्ट रूप मे दिखाया गया है कि सामान्य कीमत की रेखा से ऊपर मुद्रा-स्फीति होती है। तेजी से मन्दी तक मुद्रा-सकुचन होता है और मन्दी से लेकर सामान्य कीमत-स्तर तक मुद्रा सस्फीति रहती है।



चित्र 6

तेजी से सामान्य कीमत पर आने तक की स्थिति मुद्रा अपस्फीति अथवा विस्फीति (disinflation) कहलाती है।

मुद्रा-अपस्फीति

जिस प्रकार मुद्रा-सकुचन का सुधार मुद्रा-सस्फीति है, उसी प्रकार मुद्रा-स्फीति का सुधार मुद्रा-अपस्फीति अथवा विस्फीति (disinflation) है। मुद्रा स्फीति के उग्र रूप धारण कर लेने पर कीमतों मे इस प्रकार से कमी करना कि उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा म किसी प्रकार की कमी न हो, 'मुद्रा-अपस्फीति' की स्थिति कहलाती है। इसका उद्देश्य मुद्रा प्रसार को, बिना मुद्रा-सकुचन की स्थिति उत्पन्न किये, समाप्त करना होता है। कॉलबोर्न के अनुसार, "कीमतो, आय तथा व्यय मे जो भी गिरावट लाभकारी होगी, मुद्रा-अपस्फीति होगी।"[2] द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मुद्रा-प्रसार पर नियन्त्रण के लिए विभिन्न सरकारो ने मुद्रा-अपस्फीति की नीति को अपनाया है।

---

1 "Reflation may be defined as inflation deliberately undertaken to relieve a depression."—G D H. Cole *What Everybody Wants to Know About Money*

2 "... a lowering of prices, incomes and expenditures, when they would be beneficial, would be disinflation."—Coulborn *A Discussion of Money*, p 156

मुद्रा सकुचन तथा मुद्रा अपस्फीति दोनों ही गिरती हुई कीमतों की सूचक होती हैं तथा दोनों की प्रकृति लगभग एक-सी होती है, किन्तु फिर भी दोनों में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं

1 मुद्रा-सकुचन प्राकृतिक कारणों से हो सकता है अथवा ऐच्छिक होता है, जबकि मुद्रा अपस्फीति सदा ऐच्छिक ही होती है, जिसे सरकार एक योजनाबद्ध नीति के आधार पर करती है।

2 मुद्रा-सकुचन की स्थिति में कीमतें सामान्य स्तर से नीचे गिर जाती हैं जबकि मुद्रा अपस्फीति का उद्देश्य बढी हुई कीमतों को सामान्य स्तर पर लाना होता है।

3 मुद्रा-सकुचन मन्दी की दशाएँ उत्पन्न करता है, परन्तु मुद्रा-अपस्फीति केवल असाधारण आर्थिक स्थिति को सन्तुलित करती है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा-अपस्फीति के अन्तर्गत उत्पादन तथा रोजगार में कमी नहीं होती।

4 कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार यदि अर्थ व्यवस्था पूर्ण-रोजगार के बिन्दु पर है और कीमतें घटायी जाती हैं, तो यह मुद्रा-अपस्फीति है। परन्तु पूर्ण-रोजगार के बिन्दु से पूर्व ही यदि कीमतें घटती हैं तो यह मुद्रा-सकुचन होता है।

मूल्य-वृद्धि, मूल्य-ह्रास तथा अवमूल्यन

मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन के सम्बन्ध में प्राय तीन शब्दों का प्रयोग किया जाता है—मूल्य वृद्धि (appreciation) मूल्य-ह्रास (depreciation), तथा अवमूल्यन (devaluation)। इन तीनों का अर्थ अलग-अलग है

मुद्रा की मूल्य-वृद्धि (Appreciation)—जब किसी देश में मुद्रा की एक इकाई पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीदने लगती हैं तो इसे मुद्रा की मूल्य-वृद्धि की स्थिति कहते हैं। दूसरे शब्दों में मुद्रा का आन्तरिक मूल्य बढ जाता है, जिससे अभिप्राय यह है कि कीमत स्तर गिर जाता है। मुद्रा की मूल्य-वृद्धि का कारण मुद्रा-सकुचन अथवा मुद्रा-अपस्फीति हो सकता है।

मुद्रा का मूल्य-ह्रास (Depreciation)—मूल्य-वृद्धि के विपरीत मूल्य-ह्रास की स्थिति में किसी देश में मुद्रा की एक इकाई पहले की अपेक्षा कम वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीदने लगती है। मुद्रा का आन्तरिक मूल्य घट जाता है, अर्थात् कीमत-स्तर ऊँचा हो जाता है। मूल्य-ह्रास की स्थिति मुद्रा प्रसार तथा सम्फीति-काल में होती है।

अवमूल्यन (Devaluation)—अवमूल्यन का सम्बन्ध मुद्रा के आन्तरिक मूल्य से न होकर मुद्रा के बाह्य मूल्य (external value) से होता है। जब एक देश की मुद्रा का विनिमय दर (rate of exchange) अथवा विदेशी मूल्य अन्य देशों की तुलना में कम कर दिया जाता है तो इसे अवमूल्यन कहते हैं। पाल ऐन्जिग के अनुसार, "सुनिश्चित शब्दों में अवमूल्यन से अभिप्राय चलनों की अधिकृत समताओं में कमी से होता है।"[1] उदाहरणार्थ, जून 1966 में भारत ने रुपये का मूल्य 21 सेन्ट (cents) से घटाकर 13 13 सेन्ट कर दिया, जिससे भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन हुआ। प्राय देखा गया है कि किसी देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव उसके बाह्य मूल्य पर भी पडता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि दोनों में परिवर्तन साथ साथ हो। अवमूल्यन के अनेक उद्देश्य हो सकते हैं (1) निर्यात में वृद्धि तथा आयात में कमी करना, (2) विदेशी माल की कीमत अधिक हो जाने के कारण देशी उद्योगों को सरक्षण देना, (3) मुद्रा के अधिमूल्यन (over valuation) की स्थिति में विदेशी विनिमय दर में त्रुटि-सुधार के द्वारा बाजार मूल्य से समन्वय स्थापित करना तथा (4) विदेशी पूंजी को देश में आने के लिए प्रोत्साहित करना तथा बाहर जाने की प्रवृत्ति को रोकना।

यह याद रहे कि अवमूल्यन एक दुधारी तलवार के समान है तथा इसका अविवेकपूर्ण प्रयोग कभी-कभी बहुत बडे सकट का कारण बन सकता है। मुद्रा का अवमूल्यन देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था की कमजोरी की पहचान है।

---

1 "Strictly speaking, devaluation means a reduction in the official parities of currencies — Paul Einzig *Inflation*, p 107

कीमत-स्थिरता

हम यह देख चुके हैं कि मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन दोनों ही आर्थिक विकास के लिए अनुपयुक्त हैं। आन्तरिक सन्तुलन को बनाये रखने के लिए कीमत-स्तर में स्थिरता (price stability) बनाये रखना आवश्यक है।

यह समझ लेना आवश्यक है कि कीमत-स्तर स्थिरता से अभिप्राय कीमतों को किसी एक बिन्दु पर स्थिर रखना नहीं है। एक गतिशील आर्थिक वातावरण में जहाँ उत्पादन, आय, रोजगार तथा आय के वितरण में निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं, कीमतों को पूर्णतया स्थिर रखना सम्भव नहीं होता। कीमतों को पूर्णतया स्थिर रखने से उनका अन्य आर्थिक परिवर्तनों से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा तथा असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जायगी। वास्तव में, कीमत-स्थिरता एक ऐसी स्थिति है जिसमें वस्तुओं की कीमतों में अन्य आर्थिक परिवर्तनों के साथ-साथ ही उतार-चढ़ाव होते हैं और मुद्रा की माँग तथा पूर्ति में असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न नहीं होती और न ही कीमतों में परिवर्तन का अर्थ-व्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में, कीमत-स्तर में परिवर्तन अन्य आर्थिक परिवर्तनों का परिणाम है, कारण नहीं। **कीमत-स्तर की तुलना समुद्र में जल के स्तर से की जा सकती है,** जो ज्वार-भाटा (tides) के साथ-साथ बढ़ता-घटता रहता है तथा स्थिर दिखायी देने पर भी पूर्णतया स्थिर नहीं होता, क्योंकि इसमें थोड़ी-बहुत हलचल सदा होती ही रहती है।[1]

कभी-कभी सामान्य कीमत-स्तर में स्थिरता बनाये रखने का उद्देश्य होते हुए भी कुछ विशेष वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, जब सामान्य कीमत-स्तर में परिवर्तन हो रहा हो तो कुछ विशेष वस्तुओं की कीमतों को स्थिर रखना आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ, खाद्य-पदार्थों की कीमतों में अधिक परिवर्तन होना संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार, सरकार द्वारा एक उपयुक्त कीमत-नीति का अपनाया जाना आवश्यक होता है। इस नीति का उद्देश्य देश में कीमतों के उतार-चढ़ाव पर नियन्त्रण के अतिरिक्त उत्पादन, व्यापार, वित्तीय व्यवस्था, बचत एवं विनियोग तथा मुद्रा तथा साख की मात्रा पर भी उचित नियन्त्रण रखना होता है। किसी भी क्षेत्र में असावधानी अस्थिरता का कारण बन सकती है और कीमतों में अनुचित परिवर्तन किसी भी क्षेत्र के लिए हानिकारक हो सकते हैं। इस प्रकार, कीमतों की स्थिरता देश के आर्थिक ढाँचे द्वारा प्रभावित होती है और उसी के अनुकूल बनाये रखने के लिए सरकार को निरन्तर प्रयत्न करते रहना होता है।

कीमतों में उपर्युक्त प्रकार की स्थिरता रहने पर जनता का सरकार की नीतियों के प्रति तथा मुद्रा के मूल्य के प्रति विश्वास बढ़ता है, बचत की भावना को प्रोत्साहन मिलता है, पूँजी-निर्माण अथवा विनियोग की मात्रा में वृद्धि होती है तथा आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है। कीमत-स्थिरता आर्थिक शान्ति की परिचायक है, जिसके फलस्वरूप देश में उत्पादन, रोजगार तथा आय में वृद्धि होती है तथा विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार आर्थिक प्रगति में सन्तुलन, श्रम तथा विश्वास उत्पन्न करने के लिए कीमत-स्थिरता अति आवश्यक है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. मुद्रा-प्रसार की परिभाषा कीजिए तथा इसके परिणाम बताइए।

   [संकेत—मुद्रा-प्रसार की विभिन्न परिभाषाओं की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए तथा मुद्रा-प्रसार के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव तथा आर्थिक, नैतिक एवं राजनीतिक प्रभाव बताइए और यह स्पष्ट कीजिए कि मुद्रा-प्रसार को आर्थिक विकास में सहायक समझना भ्रमपूर्ण है।]

2. मुद्रा-प्रसार के कारणों की व्याख्या कीजिए तथा इसके उपचार के उपाय बताइए।

   [संकेत—मुद्रा-प्रसार को जन्म देने वाले विभिन्न कारणों का उल्लेख करने के पश्चात् दूसरे भाग में मुद्रा-प्रसार रोकने के विभिन्न उपाय (मौद्रिक, वित्तीय, व्यापार, विनियोग, आय, उत्पादन तथा प्रत्यक्ष नियन्त्रण सम्बन्धी) समझाइए।]

[1] T. T. Sethi : *Price Strategy in Indian Planning.*

3. मुद्रा-स्फीति के विभिन्न रूपों की व्याख्या कीजिए। क्या यह किसी भी रूप में आर्थिक विकास में सहायक हो सकती है ?

[संकेत—मुद्रा प्रसार के विभिन्न रूपों का (कारणों के अनुसार, प्रकृति के अनुसार, समयानुसार, आकार के अनुसार, नियन्त्रण तथा गति के अनुसार) वर्गीकरण कीजिए तथा मुद्रा प्रसार के आर्थिक विकास पर पड़ने वाले प्रभाव स्पष्ट करते हुए यह बताइए कि थोड़ी सी स्फीति भी कालान्तर में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर सकती है। कीमतों का स्थिर रहना ही अधिक अच्छा है।]

4. मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन में अन्तर स्पष्ट कीजिए और इनके विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले प्रभाव समझाइए।

[संकेत—मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन की परिभाषाओं के आधार पर दोनों में अन्तर समझाइए। दूसरे भाग में उत्पादक तथा व्यापारी, विनियोगी, श्रमिक अथवा वेतनभोगी, उपभोक्ता, ऋणी तथा ऋणदाता पर इन दोनों के प्रभाव स्पष्ट कीजिए।]

5. मुद्रा प्रसार अन्यायपूर्ण है और मुद्रा संकुचन अनुपयुक्त। इन दोनों में संकुचन अधिक बुरा है। विवेचन कीजिए।

[संकेत—मुद्रा प्रसार के विभिन्न प्रभावों के आधार पर इसकी अन्यायपूर्णता स्पष्ट कीजिए और मुद्रा-संकुचन के दोषों के कारण इसकी अनुपयुक्तता समझाइए। मुद्रा-संकुचन के कारण बेकारी फैलती है जिसमें कीन्ज ने इसे अधिक बुरा कहा है। वास्तव में मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन दोनों ही बुरे हैं परन्तु यदि दो बुराइयों में से एक को चुनना आवश्यक हो जाय तो मुद्रा प्रसार को ही चुनना पड़ेगा।]

6. मुद्रा संकुचन के आर्थिक प्रभावों का विवेचन कीजिए और इसको रोकने के उपाय बताइए।

[संकेत—मुद्रा संकुचन के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव तथा रोजगार, उत्पादन, वित्तीय ढाँचा तथा बैंकिंग व्यवस्था आदि पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या कीजिए तथा इसके रोकने के मौद्रिक, वित्तीय तथा अन्य उपाय बताइए।]

7. मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन के दुष्परिणामों की व्याख्या कीजिए और यह स्पष्ट कीजिए कि आन्तरिक सन्तुलन के लिए मूल्य स्थिरता आवश्यक है।

[संकेत—मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा संकुचन के दोष बताइए तथा मूल्य स्थिरता का अर्थ एवं महत्व स्पष्ट कीजिए।]

8. निम्न में भेद कीजिए

(अ) मुद्रा प्रसार और मुद्रा-संस्फीति

(ब) मुद्रा-संकुचन और मुद्रा अपस्फीति

(स) मूल्य-वृद्धि, मूल्य ह्रास तथा अवमूल्यन।

[संकेत—प्रत्येक का अर्थ बताते हुए एक-दूसरे से अन्तर स्पष्ट कीजिए।]

द्वितीय खण्ड

साख एवं बैंकिंग

[CREDIT AND BANKING]

10

साख

[CREDIT]

"साख ने संसार को धनी बनाने में संसार को सारी खानों की अपेक्षा हजार गुना अधिक काम किया है। इसने श्रम को प्रोत्साहित किया है, निर्माणकर्ताओं को प्रेरित किया है, वाणिज्य को सागरों पार तक विस्तृत किया है, और प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक राज्य और मानव की प्रत्येक प्रजाति की प्रत्येक छोटी जाति को परस्पर एक-दूसरे से परिचित करा दिया है।"[1]

—डेनियल वैब्स्टर

'साख' का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'Credit' है जो लेटिन भाषा के शब्द *credo* से उत्पन्न हुआ है, जिसका तात्पर्य है 'मैं विश्वास करता हूँ' (I believe)। इस प्रकार साख का शाब्दिक अर्थ 'विश्वास' अथवा 'भरोसा' होता है। आर्थिक भाषा में साख शब्द का प्रयोग प्राय उधार लेने-देने या 'स्थगित भुगतान' (deferred payment) के लिए होता है। वैसे 'Credit' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया जा सकता है—उधार लेन-देन में, व्यापार में किसी व्यक्ति की साख का अनुमान लगाने में, तथा हिसाब लेखों में नाम (debit) अथवा जमा की प्रविष्टियों में। साधारण बोलचाल में सभी प्रकार का विश्वास साख हो सकता है, परन्तु अर्थशास्त्र में साख का अभिप्राय केवल देनदारी अथवा शोधन-क्षमता के विश्वास से होता है। वर्तमान में मुद्रा अथवा मूल्यवान वस्तुएँ तथा सेवाएँ भविष्य में भुगतान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर प्राप्त करना ही साख है। इस प्रकार, व्यावहारिक रूप में, केवल व्यापारिक लेन-देन, बैंकों से ऋण आदि की क्रियाओं को ही साख के सौदों में सम्मिलित किया जाता है।

साख की परिभाषा

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गयी साख की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

जेवन्स (Jevons) के अनुसार, साख शब्द का अर्थ "भुगतान को स्थगित करना है" (postponement of payment)। टॉमस (Thomas) के अनुसार, "साख वह विश्वास है, जिसके आधार पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपनी बहुमूल्य वस्तुएँ तथा सेवाएँ, भले ही ये वस्तुएँ मुद्रा, सेवा अथवा साख-मुद्रा क्यों न हों, देता है, और आशा करता है कि वह व्यक्ति इनको वापस लौटा देगा।"[2] जीड (Gide) के शब्दों में, "साख एक ऐसा विनिमय कार्य है जो एक निश्चित अवधि के उपरान्त भुगतान करने पर पूर्ण

---

[1] "Credit has done more—a thousand times more—to enrich nations than all the mines of the world. It has excited labour, stimulated manufacturers, pushed commerce on every sea and brought every nation, every kingdom, and every small tribe among the races of men to be known to all the rest." —Daniel Webster

[2] "The term credit is now applied to that belief in a man's probity and solvency which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another, whether that something consists of money, goods, services or even credit itself as when one man entrusts to another the use of his good name and reputation."—S. E. Thomas *Elements of Economics*

होता है।"[1] इन सभी परिभाषाओं में साख को विश्वास पर आधारित स्थगित भुगतान माना गया है।

साख को व्यक्ति के ऋण प्राप्त करने की योग्यता के रूप में परिभाषित करते हुए किनले (Kinley) ने लिखा है, "साख से हमारा अभिप्राय किसी भी व्यक्ति की उस शक्ति से होता है जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्ति को भविष्य में भुगतान की प्रतिज्ञा पर अपनी आर्थिक वस्तुएँ समर्पित करने के लिए प्रेरित करता है। अतः साख ऋणी का एक गुण अथवा शक्ति है।'[2]

साख को भुगतान पाने का अधिकार अथवा भुगतान करने का दायित्व मानते हुए केण्ट (Kent) ने लिखा है, 'साख की परिभाषा, वस्तुओं के तात्कालिक हस्तान्तरण के कारण माँग पर अथवा भविष्य में किसी समय पर भुगतान पाने के अधिकार अथवा भुगतान करने के दायित्व के रूप में की जा सकती है।'[3]

बैंकों द्वारा साख-निर्माण को ध्यान में रखते हुए कोल (G D H Cole) ने लिखा है, "साख वह क्रय-शक्ति है जो आय से प्राप्त नहीं होती, अपितु वित्तीय संस्थाओं के द्वारा निक्षेपधारियों (depositors) की बैंकों में जमा निष्क्रिय आय को सक्रिय बनाकर अथवा कुल क्रय शक्ति में वास्तविक वृद्धि कर इसका निर्माण किया जाता है।"[4] आधुनिक काल में साख का अर्थ बहुत कुछ कोल के दृष्टिकोण के अनुसार ही किया जाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर साख के **आवश्यक तत्त्व** (essential elements) निम्नलिखित हैं

1. साख विश्वास पर आधारित होती है। साख का सम्बन्ध व्यक्ति या संस्था की आर्थिक प्रतिष्ठा से है जिसके आधार पर उसे कोई अन्य व्यक्ति या बैंक धन उधार देता है।
2. साख का निर्माण बैंकों द्वारा किया जाता है।
3. धन, वस्तु अथवा सेवाओं का हस्तान्तरण एक व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा दूसरे व्यक्ति अथवा संस्था को किया जाना आवश्यक होता है, केवल हस्तान्तरण की प्रतिज्ञा पर्याप्त नहीं होती।
4. हस्तान्तरित धन की वापसी तथा माल या सेवा का भुगतान तत्काल नहीं होता, बल्कि भविष्य में किसी निश्चित अथवा अनिश्चित तिथि पर होता है।

साख का आधार

साख देने अथवा प्राप्त करने का आधार क्या है? अधिकतर अर्थशास्त्री साख का सबसे बड़ा आधार विश्वास मानते हैं। प्रो॰ चैण्डलर ने साख के तीन आधार निश्चित किये हैं—साख प्राप्त करने वाले का व्यक्तिगत चरित्र, उसकी ऋण चुकाने की शक्ति, तथा उसके अधिकार में पूँजी की मात्रा।[5] कुछ अर्थशास्त्री ऋणी की आय, ऋण की सुरक्षा तथा समयावधि को भी महत्त्वपूर्ण आधार मानते हैं। विशेष रूप से साख के महत्त्वपूर्ण आधार निम्नलिखित हैं

(1) चरित्र—एक सच्चा, ईमानदार तथा चरित्रवान ऋणी, जिसने भूतकाल में ऋणों को वायदे के अनुसार ठीक समय पर चुकाया है ऊँची साख का व्यक्ति होता है, अर्थात् वह अधिक साख प्राप्त कर सकता है।

---

1 'It (credit) is an exchange which is complete, after the expiry of a certain period of time after payment '—Gide

2 'By credit we mean the power which one person has to induce another to put economic goods at his disposal for a time on promise of future payment Credit is thus an attribute or power of the borrower —David Kinley *Money* p 199

3 "Credit may be defined as the right to receive payment or the obligation to make payment on demand at some future time on account of the immediate transfer of goods ' --Raymond P Kent *Money and Banking*, p 91

4 " Credit is purchasing power not derived from income but created by financial institutions either as an offset to idle incomes held by depositors in the banks, or as a net addition to the total amount of purchasing power —G D H Cole *Money, Its Present and Future*, p 308

5 L V Chandler *Economics of Money and Banking*, p 32

(2) **क्षमता**—किसी व्यक्ति की ऋण लौटाने की क्षमता उसकी साख का निर्धारण करती है। प्राय एक शिक्षित, गुणी तथा अधिक आय उपार्जन कर सकने वाले व्यक्ति की ऋण तथा ब्याज के भुगतान की क्षमता अधिक समझी जाती है, और उसकी साख ऊँची होती है।

(3) **ऋणी की पूंजी तथा सम्पत्ति**—ऋणी के पास चल तथा अचल सम्पत्ति की अधिक मात्रा होने पर उसे साख की प्राप्ति म कठिनाई नही होती है। एक निर्धन व्यक्ति के बहुत अधिक चरित्रवान होने पर भी उसकी साख एक धनी की अपेक्षा कम होगी।

(4) **ऋण की जमानत**—ऋण प्राप्त करने के लिए ऋणी द्वारा प्रस्तुत की गयी जमानत उसकी साख को प्रभावित करती है। यदि वह मकान आदि अचल सम्पत्ति, जिसको आसानी से बेचा नही जा सकता, की जमानत पर ऋण प्राप्त करना चाहता है तो उसकी साख कम होगी। यदि जमानत सोने, चाँदी, बॉण्ड्स (bonds) अथवा अंशों (shares) के रूप मे है तो ऋणी की साख अपेक्षाकृत अधिक होगी।

(5) **ऋण की समयावधि**—अल्पकालीन ऋण प्राप्त करने म इतनी कठिनाई नही होती, जितनी दीर्घकालीन ऋण प्राप्त करने मे। दीर्घकालीन ऋण देने मे ऋणदाता को अधिक जोखिम रहता है, क्योकि ऋणी की क्षमता, आर्थिक स्थिति तथा चरित्र मे परिवर्तन होने का भय रहता है।

(6) **ऋण की राशि**—थोडी मात्रा मे ऋण प्राप्त करना अधिक मात्रा मे ऋण प्राप्त करने की अपेक्षा सहज होता है। अधिक मात्रा मे ऋण देने मे ऋणदाता का जोखिम अधिक होता है तथा वह हिचकिचाता है।

(7) **ऋण का उद्देश्य**—यदि ऋणी ऋण की माग उत्पादन तथा व्यापार मे वृद्धि करने के लिए करता है, तो उसके प्रयोग से उसकी आय बढती है तथा ऋण लौटाने की क्षमता भी अधिक होती है। इसके विपरीत, उपभोग के लिए लिये गये ऋण को चुकाने मे कठिनाई होती है तथा इस प्रकार के ऋण के लिए साख कम होती है।

(8) **विश्वास**—उपर्युक्त सभी आधार विश्वास को प्रभावित करते है। ऋणी का चरित्र, क्षमता, पूंजी और सम्पत्ति, जमानत, साख की अवधि, राशि तथा उद्देश्य आदि तत्व विश्वास को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार, कुछ विद्वानो के अनुसार साख का एकमात्र आधार विश्वास ही है।

चैण्डलर के शब्दो मे, "किसी व्यक्ति, व्यावसायिक फर्म अथवा सरकार की साख प्राप्त करने की क्षमता सम्भाव्य ऋणदाताओं के इस विश्वास पर निर्भर करती है कि ऋणी ऋण का भुगतान करने के लिए क्षम्य तथा तत्पर दोनों ही रहेगा।"[1]

साख के प्रकार

साख अनेक प्रकार की होती है। इसके विभिन्न रूपो का वर्गीकरण कई आधारो पर किया जा सकता है

(1) **स्रोत के अनुसार**—साख की प्राप्ति के स्रोत (अर्थात् ऋणदाता) के आधार पर साख तीन प्रकार की हो सकती है

1 **व्यक्तिगत साख** वह ऋण हैं जिनके देने वालो का मुख्य व्यवसाय साख का लेन-देन नही होता। महाजन, जमीदार अथवा मित्रो या सम्बन्धियो से प्राप्त किया गया ऋण इसी प्रकार का होता है।

2 **व्यावसायिक साख** उस साख को कहते हैं जो विभिन्न व्यवसायो के व्यक्तियो द्वारा दी जाती है। इनका भी मुख्य व्यवसाय साख का लेन-देन नही होता, परन्तु ये वस्तुएँ तथा सेवाएँ उधार दे देते है।

3 **संस्थागत साख** वह साख है जो ऐसी संस्थाओं द्वारा दी जाती है जिनका व्यवसाय साख का लेन-देन है। बैंको तथा अन्य वित्तीय संस्थाओ द्वारा दिये गये ऋण इसी प्रकार के हैं।

---

1 "The ability of any person, business firm or government unit to get credit, depends on potential creditor's faith that the borrower will be both able and willing to pay"—Chandler: *Economics of Money and Banking.*

(2) **प्रयोग के अनुसार**—साख का प्रयोग उपभोक्ता, व्यवसाय, उद्योग तथा सरकार द्वारा किया जाता है, अर्थात्—

1. उपभोक्ता साख के अन्तर्गत उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण प्राप्त किया जाता है। इसका प्रयोग किसी आकस्मिक आवश्यकता की पूर्ति अथवा कोई महँगी वस्तु खरीदने के लिए किया जाता है। जब उपभोक्ता अपनी सामान्य आय से इन आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता तो ऋण ले लेता है जिसको वह किस्तों में (hire-purchase system) अथवा इकट्ठा ही चुका देता है।
2. व्यावसायिक साख व्यापारियों तथा उद्योगपतियों द्वारा अपनी आय में वृद्धि के उद्देश से ली जाती है, इसलिए यह स्वयं-शोधनकारी (self-liquidating) होती है, अर्थात् इसका भुगतान स्वतः ही ऋणी की बढ़ी हुई आय से हो जाता है।
3. औद्योगिक साख उद्योगपतियों द्वारा भूमि, भवन तथा मशीनें आदि खरीदने के लिए प्रयोग में लायी जाती है। इसे विनियोग-साख (Investment Credit) भी कहते हैं। यह प्रायः लम्बे समय के लिए होती है और प्रायः बन्धक (mortgage) के आधार पर प्राप्त की जाती है।
4. सरकारी अथवा सार्वजनिक साख का प्रयोग सरकार द्वारा अपने आय तथा व्यय के घाटे की पूर्ति के लिए किया जाता है। इसका भुगतान सरकार द्वारा भविष्य की बचत अथवा नये ऋणों की प्राप्ति से किया जाता है।

(3) **अवधि के अनुसार**—यदि साख थोड़े समय के लिए दी जाय तो इसे अल्पकालीन साख कहते हैं। इसकी अवधि प्रायः 1 वर्ष तक की होती है। किसी भी समय माँग पर देय होने पर इसे **'माँग साख'** (Demand Credit) कहते हैं। 1 वर्ष से 5 वर्ष तक की अवधि के ऋण **'मध्यम कालीन साख'** तथा इससे अधिक अवधि के ऋण **'दीर्घकालीन साख'** कहलाते हैं।

(4) **धरोहर के अनुसार**—धरोहर अथवा जमानत (security) के अनुसार जिन ऋणों के पीछे यथेष्ट मूल्य की सम्पत्ति जमानत के रूप में रखी रहती है, उन्हें **'पूर्ण सुरक्षित साख'** (Fully Secured Credit) कहते हैं। ऋणों के पीछे कोई जमानत न रखकर केवल ऋणी की व्यक्तिगत जमानत पर दी गयी साख **'असुरक्षित साख'** (Unsecured Credit) कहलाती है। इन दोनों प्रकार की साख के बीच एक प्रकार की साख ऐसी भी होती है जिसके पीछे साख के मूल्य से कम की सम्पत्ति धरोहर के रूप में रखी जाती है, इसे **'अंशतः सुरक्षित साख'** (Partially Secured Credit) कहते हैं।

(5) **कार्य के अनुसार**—साख का वर्गीकरण कभी-कभी साख के कार्य के अनुसार भी किया जाता है जैसे, **उपभोग साख, उत्पादन साख, औद्योगिक साख, कृषि-साख, व्यावसायिक साख आदि।**

✓ साख की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व

साख की मात्रा से तात्पर्य यह है कि किसी देश में वर्तमान परिस्थितियों में साख की पूर्ति तथा माँग कितनी है। साधारणतया साख की मात्रा निम्नलिखित बातों से प्रभावित होती है

(1) **लाभ की दर**—यदि ऋण से विनियोगकर्त्ता, उत्पादक तथा व्यवसायी को अधिक लाभ प्राप्त होता है, अथवा केन्ज के शब्दों में 'पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता' (marginal efficiency of capital) अधिक है, तो ऋण के लिए माँग अधिक होती है। ऋण की माँग अधिक होने पर ब्याज-दर भी ऊँची होती है तथा ऋणों की पूर्ति बढ़ती है।

(2) **व्यापार की दशाएँ**—तेजी के काल में, जब कीमतें बढ़ रही होती हैं, व्यापारी भविष्य के लिए आशावादी होते हैं। इन परिस्थितियों में ब्याज-दर ऊँची होती है तथा साख का प्रसार होता है। इसके विपरीत, मन्दी काल में कीमतें गिरने के कारण लाभ घटने लगते हैं तथा निराशा का वातावरण उत्पन्न होता है। ऋणों की माँग कम हो जाती है तथा साख की मात्रा कम होती है।

(3) **सट्टेबाजी की स्थिति**—भविष्य में कीमतें बढ़ने की आशा होने पर सट्टा बाजार में

अधिक सौदे होने लगते हैं तथा ऋणो की मांग बढती है और साख का विस्तार होता है। भविष्य मे कीमते गिरने की सम्भावना होने पर ऋणो की मांग कम होती है तथा साख की मात्रा कम हो जाती है।

(4) **देश की राजनीतिक दशा**—देश म शान्ति तथा सुव्यवस्था होने से आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है तथा ऋण की मांग एव पूर्ति म वृद्धि होती है। अशान्ति तथा राजनीतिक अस्थिरता के वातावरण मे साख की मात्रा कम हो जाती है।

(5) **केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति**—साख की मात्रा पर केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति का बहुत अधिक प्रभाव पडता है। यदि सस्ती मुद्रा नीति (cheap money policy) के अन्तर्गत बैंक-दर कम कर दी जाती है तो व्यापारिक बैंकों को भी ऋणो पर ब्याज-दर को घटाना पडता है, जिसके परिणामस्वरूप साख का विस्तार होता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा ऊँची बैंक-दर तथा साख-नियन्त्रण की नीति अपनाने पर साख की मात्रा म कमी होती है।

(6) **देश की चलन-व्यवस्था**—देश की चलन व्यवस्था (monetary system) सुव्यवस्थित होने पर साख का विस्तार होता है। चलन-व्यवस्था से अनिश्चितता तथा मूल्यो म अस्थिरता की स्थिति म साख की मात्रा घट जाती है।

(7) **बैंकिंग प्रणाली का विकास**—बैंक साख का मुख्य स्रोत होते हैं। अत बैंकिंग प्रणाली के विकसित होने पर साख का प्रसार होगा तथा अविकसित होने पर साख की मात्रा अधिक नही हो सकती। अल्प-विकसित देशो म बैंकिंग प्रणाली भी प्राय अविकसित होती है तथा साख की मात्रा अपेक्षाकृत कम रहती है। उन्नत देशो म बैंकिंग प्रणाली के विकसित होने के कारण साख का अर्थ व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

क्या साख पूंजी है ?

साख पूंजी के रूप मे उत्पादन म सहायक होती है अथवा नही ? इस विषय पर अर्थशास्त्रियो मे काफी मतभेद पाया जाता है। एक ओर तो मेकलियोड (Macleod) का विचार है कि "मुद्रा और साख दोनों पूंजी हैं। व्यापारिक साख व्यापारिक पूंजी है।"[1] इस विचार का आधार यह है कि साख-पत्रों का मुद्रा की तरह प्रयोग किया जाता है तथा इनकी सहायता से उत्पत्ति के अन्य साधन—श्रम, भूमि आदि—खरीदे जा सकते हैं। दूसरी ओर रिकार्डो (Ricardo) तथा मिल (J S Mill) साख को पूंजी नही मानते। रिकार्डो के अनुसार, "साख पूंजी का सृजन नही करती है, यह तो बस इतना निर्धारित करती है कि पूंजी का प्रयोग किसके द्वारा होना चाहिए।"[2] मिल ने लिखा है, "उधार देने मात्र से पूंजी का निर्माण नही होता, ऐसी स्थिति म तो केवल उस पूंजी का जो पहले से ही ऋणदाता के पास थी, ऋणी को हस्तान्तरण होता है। साख तो केवल दूसरे की पूंजी का उपयोग करने का अधिकार है। इससे उत्पत्ति के साधनो को बढाया नही जा सकता, उनका केवल हस्तान्तरण हो सकता है।"[3]

अधिकतर अर्थशास्त्री साख को पूंजी नहीं मानते, क्योंकि (1) साख द्वारा पूंजी का केवल हस्तान्तरण होता है, पूंजी का निर्माण नही होता। इसी के माध्यम से एक व्यक्ति की पूंजी पर दूसरे को अधिकार प्राप्त होता है। कभी-कभी साख अनुत्पादक सचय को हस्तान्तरण द्वारा उत्पादक कार्यों में लगाती है, परन्तु इसको पूंजी का निर्माण तो नही कहा जा सकता। यह केवल निष्क्रिय पूंजी का सक्रिय होना है। (2) जिस प्रकार पूंजी और श्रम उत्पत्ति के साधन हैं, उस प्रकार साख उत्पत्ति का एक स्वतन्त्र साधन नही है। इसम सन्देह नही कि साख एक ऐसी रीति है जिससे उत्पादन में सहायता प्राप्त होती है, परन्तु स्वय साख को उत्पत्ति का साधन नही माना जा सकता।

---

1 "Money and credit are both capital Mercantile Credit is Mercantile Capital —Macleod *Elements of Banking*

2 "Credit does not create Capital, it only determines by whom capital could be employed" —Ricardo *Principles of Political Economy and Taxation*

3 "New capital is not created by the mere fact of lending, only the capital that was in the hands of the lender is now transferred *to the hands of the borrower Credit being only the* permission to use the capital of another person, the means of production cannot be increased by it but only transferred" —J S Mill *Principles of Political Economy*

(3) साख-पत्र स्वयं पूंजी नहीं होते, वे केवल पूंजी का प्रतिनिधित्व करते हैं। साख-पत्र धन के हस्तान्तरण का केवल एक साधन है।

इस प्रकार साख केवल साधन (means) है, साध्य (end) नहीं है। साख की सहायता से पूंजी प्राप्त की जा सकती है, परन्तु साख स्वयं पूंजी नहीं है।

साख तथा कीमतें

साख तथा कीमतों के सम्बन्ध के विषय में भी अर्थशास्त्रियों में बड़ा मतभेद पाया जाता है। अमरीकी अर्थशास्त्री वाकर (Walker) के अनुसार साख में परिवर्तनों का कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनके विचार में यद्यपि साख में क्रय-शक्ति (purchasing power) है, परन्तु भुगतान को समाप्त करने की शक्ति (liquidating power) नहीं है। दूसरे शब्दों में, साख के माध्यम से वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं, परन्तु उनका भुगतान अन्त में तो मुद्रा में ही करना होता है। इसके अतिरिक्त, साख-मुद्रा के माध्यम से क्रय-विक्रय करने पर एक क्रिया का दूसरी क्रिया में सन्तुलन हो जाता है, इसलिए वस्तुओं की कीमतों पर साख का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

इसके विपरीत, जे० एस० मिल के अनुसार साख की मात्रा में परिवर्तनों का कीमतों पर उसी प्रकार का प्रभाव होता है जैसा कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तनों का होता है। साख में क्रय-शक्ति होती है जो साख का प्रसार होने पर बढ़ जाती है, अर्थात् कीमतें बढ़ जाती हैं। इस प्रकार, मुद्रा की कुल मात्रा का अनुमान लगाने में चलन की मात्रा के साथ-साथ साख की मात्रा को भी सम्मिलित किया जाता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण की रीतियों द्वारा साख की मात्रा कम करके कीमतें घटायी जा सकती हैं।

साख तथा कीमतों के सम्बन्ध के बारे में उपर्युक्त विरोधी विचारधाराओं का समन्वय कैन्ज द्वारा किया गया है। केन्ज के अनुसार साख का कीमतों पर प्रभाव तो पड़ता है परन्तु इतना नहीं जितना मुद्रा का कीमतों पर प्रभाव पड़ता है। साख पत्र मुद्रा के स्थानापन्न (substitute) नहीं होते, वे केवल मुद्रा का प्रतिनिधित्व करते हैं, और अन्त में सभी साख-पत्रों का भुगतान मुद्रा में होता है। साख मुद्रा का निर्माण करने में बैंकों को अपने पास नकद-कोष रखने पड़ते हैं। नकद-कोष बढ़ने पर साख का प्रसार होता है तथा घटने पर सकुचन। इस प्रकार साख मुद्रा का निर्माण होते ही दो प्रकार की विरोधी शक्तियाँ एक साथ कार्य करने लगती हैं—यदि साख की मात्रा बढ़ती है तो स्फीतिक प्रवृत्ति (inflationary tendency) कार्यशील होती है तथा कीमतें बढ़ती हैं। परन्तु इसी के साथ-साथ बैंकों के नकद-कोष भी घटते हैं जिनके परिणामस्वरूप चलन में मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है, विस्फीतिक प्रवृत्ति (deflationary tendency) उत्पन्न होती है तथा कीमतें घट जाती हैं। व्यावहारिक रूप में, नकद-कोषों में वृद्धि की तुलना में साख की मात्रा में कई गुना अधिक वृद्धि होती है। इसलिए अन्ततः साख की वृद्धि से वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होती है परन्तु उस अनुपात में नहीं जिसमें साख की मात्रा बढ़ती है। **केन्ज के अनुसार, साख की मात्रा में परिवर्तनों का कीमत-स्तर पर प्रभाव तो पड़ता है, परन्तु इतना नहीं जितना कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तनों का।**

साख का महत्व

वर्तमान समय में साख का महत्व इतना अधिक है कि इसे व्यावसायिक सगठन का प्राण कहा जाता है। हॉट्रे (R G Hawtrey) तथा विलिस (H P Willis) ने साख को वर्तमान आर्थिक प्रणाली की आधारशिला कहा है जिस पर सभी आर्थिक क्रियाएँ आश्रित हैं। डेनियल वेब्स्टर (Daniel Webster) के शब्दों में, "साख ने ससार को धनी बनाने में ससार की सारी खानों की अपेक्षा हजार गुना अधिक कार्य किया है। इसने श्रम को प्रोत्साहित किया है, निर्माणकर्ताओं को प्रेरित किया है, वाणिज्य को सागरों पार तक विस्तृत किया है, और प्रत्येक राज्य तथा मानव की प्रत्येक छोटी जाति को परस्पर एक-दूसरे से परिचित करा दिया है।" साख के महत्व को साख से प्राप्त होने वाले लाभों द्वारा समझा जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं

(1) **पूंजी की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि**—जे० एस० मिल ने लिखा है, "यद्यपि साख मुद्रा पूंजी का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरण करना होता है, परन्तु यह हस्तान्तरण उन

व्यक्तियों को दिया जाता है जो पूँजी का उत्पादक उपयोग कर सकते हैं ··· ब्याज पर उद्यम-कर्ताओं को पूंजी उधार दिये जाने के परिणामस्वरूप इसका उत्पादक उपयोग करना सम्भव हो जाता है। · यद्यपि साख-मुद्रा का व्यापक प्रयोग होने से समस्त पूँजी की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता है परन्तु उत्पादन-क्षमता का उपयोग होने हेतु अभीप्सतम उत्पादन सम्भव हो जाता है।"[1]

(2) **सरल भुगतान**—साख के कारण बैंकों आदि संस्थाओं का जन्म हुआ है जिनके माध्यम से भुगतान करना बहुत सरल हो गया है। साख-पत्र के प्रयोग से न केवल देशी तथा विदेशी भुगतान सरलतापूर्वक किये जा सकते हैं, बल्कि विनिमय के माध्यम में वृद्धि होती है जिससे अधिक व्यावसायिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

(3) **उपभोग में वृद्धि**—साख द्वारा जीवन के भौतिक सुखों की सामयिक पूर्ति में यथेष्ट योगदान मिलता है। एक लम्बे समय तक त्याग तथा बचत करते रहने के पश्चात उपभोग की वस्तुएँ प्राप्त करने से अच्छा यह है कि वस्तुओं को साख के आधार पर प्राप्त कर लिया जाये और उनका भुगतान धीरे-धीरे होता रहे। जीवन के आरम्भ में ही किसी व्यक्ति द्वारा उपभोग की महत्वपूर्ण सुविधाएँ प्राप्त करना केवल साख के प्रयोग द्वारा ही सम्भव होता है। अनेक व्यापारिक संस्थाएँ किस्तों पर माल उधार देती हैं जिससे उपभोक्ता साख का निर्माण होता है। वस्तुओं की माँग बढ़ती है जिसको पूरा करने के लिए उत्पादन बढ़ता है तथा जीवन सुखमय होने लगता है।

(4) **मितव्ययता**—साख-मुद्रा का प्रयोग करने से धातु-मुद्रा तथा अन्य वैधानिक मुद्रा की बचत होती है। वैधानिक मुद्रा यदि पत्र-मुद्रा ही है तो भी यह साख-मुद्रा से अधिक खर्चीली होती है, क्योंकि इसके पीछे भी कुछ धातु-कोष रखने की आवश्यकता होती है। साख-पत्रों के प्रयोग के फलस्वरूप वैधानिक मुद्रा के अपव्यय में कमी होती है। दूरस्थ स्थानों के भुगतान तथा बड़ी मात्रा के भुगतान साख-पत्रों द्वारा करना अधिक मितव्ययी, सुरक्षापूर्ण तथा सुविधाजनक होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में विनिमय-बिलों का प्रयोग करने से बहुमूल्य धातुओं के आयात-निर्यात की आवश्यकता नहीं पड़ती, इसलिए बचत होती है।

(5) **व्यापारिक उन्नति**—साख के कारण देशी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि होती है क्योंकि बैंकों के माध्यम से व्यापारी एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। व्यापारिक लेन-देन प्रायः साख तथा बैंकों के माध्यम से ही किया जाता है।

(6) **बचत को प्रोत्साहन**—बैंक व अन्य साख-संस्थाएँ जनता की बचतों को अपने पास जमा कर लेती हैं जो वैसे निष्क्रिय ही रहती। ब्याज के लोभ में बचत को प्रोत्साहन मिलता है तथा देश में पूँजी-निर्माण की मात्रा में वृद्धि होती है।

(7) **कीमतों में स्थिरता**—सरकार तथा केन्द्रीय बैंक साख-नियन्त्रण द्वारा कीमतों में स्थिरता बनाये रख सकते हैं। कीमतों में वृद्धि होने पर साख-संकुचन द्वारा उन्हें घटाया जा सकता है। इसके विपरीत, कीमतें गिर जाने पर साख का प्रसार किया जाता है जिससे कीमतें ऊपर उठने लगती हैं।

(8) **मुद्रा-प्रणाली में लोच**—देश की मौद्रिक आवश्यकताओं में परिवर्तन होने पर मुद्रा की मात्रा में तत्काल परिवर्तन करना सम्भव नहीं हो पाता, परन्तु यह कार्य साख की सहायता से सुविधापूर्वक किया जा सकता है। व्यापारिक बैंक देश में व्यापार तथा उद्योगों की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार साख की मात्रा का विस्तार व संकुचन करते हैं जिससे देश की मुद्रा प्रणाली में लोच बनी रहती है।

(9) **आर्थिक विकास में सहायक**—आधुनिक काल में आर्थिक विकास में सरकार का महत्वपूर्ण योग होता है। विकास के व्यय में एक बड़ा भाग सरकार हीनार्थ-प्रबन्धन (deficit financing) तथा सार्वजनिक ऋणों द्वारा प्राप्त करती है।

(10) **उत्पत्ति के साधनों का अधिकतम उपयोग**—आर्थिक कठिनाइयों के कारण अवरुद्ध औद्योगिक विकास के लिए साख तेल का काम करती है जिससे औद्योगिक क्षमता एवं कुशलता में

1 J. S. Mill *Principles of Political Economy*, Book III, Chapter XI.

वृद्धि होती है और उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। केन्ज के विचारानुसार, साधनों की पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने हेतु कीमत-स्तर में मन्द गति से वृद्धि होते रहना चाहिए। व्यापारिक बैंक साख के विस्तार द्वारा यह स्थिति सहज ही उत्पन्न कर लेते हैं। साधनों के अधिकतम उपयोग द्वारा उत्पादन बढ़ने से रोजगार की मात्रा में भी वृद्धि होती है तथा आय-स्तर ऊँचा होता है।

(11) **आर्थिक संकट से त्राण**—व्यक्ति तथा सरकार दोनों ही साख की सहायता से आर्थिक संकटों का सामना कर सकते हैं। युद्ध अथवा अन्य विपत्तियों से छुटकारा पाने के लिए सरकार ऋणों द्वारा अपने साधनों में वृद्धि कर सकती है।

(12) **नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था**—केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों द्वारा दी जाने वाली साख की मात्रा तथा दिशा में नियमित ढंग से परिवर्तनों द्वारा इसे आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल मोड़ सकती है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में साख नियन्त्रण आर्थिक नियमन का एक महत्वपूर्ण शस्त्र है।

डीफो (Defoe) के शब्दों में, "साख संसार में व्यापार तथा वाणिज्य के पहिए का तेल, हड्डियों की मज्जा, नसों का रक्त तथा हृदय का प्राण है।"[1] परन्तु इतना होते हुए भी साख में कुछ दोष भी हैं, जिनका उल्लेख करना आवश्यक है।

साख के दोष

जिस प्रकार मुद्रा का उचित प्रयोग तथा उसकी मात्रा पर उचित नियन्त्रण न रहने पर मुद्रा से अनेक हानियाँ हो सकती हैं, उसी प्रकार अनियन्त्रित रहने पर साख में परिवर्तन आर्थिक संकट का कारण बन सकते हैं। साख की विशेष रूप से उल्लेखनीय हानियाँ ये हैं

(1) **अपव्यय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन**—जब साख सहज ही प्राप्त हो जाती है तो लोग अपने साधनों से अधिक व्यय करते हैं तथा वे मितव्ययी नहीं रहते। कालान्तर में जब वे ऋणों का भुगतान नहीं कर पाते तो अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

(2) **सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन**—साख की मात्रा में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप कीमतों में भी परिवर्तन होते हैं जिससे सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। सट्टे की अधिकतर क्रियाएँ बैंकों से प्राप्त साख द्वारा होती हैं। कभी कभी तो सट्टे की क्रियाओं के कारण वस्तुओं तथा अंशों के भावों में काफी उतार चढ़ाव होते हैं जिससे आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है।

(3) **साख स्फीति**—तेजी के काल में ऊँची ब्याज-दर के कारण बैंक साख का अत्यधिक विस्तार करते हैं, जो प्रायः उत्पादन की आवश्यकताओं से अधिक होती है। इन परिस्थितियों में साख-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(4) **व्यापारिक अनिश्चितता**—साख व्यापारिक अनिश्चितता में वृद्धि करती है क्योंकि तेजी के काल में साख का निर्माण बहुत अधिक होता है तथा मन्दी काल में बहुत ही कम होता है, जिससे मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन की ओर भी अधिक बढ़ावा मिलता है।

(5) **अकुशल व्यवसायियों की रक्षा**—साख के प्रयोग से अयोग्य व कमजोर स्थिति के व्यापार में भी अधिक पूँजी लगायी जा सकती है, जिससे व्यापारी अपनी वास्तविक स्थिति को छिपाकर व्यवसाय को चालू रखता है। इस प्रकार की खोखली व्यवस्था में व्यवसाय के डूब जाने पर ऋणदाताओं की पूँजी भी डूब जाती है तथा समूचे आर्थिक जीवन को हानि पहुँचती है।

(6) **एकाधिकार को प्रोत्साहन**—चूँकि अधिक सम्पत्ति वाले व्यापारियों तथा उद्योगपतियों की साख प्राप्त करने की शक्ति अधिक होती है इसलिए वे साख की सहायता से अपने व्यवसाय का विस्तार करते हैं। कम पूँजी वाले व्यवसाय पिछड़ जाते हैं तथा बड़ी इकाइयों से स्पर्द्धा नहीं कर पाते। इस प्रकार एकाधिकार को प्रोत्साहन मिलता है तथा सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मुट्ठी भर लोगों पर आश्रित हो जाती है।

---

1 'It is the oil of the wheel, the marrow of the bones, the blood in the veins and the spirit in the breast of all trade and commerce of the world' —Defoe.

(7) **धन का असमान वितरण**—साख के कारण समाज दो वर्गों में बँट जाता है—ऋणदाता तथा ऋणी। ऋणी ऋणदाता पर आश्रित होता है और ऋणदाता द्वारा ऋणी का शोषण किया जाता है। ऋणी का ऋण के बोझ से छुटकारा पाना कठिन हो जाता है, धन तथा आय के वितरण में असमानताएँ उत्पन्न होती हैं तथा वर्ग-संघर्ष का जन्म होता है।

साख के उपर्युक्त गुण दोषों का निष्पक्ष विवेचन करने से पता चलता है कि साख के प्रभावों का अच्छा या बुरा होना साख के उपयोग पर निर्भर करता है। साख से हानियाँ तभी होती हैं जब साख का दुरुपयोग हो तथा इसकी मात्रा पर कोई नियन्त्रण न रहे। रॉबर्टसन का मुद्रा के सम्बन्ध में यह विचार—"मानव-समाज के लिए अनेक वरदानों की स्रोत मुद्रा को यदि हम भली प्रकार नियन्त्रित न कर सके तो वह संकट और भ्रम का कारण बन सकती है"—साख के सम्बन्ध में भी उतना ही सही है जितना कि मुद्रा के सम्बन्ध में। अतएव, केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-प्रणाली पर समुचित तथा प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है।

बैंकों द्वारा साख का निर्माण

वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में साख के महत्व की व्याख्या करने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि हम यह देखें कि साख का निर्माण (Creation of Credit) किस प्रकार होता है तथा उसकी सीमाएँ क्या हैं?

किसी भी देश में जिस प्रकार विधिग्राह्य मुद्रा का निर्माण वहाँ की सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है, वहाँ की बैंकिंग व्यवस्था साख का निर्माण करती है।

सेयर्स के अनुसार, "बैंक केवल मुद्रा जुटाने वाली संस्थाएँ नहीं हैं, अपितु एक महत्वपूर्ण अर्थ में वे मुद्रा की निर्माता भी हैं।"[1] अधिकांश मुद्रा शास्त्री—हार्टले विदर्स, केन्ज, सेयर्स, हॉम आदि—यह स्वीकार करते हैं कि बैंक का महत्वपूर्ण कार्य साख का निर्माण करना है। इसके विपरीत, वाल्टर लीफ तथा डॉ॰ कैनन ऐसा सोचते हैं कि बैंक साख का निर्माण नहीं करते। परन्तु व्यवहार में प्रथम विचारधारा ही अधिक ठीक है और इसके समर्थकों की संख्या काफी अधिक है। बैंकों द्वारा साख का निर्माण निम्नलिखित दो प्रकार से किया जाता है

(1) **बैंक-नोटों के निर्गमन द्वारा साख निर्माण** (Creation of Credit by Issue of Bank Notes)—पत्र-मुद्रा के निर्गमन का अधिकार पहले सभी बैंकों को प्राप्त था और सभी बैंक अपने नोटों के रूप में साख का निर्माण करते थे। यह अधिकार अब केवल केन्द्रीय बैंक का रह गया है। केन्द्रीय बैंक पत्र-मुद्रा के निर्गमन के पीछे एक कोष रखता है। परन्तु यह कोष शत-प्रतिशत नहीं होता। थोड़ा-सा धातु कोष रखकर शेष चलन के पीछे विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियाँ (securities) रखी जाती हैं। प्रचलन का वह भाग जिसके पीछे धातु कोष नहीं रहता, मुख्य रूप से केन्द्रीय बैंक की साख पर ही आधारित होता है। बैंक-नोट एक प्रकार के साख-पत्र ही हैं और इन्हें *'बैंक प्रतिज्ञापत्र'* कहा जा सकता है।

(2) **निक्षेपों द्वारा साख-निर्माण करना** (Creation of Credit through Deposits)—बैंक अपने कुल नकद निक्षेपों (cash deposits) की कई गुना राशि उधार देकर साख मुद्रा का निर्माण करते हैं। केन्ज तथा सी॰ ए॰ फिलिप्स (C A Phillips) के विचारों के आधार पर प्रो॰ हॉम (Halm) ने दो प्रकार के निक्षेपों का उल्लेख किया है—प्रारम्भिक निक्षेप (primary deposits), तथा व्युत्पन्न निक्षेप (derivative deposits)। प्रारम्भिक निक्षेपों से अभिप्राय उन निक्षेपों से है जो नकदी अथवा वास्तविक मुद्रा के रूप में जमाकर्ता बैंक में जमा करते हैं। इनको निष्क्रिय निक्षेप अथवा नकद निक्षेप (cash deposit) भी कहा जाता है। इनके विपरीत, जब बैंक किसी को ऋण देने के उद्देश्य से उसके नकद साख खाते (cash credit account) में कुछ रकम लिख देता है तो इस प्रकार उत्पन्न होने वाले निक्षेप व्युत्पन्न निक्षेप कहलाते हैं। इनको साख निक्षेप (credit deposits) अथवा गौण निक्षेप (secondary deposits) भी कहते हैं। व्युत्पन्न निक्षेप प्रारम्भिक निक्षेपों का ही परिणाम होते हैं, क्योंकि बैंक नकद जमा का कुछ भाग कोष में

1 Sayers *Modern Banking*

रखकर साख-जमा का सृजन करता है। हॉम के अनुसार, "व्युत्पन्न निक्षेप का निर्माण ही साख का सृजन है।"[1]

मान लीजिए, किसी व्यक्ति ने एक बैंक के पास 1,000 रुपये जमा किये तो यह बैंक का प्रारम्भिक निक्षेप होगा। क्योंकि बैंक को इस जमा राशि पर ब्याज देनी पड़ती है और बैंक यह जानता है कि जमाकर्ता एक साथ सम्पूर्ण राशि निकालने की माग नहीं करेगा, इसलिए इस रकम का एक निश्चित भाग (मान लीजिए 20 प्रतिशत) नकद-कोष में रखकर शेष 800 रुपये बैंक किसी को ऋण के रूप में दे देता है। यह 800 रुपये की रकम ऋणी के खाते में जमा (credit deposit) कर दी जाती है। इस साख-जमा का पुन 20 प्रतिशत नकद कोष रखकर शेष 640 रुपये का ऋण किसी को दे दिया जाता है। यह क्रम इसी प्रकार चलता है, जब तक कि बैंक अपनी नकद जमा का 5 गुना अधिक रुपया उधार नहीं दे देता। इस प्रकार 100 रुपये की नकद जमा पर ब्याज देकर बैंक 4,000 रुपये पर ब्याज वसूल करता है, और यही बैंक का लाभ है।

इस प्रकार बैंक जितना अधिक ऋण देता है उतने ही अधिक साख-निक्षेप उत्पन्न होते हैं तथा ऋण का निर्माण होता है। इसीलिए कहा जाता है कि **निक्षेप साख को जन्म देते हैं और साख निक्षेपों को जन्म देती है** *(Loans create deposits and deposits create loans)*।

ऊपर बतायी गयी साख-निर्माण की प्रक्रिया का विवरण इस अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि समाज में एक ही बैंक है। परन्तु व्यवहार में प्रत्येक देश में विभिन्न आकार के अनेक बैंक होते हैं, और आर्थिक प्रगति के साथ-साथ बैंक तथा उनकी शाखाओं की संख्या बढ़ती जाती है। इस प्रकार की बहु-बैंक बैंकिंग प्रणाली में कोई एक बैंक अपनी कुल प्रारम्भिक जमाओं के केवल कुछ भाग को उधार देकर साख का निर्माण करता है। इस बैंक का ऋणी जब भुगतान में चैक देता है तो ये चैक अन्य बैंकों में जमा हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप ऋणदाता बैंक की नकदी अन्य बैंक को प्राप्त हो जाती है। परन्तु सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली को देखते हुए साख-निर्माण की प्रक्रिया केवल प्रथम बैंक के ऋण प्रदान करने के साथ समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि यह उस समय तक जारी रहती है जब तक पर्याप्त मात्रा में साख का निर्माण नहीं हो जाता है।

अनेक बैंक होने पर साख-निर्माण की प्रक्रिया का रूप एक-बैंक बैंकिंग प्रणाली के समान ही होता है। पहले का उदाहरण लेते हुए यदि एक बैंक की प्रारम्भिक जमा 1,000 रुपये है, तो इसमें से वह 20 प्रतिशत (अर्थात् 200 रुपये) कोष में रखकर 800 रुपये का ऋण देता है जो ऋणी के खाते में लिख लिये जाते हैं। मान लीजिए, यह 800 रुपये की रकम किसी प्रकार दूसरे बैंक के पास जमा के रूप में पहुँच जाती है तो यह बैंक इसका 20 प्रतिशत (160 रुपये) कोष में रखकर शेष 640 रुपये की रकम पुन उधार दे देगा। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहेगा और एक बैंक की प्रारम्भिक जमा दूसरे बैंक की व्युत्पन्न जमा बनी रहेगी जब तक कि सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था की जमा पाँच गुनी नहीं बढ़ जाती (नकद-कोष 10% रखने पर वृद्धि दस गुनी होगी तथा 5% रखने पर बीस गुनी)। इस क्रम को निम्नलिखित तालिका में दिखाया गया है :

बैंकिंग प्रणाली में साख-निर्माण की प्रक्रिया

बैंक	नई जमा	जमा के बदले रखा गया कोष (20%)	ऋण अथवा व्युत्पन्न जमा
प्रथम	रु० 1000 00	रु० 200 00	रु० 800 00
दूसरा	800 00	160 00	640 00
तीसरा	640 00	128 00	512 00
चौथा	512 00	102 40	409 60
पांचवाँ	409 60	81 92	327 68
छठा	327 68	65 53	262 15
सातवाँ	262 15	52 43	209 72
आठवाँ	209 72	41 94	166 78
प्रथम आठ बैंकों का योग	4161 15	832 22	3328 93
अन्य बैंक	838 85	167 78	671 01
सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली	5000 00	1000 00	4000 00

1 "The creation of derivative deposits is identical with what is commonly called the creation of credit."—G N Halm *Monetary Theory*, p 39

तालिका में स्पष्ट रूप से दिखाया गया है कि 1,000 रुपये की नकद जमा रहने पर यदि इसका 20 प्रतिशत नकद-कोष के रूप में रखकर बाकी का ऋण दे दिया जाय तो देश की बैंकिंग प्रणाली द्वारा 4,000 रुपये के ऋण दिये जाते हैं तथा कुल 5,000 रुपये के निक्षेप (1,000 रुपये प्रारम्भिक + 4,000 रुपये व्युत्पन्न निक्षेप) निर्मित होने हैं।

क्या बैंक वास्तव में साख का निर्माण करते हैं ?

साख तथा निक्षेप का निर्माण बैंक करता है अथवा निक्षेपकर्ता ? इस विषय पर अर्थशास्त्रियों में आपस में मतभेद है।

हार्टले विदर्स (Hartley Withers) के अनुसार, "ऋण निक्षेपों को जन्म देते हैं और उनके निर्माण का श्रेय बैंकों को है।"[1] यह ठीक है कि जमाकर्ता तथा ऋणी अपनी रकम को बैंक से निकालने अथवा किसी/अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं, परन्तु यह निकाली गयी या हस्तान्तरित की गयी रकम किसी अन्य बैंक अथवा उसी बैंक में पुन जमा होने की प्रवृत्ति दिखाती है। एक बैंक द्वारा दिया गया ऋण किसी अन्य बैंक अथवा उसी बैंक की जमा के रूप में परिवर्तित हो जाता है। आज की बैंकिंग प्रणाली में व्युत्पन्न निक्षेपों का महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि, सेलिगमैन के अनुसार, "पहले बैंक नकद निक्षेपों में व्यवसाय करते थे, आजकल वे प्रमुख रूप से साख निक्षेपों म व्यवसाय करत हैं।"[2]

उपर्युक्त मत के विपरीत डॉ० वाल्टर लीफ (Dr Walter Leaf) तथा प्रो० कैनन (Cannan) के अनुसार साख-निर्माण का श्रेय बैंक को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इसका आरम्भ निक्षेपधारी (depositor) द्वारा होता है। निक्षेपों से ही बैंक को साधन उपलब्ध होते हैं और बैंक ऋण इसीलिए दे पाते हैं कि निक्षेपधारी अपनी पूरी रकम बैंक से एक साथ नहीं निकालते। मान लीजिए, एक ड्राई क्लीनर के पास 100 कोट साफ होने के लिए आते हैं जिनको वह चार दिन तक रख सकता है। यदि इनमें से 80 कोट वह कुछ समय के लिए उधार पर चला लेता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उसने 80 कोटों का निर्माण कर डाला है। इसी प्रकार के तर्क ध्यान में रखते हुए कैनन ने लिखा है कि "प्रत्येक व्यावहारिक बैंकर जानता है कि वह साख-मुद्रा अथवा किसी अन्य वस्तु का निर्माता नहीं है, वरन् एक ऐसा व्यक्ति है जो उन व्यक्तियों से, जिनके पास साधन हैं, अन्य व्यक्तियों को, जो उनका प्रयोग कर सकते हैं, ऋण दिलाने की सुविधा प्रदान करता है।"[3]

वास्तविकता यह है कि लीफ तथा कैनन के विचार भ्रमात्मक हैं और उन्हें केवल यहीं तक माना जा सकता है कि बैंकों द्वारा साख-निर्माण के कार्य में निक्षेपधारियों का सहयोग बैंक को प्रोत्साहन देता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बैंक अपने प्रारम्भिक निक्षेपों की राशि से कहीं अधिक मात्रा में ऋण प्रदान करते हैं। बैंकों द्वारा साख का निर्माण केवल नकद जमा तथा साख-जमा के द्वारा ही नहीं, बल्कि अधिविकर्ष (overdraft) की सुविधाएँ देकर भी किया जाता है। प्रतिभूतियों (securities) को खरीदकर इनका भुगतान अपने चेकों द्वारा करके भी बैंक साख का सृजन करते हैं। केन्द्रीय बैंक से अपने बिलों को पुन भुनाकर (rediscount) भी बैंक अपनी साख-निर्माण की शक्ति को बढ़ाते हैं। इसलिए यही कहना अधिक ठीक होगा कि बैंक साख का निर्माण करते हैं।

साख-निर्माण की सीमाएँ

प्रारम्भिक निक्षेपों (primary deposits) के आधार पर साख अथवा व्युत्पन्न निक्षेपों (derivative deposits) का निर्माण मुख्य रूप से चार मान्यताओं के अन्तर्गत ही सम्भव होता है

---

1 "Loans make deposits and the initiative of creating them goes to the bank "
—Hartley Withers

2 Seligman *Principles of Economics*

3 " every practical banker knows that he is not a creator of credit or money or anything else, but a person who facilitates the lending of resources by the people who have them to those who can use them " —Cannan *An Economist s Protest*, p 382

1 बैंक पर लिखे गये चैकों का भुगतान जमाकर्ताओं के खातों में चैक की रकम जमा करके होता है, नकदी के रूप में नहीं।
2 बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक को न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात (minimum statutory reserve ratio) का भुगतान करने के अलावा बैंकों को नकदी रखने की आवश्यकता नहीं होती।
3 जनता बैंकों से बैंकों की अधिकतम ऋण देने की शक्ति तक ऋण लेने को तैयार है।
4 बैंक अपनी अधिकतम ऋण देने की शक्ति तक जनता को ऋण देने के लिए तैयार है।

व्यावहारिक रूप से उपर्युक्त चारों मान्यताएँ अवास्तविक हैं। सभी लोग अपने चैकों को बैंक में जमा नहीं करते, इसलिए नकद भुगतान करने के लिए बैंक को अपने पास कुछ नकदी अवश्य रखनी पड़ती है। यह भी आवश्यक नहीं कि जनता द्वारा बैंक ऋणों की माँग इतनी ही हो जितनी कि बैंक की अधिकतम उधार देने की शक्ति है। ऋण की माँग अनेक बातों से प्रभावित होती है तथा मन्दी काल में तो बहुत ही कम होती है। यह भी आवश्यक नहीं कि बैंक सदा अपनी अधिकतम ऋण देने की शक्ति के बराबर ही ऋण देगा। बैंक को लाभ के साथ-साथ ऋणों की सुरक्षा का भी ध्यान रखना होता है। इन कठिनाइयों के कारण पूर्णतया स्वतन्त्र रहने पर भी बैंक अनियन्त्रित मात्रा में साख का निर्माण नहीं कर पाता। साख-निर्माण की अपनी कुछ सीमाएँ हैं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं

(1) **देश में विधिग्राह्य मुद्रा की कुल मुद्रा**—बैंकों के पास आने वाले प्रारम्भिक निक्षेपों की मात्रा देश में विधिग्राह्य मुद्रा की कुल मात्रा पर निर्भर करती है। साख मुद्रा के आधार पर ही बनती है, मुद्रा की मात्रा अधिक होने पर बैंकों के निक्षेप बढ़ते हैं जिनके आधार पर अधिक साख का निर्माण सम्भव होता है। मुद्रा-स्फीति के दिनों में बैंकों के निक्षेप तथा कोष बढ़ जाते हैं तथा उनके दिये हुए ऋणों की मात्रा भी बढ़ती है। इसके विपरीत, मुद्रा-संकुचन की स्थिति में बैंकों के नकद अथवा प्रारम्भिक निक्षेपों में कमी होती है जिससे बैंकों की साख निर्माण की शक्ति कम होती है।

(2) **लोगों की नकदी रखने की आदत**—बैंकों की साख-निर्माण की शक्ति इस बात पर भी निर्भर करती है कि लोग अपने पास नकद मुद्रा रखना चाहते हैं अथवा भुगतान करने के लिए चैक का प्रयोग करते हैं। यदि लोग अपने पास नकदी रखना अधिक पसन्द करते हैं तो जैसे ही बैंक द्वारा ऋण दिया जायेगा, ऋणी बैंक से नकद रकम ले लेगा। बैंकों के नकद कोष कम हो जाने पर उनकी साख निर्माण की शक्ति भी घट जायगी। इसके विपरीत, बैंकिंग की आदत अधिक होने पर चैकों का अधिक प्रयोग होगा तथा बैंकों की साख निर्माण की शक्ति भी अधिक होगी।

(3) **बैंकों के नकद-कोष**—कुल निक्षेपों का न्यूनतम अनुपात जो बैंकों द्वारा नकद-कोष के रूप में रखा जाता है, बैंकों की साख निर्माण की शक्ति को प्रभावित करता है। कुछ देशों में इस प्रकार का अनुपात केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। कुल जमा के अनुपात में नकद-कोषों की मात्रा कम रहने पर बैंक अधिक साख का निर्माण कर सकते हैं। इसके विपरीत, न्यूनतम कोषों का अनुपात अधिक होने पर बैंकों की साख-निर्माण की शक्ति काफी सीमित होती है। बैंकों के नकद कोषों का अनुपात मुख्य रूप से तीन बातों पर निर्भर करता है—बैंकों पर कानूनी प्रतिबन्ध जनता द्वारा नकदी की माँग, तथा बैंकों की स्थिति।

(4) **बैंकों के केन्द्रीय बैंक के पास रक्षित कोष**—प्रत्येक बैंक को केन्द्रीय बैंक के पास अपनी चालू तथा निश्चित कालीन जमाओं अथवा माँग तथा काल-दायित्वों (demand and time liabilities) का कुछ भाग रक्षित कोष के रूप में रखना पड़ता है। कुछ निक्षेपों के अनुपात में रक्षित कोष की मात्रा जितनी अधिक होगी बैंकों की साख निर्माण की शक्ति उतनी ही अधिक सीमित होगी।

(5) **केन्द्रीय बैंक की साख सम्बन्धी नीति**—प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों की साख निर्माण की सीमा को निर्धारित करने के लिए न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात में परिवर्तनों के अतिरिक्त बैंक-दर तथा खुले बाजार की क्रियाओं (open market operations) आदि से सम्बन्धित

नीति में समय-समय पर परिवर्तन करके बैंकों द्वारा साख के निर्माण को प्रभावित करता है। केन्द्रीय बैंक की नीति साख के विस्तार का नियन्त्रण करना होने पर बैंक साख-निर्माण की मात्रा को सीमित रखने पर विवश हो जाते हैं।

(6) **अन्य बैंकों की साख-निर्माण सम्बन्धी नीति**—बहु-बैंक बैंकिंग प्रणाली में साख-निर्माण के सम्बन्ध में प्रत्येक बैंक को अन्य बैंकों की साख-निर्माण नीति को ध्यान में रखना पड़ता है। एक बैंक विशेष द्वारा अन्य बैंकों की तुलना में अधिक साख-निर्माण करने पर उसकी नकदी शीघ्र ही समाप्त हो जायेगी, क्योंकि इस बैंक के ऋणियों द्वारा दिये गये चैक जब अन्य बैंकों के पास पहुँचेंगे तो इस बैंक को अन्य बैंकों को नकदी देकर भुगतान करना पड़ेगा। अन्य बैंकों की तुलना में साख-निर्माण कम होने पर इस बैंक के नकद-कोष में वृद्धि होगी तथा यह साख का विस्तार करेगा। इस प्रकार कोई एक बैंक अन्य बैंकों से भिन्न नीति अपनाकर अपनी बरबादी का उपाय स्वयं ही कर लेता है। सफल संचालन के लिए कोई भी बैंक साख-निर्माण के कार्य में अन्य बैंकों के आगे या पीछे अधिक समय तक नहीं रह सकता।

(7) **प्रारम्भिक जमाओं की मात्रा**—लोगों द्वारा बैंकों में अधिक नकद जमा कराने पर बैंक की प्रारम्भिक जमाओं में वृद्धि होगी, क्योंकि बैंकों द्वारा साख-निर्माण की आधारशिला उनकी नकद जमा ही हैं। केन्ज का विचार पूर्णतया सही है कि बैंकों द्वारा निक्षेपों का निर्माण उनके प्रारम्भिक निक्षेपों की मात्रा पर निर्भर करता है।[1]

(8) **व्यापारिक एवं औद्योगिक स्थिति**—मन्दी काल में व्यापारियों व उद्योगपतियों की ऋणों की माँग कम होने पर बैंक अधिक साख का निर्माण नहीं कर पाते। परन्तु तेजी काल में ऋणों की माँग अधिक होती है तथा बैंक अधिक साख का निर्माण करते हैं। इसके अतिरिक्त, व्यापार तथा उद्योग विकसित होने पर बैंकों को अधिक साख-निर्माण का अवसर मिलता है। पिछड़ी हुई परिस्थितियों में बैंक साख का निर्माण कम कर पाते हैं।

(9) **जमानतों की श्रेष्ठता**—बैंक उचित जमानत के आधार पर ही ऋण देता है। जमानतें जितनी श्रेष्ठ होंगी, साख का निर्माण भी उतना ही अधिक होगा। सेयर्स के अनुसार, "बैंक अपनी नव-निर्मित मुद्रा तत्काल हर किसी को नहीं दे डालते, अपितु केवल उन्हीं व्यक्तियों को देते हैं जो बैंक को इस प्रकार से आदेय (assets) प्रस्तुत करते हैं जिन्हें बैंक आकर्षक समझते हैं।"[2]

अर्थ-व्यवस्था की मौद्रिक तथा विनियोग सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार साख की मात्रा को नियन्त्रित रखना केन्द्रीय बैंक का उत्तरदायित्व होता है। वैधानिक रूप से केन्द्रीय बैंक को साख-नियन्त्रण के लिए विस्तृत अधिकार प्राप्त होते हैं जिनका प्रयोग आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न रीतियों (जैसे, बैंक-दर, खुले बाजार की क्रिया, न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात, इत्यादि) के रूप में किया जाता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 साख शब्द का अर्थ समझाइए और आधुनिक व्यापार में इसके महत्व पर प्रकाश डालिए।

[संकेत—साख की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर साख का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा इसके आवश्यक तत्वों की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में साख के महत्व की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

2 साख की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्वों की व्याख्या कीजिए। क्या साख का आधार केवल विश्वास ही है?

[संकेत—प्रथम भाग में साख की माँग तथा पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्वों का विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए, जैसे लाभ की दर, व्यापार की दशाएँ, मौद्रिक नीति, बैंकिंग प्रणाली का विकास इत्यादि। दूसरे भाग में यह स्पष्ट कीजिए कि विश्वास साख का महत्वपूर्ण आधार है परन्तु यह स्वयं अन्य आधारों से प्रभावित होता है, जैसे चरित्र, क्षमता, सम्पत्ति, जमानत, उद्देश्य इत्यादि।]

---

1 "The rate at which the bank can, with safety, actively create deposits by lending and investing has to be in a proper relation to the rate at which it is passively creating them against the receipt of liquid resources from its depositors."—J. M. Keynes *A Treatise on Money*, Vol. I, p 35

2 "The banks put this newly created money into the hands not of everybody at once but of those individuals who can offer to the bank the kind of assets which the bank thinks attractive."—Sayers . *Modern Banking*, p 17

3 क्या साख पूँजी का निर्माण करती है ? व्यापार तथा उत्पादन में साख से क्या सहायता मिलती है ?

[संकेत—साख पूँजी का निर्माण करती है अथवा नहीं, इससे सम्बन्धित विभिन्न विचारों की व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि साख स्वयं पूँजी नहीं है परन्तु इसकी सहायता से पूँजी प्राप्त की जा सकती है। इसके बाद में साख के व्यापार तथा उत्पादन के लिए इसके महत्त्व का विवेचन कीजिए।]

4 साख का कीमतों पर क्या प्रभाव पड़ता है ? क्या यह ठीक है कि साख का उचित प्रयोग न होने से यह आर्थिक संकट का कारण बन सकती है ?

[संकेत—प्रथम भाग में साख तथा कीमतों से सम्बन्धित वाकर, मिल तथा केन्ज द्वारा प्रतिपादित विचारों का परीक्षण कीजिए और यह बताइए कि साख की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का कीमत स्तर पर प्रभाव पड़ता है परन्तु इतना नहीं जितना कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन का। दूसरे भाग में साख के अनियन्त्रित प्रयोग से उत्पन्न होने वाले दोषों की व्याख्या कीजिए।]

5 निक्षेप साख को जन्म देते हैं तथा साख निक्षेपों को जन्म देती है। इस कथन की विवेचना कीजिए।

[संकेत—प्रारम्भिक जमा के आधार पर ही साख का निर्माण होता है और चूँकि ऋण नकद न देकर खातों में जमा कर दिए जाते हैं इससे व्युत्पन्न जमा का सृजन होता है और यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। विस्तारपूर्वक बताइए कि बैंक साख का निर्माण कैसे करते हैं।]

6 बैंकों द्वारा किस प्रकार साख निर्माण किया जाता है ? इसकी क्या सीमाएँ हैं ?

[संकेत—बैंकों द्वारा साख निर्माण की विधि का विस्तारपूर्वक विवरण दीजिए तथा बैंकों की साख निर्माण शक्ति को परिसीमित करने वाले कारणों को समझाइए।]

11

साख-नियन्त्रण

[CREDIT CONTROL]

> "बैंक दर में वृद्धि को एक सुव्यवस्थित अर्थ-तन्त्र के लिए चेतावनी की लाल रोशनी समझना चाहिए . जबकि बैंक-दर में कमी एक हरी झंडी की भाँति है जो संकेत देती है कि मार्ग बाधारहित है, और व्यापार का जहाज निःशंक आगे जा सकता है।"[1]
>
> —गिब्सन

पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि साख की मात्रा का नियमन एवं नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक का प्रधान कार्य है। आधुनिक समय में साख-मुद्रा का प्रयोग बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण साख की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का देश की अर्थ-व्यवस्था पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि मुद्रा की मात्रा का नियमन बहुत कुछ साख के नियन्त्रण से ही सम्बन्धित है, क्योंकि 'मुद्रा' में चलन तथा साख दोनों ही सम्मिलित रहते हैं। इसीलिए केन्द्रीय बैंकों की मौद्रिक नीति (monetary policy) तथा साख नियन्त्रण नीति (credit-control policy) में प्रायः कोई विशेष अन्तर नहीं किया जाता। वास्तव में, मुद्रा-नीति के संचालन में सबसे कठिन समस्या साख के नियन्त्रण की ही होती है, चलन की मात्रा को तो आसानी से नियन्त्रित किया जा सकता है।

साख-नियन्त्रण के उद्देश्य

प्रो० रॉबर्टसन का प्रसिद्ध कथन कि "मुद्रा जो मानव जाति के लिए अनेक सुखों का स्रोत है, नियन्त्रण के बिना संकट एवं उलझनों का कारण भी बन जाती है," साख-मुद्रा को नियन्त्रित रखने के लिए भी पूर्णतया सत्य है। जहाँ तक साख को नियन्त्रित रखने के उद्देश्यों का प्रश्न है, इनमें समय समय पर परिस्थितियों के अनुसार, परिवर्तन होता रहा है। जैसा पहले बताया जा चुका है, स्वर्णमान के पतन के पूर्व ऐसा सोचा जाता था कि मुद्रा प्रणाली में स्वयं-संचालकता का गुण होने के कारण यदि विनिमय दरों को स्थिर रखा जा सके तो मुद्रा के आन्तरिक मूल्य अथवा कीमत-स्तर में स्थिरता स्वयं ही आ जायगी। इसलिए साख-नियन्त्रण नीति का मुख्य उद्देश्य विनिमय दरों में स्थिरता प्राप्त करना था। परन्तु 1930 की महान् मन्दी ने यह स्पष्ट कर दिया कि विनिमय स्थिरता की अपेक्षा मूल्य-स्थिरता देश के आर्थिक हितों के लिए अधिक आवश्यक है। इस विचारधारा के अन्तर्गत साख नियन्त्रण का उद्देश्य मुद्रा के आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता की प्राप्ति करना समझा जाने लगा। आधुनिक विचारधारा यह है कि विनिमय स्थिरता तथा मूल्य स्थिरता दोनों ही आवश्यक हैं और साख-नियमन का उद्देश्य इन दोनों की प्राप्ति होना चाहिए। विनिमय-दर की स्थिरता बनाये रखने में

---

1 "A rise in discount rate may be regarded as the amber coloured light of warning of a robot system of finance and economics while a fall in the discount rate may be looked upon as a green light indicating that the coast is clear and the ship of commerce may proceed on its way without caution —Gibson in an article published in *Lord n Banker s Magazine*, April, 1937, Quoted from De Kock - *Central Banking*, p 168

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से महत्वपूर्ण सहायता मिलती है, तथा आन्तरिक मूल्य-स्थिरता की प्राप्ति के लिए केन्द्रीय बैंक अनेक विधियों से साख की मात्रा को नियन्त्रित रखने के प्रयास करता है।

केन्ज द्वारा प्रस्तुत आर्थिक विचारधारा के प्रभाव में आय तथा रोजगार के स्तर में स्थिरता को महत्व दिया जाने लगा और ऐसा सोचा जाने लगा कि प्रत्येक आर्थिक नीति का उद्देश्य आय तथा रोजगार में वृद्धि प्राप्त करना होना चाहिए। इस प्रकार साख-नियन्त्रण नीति का उद्देश्य आय तथा रोजगार को उच्च स्तर पर स्थायी बनाना समझा जाने लगा।

द्वितीय महायुद्ध के बाद प्रत्येक देश में ऐसे प्रयास किये जाने लगे कि आर्थिक विकास की गति को तीव्र किया जा सके। इसके लिए अर्द्ध-विकसित देशों ने आर्थिक नियोजन की पद्धति का सहारा लिया। आर्थिक विकास में वृद्धि के लिए विनियोग की मात्रा बढ़ाना तथा अर्थ-व्यवस्था की बढ़ी हुई मात्रा में मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना आवश्यक होता है। इन परिस्थितियों में एक ओर तो साख के प्रसार द्वारा उचित आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है और दूसरी ओर ऐसी व्यवस्था करनी पड़ती है कि साख का अनुचित विस्तार तथा प्रयोग न हो। इस प्रकार, वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंकों की साख-नियन्त्रण नीति का उद्देश्य स्थिरता के साथ-साथ आर्थिक विकास में सहायक होना है

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साख-नियन्त्रण की आवश्यकता के सम्बन्ध में सभी अर्थशास्त्री एकमत है, परन्तु साख-नियन्त्रण के उद्देश्य के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाये जाते हैं। साधारणतया साख-नियन्त्रण के निम्नलिखित उद्देश्य बताये जाते हैं :

1 विनिमय-दरों में स्थिरता (Stability of Exchange Rates),
2 आन्तरिक मूल्यों (अथवा कीमत स्तर) की स्थिरता (Stability of Prices),
3 आय एवं रोजगार की उच्च स्तर पर स्थिरता (Stability of Income and Employment at High Level), तथा
4 आर्थिक विकास की गति में स्थिरता (Maintenance of Normal and Steady Rate of Economic Growth)।

वस्तुत इन चारों का एक-दूसरे से अत्यन्त घनिष्ठ तथा गहरा सम्बन्ध है। इसलिए एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दूसरे को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। एक अच्छी मौद्रिक एवं साख नीति वही है जो स्थिरता एवं विकास के उद्देश्यों में समन्वय स्थापित कर सके। इस दृष्टि से इसका निर्धारण तथा प्रयोग अत्यन्त सावधानी, सतर्कता एवं कुशलता से करना चाहिए।

साख-नियन्त्रण की विभिन्न रीतियाँ

प्रत्येक केन्द्रीय बैंक अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार साख-नियन्त्रण की अलग-अलग रीतियाँ अपनाता है। यह नियन्त्रण दो प्रकार के होते है

(1) **परिमाणात्मक नियन्त्रण** (Quantitative Controls)—इनका सम्बन्ध साख की मात्रा तथा उसकी कीमत (ब्याज-दर) के नियन्त्रण से है। इस प्रकार के उपाय बैंकों के नकद-कोषों का नियमन करके उनकी साख-निर्माण की शक्ति को प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करते है। बैंक-दर की नीति, खुले बाजार की क्रियाएँ, बैंकों के नकद-कोषों के अनुपात में परिवर्तन, तरल कोषानुपात का निर्धारण ऐसी रीतियाँ हैं जिनका उद्देश्य साख का परिमाणात्मक नियन्त्रण करना होता है।

(2) **गुणात्मक नियन्त्रण** (Qualitative Controls)—इसमें अभिप्राय उन रीतियों से है जिनका उद्देश्य साख के प्रयोग को नियन्त्रित करना होता है। बैंक की साख-निर्माण की शक्ति को बिना प्रभावित किये इन उपायों के अन्तर्गत साख का प्रयोग केवल उन्ही कार्यों के लिए करने की अनुमति दी जाती है जिन्हे केन्द्रीय बैंक स्वीकार्य समझता है। गुणात्मक नियन्त्रण की भी अनेक रीतियाँ हैं, जैसे प्रवृत्य (selective) साख-नियन्त्रण, साख की राशनिंग, प्रत्यक्ष कार्यवाही, नैतिक दबाव, प्रचार, उपभोग साख का नियमन, इत्यादि। इन रीतियों का प्रयोग विशेष रूप में अमेरिका में किया गया है।

1. बैंक-दर नीति (Bank Rate Policy)

बैंक-दर से अभिप्राय उस ब्याज से है जिस पर केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंकों के प्रथम श्रेणी के बिलों की पुनर्कटौती करता है अथवा स्वीकार्य प्रतिभूतियों पर ऋण देता है। कुछ देशों में इसे कटौती-दर (discount rate) भी कहा जाता है। ब्याज की बाजार-दर (market rate) अर्थात् वह दर जिस पर व्यापारिक बैंक तथा अन्य संस्थाएँ बिलों की कटौती करती हैं अथवा किसी ज़मानत के आधार पर ऋण देती हैं, साधारणतया बैंक-दर से बहुत सम्बन्धित होती है। प्राय बैंक-दर बढ़ जाने से बाजार-दर में वृद्धि होती है और बैंक-दर कम होने से बाजार-दर घटती है। इसका कारण यह है कि जब व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक को ऊँची ब्याज देते हैं तो अपने ग्राहकों से भी ऊँची ब्याज-दर वसूल करते है और जब व्यापारिक बैंकों को सस्ती ब्याज पर केन्द्रीय बैंक से ऋण मिलता है तो ये भी कम ब्याज पर अपने ग्राहकों को ऋण देने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार बैंक-दर बढ़ने से बाजार-दर भी बढ़ती है तथा ऋण लेना महँगा हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप व्यापारियों की ऋण के लिए माँग पहले की अपेक्षा कम हो जाती है, तथा साख का सकुचन होता है। इसके विपरीत, बैंक-दर घटा देने पर बाजार-दर कम हो जाती है, ऋणों की माँग बढ़ती है तथा साख का प्रसार होता है। अत बैंक-दर का सिद्धान्त यह है कि बैंक-दर बढ़ाने से साख का सकुचन होता है तथा बैंक-दर घटाने से साख का प्रसार होता है।

बैंक-दर में परिवर्तन के प्रभाव

समय-समय पर बैंक-दर मे किये जाने वाले परिवर्तनों का प्रभाव केवल साख की मात्रा पर ही नहीं पड़ता, वरन् देश की आन्तरिक तथा बाह्य दोनों स्थितियों पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। मुख्य प्रभाव निम्नलिखित है

1. **साख-संकुचन एवं प्रसार**—जैसा कि ऊपर बताया गया है, बैंक-दर मे वृद्धि का प्रभाव साख-सकुचन तथा कमी का प्रभाव साख का प्रसार होता है। चूँकि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को अल्पकालीन ऋण देने मे अथवा उनके बिलों की कटौती के लिए समयानुसार शर्तों में परिवर्तन करता रहता है, इसलिए बैंक-दर केन्द्रीय बैंक से प्राप्त ऋणों के मूल्यों को ही प्रभावित नहीं करती बल्कि उनकी उपलब्धता (availability) को भी प्रभावित करती है। केन्द्रीय बैंक से ऋणों की उपलब्धता की स्थिति व्यापारिक बैंकों की साख-निर्माण की शक्ति को प्रभावित करती है।
2. **आन्तरिक मूल्य-स्तर तथा रोजगार पर प्रभाव**—बैंक-दर में वृद्धि के परिणामस्वरूप बचतों मे वृद्धि होती है, परन्तु ऋणों के लिए माँग कम हो जाती है। इससे विनियोग गिर जाता है, उत्पादन में कमी होती है तथा रोजगार मे भी कमी आने लगती है। उत्पादन तथा रोजगार मे कमी के कारण लोगों की मौद्रिक आय मे कमी हो जाती है तथा वस्तुओं की माँग कम हो जाती है और उनकी कीमतें गिरने लगती हैं। प्रतिभूतियों की बिक्री बढ़ने के कारण उनके मूल्य मे भी गिरावट आ जाती है। सक्षेप मे, मुद्रा-सकुचन का क्रम चल पड़ता है। बैंक-दर मे कमी से इसके विपरीत परिस्थितियाँ उत्पन्न होती है।
3. **विदेशी पूंजी के प्रवाह पर प्रभाव**—बैंक-दर मे परिवर्तन का प्रभाव पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह पर भी पड़ता है। बैंक-दर बढ़ने से ब्याज की बाजार-दर मे भी वृद्धि होती हैं जिससे अल्पकालीन विदेशी पूंजी के आगमन को प्रोत्साहन मिलता है। विदेशी ऊँची ब्याज-दर के आकर्षण से अल्पकालीन पूँजी भेजने लगते हैं तथा देशवासी भी विदेशों से अपने ऋणों को देश में वापस लाने लगते हैं। विदेशों से धन-राशि का आयात होने पर देश के भुगतान-सन्तुलन की स्थिति मे बिना स्वर्ण-कोषों का निर्यात किये सुधार होने लगता है। इसके विपरीत, बैंक-दर कम होने की दशा में अल्पकालीन पूंजी देश के बाहर जाने लगती है।
4. **विनिमय-दर पर प्रभाव**—बैंक-दर में परिवर्तन विनिमय-दर को भी प्रभावित करता है। बैंक-दर मे वृद्धि के परिणामस्वरूप जब विदेशी पूंजी देश मे आने लगती है तो

देश का भुगतान-सन्तुलन अनुकूल (favourable balance of payment) हो जाता है और विनिमय-दर भी अनुकूल हो जाती है। इसकी विपरीत परिस्थितियाँ उस समय उत्पन्न होती हैं जब बैंक-दर घटा दी जाती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि बैंक-दर में परिवर्तनों के द्वारा केन्द्रीय बैंक देश की साख-व्यवस्था, कीमत-स्तर, रोजगार, विनिमय-दर, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाह, भुगतान-सन्तुलन की स्थिति आदि को प्रभावित कर सकता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि बैंक-दर नीति का प्रभाव कुछ विशेष दशाओं में ही होता है, जो निम्नलिखित हैं

1. केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक-दर में किये गये परिवर्तनों का बाजार की मुद्रा एवं साख की अन्य दरों पर तत्काल प्रभाव पड़ना चाहिए। यह उस समय और भी अधिक आवश्यक होता है जब केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य बैंक-दर में वृद्धि के द्वारा साख-संकुचन करना होता है।
2. देश की आर्थिक व्यवस्था में पर्याप्त मात्रा में लोच होना भी आवश्यक है ताकि मुद्रा एवं साख की दरों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप कीमतें, मजदूरी, लगान, उत्पादन तथा रोजगार सभी स्पष्ट रूप में प्रभावित हो सकें।
3. पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह पर किसी प्रकार का कृत्रिम नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। इस प्रकार, स्वर्णमान के अन्तर्गत बैंक-दर में परिवर्तन का प्रभाव बहुत अधिक हो सकता था।

बैंक-दर नीति के सिद्धान्त

उपयुक्त वातावरण होने पर बैंक-दर में परिवर्तन काफी महत्वपूर्ण हो सकता है, परन्तु यह एक विवादास्पद विषय है कि बैंक-दर का प्रभाव किस प्रकार से होता है। इस सम्बन्ध में हमारे सामने दो महत्वपूर्ण विचारधाराएँ हैं। एक विचारधारा का प्रतिपादन हॉट्रे (Hawtrey) ने '*Art of Central Banking*' तथा '*A Century of Bank Rate*' नामक पुस्तकों में किया है, जिसके अनुसार बैंक-दर में परिवर्तन ब्याज की अल्पकालीन दरों तथा कार्यशील पूँजी (working capital) के माध्यम से अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव डालते हैं। दूसरी विचारधारा कैन्ज (Keynes) द्वारा लिखित '*A Treatise on Money*' (Vol I) में प्रतिपादित की गयी है। कैन्ज के अनुसार बैंक-दर में परिवर्तनों का प्रभाव ब्याज की दीर्घकालीन दरों तथा स्थिर पूँजी (fixed capital) के माध्यम से पड़ता है। कैन्ज ने तीन परम्परागत सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है, जिनकी विवेचना के पश्चात् हम हॉट्रे तथा कैन्ज के विचारों की व्याख्या करेंगे।

परम्परागत विचारधारा (Traditional views)—परम्परागत विचारधाराएँ तीन हैं

1. एक विचारधारा के अनुसार बैंक-दर एक ऐसा साधन है जो बैंक-मुद्रा (bank money) की मात्रा को नियन्त्रित करता है। बैंक-दर में परिवर्तन के द्वारा बैंक-मुद्रा का प्रसार अथवा संकुचन किया जाता है। इस विचारधारा में दोष यह है कि चूँकि बैंक-दर का बैंक-मुद्रा अथवा साख से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि बैंक दर में परिवर्तन का बैंक-मुद्रा पर वांछित प्रभाव पड़े। उदाहरणार्थ, तेजी के काल में यह आवश्यक नहीं है कि बैंक-दर बढ़ाने से साख का संकुचन हो, और इसी प्रकार मन्दी की स्थिति में बैंक-दर घटाने से यह आवश्यक नहीं कि साख का प्रसार हो जाय।
2. दूसरी परम्परागत विचारधारा है कि बैंक-दर में परिवर्तन विदेशी विनिमय दरों को प्रभावित कर देश के स्वर्ण-कोषों के प्रवाह को नियन्त्रित करते हैं। बैंक-दर बढ़ाने का प्रभाव यह होता है कि दूसरे देशों की पूँजी इस देश में आने लगती है। इस देश की मुद्रा की माँग बढ़ने से विनिमय-दर अनुकूल हो जाती है तथा विदेशों से स्वर्ण-कोषों की प्राप्ति होती है।
3. तीसरी विचारधारा के अनुसार बैंक-दर में परिवर्तनों का प्रभाव बचत की अपेक्षा विनियोग-दर पर अधिक पड़ता है। बैंक-दर में कमी से विनियोग-दर में वृद्धि होगी

तथा बैंक-दर बढने पर विनियोग मे कमी होगी। बैंक-दर किस प्रकार विनियोग-दर को प्रभावित करती है, इस विषय पर हॉट्रे तथा केन्ज मे काफी मतभेद है।

हॉट्रे की विचारधारा (Hawtrey's viewpoint)—हॉट्रे के अनुसार सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का केन्द्र व्यापारी (trader) होता है, क्योकि उसी की माँग के अनुसार उत्पादक द्वारा उत्पादन की मात्रा निर्धारित की जाती है। प्रत्येक व्यापारी अपने ग्राहको की माँग को पूरा करने के लिए अपने पास कुछ माल का स्टॉक रखता है। हॉट्रे के विचार मे यदि स्टॉक रखने मे अधिक व्यय होता है तो व्यापारी अपने पास कम स्टॉक रखते है और यदि कम व्यय होता है तो अधिक स्टॉक रखा जाता है। स्टॉक रखने के व्यय मे सबसे प्रमुख मद ब्याज की होती है, क्योकि प्राय ऋण लेकर ही माल का स्टॉक रखा जाता है। इस प्रकार बैंक-दर बढ जाने पर स्टॉक रखने का व्यय बढ जाता है, व्यापारी अपने पास कम स्टॉक रखते हैं, उत्पादको को कम माल के ऑर्डर मिलते हैं जिससे उत्पादन, रोजगार तथा आय मे कमी होने लगती है और मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत, बैंक-दर मे कमी होने पर ब्याज-दर गिरती है, ऋणो की माँग बढ जाती है, व्यापारी अधिक स्टॉक रखते हैं तथा उत्पादको को अधिक माल के ऑर्डर देते है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन बढता है, रोजगार तथा आय मे भी वृद्धि होती है, तेजी की सृष्टि होती है जो उत्तरोत्तर तीव्र होती जाती है। इस प्रकार हॉट्रे के अनुसार बैंक-दर कार्यशील पूँजी की माँग को प्रभावित कर तेजी अथवा मन्दी की स्थिति उत्पन्न करती है जिसमे मुद्रा एव साख का प्रसार अथवा सकुचन होता है।

हॉट्रे का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि ब्याज व्यापारी के व्यय का प्रमुख भाग है, किन्तु व्यवहार मे सदा ऐसा होना आवश्यक नही है। इस बात का पता लगाना भी कठिन होता है कि माल को स्टॉक करने पर आने वाले व्यय के साथ ब्याज की राशि का क्या अनुपात है। इसके अतिरिक्त, यह भी पता नही चल पाता कि माल के स्टॉक करने की माँग की लोच क्या है। व्यवहार मे, व्यापारियो की माँग बिलकुल लोचदार नही होती। अत्यधिक तेजी अथवा मन्दी की स्थिति मे व्यापारियो की माँग बिलकुल लोचहीन होती है। तेजी के काल मे जब व्यापारियो के लाभ मे काफी वृद्धि हो रही होती है तो ब्याज की दर बढने पर वे माल की माँग मे कमी नही करते। इसी प्रकार मन्दी के समय हानि की सम्भावना इतनी अधिक होती है कि ब्याज की दर मे कमी करके माँग को नही बढाया जा सकता। अतएव हॉट्रे के सिद्धान्त की कटु आलोचना की जाती है और इसे वास्तविकता से बहुत दूर समझा जाता है।

केन्ज की विचारधारा (Keynes' viewpoint)—हॉट्रे की विचारधारा के विपरीत केन्ज के विचार मे बैंक-दर पूंजी-बाजार की दीर्घकालीन ब्याज की दर को प्रभावित कर अचल पूंजी (*fixed capital*) की माँग को प्रभावित करती है। केन्ज के अनुसार विनियोग का अर्थ है अचल पूंजी का उत्पादन और इसमे कमी अथवा वृद्धि दो बातो पर निर्भर करती है—पूँजी की सम्भावित उत्पादकता (prospective yield of capital) तथा ब्याज की दर। पूंजी की सम्भावित उत्पादकता ब्याज की दर से अधिक होने पर विनियोग अधिक लाभपूर्ण होगा, इसलिए अचल पूंजी की माँग बढेगी। इसके विपरीत, जब ब्याज-दर अधिक तथा सम्भावित उत्पादकता कम होगी तो अचल पूंजी की माँग भी कम हो जायगी। पूंजी की माँग कम होने पर विनियोग-दर गिर जाती है, उत्पादन और आय कम हो जाते है तथा बेकारी बढती है।

केन्ज के विचारानुसार बैंक-दर के परिवर्तन देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को दीर्घकालीन ब्याज की दरो के माध्यम से प्रभावित करते हैं। ब्याज की अल्पकालीन दरो मे परिवर्तन दीर्घकालीन दरो को प्रभावित करते हैं। अल्पकालीन दरो मे वृद्धि के कारण दीर्घकालीन पूंजी-बाजार मे पूंजी लगाना कम आकर्षक होगा। लोग अपने ऋणो को लौटाने लगेंगे। जिन व्यक्तियो अथवा फर्मों ने ऋण लेकर अपनी कार्यशील पूंजी प्राप्त की है, वे अपनी प्रतिभूतियो को बेचकर ऋण वापस करने का प्रयास करेंगे। इससे प्रतिभूतियो की कीमते गिरेंगी। विनियोग मे लाभ गिर जाने के कारण लोग अपनी पूंजी को बैंक मे जमा रखना अधिक पसन्द करेंगे। इन प्रवृत्तियो का सम्मिलित

प्रभाव यह होगा कि दीर्घकालीन पूँजी-बाजार में कोष का अभाव होगा तथा मुद्रा का प्रवाह मुद्रा-बाजार की ओर होने लगेगा। इसके विपरीत, बैंक-दर कम होने पर दीर्घकालीन ऋणों के माध्यम से पूँजी-बाजार में कोष बढ़ेंगे और विनियोग तथा उत्पादन में वृद्धि होगी। स्मरण रहे कि केन्ज की विवेचना के अनुसार बैंक-दर पूँजी-बाजार की दीर्घकालीन दरों को उसी स्थिति में प्रभावित करती है जबकि इसके लिए समुचित वातावरण हो, अर्थात् लोगों की मनोवृत्ति इसके अनुकूल हो।

निष्कर्ष—अधिकतर अर्थशास्त्री केन्ज की विचारधारा को ही अधिक युक्तिसंगत मानते हैं। किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में हॉट्रे तथा केन्ज की विचारधाराओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। ये दोनों एक ही समस्या के अलग-अलग पहलुओं पर जोर देती हैं। ब्याज-दर में अल्पकालीन परिवर्तन व्यापारियों द्वारा माल का स्टॉक करने की प्रवृत्ति को तो प्रभावित करते ही हैं, साथ में ब्याज की दीर्घकालीन दरों पर भी प्रभाव डालते हैं, जिससे विनियोग तथा उत्पादन प्रभावित होते हैं। इस प्रकार इन दोनों विचारधाराओं को बहुत कुछ एक-दूसरे का पूरक समझा जा सकता है।

बैंक-दर के सिद्धान्त का विकास

साख नियन्त्रण के उद्देश्य से बैंक-दर का प्रयोग सर्वप्रथम बैंक ऑफ इंगलैण्ड ने सन् 1839 में किया था। तत्पश्चात् इसका प्रयोग यूरोप के अन्य केन्द्रीय बैंकों द्वारा भी किया गया। डी कॉक के अनुसार, सन् 1900 तक बैंक-दर में इंगलैण्ड में 400 बार तथा फ्रांस में 111 बार परिवर्तन किये गये। बैंक ऑफ इंगलैण्ड का अनुभव यह था कि बैंक-दर का प्रयोग मन्दी अथवा तेजी की प्रवृत्तियों के प्रारम्भ में ही प्रभावपूर्ण हो सकता है, बहुत आगे बढ़ जाने पर नहीं। दूसरे, बैंक-दर को सामान्यतः बाजार-दर से ऊँचा रखा जाय ताकि केन्द्रीय बैंक की सहायता अन्य बैंकों द्वारा केवल संकट-काल में ही प्राप्त की जाय।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक बैंक-दर का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के एक आवश्यक सहयोगी के रूप में बहुत बड़े पैमाने पर किया जाता रहा। युद्ध-काल में स्वर्णमान स्थगित कर दिया गया। युद्ध के बाद जब स्वर्णमान को पुनः अपनाया गया तो बैंक दर के प्रयोग में कमी आ गयी, क्योंकि साख नियन्त्रण के लिए बैंक-दर प्रायः विफल सिद्ध होने लगी। इससे साख-नियन्त्रण के अन्य साधनों का प्रचलन आरम्भ हुआ। 1929 की भयानक आर्थिक मन्दी तथा 1931 में स्वर्णमान के परित्याग के बाद तो बैंक-दर का प्रयोग तथा महत्व बिलकुल ही घट गया तथा सभी केन्द्रीय बैंकों ने सस्ती मुद्रा-नीति (cheap money policy) को अपनाया। बैंक-दर के महत्व में कमी के मुख्य रूप से निम्नलिखित कारण थे :

1. मुद्रा-बाजार की स्थिति में महान् परिवर्तन हुए। व्यापारिक तथा विदेशी बिलों का महत्व गिर गया, परन्तु ट्रेजरी बिलों तथा अन्य अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियों का परिमाण मुद्रा-बाजार में बढ़ने लगा। परिणामस्वरूप मुद्रा-बाजार में केन्द्रीय बैंक की अपेक्षा ट्रेजरी अथवा सरकार का महत्व बढ़ने लगा। इसके अतिरिक्त एक अन्य परिवर्तन यह हुआ कि युद्ध के पश्चात् लन्दन के मुद्रा-बाजार का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व गिर गया तथा न्यूयार्क के मुद्रा-बाजार का महत्व बढ़ने लगा। संसार के बहुत सारे देशों में मुद्रा-बाजार की स्थापना होने लगी और इन सब का मुद्रा-बाजार के संगठन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।
2. बैंक-दर की नीति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि देश की अर्थ-व्यवस्था में लोच है अथवा नहीं। प्रथम महायुद्ध के बाद से अनेक देशों की अर्थ-व्यवस्था में लोच की कमी आ गयी और आर्थिक योजनाओं के आधार पर आर्थिक व्यवस्था को संगठित करने के प्रयास किये जाने लगे। सरकार का नियन्त्रण बढ़ गया तथा बैंक दर का प्रभाव कम हो गया। वेजमैन (Wageman) ने ठीक ही लिखा है, "किसी देश की आर्थिक व्यवस्था में मूल्य, मजदूरी एवं यातायात व्यय पर जितना ही अधिक नियन्त्रण होगा तथा राज्य का व्यवस्था के क्षेत्र में जितना ही अधिक हस्तक्षेप बढ़ेगा, वहाँ ब्याज की दर का प्रभाव उतना ही कम होगा।"

3. पहले साख पर नियन्त्रण करने मे बैंक-दर का ही प्रयोग होता था, परन्तु अब साख-नियन्त्रण के अन्य साधनो का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा।
4. साख-नियन्त्रण के साधन के रूप मे बैंक-दर के महत्व मे कमी का सर्वाधिक प्रमुख कारण सस्ती मुद्रा-नीति (cheap money policy) का अपनाया जाना था। सस्ती मुद्रा-नीति को सफल बनाने के लिए बैंक-दर बहुत कम रखी जाती है तथा केन्द्रीय बैंक को साख का अत्यधिक प्रसार करना पडता है। वास्तव मे, बैंक-दर बहुत अधिक कम होने पर उसमे परिवर्तन का कोई महत्व नही रह जाता।

उपर्युक्त कारणो के प्रभाव मे प्रथम महायुद्ध के बाद और विशेषत अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के पतन के बाद से साख-नियन्त्रण के साधन के रूप मे बैंक-दर का महत्व बिलकुल गिर गया। बैंक-दर की रीति जिसे मैकमिलन समिति ने एक सुन्दर एव नाजुक अस्त्र (beautiful and delicate instrument) बनाया था, अब एक कुण्ठित एव ढीला-ढाला (halting and clumsy) तरीका हो गया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों मे और विशेषत. 1950 के पश्चात बैंको द्वारा बैंक-दर को फिर से साख-नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाने लगा है। इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि 1946 से 1966 तक के बीस वर्षों मे इगलैण्ड मे 30 बार, जर्मनी मे 25 बार, अमेरिका मे 24 बार, जापान मे 21 बार और फ्रान्स मे 18 बार बैंक-दर मे परिवर्तन किये गये। भारत मे भी रिजर्व बैंक द्वारा नवम्बर 1935 के बाद सर्वप्रथम 1951 मे बैंक-दर को 3 प्रतिशत से बढाकर 3½ प्रतिशत कर दिया गया जो 1965 तक बढते-बढते 6 प्रतिशत तक पहुँच गयी। बैंक-दर नीति का क्रमिक प्रयोग पुन आरम्भ होने का सबसे प्रमुख कारण यह है कि केन्ज की विचारधारा के प्रभाव मे अपनायी गयी सस्ती मुद्रा-नीति के कारण साख का अत्यधिक प्रसार हुआ तथा कीमत-स्तर मे स्थिरता लाना असम्भव हो गया। व्यापारिक बैंको पर केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण बढ जाने के कारण व्यापारिक बैंको के तरल कोषो मे कमी हुई है और उन्हे अपने साधनो मे वृद्धि करने के लिए केन्द्रीय बैंक का सहारा लेना पडा है। गत वर्षों मे बैंक-दर मे वृद्धि के मुख्य कारण मुख्यत मुद्रा-स्फीति के दबाव को रोकना, विनियोग के प्रसार को सीमित करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो मे सन्तुलन स्थापित करना रहे हैं।

यद्यपि आज की अर्थ-व्यवस्था मे बैंक-दर का साख-नियन्त्रण की रीति के रूप मे पहले की अपेक्षा महत्व अवश्य कम हो गया है, परन्तु फिर भी बैंक-दर का प्रयोग वर्तमान वर्षों मे बढा है तथा विकसित एव अर्द्ध-विकसित सभी प्रकार के देशो मे बैंक-दर मे अनेक बार परिवर्तन किये गये हैं।

स्मरण रहे कि बैंक-दर की साख को नियन्त्रित करने मे सफलता कई बातो पर निर्भर करती है, जैसे केन्द्रीय बैंक और अन्य बैंको के बीच सम्बन्धो का स्वरूप तथा व्यापारियो एव विनियोग-कर्ताओं की मनोवृद्धि इत्यादि। वास्तव मे, तेजी के काल मे लाभ मे निरन्तर वृद्धि हो रही है तो बैंक-दर मे वृद्धि न तो साख का सकुचन कर पाती है और न विनियोग की मात्रा मे कमी। मन्दी के काल मे तो बैंक-दर मे कमी और भी अधिक असफल सिद्ध होती है। परन्तु सामान्य परि-स्थितियो मे बैंक-दर मे परिवर्तनो का पूंजी तथा विनियोग की मात्रा पर कुछ प्रभाव अवश्य पडता है। इसीलिए साख-नियन्त्रण की अन्य रीतियों के साथ-साथ बैंक-दर का भी प्रयोग किया जाता है।

डी कोक के शब्दो मे, "यद्यपि वर्तमान काल की परिस्थितियाँ तथा नीतियाँ स्वतन्त्र कटौती दर को रीति के लिए अधिक अवसर नही देती तथापि इस विश्वास का काफी दृढ आधार है कि वैधानिक कटौती-दर को अब भी साख-नियन्त्रण की अन्य विधियो के साथ उपयोगी कार्य करना है।"[1]

---

1 "Present day conditions and Government policies do not afford much scope for independent discount rate action, there is good reason to believe that the official discount rate has nevertheless a useful function to perform in conjunction with other measures of control'—De Kock: *Central Banking*, p. 179.

2 खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations)

विस्तृत अर्थ में, खुले बाजार की क्रियाओं के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा-बाजार में किसी भी प्रकार के बिलों अथवा प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय होता है। परन्तु संकीर्ण अर्थ में इससे अभिप्राय केन्द्रीय बैंक द्वारा केवल अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय होना है।

खुले बाजार की क्रियाओं का सिद्धान्त

साख नियन्त्रण के साधन के रूप में केन्द्रीय बैंक बाजार में प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय द्वारा चलन की मात्रा तथा बैंकों के नकद-कोषों को प्रभावित करता है। जब साख का संकुचन करना हो तो केन्द्रीय बैंक मुद्रा-बाजार में प्रतिभूतियों का विक्रय करने लगता है। प्रतिभूतियाँ व्यापारिक बैंकों अथवा जनता द्वारा खरीदे जाने पर चलन की मात्रा तथा बैंकों के नकद कोष में कमी होती है, जिससे बैंकों की साख निर्माण की शक्ति भी कम हो जाती है। इसके विपरीत, केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियाँ खरीदने पर चलन की मात्रा तथा बैंकों के नकद-कोषों में वृद्धि होती है और साख का प्रसार होता है। इस प्रकार, साख एवं मुद्रा के संकुचन अथवा प्रसार पर जबकि बैंक-दर का अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है, खुले बाजार की नीति का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं तत्काल होता है। मुद्रा एवं साख की मात्रा में परिवर्तन ब्याज की दर को भी प्रभावित करते हैं जिसके परिणामस्वरूप आन्तरिक कीमतों, लागतों, उत्पादन तथा व्यापार में वांछित समायोजन सम्भव होते हैं।

खुले बाजार की क्रियाओं के उद्देश्य साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से अधिक व्यापक भी हो सकते हैं (1) स्वर्णमान व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय द्वारा स्वर्ण के आयात और निर्यात के प्रभावों को दूर कर सकता था, जिससे आन्तरिक कीमतों में बहुत अधिक परिवर्तन न हों। (2) प्रतिभूतियों का विक्रय करके सरकार विदेशों को निर्यात होने वाली पूँजी को अपनी ओर खींच सकती है और इस प्रकार पूँजी के विदेशों को प्रवाहित होने पर रोक लगाने के उद्देश्य से खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग किया जा सकता है। (3) बैंकों की नकद-कोष की माँग अत्यधिक बढ़ जाने पर उनकी प्रतिभूतियों के क्रय द्वारा उनके नकद-कोषों को बढ़ाया जा सकता है ताकि बैंक ग्राहकों की माँग को सफलतापूर्वक पूरा कर सकें। (4) बैंक-दर की सफलता कुछ विशेष परिस्थितियों में ही सम्भव होती है। बैंक-दर के अप्रभावी होने की दशा में एक सहयोगी के रूप में खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग किया जा सकता है। (5) खुले बाजार की क्रियाओं का उद्देश्य सरकार की ऋण-नीति की पुष्टि करना भी हो सकता है।

खुले बाजार की नीति की सीमाएँ

खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तों का पूरा होना आवश्यक है

1. केन्द्रीय बैंक द्वारा क्रय-विक्रय की जाने वाली प्रतिभूतियों की माँग तथा पूर्ति निरन्तर बनी रहे। मुद्रा-बाजार में इन प्रतिभूतियों की माँग तथा पूर्ति न रहने पर केन्द्रीय बैंक को खुले बाजार की क्रियाओं में सफलता नहीं मिल सकती।
2. खुले बाजार की क्रियाओं के परिणामस्वरूप चलन की मात्रा तथा व्यापारिक बैंकों के नकद-कोषों में केन्द्रीय बैंक की नीति के अनुरूप प्रभाव पड़ना चाहिए। साधारणतया केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ बेचकर चलन तथा साख की मात्रा कम करना चाहता है, परन्तु यदि चलन की मात्रा का कुछ भाग बैंकों के पास आ जाय अथवा लोग अपने संचित (hoarded) कोषों को बैंकों में जमा कराने लगें अथवा भुगतान-सन्तुलन के अनुकूल होने से विदेशों से बराबर धन आ रहा हो और बैंकों में जमा हो रहा हो, तो इन परिस्थितियों में प्रतिभूतियों की बिक्री द्वारा बैंकों के नकद-कोष नहीं घटाये जा सकते। इसी प्रकार, प्रतिभूतियों का क्रय करके केन्द्रीय बैंक मुद्रा एवं साख के प्रसार को प्रोत्साहन नहीं दे सकता, यदि लोगों में संग्रह करने की आदत बढ़ जाय अथवा अन्य किसी कारण से बैंकों के नकद-कोष न बढ़ने पायें।

3. व्यापारिक बैंक अपने नकद-कोषो मे होने वाले परिवर्तन के अनुरूप अपने ऋण तथा विनियोग मे परिवर्तन करने के लिए तैयार होने चाहिए।
4. बैंक-मुद्रा की माँग मे बैंको के नकद-कोष मे परिवर्तन के अनुसार घटा-बढ़ी होना आवश्यक है। उदाहरणतया, व्यापारिक बैंको के नकद-कोष विस्तृत हो जाने पर यदि बैंको के ऋणो की माँग मे वृद्धि नही होती है तो व्यापारिक बैंक चाहते हुए भी साख का विस्तार करने मे असफल रहेंगे।
5. केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियो को खरीदने व बेचने की शक्ति पर भी खुले बाजार की क्रियाओ की सफलता निर्भर करती है। सफलता-प्राप्ति के लिए केन्द्रीय बैंक के प्रतिभूतियो मे विनियोग पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक है।
6. देश की परिस्थितियाँ असाधारण नही होनी चाहिए। असाधारण राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियो के कारण निक्षेपधारियो तथा ऋणियो के आचरण मे असाधारण परिवर्तन हो सकते हैं, जिनके परिणामस्वरूप केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाएँ प्रभावपूर्ण नहीं हो पातीं।
7. खुले बाजार की क्रियाओ की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा-बाजार सुसंगठित हो, अर्थात् देश मे एक मजबूत केन्द्रीय बैंक हो जिसका अन्य साख-संस्थाओ से निकट सम्बन्ध हो तथा जनता मे बैंकिंग की आदत हो।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि खुले बाजार की क्रियाओ की उपर्युक्त सीमाओं का यह अर्थ कदापि नही है कि इन शर्तो के पूरा न होने पर केन्द्रीय बैंक पूर्णतया असफल रहता है। वास्तविकता यह है कि इन सब सीमाओं के रहते हुए भी खुले बाजार की क्रियाओं का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य ही दिखायी देता है।

बैंक-दर और खुले बाजार की क्रियाओ मे अन्तर—साख-नियन्त्रण के लिए बैंक-दर तथा खुले बाजार की क्रियाएँ दोनो रीतियो को प्रयोग मे लाया जाता है, परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से दोनो मे कुछ अन्तर पाये जाते है, जो निम्नलिखित है

1. बैंक-दर तथा खुले बाजार की क्रियाएँ दोनो ही व्यापारिक बैंको के नकद-कोषों को प्रभावित करके बैंको की साख-निर्माण शक्ति को नियन्त्रित करती है, परन्तु दोनो मे अन्तर यह है कि बैंक-दर का साख एव मुद्रा पर अप्रत्यक्ष तरीके मे प्रभाव पड़ता है जबकि खुले बाजार की क्रियाओ का प्रभाव प्रत्यक्ष एव तत्काल होता है। इस प्रकार खुले बाजार की रीति अधिक त्वरित एव प्रभावशाली है, बशर्ते कि देश मे अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन प्रतिभूतियो के लिए एक विकसित मुद्रा-बाजार हो।
2. दोनो के परिणाम प्राय भिन्न-भिन्न होते है। बैंक-दर बढाने से ब्याज की बाजार-दर भी प्राय बढ जाती है जिससे बैंक-मुद्रा का प्रसार रुक जाता है। किन्तु खुले बाजार की नीति के अन्तर्गत ब्याज की दर मे कोई परिवर्तन किये बगैर ही केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको के नकद-कोषो मे परिवर्तन करते हैं।
3. बैंक-दर मे बार-बार परिवर्तन करना सम्भव नही होता, जबकि खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग दिन, सप्ताह अथवा मास मे जितनी ही बार हो सकता है।
4. बैंक-दर मे परिवर्तन का प्रभाव सभी बैंको पर अनिवार्य रूप से पडता है, जबकि खुले बाजार की क्रियाओ द्वारा केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको पर कोई अनुचित दबाव नही डालता। अतिरिक्त आय की प्राप्ति के लोभ से ही बैंक प्रतिभूतियों के लेन-देन मे रुचि रखते हैं।
5. बैंक-दर प्राय साख-नियन्त्रण की अल्पकालीन नीति को प्रभावित करता है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक केवल अल्पकालीन ऋण देता है तथा अल्पकालीन बिलो की कटौती करता है। इसके विपरीत, खुले बाजार की नीति के अन्तर्गत दीर्घकालीन प्रतिभूतियाँ भी खरीदी तथा बेची जाती हैं जिससे बैंको की दीर्घकालीन साख-नीति प्रभावित होती है।

खुले बाजार की नीति का विकास

प्रथम महायुद्ध के पूर्व साख-नियन्त्रण के लिए मुख्यतः बैंक-दर का ही प्रयोग किया जाता था। उस समय बैंक ऑफ इंगलैण्ड तथा जर्मनी में रीश बैंक (Reichs Bank) केवल कुछ विशेष प्रकार की प्रतिभूतियों का कभी कभी क्रय-विक्रय कर लेते थे। युद्ध-काल में तथा उसके कुछ बाद तक इंगलैण्ड, जर्मनी तथा अमेरिका के केन्द्रीय बैंकों ने युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग किया। उस समय तक खुले बाजार की नीति का नियमित रूप में विकास नहीं हो पाया था और इसे मुख्यतः बैंक दर के पूरक के रूप में ही प्रयोग किया जाता था। इस नीति का स्वतन्त्र रूप में नियमित प्रयोग 1930 के बाद स्वर्णमान का पतन हो जाने पर ही आरम्भ हुआ। इसके प्रयोग तथा महत्त्व में वृद्धि के अनेक कारण थे, जैसे सरकार द्वारा आर्थिक साधनों की पर्याप्त मात्रा में प्राप्ति, बैंक-दर के महत्त्व में ह्रास, मुद्रा-बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों की मात्रा में वृद्धि, सस्ती मुद्रा नीति, इत्यादि।

हाट्रे के विचारानुसार केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग बैंक-दर के साथ ही होना चाहिए स्वतन्त्र रूप में नहीं। दूसरी ओर केन्स तथा अनेक अर्थशास्त्री इस विचार के हैं कि खुले बाजार की नीति में स्वतन्त्र कार्यशीलता का गुण है। उनके विचार में यदि खुले बाजार की नीति का ठीक तरीके से प्रयोग किया जाय तो यह बैंक-दर के बिना भी अपेक्षित सफलता प्राप्त कर सकती है बशर्ते राज्य की विनियोग नीति अथवा सार्वजनिक कार्यों को इसके पूरक के रूप में प्रयोग किया जाय।

अधिकांश अर्थशास्त्रियों का विचार है कि बैंक-दर नीति तथा खुले बाजार की क्रियाओं को एक साथ अपनाना चाहिए, तभी साख नियन्त्रण सफलतापूर्वक किया जा सकता है। यदि बैंकों के नकद कोषों का खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जाता तो अकेले बैंक-दर में परिवर्तनों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। पर्याप्त सफलता की आशा तभी की जा सकती है जब इन दोनों रीतियों का समन्वित प्रयोग किया जाय। क्लार्क का कहना है कि "साख-नियन्त्रण के दृष्टिकोण से खुले बाजार की क्रियाएँ कटौती-नीति (बैंक दर नीति) की पूरक हैं।"[1]

आजकल सभी केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय करते हैं, परन्तु खुले बाजार की क्रियाओं का व्यापक स्तर पर प्रयोग अमरीका तथा कनाडा में ही होता है, क्योंकि न्यूयार्क मुद्रा-बाजार अत्यधिक विकसित है। अधिकांश देशों में खुले बाजार की क्रियाओं की प्रगति में सुव्यवस्थित मुद्रा बाजार का अभाव एक बहुत बड़ी बाधा रही है।

3 बैंकों के नकद कोषानुपात में परिवर्तन (Variations in the Cash Reserve Ratio)

केन्द्रीय बैंक बैंकों के बैंक के रूप में कार्य करता है। सदस्य बैंकों के लिए यह अनिवार्य होता है कि वे अपनी कुल जमाओं का एक निश्चित प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पास नकद-कोष के रूप में जमा रखें। केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार होता है कि वह इस अनुपात में आवश्यक परिवर्तन करके बैंकों की साख-निर्माण की शक्ति को नियन्त्रित करे। व्यापारिक बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक के पास रखे जाने वाले नकद-कोष के प्रतिशत अथवा अनुपात में वृद्धि का प्रभाव यह होता है कि उनके पास नकदी की मात्रा कम रह जाती है और उनकी साख निर्माण शक्ति कम हो जाती है। इसके विपरीत, केन्द्रीय बैंक के पास जमा नकद-कोषों के अनुपात में कमी करने पर बैंकों की साख-निर्माण शक्ति बढ़ जाती है। उदाहरणतया, भारत में सभी अनुसूचित (scheduled) बैंकों को अपनी कुल जमाओं का कम से कम 3 प्रतिशत रिजर्व बैंक में जमा रखना पड़ता है। अब यदि यह न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात 3 से बढ़ाकर 6 प्रतिशत कर दिया जाय तो बैंकों को तत्काल ही रिजर्व बैंक के पास दुगुने नकद कोष जमा कराने होंगे जिससे उनकी साख निर्माण की शक्ति कम हो जायगी।

---

1 "From the standpoint of credit control open market operations are complementary to discount policy." —Clark *The Theory and Practice of Central Banking*, p 199

गुण—साख-नियन्त्रण की अन्य रीतियो की तुलना मे कोषानुपात रीति कई दृष्टिकोणो से अच्छी है। इसके मुख्य गुण निम्नलिखित है -

1 बैंक-दर तथा खुले बाजार की क्रियाओ द्वारा बैंको के नकद-कोषो को प्रभावित करने का जो कार्य केन्द्रीय बैंक बहुत कठिनाई से सम्पन्न कर पाता है वह कोषानुपात मे परिवर्तन द्वारा केन्द्रीय बैंक के एक आदेश मात्र मे पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार यह एक सरल एव अत्यन्त सुविधाजनक प्रणाली है।

2 कोषानुपात पद्धति खुले बाजार की क्रियाओ की अपेक्षा अधिक अच्छी है क्योकि इसका सब बैंको के नकद-कोषो पर प्रभाव पडता है, जबकि खुले बाजार की क्रियाएँ केवल उन्ही बैंको के नकद-कोषो को प्रभावित करती है जो प्रतिभूतियो को केन्द्रीय बैंक की नीति के अनुसार खरीदते अथवा बेचते हैं।

3 इसमे यह भी गुण है कि प्रतिभूतियो के मूल्य को प्रभावित किए बिना ही यह साख-नियन्त्रण के उद्देश्य को पूरा करती है। खुले बाजार की क्रियाओ के अन्तर्गत यदि नयी प्रतिभूतियाँ ऊँची ब्याज वाली होती है, तो पुरानी प्रतिभूतियो का मूल्य गिरने लगता है, और यदि नयी प्रतिभूतियाँ कम ब्याज वाली होती है तो पुरानी प्रतिभूतियो का मूल्य बढने लगता है।

4 बैंक-दर मे परिवर्तन विदेशी पूँजी के प्रवाह को प्रभावित करते है, जबकि कोषानुपात प्रणाली का विदेशी पूँजी पर कोई प्रभाव नही पडता।

5 कोषानुपात मे परिवर्तन की प्रणाली बैंको के नकद-कोषो के अतिरिक्त अन्य किसी तत्व को प्रभावित नही करती, इसलिए साख-नियन्त्रण के लिए यह अत्यन्त सरल तथा सीधी प्रणाली है।

दोष—कोषानुपात पद्धति के अनेक दोष भी बताये जाते है तथा इसकी आलोचना की जाती है। ह्विटलसी के विचार मे यह एक भद्दी, पक्षपातपूर्ण तथा बेलोचदार (*clumsy, discriminatory and inflexible*) प्रणाली है। मुख्य रूप से, इसके निम्नलिखित दोषो की ओर सकेत किया जाता है

1 कोषानुपात मे परिवर्तनो के द्वारा निश्चित अनुमान नही लगाया जा सकता कि बैंको के नकद-कोषो मे वास्तविक परिवर्तन कितना होगा। ह्विटलसी के अनुसार वास्तविक परिवर्तन प्राय अनुमान से बहुत भिन्न होता है। चूँकि बैंको के निक्षेपो मे परिवर्तन निरन्तर होता रहता है इसलिए कोषानुपात परिवर्तन द्वारा नकद-कोषो मे एक निश्चित मात्रा मे परिवर्तन करना सम्भव नही होता है।

2 कोषानुपात नीति का प्रभाव बडे बैंको पर कम तथा छोटे बैंको पर अधिक होता है, क्योकि छोटे बैंको के निक्षेप कम होते है और बडे बैंको के समान ही कोषानुपात रखने पर इन पर अधिक भार पडता है। इसीलिए इस प्रणाली को पक्षपातपूर्ण भी कहा जाता है।

3 इस प्रणाली मे प्राय लोच का अभाव होता है, क्योकि वैधानिक न्यूनतम अनुपात मे आवश्यकतानुसार शीघ्र परिवर्तन करना सम्भव नही होता।

4 परोक्ष रूप मे, इसका प्रभाव प्रतिभूतियो के मूल्य पर पड सकता है। यह सम्भव है कि व्यापारिक बैंको के नकद-कोषो मे कमी करने पर वे प्रतिभूतियाँ बेचने लगें जिससे उनके मूल्य मे गिरावट आ जाये।

5. व्यापारिक बैंक अपनी जमाओ मे परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक की नीति को विफल कर सकते है। जब व्यापारिक बैंको के पास अधिक नकदी होती है तो यह आवश्यक नही कि वे केन्द्रीय बैंक की कोषानुपात रीति का आदर करेंगे।

यह स्मरण रहे कि सतर्कतापूर्ण नीति अपनाकर ही कोषानुपात रीति के उपर्युक्त दोषो को दूर किया जा सकता है। इसके लिए अनेक सुझाव दिये जाते हैं, जैसे—(1) कोषानुपात रीति तथा

खुले बाजार की क्रियाओं का समन्वयात्मक प्रयोग किया जाना चाहिए, (2) कोषानुपात रीति का प्रयोग धीरे-धीरे किया जाना चाहिए, (3) गोल्डन वीजर (E A. Golden Weiser) के विचारानुसार व्यापारिक बैंकों को एक निश्चित तिथि के पश्चात प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण जमाओं का एक अंश केन्द्रीय बैंक में जमा करने की व्यवस्था की जा सकती है ताकि जमाओं में वृद्धि के कारण साख का प्रसार न हो, तथा (4) कुछ विशेष क्षेत्रों में विनियोजन करने वाले बैंकों को एक निश्चित राशि तक नकद-कोष न रखने की छूट दे दी जा सकती है।

इस रीति से सम्बन्धित बर्जेस का विचार है कि "बैंकों की कोष सम्बन्धी आवश्यकताओं में वृद्धि अथवा कमी करने की शक्ति की सीमाएँ होते हुए भी यह विशेष रूप से मन्दी की आकस्मिक स्थितियों का आधारभूत रूप से उपचार करने में साख-नियन्त्रण के लिए अत्यन्त उपयोगी साधन है।"[1]

नीति का विकास

बैंकों के नकद-कोष के अनुपात में परिवर्तन का प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिका में किया गया। 1933 में फेडरल रिजर्व बोर्ड को यह अधिकार दिया गया कि वह संकटकाल में प्रेसीडेंट की अनुमति लेकर सदस्य बैंकों के नकद-कोष के अनुपात में परिवर्तन कर सके। 1935 के बैंकिंग एक्ट के अनुसार फेडरल रिजर्व बोर्ड का यह अधिकार स्थायी कर दिया गया, जिसके अनुसार बिना प्रेसीडेंट की अनुमति लिये निश्चित सीमाओं के भीतर सदस्य बैंकों के कोषों के अनुपात में परिवर्तन किया जा सकता है। 1936 के पश्चात अमेरिका में इस रीति का प्रयोग किया जाता रहा है। 1936 में न्यूजीलैण्ड तथा 1940 के पश्चात एशिया तथा दक्षिण अमेरिका के अनेक देशों के केन्द्रीय बैंकों को यह अधिकार दिया गया है। 1953 के पश्चात कनाडा, रोडेशिया और न्यामालैण्ड, नार्वे, भारत, सीरिया, दक्षिण अफ्रीका तथा वियतनाम के केन्द्रीय बैंकों को विधान द्वारा तथा नीदरलैण्ड और स्विट्जरलैण्ड में पारस्परिक समझौतों द्वारा यह अधिकार प्राप्त किया गया है।

भारत में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अनुसूचित बैंकों की कुल जमाओं का 3 प्रतिशत नकद कोष के रूप में अपने पास जमा रखे, जिसे आवश्यकता पड़ने पर 15 प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकता है।

4 गौण कोष की माँग (Secondary Reserve Requirements)

साधारण न्यूनतम नकद कोषानुपात के अतिरिक्त कुछ केन्द्रीय बैंकों को व्यापारिक बैंकों से गौण अथवा सहायक (secondary) कोष की माँग करने का भी अधिकार प्राप्त है। इसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को यह आदेश देता है कि वे अपनी जमाओं का एक निश्चित अनुपात (जो न्यूनतम नकद कोषानुपात के अतिरिक्त होता है) सरकारी प्रतिभूतियों तथा अन्य तरल आदेयों (liquid assets) में लगायें। इसका परिणाम यह होता है कि बैंकों द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों तथा अन्य तरल आदेयों के रूप में रखे गये कोषों की सीमा तक उनकी साख-निर्माण शक्ति कम हो जाती है। चूँकि इसके अन्तर्गत बैंकों को अपने साधनों का एक भाग अनिवार्य रूप से सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजित करना पड़ता है, इसलिए केन्द्रीय बैंक को खुले बाजार की क्रियाओं में सुविधा प्राप्त होती है। गौण कोषानुपात की रीति अपनाने का यह भी प्रभाव होता है कि बैंकों के कोषों में तरलता बनाये रखना सम्भव होता है, जिससे ग्राहकों की माँग पूरी करने में कोई कठिनाई नहीं होती तथा देश की बैंक व्यवस्था दृढ़ होती है। विकासशील राष्ट्रों के लिए यह नीति विशेष रूप से अधिक उपयोगी है, क्योंकि एक ओर तो सरकार को प्रतिभूतियों के आधार पर बैंकों से ऋण लेने में सहायता मिलती है और दूसरी ओर बैंकों के तरल कोषों पर उचित नियन्त्रण रखा जा सकता है।

गौण कोषानुपात की रीति बैंकों द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजन प्राप्त करने

1 "Despite these limitations, the power (to raise or lower the bank's reserve requirements) is the most useful addition to the system's mechanism for credit control, especially as a means for dealing fundamentally with the large excess of reserve created by the extraordinary events of the depression emergency"—Burgess *Reserve Banks and the Money Market*, p 207.

में सफल रही है, परन्तु प्राय यह देखा गया है कि जब ऊँची ब्याज-दर पर नयी प्रतिभूतियाँ निर्गमित की जाती है तो बैंको के सामने एक समस्या उत्पन्न हो जाती है। प्रतिभूतियो के बेचने पर बैंको को हानि होती है और न बेचने पर स्थिति-विवरण मे उनका बाजार-मूल्य दिखाना पडता है जिससे सम्भावित हानि प्रकट होती है और बैंक के अंशो का मूल्य गिरने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

सन् 1945 मे सर्वप्रथम अमेरिका से फेडरल रिजर्व सिस्टम के सचालक बोर्ड ने यह माँग की थी कि साख-नियन्त्रण के लिए उन्हे यह अधिकार दिया जाय कि वह व्यापारिक बैंको को यह आदेश दे सकें कि वे अपने माँग-निक्षेपो (demand deposits) का 25 प्रतिशत तथा काल निक्षेपो (time deposits) का 10 प्रतिशत गौण कोषानुपात के रूप मे रखें। बेल्जियम मे इस रीति को 1946 मे अपनाया गया जबकि इस प्रकार के कोषो का अनुपात 50 से 65 प्रतिशत तक बैंको के आकार तथा निक्षेपो के प्रकार के अनुसार निर्धारित किया गया। इसके पश्चात फ्रास, मैक्सिको, हालैण्ड, स्वीडन, भारत, फिलिपाइन्स, आदि देशो के केन्द्रीय बैंको ने भी इस रीति का प्रयोग किया है।

डी कॉक के विचारानुसार यह रीति "युद्ध, सशस्त्रीकरण अथवा अन्य असामान्य स्थितियों से उत्पन्न असाधारण मुद्रा-स्फीतिक स्थितियों में मुद्रा-स्फीति रोकने की निश्चित मौद्रिक नीति मे काफी महत्वपूर्ण भाग ले सकती है।"[1]

5 प्रवृत्य साख-नियन्त्रण (Selective Credit Controls)

ऊपर बतायी गयी साख-नियन्त्रण की रीतियो का मुख्य उद्देश्य बैंकों के नकद-कोषो को प्रभावित करके साख की मात्रा तथा कीमत (ब्याज-दर) को नियन्त्रित करना होता है। इसके विपरीत, प्रवृत्य अथवा चुने हुए साख नियन्त्रण उपायो का उद्देश्य साख के प्रयोग को नियन्त्रित करना होता है और यह समूची अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित न करके केवल विशेष क्षेत्रो की आर्थिक अथवा वित्तीय क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। प्रवृत्य साख-नियन्त्रण के निम्न स्वरूप हो सकते हैं

(1) *ऋण की सीमाओं में परिवर्तन करना*—ऐसी वस्तुएँ जिनका स्टाक प्राय सट्टेबाजी के उद्देश्य से किया जा रहा हो, उनकी धरोहर के आधार पर व्यापारिक बैंको द्वारा ऋण देना नियन्त्रित कर दिया जाता है, ताकि व्यापारियो को सीमित मात्रा मे ही ऋण प्राप्त हो और वे मुनाफाखोरी के उद्देश्य मे वस्तुओ का अनुचित सग्रह न कर पाये। इसका साधारण तरीका यह होता है कि धरोहर के रूप म रखे गये माल के मूल्य तथा ऋण की राशि मे अन्तर की सीमाओं (margin requirements) को बढ़ा दिया जाता है। मान लीजिए, चावल के स्टॉक करने के लिए बैंको मे 20 प्रतिशत के अन्तर (margin) पर ऋण मिलता है। अब यदि केन्द्रीय बैंक के आदेशानुसार यह अन्तर 40 प्रतिशत कर दिया जाय तो बैंको द्वारा उतने ही माल पर अब 20 प्रतिशत ऋण कम दिया जायेगा। इस प्रकार के नियम सभी आवश्यक वस्तुओ तथा अनेक प्रकार की प्रतिभूतियो के आधार पर ऋण देने के लिए बनाये जा सकते हैं।

(2) *भिन्न ब्याज अथवा कटौती-दरें*—विभिन्न प्रकार के बिलो के लिए केन्द्रीय बैंक अलग-अलग कटौती-दरें (discount rates) निर्धारित कर देता है ताकि कुछ क्षेत्रो के लिए ऋण की मात्रा को नियन्त्रित कर दिया जाय। यदि केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य कृषि के लिए साख को प्रोत्साहन देना तथा कुछ विशेष व्यापार तथा उद्योगो के लिए ऋण को सीमित करना होता है तो कृषि बिलो की कटौती-दर कम निर्धारित की जाती है।

(3) *ऋणो की प्राप्ति पर नियन्त्रण*—कुछ विशेष क्षेत्रो मे यदि साख को सीमित करना होता है तो एक निश्चित राशि से अधिक मात्रा म ऋण देने पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं और इसके लिए कभी-कभी केन्द्रीय बैंक से पूर्व-अनुमति भी लेनी पड़ती है। कुछ देशो मे व्यापारिक बैंक नयी कम्पनियो के शेयर खरीदने के लिए ऋण नहीं दे सकते ताकि नयी कम्पनियाँ जनता से पूँजी प्राप्त कर सकें।

---

1 The method of secondary reserve requirements "can be made to play a valuable part in any disinflationary monetary policy under conditions of exceptional inflationary pressures caused by war, rearmament or other abnormal circumstances"—De Kock *Central Banking*, p 241

7. प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action)

केन्द्रीय बैंक को प्राय यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह अन्य बैंकों को अपनी नीति का अनुकरण करने के लिए बाध्य कर सके। केन्द्रीय बैंक के आदेशों का पालन न करने वाले बैंकों के विरुद्ध केन्द्रीय बैंक सीधी अथवा प्रत्यक्ष कार्यवाही करता है जिसके अनुसार यह इन बैंकों को पुन कटौती की सुविधा देना बन्द कर देता है, या बैंक दर से ऊँची दर पर देता है। प्रत्यक्ष कार्यवाही के परिणामस्वरूप व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक की नीति का पालन करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक शक्तिशाली हो, मुद्रा-बाजार में उसका पूरा नेतृत्व हो तथा अन्य बैंकों के साथ सहयोग का वातावरण हो।

व्यावहारिक रूप में प्रत्यक्ष कार्यवाही का तरीका सन्तोषजनक नहीं होता क्योंकि इसमें दबाव की भावना निहित होने के कारण बहुधा इसका परिणाम अनुकूल नहीं होता है। व्यापारिक बैंक साधारणतया ऐसा अवसर भी नहीं देते कि केन्द्रीय बैंक को उनके विरुद्ध अपने अधिकारों का प्रयोग करना पड़े। केन्द्रीय बैंक भी प्रत्यक्ष कार्यवाही से सम्बन्धित यह कठिनाई अनुभव करता है कि यह जानना बहुत कठिन होता है कि कब कोई बैंक अनुचित प्रयोग के लिए साख का प्रसार कर रहा है। बैंक भी साख के वास्तविक प्रयोग पर नियन्त्रण नहीं रख पाते और न ही आवश्यक एवं कम आवश्यक प्रयोगों में अन्तर कर पाते हैं। चूँकि बैंक ऐसा सोचने लगते हैं कि उनसे भूल होने पर केन्द्रीय बैंक उन्हें चेतावनी देगा, वे अपनी सतर्कता में कमी कर देते हैं और बहुत कुछ केन्द्रीय बैंक पर छोड़ देते हैं।

8 नैतिक दबाव (Moral Suasion)

केन्द्रीय बैंक द्वारा अन्य बैंकों पर नैतिक दबाव डालकर भी साख का गुणात्मक नियन्त्रण किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को कुछ परामर्श देता है और इसी के द्वारा उनकी साख निर्माण नीति को प्रभावित करता है। इस प्रकार नैतिक दबाव का तरीका भी बहुत कुछ प्रत्यक्ष कार्यवाही से मिलता जुलता है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें केन्द्रीय बैंक द्वारा शक्ति (*force*) का प्रयोग नहीं किया जाता और मनोवैज्ञानिक रूप से यह विधि व्यापारिक बैंकों को अरुचिकर नहीं होती। केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंकों के बीच सद्भावना बनी रहती है तथा बैंकों का ऐच्छिक एवं सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा सकता है।

समय-समय पर इंगलैण्ड, फ्रान्स, स्वीडन, हॉलैण्ड, कनाडा, भारत, आस्ट्रेलिया आदि देशों में इस रीति का प्रयोग किया गया है। प्रो० क्लार्क (Clark) के विचार में, "साख नियन्त्रण की पद्धति के रूप में समझाने की रीति को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है। निस्सन्देह कभी कभी इन्होंने प्रतिबन्धक प्रभाव डाले हैं किन्तु विस्तार की शक्तियाँ बिना भय अथवा दबाव के चेतावनी के लिए काफी शक्तिशाली सिद्ध हुई हैं।' अमेरिका में इकाई बैंकिंग प्रणाली के कारण इसे अधिक सफलता नहीं मिल सकी है, फिर भी बर्जेस (*Burgess*) का विचार है कि 'फेडरल रिजर्व बैंक अपने सुझावों के द्वारा साधारण साख स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकता है, किन्तु यह ऐसा प्रभाव है जो काफी सूझ-बूझ के निर्णय के बाद प्रयोग करना चाहिए क्योंकि इसके अधिक प्रयोग में इसका प्रभाव समाप्त हो जाता है।"

नैतिक दबाव की नीति की सफलता मुख्यत तीन बातों पर निर्भर करती है (1) केन्द्रीय बैंक का मुद्रा-बाजार पर पूरा अधिकार होना चाहिए, (2) उसे इस सम्बन्ध में पर्याप्त अधिकार प्राप्त होने चाहिए, तथा (3) केन्द्रीय और अन्य बैंकों के बीच सहयोग एवं सद्भावना होनी चाहिए।

9 प्रचार (Publicity)

साख नियन्त्रण के साधन के रूप में केन्द्रीय बैंक प्रचार का भी प्रयोग करता है। नियमित रूप से केन्द्रीय बैंक मुद्रा-बाजार की स्थिति, साख तथा बैंकिंग व्यवस्था की समस्याओं, उद्योग, व्यवसाय, व्यापार तथा आयात-निर्यात आदि के सम्बन्ध में आँकड़े व विवरण प्रकाशित करते हैं, और साथ में विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण भी स्पष्ट करते रहते हैं। विज्ञापन तथा प्रचार के द्वारा केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य अपनी नीति के प्रति प्रभावशाली जनमत (effective public opinion) तैयार करना होता है। प्रचार की रीति का प्रयोग अमेरिका में फेडरल रिजर्व बैंकों

द्वारा बहुत अधिक किया जाता है। भारत में भी रिजर्व बैंक देश की महत्वपूर्ण समस्याओं की स्थिति के सम्बन्ध में नियमित रूप से विवरण प्रकाशित करता है।

साख-नियन्त्रण के एक साधन के रूप में प्रचार के प्रभाव के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है। कुछ केन्द्रीय बैंक इसे एक साधन समझते हैं जिसका साख नियन्त्रण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता। वे आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित सूचनाओं का प्रकाशन केवल अपना एक कर्तव्य समझ कर करते हैं। दूसरी ओर, अमेरिका में इसको साख-नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन समझा जाता है। एक अमेरिकी विचारक के शब्दों में, "साख में प्रधान तत्व मस्तिष्क की दशा होती है, और तुम साख का नियन्त्रण उस समय तक नहीं कर सकते जब तक तुम लोकमत को नियन्त्रित नहीं कर लेते।"[1] बर्जेस (Burgess) के विचार में, "यह तरीका दीर्घ-काल में वित्तीय स्थायित्व स्थापित करने में बैंक-दर अथवा खुले बाजार की नीति की तरह ही महत्वपूर्ण हो सकता है।" यह तो स्वीकार करना पड़ता है कि साख-नियन्त्रण की नीति में प्रचार का महत्व होता है, परन्तु यह कहना कठिन है कि उपर्युक्त कथनों में कहाँ तक सत्यता है।

निष्कर्ष—इस प्रकार साख के परिमाणात्मक तथा गुणात्मक नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंक अनेक रीतियों का प्रयोग आवश्यकतानुसार कर सकता है। यह कहना बहुत कठिन है कि कौनसी रीति अधिक उपयुक्त है और कौनसी कम। वास्तव में, यह देश की आर्थिक व्यवस्था तथा समस्याओं के स्वरूप पर निर्भर करता है कि कौनसी रीति किसी देश के लिए अधिक प्रभावपूर्ण हो सकती है। व्यवहार में, केन्द्रीय बैंक प्रायः साख-नियन्त्रण की परिमाणात्मक रीतियों के साथ-साथ गुणात्मक नियन्त्रण की रीतियों का भी आवश्यकतानुसार समुचित एवं सन्तुलित प्रयोग करने का प्रयास करता है। कोई एक नीति चाहे कितनी ही प्रभावपूर्ण क्यों न हो, अकेले साख का नियन्त्रण नहीं कर पाती। यह प्रभावपूर्ण तभी होती है जब इसे अन्य रीतियों का भी सहयोग प्राप्त हो। सामान्यतः ऐसा देश जिसमें मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन के कुप्रभावों को दूर करना हो, वहाँ परिमाणात्मक साख नियन्त्रण का सापेक्षिक महत्व अधिक होता है। इसके विपरीत, यदि किसी देश में योजनाबद्ध आर्थिक विकास करना है तो वहाँ गुणात्मक साख नियन्त्रण को विशेष महत्व देना आवश्यक हो जाता है।

साख-नियन्त्रण की कठिनाइयाँ

यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण करना कोई सरल कार्य नहीं है। केन्द्रीय बैंक को साख नियमन में मुख्यतः इन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है :

(1) **मौद्रिक संस्थाओं पर अपूर्ण नियन्त्रण**—केन्द्रीय बैंक साख का सफल नियन्त्रण तभी कर सकता है जब देश में सभी मौद्रिक संस्थाओं पर इसका पूर्ण नियन्त्रण हो। कुछ देशों में तो व्यापारिक बैंकों पर भी केन्द्रीय बैंकों को नियन्त्रण के वैधानिक अधिकार बहुत कम दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसी संस्थाएँ होती हैं जो ऋण के लेन-देन का कार्य करती हैं, परन्तु उन पर नियन्त्रण रखना असम्भव होता है। भारत में देशी बैंकर तथा पाश्चात्य देशों में विक्रय-साख कम्पनियाँ आदि केन्द्रीय बैंकों के नियन्त्रण के बाहर हैं। भारत में व्यापारिक बैंकों के लिए निर्धारित नियम सहकारी बैंकों पर लागू नहीं होते हैं।

(2) **अव्यवस्थित बैंक-व्यवस्था**—अधिकांश देशों में बैंक-व्यवस्था का न तो पर्याप्त विकास हुआ है और न ही यह अच्छी तरह संगठित है। इन देशों में न तो बैंकों में पारस्परिक सहयोग होता है और न ही उनका केन्द्रीय बैंक से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इन परिस्थितियों में केन्द्रीय बैंक को अपनी नीतियों में सफलता नहीं मिल पाती।

(3) **सम्बद्ध बैंकों का असहयोग**—अधिक लाभ की प्राप्ति अथवा बैंकों के सचालकों के निजी हितों की पूर्ति करने में बैंक केन्द्रीय बैंक के नियमों का उल्लंघन करने के तरीके ढूँढ निकालते हैं,

---

1 "The principal factor in credit is the state of mind and you cannot control credit until you can control public opinion."—Maclaughlin *American Banker's Association Journal*, August 1936

जिसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय बैंक को सम्बद्ध बैंकों का सहयोग नहीं मिल पाता और उसकी नीति विफल हो जाती है।

(4) **साख की विभिन्न किस्में**—साख कई प्रकार की होती है, जैसे—बैंक-साख, किताबी साख, वाणिज्य-साख इत्यादि। केन्द्रीय बैंक केवल बैंक-साख को नियन्त्रित करता है, अन्य प्रकार की साख को नहीं, जबकि उनका भी अर्थ-व्यवस्था पर बैंक-साख जैसा ही प्रभाव पड़ता है।

(5) **मुद्रा एवं पूंजी-बाजार की स्थिति**—कुछ देशों मे मुद्रा एवं पूंजी-बाजार पर केन्द्रीय बैंक की नीतियों का प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि कभी-कभी तो केन्द्रीय बैंक ही मुद्रा-बाजार की स्थिति से प्रभावित होकर उसके पीछे चलता है।

(6) **परम्पराओं का प्रभाव**—ब्रिटिश बैंकों की परम्पराएँ ऐसी हैं कि केन्द्रीय बैंक को अपनी साख-नीति का केवल संकेत करना होता है और अन्य बैंक उसका तत्काल पालन करते हैं, परन्तु अधिकतर देशों मे ऐसी परम्पराएँ नहीं हैं तथा वहाँ साख-नियन्त्रण एक कठिन कार्य होता है।

(7) **साख के अन्तिम उपयोग पर नियन्त्रण की कठिनाई**—यह बहुत ही कठिन कार्य है कि केन्द्रीय बैंक साख के अन्तिम उपयोग पर नियन्त्रण रख सके। यदि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को आदेश देता है कि सट्टेबाजों के लिए ऋण न दिये जायें, तो यह सम्भव है कि बैंकों के ग्राहक व्यापारिक कार्यों के लिए ऋण लेकर उनका उपयोग सट्टा-कार्यों के लिए करें। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक को साख-नियन्त्रण के उद्देश्य मे सफलता नहीं मिल पाती।

यह सब देखते हुए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक को साख-नियन्त्रण के पर्याप्त अधिकार प्राप्त हों और वह उनका प्रयोग आवश्यकता के अनुसार कुशलतापूर्वक करे। इसके साथ-साथ अन्य बैंकों तथा मुद्रा-बाजार का सहयोग प्राप्त होना भी आवश्यक होता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. **साख नियन्त्रण की आवश्यकताओं का विवेचन कीजिए तथा यह बताइए कि साख को नियन्त्रित करने मे केन्द्रीय बैंक को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।**

   [संकेत—प्रथम भाग मे साख नियन्त्रण के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए तथा दूसरे भाग मे उन कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए जिनका साख नियन्त्रण करने मे केन्द्रीय बैंक को सामना करना पड़ता है।]

2. **"बैंक-दर का उद्देश्य देश की आर्थिक क्रियाओं का नियमन तथा नियन्त्रण करना है।" व्याख्या कीजिए।**

   [संकेत—बैंक-दर के अर्थ, सिद्धान्त, प्रभाव तथा सीमाओं का उल्लेख कीजिए और वर्तमान अर्थ-व्यवस्था मे इसका महत्व स्पष्ट कीजिए।]

3 **साख के नियन्त्रण मे खुले बाजार की क्रियाओं का महत्व स्पष्ट कीजिए।**

   [संकेत—खुले बाजार की क्रियाओं का अर्थ, प्रभाव तथा सीमाओं की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। अन्त मे यह भी बताइए कि यह बैंक-दर की तुलना मे किन बातों मे श्रेष्ठ है।]

4. **परिवर्तनशील कोषानुपात तथा तरल कोषानुपात मे अन्तर स्पष्ट कीजिए। उनका देश की साख-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ सकता है?**

   [संकेत—परिवर्तनशील कोषानुपात तथा तरल कोषानुपात के अर्थ, उद्देश्यों तथा प्रभावों के आधार पर उनकी तुलना कीजिए और यह बताइए कि ये रीतियाँ किस प्रकार साख की मात्रा को प्रभावित करती हैं।]

5 **केन्द्रीय बैंक की परिमाणात्मक तथा गुणात्मक साख नियन्त्रण पद्धतियों का वर्णन कीजिए। इनमे कौनसी पद्धति सर्वश्रेष्ठ है?**

   [संकेत—परिमाणात्मक तथा गुणात्मक पद्धतियों मे अन्तर स्पष्ट करने के पश्चात् अलग-अलग पद्धतियों का विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए और अन्त मे यह बताइए कि देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार ही केन्द्रीय बैंक यह निश्चित कर सकता है कि कौनसी पद्धति श्रेष्ठ है।]

12

बैंक—उनके कार्य तथा विविध रूप

[BANKS—THEIR FUNCTIONS AND TYPES]

"पहले बैंक नकद निक्षेपों में व्यवसाय करते थे, आजकल वे प्रमुख रूप से साख निक्षेपों में व्यवसाय करते हैं।" —सैलिगमैन

'बैंक' शब्द का प्रयोग काफी समय से होता आ रहा है। ऐसा कहा जाता है कि यह इटलियन भाषा के शब्द 'बैंको' (*Banco*) से बना है जो फ्रैंच भाषा के *'Banke'* में बदलता हुआ अंग्रेजी भाषा में 'Bank' हो गया। *'Banco'* का अर्थ बेंच होता है। चूंकि इटली में कुछ लोग बैंचों पर बैठकर मुद्रा परिवर्तन का कार्य किया करते थे तथा उनमें से किसी का व्यापार बन्द होने पर उसका बैंच तोड़ दिया जाता था, अतः कालान्तर में 'बैंको' शब्द का प्रयोग मुद्रा-परिवर्तन करने वाली और बाद में साख की व्यवस्था करने वाली संस्थाओं के लिए किया जाने लगा। एक अन्य विचार यह है कि 'बैंक' शब्द का स्रोत जर्मन भाषा का शब्द *'Banck'* है जिसका अर्थ सम्मिलित स्कन्ध कोष (joint stock fund) होता है। यह कहना कठिन है कि कौनसा विचार अधिक सही है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आधुनिक बैंकों का आरम्भ यूरोप में ही हुआ, जो क्रमशः पूरे संसार में फैल गया।

बैंक की परिभाषा

बैंकों के विकास के प्रारम्भिक काल से लेकर अब तक बैंक के रूप तथा कार्यों में अनेक परिवर्तन हुए हैं। इन विभिन्नताओं के कारण बैंक की अलग-अलग परिभाषाएँ दी गयी हैं

(1) बैंक की कुछ परिभाषाएँ कानूनी आधार पर दी गयी हैं। इंगलैण्ड के विनिमय बिल विधान (1882) के अनुसार, "बैंकर के अन्तर्गत बैंकिंग का कार्य करने वाले व्यक्तियों का एक समूह, चाहे वह समामेलित हो अथवा नहीं, सम्मिलित होता है।"[2] भारतीय विनिमय साध्य विलेख अधिनियम (Indian Negotiable Instruments Act) के अनुसार, "बैंकर के अन्तर्गत बैंकिंग का काम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति तथा डाकघर बचत बैंक सम्मिलित होता है।" ये दोनों परिभाषाएँ असन्तोषजनक तथा अपर्याप्त हैं क्योंकि इनका आधार यह है कि जो बैंक का कार्य करे वह बैंकर है। परन्तु इन परिभाषाओं से यह अनुमान नहीं लग सकता कि बैंक के कार्य क्या हैं तथा बैंक का स्वरूप क्या है।

(2) बैंक के कार्यों के आधार पर भी अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं। सन् 1949 के भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट की धारा 5 (ब) के अनुसार, "बैंक अथवा बैंकिंग कम्पनी वह है जो ऋण देने के लिए अथवा विनियोग करने के लिए जनता से मुद्रा के

1 "In former times the banks dealt in cash deposits, now a days they deal primarily in credit deposits —Seligman *Principles of Economics*

2 ". a banker includes any body of persons whether incorporated or not who carry on the business of banking —*Bill of Exchange Act of England*, 1882

निक्षेपों को स्वीकार करती है, जो माँगने पर अथवा किसी अन्य प्रकार से लौटाया जा सके तथा चैक, ड्राफ्ट, आदेश अथवा किसी अन्य प्रकार से निकाला जा सके।"[1] इस परिभाषा में बैंक के निक्षेप अथवा जमा स्वीकार करने तथा उनको लौटाने के कार्यों का उल्लेख है। परन्तु बैंक के कार्य केवल यही नहीं, कुछ अन्य भी हैं जिनका उल्लेख इस परिभाषा में नहीं किया गया। इसी प्रकार की परिभाषा हार्ट ने भी दी है, "बैंकर वह व्यक्ति है जो अपने साधारण व्यवसाय के अन्तर्गत लोगों की मुद्रा जमा करता है, जिसमें यह व्यक्तियों के चैकों का भुगतान करता है, जिन्होंने इसे जमा किया है अथवा जिनके खाते में जमा किया गया है।"[2]

किनले के मतानुसार, "बैंक एक ऐसी संस्था है जो ऋण की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए ऐसे व्यक्तियों को मुद्रा उधार देती है जिन्हें उसकी आवश्यकता होती है तथा जिसके पास व्यक्तियों द्वारा अपनी अतिरिक्त मुद्रा जमा की जाती है।"[3] यह परिभाषा उपर्युक्त परिभाषाओं में श्रेष्ठ मानी जा सकती है, क्योंकि इसमें बैंक द्वारा जमा स्वीकार करने के साथ-साथ ऋण देने के कार्य का भी उल्लेख किया गया है। परन्तु आधुनिक बैंक के कार्य इतने व्यापक हैं कि उन्हें इन्हीं दो कार्यों तक सीमित रखना अनुचित है।

इंगलैण्ड के सर जॉन पेजेट (Sir John Paget) ने बैंक की कार्यानुसार परिभाषा को व्यापक रूप देने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था को तभी बैंकर कहा जा सकता है, जब वह (i) स्थायी जमा (fixed deposits) स्वीकार करे, (ii) चालू जमा (current deposits) प्राप्त करे, (iii) उस पर लिखे गये चैकों का भुगतान करे, तथा (iv) ग्राहकों से प्राप्त चैकों की रकम एकत्र करे। इस परिभाषा को भी सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें बैंक के केवल कुछेक कार्यों को ही महत्व दिया गया है। इसमें बैंक के एक महत्वपूर्ण कार्य "ऋण देना" तक का उल्लेख नहीं किया गया है।

वास्तव में, कार्यों के आधार पर दी गयी परिभाषाएँ बैंक के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर सकती। जमा स्वीकार करने तथा ऋण देने मात्र से किसी भी व्यक्ति तथा संस्था को बैंक नहीं कहा जा सकता। भारत में देशी साहूकार भी इन कार्यों को करते हैं, परन्तु भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट की धारा 7 (1) तथा 7 (2) के अनुसार वे स्वयं को अथवा अपनी फर्म को बैंकर अथवा बैंक नहीं कह सकते।

(3) कुछ विद्वानों ने बैंक को साख का व्यवसाय करने वाली संस्था के रूप में परिभाषित किया है। हॉरेस व्हाइट ने बैंक को "साख का निर्माणकर्ता तथा विनिमय की सुविधा प्रदान करने वाला यन्त्र" कहा है।[4] क्राउथर के अनुसार, "बैंकर अपने तथा अन्य लोगों के ऋणों का व्यवसायी होता है।"[5] सेयर्स के शब्दों में, "बैंक वह संस्था है जिसके ऋण अन्य लोगों के ऋणों के परस्पर भुगतान के लिए विस्तृत रूप में स्वीकार किये जाते हैं।"[6] फिण्डले शिराज के अनुसार, "बैंकर वह व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी है जिसके पास किसी व्यवसाय के लिए ऐसा स्थान हो जहाँ मुद्रा अथवा चलन की जमा अथवा एकत्रीकरण द्वारा साख का कार्य किया जाता हो और जिसकी जमा का ड्राफ्ट, चैक या आदेश द्वारा भुगतान किया जाता हो या जहाँ स्टॉक, बॉण्ड, धातु और बिलों पर

---

1 Banking means "the accepting for the purpose of lending and investment, of deposits of money from the public, *repayable on demand or otherwise, and withdrawable by cheque,* draft, order or otherwise"—*The Indian Banking Companies Act*, 1949

2 "A banker ■ one who ■ the ordinary course of his business receives money which he pays by honouring cheques of persons from whom or on whose account he receives ■"—Hart

3 "Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made, and to which individuals entrust money when not required by them for use"—Kinley

4 Bank is "a manufacturer of credit and a machine for facilitating exchanges"—Horace White *Money and Banking*, pp 108-109

5 ■ a banker is a dealer in debts—*his own and of other people* —*Crowther An Outline of Money*

6 "A bank is an institution whose debts are widely accepted in settlement of other people's debts to each other."—Sayers

उधार दी जाती हो, अथवा जहाँ प्रतिज्ञा-पत्र बट्टे पर बेचने के लिए स्वीकार किये जाते हों।"[1] इस परिभाषा में बैंक के जमा स्वीकार करने, ऋण देने, साख का निर्माण करने तथा एजेन्सी के कार्यों की ओर संकेत किया गया। ये परिभाषाएं अन्य परिभाषाओं की तुलना में अधिक सन्तोषजनक तथा मान्यता-प्राप्त हैं। परन्तु इन परिभाषाओं को सरल नहीं कहा जा सकता, इनकी जटिलता के कारण ही बैंक जैसी सुपरिचित संस्था को समझना भी कठिन हो जाता है।

(4) बैंक की सरल, संक्षिप्त एवं उचित परिभाषा यह हो सकती है—**बैंक मुद्रा तथा साख का व्यवसाय करने वाली संस्था है** (Bank is an institution which deals in money and credit)। मुद्रा के व्यवसाय अथवा क्रय विक्रय से अभिप्राय ऋणों के लेन-देन से होता है। मुद्रा खरीदने का अर्थ होता है बैंक द्वारा जनता से निक्षेप (deposits) स्वीकार करना अथवा ऋण लेना। मुद्रा के बेचने का अर्थ ऋण देना होता है। दोनों ही दशाओं में मुद्रा की कीमत ब्याज के रूप में चुकायी जाती है। परन्तु मुद्रा का क्रय-विक्रय तो अन्य लोग भी करते हैं जिन्हें बैंक अथवा बैंकर नहीं कहा जाता। उनमें तथा बैंक में महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि बैंक मुद्रा के व्यवसाय के साथ साथ साख का क्रय-विक्रय भी करता है। बैंक साख का निर्माण करता है (हम पहले देख चुके हैं कि बैंक द्वारा किस प्रकार साख का निर्माण होता है), जबकि साहूकार इत्यादि ऐसा नहीं कर पाते। इस प्रकार प्रत्येक बैंक साहूकार का कार्य करता है, परन्तु प्रत्येक साहूकार बैंक के कार्य नहीं कर सकता। सेयर्स ने ठीक ही कहा है, "बैंक केवल मुद्रा-व्यापारी ही नहीं बल्कि एक महत्वपूर्ण अर्थ में मुद्रा निर्माता भी होते हैं।"[2] अतः यह कहना कि बैंक वह संस्था है जो मुद्रा व साख का व्यवसाय करती है, बैंक की सर्वोत्तम परिभाषा है।

बैंकों का विकास

बैंकिंग कोई नया व्यवसाय नहीं है। प्राचीन काल में आज जैसे बैंक नहीं थे, परन्तु बैंकिंग का कार्य अनेक देशों में महाजन, सुनार, सर्राफ आदि किया करते थे। ईसा से 2000 वर्ष पूर्व बेबीलोन में साख का लेन देन प्रचलित था। ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी में असीरिया (Assyria) में मिट्टी के टुकड़ों पर साख-पत्र लिखे जाते थे। मार्शल के अनुसार काल्डिया (Chaldea), फोनीशिया (Phoenicia) तथा मिस्र (Egypt) के प्राचीन इतिहास देखने से प्रारम्भिक बैंकिंग के प्रमाण मिलते हैं। उन्होंने लिखा है कि "सिक्का ढलाई के युग के पूर्व ग्रीस में देवता डेल्फी के मन्दिर तथा अन्य सुरक्षित स्थान बहुमूल्य धातुओं के भण्डार-गृहों के रूप में प्रयोग में लाये जाते थे। बाद में इन मन्दिरों में ब्याज पर निजी तथा सार्वजनिक कार्यों के लिए धन उधार दिया जाता था।"[3] ग्रीस के समान प्राचीन रोम में भी बैंकिंग का काफी अधिक विकास हुआ था। भारत और चीन में बैंकिंग का विकास अपेक्षाकृत बाद में हुआ।

रोम की सभ्यता के पतन के पश्चात ईसामसीह के बाद पाँचवीं शताब्दी से यूरोप के अंधेरे युग (Dark Ages) का आरम्भ होने पर बहुत लम्बे काल के लिए बैंकिंग व्यवसाय प्रायः समाप्त-सा हो गया था, जिसका पुनरुत्थान मध्य-काल (Middle Ages) में हुआ। 12 वीं शताब्दी में, विशेषकर यहूदियों के उद्यम से, बैंकिंग का पुनः आरम्भ हुआ। ईसाइयों को अपने धर्म की ओर से उधार देकर ब्याज लेने की आज्ञा नहीं थी, इसलिए यहूदियों को बैंकिंग कार्य में किसी प्रतियोगिता का भय नहीं था। परन्तु कुछ समय पश्चात इटली के लोगों ने बैंकिंग का कार्य आरम्भ कर दिया तथा लगभग दो शताब्दी के समय में उनकी क्रियाओं का विस्तार सारे यूरोप में हो गया। 1148 में जिनोआ में एक महत्वपूर्ण बैंक (Casa de san Giorgio) स्थापित हुआ और सन् 1157 में बैंक ऑफ वेनिस की स्थापना हुई। 1401 ई० में बैंक ऑफ बारसीलोना तथा 1407 ई० में बैंक ऑफ जिनोआ स्थापित किये गये।

---

1 "A banker is a person, firm or company having place of business where credits are opened by the deposit or collection of money or subject to be paid or remitted upon draft, cheque or where money is advanced or loaned on stocks, bonds, bullion and B/E and P/N are received for discount and sale."—Findlay Shiras

2 "Banks are not merely traders in money but also important manufacturers of money."—Sayers

3 Marshall *Money, Credit and Commerce*, (1923), p. 295.

आधुनिक बैंकिंग का वास्तविक विकास सत्रहवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। सन् 1609 में हॉलैण्ड में बैंक ऑफ एम्सटर्डम, सन् 1619 में जर्मनी में बैंक ऑफ हेम्बर्ग और सन् 1694 में इगलैण्ड में बैंक ऑफ इगलैण्ड की स्थापना हुई। आर्थिक क्षेत्र में धीरे-धीरे बैंक का महत्व बढने लगा। कालान्तर में सयुक्त पूंजी वाले बैंको (Joint Stock Banks) की स्थापना हुई जिससे विकास की गति तेज हो गयी, और आज बैंकिंग व्यवस्था प्रत्येक देश की अर्थ-व्यवस्था की आधारशिला है।

इस प्रकार आधुनिक बैंकिंग का विकास धीरे धीरे हुआ है। क्राउथर के विचार में आधुनिक बैंकिंग के तीन पूर्वज हैं—व्यापारी (the merchant), महाजन (the money lender), तथा सुनार (the goldsmith)।

आधुनिक बैंको के कार्य

जिस प्रकार बैंको का विकास धीरे धीरे हुआ है, उनके कार्यों का विस्तार भी धीरे-धीरे ही होता रहा है। प्राचीन काल के बैंकर प्रारम्भ में केवल मुद्राओं का अदल बदल ही करते थे, बाद में वे लोगो से ब्याज पर ऋण भी स्वीकार करने लगे। उनके पास अधिक धन जमा हो जाने पर उन्होंने इस धन में से ऋण देना भी आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे चैक का प्रयोग आरम्भ हुआ तथा अन्य साख पत्रो का विकास हुआ। सन् 1708 तक नोटो के निर्गमित करने का अधिकार या तो सरकार के हाथो में था या केन्द्रीय बैंक के हाथ में। सयुक्त पूंजी वाले बैंको का उदय होने पर ये सस्थाएँ विविध प्रकार के एजेन्सी कार्य भी करने लगी। बैंक की परिभाषा का विवेचन करते समय यह बताया गया है कि आधुनिक बैंक अनेक प्रकार के कार्य करते हैं। उनके प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं

(1) जमा स्वीकार करना (Accepting of Deposits)—बैंको द्वारा जनता से धन मुख्यत दो प्रकार से प्राप्त किया जाता है—अपने शेयर बेचकर, तथा जनता से जमा (अथवा निक्षेप) स्वीकार करके। शेयरो की बिक्री से प्राप्त पूंजी (share capital) बैंक के व्यवसाय के लिए पर्याप्त नहीं होती है, इसलिए बैंक को जनता से उनके निक्षेपो के रूप में ऋण लेना पडता है। लोग अपनी बचत बैंक में जमा करा देते हैं जिससे उन्हें ब्याज मिलती है तथा उनका धन सुरक्षित रहता है। बडे व्यापारियो को अपना धन बैंक के पास रखने से भुगतानो में बडी सुविधा होती है।

बैंक में रकम जमा करने के लिए प्राय पांच प्रकार के खातो की व्यवस्था होती है, जिनमें से प्रथम तीन प्रकार के खाते तो सभी बैंको में होते हैं, परन्तु अन्तिम दो प्रकार के खातो की व्यवस्था केवल कुछ ही बैंको में होती है। ये विभिन्न खाते निम्नलिखित हैं

1 निश्चितकालीन जमा खाता (Fixed Deposit Account)—इस प्रकार के खाते में रकम एक निश्चित अवधि के लिए जमा की जाती है जो प्राय 3 माह से 5 वर्ष तक के लिए होती है। जमाकर्ता को जमा की रसीद (fixed deposit receipt) दे दी जाती है जिसमें जमाकर्ता का नाम, जमा की राशि, ब्याज की दर तथा जमा की अवधि लिखी रहती है। यह रसीद हस्तान्तरणीय नहीं होती और अवधि की समाप्ति पर रकम वसूल करते समय यह रसीद बैंक को लौटा देनी होती है। यदि जमाकर्ता को अपनी रकम की आवश्यकता अवधि पूर्ण होने से पहले पड जाती है तो कुछ कटौती (discount) काटकर बैंक उसे रकम लौटा देता है। निश्चितकालीन जमा पर बैंक अधिक ब्याज देता है। अवधि जितनी ही लम्बी हो ब्याज-दर उतनी ही ऊँची होती है, क्योंकि बैंक को यह विश्वास रहता है कि वह इस रकम का लम्बे समय तक प्रयोग कर सकता है तथा ऋण देकर ब्याज कमा सकता है। इस प्रकार की जमा राशि को बैंक की 'काल-देनदारी (time liability) कहा जाता है।

2 चालू खाता (Current Account)—इस प्रकार के खाते में निक्षेपधारी दिन में जितनी बार चाहे रुपया जमा करा सकता है और निकाल सकता है। जमा राशि प्राय चैक द्वारा निकाली जाती है। व्यापारियों तथा बडी-बडी सस्थाओ के लिए चालू खाते बहुत उपयोगी होते हैं, क्योंकि उन्हें दिन में कई भुगतान प्राप्त होते हैं और

अनेक भुगतान करने होते हैं। चालू खाता खोलने पर बैंक द्वारा एक पास बुक (Pass Book) जिसमें लेन-देन का विवरण रहता है, एक चैक बुक (Cheque Book) तथा रकम जमा कराने के फार्म (Pay-in-Slip) दिये जाते हैं। साधारणतया चालू खाते में जमा राशि पर बैंक ब्याज नहीं देते और कभी-कभी तो निक्षेपधारी से कुछ सेवा-व्यय भी वसूल करते हैं। कुछ ऐसे भी बैंक हैं जो जमा राशि के एक निश्चित रकम से कम न होने पर थोड़ी सी ब्याज देते हैं। जमा राशि के न्यूनतम रकम से कम होने पर दोनों के अन्तर पर निक्षेपधारी से ब्याज ले ली जाती है। चालू खाते में जमा राशि को बैंक की 'माँग देनदारी' (demand liability) कहा जाता है। अमेरिका में चालू खाते को चैक खाता (Check[1] or Checking Account) कहते हैं।

3 बचत खाता (Saving Bank Account)—छोटी बचत वाले लोगों के लिए बचत खाते अधिक उपयुक्त होते हैं। इस प्रकार के खाते में सप्ताह में कई बार रकम जमा की जा सकती है, परन्तु एक या दो बार से अधिक निकाली नहीं जा सकती। कुछ बैंकों में रकम निकालने की सुविधा का आधार साप्ताहिक न होकर वार्षिक होता है, अर्थात् एक वर्ष में 100 बार के लगभग रकम निकाली जा सकती है। एक बार में एक निर्धारित सीमा से अधिक रकम निकालने के लिए बैंक को पहले से सूचना देनी होती है। इन खातों में रुपया निकालने की दो प्रणालियाँ हैं। एक तो रुपया निकालते समय 'पास बुक' प्रस्तुत करनी होती है और 'रुपया निकालने का फार्म' (withdrawal from) भरकर रुपया निकाला जाता है। दूसरा तरीका चैक द्वारा रुपया निकालने का है। एक निश्चित रकम से कम जमा-राशि न होने पर बैंक चैकों द्वारा रुपया निकालने की सुविधा देते हैं। बचत खाते में एक निर्धारित सीमा से अधिक रकम जमा नहीं की जा सकती, और यदि इसकी अनुमति दे भी दी जाय तो अतिरिक्त रकम पर ब्याज नहीं दी जाती। वेतनभोगी तथा सामान्य आय वाले लोगों के लिए बचत खाते अत्यन्त उपयोगी हैं, क्योंकि इन खातों में जमा रकम पर अच्छी ब्याज मिलती है। इस खाते पर निश्चितकालीन जमा की तुलना में ब्याज कम होती है, परन्तु यह ध्यान रखा जाता है कि ब्याज-दर ऐसी हो जिससे बचत को प्रोत्साहन मिले। [भारत में व्यापारिक बैंकों के अतिरिक्त डाकखानों में भी बचत खाते खोले जाते हैं।]

4 गृह बचत खाता (Home Safe Saving Book Account)—कुछ बैंकों द्वारा छोटी बचतों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से ग्राहकों को घर ले जाने के लिए गुल्लक (safe) दी जाती है, जिसमें वे समय-समय पर अपनी बचत डालते रहते हैं। गुल्लक की चाबी बैंक के पास रहती है। कुछ समय बाद गुल्लक बैंक में ले जाने पर उससे रकम निकाल ली जाती है और निक्षेपधारी के खाते में जमा हो जाती है। इस प्रकार की जमा पर ब्याज की दर प्रायः कम होती है।

5 अनिश्चितकालीन जमा खाता (Indefinite Period Deposit Account)—इस खाते के अन्तर्गत अनिश्चित काल के लिए रकम जमा करायी जाती है जिसे कुछ विशेष दशाओं में ही निकाला जा सकता है। निक्षेपधारी केवल ब्याज की रकम निकाल सकता है। इस खाते में जमा रकम पर ब्याज-दर काफी ऊँची होती है, परन्तु ऐसे खाते हमारे देश में विशेष प्रचलित नहीं हैं।

इस प्रकार बैंक अपना व्यवसाय चलाने के लिए अंश-पूँजी के अतिरिक्त जनता से उपयुक्त खातों के अन्तर्गत जमा प्राप्त करता है। इस पर भी यदि बैंक पर्याप्त साधन नहीं जुटा पाता तो वह अन्य बैंकों से अथवा केन्द्रीय बैंक से ऋण लेता है। केन्द्रीय बैंक अन्य सभी बैंकों की स्थिति का ध्यान रखता है।

1 अमेरिका में Cheque को Check लिखते हैं।

2 ऋण देना (Advancing of Loans)—आधुनिक बैंकों का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य ऋण देना है। जमाकर्ताओं की रकम बैंक के पास रखी नहीं रहती। कुछ नकद कोष रखने के पश्चात बैंक बाकी रकम जरूरतमन्द व्यवसायियों को ऋण के रूप में दे देता है। बैंक जमा पर दी जाने वाली ब्याज की अपेक्षा ऋणों पर अधिक ब्याज लेता है, और इन दो दरों में अन्तर ही बैंक का लाभ होता है। बैंकों को ऋण-देन का कार्य काफी सतर्कता से करना होता है क्योंकि असावधानी का परिणाम बैंक के लिए हानिकर हो सकता है। आधुनिक बैंक प्राय उत्पादन-कार्यों के लिए ही ऋण देते हैं, तथा उचित जमानत या धरोहर (security) की माँग करते हैं। अधिकांश बैंक ऐसी धरोहर पर ऋण देते हैं जिसे आसानी से बाजार में बेचा जा सके। ऋण की रकम प्राय धरोहर के मूल्य से कम होती है, क्योंकि मूल्य में परिवर्तन की सम्भावना के कारण कुछ अन्तर (margin) रखना आवश्यक होता है। कभी कभी बैंक द्वारा व्यक्तिगत जमानत (personal security) पर या दो या दो से अधिक व्यक्तियों की सम्मिलित जमानत (joint security) पर या चल एवं अचल सम्पत्ति की गिरवी (mortgage) पर भी ऋण दिया जाता है। बैंक सामान्यत निम्नलिखित चार प्रकार के ऋण प्रदान करते हैं

1 ऋण तथा अग्रिम धन (Loans and Advances)—एक निश्चित रकम के निश्चित समय के लिए दिये गये ऋण जिनका भुगतान पूर्णतया होने पर ही ऋण का अन्त होता है, ऋण अथवा अग्रिम धन कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में, ऋणी बैंक से जो सम्पूर्ण राशि ऋण के रूप में प्राप्त करता है उसका कुछ अंश लौटा देने पर ऋणी पुन उसी ऋण के अन्तर्गत उसे प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता। बैंक उसे अलग से दूसरा ऋण दे सकता है। इस प्रकार ऋण कभी चालू नहीं रहता। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जब कभी इस प्रकार का ऋण दिया जाता है तो ऋण लेने वाले के नाम एक खाता खोलकर ऋण की राशि उसमें लिख दी जाती है। ऋण लेने वाला आवश्यकतानुसार चैक द्वारा समय समय पर रकम निकालता रहता है। ऋण की पूरी रकम पर तत्काल ब्याज लगना आरम्भ हो जाता है, चाहे उस रकम का केवल एक भाग ही निकाला जाय। ऋण प्राय यथेष्ट जमानत पर आधारित होता है तथा इसकी अवधि निश्चित होती है। ब्याज की दर का निर्धारण ग्राहक की साख, ऋण के उद्देश्य, अवधि तथा धरोहर की किस्म आदि पर निर्भर करता है।

2 नकद साख (Cash Credit)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत बैंक एक निश्चित मात्रा तक ऋण प्राप्त करने का अधिकार दे देता है। इसी सीमा के अन्दर ऋणी अपनी आवश्यकतानुसार बैंक से रुपया लेता रहता है और जमा भी करता रहता है। ब्याज उसी रकम पर वसूल किया जाता है जो वास्तव में ऋणी के पास रहती है, परन्तु कभी-कभी बैंक नकद साख की कुल रकम पर ही ऋणी से ब्याज लेता है। ऋण के लिए व्यापारिक माल, बॉण्ड अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियाँ (approved securities) की जमानत ली जाती है। यह प्रणाली स्कॉटलैण्ड में आरम्भ हुई थी और आज सभी देशों में प्रचलित है।

3 अधिविकर्ष (Over draft)—बैंक में चालू खाता (Current Account) रखने वाले ग्राहक बैंक से एक समझौते के अन्तर्गत अपनी जमा की राशि से अधिक रकम निकालने की अनुमति ले लेते हैं, निकाली गयी अतिरिक्त रकम को ही अधिविकर्ष कहा जाता है। इस प्रकार की सुविधा बैंक द्वारा अल्प समय के लिए ही दी जाती है और यह उचित जमानत देने पर केवल विश्वसनीय ग्राहकों को मिलती है। अधिविकर्ष पर ब्याज भी अधिक लिया जाता है।

अधिविकर्ष तथा नकद साख में मुख्य अन्तर ये हैं—अधिविकर्ष प्राप्त करने के लिए बैंक में चालू खाता होना आवश्यक होता है, जबकि नकद साख के लिए यह आवश्यक नहीं। नकद साख के लिए पूरी जमानत ली जाती है, परन्तु अधिविकर्ष व्यक्तिगत जमानत पर भी दे दिये

जाते हैं। नकद साख की तुलना में अधिविकर्ष की अवधि बहुत कम होती है तथा ब्याज अधिक ली जाती है।

4. **विनिमय-बिलों का भुनाना (Discounting of Bills)**—मुद्दती बिलों (Usance Bills) की मुद्दत अथवा अवधि पूर्ण होने के पूर्व यदि बिल का भुगतान प्राप्त करने वाला भुगतान चाहता है, तो वह बैंक से बिल भुना लेता है। भुगतान के बाकी समय की ब्याज की कटौती (discount) करके बैंक तत्काल भुगतान कर देता है। इस बात का अवश्य ध्यान रखा जाता है कि इस प्रकार के बिल व्यापारिक बिल ही हों। बिल की कटौती अथवा बट्टा तीन बातों पर निर्भर करता है—बिल की अवधि, बिल की रकम, तथा बिल का जोखिम। बिलों के आधार पर दिये गये ऋण बैंक के लिए लाभदायक होते हैं, क्योंकि (i) बिल के भुगतान के लिए जिम्मेदारी बिल के दोनों पक्षों, अर्थात् बिल लिखने वाले तथा स्वीकार करने वाले, की होती है इसलिए बैंक को दोहरा संरक्षण रहता है, (ii) आवश्यकता पड़ने पर बैंक इन बिलों को केन्द्रीय बैंक से पुन भुना (rediscount) सकता है, (iii) यह ऋण अल्पकालीन होता है, तथा (iv) बिलों का मूल्य स्थिर रहता है क्योंकि उनकी रकम निश्चित होती है। इनसे देश के व्यापार को भी लाभ पहुँचता है।

(3) **अभिकर्ता सम्बन्धी कार्य (Agency Functions)**—बैंक अपने ग्राहकों के लिए एजेण्ट अथवा प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य करते हैं। ऐसे कार्यों के लिए ग्राहक स्वयं अपने बैंक को लिखित अनुमति देते हैं। इनमें से कुछ कार्य निःशुल्क किये जाते हैं तथा कुछ के लिए निश्चित शुल्क प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं

1. ग्राहकों द्वारा भेजे गये चैक, विनिमय-बिल आदि साख-पत्रों का भुगतान एकत्र करने का कार्य बैंक करते हैं।
2. बैंक अपने ग्राहकों द्वारा लिखे गये चैकों का भुगतान करते हैं तथा कभी-कभी ग्राहकों के बिल भी स्वीकार करते हैं जिनका भुगतान निश्चित तिथि पर कर दिया जाता है।
3. ग्राहकों के आदेशानुसार बैंक उनके बीमे के प्रीमियम, कर, ब्याज, चन्दे, ऋण की किस्त आदि के भुगतान करने का भी कार्य करते हैं।
4. अपने ग्राहकों की ओर से बैंक लाभांश, ब्याज, किराया, ऋण की किस्त आदि वसूल भी करते हैं।
5. बैंक अपने ग्राहकों के लिए सरकारी प्रतिभूतियाँ, कम्पनियों के शेयर्स तथा ऋणपत्र (debentures) आदि के क्रय विक्रय का कार्य भी करते हैं।
6. बैंकों द्वारा अपने ग्राहकों की सुविधा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को रकम भेजने (remittance) की व्यवस्था की जाती है।
7. बैंक अपने ग्राहकों की सम्पत्ति के प्रबन्धक, ट्रस्टी अथवा व्यवस्थापक का कार्य भी करते हैं।
8. ग्राहकों के लिए बैंक पासपोर्ट तथा यात्रा सम्बन्धी विदेशी विनिमय एवं अन्य सुविधाओं के लिए भी पत्र-व्यवहार आदि करते हैं।

(4) **विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय (Purchase and Sale of Foreign Exchange)**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के लिए बैंक विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करते हैं। यद्यपि यह कार्य मुख्य रूप से विदेशी विनिमय बैंकों का है, परन्तु इस प्रकार के बैंक न होने पर साधारण व्यापारिक बैंक भी यह कार्य करते हैं। भारत जैसे देशों में जहाँ विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय बहुत अधिक नियन्त्रित होता है, यह कार्य केवल केन्द्रीय बैंक अथवा उससे अनुमति प्राप्त किसी अन्य बैंक द्वारा ही किया जाता है।

(5) **नोट निर्गमन करना (Issue of Notes)**—बैंकों के विकास के प्रारम्भिक काल में नोटों का निर्गमन सभी बैंक करते थे और यह उनका प्रमुख कार्य समझा जाता था। परन्तु आधुनिक समय में यह कार्य केवल देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा ही किया जाता है।

(6) विविध उपयोगी सेवाएँ (Other Miscellaneous Services)—ऊपर बताये गये अनेक कार्यों के अतिरिक्त आधुनिक बैंक कुछ सामान्य उपयोगी कार्य भी करते है, जैसे—

1 बैंक अपने ग्राहकों की बहुमूल्य वस्तुओं, जैसे जेवर, कानूनी पत्र, दस्तावेज आदि को सुरक्षित रखने के लिए विशेष प्रकार की अलमारियाँ (lockers) अपने पास रखते है।
2 बैंक अपने ग्राहकों के लिए यात्री चैक (Travellers Cheques) तथा साख प्रमाण-पत्र (Letters of Credit) देते है, जिनके कारण उन्हे यात्रा करते समय नकद मुद्रा साथ नही ले जानी पडती।
3 बैंक अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति की सूचना अन्य व्यापारियों को देते है और पूछे जाने पर अन्य व्यापारियों की आर्थिक स्थिति की जाँच-पडताल करके अपने ग्राहकों को सूचित करते है।
4 कुछ बडे बैंक देश के व्यापार तथा उद्योग से सम्बन्धित आकडे एकत्र करते हैं तथा सूचनाएँ प्रकाशित करते है।
5 बैंक कम्पनियों के शेयर्स तथा ऋणपत्रो के अभिगोपन (underwriting) का कार्य करते है जिससे कम्पनिया को पूँजी प्राप्त करने मे सुविधा होती है। यह शेयर्स जनता द्वारा न खरीदे जाने पर बचे हुए शेयर्स स्वय बैंक खरीद लेता है।
6 सरकार द्वारा जारी किये गये ऋणो की बिक्री की व्यवस्था बैंकों द्वारा की जाती है।
7 बाढ-पीड़ितो का कोष, सुरक्षा-कोष आदि राष्ट्रीय चन्दे सग्रह करने का कार्य भी बैंकों द्वारा किया जाता है।
8 देश के प्रमुख बैंक स्टॉक एक्सचेन्ज म समाशोधन गृह (Clearing House) का कार्य भी करते है तथा सौदो व भुगतान मे सहायक होते हैं।
9 बैंक अपने ग्राहको को उपभोग की महँगी वस्तुओ, जैसे मोटरकार, स्कूटर, रेफ्रीजरेटर आदि, की उपलब्धि ऋण पर करा देते हैं।
10 बैंक एक विशेषज्ञ के समान अपने ग्राहको का उनके धन तथा विनियोग सम्बन्धी मामलो मे सलाह देता है।

(7) साख-निर्माण का कार्य (Creation of Credit)—अधिक लाभ कमाने के लिए आधुनिक बैंक अपनी अश-पूंजी तथा जमा राशि की कुल मात्रा से अधिक ऋण देते है, जो उनके द्वारा साख का निर्माण करने पर सम्भव होता है। सेलिगमैन के अनुसार बैंको द्वारा साख का निर्माण तीन प्रकार से होता है—नोट छापकर, ऋण देकर, तथा प्रतिभूतियो को भुनाकर। वास्तव मे, आधुनिक बैंक-व्यवस्था का विकास बहुत कुछ बैंको की साख-निर्माण की शक्ति के द्वारा ही सम्भव हुआ है। बैंको के साख-निर्माण-कार्य का विस्तृत वर्णन पहले अलग स दिया जा चुका है।

बैंको का महत्व

वर्तमान समय म प्रत्येक देश का उत्पादन, उद्योग, व्यापार तथा व्यवसाय बैंकिंग व्यवस्था पर केन्द्रित होते हैं। आर्थिक एव औद्योगिक विकास की योजनाओ की सफलता के लिए प्रत्येक देश बैंकिंग के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान देता है। आधुनिक अर्थ व्यवस्था म बैंको को वाणिज्य तथा व्यापार का 'धमनी केन्द्र' (nerve centre) कहना अनुचित न होगा। विकसेल (Wicksell) ने बैंको को आधुनिक चलन व्यवस्था का हृदय तथा केन्द्र बिन्दु कहा है। आर्थिक विकास के साथ-साथ बैंको के कार्य तथा महत्व मे भी वृद्धि होती है और एक विकसित अर्थ-व्यवस्था म तो बैंको के अभाव की कल्पना भी नही की जा सकती। बैंको मे प्राप्त होने वाले विभिन्न लाभ निम्नलिखित हैं

(1) बचत का सग्रह करके उत्पादन-कार्यों मे लगाना—लोगों के पास अतिरिक्त धन की मात्रा को बैंक जमा के रूप मे प्राप्त करते हैं। चूंकि बैंक मे जमा धनराशि सुरक्षित रहती है तथा उस पर ब्याज मिलता है, इसलिए बचत की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार एकत्रित धन को बैंक उन लोगों को ऋण के रूप मे दे देते हैं जिन्हे उत्पादन मे वृद्धि के लिए इसकी

आवश्यकता होती है। उत्पादकों की आर्थिक सहायता करके बैंक देश में पूँजी के निर्माण में सहायक होते हैं। इससे न केवल कुछ व्यक्तियों का बल्कि सारे समाज का भला होता है।

(2) **मुद्रा-प्रणाली में लोच**—व्यापार तथा उद्योग की मौद्रिक आवश्यकता में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार बैंक देश में साख-मुद्रा का समय-समय पर आवश्यकतानुसार प्रसार एवं संकुचन करते रहते हैं, जिससे मुद्रा-प्रणाली लोचपूर्ण बन जाती है। इसके अतिरिक्त, पहले जब मुद्रा निर्गमन सरकार करती थी तो मुद्रा-प्रणाली में पर्याप्त लोच का अभाव रहता था, परन्तु केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित मुद्रा अधिक लोचपूर्ण होती है।

(3) **मुद्रा के हस्तान्तरण में सहायक**—बैंकों की सहायता से मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बहुत थोड़े से खर्च से सुरक्षित पहुँचाया जा सकता है जिससे व्यापार में सुविधा होती है।

(4) **भुगतान में सुविधा**—चैकों द्वारा भुगतान करने में एक तो लोगों को सिक्के तथा नोट गिनने तथा परखने की असुविधा नहीं होती, दूसरे भुगतान करने वाले व्यक्ति को भुगतान का प्रमाण प्राप्त हो जाता है। यात्रियों के चैक, साख प्रमाण-पत्र तथा विदेशी विनिमय की व्यवस्था द्वारा बैंक विदेशी भुगतानों को भी सुविधाजनक बना देते हैं।

(5) **बैंकिंग की आदत को प्रोत्साहन**—बैंकों के सम्पर्क में आने से लोगों में बैंकिंग की आदत उत्पन्न होती है। विधिग्राह्य मुद्रा (legal tender money) के स्थान पर लोग चैकों द्वारा अधिक भुगतान करने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप बहुमूल्य धातुओं के प्रयोग में बचत होती है। आधुनिक काल में साख का प्रसार मुख्य रूप से बैंकों की ही देन है, जिससे साख के प्रयोग के अनेक लाभ प्राप्त होते हैं।

(6) **धन की सुरक्षा**—बैंकों में अपना धन जमा करके तथा बैंकों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को धन भेजने में तो धन की सुरक्षा प्राप्त होती ही है, इसके अतिरिक्त बैंक अपने ग्राहकों की बहुमूल्य वस्तुएँ, आभूषण तथा महत्वपूर्ण पत्र आदि सुरक्षित रखने के लिए अपने पास मजबूत अलमारियाँ (lockers) की व्यवस्था करते हैं।

(7) **ग्राहकों की विविध सेवाएँ**—बैंक अपने ग्राहकों के लिए अनेक प्रकार के एजेन्सी कार्य भी करते हैं, जैसे ग्राहकों की ओर से भुगतान प्राप्त करना अथवा भुगतान देना, शेयर्स आदि खरीदना और बेचना, ट्रस्टी या प्रबन्धक का कार्य करना इत्यादि।

(8) **व्यापार तथा उद्योग के लिए सहायक**—व्यापार तथा उद्योगों के लिए बैंकों से ऋण प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त बैंक कम्पनियों के शेयर्स तथा ऋणपत्रों का अभिगोपन (underwriting) करते हैं। व्यापारियों को एक-दूसरे की आर्थिक स्थिति की जानकारी देते हैं तथा उनके ऋणों की गारण्टी देते हैं। आँकड़े व सूचनाएँ प्रकाशित करके देश की आर्थिक स्थिति की जानकारी भी देते हैं।

(9) **सरकार को सहायता**—बैंक केवल जनता को ही नहीं, सरकार को भी विभिन्न प्रकार से सहायता देते हैं। ये सरकारी ऋणों के विक्रय में बहुत सहायक होते हैं। कभी कभी ये सरकार की ओर से कर की वसूली एवं सरकारी भुगतानों का भी कार्य करते हैं। सार्वजनिक चन्दों आदि को इकट्ठा करके ये सकटकाल में सरकार की सहायता भी करते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बैंक आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

आधुनिक बैंकों के विविध रूप

वैसे तो बैंक के अनेक कार्य होते हैं, परन्तु प्रत्येक बैंक कहलाने वाली संस्था के कुछ प्रमुख कार्य भी होते हैं और इन्हीं के लिए उसकी स्थापना की जाती है। इनके निक्षेपों के स्वरूप तथा इनके द्वारा दिये जाने वाले ऋणों के उद्देश्य भी अलग-अलग होते हैं। उनके प्रमुख कार्यों तथा उद्देश्यों के आधार पर आधुनिक बैंकों के विभिन्न रूप निम्नलिखित हैं

(1) **व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)**—व्यापारिक बैंक सामान्य बैंकिंग के कार्य करते हैं तथा व्यापारिक उद्देश्यों के लिए अल्पकालीन ऋणों की व्यवस्था करते हैं। चूंकि इन बैंकों

के निक्षेप अधिकतर अल्पकालीन (demand deposits) ही होते हैं, इसलिए साधारणतः ये एक वर्ष से अधिक समय के लिए ऋण नहीं दे पाते हैं। भारत के अधिकांश मिश्रित पूंजी बैंक (Joint Stock Banks) स्टेट बैंक तथा अन्य राष्ट्रीयकृत बैंक व्यापारिक बैंक ही हैं। व्यापार सम्बन्धी ऋण प्रदान करने के अतिरिक्त बैंक जमा प्राप्त करने, चैकों का संग्रह व भुगतान करने तथा एजेन्सी सम्बन्धी अनेक कार्य करते हैं जिनका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं।

प्रो॰ चैण्डलर (Lester V Chandler) के अनुसार इन बैंकों को व्यापारिक बैंक कहना अनुचित तथा भ्रमात्मक है, और इनको किसी अन्य नाम से पुकारा जाना चाहिए।[1] व्यापारिक बैंक कहलाने वाली संस्थाओं के कार्यों का अब अधिक विस्तार हुआ है क्योंकि इनके द्वारा अब केवल व्यापार सम्बन्धी ऋण ही नहीं बल्कि औद्योगिक तथा अन्य कई प्रकार के ऋण भी दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे चैकों के भुगतान, बचत को प्रोत्साहन तथा अनेक प्रकार के एजेन्सी कार्यों के द्वारा अपने ग्राहकों की सेवा करते हैं। इन संस्थाओं की प्रमुख विशेषता तो यह है कि इनके द्वारा निर्मित साख मुद्रा के समान ही विनिमय-माध्यम के रूप में कार्य करती है। अब यह बैंक नोट तो नहीं छापते, परन्तु साख का निर्माण अपनी जमाओं के आधार पर करते हैं। यह कार्य अन्य किसी भी प्रकार का कोई बैंक नहीं कर पाता, यह इन्हीं की विशेषता है। इसलिए चैण्डलर के अनुसार इन्हें 'चैक निक्षेप बैंक' (Checking Deposit Banks) कहना अधिक उपयुक्त होगा। परन्तु इनका प्रचलित नाम व्यापारिक बैंक होने के कारण हम इनका यही नाम स्वीकार करना होगा।

(2) **औद्योगिक बैंक** (Industrial Banks)—उद्योगों के लिए मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था करने वाली संस्थाएँ औद्योगिक बैंक कहलाती हैं। अपने पास से ऋण देने के अतिरिक्त ये औद्योगिक फर्मों को उनके शेयर्स, ऋणपत्र तथा बौण्ड आदि बिकवा कर अथवा अभिगोपन (underwriting) द्वारा पूंजी प्राप्त करने में भी सहायक होते हैं। सामान्यतः औद्योगिक बैंकों के तीन प्रकार के कार्य होते हैं—प्रथम, दीर्घकालीन निक्षेप प्राप्त करना, द्वितीय, औद्योगिक कम्पनियों की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करना, तथा तृतीय, कुछ अन्य कार्य करना, जैसे औद्योगिक कम्पनियों के अंशों और ऋणपत्रों के क्रय विक्रय में सहायक होना तथा उनको विनियोग सम्बन्धी समस्याओं पर परामर्श देना, इत्यादि।

इंगलैण्ड तथा अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के काफी बैंक हैं। जर्मनी में मिश्रित बैंकिंग प्रणाली (mixed banking) है जिसके अन्तर्गत बैंक औद्योगिक ऋण प्रदान करने के अतिरिक्त व्यापारिक वित्त-व्यवस्था का भी कार्य करते हैं। भारत में औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corparation) तथा राज्य वित्त निगम (State Finance Corporation), औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank) आदि की स्थापना देश में औद्योगिक बैंकों के अभाव को दूर करने के लिए की गयी है।

(3) **विदेशी विनिमय बैंक** (Foreign Exchange Banks)—विदेशी मुद्रा में लेन-देन तथा विदेशी व्यापार के लिए वित्तीय व्यवस्था करने वाली संस्थाओं को विनिमय बैंक कहा जाता है। इस प्रकार के बैंकों को अपनी शाखाएँ अनेक देशों में स्थापित करनी पड़ती हैं। इन्हें काफी अधिक पूंजी तथा अपेक्षाकृत अधिक कुशल कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। आजकल विनिमय बैंक साधारण व्यापारिक बैंकों के समान बैंकों के अन्य कार्य भी करते हैं। इसके विपरीत, व्यापारिक बैंक भी विनिमय बैंकों के कार्य करते हैं। इसलिए इनका कोई अलग वर्ग नहीं है। प्रायः ऐसे बैंकों को जो अन्य बैंकिंग कार्यों के साथ-साथ विदेशी विनिमय का लेन-देन करते हैं, ही विनिमय बैंक कहा जाता है। भारत में विदेशी विनिमय व्यवसाय करने वाले बैंक अधिकतर विदेशी बैंकों की शाखाएँ मात्र हैं। कुछ थोड़े से भारतीय व्यापारिक बैंक विदेशी विनिमय का व्यवसाय करते हैं।

---

1 "*Though these institutions have long been* called commercial banks, the name is not accurately descriptive and may be misleading ... we should prefer to call these institutions checking deposit banks or some other name that would highlight their uniqueness among private financial institutions "—Lester V. Chandler *The Economics of Money and Banking*, 4th Edition, pp. 74-75

(4) कृषि-बैंक (Agricultural Banks)—कृषि की वित्त सम्बन्धी आवश्यकताएँ व्यापारिक तथा औद्योगिक आवश्यकताओं से भिन्न प्रकार की होती हैं। कृषक को बीज, खाद, औजार आदि खरीदने के लिए अल्पकालीन ऋण तथा भूमि में स्थायी सुधार के लिए दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता होती है। परन्तु चूँकि कृषक ऋण-प्राप्ति के लिए उस प्रकार की जमानत नहीं दे पाता जिसे व्यापारिक तथा औद्योगिक बैंक चाहते हैं, अतएव उसके लिए अलग प्रकार के बैंकों की व्यवस्था करनी पड़ती है। जापान, जर्मनी, अमेरिका आदि देशों में अनेक नामों से कृषि बैंकों की स्थापना की गयी है। भारत में सरकार तथा केन्द्रीय बैंक इसके लिए प्रयत्नशील हैं कि देश में व्यापारिक बैंक कृषि-वित्त की व्यवस्था करें। कृषि-बैंक मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं—सहकारी बैंक तथा भूमि-बन्धक बैंक।

सहकारी बैंक (Co-operative Banks)—इनका प्रारम्भ सर्वप्रथम जर्मनी में हुआ था। भारत में इनका प्रारम्भ सन् 1904 के 'सहकारी साख समिति एक्ट' से हुआ और समय-समय पर इनके संगठन में परिवर्तन होता रहा है। कृषक प्रारम्भिक समितियों (primary societies) के सदस्य होते हैं, जो सदस्यों को शेयर्स बेचकर तथा जमा स्वीकार करके पूँजी इकट्ठा करती हैं। इनकी देखभाल तथा सहायता के लिए केन्द्रीय तथा राज्य समितियों का संगठन किया जाता है, जो प्रारम्भिक समितियों को ऋण प्रदान करती हैं। सहकारी बैंक सदस्यों को अल्पकालीन ऋण प्रदान करते हैं। भारत में वर्तमान प्रवृत्ति सेवा समितियों (service co-operatives) के संगठन की है जो साख के अतिरिक्त कृषि के विकास से सम्बन्धित अन्य कार्य भी करती हैं।

भूमि बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks)—ये ऐसी सहकारी, अर्द्ध सहकारी अथवा गैर-सहकारी संस्थाएँ हैं जो भूमि को बन्धक रखकर भूमि के स्थायी सुधार के लिए दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं। इनकी स्थापना सर्वप्रथम 1882 में फ्रांस में हुई, कालान्तर में इन्हें दूसरे देशों में भी स्थापित किया गया। अधिकांश देशों में ये बैंक मिश्रित पूँजी वाले बैंक होते हैं। ये अपनी अधिकांश कार्यशील पूँजी अंशों, ऋणपत्रों तथा दीर्घकालीन निक्षेपों एवं ऋणों द्वारा प्राप्त करते हैं। भारत में इनके प्रोत्साहन के लिए एक कृषि-पुनर्वित्त निगम (Agricultural Refinance Corporation) की भी स्थापना की गयी है।

(5) देशी बैंकर (Indigenous Banker)—आधुनिक बैंकों के विविध रूपों के अतिरिक्त भारत में देशी बैंकर्स का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इनको महाजन, साहूकार, सर्राफ आदि नामों से भी पुकारा जाता है। भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार, "देशी बैंकर अथवा बैंक वह व्यक्ति अथवा व्यक्तिगत फर्म है जो जमा स्वीकार करने, हुण्डियों में व्यवसाय करने अथवा ऋण देने का कार्य करती है। ये देश के हर भाग में पाये जाते हैं तथा कृषि एवं व्यापार की अधिकतर वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। ये अन्य बैंकों से भिन्न होते हैं, क्योंकि इनके निक्षेप नहीं अथवा बहुत ही कम होते हैं। ये अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋणों तथा ऋण के उद्देश्यों में भेद नहीं करते, बैंकिंग के साथ अन्य व्यापार अथवा व्यवसाय भी करते हैं तथा बहुत ऊँची ब्याज दर रखते हैं। भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अनुसार इनको बैंक अथवा बैंकर नहीं माना गया है, और न ही इन पर अधिनियम की व्यवस्थाएँ लागू होती हैं, परन्तु वर्तमान भारतीय व्यवस्था में इनके महत्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

(6) बचत बैंक (Savings Banks)—पाश्चात्य देशों में कम अथवा निश्चित आय वाले लोगों द्वारा बचत को प्रोत्साहन देने के लिए बचत बैंक स्थापित किये जाते हैं, जो प्रायः व्यापारिक बैंकों के सहायक बैंक के रूप में कार्य करते हैं। भारत में व्यापारिक बैंक ही बचत खाता का संचालन करते हैं और अलग से बचत बैंक स्थापित नहीं किये जाते।

इंगलैण्ड तथा भारत में डाकखाने भी लोगों की बचत जमा के रूप में स्वीकार करते हैं तथा उस पर ब्याज देते हैं। जमाकर्ता सप्ताह में एक या दो बार रुपया निकलवा सकता है। इस प्रकार डाकखाने बचत बैंक का कार्य करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ व्यापारिक बैंक नहीं हैं, पोस्ट ऑफिस सेविंग्स बैंक काफी महत्वपूर्ण हैं।

(7) केन्द्रीय बैंक (Central Bank)—प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक होता है जो उस

पत्र मुद्रा का निर्गमन करने के साथ-साथ मुद्रा तथा साख की मात्रा पर नियन्त्रण रखता है। यह सरकार का बैंकर होता है और सरकार के सभी खातों का हिसाब-किताब रखता है तथा सरकार को ऋण देता है। यह बैंकों का बैंक भी होता है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर वे इससे ऋण लेते हैं तथा अपनी जमाओं का एक निश्चित अनुपात इसके पास जमा रखते हैं। अन्य बैंक केन्द्रीय बैंक के आदेशों का पालन करते हैं और यह देश की समूची बैंकिंग प्रणाली पर अपना नियन्त्रण रखता है। केन्द्रीय बैंक सरकार को आर्थिक तथा मौद्रिक विषयों पर परामर्श देता है तथा देश की आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित आँकड़ों को इकट्ठा करता है और प्रकाशित करता है।

व्यापारिक बैंकों की संगठन-प्रणालियाँ

संगठन के दृष्टिकोण से व्यापारिक बैंकों को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है—(1) शाखा बैंकिंग (Branch Banking), तथा (2) इकाई बैंकिंग (Unit Banking)।

1 शाखा बैंकिंग (Branch Banking)

शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत बैंक के एक प्रधान कार्यालय के अतिरिक्त उसकी अनेक शाखाएँ देश भर में फैली होती हैं और कभी-कभी कुछ शाखाएँ देश से बाहर भी होती हैं। इंगलैण्ड, जर्मनी, कनाडा, फ्रांस, आस्ट्रेलिया आदि देशों में इसी प्रकार की बैंकिंग व्यवस्था है। इंगलैण्ड के 'महान् पाँच' (Big Five) बैंकों—मिडलैण्ड, लॉयड्स, बर्कलेस, वेस्ट मिन्स्टर तथा नेशनल प्राविंशियल—की शाखाएँ देश भर में फैली हुई हैं तथा इन्होंने इंगलैण्ड की अधिकांश बैंकिंग संस्थाओं पर अपना आधिपत्य स्थापित कर रखा है। भारत में भी व्यापारिक बैंकों की शाखाएँ देश भर में फैली हुई हैं। अमेरिका में शाखा बैंकिंग का आरम्भ 1909 में कैलीफोर्निया में एक अधिनियम के अन्तर्गत हुआ था और इसके पश्चात इसकी उन्नति हुई है।

शाखा बैंकिंग प्रणाली के गुण

(1) **बड़े पैमाने के व्यवसाय तथा श्रम-विभाजन के लाभ**—एक ही बैंक का विशाल संगठन होने के कारण उसके व्यापार की मात्रा अधिक होती है। अनेक शाखाएँ होने के कारण अधिक मात्रा में निक्षेप प्राप्त किये जा सकते हैं, तथा पूँजी का बड़े पैमाने पर लाभदायक विनियोग सम्भव होता है। कार्य का संचालन करने के लिए ये बैंक ऊँचे वेतन पर योग्य विशेषज्ञ रख सकते हैं। समस्त कार्य का वैज्ञानिक पद्धति से विभाजन कर श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण का उपयोग सम्भव होता है जिसके फलस्वरूप कम लागत पर अधिक कार्यक्षमता प्राप्त की जा सकती है।

(2) **नकद-कोषों में बचत**—शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न शाखाओं पर कम मात्रा में नकद कोष रखकर काम चलाया जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर एक शाखा से दूसरी शाखा को नकदी का हस्तान्तरण किया जा सकता है। शाखाएँ न होने पर बैंक के लिए बड़ी मात्रा में नकद कोष रखना आवश्यक होता है।

(3) **सस्ता एवं सुगम मुद्रा का स्थानान्तरण**—इस प्रणाली में कम व्यय पर सुविधापूर्वक मुद्रा का स्थानान्तरण (remittance) सम्भव होता है, क्योंकि अनेक स्थानों पर शाखाएँ होने के कारण एक शाखा से दूसरी शाखा को धन भेजने में न तो कोई असुविधा ही होती है और न अधिक खर्च होता है। केवल पत्र के द्वारा ही स्थानान्तरण हो जाता है। विभिन्न क्षेत्रों में ब्याज की दर भी समान बनी रहती है, क्योंकि एक स्थान पर ब्याज अधिक होने से वहाँ अधिक धन आने लगता है और कम होने से पूर्ति कम हो जाती है।

(4) **व्यावसायिक जोखिम का भौगोलिक वितरण**—बैंक की शाखाएँ देश भर में फैली होने के कारण जोखिम का भौगोलिक आधार पर वितरण हो जाता है। देश के विभिन्न भागों में स्थापित अलग-अलग उद्योगों तथा व्यवसायों में बैंक विनियोग करता है तथा इससे एक क्षेत्र अथवा व्यवसाय में होने वाली हानि की क्षतिपूर्ति दूसरे क्षेत्र तथा व्यवसाय से प्राप्त लाभ से हो जाती है। यही कारण है कि महान् मन्दी के काल में इंगलैण्ड के बैंक उतने अधिक प्रभावित नहीं हुए, जितना प्रभाव अमेरिका के इकाई बैंकों पर पड़ा।

(5) **बैंकिंग सेवाओं का विस्तार**—शाखा बैंकिंग के द्वारा देश के उन सभी छोटे व बड़े नगरों को जहाँ एक स्वतन्त्र बैंक की स्थापना करना सम्भव नहीं होता है, बैंकिंग सेवाएँ प्राप्त हो जाती हैं।

(6) **साधनों का कुशल विनियोग**—ऐसे बैंकों के पास पर्याप्त साधन तथा योग्य कर्मचारियों के कारण बैंक केवल अच्छी प्रतिभूतियों में ही धन का विनियोग करते हैं। बैंक को विनियोग के लिए एक विस्तृत क्षेत्र मिलता है और पूंजी उन शाखाओं को भेज दी जाती है जहां विनियोग से अधिकाधिक लाभ उठाया जा सकता है। इससे बैंकों के लाभ में वृद्धि के साथ-साथ राष्ट्रीय उत्पादन में भी वृद्धि होती है।

(7) **कर्मचारियों का प्रशिक्षण**—बैंकिंग का विस्तृत क्षेत्र तथा विविध कार्य होने के कारण बैंक कर्मचारियों को सभी प्रकार के बैंकिंग व्यवसाय का अनुभव प्राप्त होता है। बैंक अपने कर्मचारियों को ट्रेनिंग देने की विशेष व्यवस्था करते हैं।

(8) **देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान**—देश के सभी भागों से सम्पर्क होने के कारण इन बैंकों को देश के सभी क्षेत्रों की सही आर्थिक स्थिति की जानकारी प्राप्त होती रहती है जिससे बैंक को पूंजी का विनियोग करने की सुविधा रहती है।

शाखा बैंकिंग प्रणाली के दोष

(1) **प्रबन्ध, निरीक्षण तथा नियन्त्रण की कठिनाइयाँ**—सभी शाखाओं का प्रबन्ध केन्द्रीय कार्यालय द्वारा होता है। विस्तृत कार्य क्षेत्र तथा विशालकाय संगठन होने के कारण इस प्रणाली में कुशल प्रबन्धन, उपयुक्त निरीक्षण तथा नियन्त्रण के अभाव की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(2) **एकाधिकार को प्रोत्साहन**—पूंजी का अत्यधिक केन्द्रीकरण होने से आर्थिक सत्ता थोड़े-से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है जिससे एकाधिकार की प्रवृत्ति को अनावश्यक प्रश्रय मिलता है। इससे समाज को बहुत हानि होती है।

(3) **व्ययपूर्ण प्रणाली**—शाखा बैंकिंग प्रणाली काफी खर्चीली होती है क्योंकि प्रत्येक शाखा की स्थापना पर अलग अलग व्यय करना पड़ता है। शाखाओं की संख्या अधिक होने पर समन्वय, नियन्त्रण तथा निरीक्षण आदि पर भी काफी व्यय करना पड़ता है।

(4) **छोटे व्यापारियों की उपेक्षा**—छोटे-छोटे व्यापारियों का धन इकट्ठा करके बड़े व्यापारियों को दिया जाता है, क्योंकि एक तो इन बैंकों के संगठन में बड़े व्यापारियों का महत्वपूर्ण हाथ होता है और दूसरे बड़े व्यापारियों को ऋण देना अधिक सुरक्षित तथा लाभदायक समझा जाता है।

(5) **प्रतियोगी विकास को प्रोत्साहन**—प्रत्येक नगर तथा क्षेत्र में सभी प्रमुख बैंकों की अलग-अलग शाखाएँ होती हैं जिनके बीच प्रतियोगिता की सम्भावना रहती है। बैंकिंग सुविधाओं का अनावश्यक दोहरापन होता है तथा छोटे बैंकों के साथ हानिकर प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ होती है।

(6) **दुर्बल शाखाएँ**—शाखा बैंकिंग प्रणाली में दुर्बल तथा हानिप्रद शाखाएँ भी सुदृढ़ तथा लाभदायक शाखाओं के बल पर जीवित बनी रहती हैं। यह बैंकों के लिए बहुत अहितकर होता है, क्योंकि यदि बैंक की कुछ शाखाओं में हानि होती है तो उसका प्रभाव सारी शाखाओं पर पड़ता है।

(7) **लोच एवं पहल की प्रेरणा का अभाव**—शाखाओं को प्रधान कार्यालय के आदेशों का पालन करना होता है जिसके कारण स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार शाखाओं के मैनेजर स्वतन्त्र निर्णय नहीं ले पाते, फलस्वरूप कार्य में लोच का अभाव रहता है। चूंकि प्रत्येक कार्य प्रधान कार्यालय से पूछकर करना पड़ता है, इसलिए इसमें पहल की प्रेरणा का अभाव (lack of initiative) पाया जाता है।

(8) **पिछड़े क्षेत्रों के विकास में बाधा**—देश के सभी क्षेत्रों में शाखाएँ होने के कारण छोटे तथा पिछड़े स्थानों से पूंजी एकत्रित होकर बड़े-बड़े औद्योगिक तथा व्यावसायिक केन्द्रों में पहुँच जाती है, क्योंकि बैंक पूंजी का विनियोग वहां करना अधिक लाभपूर्ण समझते हैं। इससे पिछड़े

क्षेत्रों का विकास नहीं हो पाता, क्योंकि वे विकास के लिए स्वयं अपनी बचतों के प्रयोग से भी वंचित रह जाते हैं।

(9) *विदेशों में कठिनाइयाँ*—विदेशों में शाखाएँ स्थापित करने से अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है क्योंकि विदेशों में बैंकिंग कानून, व्यापारिक परिस्थितियाँ तथा मौद्रिक नीतियाँ अलग-अलग होती हैं। विदेशों में इन शाखाओं के राष्ट्रीयकरण का भय भी सदैव बना रहता है।

इस प्रकार, शाखा बैंकिंग प्रणाली के अनेक गुण होते हुए भी एक सीमा के भीतर ही रहना पड़ता है, क्योंकि सीमा का उल्लंघन करने में व्यापक हानियाँ होती हैं। शाखाओं का अन्धाधुन्ध विस्तार करने से बैंकिंग व्यवस्था में दोष उत्पन्न होने लगते हैं।

2 इकाई बैंकिंग (Unit Banking)

इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत एक बैंक का कार्य साधारणतया एक ही कार्यालय तक सीमित रहता है, यद्यपि एक सीमित क्षेत्र में ये बैंक अपनी कुछ शाखाएँ भी स्थापित कर लेते हैं। केण्ट के शब्दों में, "इकाई बैंकिंग प्रणाली में प्रत्येक स्थानीय बैंकिंग संस्था एक पृथक निगम होती है जिसका पृथक पंजीकरण होता है, और जिनकी स्वयं की अपनी पूँजी, सचालक मण्डल तथा स्कन्धधारी होते हैं।" इस प्रकार की प्रणाली अमेरिका में बहुत प्रचलित है जहाँ हजारों छोटे-छोटे बैंक हैं, जिनका बस एक ही कार्यालय होता है। शाखा बैंकों की तुलना में इकाई बैंकों की पूँजी तथा व्यवसाय काफी सीमित होते हैं। इकाई बैंकिंग प्रणाली इस विचारधारा पर आधारित है कि एक बैंक का प्रारम्भ स्थानीय व्यक्तियों द्वारा ही होना चाहिए। इस प्रकार इस प्रणाली में बैंक के कार्य का स्थानीय आर्थिक व सामाजिक सगठन के साथ एकीकरण होता है। प्रत्येक स्थानीय बैंक एक अलग संस्था के रूप में अपने क्षेत्र के व्यापारियों, उद्योगपतियों तथा कृषकों से सम्बन्धित होता है।

चूँकि एक बैंक की अपनी शाखाएँ एक सीमित क्षेत्र के बाहर नहीं होतीं, इसलिए धन के स्थानान्तरण तथा अन्य कार्यों के लिए विभिन्न बैंकों के बीच आपसी समझौता किया जाता है, जिसके अन्तर्गत एक बैंक दूसरे बैंक का प्रतिनिधित्व करता है। ये बैंक अपने नकद-कोष अन्य बड़े बैंकों में जमा करा देते हैं तथा उनके द्वारा देश के एक भाग से दूसरे भाग को धन का हस्तान्तरण करते हैं। इन बैंकों को 'सचार बैंक' (Correspondent Banks) कहा जाता है।

इकाई बैंकिंग के गुण

(1) **प्रबन्ध, निरीक्षण तथा नियन्त्रण में सुविधा**—बैंक का व्यवसाय छोटे पैमाने पर सीमित क्षेत्र में होने के कारण प्रबन्ध, निरीक्षण तथा नियन्त्रण की कठिनाइयाँ उत्पन्न नहीं होतीं।

(2) **स्थानीय आवश्यकताओं पर आधारित**—इस प्रणाली में स्थानीय बैंकिंग आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा जाता है तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार ही बैंक के नियम बनाए जाते हैं। स्थानीय जनसमस्या से प्रत्यक्ष तथा व्यक्तिगत सम्पर्क एवं स्थानीय प्रबन्ध होने के कारण बैंक का सचालन तथा इसकी कार्यविधि स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल होती है।

(3) **अकुशल बैंकों की समाप्ति**—इकाई बैंकिंग प्रणाली में केवल कुशल बैंक ही जीवित रह सकते हैं। शाखा प्रणाली में तो दुर्बल शाखाएँ कुशल शाखाओं के बल पर जीवित बनी रहती हैं, परन्तु इकाई प्रणाली में अकुशल बैंक समाप्त हो जाता है जो मुद्रा-बाजार के लिए हितकर होता है।

(4) **एकाधिकार के विकास पर रोक**—बैंक छोटे-छोटे एवं स्थानीय होने के कारण यह भय नहीं रहता कि अर्थ-व्यवस्था में कुछ बैंकों का एकाधिकार हो जायगा।

(5) **कार्य-कुशलता में वृद्धि**—प्रबन्ध स्थानीय होने के कारण बैंक के कार्यों में सम्बन्धित शीघ्र निर्णय लिया जा सकता है, जिसमें विलम्ब नहीं होता। इस प्रकार की व्यवस्था में नौकरशाही (bureaucracy) तथा दीर्घसूत्रता (red tapism) का अभाव रहता है।

(6) **व्यवसाय के पहल की प्रेरणा**—स्थानीय प्रबन्ध तथा स्थानीय परिस्थितियों की जानकारी के कारण बैंकों में पहल की प्रेरणा (initiative) रहती है। इससे बैंकिंग व्यवस्था में लोच का अंश उत्पन्न होता है।

(7) **मुक्त उद्यम सिद्धान्त के अनुकूल**—इकाई बैंकिंग प्रणाली मुक्त उद्यम (free enterprise) सिद्धान्त पर आधारित है।

इकाई बैंकिंग के दोष

(1) **सीमित साधन**—बैंकों का छोटा आकार तथा सीमित क्षेत्र होने के कारण उनके साधन भी सीमित रहते हैं तथा बड़े-बड़े व्यापारियों तथा उद्योगों की आवश्यकताओं को ये बैंक पूरा नहीं कर पाते, जिससे आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न होती है।

(2) **श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण का अभाव**—व्यवसाय का पैमाना छोटा होने के कारण बैंक में प्रबन्ध-कुशलता, विशिष्टीकरण तथा कार्यविधियों में सम्बन्धित सुधार करना कठिन होता है।

(3) **जोखिम के भौगोलिक वितरण का अभाव**—बैंक का कार्य-क्षेत्र स्थानीय होने के कारण जोखिम का भौगोलिक वितरण नहीं होता जिसके परिणामस्वरूप बैंक की स्थिरता कम होती है तथा स्थानीय मन्दी अथवा अन्य कठिनाइयां उत्पन्न होने पर बैंकों के विफल होने का भय बना रहता है।

(4) **बैंकिंग कार्य में अधिक व्यय**—बैंक की शाखाएँ न होने के कारण नकदी को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना कठिन तथा व्ययपूर्ण होता है। सवाद बैंकों की सहायता से भी नकदी का स्थानान्तरण अधिक व्ययपूर्ण होता है।

(5) **ब्याज-दर में असमानता**—मुद्रा का स्थानान्तरण (remittance) कठिन तथा व्ययपूर्ण होने के कारण देश के सभी भागों में ब्याज की दर में समानता नहीं पाई जाती है।

(6) **बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार में कठिनाई**—इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत छोटे तथा पिछड़े हुए स्थानों में बैंकों का विस्तार नहीं किया जा सकता क्योंकि केवल बड़े शहरों में ही स्वतन्त्र बैंक स्थापित किये जाते हैं।

(7) **सरकारी नियन्त्रण में असुविधा**—इकाई बैंकिंग प्रणाली में सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंकों का नियन्त्रण तथा निरीक्षण असुविधाजनक होता है। प्रत्येक बैंक पर अलग-अलग निगरानी रखना बड़ा कठिन कार्य है।

केण्ट (Raymond P Kent) के अनुसार, "हमारी इकाई बैंकिंग व्यवस्था में बराबर की असफलताएँ ऐसे सहस्रों बैंकों को, जिनमें बहुतों के पास कार्य करने के लिए न पर्याप्त साधन हैं और न व्यावसायिक अवसर, बनाये रखने के औचित्य पर गम्भीर प्रश्न चिह्न है।"

इकाई बैंकिंग प्रणाली में सुधार

इकाई बैंकिंग के विभिन्न दोषों को दूर करने के लिए निम्नलिखित प्रयास किये गये हैं

(1) **शृंखलाकारी तथा वर्गीय बैंकिंग का विकास**—वर्तमान शताब्दी में अमेरिका में शृंखलाकारी बैंकिंग (Chain Banking) तथा वर्गीय बैंकिंग (Group Banking) प्रणालियों के विकास की ओर ध्यान दिया गया है। शृंखलाकारी बैंकिंग के अन्तर्गत दो अथवा अधिक बैंकों पर एक ही व्यक्ति अथवा वर्ग का प्रभुत्व होता है। वर्गीय बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत दो अथवा अधिक बैंकों का प्रबन्धन एक प्रमण्डल अथवा ट्रस्ट द्वारा होता है। इन प्रणालियों में शाखा तथा इकाई बैंकिंग प्रणालियों के लाभ विद्यमान होते हैं, क्योंकि प्रत्येक बैंक अलग-अलग होने पर भी स्वामित्व की एकता के कारण उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। 1930 ई० की महान् मन्दी के पूर्व इन प्रणालियों का तेजी से विकास हो रहा था तथा इनके सदस्य बैंकों की संख्या निरन्तर बढ़ रही थी। परन्तु मन्दी काल में अनेक शृंखला कम्पनियों तथा बैंकिंग गुटों के विफल होने के कारण बाद के वर्षों में इनका धीरे-धीरे पतन होता रहा है।

(2) **सीमित क्षेत्र में शाखाओं का विस्तार**—कुछ बैंकों को सीमित क्षेत्र के भीतर शाखाएँ खोलने का अधिकार दिया गया है। सन् 1960 में शाखाओं वाले बैंकों की संख्या 2,164 थी तथा इनकी कुल शाखाएँ 7,259 थीं जबकि 1950 में 751 बैंक ही शाखाओं वाले थे तथा उनकी शाखाओं की कुल संख्या 3,522 थी।

(3) **कॉरेसपोण्डेण्ट बैंकों की स्थापना**—ये बैंक बड़े नगरों में होते हैं और इनमें ग्रामीण क्षेत्रों के तथा छोटे बैंक अपने खाते खोलते हैं और नकद-कोष जमा कराते हैं। इन सामान्य (common) बैंकों के द्वारा बैंकों के बीच रकम का लेन-देन आसान हो जाता है। ये बड़े बैंक छोटे बैंकों के फालतू धन को उपयोगी कार्यों में लगाते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर ऋण देकर उनकी आर्थिक सहायता भी करते हैं। वे छोटे बैंकों को व्यावसायिक मामलों पर परामर्श भी देते हैं।

उपर्युक्त सुधारों के परिणामस्वरूप इकाई प्रणाली वाले बैंकों को भी शाखा प्रणाली के कुछ गुण प्राप्त हो जाते हैं।

शाखा बैंकिंग श्रेष्ठ है अथवा इकाई बैंकिंग ?

दोनों प्रणालियों के गुणों तथा दोषों का विवेचन करने के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ही में अच्छाइयाँ भी हैं और बुराइयाँ भी, इसलिए किसी एक प्रणाली के पक्ष में निर्णय देना कठिन है। प्रो० टामस ने शाखा बैंकिंग तथा इकाई बैंकिंग प्रणालियों की तुलना करते हुए लिखा है, "यद्यपि दोनों प्रणालियाँ अपूर्ण हैं परन्तु दोनों की कार्य-पद्धति को देखने से यह ज्ञात होता है कि शाखा बैंकिंग प्रणाली अधिक श्रेष्ठ है।" अमेरिका की अपनी विशेष परिस्थितियों में प्रत्येक भाग में पर्याप्त पूंजी तथा अन्य साधन उपलब्ध होने के कारण इकाई बैंकिंग ठीक हो सकती है, परन्तु वहाँ भी सभी मुद्राशास्त्री इकाई बैंकिंग की उपयुक्तता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं तथा इस प्रणाली के स्थान पर धीरे-धीरे शाखा बैंकिंग को अपनाया जा रहा है। सन् 1930 की महान् मन्दी ने यह सिद्ध कर दिया है कि सकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए इकाई बैंकिंग की अपेक्षा शाखा बैंकिंग ही अधिक उपयुक्त है।

भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश में जहाँ पूंजी की कमी है, जनता की आय कम है, बैंकिंग प्रणाली का विशेष विकास नहीं हुआ तथा देश में अधिकतर पिछड़े हुए और ग्रामीण क्षेत्र हैं, शाखा बैंकिंग प्रणाली विशेष रूप से लाभदायक है। परन्तु शाखा प्रणाली के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार प्रत्येक शाखा अपनी नीति तथा कार्य प्रणाली में परिवर्तन करे जिससे व्यवसाय की उन्नति हो तथा बैंकिंग व्यवस्था में लोच उत्पन्न हो सके।

भारत ने प्रारम्भ में ही शाखा बैंकिंग को अपनाया है और ऐसा करने के कुछ कारण भी रहे हैं। आधुनिक प्रकार के बैंकों की संख्या कम होने के कारण देश के विभिन्न भागों में बैंकिंग की सुविधाएँ बढ़ाने का एकमात्र उपाय शाखाओं को स्थापित करना था। साधनों की कमी के कारण प्रत्येक शहर में अलग से स्वतन्त्र बैंक नहीं बनाये जा सकते थे। देश की विशालता एवं पिछड़ेपन को देखते हुए यह प्रणाली देश के लिए लाभदायक सिद्ध हुई है, तथा भारत में बैंकों की शाखाएँ तेजी से बढ़ रही हैं। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ग्रामीण क्षेत्रों में भी शाखाएँ स्थापित कर रहा है।

श्रेष्ठ बैंकिंग प्रणाली की विशेषताएँ

आधुनिक युग में किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए एक अच्छी बैंकिंग व्यवस्था का होना आवश्यक है। हम पहले देख चुके हैं कि आर्थिक विकास के लिए बैंकों से अनेक प्रकार की सहायता मिलती है। बचत को प्रोत्साहित कर तथा निष्क्रिय बचतों को एकत्र कर बैंक पूंजी-निर्माण की मात्रा को बढ़ाते हैं। पूंजी के अभाव में बैंक साख के निर्माण द्वारा औद्योगिक तथा व्यापारिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। अतएव एक श्रेष्ठ बैंकिंग प्रणाली का होना अति आवश्यक है। एक श्रेष्ठ बैंकिंग प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

1. एक श्रेष्ठ बैंकिंग प्रणाली के लिए देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल होना आवश्यक है। कुछ देश विकसित हैं तो कुछ अर्द्ध-विकसित, कुछ उद्योग-प्रधान हैं तो कुछ कृषि-प्रधान और कुछ के लिए विदेशी व्यापार ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यदि बैंकिंग प्रणाली देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल होती है तो आर्थिक विकास में यह अधिक सहयोग दे सकती है।

2 देश के सभी वर्गों द्वारा बचत को प्रोत्साहन देना तथा एकत्र करना अच्छी बैंकिंग प्रणाली का सबसे बड़ा उद्देश्य होना चाहिए। विभिन्न प्रकार के खातों की सुविधा देकर जब छोटी छोटी निष्क्रिय बचतें एकत्र करके विनियोग के लिए दी जाती हैं तो ये सक्रिय पूँजी बन जाती हैं जिससे औद्योगिक तथा व्यापारिक विकास में सहायता मिलती है।

3 साख के विस्तार में पर्याप्त लोच होते हुए भी उसकी मात्रा पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। मुद्रा के समान साख भी व्यापार के लिए एक बहुत बड़ा वरदान है, परन्तु नियन्त्रण के बाहर होने पर यह आर्थिक संकट का एक बहुत बड़ा कारण भी बन जाती है। साख का विस्तार अर्थ-व्यवस्था की मौद्रिक आवश्यकताओं के अनुकूल ही होना चाहिए ताकि विकास के साथ-साथ स्थिरता को भी बनाये रखा जा सके।

4 बैंकिंग प्रणाली समन्वित होनी चाहिए। विभिन्न बैंकों में न तो कहीं अनावश्यक प्रतियोगिता हो और न कहीं बैंकिंग सुविधाओं का नितान्त अभाव हो। बैंकिंग व्यवस्था में उचित समन्वय होना आवश्यक होता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 बैंक की परिभाषा दीजिए तथा उसके कार्यों की व्याख्या कीजिए।

[संकेत—प्रथम भाग में बैंक की विभिन्न परिभाषाओं का उल्लेख कीजिए तथा यह बताइए कि बैंक मुद्रा एवं साख का व्यवसाय करने वाली संस्था है। दूसरे भाग में बैंक के विभिन्न कार्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

2 'बैंक जमा प्राप्त करने तथा उसे लौटाने वाली संस्था है', इस कथन की व्याख्या कीजिए।

[संकेत—बैंक के कार्यों पर आधारित बैंक की परिभाषा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए तथा यह स्पष्ट कीजिए कि बैंक साख तथा मुद्रा का व्यवसाय करने वाली संस्था है। बैंक के विभिन्न कार्यों का उल्लेख कीजिए।]

3 "बैंक आधुनिक व्यापार तथा उद्योग की आधारशिला है", व्याख्या कीजिए।

[संकेत—बैंकों के महत्व का विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए।]

4 "बैंक केवल मुद्रा-व्यापारी ही नहीं, वे एक महत्वपूर्ण अर्थ में मुद्रा उत्पादक भी हैं।" (सेयर्स) आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

[संकेत—सेयर्स के उद्धरण की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कीजिए कि बैंकों का कार्य केवल मुद्रा का लेन-देन ही नहीं, बल्कि वे साख का निर्माण भी करते हैं। यह भी बताइए कि बैंक साख का निर्माण किस प्रकार करते हैं। इसकी व्याख्या अध्याय 10 में की गई है।

5 बैंकों के विभिन्न प्रकारों तथा उनके कार्यों का वर्णन कीजिए।

[संकेत—विभिन्न प्रकार के बैंकों की व्याख्या करते हुए उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों का विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए।]

6 इकाई एवं शाखा बैंकिंग प्रणालियों के सापेक्षिक गुण दोषों का विवेचन कीजिए।

[संकेत—शाखा बैंकिंग तथा इकाई बैंकिंग के अर्थ समझाइए तथा दोनों के गुण दोषों की अलग-अलग व्याख्या कीजिए। यह स्पष्ट कीजिए कि दोनों में तुलनात्मक रूप में शाखा प्रणाली ही श्रेष्ठ है।]

7 शाखा बैंकिंग तथा इकाई बैंकिंग से क्या अभिप्राय है? भारत के लिए इनमें से कौनसी प्रणाली अधिक उपयुक्त है?

[संकेत—शाखा बैंकिंग तथा इकाई बैंकिंग के अर्थों की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए तथा सापेक्षिक गुण-दोषों के आधार पर यह बताइए कि भारत के लिए शाखा प्रणाली ही अधिक उपयुक्त है। इस सम्बन्ध में भारत की विशेष परिस्थितियों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।]

13

बैंक की कार्य-प्रणाली तथा स्थिति-विवरण

[BANKING OPERATIONS AND BALANCE SHEET]

"साहस व्यापार का जीवन है, परन्तु सावधानी, न कि भीरुता, आधुनिक बैंकिंग का सार है।"[1]
—बैजहॉट

बैंक का प्रमुख कार्य साख तथा मुद्रा का लेन-देन है। बैंक की कार्य-प्रणाली को समझने के लिए आवश्यक है कि हम यह देखें कि बैंक किस प्रकार पूंजी की व्यवस्था करते है, और किस प्रकार उसका बैंकों द्वारा लाभकारी विनियोग किया जाता है।

बैंक की पूंजी के साधन

बैंक द्वारा पूंजी प्राप्त करने के सामान्यत निम्नलिखित साधन है

(1) **अंश पूंजी (Share Capital)**—आधुनिक बैंको का सगठन प्राय. सयुक्त पूंजी कम्पनियो (Joint Stock Companies) के रूप मे किया जाता है, इसलिए ये अन्य कम्पनियो के समान अश (shares) बेचकर पूंजी प्राप्त करते है। बैंक का सचालक मण्डल यह निश्चित करता है कि बैंक की अधिकृत पूंजी (authorised capital) कितनी होगी। अधिकृत पूंजी का कुछ भाग निश्चित मूल्य के अश बाजार मे बेचकर प्राप्त किया जाता है। जितनी रकम के अश बाजार मे बेचने का निर्णय किया जाता है उसे बैंक की जारी पूंजी (issued capital) कहते है, तथा इसमे से जो भाग जनता वास्तव मे खरीदती है वह स्वीकृत पूंजी (subscribed capital) कहलाता है। स्वीकृत पूंजी का वह भाग जिसे जनता वास्तव मे चुकाती है, प्रदत्त पूंजी (paid-up capital) कहलाता है। स्वीकृत अशो की पूरी रकम की माँग तत्काल करने से स्वीकृत तथा प्रदत्त पूंजी मे अन्तर समाप्त हो जाता है। बैंक की वास्तविक पूंजी उसकी चुकता अथवा प्रदत्त पूंजी ही होती है। भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट, 1949 के अनुसार बैंक की स्वीकृत पूंजी उसकी अधिकृत पूंजी के आधे से कम नही होनी चाहिए और, इसी प्रकार, प्रदत्त पूंजी स्वीकृत पूंजी के आधे से कम नही होनी चाहिए।

(2) **निक्षेप अथवा जमा धन (Deposits)**—बैंको द्वारा पूंजी प्राप्त करने का दूसरा साधन जनता से निक्षेप प्राप्त करना है। सभी बैंक विभिन्न प्रकार के खातो मे अलग-अलग नियमो के अन्तर्गत लोगो की रकम जमा करते है। जैसा पहले बताया जा चुका है, सभी बैंक स्थायी जमा खाते, बचत खाते तथा चालू खाते खोलने की व्यवस्था करते हैं। अच्छे बैंको के पास निक्षेपो के रूप मे पर्याप्त पूंजी एकत्र हो जाती है।

(3) **ऋण (Loans)**—वैसे तो जनता से प्राप्त निक्षेप ही बैंक के ऋण होते है, क्योकि उनकी अदायगी का दायित्व बैंक पर होता है, परन्तु असाधारण परिस्थितियो मे बैंक अन्य बैंको, केन्द्रीय बैंक, सरकार या वित्तीय सस्थाओ से भी ऋण लेते है। इस प्रकार के ऋणो की आवश्यकता प्राय तब होती है जब निक्षेपधारी इतनी अधिक नकदी

---

1 "Adventure is the life of Commerce, but caution, if not timidity, is essence of modern banking."—Bagehot

की माँग करने लगते हैं कि बैंक उसे अपने साधनों से पूरा नहीं कर पाता। ऐसे ऋण अल्पकालीन होते हैं तथा मौसमी माँग में वृद्धि से उत्पन्न स्थिति सामान्य होने पर लौटा दिये जाते हैं।

(4) **साख का निर्माण** (Credit Creation)—बैंकों द्वारा साख-निर्माण की विधि का विस्तृत विवरण पहले दिया जा चुका है। साख को पूँजी कहना तो ठीक नहीं होगा परन्तु इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि बैंक साख के निर्माण द्वारा पूँजी की अधिक पूर्ति कर पाने में सफल होते हैं। आधुनिक युग में साख-निर्माण द्वारा पूँजी प्राप्त करना बैंकों का मुख्य कार्य है।

(5) **सुरक्षित कोष** (Reserves)—बैंक अपने सम्पूर्ण लाभ को अंशधारियों में नहीं बाँट देते। प्रत्येक बैंक अपने वार्षिक लाभ का एक भाग सुरक्षित कोष के रूप में रखता है, जिससे उनके पास कुछ वर्षों में एक बड़ी रकम जमा हो जाती है। भारत में 1949 के बैंकिंग अधिनियम की धारा 17 के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपने लाभ का कम से कम 20% सुरक्षित कोष में डालना पड़ता है।[1]

बैंकों द्वारा धन का विनियोग

विभिन्न साधनों से प्राप्त पूँजी बैंक के पास बेकार नहीं पड़ी रहती, बल्कि उसके विनियोग (banking investments) द्वारा बैंक लाभ कमाता है। बैंक द्वारा किये गये कुछ विनियोग अलाभप्रद भी होते हैं, परन्तु बैंक की स्थापना का प्रधान उद्देश्य तो पूँजी के विनियोग द्वारा लाभ कमाना ही होता है। विभिन्न देशों में आर्थिक परिस्थितियाँ तथा बाजार की दशाएँ अलग-अलग होने के कारण वहाँ बैंकों के विनियोग की नीतियाँ भी अलग-अलग होती हैं। बैंकों की विनियोग-नीति क्या हो, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बताये जा सकते। फिर भी बैंक को विनियोग नीति निश्चित करते समय बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। वैजहॉट ने ठीक ही कहा है, "साहस व्यापार का जीवन है, परन्तु सावधानी, न कि भीरुता, आधुनिक बैंकिंग का सार है।"

विनियोग-नीति के सिद्धान्त

सामान्यतः निम्नलिखित सिद्धान्तों के आधार पर पूँजी का विनियोग करने से बैंक सुरक्षित रूप से लाभ कमाने में समर्थ हो सकते हैं

(1) **सुरक्षा** (Safety of Fund)—विनियोग करते समय बैंक का उद्देश्य 'सुरक्षा सर्वप्रथम' (safety first) होना चाहिए, क्योंकि विनियोग के सुरक्षित न रहने पर स्वयं बैंक का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। विनियोग की सुरक्षा के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है

1. बैंक को अपना सारा धन किसी एक ही व्यक्ति अथवा व्यवसाय को ऋण के रूप में नहीं दे देना चाहिए (A bank should not lay all its eggs in one basket)। ऐसा करने से बैंक अपने अस्तित्व के लिए किसी व्यक्ति अथवा व्यवसाय विशेष पर ही आश्रित हो जाता है और उसके विफल होने पर बैंक जीवित नहीं रह सकता। इसीलिए कुछ देशों में एक ही व्यक्ति अथवा फर्म को दी जाने वाली अधिकतम ऋण की मात्रा निश्चित कर दी जाती है।
2. बैंक को यथासम्भव दीर्घकालीन ऋण नहीं देने चाहिए।
3. ऋणी द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली जमानत (security) की भली-भाँति जाँच कर लेनी चाहिए और यह देख लेना चाहिए कि जमानत का बाजार-मूल्य ऋण के मूल्य से अधिक है अथवा नहीं।
4. ऋणी के व्यक्तिगत आचरण तथा चरित्र के विषय में सूचना प्राप्त कर लेनी चाहिए।
5. बैंकों को चाहिए कि वे सस्ती साख-नीति (cheap credit policy) न अपनायें ताकि ऋणियों में अपव्यय की भावना उत्पन्न न होने पाये।

---

1 1962 से पहले बैंकों द्वारा अपने लाभ का 20% भाग सुरक्षित कोष में डालना उस समय तक आवश्यक था जब तक कि वह परिदत्त पूंजी (paid-up capital) के बराबर न हो जाय, परन्तु अब इस नियम में संशोधन कर दिया गया है। सुरक्षित कोष में चाहे कितनी ही रकम हो, लाभ का 20% अवश्य रखना आवश्यक है।

(2) तरलता (Liquidity)—तरलता से अभिप्राय जमा के बदले नकद मुद्रा देने की क्षमता से है। बैंक का अस्तित्व जनता के विश्वास पर निर्भर करता है और जनता का विश्वास इस बात पर आधारित रहता है कि बैंक म जमा को नकद मुद्रा म परिवर्तन करने की क्षमता सदा होगी। तरलता की दृष्टि से निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं

1 बैंक का सर्वाधिक तरल साधन नकद जमा (cash reserves) है। परन्तु नकद जमा एक निष्क्रिय साधन होने के कारण कोई भी बैंक इसे निश्चित मात्रा से अधिक अपने पास नहीं रख सकता। साधारणत अपनी कुल जमाओं का 20 से 25 प्रतिशत तक बैंक को अपने पास नकदी रखना चाहिए।
2 बैंक को चाहिए कि उन साधनो म विनियोग करे जिनमें 'बिना क्षति के विनिमय-साध्यता' (shiftability without loss) का गुण हो। बैंक के अभियाचित एव अल्पकालीन ऋण (loans at call and short notice) तथा अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियों एव उच्च कोटि के गैर-सरकारी पत्रों (commercial papers) जैसे, अश व ऋणपत्रों आदि म यह गुण पाया जाता है। इन्ह मुद्रा बाजार म बेचकर बैंक नकदी प्राप्त कर सकता है। बैंक के दीर्घकालीन ऋण एव अग्रिम धन (loans and advances) तथा विनियोग में तरलता के गुण का अभाव होता है।
3 बैंक का केवल उन्ही सरकारी प्रतिभूतियों (treasury bills) तथा उच्च कोटि के व्यापारिक पत्रो मे विनियोग करना चाहिए जो कुछ आवश्यक शर्तों की पूर्ति करते हैं तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा स्वीकार किये जा सकते हैं ताकि सकट की स्थिति मे बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक की अन्तिम सहायक के रूप म सहायता प्राप्त की जा सके।

स्टीड (Stead) के अनुसार 'बैंक को केवल न्यायशील पूंजी की पूर्ति के लिए ही ऋण देना चाहिए, न कि अचल या स्थायी पूंजी बनाने के लिए।'

(3) लाभदायकता (Profitability)—चूंकि बैंक का उद्देश्य अपने विनियोग द्वारा लाभ कमाना होता है इसलिए बैंक को अपने धन का इस प्रकार विनियोग करना चाहिए कि उसे नियमित रूप से पर्याप्त मात्रा में लाभ प्राप्त होता रहे। इस सम्बन्ध म ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्राय तरलता तथा लाभदायकता दोनो एक दूसरे के विपरीत होते हैं। नकद जमा पूर्णत तरल साधन है, परन्तु इससे कोई आय नहीं होती। दूसरी ओर दीर्घकालीन ऋण तथा अग्रिम अधिक लाभदायक होते हैं, परन्तु तरल नहीं होते। सफल व्यवसाय के लिए बैंक को तरलता एव लाभदायकता के दोनों तत्वों पर समान ध्यान रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि अधिक लाभ के लालच म बैंक विनियोग की सुरक्षा के सिद्धान्त की उपेक्षा न करे। यह सब देखते हुए बैंकों को सट्टे के कार्य म कभी धन नहीं लगाना चाहिए, केवल अच्छी प्रतिभूतियों म विनियोग करना चाहिए, अधिक आय परन्तु असुरक्षित प्रकृति वाले उद्योगों म धन नहीं लगाना चाहिए। ऋण लेकर तभी विनियोग करना चाहिए जब ब्याज की दरों म पर्याप्त अन्तर हो।

(4) जोखिम की विविधता (Diversification of Risks)—बैंकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि उनके अधिकांश धन का विनियोग एक ही प्रकार के ऋणों व्यवसायों तथा प्रतिभूतियों म न हो। बैंक को अपना धन विविध प्रकार के ऋणों तथा व्यवसायों आदि म लगाना चाहिए ताकि एक ओर की हानि को दूसरी ओर के लाभ से पूरा किया जा सके। इसके अतिरिक्त जैसा पहले कहा गया है, समस्त ऋण एक ही व्यक्ति अथवा फर्म को देने के बजाय अनेक व्यक्तियों तथा फर्मों को छोटे छोटे ऋण देना अधिक अच्छा होता है।

(5) प्रतिभूतियों की बिक्री-साध्यता (Marketability of Securities)—सुरक्षा तथा तरलता की दृष्टि से ऐसी प्रतिभूतियों म विनियोग करना अच्छा होता है जिन्हे आवश्यकता पडने पर आसानी से बाजार म बेचा जा सके। सरकारी तथा उत्तम श्रेणी की व्यावसायिक प्रतिभूतियों, अच्छी कम्पनियों के अशों तथा ऋणपत्रों, विनिमय-साध्य साख पत्रों तथा तैयार माल की जमानत पर ऋण देने म बैंकों द्वारा विनियोग करना अच्छा होता है। इसके विपरीत, अचल सम्पत्ति के आधार पर दिया गया ऋण अच्छा नहीं माना जा सकता।

(6) **अन्य सिद्धान्त**—बैंकों को विनियोग करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि (i) यथासम्भव विनियोग ऐसी प्रतिभूतियों अथवा वस्तुओं में किया जाय जिनकी कीमतों में अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता रहती है, (ii) यथासम्भव ऐसी प्रतिभूतियों में विनियोग को प्राथमिकता दी जाय जो आय-कर से मुक्त हो, अथवा जिन पर कर कम लगता हो, तथा (iii) बैंकों को अपनी विनियोजन नीति सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित नियमों के आधार पर तय करनी चाहिए।

बैंक के विनियोगों के प्रकार (Types of Bank's Investments)

बैंक के विनियोगों को दो भागों में बाँटा जा सकता है (क) अलाभकर विनियोग, तथा (ख) लाभकर विनियोग। बैंक को इन दोनों प्रकार के विनियोगों में धन लगाना पड़ता है। बैंक के सफल संचालन के लिए इन दोनों विनियोगों में उचित सन्तुलन बनाये रखना आवश्यक होता है।

(क) **अलाभकर विनियोग (Profitless Investments)**—अलाभकर विनियोग में बैंक को किसी प्रकार की प्रत्यक्ष आय प्राप्त नहीं होती, परन्तु सुरक्षा तथा तरलता की दृष्टि से इस प्रकार के विनियोग काफी महत्वपूर्ण होते हैं। अलाभकर विनियोग दो प्रकार के होते हैं (1) नकद-कोष (Cash Reserves), तथा (2) मृत स्कन्ध (Dead Stock)।

1. **नकद-कोष** (Cash Reserves)—ऐसा कहा जाता है कि नकद-कोष बैंकों के लिए सुरक्षा की प्रथम पंक्ति' (first line of defence) है। नकद-कोष प्रत्येक बैंक का तरलतम आदेय (liquid asset) होता है। बैंकों के पास पर्याप्त नकद-कोष न होने पर सम्भव है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में यह ग्राहकों की नकदी की माँग को पूरा न कर सके जिससे बैंक के प्रति ग्राहकों का अविश्वास उत्पन्न हो जाय और बैंक का अस्तित्व खतरे में पड़ जाय। 1930 की मन्दी में विफल होने वाले अनेक बैंकों की आर्थिक स्थिति खराब नहीं थी, परन्तु वे ग्राहकों को नकद रकम भुगतान न कर सकने के कारण बन्द हो गये।

नकद-कोषों की मात्रा का निर्धारण—बैंक को कितना नकद-कोष रखना चाहिए, इसके लिए निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। देश, काल तथा बैंक की स्थिति अलग-अलग होने पर विभिन्न बैंकों की नकद कोष की आवश्यकता में भी अन्तर होता है। आवश्यकता से कम नकद-कोष रखने पर ग्राहकों को भुगतान करने में कठिनाई हो सकती है और आवश्यकता से अधिक नकद-कोष रखने पर बैंक के लाभकर विनियोग की मात्रा कम हो जाती है। इसलिए कोष की मात्रा के निर्धारण में बहुत सावधानी से काम लेना पड़ता है। नीचे बताये तत्वों के आधार पर बैंक नकद कोष की मात्रा का निर्धारण कर सकता है

(1) **वैधानिक आवश्यकता**—अधिकांश देशों में सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक वैधानिक रूप से बैंकों के नकद-कोषों की न्यूनतम मात्रा निश्चित कर देते हैं। इसका उद्देश्य एक तो बैंकों के साधनों में तरलता बनाये रखना होता है और दूसरे, बैंकों की साख-निर्माण की शक्ति को भी नियन्त्रित किया जाता है। विधान के अनुसार, बैंक नकद-कोष अपने पास रखते हैं अथवा उनका कुछ भाग केन्द्रीय बैंक के पास रखते हैं। उदाहरणार्थ, भारत में अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) को अपने माँग दायित्वों (demand liability) तथा काल दायित्वों (time liability) का 3% रिजर्व बैंक के पास नकद जमा कराना पड़ता है जिसे विशेष परिस्थितियों में रिजर्व बैंक द्वारा 15% तक बढ़ाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यह भी आवश्यक है कि अपने कुल दायित्वों का 25% बैंक अपने कोषों में तरल आदेयों (liquid assets)—सिक्के, बहुमूल्य धातु प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियाँ अथवा नकदी इत्यादि—के रूप में रखें। इस प्रकार भारतीय बैंकों को अपने दायित्वों का कुल 28% भाग नकदी तथा तरल आदेयों के रूप में रखना पड़ता है।

(2) **परम्परा**—प्रत्येक देश में बड़े-बड़े बैंक अपने अनुभव के आधार पर नकद-कोष रखने से सम्बन्धित परम्पराएँ निश्चित करते हैं जिनका अनुसरण अन्य बैंक भी करते हैं। प्राय अलग-अलग परिस्थितियों के कारण विभिन्न देशों में बैंकों के नकद-कोष रखने की परम्परा भी अलग-अलग होती है।

(3) **विनियोगों की प्रकृति**—यदि बैंक के अधिकांश विनियोग तरल आदेयों, जैसे विनिमय बिलों, अल्पकालीन ऋणों, विनिमयशील प्रतिभूतियों आदि में हैं, तो वे कम मात्रा में नक्द कोष रख कर भी काम चला सकते हैं। इसके विपरीत होने पर उन्हें अधिक मात्रा में नक्द कोष रखने पड़ते हैं।

(4) **निक्षेपों का आकार**—बैंक में ग्राहकों की बड़ी बड़ी रकमें जमा होने पर बैंक को अधिक मात्रा में नकद-कोष रखने की आवश्यकता होगी ताकि बड़ी से बड़ी माँग (withdrawal) को पूरा किया जा सके। जब निक्षेपों का आकार छोटा होता है और जमाकर्ताओं की संख्या अधिक होती है तो थोड़ी मात्रा में नक्द कोष रखने से ही काम चल जाता है। कभी कभी बैंक बड़ी माँग के जोखिम से बचने के लिए यह नियम बना देते हैं कि एक निश्चित राशि से अधिक की माग होने पर एक निश्चित अवधि का पहले से नोटिस दिया जाय।

(5) **निक्षेपों का स्वरूप**—यदि किसी बैंक के अधिकतर निक्षेप चालू खातों में हैं तो बैंक को अधिक मात्रा में नक्द कोष रखने पड़ते हैं। इसके विपरीत, निश्चितकालीन अथवा बचत खातों में निक्षेपों की मात्रा अधिक होने पर थो थोड़े नक्द कोषों से काम चल सकता है।

(6) **ग्राहकों की प्रकृति**—जिस बैंक में सट्टेबाजों तथा बड़े व्यापारियों के खाते अधिक होते हैं, उसे बड़ी मात्रा में नक्द कोष रखने होते हैं, क्योंकि उसके ग्राहकों की धन की माँग बराबर बनी रहती है। यदि बैंक के अधिकांश ग्राहक मध्यवर्गीय नौकरीपेशा लोग हैं तो बैंक को अधिक मात्रा में नक्द-कोष नहीं रखने पड़ते, क्योंकि वे लोग प्राय अधिक रकम नहीं निकालते। व्यापारियों की अपेक्षा कृषकों की नकदी की माँग कम होती है। कृषि की माग प्राय मौसमी होती है जबकि व्यापार की माँग सदैव बनी रहती है। इसलिए कृषि क्षेत्र में कार्य करने वाले बैंकों को अपने पास कम नक्द कोष रखने पड़ते हैं।

(7) **बैंकिंग विकास तथा बैंक का प्रयोग**—यदि देश में बैंकिंग का पर्याप्त विकास हो चुका है तथा लोगों में बैंकों द्वारा भुगतान करने की आदत है तो बैंकों को अधिक नक्दी रखने की आवश्यकता नहीं होती। बैंकों के विकास के अभाव में समाज में नक्द लेन देन की आदत अधिक होने पर बैंकों को अधिक नक्द-कोष रखने पड़ते हैं।

(8) **समाशोधन गृहों का विकास**—जिन स्थानों पर समाशोधन गृहों (clearing houses) की सुविधा उपलब्ध होगी, चैकों का तत्काल समाशोधन होने के कारण जनता को चैकों का प्रयोग करने में प्रोत्साहन मिलेगा। वह चैकों का नक्द भुगतान न करके अधिकांश भुगतान केवल खातों में प्रविष्टियों द्वारा ही तय कर लेंगे। इस प्रकार कम नक्द-कोष रखने पड़ेंगे।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए बैंक अपनी परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार अपने पास नकद कोष रखते हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि बहुत कुछ जनता के प्रति विश्वास की मात्रा पर निर्भर करता है। जनता का बैंक में विश्वास बना रहने पर बैंक के सामने साधारणतया कोई कठिनाई नहीं उत्पन्न होती, परन्तु जनता का विश्वास न रहने पर बैंक का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है।

2 **मृत-स्कन्ध (Dead Stock)**—बैंक को प्रत्यक्ष रूप से कोई आर्थिक लाभ न होने पर भी अपना व्यवसाय चलाने के लिए भवनों का निर्माण कराना पड़ता है, कार्यालयों के लिए फर्नीचर तथा पंखे आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है तथा सुरक्षा के लिए मजबूत अलमारियाँ, तिजोरियाँ और लॉकर आदि रखने पड़ते हैं। चूँकि आवश्यकता पड़ने पर इन्हें आसानी से बेचा नहीं जा सकता, इसलिए इन्हें 'मृत-स्कन्ध' कहते हैं।

अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए प्राय बैंक अपने कार्यालयों के लिए विशाल एवं सुन्दर भवन बनवाते हैं। इस सम्बन्ध में बैंक को यह देखना चाहिए कि कार्यालय के लिए भवन किराये पर लेना सस्ता होगा अथवा उसका निर्माण कराना। डा० राव के शब्दों में, "बैंक के लिए ईंट तथा चूने में पूँजी लगाने के स्थान पर उसे शुद्ध नक्द के रूप में रखना अधिक श्रेष्ठ है।" (It is always preferable for a bank to have solid cash in hand than to invest it in bricks and mortar)

(ख) लाभकर विनियोग (Profitable Investment)—बैंकों द्वारा लाभकर विनियोग अनेक मदों में किये जाते हैं, जैसे याचना-राशि, बिलों की कटौती, सरकारी प्रतिभूतियों तथा विनियोग-पत्रों में विनियोजन, ऋण तथा अग्रिम, इत्यादि। इनका वर्णन नीचे किया गया है

1 **याचना-राशि अथवा अल्प-सूचनार्थ ऋण** (Money at Call or Short Notice)—बैंक द्वारा दिये गये ये ऐसे ऋण होते हैं जिन्हें बैंक बिना किसी पूर्व-सूचना के अथवा अल्प सूचना देकर वापस ले सकता है। इस प्रकार के ऋणों पर बैंक को बहुत कम ब्याज प्राप्त होती है परन्तु अति अल्पकालीन होने के कारण ये बैंक के अत्यधिक तरल विनियोग होते हैं। ये ऋण प्राय स्टॉक-एक्सचेंज के व्यापारी, आढ़ती, बिलों के दलाल तथा डिस्काउण्ट-गृह आदि उचित धरोहर के आधार पर लेते हैं तथा शर्त के अनुसार इनके न लौटने पर बैंक धरोहर का विक्रय करने का अधिकारी होता है। भारत में अधिकांश अल्प-सूचनार्थ ऋण प्राय एक बैंक द्वारा दूसरे बैंक को दिये जाते हैं, इसलिए धरोहर रखने की आवश्यकता नहीं होती।

इस प्रकार के ऋणों में विनियोग करने से बैंक अपने साधनों में तरलता बनाये रखता है तथा साथ में ब्याज भी कमा लेता है। इस प्रकार एक साथ दो लाभ प्राप्त हो जाते हैं।[1] यदि नकद-कोष को बैंक की रक्षा की प्रथम पंक्ति कहा जाय, तो याचना राशि को 'रक्षा की द्वितीय पंक्ति' (second line of defence) कहा जा सकता है। कुछ लोगों के अनुसार इन ऋणों द्वारा सट्टे को प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु भारत में इस प्रकार का भय नहीं क्योंकि सट्टे वालों को याचना-राशि दी ही नहीं जाती।

2 **बिलों की कटौती करना** (Discounting of Bills)—व्यापारिक बिलों की कटौती करके भी बैंक अपने धन का विनियोग करते हैं। इस प्रकार का विनियोग अल्पकालीन होने के साथ अच्छी आय देने वाला, सुरक्षित तथा तरल होता है, इसलिए इसे बैंक की 'तृतीय रक्षा पंक्ति' (third line of defence) भी कहा जाता है। बिलों की कटौती के आधार पर बैंकों द्वारा ऋण देने से बिलों के प्रयोग को प्रोत्साहन मिलता है तथा बैंक को आय प्राप्त होती है। बिल की अवधि समाप्त होने के पूर्व यदि बैंक को रकम की आवश्यकता पड़ जाय तो बिल बाजार में बिक्री अथवा केन्द्रीय बैंक से बिल की पुनर्कटौती (rediscounting) द्वारा बैंक अपनी आवश्यकता को पूरा कर सकता है।

बिल अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ लोगों के विचार में व्यापारिक बिलों की अपेक्षा कोषागार-विपत्रों (Treasury Bills) में विनियोग अधिक सुरक्षित तथा विक्रयशील होता है। किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि व्यापारिक बिलों की कटौती से बैंक को अपेक्षाकृत अधिक आय प्राप्त होती है, तथा इस दृष्टिकोण से अल्पकालीन व्यापारिक बिलों में विनियोग उत्तम होता है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि केवल प्रथम श्रेणी के उत्तम व्यापारिक बिलों की ही कटौती की जाय ताकि इनकी केन्द्रीय बैंक में पुनर्कटौती सम्भव हो सके।

3 **कोषागार-विपत्र तथा प्रतिभूतियाँ** (Treasury Bills and Securities)—बैंक अपने साधनों का एक भाग कोषागार-विपत्रों अथवा ट्रेजरी बिलों में विनियोग करते हैं क्योंकि इनसे सरकार को सहायता मिलती है तथा बैंकों को भी आय प्राप्त होती है। ये बिल प्राय अल्पकालीन होते हैं तथा इन्हें आसानी से बेचा जा सकता है, इसलिए इनमें किये गये विनियोग में तरलता का गुण होता है।

लाभ-प्राप्ति के उद्देश्य से बैंक अपने धन का महत्वपूर्ण भाग विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियाँ (securities) खरीदने में भी लगाते हैं। भारत में प्राय तीन प्रकार की प्रतिभूतियाँ पायी जाती हैं (1) **सरकारी प्रतिभूतियाँ** जिनमें राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार की अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन प्रतिभूतियाँ सम्मिलित होती हैं। सुरक्षा की दृष्टि से इन प्रतिभूतियों को सर्वोत्तम

1 In the case of call money, the banker seems to accomplish the impossible feat of having the cake and eating it too '—Dr Rao.

समझा जाता है। (2) **अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियाँ** जिनमे नगर महापालिकाओं, इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट तथा अन्य स्थानीय निकायों द्वारा जारी की गयी प्रतिभूतियाँ अथवा ऋणपत्र तथा वित्त-निगमों, विद्युत मण्डलों एव भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा निर्गमित ऋणपत्र सम्मिलित होते हैं। (3) **निजी प्रतिभूतियाँ** जिनमे मिश्रित पूंजी वाली औद्योगिक और व्यापारिक कम्पनियाँ तथा जनोपयोगी संस्थाओं के अंश (shares) तथा ऋणपत्र (debentures) सम्मिलित होते हैं।

यह बात ध्यान मे रखने की है कि बैंकों को प्रतिभूतियों मे विनियोग करते समय विनियोग मे तरलता, सुरक्षा तथा आय के सिद्धान्तों को सामने रखना चाहिए, तथा यथासम्भव ऐसी प्रतिभूतियों मे लेन-देन करना चाहिए जिनके मूल्य मे स्थिरता रहती है और उनमे विक्रयशीलता का गुण होता है। यह आवश्यक नहीं कि यह सभी गुण प्रत्येक प्रतिभूति मे हो। इसलिए बैंक को चाहिए कि प्रतिभूतियों मे विनियोग को सन्तुलित रखने के लिए कुछ अधिक तरलता वाली प्रतिभूतियाँ खरीदे तो साथ मे कुछ अधिक आय वाली प्रतिभूतियों मे भी विनियोग करे। प्राय निजी प्रतिभूतियाँ खरीदने मे बैंकों को लाभ-प्राप्ति के साथ-साथ देश मे पूंजी-बाजार के विकास मे सहायता मिलती है तथा व्यापारिक एव औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु इन प्रतिभूतियों में धन विनियोजित करते समय बैंक को इनकी श्रेष्ठता का निश्चय कर लेना चाहिए।

4 **ऋण तथा अग्रिम** (Loans and Advances)—प्राय सभी व्यापारिक बैंक अपने साधनों का बहुत बड़ा भाग ऋणों तथा अग्रिमों में विनियोजित करते हैं। इनसे बैंक को काफी आय प्राप्त होती है। चूँकि ऋण तथा अग्रिम उचित धरोहर के आधार पर ही दिये जाते हैं, इसलिए इनमें सुरक्षा का गुण भी होता है। इनसे व्यापारिक तथा औद्योगिक संस्थाओं की धन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, और इस प्रकार देश के आर्थिक विकास मे सहायता मिलती है।

समय के आधार पर ऋण तथा अग्रिम दो वर्गों मे बाँटे जा सकते हैं—**अल्पकालीन** (short-period) तथा **दीर्घकालीन** (long period)। तरलता की दृष्टि से अल्पकालीन ऋण ही उपयुक्त होते हैं। धरोहर के आधार पर ऋण सुरक्षित (secured) अथवा असुरक्षित (unsecured) होते हैं। यदि ऋण यथेष्ट धरोहर के आधार पर दिया जाता है तो उसे सुरक्षित कहा जाता है, क्योंकि ऋण के न लौटने पर धरोहर को बेचकर रकम वसूल कर ली जाती है। जब किसी सहायक प्रतिभूति (collateral security) के बिना केवल व्यक्तिगत साख के आधार पर ऋण दिया जाता है तो इसे असुरक्षित अथवा गैर-जमानती ऋण (clean loans) कहते हैं। सामान्यत बैंक सुरक्षित ऋण ही देते हैं।

बैंकों के कार्य बताते समय ऋणों के विभिन्न प्रकारों—(1) **साधारण ऋण तथा अग्रिम** (ordinary loans and advances), (2) **अधिविकर्ष** (overdraft), तथा (3) **नकद साख** (cash credit)—का विवेचन किया जा चुका है, इसलिए उन्हें यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

ऋण देने मे सावधानियाँ—ऋण देते समय बैंक को उचित सावधानी रखनी चाहिए। बैंकों द्वारा ऋण व्यक्तियों को भी दिये जाते हैं तथा संस्थाओं को भी। ऋण देने मे निम्न सावधानियों की आवश्यकता है :

(1) किसी भी ग्राहक को बहुत लम्बी अवधि के लिए ऋण नहीं देना चाहिए।

(2) किसी एक ग्राहक को बहुत बड़ी रकम का ऋण नहीं देना चाहिए, बल्कि ऋणों के विकेन्द्रीकरण की नीति अपनानी चाहिए। इसी प्रकार बहुत अधिक ऋण एक ही स्थान के व्यापारियों तथा एक ही प्रकार के उद्योग अथवा व्यवसाय के लिए नहीं देना चाहिए। अनेक व्यक्तियों, अनेक व्यवसायों तथा अनेक स्थानों मे थोड़ा-थोड़ा धन विनियोजित करना सुरक्षापूर्ण होता है।

(3) सट्टे के कार्य तथा उपभोग के लिए ऋण देना अच्छा नहीं होता। उत्पादक कार्यों के लिए दिये गये ऋण स्वयं-शोध्य (self liquidating) होते हैं, तथा अनुत्पादक कार्यों के लिए दिये गये ऋण जड़ होते हैं और उनकी अदायगी मे कठिनाई होती है।

(4) ऋणों का बार-बार व आसानी से नवीनीकरण (renewal) नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसे ऋणों की वसूली करना अन्त में कठिन हो जाता है। बैंक का धन एक 'गतिशील कोष' के समान रहना चाहिए।

(5) ऋणों के लिए उचित व पर्याप्त जमानत प्राप्त करनी चाहिए। जमानत के मूल्य तथा स्वामित्व का निश्चय कर लेना आवश्यक होता है तथा जमानत के मूल्य से कम मूल्य का ऋण देना चाहिए।

(6) ऋण लेने वाले की साख की ठीक से जाँच कर लेनी चाहिए।

(7) बैंकों में पारस्परिक स्पर्द्धा के कारण सस्ते ऋणों की नीति बहुत हानिकारक होती है, इसलिए इसे कभी नहीं अपनाना चाहिए।

(8) संस्थाओं को ऋण देते समय उपर्युक्त सभी सावधानियों के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि संस्था के नियमों तथा उप नियमों का अध्ययन कर लिया जाय, उसके व्यवसाय की उचित जाँच की जाय तथा प्रबन्ध-व्यवस्था की जानकारी प्राप्त की जाय। इन सभी तथ्यों की जानकारी के पश्चात् ऋण की रकम, ब्याज-दर तथा जमानत आदि का निर्धारण करना चाहिए तथा संस्था के उचित अधिकारी से ऋण सम्बन्धी अधिकार-पत्र के आधार पर ऋण देना चाहिए।

ऋणों के लिए जमानतें (Securities for the Loans and Advances)

ऋणों की सुरक्षा के लिए बैंक अपने ग्राहकों से किसी न किसी प्रकार की जमानत अवश्य लेता है। ये जमानतें प्रायः दो प्रकार की होती हैं—(1) व्यक्तिगत जमानत (personal security), तथा (2) सहायक जमानत (collateral security)।

(1) **व्यक्तिगत जमानत**—बिना किसी माल या अन्य सम्पत्ति जमानत के रूप में लिये, व्यक्तिगत साख अथवा जमानत के आधार पर दिये गये ऋण अरक्षित अथवा स्वच्छ ऋण (uncovered or clean loans) कहलाते हैं। व्यक्तिगत जमानत अथवा प्रतिभूति के आधार पर ऋण देने के पूर्व बैंक ऋणी की आर्थिक स्थिति, व्यवसाय, साख, व्यापारिक कुशलता तथा चरित्र आदि से सम्बन्धित विश्वसनीय जानकारी प्राप्त कर लेता है। भारत में व्यक्तिगत जमानत पर दिये जाने वाले ऋणों में अधिविकर्ष (overdraft) सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। कभी-कभी ऋणी की व्यक्तिगत जमानत के अतिरिक्त किसी अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा संस्था की गारण्टी भी माँगी जाती है, जिसके अन्तर्गत ऋणी के रकम न चुकाने पर गारण्टी करने वाला दायित्व को अपने ऊपर लेने का आश्वासन देता है। ऐसे ऋणों को दो हस्ताक्षरों वाले कागजी ऋण कहते हैं। व्यक्तिगत जमानत केवल एक विशिष्ट ऋण से सम्बन्धित होने पर उसे विशिष्ट व्यक्तिगत जमानत (specific personal security) कहते हैं तथा भविष्य में लिये जाने वाले समस्त ऋणों से सम्बन्धित होने पर उसे चालू जमानत (current security) कहते हैं।

(2) **सहायक जमानत**—ऋण की सुरक्षा के लिए ऋणी द्वारा बैंक के पास जमानत के रूप में रखी गयी भौतिक सम्पत्ति तथा वस्तुएँ सहायक जमानत (collateral securities) कहलाती हैं। इस प्रकार की जमानत बैंक के पास प्रायः तीन प्रकार से रखी जाती हैं

1. **रहन अथवा ग्रहणाधिकार (Lien)**—इसमें जमानत के रूप में रखी गयी सम्पत्ति बैंक के पास रहती है। ऋण वसूल न होने पर बैंक अदालत की आज्ञा से इसे बेचकर अपना ऋण वसूल कर सकता है।
2. **गिरवी (Pledge)**—इसमें भी सम्पत्ति बैंक के पास रहती है, तथा ऋण का भुगतान न होने की दशा में बैंक ऋणी को सूचना देकर जमानत की सम्पत्ति को बेच सकता है। इसके लिए अदालत की आज्ञा की आवश्यकता नहीं होती।
3. **बन्धक (Mortgage)**—जब जमानत के रूप में भूमि, भवन आदि अचल सम्पत्ति दी जाती है तो वह बैंक के पास नहीं रहती, उस पर बैंक का अधिकार-मात्र होता है। ऋणी द्वारा भुगतान न करने पर इस सम्पत्ति पर बैंक का स्वामित्व हो जाता है।

सामान्यतः निम्नलिखित प्रकार की भौतिक सम्पत्तियों को सहायक जमानत के रूप में स्वीकार किया जाता है

(क) स्कन्ध विनिमय प्रतिभूतियाँ (Stock Exchange Securities)—स्टॉक एक्सचेंज में नियमित रूप में क्रय विक्रय की जाने वाली प्रतिभूतियों में सरकारी, अर्द्ध-सरकारी, स्वायत्त संस्थाओं तथा अन्य संस्थाओं द्वारा जारी की गयी प्रतिभूतियों के अतिरिक्त व्यावसायिक तथा औद्योगिक कम्पनियों के अंश, ऋणपत्र, प्रतिज्ञा पत्र तथा अन्य प्रकार के विनिमयसाध्य साख-पत्र सम्मिलित किये जाते हैं। इन प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण देना बैंकों के लिए अच्छा समझा जाता है, क्योंकि इससे अनेक लाभ होते हैं—(1) इन्हें आसानी से बेचा जा सकता है इसलिए ये बहुत तरल होती हैं, (2) इनके स्वामित्व-परिवर्तन में कोई कठिनाई नहीं होती, (3) इनका मूल्यांकन करने में कोई कठिनाई नहीं होती, (4) इनके मूल्यों में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं होते, तथा (5) इनकी जमानत पर स्वयं बैंक भी ऋण प्राप्त कर सकता है।

इन प्रतिभूतियों में अनेक गुण होने के कारण बैंक इन्हें सदा प्राथमिकता देते हैं। परन्तु ऐसी प्रतिभूतियों को स्वीकार करते समय बैंक को यह चाहिए कि कुछ बातों के प्रति सावधान रहे, जैसे—(1) इनके स्वामित्व में दोष न हो तथा उनका हस्तान्तरण बैंक के पक्ष में उचित प्रकार से किया गया हो, (2) इनका किसी मान्य शेयर-बाजार में क्रय-विक्रय होता हो, (3) इनके मूल्य में अधिक परिवर्तन न हो, तथा (4) ये पूर्ण-प्रदत्त (fully paid) हों।

(ख) माल और माल के अधिकार पत्र (Goods and Documents of Title to Goods)—अनेक प्रकार के माल के गोदामों पर बैंक अपना ताला लगाकर उसकी जमानत पर ऋण देते हैं। जैसे-जैसे ऋणों का भुगतान होता जाता है, गोदाम से माल निकाला जा सकता है। माल के अधिकार पत्रों, जैसे गोदाम की रसीद, रेलवे की रसीद, डाक वारण्ट, आदि की जमानत पर भी बैंक द्वारा ऋण दिया जाता है।

माल तथा माल के अधिकार पत्रों की जमानत पर ऋण देने में ये लाभ हैं (1) इनको किसी भी समय आसानी से बेचा जा सकता है तथा ऋण का भुगतान न होने पर माल की बिक्री से बैंक रकम प्राप्त कर सकता है, (2) ये ऋण प्रायः अल्पकालीन होते हैं, (3) मूल्यांकन में विशेष कठिनाई नहीं होती, (4) चूँकि मूल्यों में परिवर्तन एकदम नहीं होते इसलिए गिरावट आरम्भ होते ही सुरक्षा के लिए उचित प्रबन्ध किया जा सकता है अतः जोखिम कम रहता है, तथा (5) व्यावसायिक उन्नति को प्रोत्साहन मिलता है।

परन्तु माल तथा माल के अधिकार-पत्रों की जमानत पर ऋण देने में कई दोष तथा कठिनाइयाँ भी हैं—(1) अच्छे गोदामों के अभाव के कारण माल के खराब होने का भय रहता है, (2) माल का मूल्य गिर जाने पर पूरा ऋण वसूल करने में कठिनाई होती है, (3) माल की विभिन्न किस्मों के कारण उसका सही मूल्य आँकने में कठिनाई होती है, (4) गोदाम में माल रखते समय धोखे का भय रहता है, जैसे असली माल के बीच नकली या घटिया माल भरा जा सकता है, तथा (5) अधिकार पत्रों में धोखा होने की सम्भावना रहती है।

बैंक को चाहिए कि वह कुछ सावधानियाँ रखे, जैसे—(1) ऋण की रकम तथा माल के मूल्य में पर्याप्त मूल्यान्तर (margin) होना चाहिए, (2) शीघ्र बिकने वाले माल को ही जमानत के रूप में स्वीकार करना चाहिए, (3) माल के मूल्य तथा अधिकार-पत्रों की ठीक प्रकार से जाँच कर लेनी चाहिए, (4) जमानत के रूप में रखा गया माल न तो शीघ्र नष्ट होने वाला हो और न ही उसके मूल्यों में बहुत अधिक उतार-चढ़ाव होना हो, (5) ऋण-प्रार्थी विश्वसनीय तथा ईमानदार हो, (6) ऋण का उद्देश्य व्यावसायिक हो, न कि मुनाफाखोरी के लिए अधिक समय तक माल रोकना, (7) गोदामों का प्रबन्ध कुशल, ईमानदार तथा उत्तरदायी कर्मचारियों के हाथ में हो, तथा (8) माल का गोदाम सहित बीमा करवा लेना चाहिए।

(ग) विनिमय बिल (Exchange Bills)—विनिमय बिलों की परिपक्वता (maturity) के पूर्व उनकी कटौती (discounting) करके उनका मूल्य चुका देने पर ये बिल बैंक के अधिकार में आ जाते हैं, तथा इनके बदले में दी गयी रकम की जमानत के रूप में ये बैंक के पास रहते हैं।

इनके अनेक लाभ होते हैं—(1) इन बिलों के मूल्य स्थिर रहते हैं, (2) आवश्यकता पड़ने पर इन्हें आसानी से बेचा जा सकता है तथा केन्द्रीय बैंक से पुनः कटौती (rediscounting) के

आधार पर रकम प्राप्त की जा सकती है, तथा (3) इनकी वसूली में आसानी होती है क्योंकि बिल के दोनों पक्ष उत्तरदायी होते हैं।

विनिमय बिलों को स्वीकार करने में सबसे बड़ा दोष यह होता है कि यदि बिल को स्वीकार करने वाला (देनदार) बिल का भुगतान करने से इन्कार कर देता है तो बैंक के लिए काफी असुविधा हो जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि बैंक उत्तम श्रेणी के बिलों को ही स्वीकार करें, तथा इनके लिखने वाले और स्वीकार करने वाले पक्षों के चरित्र, साख एवं आर्थिक दशा आदि से सम्बन्धित पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर लें।

(घ) जीवन-बीमा पत्र (Life Insurance Policy)—कभी-कभी बैंक ग्राहक की जीवन-बीमा पॉलिसी की जमानत पर भी ऋण देते हैं। पाश्चात्य देशों में इसका काफी प्रचलन है। स्वयं बीमा कम्पनियाँ भी पॉलिसी की जमानत पर ऋण देती हैं।

इस प्रकार की जमानत के कई लाभ हैं—(1) बीमा पॉलिसी का तात्कालिक मूल्य आसानी से ज्ञात किया जा सकता है, (2) पॉलिसी के सही स्वामित्व का पता बीमा कम्पनी से लग जाता है, (3) पॉलिसी पर ज्यों-ज्यों बीमा-शुल्क (premium) चुकाया जाता है, पॉलिसी के मूल्य में वृद्धि होती जाती है अतः ऋण का जोखिम कम होता है, (4) पॉलिसी का भुगतान प्राप्त करने में कठिनाई नहीं होती, (5) बीमा पॉलिसी पर बैंक का अधिकार-हस्तान्तरण आसानी से हो जाता है, तथा (6) पॉलिसी के आधार पर बैंक द्वारा अन्य बैंकों से ऋण लिया जा सकता है।

इसमें कई दोष भी हैं—(1) पॉलिसी में किसी प्रकार तथ्यों का मिथ्यावर्णन (आयु आदि से सम्बन्धित) होने पर पॉलिसी रद्द हो सकती है, (2) ग्राहक द्वारा बीमा शुल्क (premium) नियमित रूप से न चुकाने पर भी पॉलिसी समाप्त (lapse) हो जाती है, (3) ग्राहक की मृत्यु आत्महत्या अथवा किसी भी ऐसे कारण से होने पर जो पॉलिसी की शर्तों में सम्मिलित न हो, पॉलिसी की रकम नहीं दी जाती और इस प्रकार बैंक का भुगतान भी रुक जाता है, तथा (4) बीमा पॉलिसी अपने अधिकार में न लेने पर ग्राहक अन्य किसी बैंक से उस पर ऋण ले सकता है।

उपर्युक्त दोषों के कारण बीमा पॉलिसी की जमानत पर ऋण देने के पूर्व बैंक को कुछ सावधानियाँ रखनी चाहिए—(1) पॉलिसी के सम्पूर्ण मूल्य (surrender value) के 90 प्रतिशत से अधिक ऋण नहीं देना चाहिए, (2) पॉलिसी का अभिहस्तांकन बैंक के पक्ष में होना चाहिए, (3) पॉलिसी का सम्पूर्ण मूल्य तय करा लेना चाहिए, (4) पॉलिसी चालू होनी चाहिए, (5) मियादी बन्दोबस्ती (endowment) पॉलिसी को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, (6) बीमा कम्पनी की आर्थिक स्थिति को भी ध्यान में रखना चाहिए, (7) बीमा कम्पनी को ऋण सम्बन्धी सूचना दे देनी चाहिए, तथा (8) बीमा शुल्क के नियमित भुगतान की कुछ व्यवस्था कर देनी चाहिए।

(ङ) सम्पत्ति (Property)—सम्पत्ति दो प्रकार की होती है—चल (movable) तथा अचल (immovable)। दोनों प्रकार की सम्पत्ति की आड़ पर बैंक ऋण देते हैं। चल सम्पत्ति के अन्तर्गत माल तथा स्टाक एक्सचेन्ज प्रतिभूतियों के अतिरिक्त सोना, चाँदी तथा अन्य मूल्यवान वस्तुएँ आती हैं। माल तथा प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। बैंकों द्वारा बहुमूल्य धातुओं तथा आभूषणों के आधार पर भी ऋण दिया जाता है। चूँकि इन्हें ऋण का भुगतान न होने पर तत्काल बाजार में बेचा जा सकता है, इसलिए इन्हें अत्यन्त तरल सम्पत्ति समझा जाता है। परन्तु धातुओं आदि की जमानत पर ऋण देने के पूर्व बैंकों को चाहिए कि इनकी वास्तविक शुद्धता का अनुमान लगवा लें तथा उनका ठीक मूल्यांकन करा लें।

जमीन, मकान, दुकान, मशीन आदि अचल सम्पत्ति हैं। अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण देने से लाभ ये हैं (1) किसान, जो अपनी भूमि के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की जमानत नहीं दे पाते, अचल सम्पत्ति के आधार पर बैंक से ऋण प्राप्त कर सकते हैं, (2) व्यापारी वर्ग के लोगों को भी अन्य कोई जमानत न रहने पर अपनी अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण मिल जाता है, (3) मकान तथा जमीन की जमानत पर ऋण देकर बैंक भवन-निर्माण कार्यों में सहायक होते हैं, तथा (4) सम्पत्ति के मूल्य में विशेष कमी आने की आशंका नहीं होती।

परन्तु व्यावहारिक रूप में बैंक अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण देना उचित नहीं

समझते, क्योंकि इसमें कई दोष हैं—(1) सम्पत्ति को आसानी से उचित मूल्य पर नहीं बेचा जा सकता, (2) सम्पत्ति के स्वामित्व को तय करना कठिन होता है और इसके लिए कानूनी सलाह लेनी पड़ती है, (3) ऋणी द्वारा उसी सम्पत्ति पर अनेक व्यक्तियों से ऋण ले लेने का भय रहता है, (4) सम्पत्ति का उचित मूल्यांकन करना भी कठिन होता है, (5) सम्पत्ति के मूल्य में ह्रास आदि के कारण कमी आ जाती है, तथा (6) भूमि अथवा मकान को बन्धक आदि रखने के लिए अदालती कार्यवाही करनी पड़ती है।

अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण देने के पूर्व उसके स्वामित्व से सम्बन्धित सही जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए तथा हस्तान्तरण सम्बन्धी पूरी कानूनी कार्यवाही कर लेनी चाहिए। सम्पत्ति के मूल्य तथा ऋण की मात्रा में पर्याप्त अन्तर (margin) रखना आवश्यक है।

इस प्रकार, बैंक को चाहिए कि सहायक जमानतों से सम्बन्धित गुणों तथा दोषों को ध्यान में रखते हुए सावधानी से काम ले।

बैंकों के ऋण की माँग (Demand for Bank Loans)

गत कुछ वर्षों से, विशेषकर विकसित देशों में, ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि बैंकों के ऋणों की माँग में कमी की प्रवृत्ति है। प्रो० सेयर्स (Sayers) के अनुसार[1] इस प्रवृत्ति के पाँच कारण हैं—(1) औद्योगिक केन्द्रीकरण, (2) बैंक-साख पर आधारित उद्योगों का सापेक्षिक पतन, (3) साख सम्बन्धी विशिष्ट संस्थाओं का विकास, (4) शेयर बाजार का विकास, तथा (5) फुटकर व्यापार में नकद भुगतान की वृद्धि। इन परिस्थितियों में बैंकों को अपनी आय बढ़ाने के लिए आपसी प्रतियोगिता करनी पड़ती है।

भारतीय बैंक उपर्युक्त तत्वों के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त तो नहीं हैं, परन्तु देश में औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी विकास के लिए पूँजी की कमी के कारण बैंकों के ऋणों में अत्यधिक वृद्धि हुई है। मार्च 1951 से मार्च 1967 के बीच बैंकों के ऋणों की कुल राशि (total bank credit) 584.6 करोड़ रुपये से बढ़कर 2717.3 करोड़ रुपये हो गयी है। बैंकों द्वारा साख के विस्तार पर रिजर्व बैंक द्वारा अनेक नियन्त्रण लगाये जाने पर भी बैंकों की कुल जमाओं के अनुपात में उनकी साख की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होती रही है। अब तक भारतीय बैंकों के ऋण मुख्य रूप से उद्योग तथा व्यापार को ही प्राप्त हुए हैं, परन्तु सरकार तथा रिजर्व बैंक इस ओर प्रयत्नशील हैं कि व्यापारिक बैंक कृषि तथा अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्रों की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में भी सहायक हों।

बैंक का स्थिति-विवरण

बैंक का स्थिति विवरण अथवा चिट्ठा उसके स्वामित्व तथा दायित्व का विवरण होता है (Balance sheet = a statement of assets and liabilities)। किसी भी संस्था की आर्थिक स्थिति देखने के लिए उसका स्थिति-विवरण महत्वपूर्ण होता है, परन्तु इस प्रकार के विवरण का महत्व बैंकों के लिए अत्यधिक है। बैंक का मुख्य कार्य लेन-देन का व्यापार है, और उसे अपनी लेनदारी तथा देनदारी को समतुल्य करना होता है। इस प्रकार किसी बैंक के सम्पूर्ण व्यवसाय तथा वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए उसका स्थिति विवरण देखना आवश्यक होता है। क्राउथर ने लिखा है कि "बैंक का सम्पूर्ण व्यवसाय उसके स्थिति विवरण में होता है। इसके अतिरिक्त स्थिति-विवरण का यह भी गुण होता है कि उसे एक ही दृष्टि में देखने से वे अनुपात प्रकट हो जाते हैं जिन पर बैंक कार्य कर रहा होता है।

भारत में व्यापारिक बैंक के स्थिति विवरण का रूप कानून द्वारा निश्चित होता है, और प्रत्येक बैंक को एक निश्चित अवधि के बाद इसे प्रकाशित करना पड़ता है। स्थिति विवरण में दो कॉलम होते हैं। बायें कॉलम में पूँजी तथा दायित्व (capital and liabilities) और दायें कालम में सम्पत्ति तथा स्वामित्व (property and assets) दिखाए जाते हैं। स्थिति-विवरण में दोनों कॉलमों की विभिन्न रकमों का जोड़ सदा बराबर होता है। एक व्यावसायिक बैंक के स्थिति-विवरण का सरल तथा कुछ संक्षिप्त नमूना (specimen) अगले पृष्ठ (p. 190) पर दिया गया है।

1. Sayers: *Modern Banking*, (1958), p. 201

बैंक के स्थिति विवरण का नमूना

पूंजी तथा दायित्व (Capital and Liabilities)	राशि (Amount)	सम्पत्ति तथा आदेय (Property and Assets)	राशि (Amount)
1 पूंजी (Capital)— अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) निर्गमित पूंजी (Issued Capital) स्वीकृत पूंजी (Subscribed Capital) परिदत्त पूंजी (Paid up Capital) पूर्वाधिकार अंश (Preference Shares) साधारण अंश (Ordinary Shares) तथा स्थगित अंश (Deferred Shares)		1 नकद (Cash)— तिजोरी में, रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक में (In hand and with Reserve Bank of India and State Bank of India)	
2 रक्षित कोष तथा अन्य रक्षित धन (Reserve Fund and other Reserves)		2 अन्य बैंकों के पास—चालू खाता में (Balances with other Banks—In Current Accounts)	
3 जमाएँ तथा अन्य खाते (Deposits and other Accounts)		3 याचना राशि तथा अल्प-सूचनीय ऋण (Money at Call and Short Notice)	
4 अन्य बैंकों, अभिकर्ताओं आदि से ऋण (Borrowings from other Banking Companies Agents etc.)		4 विनियोग लागत भाव या उससे कम पर (Investments—at or below Cost) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की प्रतिभूतियाँ और अन्य ट्रस्टी प्रतिभूतियाँ तथा केन्द्र और राज्यों के ट्रेजरी बिल (Securities of the Central and State Governments and other trustee securities, including Treasury Bills of the Central and State Governments) पूर्ण दत्त अंश (Fully Paid Shares) आंशिक दत्त अंश (Partly Paid Shares) ऋणपत्र तथा बॉण्ड (Debentures and Bonds) अन्य विनियोग (Other investments) स्वर्ण (Gold)	
5 शोधनीय बिल (Bills Payable)		5 अग्रिम ऋण नकद साख अधिविकर्ष इत्यादि (Advances Loans, Cash Credits, Overdraft etc.) बट्टा अथवा डिस्काउण्ट किये गये बिल (ट्रेजरी बिलों के अलावा) (Bills Discounted and Purchased)	
6 संग्रह हेतु बिल दूसरी ओर प्राप्य बिल होने से (Bills for Collection being Bills Receivable as per Contra)		6 वसूली के लिए प्राप्य बिल (Bills Receivable being Bills for Collection as per Contra)	
7 अन्य दायित्व (Other Liabilities)		7 स्वीकृतियाँ बेचान अन्य देय तथा खातेदारों के दायित्व दूसरी ओर लिखे अनुसार (Constituent's Liabilities for Acceptances, Endorsements and other obligations per Contra)	
8 स्वीकृतियाँ बेचान तथा अन्य देय—दूसरी ओर लिखे अनुसार (Acceptances Endorsements and other obligations per Contra)		8 बैंक भवन (Premises)	
9 लाभ और हानि खाता (Profit and Loss Account)		9 फर्नीचर व अन्य स्थिर सामान (Furniture and Fixtures)	
10 आकस्मिक दायित्व (Contingent Liabilities)		10 अन्य सम्पत्तियाँ तथा चाँदी (Other Assets including Silver)	
		11 गैर-बैंकिंग आदेय (Non Banking Assets Acquired in Satisfaction of claims)	
कुल जोड़ (Grand Total)		कुल जोड़ (Grand Total)	

बैंक के दायित्व (Liabilities of a Bank)

(1) **पूंजी**—संयुक्त पूंजी वाला प्रत्येक बैंक अपनी कार्यशील पूंजी का एक महत्वपूर्ण भाग अंश पूंजी (*share capital*) के रूप में प्राप्त करता है। व्यवसाय चलान के लिए बैंक की स्थापित करते समय जितनी पूंजी की घोषणा 'Memorandum of Association' में की जाती है उसे बैंक की अधिकृत पूंजी (authorised capital) कहा जाता है। इसका जो भाग एक निश्चित कीमत के अंशों के रूप में विक्रय के लिए बैंक द्वारा जारी किया जाता है, निर्गमित पूंजी (issued capital) कहलाता है। इसमें से जितनी पूंजी के अंश जनता द्वारा वास्तव में खरीदे जाते हैं, उसे स्वीकृत पूंजी (subscribed capital) कहते हैं। परिदत्त पूंजी (paid up capital) स्वीकृत पूंजी का वह भाग होता है जिसका भुगतान अंशधारियों से प्राप्त कर लिया गया होता है। इन चारों प्रकार की पूंजी को बैंक अपने स्थिति-विवरण में अलग अलग दिखाते हैं। बैंक की पूंजी उसका दायित्व इसलिए होती है कि यह पूंजी अंशधारियों की होती है तथा बैंक उनका देनदार होता है। भारत में बैंकों की निर्गमित अथवा स्वीकृत पूंजी का अधिकृत पूंजी से आधा तथा प्रदत्त पूंजी का अधिकृत पूंजी में आधा होना आवश्यक है।

(2) **कोष-निधि**—बैंक अपने सम्पूर्ण लाभ का वितरण अंशधारियों में न करके उसका एक भाग संचित कोष (reserves) में रखता है। इसमें बैंक की कार्यशील पूंजी में वृद्धि होती है तथा बैंक की आर्थिक स्थिति दृढ़ होती है। कुछ देशों में सुरक्षित कोष का निर्माण करना अनिवार्य होता है। इस कोष के धन का प्रयोग केवल संकटकाल में ही किया जाता है।

(3) **जमा राशि तथा अन्य खाते**—बैंक के दायित्वों में सबसे बड़ी मद निक्षेपों की होती है। चालू, बचत तथा स्थायी खातों में प्राप्त होने वाली राशि बैंकों को अलग अलग दिखानी पड़ती है। निक्षेपों का एक भाग ऋणों से उत्पन्न होता है तथा दूसरा नकदी के रूप में प्राप्त होता है। नकद जमा राशि, जिसे प्राथमिक जमा (primary deposit) कहा जाता है, बैंक की साख-सृजन की शक्ति का आधार होती है।

(4) **अन्य बैंकों, अभिकर्ताओं आदि के ऋण**—आवश्यकता पड़ने पर बैंक अन्य बैंकों अथवा केन्द्रीय बैंक या अभिकर्ताओं (agents) आदि से ऋण लेता है जो प्रायः अल्पकालीन होता है। भारत में प्रत्येक बैंक अन्य देशी अथवा विदेशी बैंकों से प्राप्त ऋण की राशि को अपने स्थिति विवरण में अलग से दिखाता है।

(5) **शोधनीय बिल**—इस मद में उन बिलों की कुल राशि आती है जिनके भुगतान करने का दायित्व बैंक पर होता है।

(6) **अन्य बिल**—इसके अन्तर्गत उन बिलों की राशि दिखायी जाती है जो ग्राहकों द्वारा समय समय पर बैंकों को उनका भुगतान प्राप्त (collection) करने के लिए भेजे जाते हैं और जिनकी राशि को बैंक ग्राहकों के खाते में जमा कर देता है। इस प्रकार के बिल स्थिति विवरण में दायित्व के रूप में भी दिखाये जाते हैं तथा आदेय के रूप में भी क्योंकि एक ओर तो बैंक इनका लेनदार होता है और दूसरी ओर इनका भुगतान प्राप्त कर ग्राहकों के खाते में जमा करना होता है।

(7) **अन्य दायित्व**—कुछ अन्य प्रकार के दायित्वों की राशि इस मद में दिखायी जाती है, जैसे अदत्त लाभांश (unpaid dividend), आय-कर के लिए आयोजन, कर्मचारियों को बोनस, कर्मचारियों का सहायता खाता, शाखाओं के पारस्परिक जमा खर्च, विविध देनदारी खाता, अनर्जित प्राप्त आय, मांग का अग्रिम भुगतान, इत्यादि।

(8) **स्वीकृतियां, बेचान तथा इसी प्रकार के अन्य दायित्व**—बैंक द्वारा अपने ग्राहकों के लिए स्वीकार किये गये विनिमय बिल तथा साख पत्रों पर दी गयी गारण्टी आदि की राशि इस मद में सम्मिलित होती है। यह भी बैंक के दायित्व तथा आदेय दोनों ओर दिखाये जाते हैं, क्योंकि इनका भुगतान करना बैंक का दायित्व होता है, परन्तु इनकी रकम ग्राहकों से प्राप्त होती है।

(9) **लाभ और हानि खाता**—स्थिति-विवरण मे लाभ तथा हानि दोनों ही दायित्व के रूप मे दिखाये जाते है। चूंकि लाभ की राशि का वितरण अंशधारियों में करना होता है इसलिए यह बैंक की देनदारी होती है।

(10) **आकस्मिक देनदारी**—इसके अन्तर्गत बैंक ऐसी देनदारियां दिखाता है जिनकी राशि निश्चित नहीं होती, परन्तु जिनके भविष्य मे उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना होती है। इस प्रकार की देनदारी का अनुमान लगाकर स्थिति-विवरण मे सबसे नीचे दिखाया जाता है।

बैंक की लेनदारी अथवा आदेय (Assets of a Bank)

(1) **नकदी**—ग्राहकों की नकद मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा अन्य दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बैंक कुछ नकद कोष अपने पास रखते है और कुछ केन्द्रीय बैंक अथवा अन्य किसी बैंक के पास रखते हैं। स्थिति-विवरण में हाथ की नकदी तथा अन्य बैंकों के पास रखी गयी नकदी को अलग-अलग दिखाया जाता है।

(2) **अन्य बैंको मे जमा**—बैंकों म पारस्परिक लेन-देन के कारण कुछ रकम दूसरे बैंको के पास चालू खातो म जमा रह जाती है, जिसे स्थिति-विवरण में अलग से दिखाया जाता है।

(3) **याचना राशि तथा अल्प-सूचनार्थ ऋण**—बैंक के ऐसे अल्पकालीन ऋण जिन्हें बिना किसी पूर्व-सूचना के अथवा एक अत्यन्त अल्पकालीन सूचना देकर वसूल किया जा सकता है, इस मद के अन्तर्गत दिखाये जाते है।

(4) **विनियोग**—इस मद में विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों में लगायी गयी रकम, ट्रेजरी बिल, अंश, ऋणपत्र, बॉण्ड्स स्वर्ण आदि म किय जाने वाले विनियोग अलग-अलग दिखाये जाते है। ये सब विनियोग प्रतिभूतियों आदि के लिखित मूल्य अथवा उससे कम मूल्य पर होते हैं।

(5) **अग्रिम**—इसके अन्तर्गत बैंक के अग्रिम धन, ऋण, नकद साख तथा अधिविकर्ष की रकमें दिखायी जाती है। खरीद अथवा डिस्काउण्ट किये गये बिलों की राशि भी इसी के अन्तर्गत दिखायी जाती है। ऋण की जमानत तथा ऋणियों के आधार पर बैंक के ऋण और अग्रिम अलग अलग दिखाये जाते है, जैसे पूर्णतया सुरक्षित ऋण, व्यक्तिगत जमानत पर दिये गये ऋण, ऋण जिन पर ऋणी की व्यक्तिगत जमानत के अलावा अन्य व्यक्तियों की भी व्यक्तिगत जमानत है, बिना जमानत के ऋण, बैंक के सचालकों तथा अधिकारियों को दिये गये ऋण, ऐसी कम्पनियों को दिये गये ऋण जिनमें बैंक के सचालक किसी भी रूप में सम्बद्ध है, अन्य बैंकों पर ऋण इत्यादि।

(6) **वसूली के लिए प्राप्य बिल**—बैंक के पास ग्राहकों की वसूली (collection) के लिए आये हुए बिल इसके अन्तर्गत दिखाये जाते है। चूंकि इनकी वसूली के पश्चात इनका भुगतान ग्राहकों को करना होता है इसलिए ये दायित्वों म भी दिखाये जाते हैं।

(7) **स्वीकृतियाँ, बेचान आदि**—इसके अन्तर्गत ऐसे बिलो की रकमें दिखायी जाती है जिन्हें बैंक अपने ग्राहकों की ओर से स्वीकार करता है और जिनके भुगतान का दायित्व वह अपने ऊपर लेता है। इस प्रकार ये स्पष्ट रूप से बैंक के दायित्व होते है, परन्तु चूंकि बैंक इनकी रकम ग्राहकों से वसूल करने का अधिकारी होता है, इसलिए ये बैंक के आदेय अथवा लेनदारी भी हैं। इस मद में आदेय तथा दायित्व दोनों एक-दूसरे से सन्तुलित हो जाते है।

(8) **बैंक-भवन**—इसके अन्तर्गत बैंक के कार्यालयों के भवनों का मूल्य, घिसावट (depreciation) निकाल कर, दिखाया जाता है। यह वास्तव में बैंक का सबसे कम तरल आदेय होता है।

(9) **फर्नीचर तथा अन्य मृत स्कन्ध**—भवनों के समान बैंक के फर्नीचर, पंखे, अलमारियाँ, लॉकरों आदि का मूल्य भी, घिसावट निकालकर, अलग से दिखाया जाता है।

(10) **अन्य आदेय**—इस मद म अनेक प्रकार के आदेय दिखाये जाते हैं, जैसे विनियोगों पर प्राप्त आय जिसे अभी तक प्राप्त नहीं किया गया है, किराया तथा अन्य सेवा सम्बन्धी वसूलियाँ (service charges) जो अभी वसूल करनी है, बैंक के पास स्टेशनरी तथा टिकट आदि।

(11) **गैर-बैंकिंग आदेय**—ये बैंक के ऐसे आदेय है जिनमें बैंक ने स्वेच्छा से विनियोग नहीं किया होता, बल्कि जो भुगतान न करने वाले ऋणियों से दावों (claims) की पूर्ति मे प्राप्त होते हैं।

स्थिति-विवरण के अध्ययन से लाभ

बैंक का स्थिति विवरण बैंक की सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति का चित्र होता है। इसके अध्ययन के विशेष रूप से उल्लेखनीय लाभ निम्नलिखित हैं

1. बैंक के दायित्वो तथा आदेयो का विश्लेषण करने से बैंक की वर्तमान आर्थिक दशा के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त होता है।
2. चालू वर्ष के स्थिति विवरण की पिछले वर्षो के विवरणो से तुलना करके बैंक की प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है।
3. विभिन्न बैंको के स्थिति-विवरणो के आधार पर उनकी आर्थिक स्थिति की तुलना की जा सकती है।
4. स्थिति विवरण के प्रकाशन से बैंक से सम्बन्धित सभी व्यक्तियो को उनके हितो के बारे मे सूचना मिल जाती है। बैंक के अशधारी, निक्षेपधारी, देनदार, लेनदार तथा कर्मचारी सभी को उनके हितो से सम्बन्धित सूचना प्राप्त होती है।
5. बैंको मे जनता के विश्वास का आधार उनका स्थिति विवरण ही होता है और इसी से जनता को विनियोग के लिए रास्ता मिलता है।
6. स्थिति विवरण से बैंक की सुरक्षा तथा तरलता का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरो के सकेत

1. व्यापारिक बैंक अपनी पूजी किन साधनो से प्राप्त करते है ? विवेचन कीजिए।

 [सकेत—पूजी प्राप्त करने के प्रमुख साधनो—अश-पूजी, निक्षेप, ऋण सचय निधि तथा सुरक्षित कोष का विस्तारपूर्वक विवरण दीजिए।]

2. "साहस व्यापार का जीवन है परन्तु सावधानी से किया गया विनियोग आधुनिक बैंकिंग का सार है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

 [सकेत—बैंको के लिए यह आवश्यक है कि अपने कार्यो का विस्तार करें परन्तु सावधानी के लिए उन्हें अपनी विनियोग-नीति कुछ सिद्धान्तो पर आधारित करनी चाहिए। इन सिद्धान्तो का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।]

3. किसी बैंक के नकद कोषों को निर्धारित करने वाले महत्वपूर्ण कारणों की व्याख्या कीजिए।

 [सकेत—अलग अलग बैंको के नकद कोषो की मात्रा का निर्धारण जिन जिन बातो से प्रभावित होता है उनकी व्याख्या कीजिए।]

4. बैंक द्वारा ग्राहकों को ऋण देते समय किन सिद्धान्तों को ध्यान मे रखना चाहिए ? बैंक के दृष्टिकोण से कौनसे विनियोग सबसे अधिक उपयुक्त हैं ?

 [सकेत—प्रथम भाग मे विनियोग-नीति के मुख्य सिद्धान्त बताइए और दूसरे भाग मे इन्हीं के आधार पर यह स्पष्ट कीजिए कि तरल, सुरक्षित तथा लाभपूर्ण विनियोग ही उपयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ सरकारी ऋण, अच्छी प्रतिभूतियो तथा अच्छे बिलो मे विनियोग उपयुक्त विनियोग के उदाहरण हैं।]

5. ऋण देते समय बैंक द्वारा कौनसी जमानतों की माग की जाती है ? इनके अलग-अलग गुण दोष स्पष्ट कीजिए।

 [सकेत—ऋणो के लिए अलग-अलग व्यक्तिगत तथा सहायक जमानतो के विभिन्न रूपो का विवरण दीजिए और प्रत्येक के गुण तथा दोष बताइए।]

6. बैंकों के स्थिति विवरण के दोनों ओर के मुख्य मदों को बताइए। एक ओर के मद को दूसरी ओर भी क्यों दिखाया जाता है ?

 [सकेत—बैंक के दायित्वो तथा आदेयों का विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि कुछ मद दोनो ओर इसलिए दिखाया जाता है कि इन्हें बैंक एक ओर प्राप्त करता है तो दूसरी ओर भुगतान का दायित्व अपने ऊपर लेता है अथवा भुगतान करते समय वसूली का भी अधिकारी होता है। इस प्रकार की मद मुख्य रूप से वसूली के लिए प्राप्त बिल तथा स्वीकृतिया, बचान आदि हैं। एक काल्पनिक स्थिति विवरण बनाकर उसमे विभिन्न मदो को स्पष्ट कीजिए।]

7. "एक अच्छे बैंक को चाहिए कि वह तरलता तथा लाभदायकता के बीच सन्तुलन बनाये रखे।" व्याख्या कीजिए।

 [सकेत—बैंक के तरल विनियोग अधिक लाभकर नहीं होते तथा अधिक लाभकर विनियोग अधिक तरल नहीं होते। तरलता तथा लाभदायकता के सिद्धान्तो के आधार पर इन दोनो मे सन्तुलन बनाये रखने की आवश्यकता का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।]

14

बैंक और ग्राहक का सम्बन्ध

[RELATIONSHIP BETWEEN THE BANK AND THE CUSTOMER]

"'ग्राहक' शब्द एक ऐसे सम्बन्ध की ओर संकेत करता है जिसका प्रथानुसार निरन्तर बने रहने वाला स्वरूप है, तथा इसमें कम से कम एक पक्ष इसे तोड़ने के लिए अनिच्छुक होता है।"[1] —चेण्डलर

बैंक का व्यवसाय अपने ग्राहकों के साथ साख एवं मुद्रा का लेन-देन करना होता है। इस प्रकार बैंक तथा ग्राहक का पारस्परिक सम्बन्ध काफी घनिष्ठ होता है। इन सम्बन्धों की व्याख्या करने के पूर्व 'ग्राहक' शब्द का सही अर्थ समझने की आवश्यकता है।

'ग्राहक' की परिभाषा

सामान्यतया किसी व्यापारी से सामान खरीदने वाले व्यक्ति को ग्राहक कहा जाता है। इसी प्रकार, बैंक से लेन-देन करने वाले व्यक्ति को बैंक का ग्राहक कहा जा सकता है। साधारणतया किसी भी व्यक्ति, कम्पनी या अन्य कानूनी संस्था के जिसका बैंक में खाता है और जिसे बिना पूर्व सूचना के चैक द्वारा या अन्य किसी प्रकार से उस बैंक में से रुपया निकालने का अधिकार है, बैंक का ग्राहक कहते हैं।

व्यावहारिक रूप में बैंक के ग्राहक की परिभाषा काफी विवादपूर्ण रही है। अधिकांश रूप से वर्षों तक यही धारणा रही है कि बैंक के साथ नियमित रूप से व्यवहार करने वाला व्यक्ति ही बैंक का ग्राहक कहलाने का अधिकारी हो सकता है। चेण्डलर ने बैंक तथा ग्राहक के सम्बन्ध के "निरन्तर बने रहने वाले स्वरूप" (continuing nature) का उल्लेख किया है। जॉन पेजट (Sir John Paget) के अनुसार, "बैंक के साथ नियमित रूप से सौदा करने वाले व्यक्ति तथा फर्म ही बैंक के ग्राहकों की श्रेणी में आने चाहिए। जिस प्रकार कोई भी विक्रेता अपने कभी-कभी सौदा खरीदने वालों को ग्राहक से अलग समझता है, उसी प्रकार किसी बैंक के ग्राहकों की गणना में वे ही व्यक्ति या फर्में आ सकती हैं जो उसके साथ **कुछ समय से नियमित रूप से बैंकिंग** व्यवसाय कर रही हों।"

'ग्राहक' शब्द की विस्तृत रूप में परिभाषा देते हुए उपर्युक्त विचारधारा का खण्डन किया जाता है। बैंक का ग्राहक वह है जिसका बैंक में खाता है, चाहे उसने यह खाता आज ही खोला हो और बैंक से लेन-देन पहली बार ही किया हो। दूसरे शब्दों में, उसके बैंक से 'कुछ समय से नियमित सम्बन्ध" के लिए समय के प्रतिबन्ध की आवश्यकता नहीं समझते हैं।[2]

इसके अतिरिक्त यह भी कहना गलत है कि बैंक का ग्राहक केवल वही है जो बैंक में धन जमा करे। व्यावसायिक दृष्टिकोण से बैंक के जमाधारी तथा ऋणी में कोई

---

1 "The very term 'Customer' suggests a relationship that is customarily of a continuing nature and that at least one of the parties involved would be reluctant to break —Lester V Chandler *The Economics of Money and Banking*, Fourth Edition, p 123

2 "The word 'Customer' signifies a relationship in which duration of time is not of essence" —Lord Dunedin.

अन्तर नहीं होता। बैंक के ऋण भी साख जमा (credit deposit) को उत्पन्न करते हैं। चूंकि बैंक के ऋणी के खाते में भी रुपया जमा होता है, इसलिए बैंक में नकद रुपया जमा करने वालों के साथ-साथ बैंक का प्रत्येक ऋणी भी बैंक का ग्राहक होता है।

किसी व्यक्ति अथवा संस्था को ग्राहक बनाते समय बैंक उसके चरित्र तथा व्यापार आदि के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेता है। बैंक नये ग्राहक से उसका परिचय माँगता है तथा उसके बारे में पुराने ग्राहकों से पूछताछ करता है। खाता खोलते समय ग्राहक के हस्ताक्षरों के नमूने (speciman signatures) लिये जाते हैं तथा भविष्य में इन हस्ताक्षरों से मिलान करने के बाद ही ग्राहक के आदेशों के अनुसार भुगतान किये जाते हैं।

बैंक के ग्राहकों के प्रकार

(1) **व्यक्ति तथा उसका एजेन्ट**—कोई भी व्यक्ति परिचय देकर बैंक में खाता खोल सकता है। बैंक को आदेश देकर वह किसी अन्य व्यक्ति को अपना एजेन्ट नियुक्त कर सकता है जो उसकी ओर से बैंक से भुगतान प्राप्त कर सकता है। किसी अन्य व्यक्ति के साथ मिलकर संयुक्त खाता (Joint Account) भी खोला जा सकता है जिसमें यह पहले से निश्चित कर दिया जाता है कि भुगतान दोनों के हस्ताक्षर होने पर किया जायगा या कोई भी व्यक्ति केवल अपने हस्ताक्षरों से भुगतान प्राप्त कर सकेगा।

(2) **साझेदारी फर्म**—साझेदारी फर्मों के खाते में रुपया तो किसी भी व्यक्ति द्वारा जमा कराया जा सकता है परन्तु रकम निकालने का अधिकार फर्म के कुछ साझेदारों को ही होता है। एक से अधिक साझेदारों के कभी-कभी एक साथ हस्ताक्षरों से खाते का संचालन होता है।

(3) **कम्पनियाँ तथा संस्थाएँ**—संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियाँ तथा अन्य संस्थाएँ जैसे क्लब, स्कूल, संघ अथवा ट्रस्ट अपने खाते के संचालन का अधिकार किसी एक अधिकारी को दे देते हैं। ऐसे खातों में से रुपया निकालते समय कम्पनी अथवा संस्था के अधिकारी के हस्ताक्षर के साथ रबर की मुहर भी लगानी पड़ती है।

(4) **नाबालिग (Minor)**—बैंक में किसी नाबालिग के नाम से भी खाता खोला जा सकता है। कानूनी तौर पर नाबालिग के साथ किये गये प्रसंविदे (contracts) अमान्य होने के कारण नाबालिग के खाते का संचालन उसके संरक्षक (guardian) द्वारा किया जाता है।

(5) **सम्मिलित हिन्दू परिवार**—सम्मिलित हिन्दू परिवार के खाते में व्यवसाय-संचालन का अधिकार परिवार के प्रमुख अथवा कर्त्ता (Karta) को होता है, क्योंकि अन्य सदस्यों के वैधानिक अधिकार व दायित्व सीमित होते हैं।

(6) **विवाहित स्त्रियाँ**—एक विवाहित स्त्री के निजी खाते पर उसके पति का कोई अधिकार नहीं होता और न ही उसकी जवाबदारी होती है। कोई स्त्री यदि चाहे तो अपने पति अथवा किसी अन्य व्यक्ति को खाते चलाने के लिए अपना एजेन्ट नियुक्त कर सकती है।

बैंक तथा ग्राहक के पारस्परिक सम्बन्ध

बैंक और ग्राहक के बीच तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं—(क) ऋणदाता तथा ऋणी का सम्बन्ध (Creditor and Debtor), (ख) अभिकर्ता तथा प्रधान का सम्बन्ध (Agent and Principal), (ग) धरोहरधारी और धरोहरधर्ता का सम्बन्ध (Bailee and Bailer)।

(1) **ऋणदाता तथा ऋणी का सम्बन्ध**—सर जॉन पेजट के अनुसार बैंक तथा ग्राहक के सम्बन्धों में ऋणी तथा ऋणदाता का सम्बन्ध सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। जब बैंक ग्राहकों से जमा प्राप्त करता है तो बैंक ऋणी होता है तथा ग्राहक ऋणदाता। इसके विपरीत, जब बैंक ग्राहक को नकद-साख, अधिविकर्ष अथवा किसी अन्य रूप में ऋण तथा अग्रिम देता है तो बैंक ऋणदाता तथा ग्राहक ऋणी होता है। इस प्रकार कभी ग्राहक बैंक का ऋणी होता है और कभी ऋणदाता की स्थिति में होता है।

बैंक और ग्राहक के उपर्युक्त सम्बन्ध में कुछ विशेषताएँ होती हैं जो सामान्यतः अन्य ऋणियों तथा ऋणदाताओं के बीच नहीं पायी जाती है। ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

1. **ऋण लौटाने की स्वतन्त्रता**—जब कोई ग्राहक बैंक में रुपया जमा कराता है तो वह बैंक का ऋणदाता होता है तथा बैंक की स्थिति ऋणी की होती है। एक साधारण ऋणी को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह अपनी सुविधानुसार जब चाहे ऋण को लौटा दे तथा अपने को इसके भार से मुक्त कर ले। परन्तु जब बैंक ऋणी की स्थिति में होता है तो उसे ऐसा करने की स्वतन्त्रता नहीं होती। ग्राहक की जमा अथवा ऋण का भुगतान ग्राहक द्वारा माँगे जाने पर ही किया जाता है। बैंक को यह अधिकार नहीं होता कि बिना माँगे वह अपने ऋणों का भुगतान करे। बैंक के दिवालिया हो जाने की दशा में प्रत्येक जमाकर्ता अपने जमा धन का प्रमाण-पत्र देकर जमा राशि को बैंक से वसूल करने का दावा करता है और उसका भुगतान हो जाने पर उसका खाता बन्द हो जाता है।
2. **ऋणदाता के आदेश पर ऋण का भुगतान**—एक साधारण ऋण की प्रायः एक निश्चित अवधि होती है और इसके पूर्व ऋणी को भुगतान करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। परन्तु निश्चित अवधि वाले खाते (Fixed Deposit Account) के अतिरिक्त अन्य किसी भी खाते में जमा की गयी रकम को जमाकर्ता (ऋणदाता) पूर्व-निर्धारित शर्तों के आधार पर चैक आदि के द्वारा लौटाने का आदेश बैंक को दे सकता है। बैंक को यह अधिकार नहीं होता कि बिना किसी न्यायोचित कारण (without any valid reason) के ग्राहक के चैक द्वारा माँगी गयी रकम का भुगतान करने से इन्कार कर दे। ऐसा करने पर ग्राहक द्वारा बैंक पर मान-हानि का दावा तक किया जा सकता है।
3. **ऋण के उपयोग की स्वतन्त्रता**—एक साधारण ऋण एक निश्चित उद्देश्य के लिए दिया जाता है, परन्तु ग्राहकों द्वारा बैंक को दिये गये ऋण के उपयोग पर बैंक (ऋणी) का पूर्ण अधिकार होता है। वह जहाँ चाहे और जिस प्रकार चाहे इसका विनियोग अथवा व्यय कर सकता है। इसके विपरीत, जब बैंक ऋणदाता तथा ग्राहक ऋणी होता है तो बैंक प्रायः ऋण के उपयोग पर नियन्त्रण रखता है और उपयोग के आधार पर ही ऋण की स्वीकृति देता है।
4. **खातों की गोपनीयता**—बैंक अपने ग्राहकों के खातों से सम्बन्धित सभी बातों को गुप्त रखता है। बिना किसी उचित कारण के बैंक द्वारा ग्राहक की स्थिति प्रकट कर देने पर यदि ग्राहक को कोई हानि होती है तो वह बैंक के ऊपर क्षतिपूर्ति का दावा कर सकता है। केवल निम्न दशाओं में बैंक द्वारा खातों की गोपनीयता बनाये रखना आवश्यक नहीं होता (i) जब न्यायालय द्वारा ग्राहक के खाते का विवरण माँगा गया हो (ii) जब राष्ट्र, समाज अथवा व्यावसायिक हितों की रक्षा के लिए ऐसा करना आवश्यक हो, (iii) जब बैंक द्वारा ग्राहक को दिये गये ऋण की वसूली के लिए अथवा बैंक की अपनी सुरक्षा के लिए खाते की स्थिति को प्रकट करना आवश्यक हो, (iv) जब स्वयं ग्राहक बैंक को आदेश दे और जानकारी प्राप्त करने के लिए उसने किसी को बैंक का हवाला (reference) दिया हो।

(2) **अभिकर्ता तथा प्रधान का सम्बन्ध**—बैंक और ग्राहक का दूसरा महत्वपूर्ण सम्बन्ध एक अभिकर्ता (Agent) तथा प्रधान (Principal) का है। एजेण्ट के रूप में बैंक अपने ग्राहकों के आदेशानुसार अनेक कार्य करता है, जिनका विस्तृत विवरण 'बैंक के कार्य' के अन्तर्गत दिया जा चुका है। संक्षेप में, एजेण्ट के रूप में बैंक द्वारा किये जाने वाले कार्य इस प्रकार हैं—ग्राहकों की ओर से भुगतान करना एवं वसूली करना, शेयरों व प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय, एक स्थान से दूसरे स्थान को धन का हस्तान्तरण, ग्राहक की ओर से बिलों व हुण्डियों को स्वीकार करना तथा

उनका भुगतान प्राप्त करना, ग्राहकों के शेयरों पर लाभांश, ब्याज तथा जायदाद का किराया आदि वसूल करना, बीमे के प्रीमियम तथा ब्याज आदि का भुगतान करना, ट्रस्टी व एक्जीक्यूटर के रूप में कार्य करना, ग्राहकों के आर्थिक सलाहकार के रूप में कार्य करना, इत्यादि।

बैंक द्वारा एजेन्ट के रूप में किये गये कार्यों के लिए उत्तरदायित्व ग्राहक का ही होता है। परन्तु यह आवश्यक है कि इन कार्यों को करने के लिए बैंक ग्राहक से लिखित अधिकार-पत्र प्राप्त कर ले। लिखित अधिकार-पत्र के बाहर किये गये कार्यों के लिए उत्तरदायित्व बैंक का ही होता है।

(3) **धरोहरधारी तथा धरोहरकर्ता का सम्बन्ध**—बैंक और ग्राहक के बीच तीसरा महत्वपूर्ण सम्बन्ध धरोहरधारी (bailee) तथा धरोहरकर्ता (bailer) का होता है। बैंक के कार्य बताते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि बैंक अपने ग्राहकों की मूल्यवान वस्तुएँ, जैसे धातुएँ, आभूषण, हीरे-जवाहरात, प्रतिभूतियां तथा अन्य दस्तावेज इत्यादि, सुरक्षित रखने के लिए स्वीकार करता है। इन वस्तुओं के संरक्षक (custodian) के रूप में किया गया कार्य बैंक को धरोहरधारी (bailee) या प्रन्यासी (trustee) बना देता है और ग्राहक को धरोहरकर्ता (bailer) अथवा प्रत्यासी (beneficiary) बना देता है। बैंक के संरक्षण में रखी गयी वस्तुओं को सुरक्षित लौटाने का उत्तरदायित्व बैंक का होता है। ये वस्तुएँ बैंक के सुरक्षित लॉकरों में जमा रहती हैं, जिनकी एक चाभी ग्राहक के पास रहती है तथा दूसरी बैंक के पास। लॉकर का प्रयोग करने पर ग्राहक को किराया देना पड़ता है।

बैंक से लिये गये ऋण की जमानत के रूप में यदि बैंक के पास कोई धरोहर रखी होती है तो बैंक धरोहरधारी होने के नाते इस धरोहर की रक्षा का उचित प्रबन्ध करता है। इसके खो जाने, नष्ट हो जाने या बिगड़ जाने की दशा में बैंक जिम्मेदार होता है।

बैंक तथा ग्राहक के विशेष सम्बन्ध

उपर्युक्त तीनों प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धों के अतिरिक्त बैंक अपने ग्राहकों के प्रति कुछ विशेष जिम्मेदारियां भी निभाता है, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं

(1) **चैकों का भुगतान**—प्रत्येक बैंक का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह अपने ग्राहकों द्वारा जारी किये गये चैकों का भुगतान करे। बिना कारण के भुगतान करने से इन्कार कर देने पर ग्राहक बैंक पर क्षतिपूर्ति का दावा कर सकता है। बैंक चैक को तिरस्कृत (dishonour) तभी करता है जबकि निम्नलिखित में से कोई एक अथवा एक से अधिक कारण हों (1) लेखक की ओर से वसूली के लिए आये हुए चैकों की वसूली न पाने के कारण खाते में पर्याप्त रकम न होना (Effects not yet cleared), (2) जिस खाते का चैक दिया गया है उनमें पर्याप्त धन न होना (Not arranged for), (3) लेखक से पूछताछ करने पर बैंक का भुगतान करना हो (Refer to Drawer), (4) लेखक के हस्ताक्षर नमूने के हस्ताक्षर से न मिलते हों (Signature differs), (5) चैक में किये गये परिवर्तन पर लेखक के हस्ताक्षर न हों (Alteration requires full signatures), (6) आदाता ने बेचान न किया हो (Payee's endorsement required), (7) चैक पर बेचान ठीक न हो (Payees endorsement irregular), (8) बेचान पर किसी बैंक की गारण्टी आवश्यक हो (Endorsement requires bank's guarantee), (9) चैक पर आगे आने वाली तारीख लिखी हो (Cheque is post-dated), (10) चैक छह माह से अधिक पुरानी तारीख का हो (Out of date), (11) चैक की धनराशि अंकों व शब्दों में एकसी न लिखी हो (Amount in words and figures differs), (12) लेखक के खाते में पर्याप्त रकम न हो (Insufficient funds), (13) चैक पूर्ण न हो (Incomplete), (14) चैक फट गया हो, गन्दा हो गया हो या विकृत हो गया हो (Mutilated), (15) लेखक ने चैक का भुगतान रोकने की लिखित आज्ञा दे दी हो (Payment stopped by the drawer), (16) खाता बन्द हो गया हो (Account closed), (17) सरकार ने चैक का भुगतान न करने का आदेश दिया हो (Garnishee order), (18) लेखक की मृत्यु की सूचना बैंक को मिल चुकी हो (Drawer deceased), (19) लेखक पागल या दिवालिया घोषित कर दिया गया हो (Drawer declared insane or insol-

vent), (20) रेखांकित चैक का नकद भुगतान माँगा गया हो (Crossed cheque must be presented through a bank)।

उपर्युक्त कारणों में से कोई भी कारण न होने पर यदि बैंक चैक का भुगतान न करे, तो वह ग्राहक की क्षतिपूर्ति करने का उत्तरदायी होगा।

(2) **बैंक का ग्रहणाधिकार (Right of Lien)**—यदि बैंक को ग्राहक से कुछ रकम वसूल करनी हो तथा कोई पूर्व समझौता न हो तो बैंक द्वारा ग्राहक की इन सम्पत्तियों पर ग्रहणाधिकार का प्रयोग किया जा सकता है (1) बैंक को वसूली (collection) के लिए अथवा जमानत के रूप में दी गयी प्रतिभूतियाँ, (2) जमानत के तौर पर बैंक के पास रखी गयी प्रतिभूतियाँ जो ऋण चुकाने के बाद भी बैंक के पास छोड़ दी गयी हों, (3) ग्राहक के खाते में जमा रकम। इसके विपरीत ग्राहक की कुछ अन्य सम्पत्तियों पर बैंक ग्रहणाधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता, जैसे (1) बैंक के लॉकरों में रखी हुई ग्राहकों की मूल्यवान वस्तुएँ, (2) किसी विशिष्ट कार्य के लिए जमा करायी गयी रकम अथवा चैक बिल, आदि (3) बैंक से भुनाये हुए बिलों की रकम, (4) विक्रय के लिए बैंक के पास जमा सम्पत्ति, (5) बैंक के पास जमा मूल्यवान सम्पत्तियाँ जिन पर ग्राहक का वैधानिक अधिकार नहीं, तथा (6) ऐसा ऋण जिसकी अवधि पूर्ण नहीं हुई है।

इस प्रकार बैंक का ग्रहणाधिकार उन्हीं वस्तुओं तक सीमित होता है जो उनके पास लेन-देन के सामान्य क्रम के अन्तर्गत आती है। सुरक्षा के लिए बैंक के पास ग्राहक द्वारा रखी गयी वस्तुओं पर बैंक का ग्रहणाधिकार नहीं होता।

जब किसी ग्राहक के एक ही बैंक की दो शाखाओं में अलग-अलग खाते हों तथा एक खाते में वह ऋणदाता हो और दूसरे में ऋणी तो बैंक अपने ऋण की रकम जमा खाते से वसूल कर सकता है। इन खातों को तभी मिलाया जा सकता है जब वे एक ही नाम में हों तथा ग्राहक को इसकी सूचना पहले से दे दी गयी हो।

यदि बैंक को किसी ग्राहक के खाते पर कुर्की का आदेश प्राप्त हो जाय तो वह उस खाते में से रकम निकालने की अनुमति नहीं देगा और न ही चैकों का भुगतान करेगा। धरोहर के रूप में रखी गयी वस्तुओं को नहीं रोका जायगा। संयुक्त खाते की रकम पर भी कुर्की आदेश नहीं लागू किया जा सकता। ग्राहक के दिवालिया हो जाने पर बैंक उसके खाते में जमा रकम को अधिकृत अवसायक (Official Liquidator) के आदेशानुसार भुगतान करेगा।

(3) **समय-सीमा नियम**—समय-सीमा नियम (Time Limitation Law) के अनुसार सामान्यतः यदि ऋण की रकम की माँग तीन वर्ष तक नहीं की जाती तो ऋणदाता ऋणी से वह रकम वसूल करने का कानूनी तौर पर अधिकारी नहीं होता। परन्तु बैंक तथा ग्राहक के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता। ग्राहक द्वारा अपने खाते से अपनी जमा तथा ब्याज निकाले हुए तीन वर्ष से अधिक समय बीत जाने पर भी उसे अपने खाते में से रकम निकालने का पूर्ण अधिकार रहता है। परन्तु यदि कोई ग्राहक अपने खाते से एक निश्चित तिथि को रकम निकालने की माँग करे और उसका भुगतान तीन वर्ष तक न ले तो समय सीमा नियम लागू होगा।

इसी प्रकार बैंक द्वारा दिये गये ऋणों पर बैंक को प्राप्त ग्रहणाधिकार पर भी समय सीमा नियम लागू नहीं होता। जब तक ऋणी बैंक से लिये गये ऋण को लौटा न दे, बैंक को ग्राहक की सामान्य लेन देन में प्राप्त हुई वस्तुओं पर ग्रहणाधिकार रहता है।

(4) **अन्य**—बैंक तथा ग्राहक के विशेष सम्बन्धों में उपर्युक्त सम्बन्धों के अतिरिक्त, जैसा पहले बताया गया है, बैंक सामान्यतः ग्राहक के खाते को गुप्त रखने के लिए बाध्य होता है।

बैंक को प्राप्त विशेष अधिकारों के अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहकों से आकस्मिक व्यय (incidental charges) वसूल करने का अधिकारी होता है। किसी पूर्व समझौते के अभाव में बैंक को अपने ग्राहकों को दिये गये ऋणों पर चक्रवृद्धि ब्याज (compound interest) लेने का भी अधिकार होता है।

इस प्रकार बैंक तथा ग्राहक के सम्बन्धो के दो पहलू हैं—वैधानिक तथा व्यावहारिक। वैधानिक नियमो तथा व्यवस्थाओं का पालन करते हुए भी सफल व्यवसाय के लिए दोनों को एक दूसरे की सुविधाओ का ध्यान रखना पडता है। ग्राहक बैंक से यथोचित एव श्रेष्ठ सेवा प्राप्त करने की आशा रखता है और इनके बदले मे बैंक उचित शुल्क प्राप्त करता है। बैंक तथा ग्राहक के सम्बन्धो मे विकास के परिणामस्वरूप एक ओर तो देश मे व्यापारिक तथा औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है तथा दूसरी ओर बैंकिंग विकास को बल मिलता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. बैंक और उसके ग्राहकों के पारस्परिक सम्बन्धों की परीक्षा कीजिए।
   [संकेत, बैंक और ग्राहक के बीच ऋणी तथा ऋणदाता के सम्बन्ध, प्रधान तथा अभिकर्ता के सम्बन्ध, धरोहर-धारी तथा धरोहरधर्ता के सम्बन्ध तथा अन्य विशेष सम्बन्धो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]
2. बैंक का ग्राहक किसे कहा जाता है ? उसके तथा बैंक के बीच सामान्य सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।
   [संकेत · पहले ग्राहक की परिभाषा दीजिए और फिर बैंक तथा ग्राहक के बीच सम्बन्धो का वर्णन कीजिए।]
3. बैंक किन परिस्थितियों मे ग्राहकों के चैक लौटा सकता है तथा किन परिस्थितियो मे ग्रहणाधिकार का प्रयोग करता है ?
   [संकेत प्रथम भाग मे बैंक के भुगतान से सम्बन्धित उन कारणो का वर्णन कीजिए जिनके अन्तर्गत बैंक चैक को तिरस्कृत कर सकता है। दूसरे भाग मे बैंक के ग्रहणाधिकार से सम्बन्धित विशेषताओ का उल्लेख कीजिए।]

15

केन्द्रीय बैंकिंग

[CENTRAL BANKING]

अतीत से अब तक तीन महान आविष्कार हुए हैं—आग, पहिया तथा केन्द्रीय बैंक।[1]

—विल रोजर्स

प्रत्येक देश की बैंकिंग व्यवस्था में वहां के केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि अन्य बैंक इससे निर्देशन प्राप्त करते हैं तथा अनेक प्रकार से इस पर निर्भर करते हैं। केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के लिए एक मित्र, दार्शनिक तथा पथ प्रदर्शक (friend philosopher and guide) के रूप में कार्य करता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से अब तक केन्द्रीय बैंक की प्रकृति तथा कार्य प्रणाली में इतने अधिक परिवर्तन हुए हैं कि अब ऐसा अनुभव किया जाने लगा है कि और अधिक परिवर्तनों की सम्भावना नहीं है। इसलिए वर्तमान केन्द्रीय बैंक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित सुनिश्चित विचार व्यक्त किये जा सकते हैं।

केन्द्रीय बैंक की परिभाषा

केन्द्रीय बैंक की अधिकांश परिभाषाएं इसके विभिन्न कार्यों पर आधारित हैं। चूंकि केन्द्रीय बैंक के कार्यों में समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं, इसलिए विभिन्न परिभाषाओं में अलग अलग कार्यों को महत्व दिया गया है। वेरा स्मिथ ने केन्द्रीय बैंक के मुद्रा निर्गमन कार्य को अधिक महत्व देते हुए लिखा है, "केन्द्रीय बैंकिंग से आशय उस बैंकिंग प्रणाली से है जिसके अन्तर्गत किसी एक बैंक को नोट प्रचलन का पूर्ण अथवा अवशेष अधिकार प्राप्त होता है।"[2] हाट्रे के विचार में केन्द्रीय बैंक बैंकों का बैंक है क्योंकि यह अन्य बैंकों के लिए अन्तिम ऋणदाता (lender of the last resort) का कार्य करता है। क्राउथर ने भी इसे बैंकों का बैंक (bankers bank) मानते हुए लिखा है कि "केन्द्रीय बैंक का अन्य बैंकों के साथ ठीक वही सम्बन्ध होता है जैसा स्वयं अन्य बैंकों का जनता के साथ होता है।"[3]

केन्द्रीय बैंक की अधिकांश परिभाषाएं इसके मुद्रा तथा साख के नियमन के कार्य पर आधारित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-बैंक के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जिसे देश में चलन तथा साख मुद्रा की मात्रा के नियमन का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है।"[4] शा (Shaw) के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक देश में साख मुद्रा पर नियन्त्रण रखने वाला बैंक है।" केण्ट के विचार में, "केन्द्रीय बैंक को एक ऐसी संस्था के रूप में

---

1 "There have been three great inventions since the beginning of time: *Fire, the wheel and Central Banking*." —Will Rogers

2 "The primary definition of central banking is a banking system in which a single bank has either a complete or residuary monopoly of note issue." —Vera Smith: *Rationale of Central Banking*

3 "The Central Bank stands to the Member Banks in exactly the same relation as the Member Banks themselves to the public." —Crowther: *An Outline of Money*, p. 44

4 "... the Bank in any country to which has been entrusted the duty of regulating the volume of currency and credit in the country." —*The Bank of International Settlement*

परिभाषित किया जा सकता है जिसे जन-हित में मुद्रा की मात्रा के विस्तार तथा संकुचन का कार्य दिया गया है।"[1]

वस्तुतः आधुनिक केन्द्रीय बैंक के कार्य उपर्युक्त परिभाषाओं में बताये गये कार्यों से कहीं अधिक व्यापक हैं। केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक तथा बैंकिंग प्रणाली का सिरताज होता है और वह लोकहित तथा सम्पूर्ण देश के आर्थिक हितों को ध्यान में रखते हुए अनेक कार्य करता है। यदि केन्द्रीय बैंक की परिभाषा उसके द्वारा किये जाने वाले समस्त कार्यों को सम्मिलित करके दी जाय, जैसा डॉ॰ डी कॉक (De Kock) ने किया है, तो उसे परिभाषा के बजाय केन्द्रीय बैंक का कार्य-विवरण कहना अधिक उपयुक्त होगा।

प्रो॰ सेयर्स ने केन्द्रीय बैंक की परिभाषा कुछ भिन्न प्रकार से दी है। उनके अनुसार, "केन्द्रीय बैंक का व्यवसाय व्यापारिक बैंकों को इस प्रकार नियन्त्रित करना होता है जिससे राज्य की सामान्य मौद्रिक नीति को प्रोत्साहन मिल सके। इस कथन में तीन मूल बातें निहित हैं—प्रथम, केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंक की भाँति अपने स्वामियों के लिए लाभ अर्जित करने के लिए नहीं होता, द्वितीय, इसके पास व्यापारिक बैंकों को नियन्त्रित करने के लिए कुछ साधन होने चाहिए, और तृतीय, यह राज्य के अधीन संस्था है।"[2] अभिप्राय यह है कि केन्द्रीय बैंक देश के मौद्रिक तथा बैंकिंग ढाँचे की सर्वोच्च संस्था है जो राज्य के अधीन रहकर अपने लाभ के उद्देश्य से नहीं बल्कि समस्त देश की आर्थिक प्रगति के लिए अन्य बैंकों पर नियन्त्रण द्वारा कार्य करती है।

केन्द्रीय बैंकिंग का विकास

यद्यपि संसार का सर्वप्रथम केन्द्रीय बैंक 1668 में स्वीडन में स्थापित हुआ था, परन्तु 1694 ई॰ में स्थापित होने वाला बैंक ऑफ इंगलैण्ड 'केन्द्रीय बैंकों की माँ' (Mother of Central Banks) कहा जाता है, क्योंकि इसने जिन पद्धतियों तथा परम्पराओं को अपनाया उन्हें अन्य केन्द्रीय बैंकों द्वारा भी अपनाया गया। बैंक ऑफ इंगलैण्ड को प्रारम्भ से ही नोट निर्गमन का अधिकार प्राप्त था, परन्तु इसने केन्द्रीय बैंक के रूप में सन् 1844 में कार्य करना आरम्भ किया और तब से इसका इतिहास केन्द्रीय बैंकिंग के इतिहास का प्रतिरूप है। 19 वीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप के अधिकांश देशों में केन्द्रीय बैंकों की स्थापना हो चुकी थी। सन् 1800 में बैंक ऑफ फ्रांस, 1814 में बैंक ऑफ नीदरलैण्ड, 1817 में बैंक ऑफ नार्वे तथा बैंक ऑफ आस्ट्रिया, 1818 में नेशनल बैंक ऑफ डेनमार्क, 1850 में नेशनल बैंक ऑफ बेल्जियम, 1856 में बैंक ऑफ स्पेन, 1860 में बैंक ऑफ रूस (Russia) तथा 1875 में जर्मनी में रीश बैंक (Reichs Bank) की स्थापना हुई थी। 1882 में बैंक ऑफ जापान स्थापित हुआ। 19 वीं शताब्दी में ही पुर्तगाल, जावा, इजिप्ट, टर्की, बलगेरिया, इत्यादि अनेक देशों में केन्द्रीय बैंक स्थापित किये गये।

संसार में अधिकांश केन्द्रीय बैंकों की स्थापना बीसवीं शताब्दी में ही हुई है। अमरिका में फेडरल रिजर्व सिस्टम (Federal Reserve System) की स्थापना 1914 में हुई। प्रथम महायुद्ध के पश्चात देशों के आर्थिक जीवन पर सरकारी नियन्त्रण की आवश्यकता अनुभव होने से केन्द्रीय बैंकिंग के विकास को प्रोत्साहन मिला। सन् 1920 में ब्रुसेल्स (Brussels) में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सम्मेलन (International Financial Conference) में यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं हैं वहाँ शीघ्र ही केन्द्रीय बैंक की स्थापना हो ताकि मौद्रिक तथा बैंकिंग व्यवस्थाओं में स्थिरता प्राप्त की जा सके। 1920 से 1937 तक (केवल विश्व-

---

1 "It (Central Bank) may be defined as an institution which is charged with the responsibility of managing the expansion and contraction of the volume of money in the interest of the general public welfare."—R. P. Kent : *Money and Banking.*

2 "The business of a Central Bank, as distinguished from a commercial bank, is to control the commercial banks in such a way as to promote the general monetary policy of the state. There are three fundamental points implicit in this: first, a Central Bank does not, as a commercial bank does, exist to *make maximum profits for its owners*; second, it must have some means of controlling the commercial banks, and third, it is subordinate to the state."—R. S. Sayers : *Modern Banking*, p. 71.

व्यापी मन्दी के दो सकटकालीन वर्ष, 1929 तथा 1930, छोडकर) प्रति वर्ष ससार के विभिन्न देशों मे केन्द्रीय बैंक स्थापित होते रहे। भारत मे केन्द्रीय बैंक—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया—की स्थापना 1935 मे हुई थी। 1940 के पश्चात अनेक देशो मे केन्द्रीय बैंको की स्थापना हुई है। एशिया तथा अफ्रीका के देशो मे राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा आर्थिक विकास की इच्छा मे वृद्धि के साथ-साथ केन्द्रीय बैको की सख्या बढती गयी है।

पिछले तीस वर्षों मे केन्द्रीय बैंको की प्रगति निम्नलिखित कारणो से हुई है

(1) एशिया तथा अफ्रीका के विभिन्न देशो को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है तथा उन्होंने अपनी मौद्रिक एव बैंकिग व्यवस्था के सुसचालन के लिए केन्द्रीय बैंक स्थापित किये है।

(2) स्वर्णमान समाप्त हो जाने के कारण मुद्रा-प्रणालियों मे स्वय-सचालकता भी समाप्त हो गयी है तथा मुद्रा के उचित नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंकों की स्थापना लगभग अनिवार्य हो गयी है। अब मुद्रा अपने आप नियमित नही होती वरन् उसका नियमन करना पडता है।

(3) गत वर्षो म बैंको का बहुत अधिक विकास हुआ है और उनके कार्यों मे भी वृद्धि हुई है। उनके कार्यों का नियमन तथा उनका निर्देशन करने के लिए केन्द्रीय बैंक आवश्यक हो गये है।

(4) विभिन्न देशो मे पारस्परिक वित्तीय सम्बन्ध बनाये रखने तथा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सस्थाओ मे लेन देन करन के लिए भी केन्द्रीय बैंको की स्थापना आवश्यक है।

ब्रिटिश तथा अमेरिकी केन्द्रीय बैंक पद्धतियाँ

ससार मे सभी देशो मे केन्द्रीय बैंक व्यवस्था की ब्रिटिश पद्धति को अपनाया गया है। परन्तु अमेरिका मे केन्द्रीय बैंक-व्यवस्था कुछ भिन्न प्रकार की है। अमेरिका की फेडरल रिजर्व पद्धति (Federal Reserve System) तथा अन्य केन्द्रीय बैको के कार्य तो एकसे हैं, परन्तु इनका सगठन अलग अलग प्रकार का है। ब्रिटिश पद्धति के अन्तर्गत देश मे एक ही केन्द्रीय बैंक होता है और इसमे मुद्रा तथा बैंकिग व्यवस्था पर नियन्त्रण रखने की शक्ति केन्द्रित होती है। इसके विपरीत, अमेरिका म 12 अलग-अलग फेडरल रिजर्व बैंक है तथा इस उद्देश्य से पूरे देश को 12 जिलो अथवा क्षेत्रो म विभाजित किया गया है। प्रत्येक फेडरल रिजर्व बैंक मे उस क्षेत्र के व्यापारिक बैंको के अश (shares) होते है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंकिग अधिकार एक सस्था के बजाय देश भर म 12 सस्थाओ को प्राप्त है। इन 12 केन्द्रीय बैंको का नीति-निर्धारण तथा सचालन फेडरल रिजर्व सिस्टम द्वारा होता है, जिसके अन्तर्गत एक बोर्ड (Board of Governors) का गठन किया गया है। वाशिंगटन मे स्थित यह बोर्ड ही नोट निकालने, साख नियन्त्रण, बैंक-व्यवस्था आदि के सम्बन्ध म समस्त फेडरल रिजर्व बैंकों का मार्गदर्शन करता है।

अमेरिका मे अन्य देशों से भिन्न केन्द्रीय बैंक-व्यवस्था अपनाने के अनेक कारण है, जिनमे से निम्नलिखित तीन कारणों का उल्लेख प्रो० चेण्डलर ने किया है[1]

1 **भौगोलिक क्षेत्र मे अन्तर** (Differences in Geographical Area)—अधिकाश देशो की तुलना म अमेरिका का भौतिक क्षेत्रफल बहुत बडा है और विभिन्न क्षेत्रो की आर्थिक एव वित्तीय परिस्थितियाँ अलग-अलग है। इसलिए यह उचित समझा गया कि प्रत्येक क्षेत्र का अपना अलग केन्द्रीय बैंक हो जो उस क्षेत्र की विशेष परिस्थितियो के अनुसार अपनी नीति का निर्धारण कर सके।

2 **बैंकों पर अधिकार व्यवस्था मे अन्तर** (Differences in Allocations of Jurisdiction over Banking)—एक केन्द्रीय बैंक उन देशो के लिए ही उपयुक्त है जहाँ सभी बैंक एक ही प्रकार की नियन्त्रण व्यवस्था के अधीन है, अमेरिका म ऐसा नही है। परन्तु अमेरिका की सघीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत राज्यो मे अलग-अलग बैंकिग विधान हैं, इसलिए एक ही केन्द्रीय बैंक द्वारा सुव्यवस्थित रूप मे प्रत्येक राज्य मे बैंक-व्यवस्था का नियन्त्रण तथा नियमन करना कठिन कार्य है।

---

1 Lester V. Chandler *The Economics of Money and Banking*, IV Edition, pp 161-62.

3 बैंकिंग पद्धति में अन्तर (Differences in Commercial Banking Structure)—शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत जहाँ थोड़े-से बैंकों की शाखाएँ ही देश भर में फैली हुई हों, एक ही केन्द्रीय बैंक उन पर नियन्त्रण रख सकता है। इसके विपरीत, अमेरिका में अधिकांश बैंक इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत स्थापित किये गये हैं, जिनकी यदि शाखाएँ हैं भी तो केवल एक सीमित क्षेत्र में ही हैं। बैंकों की संख्या अधिक होने के कारण एक ही केन्द्रीय बैंक स्थापित करना उचित नहीं समझा गया।

इस प्रकार अमेरिका में परिस्थितियाँ अन्य देशों से भिन्न होने पर केन्द्रीय बैंकिंग कार्य 12 फेडरल रिजर्व बैंकों को सौंपा गया है। इनकी मूल नीति एक ही केन्द्र से निर्धारित होती है, परन्तु सुविधा की दृष्टि से उसे क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुसार कार्यान्वित किया जा सकता है।

केन्द्रीय बैंकिंग तथा व्यापारिक बैंकिंग की तुलना

समानताएँ—(1) केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक दोनों ही मुद्रा का व्यवसाय करते हैं। केन्द्रीय बैंक मुद्रा का निर्माण करता है तथा व्यापारिक बैंक मुद्रा का लेन-देन करता है एवं उसके आधार पर साख-मुद्रा का निर्माण करता है। (2) केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक दोनों ही साख का निर्माण करते हैं। अपर्याप्त प्रतिभूतियों के आधार पर केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट निर्गमन करना साख का निर्माण ही है। व्यापारिक बैंक व्युत्पन्न निक्षेपों (derivative deposits) के आधार पर साख का निर्माण करते हैं। दोनों की साख-निर्माण की विधि में अन्तर होने पर भी कार्य एक-सा है। (3) दोनों ही प्रकार के बैंक प्राय न तो अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण देते हैं और न ही दीर्घकालीन ऋण।

असमानताएँ—(1) केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग व्यवस्था का सिरताज होता है, व्यापारिक बैंक चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, बैंकिंग व्यवस्था में एक इकाई-मात्र होता है तथा केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण में कार्य करता है। (2) केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता (lender of the last resort) तथा साख के कोष (reservoir of credit) के रूप में कार्य करता है, जबकि व्यापारिक बैंक इस प्रकार के कार्य नहीं करते तथा इन कार्यों के लिए केन्द्रीय बैंक पर निर्भर रहते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक 'बैंकों का बैंक' होता है। (3) सेयर्स के शब्दों में, "व्यापारिक बैंक का प्रथम लक्ष्य लाभ कमाना है, जबकि केन्द्रीय बैंक अपनी क्रियाओं द्वारा अर्थ-व्यवस्था के कार्यवाहन पर पड़ने वाले प्रभावों पर विचार करता है।"[1] (4) साधारणतया देश में केन्द्रीय बैंक एक ही होता है और व्यापारिक बैंक अनेक होते हैं। अमेरिका में 12 फेडरल रिजर्व बैंक हैं, परन्तु उनकी मूल नीति का निर्धारण एक ही केन्द्र से होता है। (5) कुछ केन्द्रीय बैंक, जैसे बैंक डि फ्रांस, कॉमनवेल्थ बैंक ऑफ आस्ट्रेलिया, बैंक ऑफ फिनलैण्ड, इत्यादि केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों के साथ-साथ व्यापारिक बैंक के कार्य भी करते हैं। परन्तु ये कुछ अपवाद हैं। साधारणतया केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंक के कार्य नहीं करते और जनता से कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं रखते, जबकि व्यापारिक बैंकों का मुख्य कार्य प्रत्यक्ष रूप से जनता के साथ व्यवसाय करना होता है। (6) केन्द्रीय बैंक मुद्रा का निर्गमन करता है, इसलिए उसे निर्गमन बैंक (Bank of Issue) भी कहा जाता है। व्यापारिक बैंक मुद्रा का निर्माण नहीं करते, वे केवल व्युत्पन्न निक्षेपों के रूप में साख का निर्माण करते हैं जिसे चैक द्वारा निकाला जा सकता है, इसलिए चैण्डलर ने व्यापारिक बैंकों को 'चैक-निक्षेप बैंक' (Checking Deposit Bank) की संज्ञा दी है। (7) केन्द्रीय बैंक सरकार का बैंकर होता है। वह सरकारी कोषों को रखता है, सरकारी भुगतान करता है तथा सरकार की ओर से भुगतान स्वीकार करता है, लोक-ऋण की व्यवस्था करता है और सरकार को परामर्श देकर सरकार की नीति को प्रभावित कर सकता है। व्यापारिक बैंकों को इस प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं होते। (8) केन्द्रीय

1 "The commercial bank thinks primarily of profit-making, whereas the Central Bank thinks of the effects of its operations on the working of the economic system"—R S Sayers *Modern Banking*, p 19.

बैंक की मौद्रिक नीति स्वतन्त्र तथा नियामीन होती है और अर्थ-व्यवस्था के नियमन के लिए वह एक शक्तिशाली अस्त्र होती है। इसके विपरीत, व्यापारिक बैंकों की साख-नीति स्वतन्त्र नहीं होती। वे केन्द्रीय बैंक के निर्देशन तथा नियन्त्रण में कार्य करते हैं। (9) प्रारम्भिक काल में स्थापित किये गये केन्द्रीय बैंकों में से अधिकांश में निजी पूँजी का प्रभुत्व था। परन्तु कुछ वर्षों से केन्द्रीय बैंकों की स्थापना सरकार द्वारा ही की जा रही है तथा बहुत-से पुराने बैंकों को सरकारी अधिकार में ले लिया गया है, और इस प्रकार केन्द्रीय बैंकों के सरकारी स्वामित्व की परम्परा स्थापित हो गयी है। परन्तु व्यापारिक बैंक साधारणतया संयुक्त पूँजी कम्पनियों के रूप में स्थापित किये जाते हैं और इनमें निजी पूँजी का ही प्रभुत्व होता है।

केन्द्रीय बैंक के निर्देशक सिद्धान्त

केन्द्रीय बैंक का स्वरूप, संगठन, उद्देश्य तथा कार्य इत्यादि व्यापारिक बैंकों से भिन्न होने के कारण केन्द्रीय बैंक के निर्देशक सिद्धान्त साधारण बैंकिंग के सिद्धान्तों से भिन्न होते हैं। केन्द्रीय बैंक मुख्यतः निम्नलिखित सिद्धान्तों को अपनाता है :

(1) **सम्पूर्ण देश का हित**—व्यापारिक बैंक अधिकतम लाभ की आकांक्षा में व्यवसाय करते हुए अपने अंशधारियों के हित को सर्वोपरि रखते हैं। उनके विनियोगों का उनके लिए लाभपूर्ण होना आवश्यक है। इसके विपरीत, केन्द्रीय बैंक का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होना बल्कि लोक तथा राष्ट्र-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर देश के लिए मुद्रा तथा साख की व्यवस्था करना होना है। 'बैंकों के बैंक' के रूप में भी केन्द्रीय बैंक जो बिलों की पुनः कटौती, प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय अथवा बैंकों को ऋण देना आदि कार्य करता है उसका उद्देश्य देश की आर्थिक प्रगति में सहायक होना होता है, लाभ कमाना नहीं। जिन देशों में केन्द्रीय बैंक निजी स्वामित्व में है वहाँ भी उनके द्वारा दिये जाने वाले लाभांश की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी जाती है। केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य यदि लाभ कमाना हो तो उससे देश के व्यापार तथा उद्योगों को हानि हो सकती है, और मुद्रा-स्फीति का भय निरन्तर बना रहेगा। डी कॉक के मतानुसार, 'केन्द्रीय बैंक का निर्देशक सिद्धान्त यह है कि वह केवल लोकहित और समस्त देश के कल्याण के लिए ही कार्य करे और लाभ को अपना प्राथमिक उद्देश्य न स्वीकार करे।'[1]

(2) **मौद्रिक तथा वित्तीय नियन्त्रण की सक्रिय नीति**—वर्तमान युग आर्थिक नियोजन का युग है जिसमें अर्थ व्यवस्था को माँग तथा पूर्ति की शक्तियों से स्वतन्त्रतापूर्वक प्रभावित होने के लिए नहीं छोड़ा जा सकता। देश में मुद्रा, साख, विदेशी विनिमय तथा सार्वजनिक ऋण के नियमन के लिए केन्द्रीय बैंक को सक्रिय नीति अपनानी चाहिए। केन्द्रीय बैंकिंग नीति का यह उद्देश्य होना चाहिए कि देश में कोई भी आर्थिक उलझन पैदा होने पर यह उसे सुलझाने के लिए सक्रिय नीति का प्रयोग करे।

(3) **निष्पक्ष नीति**—केन्द्रीय बैंक के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी राजनीतिक वर्ग अथवा किसी विशेष समुदाय का पक्षपात करते हुए नीति का निर्धारण न करे, बल्कि सम्पूर्ण देश के हित में निष्पक्ष नीति अपनाये। इसी भावना को सामने रखते हुए केन्द्रीय बैंक का सरकार के अधिकार में रहना अब अच्छा समझा जाने लगा है। सरकार और केन्द्रीय बैंक की नीतियों में समन्वय तभी सम्भव है जबकि केन्द्रीय बैंक सरकारी नियन्त्रण में ही कार्य करे, चाहे वह अंशधारियों का बैंक ही क्यों न हो।

(4) **मुद्रा-चलन पर अधिकार**—नोट-निर्गमन का अधिकार केन्द्रीय बैंक के अतिरिक्त किसी अन्य संस्था को नहीं प्राप्त होना चाहिए। ऐसा होने पर ही यह देश में मुद्रा तथा साख-व्यवस्था पर उचित एवं प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रख सकता है। मुद्रा-निर्गमन पर केन्द्रीय बैंक का एकाधिकार न होने की दशा में मुद्रा-स्फीति का भय रहेगा तथा आर्थिक स्थिरता स्थापित न हो पायेगी।

---

1 "The guiding principle of a Central Bank is that it should act only in the public interest and for the welfare of the country as a whole and without regard to profit as a primary consideration."—De Kock *Central Banking*, p. 25.

(5) **साधारण बैंकिंग कार्यों से अलग**—केन्द्रीय बैंक को चाहिए कि वह साधारण व्यापारिक बैंकों की भांति सामान्य लेन देन के कार्य न करे, अर्थात् वह न तो जनता द्वारा निक्षेप स्वीकार करे और न ही सीधे ऋण दे। उसका समस्त व्यवहार सरकार तथा व्यापारिक बैंकों से होना चाहिए। केन्द्रीय बैंक द्वारा साधारण बैंकिंग कार्य करने पर केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों में प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो सकती है जो बैंकिंग व्यवस्था के विकास के लिए हितकर नहीं होगी। साधारण बैंकिंग कार्य करने पर अधिक लाभ के प्रलोभन में केन्द्रीय बैंक मुद्रा स्फीति की नीति अपना सकता है। उसे अपना हिसाब किताब भी अलग-अलग रखना पड़ेगा, क्योंकि केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों से प्राप्त आय पर अधिकांश रूप में सरकार का अधिकार होता है, जबकि व्यावसायिक कार्यों से प्राप्त लाभ पर स्वयं बैंक का अधिकार होता है। इसलिए यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि केन्द्रीय बैंक को केवल केन्द्रीय बैंक के ही कार्य करने चाहिए, परन्तु फ्रान्स, बेल्जियम, इटली, फिनलैण्ड, मिस्र आदि देशों के केन्द्रीय बैंक साधारण बैंकिंग कार्य भी करते हैं।

केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व

केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व अनेक प्रकार का हो सकता है। केन्द्रीय बैंक की कुल पूंजी सरकारी हो सकती है अथवा व्यक्तिगत अंशधारियों की। ऐसा भी सम्भव है कि केन्द्रीय बैंक की कुल पूंजी व्यापारिक बैंकों की हो, सरकार तथा व्यक्तिगत अंशधारियों की सम्मिलित पूंजी हो, सरकार तथा व्यापारिक बैंकों की सम्मिलित पूंजी हो, व्यक्तिगत अंशधारियों तथा व्यापारिक बैंकों की सम्मिलित पूंजी हो अथवा सरकारी, व्यापारिक बैंकों तथा व्यक्तिगत अंशधारियों की सम्मिलित पूंजी हो।

मुख्य रूप से केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व सरकारी हो सकता है अथवा गैर सरकारी। प्रारम्भ में अधिकतर देश गैर-सरकारी केन्द्रीय बैंक के पक्ष में थे। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त आर्थिक विकास एवं स्थिरता के लिए मौद्रिक नीतियों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा है जिससे केन्द्रीय बैंक के सरकारी स्वामित्व की विचारधारा को बल मिला है और अनेक देशों में गैर-सरकारी केन्द्रीय बैंक सरकारी स्वामित्व में ले लिये गये हैं।

केन्द्रीय बैंक के गैर-सरकारी स्वामित्व के पक्ष अथवा सरकारी स्वामित्व के विपक्ष में अनेक तर्क दिये जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि यदि केन्द्रीय बैंक सरकारी स्वामित्व में होगा तो इसका प्रबन्ध उन लोगों के हाथ में होगा जिनका बैंकिंग समस्याओं का विशेषज्ञ होना आवश्यक नहीं है। अतः बैंक की व्यवस्था अकुशल होगी। सरकारी कर्मचारियों पर प्रायः अकुशलता तथा दीर्घसूत्रता (inefficiency and red-tapism) का दोषारोपण भी किया जाता है। ऐसी भी स्थिति उत्पन्न हो सकती है जब केन्द्रीय बैंक देश की व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन होने के बजाय सत्तारूढ़ राजनीतिक दलों की नीति का शिकार बन जाय।

वास्तव में उपर्युक्त तर्क निराधार हैं। इंगलैण्ड, फ्रान्स, स्वीडन, कनाडा तथा भारत आदि देशों में सरकारी स्वामित्व में केन्द्रीय बैंकों ने जिस कुशलता से कार्य किया है उससे सरकारी स्वामित्व के विरुद्ध दिये जाने वाले तर्क मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं।

केन्द्रीय बैंक के सरकारी स्वामित्व के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं :

1. केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य लाभ कमाना मात्र न होकर लोक हित में कार्य करना होता है। इस पर अंशधारियों का स्वामित्व होने की दशा में यह सम्भव है कि केन्द्रीय बैंक सार्वजनिक हितों की अवहेलना करके अंशधारियों के व्यावसायिक हितों की पूर्ति करने लगे। अतएव इस पर सरकारी स्वामित्व होना ही उचित है।
2. केन्द्रीय बैंक का कार्य ऐसा है जिसमें लाभ कमाने की प्रवृत्ति न होने पर भी काफी लाभ होता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा अर्जित लाभ को लोक-हित में लगाने के लिए लगभग सभी देशों में उसे सरकारी कोष में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। इस दृष्टि से इस पर सरकारी स्वामित्व होना ही अधिक उपयुक्त है।
3. केन्द्रीय बैंक का सरकार का बैंकर होने के नाते सरकार से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ऐसी स्थिति में इस पर सरकारी स्वामित्व रहने से काफी सुविधा रहेगी।

4. गत वर्षों में आर्थिक विकास एवं स्थिरता के लिए मौद्रिक तथा सरकार की वित्त नीति (fiscal policy) का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा है। व्यावहारिक रूप में उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इन दोनों नीतियों में समन्वय आवश्यक है, और केन्द्रीय बैंक पर सरकारी स्वामित्व होने से यह समन्वय प्राप्त करने में सुविधा होती है।
5. आर्थिक आयोजन के अन्तर्गत सभी देशों में मुद्रा, विदेशी व्यापार तथा सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी समस्याएँ अत्यन्त जटिल हो गयी हैं, और यह सम्भव है कि केन्द्रीय बैंक तथा सरकार के विचारों में मतभेद हो। इन परिस्थितियों में सरकारी नीति के परिपालन में अधिक विलम्ब होना स्वाभाविक है। अतः आर्थिक विकास की जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए केन्द्रीय बैंकों को सरकारी अधिकार में रखना अथवा में लेना ही श्रेयस्कर है।

अमरिका के फेडरल रिजर्व बैंकों की पूंजी व्यावसायिक बैंकों की है। जर्मनी, जापान, नार्वे आदि के केन्द्रीय बैंकों की कुल पूंजी व्यक्तिगत अंशधारियों की है। परन्तु इंगलैण्ड, फ्रान्स, स्वीडन, कनाडा, भारत आदि के केन्द्रीय बैंक विशुद्ध सरकारी स्वामित्व में हैं। गत 15-20 वर्षों में स्थापित किये गये केन्द्रीय बैंक पूर्णतः सरकारी हैं और अनेक बैंक जो पहले निजी स्वामित्व में थे, सरकारी अधिकार में ले लिये गये हैं। इस प्रकार, इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान विश्व में केन्द्रीय बैंकों के सरकारी स्वामित्व की परम्परा स्थापित हो गयी है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक केन्द्रीय बैंक, चाहे उस पर स्वामित्व किसी का भी हो, सरकारी नियन्त्रण के अधीन ही कार्य करता है। उसे मनमाने तरीके से लाभांश वितरित करने की छूट नहीं दी जाती और न ही उसे ऐसी अनुमति दी जाती है कि मनमाने ढंग से लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से वह कार्य करे।

केन्द्रीय बैंक के प्रमुख कार्य

केन्द्रीय बैंक की परिभाषा देते समय हमने यह देखा था कि केन्द्रीय बैंक के कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग विचार प्रकट किये हैं। किसी ने एक कार्य को अधिक महत्व दिया है, तो दूसरे ने किसी अन्य कार्य को अधिक महत्वपूर्ण समझा है। डॉ० डी कॉक ने केन्द्रीय बैंक के सभी महत्वपूर्ण कार्यों का एक साथ उल्लेख करते हुए निम्नलिखित कार्य बताये हैं [1]

1. नोट-निर्गमन का एकाधिकार (Monopoly of Note Issue),
2. सरकारी बैंकर, एजेन्ट तथा सलाहकार (Government Banker, Agent and Advisor),
3. व्यापारिक बैंकों के नकद-कोषों का संरक्षक (Custodian of Cash Reserves of Commercial Banks),
4. देश के विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक (Custodian of the Nation's Reserves of International Currency),
5. व्यापारिक विनिमय-पत्रों की पुनर्कटौती एवं अन्तिम ऋणदाता (Bank of Rediscount and Lender of the Last Resort),
6. खातों का समाशोधन, निपटारा तथा स्थानान्तरण (Bank of Central Clearance, Settlement and Transfer),
7. साख का नियन्त्रण (Control of Credit)।

केन्द्रीय बैंक के कार्यों का विवरण

(1) पत्र-मुद्रा-निर्गमन का एकाधिकार—केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य, जिसे वह आरम्भ से ही करता रहा है, देश में पत्र-मुद्रा का निर्गमन करना है। वेरा स्मिथ (Vera Smith) ने इस कार्य को ही केन्द्रीय बैंक की परिभाषा का आधार बनाया है। केन्द्रीय बैंकिंग पद्धति के

1 M H. De Kock : *Central Banking*, 3rd Edition, p 22

विकास के पूर्व नोट जारी करने का कार्य राज्य अथवा व्यापारिक बैंकों द्वारा किया जाता था, परन्तु दोनों ही इस कार्य के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हुए। केन्द्रीय बैंकों के विकसित होने पर देश में मुद्रा-चलन का एकमात्र अधिकार धीरे-धीरे उन्हें ही सौंप दिया गया और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक उनका यह कार्य इतना महत्वपूर्ण समझा जाने लगा कि उन्हें निर्गमन बैंक (Bank of Issue) कहा जाता था। आजकल पत्र मुद्रा निर्गमन केन्द्रीय बैंक का एकाधिकार है, और अधिकांश केन्द्रीय बैंकों ने अपने कार्यों को दो विभागों में बाँट रखा है—बैंकिंग विभाग (Banking Department), तथा निर्गमन विभाग (Issue Department)।

नोट-निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को क्यों दिया गया, इसके मुख्य कारण निम्न हैं

1 **मुद्रा प्रणाली में एकरूपता**—नोट-निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को प्राप्त होने पर देश की मुद्रा-प्रणाली में एकरूपता आ जाती है। इसमें जालसाजी की सम्भावना कम होती है तथा पत्र-मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखना सरल हो जाता है। एकरूपता के कारण व्यापार में बहुत सुविधा रहती है।

2 **साख-निर्माण पर नियन्त्रण**—केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण की शक्ति पर नियन्त्रण रखना होता है। चूँकि साख-निर्माण की शक्ति बहुत कुछ चलन (currency) की मात्रा पर निर्भर करती है, इसलिए केन्द्रीय बैंक का पत्र-मुद्रा निर्गमन पर एकाधिकार होने की दशा में इसके चलन की मात्रा पर नियन्त्रण करके साख-निर्माण की मात्रा को आसानी से नियन्त्रित किया जा सकता है।

3 **मुद्रा-प्रणाली में लोच**—नोट जारी करने का अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को प्राप्त होने पर उसे यह ज्ञात रहता है कि मुद्रा की पूर्ति कितनी है और, दूसरी ओर, देश का सर्वोच्च बैंक होने के कारण उसे देश में मौद्रिक आवश्यकताओं में होने वाले परिवर्तनों का भी ज्ञान रहता है। मुद्रा की मात्रा को आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ाकर केन्द्रीय बैंक देश की मुद्रा प्रणाली में कुशलतापूर्वक पर्याप्त लोच बनाये रख सकता है।

4 **जनता का विश्वास**—केन्द्रीय बैंक को सरकार का सरक्षण प्राप्त होने के कारण इसके द्वारा जारी किये गये नोटों के प्रति जनता का विश्वास अधिक रहता है।

5 **राज्य को लाभ**—मुद्रा-निर्गमन एक लाभकर व्यवसाय है। जब यह कार्य अकेले केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है तो बहुत आसानी से यह लाभ सरकार द्वारा अपने कोष में लिया जा सकता है तथा इसका प्रयोग सार्वजनिक हित में किया जा सकता है।

6 **मुद्रा के मूल्य में स्थिरता**—नोट जारी करने का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को होने से मुद्रा के आन्तरिक तथा बाह्य मूल्य को आसानी से स्थिर रखा जा सकता है, क्योंकि मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करना आसान होता है। इससे देश में कीमतों में अधिक उतार-चढ़ाव से बचा जा सकता है तथा विदेशी विनिमय-दर में भी स्थिरता बनाये रखी जा सकती है।

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक नोट निर्गमन पर एकाधिकार रखकर देश में सस्ती व उपयुक्त चलन-प्रणाली की व्यवस्था करता है तथा उसके मूल्य में स्थिरता बनाये रखने के प्रयास करता है। देश में व्यापार, उद्योग तथा सरकार सबके लिए यही हितकर है कि नोट निर्गमन का अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को ही दिया जाय।

(2) **सरकार का बैंकर, एजेण्ट व सलाहकार**—सरकारी बैंकर के रूप में केन्द्रीय बैंक सरकार को वही सेवाएँ प्रदान करता है जो जनता को साधारण बैंकों से प्राप्त होती हैं। यह सरकारी विभागों के खाते रखता है तथा सरकारी कोषों की व्यवस्था करता है। आवश्यकता पड़ने पर यह सरकार को ऋण भी देता है तथा सार्वजनिक ऋणों का प्रबन्ध करता है। केन्द्रीय बैंक सरकार की ओर से विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय भी करता है।

सरकारी अभिकर्ता के रूप में यह सरकार की ओर से प्रतिभूतियों, ट्रेजरी बिलों आदि का क्रय विक्रय करता है। सरकारी ऋणों का प्रबन्ध, विनिमय-नियन्त्रण का सचालन, सरकार

द्वारा किये गये निकासी समझौतों (Clearing Agreements) तथा शोधन समझौतों (Payments Agreements) का नियमन आदि अनेक कार्य भी केन्द्रीय बैंक द्वारा किये जाते हैं। केन्द्रीय बैंक के इस प्रकार के कार्यों में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

देश का सर्वोच्च बैंक होने के नाते केन्द्रीय बैंक सरकार को आर्थिक व वित्तीय मामलों में सलाह भी देता है। केन्द्रीय बैंक की सलाह से सरकार मुद्रा एवं बैंकिंग सम्बन्धी नीति निर्धारित करती है और उसे केन्द्रीय बैंक की सहायता से ही कार्यान्वित करती है।

"सरकारी बैंकर के रूप में केन्द्रीय बैंक केवल इसीलिए कार्य नहीं करता कि वह सरकार के लिए सुविधाजनक तथा मितव्ययी है, वरन् इसलिए भी कि सार्वजनिक वित्त तथा मौद्रिक मामलों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।"[1]

(3) **व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों का संरक्षक**—केन्द्रीय बैंक 'बैंकों का बैंक' होता है, अर्थात् इसका अन्य बैंकों के साथ सम्बन्ध लगभग वैसा ही होता है जैसा उनका अपने ग्राहकों के साथ होता है। देश में अन्य बैंकों का खाता केन्द्रीय बैंक में होता है, जिसमें अन्य बैंक केन्द्रीय बैंक के पास नकद-कोष जमा करते हैं। आरम्भ में तो साधारण बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक के पास नकद जमा करना उनकी इच्छा पर निर्भर करता था, परन्तु अब संसार के लगभग सभी देशों में इस प्रकार की जमा अनिवार्य रूप में रखने के लिए कानून बना दिये गये हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य सदस्य बैंकों के नकद कोषों का संरक्षण करना है।

बैंकों द्वारा अपने नकद कोषों का कुछ भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा कराने के कई लाभ हैं, जैसे—(1) नकद-कोषों के उपयोग का क्षेत्र बढ़ जाता है तथा राष्ट्रीय संकट के समय में इस राशि का उचित रूप में उपयोग हो सकता है, (2) इससे साख प्रणाली में लोच पैदा होती है, क्योंकि बैंकों का कुछ नकद-कोष केन्द्रीय बैंक के पास जमा रहने के कारण बाकी नकद रकम के आधार पर बैंक अधिक से अधिक मात्रा में साख का निर्माण कर सकते हैं, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें केन्द्रीय कोष से सहायता मिल सकती है, (3) केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण-नीति तथा ऋण-नीति को नियन्त्रित करने का अवसर मिलता है, तथा (4) केन्द्रीय बैंक के माध्यम से बैंकों का आपसी लेन-देन सरल हो जाता है।

केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को समय समय पर ऋण देता है तथा उनके कार्यों का निरीक्षण *करता है और उचित पथ-प्रदर्शन करता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक देश में अन्य बैंकों के लिए* मित्र, दार्शनिक तथा पथ-प्रदर्शक (friend, philosopher and guide) का कार्य करता है।

(4) **देश के विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक**—पत्र-मुद्रा के निर्गमन के लिए केन्द्रीय बैंक प्रारम्भ से ही अपने पास धात्विक कोष रखता था। बाद में विनिमय मान अपनाये जाने पर अनेक देशों के केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय के कोषों के आधार पर भी पत्र-मुद्रा-निर्गमन करने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी के पश्चात अनेक देशों ने अपनी मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर स्थिर रखने के लिए विनिमय-समीकरण खाते अथवा विनिमय-स्थिरीकरण कोषों की स्थापना की थी, जिनका सचालन-भार केन्द्रीय बैंकों को सौंपा गया था। अब ऐसी परम्परा स्थापित हो गयी है कि प्रत्येक देश द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा केन्द्रीय बैंक के कोष में रखी रहती है और निर्धारित नियमों के अनुसार केन्द्रीय बैंक इसके उचित प्रयोग की व्यवस्था करता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक देश के विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक है। अधिकांश देश पत्र-मुद्रा-निर्गमन के पीछे विदेशी विनिमय कोष रखने लगे हैं। अतः मुद्रा व्यवस्था में लोच बनाये रखने के लिए इन कोषों को सुरक्षित रखना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास तथा विनिमय दरों की स्थिरता के लिए भी विदेशी विनिमय कोषों को उचित मात्रा में बनाये रखने की आवश्यकता होती है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण रखता है। इसका मुख्य उद्देश्य

---

1 "The Central Bank operates as the Government's banker, not only because it is more convenient and economical to the Government, but also because of the intimate connection between public finance and monetary affairs." —De Kock *Central Banking*, p 43

यह है कि उसके पास पर्याप्त मात्रा मे विदेशी मुद्राओं का कोष रहे, जिससे किसी भी समय भुगतान का विपरीत सन्तुलन चुकाया जा सके और इस प्रकार देश की मुद्रा के वाह्य मूल्य में स्थिरता रखी जा सके।

(5) **बिलो की पुनर्कटौती का कार्य एवं अन्तिम ऋणदाता**—व्यापारिक बैंको के तरल कोष ग्राहकों की नकदी की मांग को पूरा करने के लिए अपर्याप्त होने पर उन्हें केन्द्रीय बैंक की सहायता की आवश्यकता होती है। ऐसे समय मे केन्द्रीय बैंक उनकी दो प्रकार से सहायता कर सकता है—श्रेष्ठ व्यापारिक बिलो की पुनर्कटौती द्वारा तथा प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियो की धरोहर पर ऋण द्वारा।

यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि व्यापारिक बैंक किस प्रकार व्यापारिक बिलों की कटौती करते हैं। यदि बिल की अवधि पूर्ण होने के पूर्व ही बैंक को नकद राशि की आवश्यकता पड जाती है तो वह इसकी केन्द्रीय बैंक से पुनर्कटौती करा लेता है और अपनी तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है। चूंकि यह बिल प्राय. अल्पकालीन होते है, अतएव श्रेष्ठ बिलो की पुनर्कटौती करने मे केन्द्रीय बैंक को तनिक भी सकोच नही होता।

व्यापारिक बैंकों को नकद राशि की आवश्यकता पडने पर यदि उनके पास पर्याप्त मूल्य के विनिमय बिल न हो, तो वे केन्द्रीय बैंक से प्रत्यक्ष ऋण प्राप्त कर सकते है। ये ऋण अल्पकालीन होते है तथा उनके पीछे सरकारी प्रतिभूतियाँ धरोहर के रूप मे रखी जाती है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष ऋण तभी दिये जाते हैं जब मुद्रा-बाजार में नकदी की अत्यधिक आवश्यकता हो।

चूंकि केन्द्रीय बैंक आवश्यकता पडने पर बिलो की पुनर्कटौती द्वारा तथा प्रत्यक्ष ऋण देकर मुद्रा-बाजार मे पूँजी की मात्रा को बढा सकता है, इसलिए इसे 'अन्तिम ऋणदाता' (lender of the last resort) कहा जाता है। सर्वप्रथम बैंक ऑफ इगलैण्ड ने यह कार्य आरम्भ किया था, परन्तु अब तो प्रत्येक केन्द्रीय बैंक इसे करता है।

(6) **खातो का समाशोधन, निपटारा तथा स्थानान्तरण**—केन्द्रीय बैंक एक समाशोधन गृह (clearing house) के रूप में ऐसी व्यवस्था करता है कि विभिन्न बैंकों के पारस्परिक लेन-देन अथवा एक-दूसरे पर लिखे गये चैकों के भुगतान का निपटारा केवल खाता मे आवश्यक परिवर्तन द्वारा किया जा सके। जब लोग अपने भुगतान बैंको द्वारा करते है तो चैक एक बैंक द्वारा दूसरे बैंक को भेजे जाते है, क्योकि इनके भुगतान का दायित्व तो उसी बैंक का होता है जिसके लिए यह लिखा जाता है तथा अन्य बैंक इनको केवल वसूली के लिए स्वीकार करते है। केन्द्रीय बैंक के माध्यम से बैंको के इस प्रकार के पारस्परिक लेन-देन का निपटारा करने मे बहुत सुविधा होती है। केन्द्रीय बैंक मे सब सदस्य बैंको के खाते खुले होते है तथा इन खातों मे रकम का स्थानान्तरण (transfer entries in ledger accounts) कर देने मात्र से, बिना नकद भुगतान किये अथवा बहुत कम मात्रा मे नकदी देकर, लेन-देन का हिसाब हो जाता है।

शॉ (Shaw), विलिस (Willis) तथा जानसी (Jauncey) आदि अर्थशास्त्रियों ने समाशोधन का कार्य केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य माना है। बैंक ऑफ इगलैण्ड ने यह कार्य 1854 ई० में आरम्भ किया था। कुछ समय बाद अन्य केन्द्रीय बैंक भी इस कार्य को करने लगे, और अब तो प्रत्येक केन्द्रीय बैंक का यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य हो गया है। केन्द्रीय बैंक के इस कार्य से अनेक लाभ प्राप्त होते है, जैसे—(1) बैंको के पारस्परिक भुगतान सरलता से एव शीघ्रतापूर्वक हो जाते हैं, (2) मुद्रा के उपयोग मे मितव्ययता होती है एव केन्द्रीय बैंक द्वारा चलन मे कम मुद्रा रखने पर भी काम चल जाता है, तथा (3) बैंको को अपने पास कम नकद-कोष रखने पडते है और वे अधिक मात्रा मे साख का निर्माण कर सकते है।

(7) **साख का नियन्त्रण**—साख का नियन्त्रण करना केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य समझा जाता है। साख-नियन्त्रण से तात्पर्य साख-मुद्रा की मात्रा मे देश की मौद्रिक आवश्यकताओं के अनुसार कमी अथवा वृद्धि करने से है। साख की मात्रा आवश्यकता से अधिक होने पर मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है तथा कम होने पर मुद्रा-सकुचन के दोष पैदा हो जाते है। यही

कारण है कि केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा को नियन्त्रित रखना है। यद्यपि केन्द्रीय बैंक के अन्य कार्यों—जैसे, पत्र मुद्रा का निर्गमन, सरकारी बैंक के रूप में कार्य, धातु तथा विदेशी विनिमय का संरक्षण, अन्तिम ऋणदाता तथा समाशोधन सम्बन्धी कार्य—का अपना अलग-अलग महत्व है, तथापि अनेक अर्थशास्त्री उन्हें साख-नियन्त्रण के प्रधान कार्य का अंग ही मानने लगे हैं। आज के युग में साख नियन्त्रण का कार्य इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि लगभग प्रत्येक केन्द्रीय बैंक के विधान में इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के विधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि "बैंक के मुख्य कार्य नोटों का निर्गमन करना तथा भारत में मौद्रिक सुरक्षा के हेतु कोष रखना और चलन तथा साख-व्यवस्था को कार्यान्वित करना है।"

1931 के पूर्व साख-नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य विदेशी विनिमय दर (अर्थात् मुद्रा का वाह्य मूल्य) में स्थिरता रखना होता था। 1931 में स्वर्णमान का पतन हो जाने के बाद साख-नियन्त्रण का उद्देश्य आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता बनाये रखना हो गया, क्योंकि देश में आन्तरिक मूल्यों की स्थिरता को आर्थिक हितों की रक्षा के लिए अधिक आवश्यक समझा जाने लगा है। वस्तुतः कीमत-स्तर का प्रभाव विनिमय स्थायित्व पर पड़ता है और विनिमय स्थायित्व आन्तरिक कीमतों को प्रभावित करता है, इसलिए साख-नियन्त्रण का उद्देश्य इन दोनों में स्थायित्व की प्राप्ति होना चाहिए।

साख-नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंक अनेक विधियाँ अलग-अलग अथवा एक साथ अपनाता है। इनकी विवेचना हम एक पिछले अध्याय में अलग से कर चुके हैं।

(8) **आँकड़े संकलित करना**—डी कॉक द्वारा बताये गये केन्द्रीय बैंक के उपर्युक्त सात कार्यों के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य देश में मुद्रा, साख, बैंकिंग, विदेशी विनिमय आदि से सम्बन्धित आर्थिक स्थिति के बारे में आँकड़े व सूचनाएँ एकत्र करना तथा उन्हें जन हित में प्रकाशित करना है। इन आँकड़ों से व्यापारिक तथा औद्योगिक विकास के लिए देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है, आर्थिक नियोजन की सफलता में सहायता मिलती है तथा विभिन्न देशों की आर्थिक स्थिति की तुलना करना सम्भव होता है।

केन्द्रीय बैंक के कार्यों पर प्रतिबन्ध

अभी तक उन कार्यों की विवेचना की गयी है जिन्हें केन्द्रीय बैंक करता है। केन्द्रीय बैंक के कार्यों का दिन-प्रतिदिन विस्तार होता जा रहा है। परन्तु केन्द्रीय बैंकिंग के सफल संचालन तथा अर्थ-व्यवस्था के हित में केन्द्रीय बैंक के कार्यों पर कुछ प्रतिबन्ध भी होते हैं। डी कॉक के अनुसार केन्द्रीय बैंक का जनता से प्रत्यक्ष रूप में केवल इस प्रकार के सम्बन्ध ही रखने चाहिए जो इसकी मौद्रिक तथा बैंकिंग नीति की सफलता के लिए आवश्यक हो। इसको जनता से प्रत्यक्ष रूप में नकदी स्वीकार नहीं करनी चाहिए और न ही जनता को प्रत्यक्ष रूप में ऋण आदि प्रदान करने चाहिए। ये सब कार्य केन्द्रीय बैंक को देश की व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली के द्वारा ही सम्पन्न करने देना चाहिए।[1] दूसरे शब्दों में, केन्द्रीय बैंक को साधारण व्यापारिक बैंकों के कार्य नहीं करने चाहिए। जैसा कि पहले बताया गया है, कुछ केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के भी कार्य करते हैं, परन्तु यह सैद्धान्तिक रूप से गलत है। इसके द्वारा व्यापारिक बैंकों के कार्य करने पर अन्य व्यापारिक बैंक इसकी प्रतिस्पर्द्धा में ठहर नहीं सकते। केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होता है, इसलिए इसे निष्पक्ष होकर देश की मुद्रा-प्रणाली का संचालन करना चाहिए।

भारत में रिजर्व बैंक पर यह प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं कि वह कुछ कार्य नहीं कर सकता है, जैसे—

---

1 "A further requisite of a real Central Bank is that it should not, to any great extent, perform such banking transactions as accepting deposits from the general public and accommodating regular commercial customers with discount and advances It is now almost generally accepted that a Central Bank should conduct direct dealings with the public only in such forms and to such extent as, in the circumstances of the particular country, it considers absolutely necessary for the purpose of carrying out its monetary and banking policy —De Kock *Central Banking*, 3rd Edition, p 22

1 वह किसी उद्योग अथवा व्यापार को नही खोल सकता,
2 वह किसी बैंक या कम्पनी के शेयर नही खरीद सकता,
3 अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण नही दे सकता,
4 बिना जमानत के ऋण नही दे सकता,
5 मियादी बिल न लिख सकता है और न ही स्वीकार कर सकता है, तथा
6 जमाओ पर ब्याज नही दे सकता है।

इस प्रकार के प्रतिबन्धो का उद्देश्य केन्द्रीय बैंकिंग कार्य मे निष्पक्षता सुरक्षा तथा तरलता आदि बनाये रखना होता है और इनसे मुद्रा प्रणाली के सफल सचालन मे सहायता मिलती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरो के सकेत

1 केन्द्रीय बैंक किसे कहते है ? केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंक मे अन्तर स्पष्ट कीजिए।

[सकेत प्रथम भाग मे केन्द्रीय बैंक की परिभाषा दीजिए। दूसरे भाग मे केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंको की पारस्परिक समानताओ तथा असमानताओ का उल्लेख कीजिए और यह बताइए कि सामान्यत केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंको के कार्य नही करने चाहिए।]

2 केन्द्रीय बैंकिंग के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए। केन्द्रीय बैंक पर सरकारी स्वामित्व होना क्यों अच्छा है ?

[सकेत केन्द्रीय बैंक के निर्देशक सिद्धान्तो की विस्तारपूर्वक व्याख्या करने के पश्चात यह स्पष्ट कीजिए कि केन्द्रीय बैंक पर सरकारी स्वामित्व के क्या लाभ होते हैं।]

3 केन्द्रीय बैंक के कार्यों का विवेचन कीजिए तथा उनका महत्व बताइए।

[सकेत केन्द्रीय बैंक द्वारा किये जाने वाले सभी कार्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए और साथ मे यह भी बताइए कि प्रत्येक कार्य का महत्व क्या है अर्थात उनसे देश की बैंकिंग तथा व्यावसायिक व्यवस्था को कौन कौनसे लाभ प्राप्त होते हैं।]

4 क्या एक देश मे एक ही केन्द्रीय बैंक होना चाहिए ? क्या किसी देश मे एक से अधिक केन्द्रीय बैंक भी हैं ?

[सकेत एक ही केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता पर प्रकाश डालने के पश्चात अमरिका के फेडरल रिजर्व सिस्टम के स्वरूप की व्याख्या कीजिए और यह स्पष्ट कीजिए कि अमरिका मे इस पद्धति को कुछ विशेष परिस्थितियो के कारण ही अपनाया गया है।]

तृतीय खण्ड

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

[INTERNATIONAL TRADE]

16

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

[INTERNATIONAL TRADE]

> *"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देश की सीमा के बाहर व्यापार का विस्तार मात्र है। अतः यह विशिष्टीकरण और इससे प्राप्त होने वाले लाभ के क्षेत्र को अधिक व्यापक बना देता है।"*[1]
>
> —ऐल्सवर्थ

जब किसी देश के विभिन्न स्थानों, प्रदेशों अथवा क्षेत्रों के बीच वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है, तो इसे 'आन्तरिक व्यापार' (Internal Trade), 'घरेलू व्यापार' (*Domestic Trade*), 'स्थानीय व्यापार' (Local Trade) अथवा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार (Inter-regional Trade) कहा जाता है। इसके विपरीत, जब विभिन्न राष्ट्रों के बीच वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है तो इसे 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' (International Trade) अथवा विदेशी व्यापार (Foreign Trade) कहते हैं।

अन्तर्क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समानता

चूंकि अन्तर्क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विनिमय के रूप में ही सम्पन्न होते हैं, और सभी प्रकार के विनिमय का आधार विशिष्टीकरण (specialization) तथा श्रम-विभाजन (division of labour) होता है, इसलिए राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक समानताएँ हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

1. राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों विनिमय के उद्देश्य से ही किये जाते हैं ताकि जिस स्थान पर जो वस्तु प्रचुर मात्रा में उत्पन्न अथवा उपलब्ध होती है, उसे उन स्थानों में भेजा जाय जहाँ उसकी उपलब्धि सीमित होती है। यह बात जितनी अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के लिए सत्य है उतनी ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए भी सत्य है।
2. राष्ट्रीय व्यापार में श्रम-विभाजन के कारण ही विशिष्टीकरण होता है और विनिमय की आवश्यकता अनुभव होती है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय *व्यापार का आधार भौगोलिक श्रम-विभाजन होता है, क्योंकि अलग-*अलग देशों के प्राकृतिक साधन तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए उपयुक्त होती हैं।
3. राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत जिन वस्तुओं का उत्पादन एक स्थान पर कम लागत से किया जा सकता है वहाँ से माल अन्य स्थानों को भेजा जाता है। इसी प्रकार जिन देशों में जो वस्तुएँ सस्ती हैं उन्हें अन्य देश खरीद लेते हैं और इसके बदले में वे वस्तुएँ बेचते हैं जो उनके द्वारा कम लागत पर बनायी जा सकती हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों का उद्देश्य कम मूल्य पर अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना होता है।

---

1 "International trade is simply the extension of the trade beyond the boundaries of a nation It, therefore, extends the range of specialization and the gains derivable thereupon."—Ellsworth : *The International Economy*, p 141.

4. राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों प्रकार के व्यापार का महत्वपूर्ण उद्देश्य लाभार्जन करना होता है।
5. राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों ही पारस्परिक आर्थिक सम्बन्धों को दृढ़ करते हैं, तथा पारस्परिक सहयोग की भावना को प्रोत्साहन देते हैं।

इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रकृति में काफी समानता है। इसी समानता को देखते हुए ओहलिन (Ohlin) ने कहा है कि **"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की एक विशिष्ट दशा मात्र है।"**[1]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता

अन्तर्क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रकृति में समानता होने के कारण एक प्रश्न उठता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता क्यों है? प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) का विचार था कि आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ आधारभूत अन्तर है जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता है। इसके विपरीत आधुनिक अर्थशास्त्री, जिनमें ओहलिन (Ohlin) प्रमुख हैं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार से भिन्न नहीं मानते तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त को आवश्यक नहीं समझते।

पृथक सिद्धान्त के पक्ष में तर्क

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार दो देशों में वस्तुओं के उत्पादन की सापेक्षिक लागतों में अन्तर होने के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उदय होता है और इसके लिए उन्होंने 'तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त' (Theory of Comparative Cost) का प्रतिपादन किया। उनका विचार था कि यह सिद्धान्त केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर ही लागू होता है, अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार पर नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त के पक्ष में उनके विचार मुख्य रूप से आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार की निम्नलिखित भिन्नताओं पर आधारित थे

(1) **श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता**—रिकार्डो (Ricardo) तथा अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचार में श्रम तथा पूंजी एक देश की सीमा के भीतर तो गतिशील (mobile) होते हैं, अर्थात् एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को तथा एक उत्पादन-कार्य से दूसरे उत्पादन-कार्य में स्वतन्त्रतापूर्वक आते-जाते रहते हैं। परन्तु दो विभिन्न क्षेत्रों के बीच में साधन अधिकतर गतिहीन (immobile) होते हैं। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने बताया कि श्रम में सबसे अधिक गतिहीनता होती है।[2] पूंजी में श्रम की अपेक्षा अधिक गतिशीलता होती है, फिर भी जहाँ तक सम्भव होता है, पूंजीपति अपनी पूंजी का विनियोग अपने देश में ही करना चाहते हैं। विभिन्न देशों के बीच पूंजी की गतिशीलता अनेक कारणों से प्रभावित होती है। हैबरलर के शब्दों में, "पूंजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता में यातायात-व्यय के कारण बाधा नहीं पड़ती, बल्कि इसकी बाधाएँ एक बिलकुल भिन्न प्रकार की होती हैं। इसके अन्तर्गत न्याय पाने में कठिनाई, राजनीतिक अस्थिरता, विदेश में विनियोग के लाभों की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में अज्ञानता, बैंकिंग व्यवस्था की अपूर्णता, विदेशी मुद्राओं की अयोग्यता तथा विदेशियों में अविश्वास, आदि आते हैं।"[3]

दो देशों के बीच श्रम तथा पूंजी में गतिशीलता के अभाव के कारण उत्पादकों में पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition) की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाती। इसके फलस्वरूप विभिन्न देशों में वस्तुओं की उत्पादन-लागत तथा कीमतें भिन्न-भिन्न होती हैं जिससे उनके बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आरम्भ होता है। इसके विपरीत, एक देश के आन्तरिक व्यापार में प्रतियोगिता के कारण उत्पादन-लागत तथा कीमतों में समानता रहती है। इस प्रकार, श्रम तथा पूंजी की अन्त-

---

1 "International trade is only a special case of inter regional Trade"—Ohlin. *Inter-regional and International Trade*, p 3

2 "Of all sorts of luggage, man is most difficult to be transported"—Adam Smith

3 Haberler *Theory of International Trade*

राष्ट्रीय गतिशीलता में अभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वरूप को प्रभावित करता है। इसकी व्याख्या के लिए एक पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता है।

(2) **प्राकृतिक साधनों तथा भौगोलिक परिस्थितियों में अन्तर**—विभिन्न देशों में न तो प्राकृतिक साधन एक-समान होते हैं और न ही उनकी भौगोलिक परिस्थितियाँ एक-सी होती हैं। इन विभिन्नताओं के कारण विभिन्न देशों में अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण हो जाता है। इसी के फलस्वरूप विभिन्न देशों को अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने तुलनात्मक लागत के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त प्रतिपादित किया था।

(3) **उत्पादन की रीतियाँ एवं सुविधाएँ**—विभिन्न देशों में तकनीकी के विकास तथा पूँजी के साधनों आदि में विभिन्नताओं के कारण उत्पादन की अलग-अलग रीतियों का प्रयोग किया जाता है जिसका उत्पादन की लागत पर प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक देश में सरकारी नीति, उत्पादन सम्बन्धी व्यवस्थाएँ तथा कर-प्रणालियाँ अलग-अलग होती हैं, और उनका भी उत्पादन-लागत पर प्रभाव पड़ता है। हैरॉड (Harrod) के विचारानुसार, "वास्तविक लागत का सामान्य स्तर एक देश में दूसरे की अपेक्षा केवल इस कारण से नीचा हो सकता है कि सरकार ने अधिक सुविधाएँ प्रदान कर रखी हैं।"

(4) **आयात-निर्यात की कठिनाइयाँ**—सभी देश अपने हितों को ध्यान में रखते हुए अपनी आयात-निर्यात नीति निर्धारित करते हैं तथा अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाते हैं, जबकि आन्तरिक व्यापार में वस्तुओं के आवागमन पर सामान्यतः कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। हैबरलर (Haberler) ने इसीलिए कहा है कि तट कर की दीवारें (tariff walls) विदेशी व्यापार तथा देशी व्यापार के बीच अन्तर उत्पन्न करती हैं।

(5) **विभिन्न मुद्रा प्रणालियाँ तथा विदेशी विनिमय की समस्या**—सभी देशों में न तो मुद्रा प्रणाली एक-सी होती है और न ही एक-सी मौद्रिक नीति होती है। विभिन्न मुद्राओं की विनिमय दरें निर्धारित करना तथा उनमें स्थायित्व बनाये रखना सरल नहीं होता। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तथा भुगतान-सन्तुलन की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। इसके विपरीत, आन्तरिक व्यापार में कीमतें निर्धारित करने तथा मूल्य का भुगतान करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उपर्युक्त अन्तर ध्यान में रखते हुए ही प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त का होना आवश्यक बताया था और इसके लिए उन्होंने 'तुलनात्मक लागत सिद्धान्त' प्रतिपादित किया, जिसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या आगे की गयी है।

पृथक सिद्धान्त के विरुद्ध तर्क

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की विचारधारा के विपरीत आधुनिक अर्थशास्त्री, विशेषतया स्वीडिश अर्थशास्त्री बर्टिल ओहलिन (Bertil Ohlin), अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अन्तक्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशेष दशा मानते हैं और इसके लिए किसी पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं समझते। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा बतायी गयी आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार में असमानताएँ आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार में असत्य एवं भ्रमपूर्ण हैं। यह असमानताएँ आधारभूत नहीं बल्कि उनमें केवल श्रेणी (degree) का ही अन्तर है। इनके द्वारा दिये गये निम्नलिखित तर्क यह सुझाते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत कुछ अंशों में आन्तरिक व्यापार का ही एक विस्तृत रूप है, अतएव इसके लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है

(1) **श्रम तथा पूँजी की गतिहीनता,** जिसे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने पृथक सिद्धान्त का आधार बनाया है, ओहलिन के मतानुसार केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ही विशेष लक्षण नहीं है वरन् यह एक ही देश के दो विभिन्न क्षेत्रों में देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए, किसी एक क्षेत्र में किसी उद्योग में लगे हुए श्रम में उसी देश के किसी अन्य क्षेत्र में किसी अन्य प्रकार के

उद्योग म नाने की इच्छा नहा होनी । बम्बइ की सूती मिला म काम करने वाल मजदूर बिहार में इस्पात के कारखानों अथवा खानो में काम करने के लिए तयार नही होते । इसी प्रकार एक उद्योग स दूसरे उद्योग म पूजी की गतिशीलता का देश के भीतर भी अभाव हो सकता है । वास्तव मे विभिन्न देशो के बीच श्रम तथा पूजी की गतिहीनता सापेक्षक (relative) होती ह । सरल शब्दो म श्रम तथा पजी के साधन न तो विभिन्न देशो के बीच पूणतया गतिहीन होते है और न ही देश के भीतर पूर्णरूपेण गतिशील । दोनो दशाओ म गतिशीलता मे केवल श्रणी अथवा माना (degree) का ही अतर होता है वतमान समय मे पूजी तथा श्रम की अतराष्ट्रीय गतिशीलता म काफी वृद्धि हुइ है । अत इनकी गतिहीनता क आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता को स्वीकार नहा किया जा सकता ।

(2) **प्राकृतिक साधन तथा भौगोलिक परिस्थितिया** एक ही देश के अन्दर अलग अलग हो सकता हैं । एक देश क विभिन्न क्षत्रो म जलवायु भूमि तथा खनिज सम्पत्ति मे अतर होत हैं और विशेषतया बड़े देशो जसे ब्राजील चीन भारत रूस आदि मे तो यह अतर बहुत ही अधिक होते ह । अत प्रतिष्ठित अथशास्त्रियो का विचार कि इस प्रकार की विभिन्नताए केवल भिन्न भिन्न देशो म ही सम्भव ह ठीक नहा ह

(3) **उत्पादन की रीतिया तथा सुविधाए** एक हा देश के विभिन्न क्षत्रो म अलग अलग हा सकती है । उदाहरणाथ एक ही वस्तु का एक देश म उत्पादन अलग अलग रीतिया से किया जाता ह । यदि इसका उत्पादन बड़ पमाने के उद्योगो म हो तो इसक लिए श्रम की कम तथा पूजी की अधिक लागत होती है । छोटे पमाने के उद्योगो म स्थिति इसके बिलकुल विपरीत होती है । इसके अतिरिक्त उत्पादन की अन्य सुविधाए भी एक ही देश के विभिन्न क्षत्रो में अलग-अलग होती ह । औद्योगिक विकास म क्षत्रीय सन्तुलन बनाये रखने के उद्देश्य से सरकारी नीति प्राय इस प्रकार निधारित की जाती है कि देश के विभिन्न क्षत्रो में उत्पादन सम्बन्धी सुविधाए तथा स्थितिया अलग अलग पायी जाती है ।

(4) **आयात निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्ध** केवल अन्तराष्ट्रीय व्यापार मे ही नही होते बल्कि अनेक देशो म एक क्षत्र से दूसरे क्षत्र को माल भजने पर भी कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये जाते है । उदाहरणाथ भारत म खाद्यान्नो के व्यापार म विभिन्न राज्य सरकारो द्वारा अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाय गये है इसक विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क क्षत्र म यह भावना बढती जा रही है कि विभिन्न देश मिलकर अपने साझा बाजार स्थापित कर तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिबन्ध धीरे धीरे हटा लिये जाय ।

(5) **विभिन्न मौद्रिक प्रणालियो** तथा मौद्रिक नीतिया की समस्या बहुत कुछ हल की जा चुकी ह । विभिन्न देशो की मुद्राओ की विनिमय दरा के निधारण तथा स्थायित्व का भार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष न अपने ऊपर ले लिया है । विभिन्न देशो के बीच पारस्परिक भुगतान भी कोष की सहायता से सुविधापूवक हो जाते ह । यदि कुछ कठिनाइया हो तो भी इसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त का आधार नही माना जा सकता है । इस विषय म ओहलिन न कहा है कि मुद्राओ का अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा राष्ट्रीय व्यापार का अन्तर सूचित नही करता वरन एक बाजार क मूल्य सिद्धान्त तथा कइ बाजारो के मूल्य सिद्धान्तो के अन्तरो का सूचक है ।

(6) **तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त** केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर ही नही बल्कि आन्तरिक व्यापार पर भी लागू होता है एक ही देश मे विभिन्न क्षत्र अलग अलग वस्तुओ के उत्पादन म विशिष्टीकरण प्राप्त करते है । जसा कि ओहलिन ने कहा है प्रान्त और राष्ट्र भी उन्ही कारणो से विशिष्टता प्राप्त करते ह और एक दूसरे से व्यापार करते ह जिनसे व्यक्ति विशिष्टता प्राप्त करते हैं तथा व्यापार करते हैं ।[1] परेटो के अनुसार सापेक्षिक लाभो का विचार अन्त

1 Reg ons and nat ons spec a se and t ade w th each other for the same reasons that nd v dua s spec al e and trade Ohl n *In onal and In erna onal T ade*

राष्ट्रीय व्यापार के लिए ही विशेषता नही रखता वरन् इसे उन व्यक्तियो पर भी लागू किया जा सकता है जो एक आर्थिक इकाई के अन्दर रहते हो।"[1] एजवर्थ का भी यही कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर वही मौलिक सिद्धान्त लागू होना है जो आन्तरिक व्यापार पर लागू होता है।[2] प्रो० कैनन (Cannan) के विचारानुसार रिकार्डो (Ricardo) के समय से अब तक के अर्थशास्त्रियो की यह भूल रही है कि उन्होने राष्ट्रीय व्यापार से भिन्न अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त बनाने की चेष्टा की है।

उपर्युक्त विचारो के आधार पर ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त को अनावश्यक तथा अनुपयुक्त ठहराया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विवेचना के लिए ओहलिन ने वालरस (Walras), परेटो (Pareto) तथा कैसिल (Cassel) द्वारा प्रतिपादित बाजार मे मूल्यो से सम्बन्धित सिद्धान्त—मूल्य के साधारण साम्य सिद्धान्त (General Equilibrium Theory of Value)—को ही पर्याप्त समझा है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की एक विशेष दशा

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आन्तरिक व्यापार मे अनेक समानताएँ हैं। परन्तु फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कुछ विशिष्ट विशेषताएँ हैं, जिनमे से प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

1 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का ही एक आवश्यक परिणाम है[3] और इसका आधार विभिन्न देशो को भिन्न-भिन्न सुविधाएँ प्राप्त होना है, जैसे—(1) विशेष प्राकृतिक सुविधाएँ, (2) जनसख्या का असमान वितरण, (3) मानवीय क्षमताओ की भिन्नता, (4) पूंजीगत वस्तुओ की सचित पूर्ति मे भिन्नता, (5) राजनीतिक एव सामाजिक वातावरण की भिन्नता, इत्यादि। विभिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण कोई देश कुछ विशेष वस्तुओ का ही उत्पादन करता है और अन्य वस्तुएँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा प्राप्त कर लेता है।

2 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वाले विभिन्न देशो मे उत्पादको की आर्थिक व्यवस्था प्राय असमान होती है। दो प्रतिस्पर्धी देशो मे मजदूरो के जीवन-स्तर तथा मजदूरी-दरो मे असमानता कोई असाधारण बात नही है। वास्तव मे इसी विशेषता के कारण अन्तर्राष्ट्रीयव्यापार के पृथक रूप मे विशेष अध्ययन की आवश्यकता पडती है।

3 विभिन्न देशो मे उत्पादको को सरकार से प्राप्त सुविधाएँ असमान होती है, जबकि आन्तरिक व्यापार मे उत्पादको को सरकार से प्राय समान सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत विनिमय विभिन्न केन्द्रीय बैंको के प्रभाव क्षेत्रो मे रहने वाले व्यक्तियो के बीच होता है। इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनो मे विदेशी मुद्रा की समस्या उत्पन्न होती है।

5 अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की तुलना करते समय यह ध्यान मे रखना आवश्यक होता है कि एक क्षेत्र एक राष्ट्र मे भिन्न हो सकता है। कुछ क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से समान होते हुए भी राजनीतिक दृष्टि से दो विभिन्न राष्ट्र हो सकते हैं। इसके विपरीत, एक विशाल राष्ट्र मे अनेक आर्थिक क्षेत्र हो सकते हैं। अतएव अन्तर्क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सदा एक-समान नही समझा जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उक्त विशिष्ट विशेषताओ के कारण ही ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को "अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का एक विस्तृत रूप" न कहकर "अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की एक

1 "The consideration of relative advantages is not peculiar to international trade, it can be applied also to individuals who form an economic unit —Pareto
2 Adgeworth *Pure Theory of International Value*
3 "An exchange in general is necessitated by the division of labour, so foreign trade appears when the division of labour is pushed beyond national frontiers It is the necessary consequence of an international division of labour' —Harrod *International Economics*, p 9

प्रति इकाई उत्पादन-लागत (श्रम-इकाइयों में)

	भारत	अमरीका
कपास	1	2
जूट	2	1

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि भारत में अमरीका की अपेक्षा कपास की उत्पादन-लागत अधिक है और अमरीका में भारत की अपेक्षा जूट की उत्पादन-लागत अधिक है। ऐसी स्थिति में यदि अमरीका केवल कपास का ही उत्पादन करे और भारत केवल जूट का, और दोनों अपने अतिरिक्त उत्पादन को एक-दूसरे को बेच दें तो दोनों देशों को लाभ होगा। इसके विपरीत, यदि भारत दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन करता है तो एक इकाई जूट त्यागकर केवल $\frac{1}{2}$ इकाई कपास प्राप्त करता है, और इसी प्रकार अमरीका 1 इकाई कपास त्यागकर केवल $\frac{1}{2}$ इकाई जूट का उत्पादन कर पाता है। इन परिस्थितियों में यदि भारत जूट का निर्यात तथा कपास का आयात और अमरीका कपास का निर्यात तथा जूट का आयात करे, और भारत अमरीका को कपास की 1 इकाई के बदले $\frac{1}{2}$ इकाई से कुछ अधिक जूट दे तथा अमरीका भारत को 1 इकाई जूट के बदले $\frac{1}{2}$ इकाई से अधिक कपास दे, तो दोनों देशों को लाभ होगा। इस प्रकार विभिन्न देशों में लागतों में निरपेक्ष अन्तर होने की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है तथा दोनों देशों को पारस्परिक लाभ प्राप्त होता है।

(2) **लागतों में सापेक्ष या तुलनात्मक अन्तर**—लागत में निरपेक्ष अन्तर की स्थिति अत्यन्त सरल है, परन्तु व्यावहारिक रूप में दो देशों के बीच उत्पादन-लागतों में निरपेक्ष अन्तर तो कम ही देखने को मिलता है। साधारणत दो देशों के बीच उत्पादन-लागतों में सापेक्ष अथवा तुलनात्मक अन्तर ही होते हैं, और अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इन्हीं तुलनात्मक अन्तरों के कारण होते हैं।

लागत में तुलनात्मक अन्तर से अभिप्राय यह है कि कोई भी देश कई वस्तुएँ कम लागत पर उत्पादन करने की स्थिति में हो सकता है, परन्तु फिर भी वस्तुओं के उत्पादन की सापेक्षिक कुशलता अन्य देशों से भिन्न होने पर इस देश को एक विशेष वस्तु के उत्पादन में सापेक्षिक लाभ अधिक होता है। उदाहरणार्थ, एक देश के लिए विदेशों से ऐसी वस्तुओं का आयात करना भी लाभदायक हो सकता है जिन्हें वह स्वयं विदेशों की तुलना में कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है, क्योंकि यह देश अन्य वस्तुओं का उत्पादन करके, जिनमें इसे अधिक कुशलता अथवा विशेषता प्राप्त है, और भी अधिक लाभ कमा सकता है।

बैस्टेबिल (Bastable) ने लागत में तुलनात्मक अन्तर को एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है "एक डाक्टर बगीचे के काम में अपने माली से अधिक निपुण हो सकता है, परन्तु डाक्टरी के काम में वह बगीचे के काम से भी अधिक निपुण है। यदि वह अपना सारा समय डाक्टरी में, जिसमें वह अधिक निपुण है, नहीं देगा तो उसे हानि होगी। पूरे समय माली के काम के बदले डाक्टरी का काम करने से ही उसे अधिक लाभ होगा। इसी प्रकार, यदि एक देश दूसरे देश की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु अधिक सस्ती बना सकता हो, तो भी उसके लिए सबसे लाभदायक यही होगा कि वह केवल उसी वस्तु के उत्पादन में लगा रहे जिसके उत्पादन में दूसरे देश की अपेक्षा उसे तुलनात्मक लाभ अधिक है। दूसरी ओर, कम निपुणता वाले देश के लिए भी यही लाभदायक होगा कि वह केवल उसी वस्तु के उत्पादन में अपना समय लगाये जिसमें उसे तुलनात्मक हानि सबसे कम हो।"

रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत में अन्तर की स्थिति को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा समझाया था :

प्रति इकाई उत्पादन-लागत (श्रम-इकाइयों में)

देश	शराब	कपड़ा
पुर्तगाल	80	90
इंगलैण्ड	120	100

उक्त उदाहरण में पुर्तगाल उत्पादन की दोनों शाखाओं में इंगलैण्ड की अपेक्षा अधिक दक्ष है, परन्तु यह दक्षता अथवा श्रेष्ठता कपडे की अपेक्षा शराब में अधिक है। दूसरे शब्दों में, शराब के उत्पादन में पुर्तगाल को तुलनात्मक लाभ (comparative advantage) प्राप्त है, क्योंकि इसमें उसका लागत-अन्तर (cost difference) (120—80) कपडे में उसके लागत-अन्तर (100—90) की अपेक्षा अधिक है। ऐसी स्थिति में पुर्तगाल के लिए अपने सभी साधनों द्वारा शराब का तथा इंगलैण्ड के लिए अपने सभी साधनों द्वारा कपडे का उत्पादन करना दोनों देशों के लिए अधिक लाभप्रद होगा। पुर्तगाल द्वारा शराब का इंगलैण्ड के कपडे से विनिमय करके उसे 80 श्रम इकाइयों की लागत में कपडे की वह मात्रा प्राप्त हो सकेगी जिसकी उत्पादन-लागत पुर्तगाल में 80 श्रम इकाइयों से अधिक है। इसी प्रकार इंगलैण्ड कपड़ा देकर 100 श्रम इकाइयों की लागत में शराब की वह मात्रा प्राप्त कर सकेगा जिसकी उत्पादन लागत इंगलैण्ड में 100 श्रम इकाइयों से अधिक है। अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार उत्पादन-लागत में तुलनात्मक अन्तर ही होता है।

(3) **समान अन्तर**—यदि एक देश में उत्पादन-लागत अन्य देशों की अपेक्षा कम होती है परन्तु लागत में अन्तर का अनुपात एक-समान होता है तो इसे उत्पादन-लागत में समान अन्तर (equal differences in cost) कहते हैं। यह निम्न काल्पनिक उदाहरण में स्पष्ट हो जाता है

प्रति इकाई उत्पादन-लागत (श्रम-इकाइयों में)

देश	जूट	कपास
भारत	50	100
पाकिस्तान	40	80

उक्त उदाहरण के आधार पर भारत में लागत अनुपात 1 इकाई कपास $= \frac{1}{2}$ इकाई जूट होगा, और पाकिस्तान में 1 इकाई कपास $= \frac{1}{2}$ इकाई जूट होगा। इस प्रकार कपास तथा जूट के उत्पादन में भारत की स्थिति पाकिस्तान से बहुत अच्छी है। परन्तु किसी भी वस्तु के उत्पादन में सापेक्षिक लाभ नहीं है तथा दोनों में से कोई भी देश इन दोनों वस्तुओं में से किसी भी वस्तु के उत्पादन में दूसरे से श्रेष्ठ नहीं है। दोनों देशों में कपास का उत्पादन-लागत-अनुपात दोनों देशों में जूट के उत्पादन लागत-अनुपात के समान है।

$$\left(\frac{\text{भारत में कपास की 100 इकाई}}{\text{पाकिस्तान में कपास की 80 इकाई}} = \frac{\text{भारत में जूट की 50 इकाई}}{\text{पाकिस्तान में जूट की 40 इकाई}} \right)$$

चूँकि व्यापार में भारत 1 इकाई कपास के बदले में $\frac{1}{2}$ इकाई जूट से अधिक चाहता है, और पाकिस्तान $\frac{1}{2}$ इकाई जूट से कम देना चाहेगा, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होगा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो देशों में वस्तुओं की उत्पादन-लागत में अन्तर होने के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन तथा व्यापार सम्भव होता है। यदि लागत सम्बन्धी अन्तर न हों तो कोई व्यापार सम्भव नहीं होगा।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की मान्यताएँ

जैकब वाइनर के अनुसार, "प्रत्येक देश अनिवार्य रूप से उन वस्तुओं का उत्पादन नहीं करता जिन्हें वह दूसरे देश से सस्ता उत्पन्न कर सकता है, अपितु वह उन वस्तुओं का उत्पादन करता है जिन्हें वह अधिकतम सापेक्षिक लाभ अर्थात् न्यूनतम तुलनात्मक लागत पर उत्पन्न कर सकता है। प्रत्येक देश उन वस्तुओं का उत्पादन करेगा जिनमें या तो उसकी श्रेष्ठता सर्वाधिक अथवा निकृष्टता न्यूनतम स्पष्ट हो।"[1] इस प्रकार, यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मुक्त हो तो प्रत्येक देश उस वस्तु का उत्पादन तथा निर्यात करेगा जिसमें उसके श्रम की सापेक्षिक कुशलता

---

1 "Each country tends to produce, not necessarily what it can produce more cheaply than another country but those articles which it can produce at the greatest relative advantage, i. e., at the lowest comparative cost. Each country will produce those articles in the production of which its superiority is most marked or its inferiority least marked." —Jacob Viner

सबसे अधिक है या सापेक्षिक अकुशलता सबसे कम है, और उस वस्तु का आयात करेगा जिसमें उसके श्रम की सापेक्षिक अकुशलता सबसे अधिक है या सापेक्षिक कुशलता सबसे कम है।[1]

रिकार्डो तथा जे० एम० मिल आदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त निम्न अव्यक्त (implied) तथा स्पष्ट (expressed) मान्यताओं पर आधारित है :

1. यह सिद्धान्त मूल्य-निर्धारण के 'श्रम सिद्धान्त' (Labour Theory of Value) पर आधारित है और यह मानकर चलता है कि वस्तु की उत्पादन-लागत श्रम-समय (labour hours) के अनुपात में निश्चित होती है।
2. समस्त श्रम एक-समान होता है।
3. उत्पादन-लागत स्थिर मानी गयी है, अर्थात् यह सिद्धान्त उत्पादन के स्थिर प्राप्ति नियम (Law of Constant Returns) पर आधारित है।
4. रिकार्डो ने दो देशों और दो ही वस्तुओं पर विचार किया है।
5. देश के भीतर उत्पत्ति के साधन पूर्णतः गतिशील (mobile) हैं, परन्तु दो देशों के बीच गतिहीन (immobile) हैं।
6. वस्तु की माँग के प्रभाव का कोई वर्णन नहीं किया गया है, अर्थात् माँग स्थिर मानी गयी है।
7. यह माना गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतन्त्र तथा प्रतियोगी है।
8. दोनों देशों में स्वर्णमान प्रचलित है तथा मुद्रा के परिणाम सिद्धान्त को सत्य स्वीकार किया गया है।
9. यातायात व्यय (transport cost) पर कोई विचार नहीं किया गया है।
10. दोनों देश स्थायी साम्य (static equilibrium) की ओर बढ़ रहे हैं, व्यापार-चक्रों का हस्तक्षेप स्वीकार न करके दीर्घकालीन समायोजन (long period adjustment) को ध्यान में रखा गया है।
11. समान आर्थिक स्थिति वाले दो देशों के बीच तथा समान आर्थिक मूल्य वाली वस्तुओं में व्यापार हो रहा है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आलोचनाएँ

काफी समय तक, जैसा एल्सवर्थ (Ellsworth) ने बताया है, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त इतना ही निरपेक्ष, सत्य और निर्विवाद माना जाता था जितना कि उत्पत्ति ह्रास नियम अथवा श्रम-विभाजन। परन्तु सिद्धान्त की मान्यताएँ तो प्रारम्भ से ही आलोचना का विषय रही हैं और अनेक लेखकों द्वारा इनकी आलोचनाएँ होती रही हैं। इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं

(1) *उत्पादन-लागत 'श्रम-समय' पर आधारित*—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित है। रिकार्डो ने लागत मूल्य 'श्रम-समय' (labour time) में नापा है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में मौद्रिक लागतों अथवा मूल्य-सम्बन्धी अन्तर (price difference) के बजाय श्रम लागतों पर अधिक बल दिया गया है। केयरनेस (Cairnes) तथा अन्य अनेक अर्थशास्त्रियों ने यह सिद्ध किया है कि वस्तु का मूल्य 'श्रम-समय' के अनुपात में नहीं होता। एक ही देश में श्रमिकों के अप्रतियोगी समूह (non competing groups) पाये जाते हैं, अर्थात् अनेक कारणों से श्रमिक एक कार्य को छोड़कर दूसरे में नहीं जा सकते। परिणामस्वरूप विभिन्न कार्यों में मजदूरी अलग-अलग होती है। अतएव वस्तु का मूल्य 'श्रम-समय' पर आधारित नहीं होता बल्कि दी गयी मजदूरी पर आधारित होता है। मजदूरी के अतिरिक्त उत्पादन-लागत तथा मूल्य पर पूँजी

---

1 "This principle states that a country will gain by specialising in the production of those commodities in which its comparative cost advantage is greater (or in which its comparative cost disadvantage is less), exporting these commodities in exchange for commodities in which its comparative cost advantage is less (or its comparative cost disadvantage is greater)."—Benham

के उपयोग, ब्याज की दर, उत्पादन का संगठन तथा कार्यक्षमता, श्रम की कुशलता आदि का भी प्रभाव पड़ता है। वास्तविकता यह है कि श्रम लागत दृष्टिकोण उत्पत्ति के साधनों के परिवर्तनशील संयोगों के तथ्यों से मेल नहीं रखता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सिर्फ मौद्रिक लागत ही तुलना का सर्वोत्तम आधार बन सकती है।

(2) **स्थिर लागतों पर आधारित**—यह सिद्धान्त लागत तथा उत्पत्ति के स्थिर नियम (Law of Constant Costs or Constant Returns) पर आधारित है जो व्यावहारिक जीवन में केवल एक अपवाद है। वास्तविक जीवन में उत्पादन उत्पत्ति ह्रास नियम अथवा लागत वृद्धि नियम (Law of Diminishing Ruturns or Increasing Costs) या उत्पत्ति वृद्धि नियम अथवा लागत ह्रास नियम (Law of Increasing Returns or Diminshing Costs) के अन्तर्गत होता है, जबकि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में इन दोनों वास्तविक नियमों की पूर्ण उपेक्षा की गयी है।

(3) **श्रम तथा पूंजी की गतिहीनता**—इस सिद्धान्त की यह मान्यता पूर्ण रूप से अवास्तविक है कि श्रम तथा पूंजी देश के भीतर तो पूर्णतया गतिशील होते हैं, परन्तु दो देशों के बीच पूर्णतया गतिहीन। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वास्तविक जीवन में उत्पत्ति के साधन न तो देश के भीतर पूर्णतया गतिशील होते हैं और न ही दो देशों के बीच पूर्णतया गतिहीन। दोनों दशाओं में केवल मात्रा (degree) का ही अन्तर होता है। बल्कि कभी-कभी तो आन्तरिक गतिहीनता अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण का ही परिणाम होती है, क्योंकि उत्पादन के विशिष्ट रूप को अपनाने वाला देश अन्य वैकल्पिक रूपों को अपनाने में असमर्थ रहता है।

(4) **मांग की लोच का प्रभाव**—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त यह तो बताता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो देशों के बीच वस्तुओं की उत्पादन-लागतों में अन्तर के कारण होता है, परन्तु इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट नहीं होता कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाला लाभ दो देशों के बीच किस अनुपात में और कैसे विभाजित होता है। इस सम्बन्ध में आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि जिस देश में विदेशी माल की मांग की लोच अधिक होती है, व्यापार की शर्तें (terms of trade) उसके अनुकूल होती है, तथा उसे अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्राप्त होता है। इसके विपरीत विदेशी माल की मांग की लोच कम होने पर अपेक्षाकृत कम लाभ प्राप्त होता है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मांग के प्रभाव की अपेक्षा करता है।

(5) **यातायात-व्यय**—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर यातायात व्यय (cost of transport) के प्रभाव पर कोई विचार नहीं करता। ऐसी वस्तुएँ जिन पर यातायात-व्यय अधिक होता है, जैसे लकड़ी, कोयला इत्यादि, उनकी उत्पादन-लागत कम होने पर उनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत सीमित होता है। एक वस्तु का विदेशी व्यापार तब तक नहीं होता जब तक दो देशों के बीच इसकी उत्पादन-लागत का अन्तर इसे एक देश से दूसरे देश को यातायात करने के व्यय से अधिक न हो।

(6) **अपूर्ण विशिष्टीकरण**—फ्रैंक ग्राहम (Frank Graham) के विचार में यदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की समस्त मान्यताओं को सही मान भी लिया जाय तो भी विश्व में पूर्णरूपेण प्रादेशिक विशिष्टीकरण अथवा श्रम-विभाजन सम्भव नहीं होगा। देशों में भौगोलिक तथा आर्थिक असमानताएँ होने के कारण अनेक कठिनाइयां सामने आती है। एक छोटा देश विशिष्टीकरण के द्वारा अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है, परन्तु एक बड़ा देश नहीं। मान लीजिए, भारत को जूट तथा बर्मा को चावल के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त है और दोनों ही लाभपूर्ण वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करते हैं। परन्तु चावल का उत्पादन बढ़ा लेने पर बर्मा न तो भारत की आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है और न ही बर्मा भारत से जूट को बहुत अधिक मात्रा में खरीद सकता है। इन परिस्थितियों में भारत जैसे बड़े देश को चावल का भी उत्पादन करना पड़ेगा और जूट का भी, और इस प्रकार अकेले जूट के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करना सम्भव नहीं होगा। इसी प्रकार जब व्यापार की वस्तुएँ बराबर मूल्य की न हों, जैसे कपड़ा व दियासलाई, तो कम मूल्य वाली वस्तु में विशिष्टीकरण करने वाला देश अपूर्ण विशिष्टीकरण ही

कर सकेगा। इन्ही सब कठिनाइयो के कारण ग्राहम ने लिखा है कि "यदि दो समान कुल उपभोग-मूल्य की वस्तुओ मे लगभग समान आर्थिक महत्व के दो देशों के बीच व्यापार होने की कल्पना करके पलडे बराबर रखे जाएँ, तब ही प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का निष्कर्ष सही हो सकता है।"[1]

(7) त्रुटिपूर्ण तथा अवास्तविक—ओहलिन ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को अवास्तविक, जटिल, खतरनाक तथा अनावश्यक कहकर इसकी आलोचना की है। वास्तव मे, यह सिद्धान्त अनेक अवास्तविक मान्यताओ पर आधारित है तथा त्रुटिपूर्ण है। यह सिद्धान्त जटिल इसलिए है कि यह विभिन्न देशो मे पूर्ण लागत-भिन्नताओ पर प्रत्यक्ष रूप मे विचार नही करता और अवास्तविक तत्वों को छोड देता है। यह सिद्धान्त स्थैतिक (static) तथा दृढ (rigid) है जबकि आर्थिक स्थिति प्रावैगिक (dynamic) तथा परिवर्तनशील है। यह सिद्धान्त दो देशो और दो वस्तुओं के सन्दर्भ मे ही विचार करता है, जबकि वास्तविक जगत म अनेक वस्तुएँ एव अनेक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे साथ-साथ सलग्न होते हैं। ओहलिन ने इस सिद्धान्त को खतरनाक भी कहा है, क्योंकि दो देशो के बीच दो वस्तुओं के व्यापार की व्याख्या द्वारा यह जिस निष्कर्ष पर पहुँचता है, उसे निस्संकोच बिना किसी सशोधन के वास्तविक स्थिति मे लागू कर देता है, जबकि वास्तव म व्यापार अनेक देशो के बीच अनेक वस्तुओ का होता है।

(8) व्यापार-प्रतिबन्ध—यह सिद्धान्त स्वतन्त्र तथा प्रतियोगी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कल्पना पर आधारित है। परन्तु वास्तविक जीवन मे प्रत्येक देश अन्य देशों पर अत्यधिक निर्भरता से बचने का यत्न करता है और देशी उत्पादन के प्रोत्साहन के लिए विदेशी व्यापार पर अनेक प्रतिबन्ध लगाता है। अपूर्ण प्रतियोगिता, आयात-निर्यात कर, व्यापार-प्रतिबन्ध, राज्य द्वारा व्यापार (state trading), आर्थिक नियोजन इत्यादि परिस्थितियो न इस सिद्धान्त का क्षेत्र अत्यन्त सीमित कर दिया है। जैकब वाइनर के शब्दो मे, "विश्व म अनेक परिवर्तन हुए हैं, तथा आज विश्व की अर्थ-व्यवस्था नियोजित है, राज्य व्यापार करता है, कृत्रिम राष्ट्रीय कीमत-स्तर पाया जाता है प्रतिष्ठित सिद्धान्त वर्तमान परिस्थितियो मे कोई सम्बन्ध नही रखता और सम्भवत इन परिस्थितियो के लिए कोई अन्य सामान्य सिद्धान्त है भी नही और हो भी नही सकता।"[2]

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मे सुधार

रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मे यह स्पष्ट नही किया गया था कि दो देशों के बीच व्यापार की दो वस्तुओं की वास्तविक विनिमय-दर क्या होगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लाभ की मात्रा का निर्धारण कैसे होगा। जे० एस० मिल (J S Mill) ने सिद्धान्त मे आवश्यक सशोधन करके इस कमी को दूर किया। मिल ने यह स्पष्ट किया कि वस्तुओं की वास्तविक विनिमय-दर तुलनात्मक लागत अनुपात की सीमा के भीतर एक देश की दूसरे देश की वस्तु की माँग के परिमाण तथा लोच पर निर्भर करती है।[3] दूसरे शब्दों मे, दो देशों के बीच वस्तुओं की विनिमय-दर उनकी पारस्परानुवर्ती माँग की मात्रा एव लोच पर निर्भर करती है। मिल के इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय माँग का समीकरण (Equation of International Demand) अथवा पारस्परानुवर्ती माँग का सिद्धान्त (Theory of Reciprocal Demand) कहते हैं।

मिल के पश्चात कैरनेस (Cairnes) ने अप्रतियोगी समुदायों (non-competing groups) के विचार का प्रतिपादन किया जिसके आधार पर उन्होंने बताया कि किसी एक देश के भीतर श्रम तथा पूँजी की गतिशीलता पूर्ण नही होती और न ही दो देशों के बीच श्रम तथा पूँजी की गति-

---

1 The conclusion of the classicists can hold true only "if the dice are loaded by assuming trade in two commodities of approximately equal total consumption value and between two countries of approximately equal economic importance "—*Frank D Graham*

2 "The world has changed greatly and is now a world of planned economics of state trading, of substantially arbitiary and inflexible national price structure The classical theory is not directly relevant for such a world and it may be that for such a world there is and can be no relevant general theory "—Jacob Viner *International Economics*

3 "Within the limits set by comparative cost conditions, the actual ratio at which goods are traded will depend upon the strength and elasticity of each country s demand for the other country's product "—*J S Mill*

शीलता का पूर्ण अभाव होता है। बैस्टेबिल (Bastable) ने दो देशों तथा दो वस्तुओं की अवास्तविक मान्यता को समाप्त करके अपने विश्लेषण में अनेक देशों तथा अनेक वस्तुओं की व्याख्या करके सिद्धान्त की भारी कमी को दूर किया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के इस सिद्धान्त में अमरीकी अर्थशास्त्री प्रो० फ्रेंक विलियम टॉसिग तथा जर्मन अर्थशास्त्री प्रो० गाटफ्राइड वॉन हैबरलरने महत्वपूर्ण सुधार किये हैं। इस प्रकार तुलनात्मक लागत के प्रतिष्ठित सिद्धान्त (Classical Theory of Comparative Cost) में निम्नलिखित मुख्य सुधार हुए हैं

(1) **उत्पादन लागत को मौद्रिक माप**—चूंकि उत्पादन-लागत में श्रम समय के अतिरिक्त अन्य बातें भी सम्मिलित रहती हैं, इसलिए आधुनिक अर्थशास्त्री मूल्य के श्रम सिद्धान्त को नहीं मानते। आधुनिक आर्थिक विश्लेषण में तुलनात्मक सिद्धान्त की विवेचना मौद्रिक लागत के आधार पर की जाती है। न तो सब देशों में श्रम की इकाइयाँ समान होती हैं और न ही उनकी कुशलता अथवा मूल्य समान होता है, इसलिए तुलनात्मक लागतें मुद्रा के रूप में ही व्यक्त करना उचित है। वर्तमान अर्थशास्त्री सीमान्त लागत (marginal cost) को मूल्य-सिद्धान्त का आधार मानते हैं, अतएव तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को भी सीमान्त लागत के रूप में ही व्यक्त किया जाता है। कोई देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिनकी सीमान्त उत्पादन लागत कम होती है, तथा उन वस्तुओं का आयात करता है जिनकी सीमान्त उत्पादन लागत अपेक्षाकृत अधिक होती है।

मुद्रा मूल्य के अन्तर को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार मान लेने पर रिकार्डो के सिद्धान्त की आधारशिला हिल जाती है। प्रो० टॉसिग ने रिकार्डो के बचाव में यह तर्क दिया है कि मजदूरी के अन्तर प्रत्येक देश में पाये जाते हैं, इसलिए इनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार ही होता है। परन्तु टॉसिग का बचाव आधुनिक अर्थशास्त्रियों को सन्तुष्ट नहीं कर सका है और वे मुद्रा-मूल्य को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार मानते हैं।

(2) **तुलनात्मक माँग की लोच का प्रभाव**—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचार में विनिमय-दर का निर्धारण बाजार में वस्तुओं के मोल-भाव द्वारा होता था। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार यह है कि व्यापार की शर्तें (terms of trade) मोल-भाव पर नहीं, बल्कि एक देश में दूसरे देश की वस्तु की माग की सापेक्षिक लोच पर निर्भर करती है। आधुनिक दृष्टिकोण मिल के मत का समर्थन करता है कि दो देशों की परस्परानुवर्ती माँग (reciprocal demand) अथवा इनकी माँग की लोच विनिमय-अनुपात, व्यापार की शर्तों तथा लाभ की मात्रा को निर्धारित करती है।

(3) **क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास एवं वृद्धि नियमों को सम्मिलित करना**—प्राचीन अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की यह मान्यता कि समस्त उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति नियम (Law of Constant Returns) के आधार पर होता है, बहुत अधिक आलोचना का विषय रही है। वास्तव में उत्पादन में उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) तथा उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) भी लागू होते हैं, अतएव सिद्धान्त की व्याख्या में इनको सम्मिलित करना आवश्यक है। बैस्टेबिल तथा टॉसिग ने इन दोनों नियमों की सम्भावनाओं की व्याख्या कर इस सिद्धान्त की एक बहुत बड़ी कमी को दूर किया है। आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन के तीनों नियमों की क्रियाशीलता पर विचार करते हैं, और यह उचित भी है।

यदि किसी वस्तु के उत्पादन में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है, तो कम लागत पर उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है। इसके परिणामस्वरूप लाभदायक अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की सीमा अधिक विस्तृत होती जाती है। इसके विपरीत, उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने की स्थिति में लाभदायक अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की सीमा संकुचित होती है।

(4) **यातायात व्यय का प्रभाव**—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में यातायात-व्यय अथवा परिवहन-लागत (cost of transport) की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। आधुनिक अर्थ-

अनुकूल होगी। टॉसिग के शब्दो मे, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे सबसे अधिक लाभ उस देश को होता है जिसके निर्यातो की माँग सर्वाधिक होती है और जिसकी स्वय अपनी आयात की वस्तुओ अर्थात् अन्य देशो के निर्यातो की माँग बहुत कम होती है। वह देश बहुत कम लाभ प्राप्त करता है जिसको अन्य देशो की उत्पादित वस्तुओ की माँग सर्वाधिक तीव्र होती है।"[1]

(2) **निर्यात की वस्तुओ का उत्पादन करने वाले श्रम की कार्यक्षमता**—टॉसिग के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लाभ की मात्रा बहुत कुछ इस बात पर भी निर्भर करती है कि निर्यात की वस्तुओ का उत्पादन करने वाले श्रम की कार्यक्षमता कितनी है। श्रम की कार्यक्षमता मे वृद्धि के कारण तुलनात्मक लागतो के अन्तर म वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप जिस देश की निर्यात वस्तुओ का उत्पादन करने वाले श्रम की कार्यकुशलता अधिक होती है, उस देश में उत्पादन-लागत कम होती है तथा अन्य देशो मे उसकी वस्तुओ की माँग अधिक तीव्र होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभ की मात्रा ऐसे देश के लिए स्वाभाविक रूप मे अधिक होती है।

(3) **कीमतो के अनुपात मे अन्तर**—प्रो० हैरोड के अनुसार दो देशो के मध्य कीमतो के अनुपात का अन्तर जितना अधिक होता है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाला लाभ उतना ही अधिक होता है। हैरोड के शब्दो म, "एक देश को विदेशी व्यापार से लाभ उस समय प्राप्त होता है जब व्यापारियो को विदेशो मे कीमतो का ऐसा प्रचलित अनुपात मिलता है जो उनके देश के अनुपात से काफी भिन्न हो जिसके कि वे आदी है। वे खरीदते वह है जो उन्हे सस्ता लगता है और बेचते वह है जो महँगा लगता है। उन्हे दिखाई पडने वाले नीचे और ऊँचे बिन्दु मे जितना अधिक अन्तर होगा और प्रभावित होने वाली वस्तुएँ जितनी अधिक महत्वपूर्ण होगी, उतना ही व्यापार से लाभ अधिक होगा।"[2]

उपर्युक्त तत्वो के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ का कुछ अनुमान उस देश की मौद्रिक आय के स्तर से भी लग जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभ की मात्रा मे वृद्धि के फलस्वरूप उस देश की मौद्रिक आय मे वृद्धि होती है, क्योकि उसकी निर्यात वस्तुओ का उत्पादन बढता है तथा मजदूरी की दर ऊँची होती है। इसके विपरीत, आयातो मे वृद्धि होने पर उस देश की मौद्रिक आय कम हो जाती है। इस प्रकार मौद्रिक आय के स्तर से यह पता चल सकता है कि कौनसा देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अधिक लाभ प्राप्त कर रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त स्वीडिश अर्थशास्त्री बरटिल ओहलिन (Bertil Ohlin) की देन है, जिन्होंने इसकी व्याख्या सन् 1933 मे प्रकाशित अपनी पुस्तक '*Inter-regional and International Trade*' म की थी। ओहलिन स्वय वालरस (Walras), परेटो (Pareto) तथा कैसल (Cassel) द्वारा प्रतिपादित मूल्य के सिद्धान्त से प्रभावित थे।

यह बताया जा चुका है कि ओहलिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक अथवा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा मानते थे। इसलिए उनके विचार मे अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो के निर्धारक कारण भी वही है जो आन्तरिक व्यापार म मूल्यो को निर्धारित करते हैं। इसलिए दोनो को 'साम्य मूल्य सिद्धान्त' (Equilibrium Theory of Value) द्वारा समझाया जा सकता है।

ओहलिन ने वस्तु की उत्पादन लागत के विश्लेषण के लिए 'श्रम समय' को आधार मानना उपयुक्त नही समझा तथा मुद्रा-लागत (money cost) पर विचार किया। विभिन्न देशो की वस्तुओ के मुद्रा मूल्य म अन्तर होना ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख कारण होता है, इसलिए यह जानना

1 'That country gains most from international trade whose exports are most in demand and which itself has little demand for the things it imports, i e, for the exports of other countries That country gains least which has the most insistent demand for the production of other country —Taussig

2 'A country gains by foreign trade if and when the traders find that there exists abroad a ratio of prices very different from that to which they are accustomed at home They buy what to them seems dear The bigger the gap between what to them seems low point and high point and more important the articles affected, the greater will the gain from trade be —Harrod *International Economics*, p 34

आवश्यक है कि विभिन्न देशों में वस्तुओं के मूल्यों में अन्तर क्यों होते हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए ओहलिन ने सामान्य साम्य मूल्य सिद्धान्त (General Equilibrium Theory of Value) को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी लागू किया है।

साम्य सिद्धान्त, संक्षेप में, यह है कि वस्तु का मूल्य माँग तथा पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। किसी वस्तु की माँग दो बातों पर निर्भर करती है—उपभोक्ताओं की इच्छा, तथा उपभोक्ताओं की आय। व्यक्तिगत आय उत्पत्ति के साधनों के स्वामित्व सम्बन्धी दशाओं पर निर्भर करती है। वस्तु की माँग पर वस्तु के स्वयं के मूल्य का तथा अन्य वस्तुओं के मूल्य का भी प्रभाव पड़ता है। दूसरी ओर, वस्तु की पूर्ति वस्तु की उत्पादन-लागत तथा मूल्य से प्रभावित होती है। उत्पादन-लागत साधनों के उपयोग तथा उनको दी जाने वाली कीमत पर निर्भर करती है। यदि उत्पादन के लिए माँग अधिक है तो उत्पादक साधनों की माँग भी अधिक होगी। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की माँग तथा पूर्ति, उत्पादक साधनों की माँग तथा पूर्ति, वस्तुओं की कीमत, उत्पादक साधन की कीमत, उपभोक्ताओं की आमदनी, साधनों का उपयोग इत्यादि एक-दूसरे में सम्बन्धित हैं, अर्थात् सभी एक-दूसरे से निर्धारित होते हैं। इस आधार पर ओहलिन ने लिखा है कि वस्तु की कीमतों में अन्तर दो देशों में उत्पादक साधनों की पूर्ति की भिन्नता के फलस्वरूप होता है। एक विनिमय-दर के स्थापित हो जाने पर सापेक्षिक मूल्य के अन्तर निरपेक्ष मूल्य के अन्तरों में परिवर्तित हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कौनसा क्षेत्र या देश कौनसी वस्तुओं का विशिष्टीकरण करेगा। विनिमय-दर तथा अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं का व्यापार मूल्य परस्परानुवर्ती माँग (reciprocal demand) द्वारा निर्धारित होता है।

सारांश यह है कि (1) अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का तात्कालिक कारण दोनों क्षेत्रों में सापेक्षिक साधन-कीमतों में अन्तर होना है, (2) वस्तुओं की कीमतों में अन्तर उत्पत्ति के साधनों की सापेक्षिक दुर्लभताओं में अन्तर होने से पैदा होता है, (3) विनिमय दर की उपस्थिति में सापेक्षिक कीमत भिन्नताएँ निरपेक्ष कीमत भिन्नताओं में बदल जाती हैं, इसी आधार पर प्रत्येक क्षेत्र अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है, तथा (4) विनिमय-दर और अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार वस्तु का मूल्य परस्परानुवर्ती माँग द्वारा निर्धारित होता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तथा ओहलिन का सिद्धान्त एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं, परन्तु जर्मन अर्थशास्त्री हैबरलर ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि दोनों सिद्धान्तों में काफी सादृश्य है। वास्तविकता यह है कि ओहलिन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की तुलना में अधिक जटिल है, क्योंकि यह जटिल मूल्य सिद्धान्त पर आधारित है तथा यह जो तथ्य स्पष्ट करना चाहता है वे भी जटिल हैं, परन्तु जटिल होते हुए भी यह सिद्धान्त पूर्ण स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है। ओहलिन का सिद्धान्त जटिल है, परन्तु वास्तविक परिस्थितियों के लिए यथार्थपूर्ण है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त सरल है, परन्तु अपूर्ण है, तथा अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रभाव

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्रत्येक देश को अनेक आर्थिक लाभ होते हैं, परन्तु अनुचित नीतियाँ अपनाये जाने पर कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हानियाँ भी हो सकती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले प्रमुख लाभों तथा हानियों की विवेचना नीचे की गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ

(1) **भौगोलिक श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण**—संसार के विभिन्न देश सभी वस्तुओं के उत्पादन में समान रूप से कुशल नहीं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा जब भौगोलिक श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण सम्भव होता है तो सभी देश उन वस्तुओं का उत्पादन करने लगते हैं जिनके लिए उनकी भौगोलिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ अनुकूलतम हैं। इस प्रकार साधनों का उत्तम उपयोग होता है और सभी देशों में वास्तविक आय तथा जीवन-स्तर में वृद्धि करने में सहायता मिलती है। ऐल्सवर्थ के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देश की सीमा के बाहर व्यापार का

विस्तार मात्र है। अतः यह विशिष्टीकरण और इससे प्राप्त होने वाले लाभ के क्षेत्र को अधिक व्यापक बना देता है। जिस प्रकार स्थानीय व्यापार व्यक्तियों की विशेष अभिरुचियों (special aptitudes) का लाभ प्राप्त करने में सहायता करता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रत्येक देश के लिए अन्य देशों की विशेष अभिरुचियों को आकर्षित करता है तथा अपने साधनों को कुशलता के साथ उपयोग करना सम्भव बनाता है।"[1]

(2) **वस्तुओं की कीमतों में समानता**—यद्यपि यातायात-व्यय तथा सीमा-कर आदि की रुकावटों के कारण विभिन्न देशों में वस्तुओं की कीमतें समान नहीं हो पाती और इन रुकावटों को दूर करने की लागत के बराबर अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं की कीमतों में अन्तर रहता है, परन्तु फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विभिन्न देशों के उत्पादकों की परस्पर प्रतियोगिता का प्रत्यक्ष प्रभाव वस्तुओं की कीमतों में समानता की प्रवृत्ति स्थापित करना होता है।

(3) **उपभोक्ता को लाभ**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण ही उपभोक्ता को ऐसी अनेक वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं जिनका उत्पादन उनके देश में नहीं होता। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उपभोग के क्षेत्र को विस्तृत करने में सहायक होता है। यही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के कारण किसी एक देश में सामान्यतः वस्तुओं की कीमतें बहुत अधिक नहीं बढ़ पाती, क्योंकि एकाधिकारी व्यवसाय नहीं पनप पाते है।

(4) **आर्थिक विकास में सहयोग**—औद्योगिक विकास के लिए किसी भी देश को अन्य देशों पर निर्भर करना पड़ता है। उत्पादन के लिए मशीनें इत्यादि उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा ही प्राप्त होती हैं, और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण ही वह बड़े पैमाने पर उत्पादन करता है। उत्पादक अपनी वस्तुओं का बाजार विस्तृत करने के उद्देश्य से उत्पादन विधियों तथा तकनीक आदि में सुधार करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। वास्तव में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बिना वर्तमान औद्योगिक संगठन सम्भव न हो पाता और आधुनिक औद्योगिक समाज की स्थापना असम्भव होती।

(5) **कच्चे माल की प्राप्ति**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक देश के अतिरिक्त साधन तथा कच्चा माल उन देशों को उपलब्ध कर देता है जिनको अपने उद्योगों को चलाने के लिए इनकी आवश्यकता होती है। यदि ब्रिटेन को अन्य देशों से कच्चा माल न मिलता तो वह इतना औद्योगिक विकास नहीं कर सकता था। किसी भी देश के साधनों का उचित उपयोग करने में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अत्यधिक सहायक होता है। उदाहरणार्थ, स्वीडन में लोहा तो मिलता है परन्तु शक्ति के साधनों का अभाव है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभाव में स्वीडन न तो अपने लोहे के भण्डारों से लाभ उठा पाता और न ही अन्य क्षेत्रों में विकास कर पाता। भारत को ही यदि पैट्रोल अन्य देशों से न मिले तो अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारी स्थिति क्या होगी।

(6) **संकट-काल में सहायक**—किसी भी देश पर प्राकृतिक अथवा किसी अन्य प्रकार के संकट पड़ने की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण अन्य देशों से उन वस्तुओं का आयात कर लिया जाता है जिनकी संकटग्रस्त देश में आवश्यकता होती है। अकालों को कम करने का बहुत कुछ श्रेय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को ही है।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण विभिन्न देशों में परस्पर सम्पर्क स्थापित होते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना में वृद्धि होती है। इससे विभिन्न देशों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों में भी दृढ़ता आती है, एक-दूसरे को समझने का अवसर मिलता है, तथा अन्तर्राष्ट्रीय एकता में वृद्धि होती है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उपर्युक्त लाभ प्रत्येक देश को समान रूप से प्राप्त नहीं होते। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, किसी भी देश को प्राप्त होने वाली लाभ की मात्रा व्यापार की शर्तों, श्रम की सापेक्षिक कार्यक्षमता तथा कीमतों के अनुपात के अन्तर द्वारा निर्धारित होती है। वर्तमान युग में जबकि प्रत्येक देश अपने हितों की वृद्धि

1 P. T Ellsworth *The International Economy*, p 141

के लिए विदेशी व्यापार पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगाता है, विभिन्न देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों में असमानता बढ़ जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हानियाँ

(1) **देशी उद्योगों पर विदेशी प्रतियोगिता का प्रतिकूल प्रभाव**—विदेशी व्यापार के कारण देशी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। इससे विकसित देशों को तो लाभ होता है, परन्तु अविकसित देश औद्योगिक विकास नहीं कर पाते। गरीब देश गरीब ही बने रहते हैं, जबकि समृद्ध देशों में समृद्धि बढ़ती जाती है। भारतीय उद्योग-धन्धे लम्बे समय तक ब्रिटिश प्रतियोगिता के कारण ही नहीं पनप पाये।

(2) **आर्थिक निर्भरता**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण सभी देश एक-दूसरे पर अनेक प्रकार से निर्भर करने लगते हैं जिसके फलस्वरूप एक देश में उत्पन्न आर्थिक संकट थोड़े ही समय में विश्व संकट के रूप में परिणत हो जाता है। इसीलिए मन्दी अथवा तेजी की स्थिति किसी एक ही देश तक सीमित नहीं रहती बल्कि इसका प्रभाव सभी देशों पर पड़ता है।

(3) **कच्चे माल का अदूरदर्शी उपयोग**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण कुछ देश अपने खनिज पदार्थ तथा अन्य कच्चे माल उन देशों को निर्यात करने लगते हैं जिनमें उनका प्रयोग करने वाले उद्योगों का विशिष्टीकरण हो जाता है। इनका उपयोग देश के भीतर न होने पर कच्चे माल निर्यात करने वाला देश अनेक लाभों से वंचित रहता है तथा उसका औद्योगिक विकास नहीं हो पाता। प्राकृतिक साधन एक बार समाप्त हो जाने पर उनका प्रतिस्थापन सम्भव नहीं होता है, इसलिए कच्चे माल का उपयोग करते समय सावधानी तथा संरक्षण की आवश्यकता होती है।

(4) **एकांगी आर्थिक विकास**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पत्ति के विशिष्टीकरण को जन्म देता है जिसके कारण देश के कितने ही साधन बेकार पड़े रहते हैं, रोजगार का समुचित विकास नहीं होने पाता, तथा देश का आर्थिक ढाँचा असन्तुलित हो जाता है। युद्धकालीन अथवा अन्य असामान्य परिस्थितियों में जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधाएँ उत्पन्न हो जाती है, तो एकांगी विकास (lop-sided development) के दुष्परिणाम सामने आते हैं। विदेशी आयात बन्द हो जाने के कारण कष्टों की कोई सीमा नहीं रहती। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी में आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) की भावना को बल मिला है।

(5) **राशिपातन**—राशिपातन नीति (dumping) के अन्तर्गत विकसित देश विदेशी बाजार हथियाने की दृष्टि से अपने माल को बहुत ही कम कीमतों पर बेचना शुरू कर देते हैं। इसका विकासशील देशों के उद्योगों पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है। द्वितीय महायुद्ध के पहले के वर्षों में जापान ने अपने कपड़े के राशिपातन द्वारा भारतीय वस्त्र उद्योग को काफी हानि पहुँचायी थी।

(6) **उपभोग की आदतों पर कुप्रभाव**—लाभ की दृष्टि से जब व्यापारी अन्य देशों से विलासिता की अनावश्यक वस्तुएँ अथवा हानिकारक वस्तुएँ आयात करने लगते हैं तो इससे देश में उपभोग की आदतों में परिवर्तन आता है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन दोनों ही प्रभावित होते हैं। उदाहरणार्थ, शताब्दियों तक चीन के लोग अफीम के आदी रहे जबकि चीन में अफीम का उत्पादन बिलकुल नहीं होता था।

(7) **कृषि-प्रधान देशों को हानि**—औद्योगिक देशों की तुलना में कृषि-प्रधान देशों को विदेशी व्यापार से अधिक हानि होती है। इन देशों को आयात की गयी निर्मित वस्तुओं के बदले में कृषि उत्पादन का निर्यात करना पड़ता है। कृषि-उत्पादन में 'उत्पत्ति ह्रास नियम' (Law of Decreasing Returns) शीघ्र लागू होने के कारण उत्पादन-व्यय बढ़ने लगता है जबकि उद्योगों में काफी समय तक उत्पादन 'उत्पत्ति वृद्धि नियम' (Law of Increasing Returns) के अनुसार होता है, और उत्पादन की लागत उत्पादन की मात्रा बढ़ने पर कम होती जाती है।

(8) **जीवन-स्तर में गिरावट**—कभी-कभी विशेष परिस्थितियों के कारण जब किसी देश को अपने निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि करनी पड़ती है तो उसके कारण देश में माल की पूर्ति कम हो जाती है तथा कीमतें बढ़ने लगती हैं। अन्य देशों से पर्याप्त मात्रा में आयात न मिलने पर भी

ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसका देश के लोगों के जीवन स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना रहती है।

(9) अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए विकसित देशों की अधिक से अधिक बाजार प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष का वातावरण उत्पन्न करती है, जिससे युद्ध की सम्भावना बढ़ती है। सन् 1930 के बाद देशों के आपसी सम्बन्ध बिगड़ने के प्रमुख कारण उनमें तीव्र व्यापारिक प्रतियोगिता ही थी।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उपर्युक्त दोषों के कारण ही बीसवीं शताब्दी में स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की नीति के स्थान पर नियन्त्रित व्यापार तथा औद्योगिक संरक्षण की नीति को बल प्राप्त हुआ है तथा राष्ट्रों में आत्म निर्भरता की भावना बढ़ी है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ तभी सम्भव है जब सभी देश द्वेष की भावना त्यागकर आपसी सहयोग की भावना से प्रेरित हों तथा दूसरे देशों के हितों का उतना ही ध्यान रखें जितना कि अपने हितों का।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए आन्तरिक व्यापार से भिन्न सिद्धान्त की क्यों आवश्यकता है? समझाकर लिखिए।

   [संकेत अन्तर्राष्ट्रीय तथा आन्तरिक व्यापार के बीच अन्तरों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क दीजिए। अन्त में यह स्पष्ट कीजिए कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आन्तरिक व्यापार में अनेक समानताएं होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिनके कारण इसका अलग से अध्ययन करना आवश्यक है।]

2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की एक विशेष दशा है (ओहलिन)। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

   [संकेत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आन्तरिक व्यापार की समानताओं का ओहलिन के विचारों के आधार पर विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए तथा यह स्पष्ट कीजिए कि कुछ ऐसी विशिष्ट विशेषताएँ हैं जो आन्तरिक व्यापार की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिकता से पायी जाती हैं। भले ही दोनों में स्वरूप का अन्तर न हो, परन्तु मात्रा का अन्तर तो है ही।]

3. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए। इस सिद्धान्त में कौन कौनसे सुधार हुए?

   [संकेत दो देशों के बीच उत्पादन लागतों में निरपेक्ष तथा तुलनात्मक अन्तर होने की स्थिति में यह स्पष्ट कीजिए कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त कैसे लागू होता है। इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाओं का भी उल्लेख कीजिए। आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में किये गये सुधारों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

4. तुलनात्मक लागत सिद्धान्त अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है तथा अनावश्यक है। स्पष्ट कीजिए।

   [संकेत तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की मान्यताएँ बताइए तथा इस सिद्धान्त की आलोचनाओं की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में यह बताइए कि ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त को अनावश्यक समझा है क्योंकि उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की एक विशेष दशा है। ओहलिन के विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा के आधार पर यह स्पष्ट कीजिए कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त का होना आवश्यक है। परन्तु तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को कुछ सुधारों के पश्चात ही स्वीकार किया जा सकता है।]

5. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की मात्रा प्रभावित करने वाले तत्व समझाइए। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ तथा हानियों का भी विवेचन कीजिए।

   [संकेत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की मात्रा को प्रभावित करने वाले टासिग तथा हैरोड द्वारा बताये गये तत्वों की सविस्तार व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ तथा हानियों की विवेचना कीजिए।]

6. टिप्पणियाँ लिखिए—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त, भौगोलिक श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण, साधनों की गतिशीलता पर प्रतियोगिता रहित समूहों का प्रभाव।

   [संकेत प्रत्येक से सम्बन्धित महत्वपूर्ण बातों की अलग-अलग व्याख्या कीजिए।]

17

भुगतान-सन्तुलन

[BALANCE OF PAYMENTS]

"एक रसायनशास्त्री के लिए जो महत्व तत्वों की आवधिक तालिका का है, वही महत्व एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री के लिए भुगतान-सन्तुलन का है।"[1]
—जेवान्स

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रत्येक देश कुछ वस्तुओं का अन्य देशों में आयात करता है जिसका उसे भुगतान करना होता है तथा कुछ वस्तुओं का निर्यात करता है जिसके बदले में अन्य देशों से भुगतान प्राप्त करता है। विदेशी व्यापार से सम्बन्धित वास्तविक स्थिति की जानकारी के लिए प्रत्येक देश को अपने आयातों तथा निर्यातों की कुल मात्रा तथा मूल्य का ज्ञान होना आवश्यक होता है। इस सम्बन्ध में व्यापार-सन्तुलन (*balance of trade*) तथा भुगतान-सन्तुलन (balance of payments) दो काफी महत्वपूर्ण शब्द हैं। इन्हीं के विश्लेषण से देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्भावनाओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की स्थिति का अनुमान लगाया जाता है।

व्यापार-सन्तुलन तथा भुगतान-सन्तुलन का अर्थ

बेनहम (*Benham*) के शब्दों में *"एक देश का व्यापार-सन्तुलन वह सम्बन्ध है* जो एक निश्चित अवधि के भीतर उसके आयात तथा निर्यात के मूल्यों के बीच होता है।"[2] इस प्रकार व्यापार-सन्तुलन किसी देश के आयातों तथा निर्यातों के अन्तर की ओर संकेत करता है। किसी देश में एक निश्चित अवधि में यदि आयात का मूल्य निर्यात के मूल्य की अपेक्षा अधिक होता है तो उस देश का व्यापार-सन्तुलन विपरीत (adverse) अथवा प्रतिकूल (unfavourable) कहलाता है। इसके विपरीत, आयात की अपेक्षा निर्यात का मूल्य अधिक होने की स्थिति में व्यापार-सन्तुलन को अनुकूल (favourable) कहा जाता है।

विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के आयात-निर्यात के अतिरिक्त अन्य प्रकार के लेन-देन भी होते हैं, जैसे बीमा, जहाजी किराया, बैंकों का शुल्क, ब्याज, लाभ, पूंजी का स्थानान्तरण, सेवाओं के पुरस्कार, इत्यादि। व्यापार-सन्तुलन के अतिरिक्त जब अन्य सभी विदेशी लेन-देन भी सम्मिलित कर दिये जाते हैं तो यह भुगतान-सन्तुलन कहलाता है। इस प्रकार, भुगतान-सन्तुलन किसी देश में एक निश्चित समय में समस्त विदेशी लेन-देन का विवरण होता है। बेनहम के शब्दों में, "एक देश का भुगतान-सन्तुलन एक निश्चित अवधि के भीतर उसके बाकी विश्व के साथ मौद्रिक सौदों का लेखा होता है।"[3]

1 "What the Periodic Table of Elements is to the Chemist, the Balance of Payments is to the International Economist."—Jevons.
2 "Balance of trade of a country is the relation, over a period, between the value of her exports and the value of her imports."—Benham *Economics*, p 494.
3 "Balance of payments of a country is a record of its monetary transactions, over a period, with the rest of the world."—Benham : *Economics*, p 495.

व्यापार-सन्तुलन तथा भुगतान-सन्तुलन के अन्तर को समझने के लिए दृश्य व्यापार (visible trade) तथा अदृश्य व्यापार (invisible trade) में अन्तर समझना आवश्यक है। वस्तुओं के आयात तथा निर्यात जिन्हें बन्दरगाहों पर लेखांकित कर लिया जाता है, उन्हें विदेशी व्यापार की दृश्य मदें (visible items) अथवा प्रत्यक्ष व्यापार (direct trade) कहा जाता है। अनेक प्रकार की सेवाओं (बैंकिंग, बीमा, यातायात, विदेशों में शिक्षा, इलाज इत्यादि) के आयात-निर्यात, पर्यटन, ब्याज तथा लाभांश, सैनिक सहायता, विदेशी दान, जुर्माने अथवा मुआवजे तथा अन्य प्रकार के हस्तान्तरण से सम्बन्धित आय एवं भुगतान की राशियाँ, जिन्हें बन्दरगाहों पर लेखांकित नहीं किया जाता, विदेशी व्यापार की अदृश्य मदें (invisible items) अथवा अप्रत्यक्ष व्यापार (indirect trade) कहलाती हैं।

व्यापार-सन्तुलन में विदेशी व्यापार की दृश्य मदों अर्थात् वस्तुओं के आयात-निर्यात की गणना होती है, जबकि भुगतान सन्तुलन में दृश्य तथा अदृश्य दोनों ही प्रकार की मदों की गणना होती है। इस प्रकार, भुगतान-सन्तुलन के अन्तर्गत व्यापार सन्तुलन भी सम्मिलित रहता है। भुगतान-सन्तुलन व्यापार-सन्तुलन की अपेक्षा अधिक विस्तृत धारणा है। यदि किसी देश की विदेशों से लेनदारियाँ (credits) देनदारियों (debits) से अधिक होती हैं तो उसका भुगतान-सन्तुलन अनुकूल कहा जाता है। इसके विपरीत स्थिति में भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल कहलाता है।

व्यापार-सन्तुलन तथा भुगतान सन्तुलन में एक अन्तर और भी है। व्यापार-सन्तुलन में सन्तुलन से अभिप्राय अन्तर अथवा अतिरेक से है, क्योंकि कोई भी देश सदा अपने आयात तथा निर्यात बराबर नहीं रख पाता। इसके विपरीत, भुगतान-सन्तुलन में सन्तुलन का अर्थ समानता से लिया जाता है। दूसरे शब्दों में, भुगतान सन्तुलन सदा सन्तुलित रहता है। प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होते ही वह देश विदेशी ऋण अथवा विनियोजन प्राप्त करने के प्रयत्न करता है और यह उसे उन देशों से उपलब्ध हो जाते हैं जिनका भुगतान-सन्तुलन अनुकूल होता है। भुगतान की कठिनाई को स्वर्ण के निर्यात द्वारा भी पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल रहते हुए भी भुगतान सन्तुलन सन्तुलित हो सकता है।

व्यापार-सन्तुलन तथा भुगतान-सन्तुलन का सापेक्षिक महत्व

मर्केन्टाइलिस्ट (Mercantilist) अर्थशास्त्रियों का विचार था कि कोई भी देश विदेशी व्यापार से तभी लाभ उठा सकता है जब व्यापार-सन्तुलन उसके अनुकूल हो, क्योंकि अनुकूल व्यापार-सन्तुलन से देश को स्वर्ण तथा चाँदी की प्राप्ति होती है। किन्तु समस्या की गहराई में जाने से पता चलता है कि **व्यापार-सन्तुलन की अपेक्षा भुगतान-सन्तुलन का अनुकूल होना अधिक महत्वपूर्ण होता है।** व्यापार सन्तुलन, जैसाकि ऊपर बताया गया है, भुगतान-सन्तुलन का ही एक प्रमुख अंग है। किसी देश का व्यापार-सन्तुलन अनुकूल भी हो सकता है और प्रतिकूल भी, परन्तु प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन से सदा ही यह आशय नहीं होता कि देश की आर्थिक दशा असन्तोषजनक है और न ही अनुकूल व्यापार सन्तुलन सदा देश की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक होने का सूचक होता है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इंगलैण्ड का व्यापार सन्तुलन भारत के साथ प्रतिकूल रहता था परन्तु इंगलैण्ड भारत से विभिन्न प्रकार की सेवाओं तथा ऋणों आदि के बदले भुगतान प्राप्त करता था। परिणामस्वरूप व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल रहते हुए भी इंगलैण्ड की आर्थिक स्थिति दृढ़ थी और भारत का व्यापार सन्तुलन अनुकूल होने पर भी भारत गरीब तथा पिछड़ा हुआ था।

किसी देश का व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल होने पर भी उसका भुगतान-सन्तुलन ठीक तथा साम्य (equilibrium) की स्थिति में हो सकता है और इस साम्य को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक देश प्रयत्नशील भी रहता है। साथ में प्रत्येक देश इस बात का भी ध्यान रखता है कि उसे *भुगतान-सन्तुलन का साम्य किस प्रकार प्राप्त हुआ है। यदि किसी देश की देनदारियाँ अथवा* विकलन (debits) उसकी लेनदारियों अथवा समाकलन (credits) से कहीं अधिक हों, और यह देश विदेशी ऋण लेकर अथवा अपने सुरक्षित कोष व्यय कर दोनों में सन्तुलन प्राप्त करता है, तो यह भुगतान-सन्तुलन की असाम्य (disequilibrium) की स्थिति है। यह स्थिति इस बात की सूचक

है कि देश की आर्थिक दशा बिगड रही है, और यदि इसे सुधारा न गया तो दीर्घकाल में यह स्थिति उस देश के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि देश के व्यापार-सन्तुलन के अध्ययन की अपेक्षा उसके भुगतान सन्तुलन का अध्ययन अधिक उपयोगी एव महत्वपूर्ण होता है।

भुगतान सन्तुलन के अध्ययन से देश की आर्थिक स्थिति का विश्लेषण किया जा सकता है। इससे हमें यह पता चलता है कि विदेशो से हम क्या प्राप्त (receipts) करते हैं और उन्हें हम कितना भुगतान (payments) करते हैं। व्यापार की वस्तुओं और सेवाओं को देखकर देश के आर्थिक विकास का पता लगाया जा सकता है। किसी देश की बदलती हुई आर्थिक स्थिति का अनुमान भी भुगतान-सन्तुलन के विवरणो पर आधारित होता है। किसी देश को प्राप्त विदेशी सहायता का अनुमान भी इसी से लगता है तथा विदेशी विनिमय-कोषों मे होने वाले परिवर्तनो की जानकारी प्राप्त होती है। भुगतान-सन्तुलन, वास्तव मे, एक 'आर्थिक बैरोमीटर' (economic barometer) है जिससे किसी देश की आर्थिक दशा का अनुमान लगाया जाता है। भुगतान-सन्तुलन किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-व्यवहारो का परिमाणात्मक सारांश (quantitative summary) होने के कारण उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालता है। इसीलिए जेवन्स ने कहा है कि "एक रसायनशास्त्री के लिए जो महत्व तत्वो की आवधिक तालिका (periodic table of elements) का है, वही महत्व एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री के लिए भुगतान-सन्तुलन का है।"

भुगतान-सन्तुलन की मदें

किसी देश का भुगतान-सन्तुलन उसके सम्पूर्ण विदेशी लेन-देन अथवा समाकलन-विकलन (credits and debits) का एक विवरण (statement) अथवा चिट्ठा (balance-sheet) होता है। इसके बायीं ओर सभी समाकलन (credits) अथवा लेनदारियाँ तथा दायीं ओर विकलन (debits) अथवा देनदारियाँ दिखायी जाती हैं। बायीं ओर की राशि तथा दायीं ओर की राशि के अन्तर से भुगतान-सन्तुलन का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

भुगतान-सन्तुलन के विवरण मे सम्मिलित विभिन्न मदों का वर्गीकरण 'लीग ऑफ नेशन्स' (League of Nations) ने दो मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत किया था, और अधिकांश देश इसी के आधार पर भुगतान-सन्तुलन का विवरण तैयार करते हैं। भुगतान-सन्तुलन का प्रमुख शीर्षक चालू खाता (Current Account) होता है, जिसमे व्यापार की दृश्य (visible) तथा अदृश्य (invisible) मदें सम्मिलित होती हैं। अमौद्रिक उद्देश्यो से विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण का आयात निर्यात (non-monetary gold movements) तथा अनुमान मे भूल-चूक की सम्भावनाएँ (errors and omissions) की मदें भी चालू खाते में सम्मिलित रहती हैं। दूसरा शीर्षक पूँजी खाता (Capital Account) होता है जिसके अन्तर्गत विदेशी पूँजी के विनियोजन तथा ऋण की राशियो को दिखाया जाता है। इन दोनों शीर्षकों के आधार पर तैयार किये गये भारत मे भुगतान-सन्तुलन के विवरण का नमूना अगले पृष्ठ (236) पर दिया जा रहा है।

दोनो खातों के अन्तर्गत सम्मिलित विभिन्न मदो का ब्यौरा निम्न प्रकार है

1 चालू खाता (Current Account)

माल की मद के अन्तर्गत वस्तुओ के आयात निर्यात अथवा दृश्य व्यापार (visible trade) के भुगतान सम्मिलित होते हैं। चूँकि इसी मद से व्यापार-सन्तुलन की जानकारी प्राप्त होती है, इसलिए इसकी राशि भुगतान-सन्तुलन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण राशि होती है।

अमौद्रिक उद्देश्यों के लिए स्वर्ण का आयात-निर्यात भी दृश्य व्यापार की एक मद है। परन्तु भारत मे स्वर्ण के आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध होने के कारण भुगतान-सन्तुलन के विवरण मे यह मद खाली ही रहती है।

यात्रा, परिवहन, बीमा, ऋणो पर ब्याज तथा पूँजी पर लाभांश की मदें अदृश्य व्यापार (invisible trade) के अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकार के भुगतान प्रत्येक देश को अन्य देशो को करने पड़ते हैं तथा उसे अन्य देशो से प्राप्त भी होते हैं। इनका आधार विनिमय के बीच

भारत का समस्त भुगतान-सन्तुलन—चालू खाता

(*India s Over all Balance of Payments—Current Account*)

(करोड़ रुपयों में)

मदें (Items)	समाकलन (Credits)	विकलन (Debits)	अन्तर (Net)
1 माल (Merchandise)			
(i) निजी (Private)			
(ii) सरकारी (Government)			
2 गैर-मौद्रिक स्वर्ण प्रवाह (Non monetary gold movement)			
3 यात्रा (Travel)			
4 परिवहन (Transportation)			
5 बीमा (Insurance)			
6 विनियोग से आय (Investment income)			
7 सरकारी, अन्यत्र सम्मिलित न किया गया (Government, not included elsewhere)			
8 विविध (Miscellaneous)			
9 हस्तान्तरण भुगतान (Transfer Payments)			
(i) सरकारी (Official)			
(ii) निजी (Private)			
10 कुल चालू लेन देन (Total Current transactions)			
11 भूल चूक (Errors and omissions)			

भारत का समस्त भुगतान सन्तुलन—पूँजी खाता

(*India s Over all Balance of Payments—Capital Account*)

(करोड़ रुपयों में)

मदें (Items)	समाकलन (Credits)	विकलन (Debits)	अन्तर (Net)
1 निजी पूंजी (Private Capital)			
(i) दीर्घकालीन (Long-term)			
(ii) अल्पकालीन (Short term)			
2 बैंकिंग पूंजी (Banking Capital)			
3 सरकारी पूंजी (Official Capital)			
(i) ऋण (Loans)			
(ii) परिशोधन (Amortisation)			
(iii) विविध (Miscellaneous)			
(iv) आरक्षण (Reserves)			
कुल पूंजी एवं मौद्रिक स्वर्ण (Total Capital and Monetary Gold)			

आर्थिक एवं व्यापारिक सम्बन्धों का होना है। इन भुगतानों के अतिरिक्त किसी देश की सरकार द्वारा विदेशों में अपने दूतावासों पर व्यय तथा इस देश में विदेशी सरकारों द्वारा अपने दूतावासों पर व्यय भी अदृश्य मदों के अन्तर्गत आते हैं। कभी-कभी एक देश को दूसरे देश से दण्ड, मुआवजा अथवा युद्ध व्यय के रूप में कुछ राशि प्राप्त होती है अथवा भुगतान करना पड़ता है। अदृश्य व्यापार के अन्तर्गत उक्त मदों के अतिरिक्त अन्य विविध सेवाओं के लिए लेन-देन भी सम्मिलित किया जाता है, जैसे एक देश से दूसरे देश को जाने वाले तकनीकी विशेषज्ञों के वेतन तथा भत्ते, अध्ययन के लिए विद्यार्थियों को भेजी जाने वाली राशियाँ, एक देश से दूसरे देश में जाने वाले प्रतिनिधि मण्डलों के व्यय, इलाज के लिए विदेशों में जाने वाले रोगियों के व्यय, विदेशी पत्रिकाओं आदि के चन्दे, फिल्मों के किराये आदि।

हस्तान्तरण भुगतानों के अन्तर्गत नकद या वस्तु के रूप में भेंट अथवा दान, व्यक्तिगत व पारिवारिक भुगतान, प्रवासियों द्वारा किये गये अन्तरण (transfer), पेन्शन की प्राप्तियाँ तथा भुगतान, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के चन्दे इत्यादि सम्मिलित किये जाते हैं। इनको भुगतान-सन्तुलन के विवरण में अलग से दिखाया जाता है।

2 पूँजी खाता (Capital Account)

जिस प्रकार वस्तुओं, सेवाओं तथा कुछ अन्य लेन देनों से चालू खाता बनता है, भुगतान-सन्तुलन के पूँजी खाते में विदेशी ऋण, विनियोग तथा मौद्रिक उद्देश्य से स्वर्ण के आयात-निर्यात सम्मिलित रहते हैं। ऋण अल्पकालीन हो सकते हैं अथवा दीर्घकालीन और इन दोनों को अलग-अलग दिखाया जाता है। कभी-कभी देश में विदेशी पूँजी का विनियोग होता है। विदेशी पूँजी प्राप्त करने वाले देश की स्थिति ऋणी के समान होती है, तथा विदेशों में पूँजी का विनियोग करने वाले देश की स्थिति ऋणदाता के समान होती है। ऋण तथा पूँजी के लेन देन व्यक्तिगत, बैंकों के बीच अथवा सरकारी हो सकते हैं। प्रत्येक देश का यह प्रयास होता है कि चालू खाते में अन्तर को विदेशी ऋण तथा पूँजी के विनियोगों से पूरा किया जाय। चालू खाते तथा पूँजी खाते के कुल लेन-देनों का योग करने के पश्चात जो अन्तर रह जाता है उसे चुकता करने के लिए स्वर्ण का आयात निर्यात किया जा सकता है। परन्तु वर्तमान युग में अधिकांश देशों के पास न केवल स्वर्ण का अभाव है, बल्कि जितना थोड़ा-सा स्वर्ण है उसे वे कोष में बनाये रखना उचित समझते हैं, इसलिए सामान्यतः स्वर्ण द्वारा कोई भी देश भुगतान नहीं करना चाहता है।

भुगतान-सन्तुलन सदा सन्तुलित रहता है (The Balance of Payments always Balances)

बहीखाते के सिद्धान्तों के आधार पर चूँकि समस्त विकलन (debits) समस्त समाकलन (credits) के बराबर होना आवश्यक है, अतः भुगतान-सन्तुलन में सदा लेन-देन साम्य (equivalence) की स्थिति में रहते हैं। उदाहरण के लिए, जब किसी व्यक्ति का व्यय उसकी वर्तमान आय से अधिक है तो वह कहीं से ऋण लेकर अथवा अपनी पिछली बचत का प्रयोग करके अपने आय-व्यय को सन्तुलित करता है। इसी प्रकार यदि किसी देश की देनदारियाँ लेनदारियों की अपेक्षा अधिक होती हैं तो वह देश इस घाटे की पूर्ति अनेक प्रकार से कर सकता है, जैसे एकत्रित विदेशी मुद्रा (accumulated foreign balances) देकर, विदेशी ऋण अथवा सहायता लेकर, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं से सहायता लेकर अथवा स्वर्ण निर्यात कर। इनमें से कोई भी उपाय अलग से अथवा अन्य किसी उपाय के साथ मिलाकर अपनाया जा सकता है।

स्मरण रहे कि भुगतान सन्तुलन के अन्तर्गत व्यापार-सन्तुलन अथवा चालू खाता सन्तुलन में सदा साम्य नहीं रहता। परन्तु व्यापार सन्तुलन अथवा चालू खाता प्रतिकूल होने की दशा में उसे पूँजी खाता में परिवर्तनों द्वारा साम्य में लाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना आवश्यक है कि भुगतान-सन्तुलन के सदा सन्तुलित रहने का यह अभिप्राय नहीं है कि किसी देश का भुगतान-सन्तुलन प्रत्येक अन्य देश के साथ, जिनसे उसके व्यापारिक सम्बन्ध हैं, अलग-अलग साम्य की स्थिति में रहे। वास्तविक जीवन में उस देश का भुगतान-सन्तुलन एक देश के साथ अनुकूल हो सकता है, तो दूसरे देश के साथ प्रतिकूल भी हो सकता है। प्रत्येक देश

का भुगतान-सन्तुलन एक अवधि के भीतर सन्तुलित हो जाना चाहिए, परन्तु सभी देशों का भुगतान-सन्तुलन एक साथ अनुकूल नहीं हो सकता। यदि कुछ देशों का भुगतान-सन्तुलन अनुकूल होगा तो कुछ का प्रतिकूल होना स्वाभाविक है।

भुगतान-सन्तुलन में असाम्य (Disequilibrium in the Balance of Payments)

किसी देश के भुगतान-सन्तुलन में चालू खाते का सन्तुलित होना, अर्थात् विदेशी ऋण, पूँजी अथवा स्वर्ण के आयात-निर्यात के बिना ही सन्तुलन स्थापित हो जाना, वास्तविक सन्तुलन समझना चाहिए। पूँजी खाते के अन्तर्गत पूँजी, ऋण तथा स्वर्ण के आयात-निर्यात के द्वारा कुल लेन (credit) तथा देन (debit) बराबर कर लिये जा सकते हैं, परन्तु ऐसा सन्तुलन अवास्तविक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत एक असाम्य (disequilibrium) विद्यमान होता है। असाम्य अल्पकालीन अथवा मौसमी हो सकता है और दीर्घकालीन भी। लगातार अथवा दीर्घकालीन असाम्य किसी देश के लिए काफी कठिनाइयाँ उत्पन्न कर सकता है। यह वास्तव में इस बात का सूचक है कि देश की आर्थिक एवं वित्तीय व्यवस्था कमजोर अथवा असन्तोषजनक है।

किसी देश के भुगतान-सन्तुलन में असाम्य होने के क्या कारण हैं? जैसा कि बताया जा चुका है, भुगतान-सन्तुलन की प्रमुख मदें हैं दृश्य एवं अदृश्य व्यापार, एकपक्षीय भुगतान एवं प्राप्तियाँ आदि। *यदि किसी कारणवश इन मदों के अन्तर्गत किसी देश की देनदारियों तथा लेनदारियों में अन्तर उत्पन्न हो जाय तो भुगतान सन्तुलन में असाम्य उत्पन्न हो जाता है।* यदि लेनदारियों की अपेक्षा देनदारियाँ अधिक हैं, तो भुगतान-सन्तुलन उस देश के प्रतिकूल है।

वस्तुओं का आयात-निर्यात अथवा दृश्य व्यापार भुगतान सन्तुलन की प्रमुख मद होती है। किसी देश के आयात उसके निर्यातों से अधिक होने पर व्यापार-सन्तुलन उसके प्रतिकूल हो जाता है, जिसका प्रभाव भुगतान सन्तुलन पर पड़ता है। निर्यातों में कमी के कई कारण हो सकते हैं, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इन वस्तुओं की माँग में कमी, इनके मूल्य में वृद्धि, देश में इनके उत्पादन में कमी, इत्यादि। आयातों में वृद्धि भी अनेक कारणों का परिणाम हो सकती है, जैसे देश में निरन्तर कमी की स्थिति, औद्योगिक विकास की आवश्यकताएँ, इत्यादि।

अदृश्य मदों के अन्तर्गत यदि आय कम और व्यय अधिक हो तो भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है। *विदेशों को भेजी जाने वाली ब्याज तथा लाभांश की राशि, यात्रा, परिवहन, बीमा,* शिक्षा, चिकित्सा, दूतावासों आदि मदों के अन्तर्गत किये जाने वाले भुगतान प्राप्तियों की अपेक्षा कम होने पर चालू खाते में भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो सकता है। कुछ अन्य प्रकार के एकपक्षीय भुगतान, जैसे विदेशों को मुआवजा अथवा दण्ड का भुगतान, प्रवासियों द्वारा किये गये अन्तरण, विदेशों को दिये गये दान अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के चन्दे इत्यादि भी अत्यधिक होने की दशा में भुगतान-सन्तुलन को प्रतिकूल कर सकते हैं।

भुगतान-सन्तुलन में सुधार के उपाय

स्वर्णमान के अन्तर्गत भुगतान-सन्तुलन का असाम्य स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा समाप्त किया जा सकता है। परन्तु वर्तमान युग में, जबकि अधिकांश देशों के पास बहुत कम स्वर्ण रह गया है, और जो कुछ उनके पास है उसको वे अपने कोषों में रखना चाहते हैं, भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में सुधार करने के लिए विभिन्न प्रकार के उपायों को अपनाना पड़ता है। भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल अथवा विपक्ष में होने की दशा में कोई भी देश निम्नलिखित उपायों में से किसी एक अथवा अधिक उपायों को अपना सकता है

(1) **व्यापार-सन्तुलन में सुधार**—भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने का प्रमुख तरीका निर्यात को प्रोत्साहित तथा आयात को हतोत्साहित (export promotion and import restriction) करना है।

निर्यात-प्रोत्साहन के कई तरीके हैं, जैसे—उत्पादन-लागत में कमी करना, निर्यात करों में कमी करना अथवा छूट देना, निर्यात वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को आर्थिक सहायता

(subsidies and bounties) प्रदान करना, निर्यात-मूल्यों में कमी करना, विदेशों में प्रचार करना, इत्यादि।

यदि निर्यातों में वृद्धि की मात्रा असाम्य में सुधार करने के लिए पर्याप्त न हो तो निर्यात में वृद्धि के उपायों के साथ-साथ आयातों को कम करने के उपाय भी अपनाने चाहिए। आयात कम करने के मुख्य उपाय हैं : आयात-कर लगाना अथवा उनमें वृद्धि करना, आयातों के परिमाण को नियन्त्रित करने के लिए आयात कोटा (quota) प्रणाली तथा लाइसेन्स प्रणाली अपनाना, कुछ प्रकार के आयातों पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाना, आयात की जाने वाली वस्तुओं का देश में उत्पादन करना, इत्यादि।

(2) **मुद्रा-संकुचन**—मुद्रा-संकुचन (deflation) की नीति का उद्देश्य आन्तरिक कीमत-स्तर में कमी करना होता है। वस्तुओं की कीमतें कम हो जाने पर निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है, आयात हतोत्साहित होते हैं, क्योंकि विदेशी माल देश में महँगा पड़ने लगता है। इस प्रकार मुद्रा संकुचन द्वारा प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन ठीक किया जा सकता है। परन्तु मुद्रा-संकुचन की रीति को अच्छा नहीं समझा जाता, क्योंकि इससे देश की आन्तरिक अर्थ व्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव पड़ सकते हैं। कीमतें गिरने से उत्पादकों के लाभ गिर जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन में कमी होती है तथा बेकारी बढ़ती है। अत्यधिक मुद्रा-संकुचन देश में मन्दी (depression) की स्थिति उत्पन्न करता है, इसलिए इस रीति का उपयोग बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

(3) **अवमूल्यन**—यदि कोई देश अपनी मुद्रा के आन्तरिक मूल्य में कमी करना उचित नहीं समझता तो वह विदेशी मुद्रा के रूप में देश की मुद्रा के मूल्य को कम कर सकता है। देशी मुद्रा का विदेशी मुद्राओं में मूल्य गिराना ही अवमूल्यन (devaluation) कहलाता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अवमूल्यन करने वाले देश के निर्यात विदेशों में सस्ते हो जाते हैं, क्योंकि विदेशियों को इस देश से माल खरीदने पर पहले से कम मुद्रा देनी पड़ती है। इसके विपरीत, इस देश में आयात महँगे हो जाते हैं, क्योंकि इनके लिए विदेशों को पहले से अधिक मुद्रा देनी पड़ती है। परिणामत निर्यात प्रोत्साहित होते है तथा आयात हतोत्साहित, जिससे भुगतान-सन्तुलन की विपक्षता ठीक हो जाती है।

(4) **विनिमय-नियन्त्रण**—भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल होने पर सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक का विदेशी विनिमय-बाजार (foreign exchange market) पर नियन्त्रण (exchange control) हो जाता है और फिर अनेक प्रतिबन्धों की सहायता से लेन-देन के बीच समता स्थापित की जाती है। विदेशी विनिमय के सभी सौदे केवल सरकार अथवा किसी अधिकार प्राप्त संस्था अथवा व्यक्ति द्वारा ही किये जा सकते हैं। निर्यातकर्ताओं को प्राप्त होने वाला विदेशी विनिमय सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाता है। सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा विदेशी विनिमय को लाइसेन्स प्राप्त आयातकर्ताओं में बाँट दिया जाता है।

उपर्युक्त सभी उपायों का विस्तृत वर्णन आगे के अध्यायों में किया गया है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भुगतान-सन्तुलन की विपक्षता को दूर करने के सभी उपायों की कुछ सीमाएँ हैं। व्यापार-नियन्त्रण अन्य देशों द्वारा प्रतिकार (retaliation) को जन्म दे सकता है, मुद्रा-संकुचन से देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो सकती है, अवमूल्यन से देश के सम्मान को धक्का पहुँचता है और देनदारियाँ बढ़ जाती हैं, विनिमय-नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में बाधक होता है, तथा अनेक समस्याओं को जन्म देता है। अतएव भुगतान-सन्तुलन के साम्य में सुधार करना कोई सरल कार्य नहीं होता। भुगतान-सन्तुलन की समस्या विशेष रूप से विकासशील देशों के लिए अत्यन्त जटिल एवं गम्भीर होती है, क्योंकि औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उन्हें काफी मात्रा में आयात करने पड़ते हैं, परन्तु उनका भुगतान करने के लिए उनकी निर्यात करने की क्षमता अपेक्षाकृत कम होती है। इन परिस्थितियों में विकासशील देशों के लिए आवश्यक हो जाता है कि वे चालू खाते में भुगतान-सन्तुलन ठीक

करने के लिए विदेशों से ऋण प्राप्त करे तथा विदेशी पूंजी के विनियोगों को प्रोत्साहन दे। परन्तु इन उपायों पर भी बहुत अधिक मात्रा में निर्भर करना उचित नहीं होता। इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना होता है कि विदेशी पूंजी देश की अर्थ-व्यवस्था पर हावी न होने पाये। साथ में यह भी देखना पड़ता है कि ब्याज, लाभांश आदि के भुगतानों का भार देश पर बहुत अधिक न होने पाये, क्योंकि ऐसा भी सम्भव है कि कोई देश इस प्रकार के भुगतान करने के लिए ही विदेशों से निरन्तर ऋण लेता रहे और कभी आत्म-निर्भर न होने पाये।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. **व्यापार सन्तुलन तथा भुगतान-सन्तुलन में अन्तर स्पष्ट कीजिए। इन दोनों में किसका अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण है?**

   [संकेत प्रथम भाग में व्यापार-सन्तुलन तथा भुगतान-सन्तुलन के अर्थ स्पष्ट कीजिए और उनमें अन्तर बताइए। दूसरे भाग में यह समझाइए कि भुगतान-सन्तुलन का अध्ययन अधिक आवश्यक है और इसके अध्ययन के महत्व की व्याख्या कीजिए।]

2. **विभिन्न देशों के बीच भुगतानों के सन्तुलन में कौन कौनसी मदें सम्मिलित होती हैं? क्या किसी देश का भुगतान-सन्तुलन सदा समतुलित रहता है?**

   [संकेत भुगतान-सन्तुलन के चालू खाता तथा पूंजी खाता के अन्तर्गत सम्मिलित की जाने वाली सभी मदों को विस्तारपूर्वक स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग में यह बताइए कि चालू खाता में असन्तुलन पूंजी खाते में परिवर्तनों द्वारा ठीक किया जा सकता है जिससे भुगतान-सन्तुलन समतुलित हो जाता है, परन्तु इस प्रकार का समतुलन अवास्तविक ही होता है।]

3. **भुगतान-सन्तुलन के प्रतिकूल होने के कारण बताइए। इसको किस प्रकार सुधारा जा सकता है?**

   [संकेत प्रथम भाग में भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल होने के कारण विस्तारपूर्वक समझाइए। दूसरे भाग में सुधार के उपायों की व्याख्या कीजिए।]

4. **दृश्य एवं अदृश्य व्यापार पर एक टिप्पणी लिखिए।**

   [संकेत दोनों के अर्थ तथा उनमें सम्मिलित मदों को स्पष्ट कीजिए और यह बताइए कि इनमें होने वाले परिवर्तन किस प्रकार भुगतान-सन्तुलन को प्रभावित करते हैं।]

18

स्वतन्त्र व्यापार एवं संरक्षण

[FREE TRADE VERSUS PROTECTION]

"अधिक उन्नतशील निर्माण-उद्योग वाले देशों के साथ पूर्णरूपेण स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा की प्रणाली में एक राष्ट्र जो इतना समुन्नत नहीं है, सभी प्रकार से निर्माण-उद्योगों के लिए साधनों से युक्त होने पर भी बिना संरक्षण प्रशुल्कों के स्वयं कभी भी पूर्णतया विकसित निर्माण-उद्योगों का शक्तिशाली राष्ट्र नहीं बन पायेगा।"[1]

—फ्रैडरिक लिस्ट

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित दो प्रकार की व्यवस्थाएँ सरकार द्वारा अपनायी जा सकती हैं—स्वतन्त्र व्यापार (free trade), तथा संरक्षण (protection)। स्वतन्त्र व्यापार से अभिप्राय उस व्यवस्था से है जिसके अन्तर्गत विदेशों से माल आयात करने अथवा निर्यात करने पर कोई प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रुकावट नहीं लगायी जाती। एडम स्मिथ (Adam Smith) के शब्दों में, "स्वतन्त्र व्यापार व्यावसायिक नीति की उस प्रणाली को कहते हैं जिसमें देशी तथा विदेशी वस्तुओं में कोई भेद-भाव नहीं किया जाता है, और इसलिए न तो विदेशी वस्तुओं पर कर लगाये जाते हैं और न स्वदेशी उद्योगों को कोई विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।" इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत वस्तुओं के आयात-निर्यात पर कोई कर लगाये ही नहीं जाते हैं। यदि कोई कर लगाया जाता है तो उनका उद्देश्य आय (revenue) प्राप्त करना होता है, माल का व्यापार रोकना नहीं। इसके विपरीत, स्वदेशी उद्योगों की विदेशी प्रतिस्पर्धा से रक्षा के उद्देश्य से विदेशी व्यापार पर कोई कानूनी रुकावट लगायी जाती है अथवा विदेशी आयातों पर भारी कर लगा दिये जाते हैं तो इस प्रकार की नीति को संरक्षण (protection) की नीति कहते हैं। संरक्षण की नीति कभी-कभी राजनीतिक उद्देश्य से भी अपनायी जाती है। राष्ट्रीयता के भावों का विकास होने पर सरकार स्वदेशी उद्योगों की इस प्रकार रक्षा करने लगती है जैसे कोई देश विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा करता है।

स्वतन्त्र व्यापार

वास्तव में, स्वतन्त्र व्यापार (free trade) का विचार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पर आधारित है। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों के विचार में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा भौगोलिक श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण के लाभ केवल स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाने पर ही प्राप्त किये जा सकते हैं। कैरनेस के अनुसार, "यदि किसी विशेष लाभ के उद्देश्य से वृद्ध राष्ट्र परस्पर व्यापार करना प्रारम्भ कर दें तो उनके स्वतन्त्र व्यापारिक आदान-प्रदान में किसी प्रकार का

1 " Under a system of perfectly free competition with more advanced manufacturing nations, a nation which is less advanced than these, although well fitted for manufacturing, can never attain to a perfectly developed manufacturing power of its own without protective duties."—F. List *The National System of Political Economy*, Translated by Sampson S Lloyd, M P, (1885), p 316.

हस्तक्षेप उनको इस लाभ से वंचित कर देगा।"[1] इसी प्रकार, एल्सवर्थ (Ellsworth) ने भी लिखा है कि "कोई भी देश स्वतन्त्र व्यापार की व्यवस्था में अपने भौगोलिक विशिष्टीकरण के यथा-सम्भव लाभ प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।"[2]

स्वतन्त्र व्यापार की नीति के समर्थकों में इंगलैण्ड सबसे आगे रहा है, और औद्योगिक क्रान्ति के क्षेत्र में अगुआ होने के कारण इंगलैण्ड को इस नीति से विशेष लाभ भी हुआ है। इंगलैण्ड को अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल तथा औद्योगिक श्रम के लिए सस्ता खाना बाहर से मँगवाना था तथा उत्पादित वस्तुओं के लिए विस्तृत बाजार बनाना था, इसलिए इंगलैण्ड के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति लाभपूर्ण थी। इंगलैण्ड ने इस नीति को भारत तथा अपने अन्य उपनिवेशों में भी लागू किया। परन्तु प्रत्येक देश की अपनी परिस्थितियाँ अलग-अलग होती हैं। विशेष रूप से ऐसे देश जो स्वयं अपने उद्योगों का विकास करना चाहते हैं, स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त का अनुसरण नहीं कर पाते। आज के युग में तो प्रायः सभी देशों में विदेशी व्यापार पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं, तथा स्वतन्त्र व्यापार का अब केवल सैद्धान्तिक महत्व ही रह गया है।

स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में तर्क

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री (Classical Economists) स्वतन्त्र व्यापार की नीति के समर्थक थे तथा उन्होंने स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किये, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं

(1) **अधिकतम सामाजिक उत्पादन**—स्वतन्त्र व्यापार भौगोलिक श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण को जन्म देता है, अतएव इसके द्वारा प्रत्येक देश में उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव होता है। सभी देशों के प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग होने के कारण सम्पूर्ण विश्व में धनोत्पत्ति अधिकतम होती है। प्रो० सेमुअलसन (Samuelson) के अनुसार, "बिना रोक-टोक का व्यापार पारस्परिक लाभदायक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को प्रोत्साहित करता है, प्रत्येक देश में वास्तविक उत्पादन बढ़ जाता है, जिसके परिणामस्वरूप सारे विश्व में रहन-सहन का स्तर बढ़ जाता है।"[3] सामाजिक उत्पादन में वृद्धि स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में मुख्य तर्क है, क्योंकि केवल इसी आधार पर एक उदार व्यापार नीति को वैज्ञानिक रूप से उचित ठहराया जा सकता है, यद्यपि राजनीतिक प्रचार की दृष्टि से अन्य तर्क भी दिये जा सकते हैं।[4]

(2) **उत्पादन में कार्यक्षमता**—स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार न केवल उत्पत्ति के साधनों का आदर्श वितरण होता है, बल्कि प्रत्येक देश के उत्पादक विदेशी प्रतियोगिता के भय से उत्पत्ति के तरीकों में समय-समय पर सुधार करते रहते हैं। स्वतन्त्र व्यापार-व्यवस्था होने पर उत्पादन की अलाभदायक अथवा अनार्थिक इकाइयाँ अधिक समय तक नहीं चल पाती तथा कम लागत पर उत्पादन करने वाली श्रेष्ठ इकाइयाँ ही कार्यशील रहती हैं। इसके फलस्वरूप उत्पादन में कार्यक्षमता आती है तथा साधनों का दुरुपयोग नहीं होता।

(3) **भौगोलिक श्रम-विभाजन**—स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत प्रत्येक देश उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन की ओर ध्यान देता है, जिनमें उसे सर्वाधिक प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। जैसा कि एडम स्मिथ ने कहा है, "व्यक्ति विशेष अपने उद्योगों का इस प्रकार उपयोग करते हैं, जिससे उन्हें अपने पड़ोसियों से कुछ अधिक सुविधाएँ प्राप्त हो जायें। जो बात किसी परिवार के लिए

---

1 "If nations only engage in trade when an advantage arises from doing so, any interference with their free action in trading can only have the effect of debarring them from an advantage —Cairnes

2 'Free trade permits full advantage to be taken out of the possibilities of geographical specialization '—Ellsworth *The International Economy*, p 199

3 "Unhampered trade promotes a mutually profitable international division of labour, greatly enhances the potential real national product of all countries and makes possible higher standard of living all over the globe —Paul A Samuelson.

4 "Only upon this basis, and of course, under the assumption that the desired end is the maximization of the social product, can a liberal trade policy be scientifically justified although it may be that for reasons of political propaganda, other arguments are placed more in the foreground "—Haberler *The Theory of International Trade*, p 222

बुद्धिमानी की हो सकती है, किसी बड़े राष्ट्र के लिए बेवकूफी की नहीं हो सकती है।"[1] स्पष्ट है कि स्वतन्त्र व्यापार भौगोलिक श्रम-विभाजन को प्रोत्साहन देता है जिसके अनेक लाभ हैं।

(4) **एकाधिकारों की स्थापना पर रोक**—स्वतन्त्र व्यापार का आधार प्रतिस्पर्धा है जिसके कारण एकाधिकारी संघों की स्थापना में रुकावट पड़ती है। इसके विपरीत, प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप एकाधिकारों के निर्माण में सहायता मिलती है, उत्पादन लागत तथा मूल्य बढ़ जाते हैं और उत्पादन में कार्यक्षमता घट जाती है।

(5) **विस्तृत बाजार**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध न होने की स्थिति में एक देश को अपना माल बेचने के लिए विस्तृत बाजार उपलब्ध हो जाता है। यदि वस्तुओं का उत्पादन उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अनुसार हो रहा है, तो बाजार जितना अधिक विस्तृत होता है, विभिन्न देशों को निरपेक्ष लाभ तथा तुलनात्मक लाभ भी उतने ही अधिक प्राप्त होते हैं।

(6) **उपभोक्ताओं को लाभ**—स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत देश में उत्पादन की वही इकाइयाँ जीवित रहती हैं, जिनमें उत्पादन-लागत न्यूनतम होती है। इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं माल अधिक सस्ता उपलब्ध होता है, वहाँ से आयात कर लिया जाता है। अतएव उपभोक्ताओं को कम कीमत पर वस्तुएं मिल जाती हैं, उनके उपभोग का क्षेत्र विस्तृत होता है तथा उनकी वास्तविक आय में वृद्धि होती है।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सद्भावना**—चूँकि सभी देश एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं, इसलिए उनमें आपसी सहयोग तथा सद्भावना का बढ़ना स्वाभाविक है। वास्तव में, स्वतन्त्र व्यापार की नीति सफल तभी होती है, जब अन्य देश भी इसी नीति को अपनाये। एक देश द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिये जाने पर अन्य देश भी प्रतिबन्ध लगाने लगते हैं, जिसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्र व्यापार समाप्त हो जाता है। स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत सम्पूर्ण विश्व आर्थिक दृष्टिकोण से एक इकाई बन जाता है, तभी विश्व के सभी देशों के आर्थिक हितों की रक्षा होती है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति का समर्थन किया था। आर्थिक राष्ट्रीयतावाद (Economic Nationalism) तथा नियोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy) के वर्तमान युग में कोई भी देश स्वतन्त्र व्यापार की नीति नहीं अपनाना चाहता। इसलिए स्वतन्त्र व्यापार का केवल ऐतिहासिक अथवा सैद्धान्तिक महत्व ही रह गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में स्वतन्त्र व्यापार नीति के प्रबल समर्थक राष्ट्रों ने भी अब संरक्षण की नीति को अपना लिया है।

संरक्षण

संरक्षण (protection) की नीति को सर्वप्रथम समर्थन अमेरिका तथा जर्मनी में प्राप्त हुआ था। 1791 में अमरीकी अर्थशास्त्री एवं राजनीतिज्ञ एलेक्जेण्डर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) ने संरक्षण के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था तथा संरक्षण के कुछ तरीकों को भी बताया था। 1812-15 ई० में अमेरिका एवं इंगलैण्ड के बीच युद्ध के कारण जब दोनों देशों के व्यापारिक सम्बन्ध अस्थायी रूप से स्थगित हो गये तो अमरीकी उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन मिला। इससे संरक्षण के समर्थन को बल मिला। पेनसिलवेनिया में हेनरी कैरे (H C Carey) के संरक्षण के पक्ष में विचारों को काफी समर्थन प्राप्त हुआ। जर्मनी में संरक्षण की नीति वहाँ की राष्ट्रवादी नीति का परिणाम थी। इसके समर्थन में फ्रेडरिक लिस्ट (Fredrich List) ने अपनी पुस्तक *'National System of Political Economy'* में ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर जोरदार तर्क प्रस्तुत किये। लिस्ट के अनुसार यदि स्वतन्त्र व्यापार की नीति इंगलैण्ड के लिए अच्छी है तो आवश्यक नहीं कि अन्य देशों के लिए भी अच्छी हो। राष्ट्रीय हितों का विकास करना हमारा प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए और इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक देश अपने उद्योगों का विकास करे। लिस्ट

---

1 "Individuals find it for their interests to employ their industry in a way in which they have some advantages over their neighbours And what is prudence in the conduct of every private family, can scarce be folly in that of a great kingdom "—Adam Smith

का विश्वास था कि जो देश केवल कृषि पर निर्भर करता है वह ऐसे व्यक्ति के समान है जो एक ही हाथ से उत्पादन कार्य करता है।[1] संरक्षण की नीति से सम्बन्धित विचार धीरे-धीरे अन्य देशों द्वारा भी स्वीकार कर लिये गये और वे स्वतन्त्र व्यापार की नीति का परित्याग कर संरक्षण की नीति का अनुसरण करने लगे।

संरक्षण के पक्ष में तर्क

संरक्षण की भावना का प्रसार आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों कारणों से हुआ है, यद्यपि राजनीतिक कारण आर्थिक कारणों से अधिक प्रबल रहे हैं। संरक्षण के पक्ष में बहुत सारे तर्क दिये जाते हैं, जिनको हैबरलर (Haberler) ने दो श्रेणियों में विभक्त किया है—अनार्थिक तर्क (Non-Economic Arguments), तथा आर्थिक तर्क (Economic Arguments)।

(क) अनार्थिक तर्क

(1) **राष्ट्रीय सुरक्षा अथवा आत्म-निर्भरता का तर्क** (National Defence or Self-sufficiency Arguments)—विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा के लिए प्रत्येक देश को रक्षा-उद्योगों (defence industries) का विकास करना आवश्यक है, और इसके लिए संरक्षण की नीति अपनायी जानी चाहिए। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए यह भी आवश्यक है कि अन्य देशों पर अत्यधिक मात्रा में निर्भर न रहकर देश अधिक से अधिक मात्रा में आत्म-निर्भर होने का प्रयास करे, चाहे इसके लिए उसे आर्थिक हानि ही क्यों न उठानी पड़े।

(2) **राष्ट्र के विशिष्ट गुणों को सुरक्षित रखने का तर्क** (Argument for preserving the special ethos of the nation)—राष्ट्रीय सभ्यता एवं संस्कृति, आचार-विचार तथा अन्य विशेष गुण तभी सुरक्षित रखे जा सकते हैं, जब उस राष्ट्र के लोगों के विदेशियों से अधिक सम्पर्क न हों। संरक्षण के द्वारा राष्ट्र के विशिष्ट गुणों को विदेशी प्रभावों से बचाया जा सकता है, तथा शुद्धता को बनाये रखा जा सकता है।

(3) **कुछ व्यवसायों तथा जनवर्गों को सुरक्षित रखने का तर्क** (Preservation of Certain Occupations and Classes of Population Argument)—कुछ व्यवसायों तथा जनवर्गों की सुरक्षा न केवल आर्थिक बल्कि सामाजिक तथा राजनीतिक आधारों पर भी आवश्यक समझी जाती है। उदाहरणार्थ, कृषक जनसंख्या समाज का एक वफादार एवं परम्परावादी वर्ग होता है। इसी के द्वारा परम्पराओं और रीतियों की रक्षा होती है, और यह वर्ग जनसंख्या में सन्तुलन तथा नैतिक एकता के दृष्टिकोण से आवश्यक होता है। स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाये जाने पर इस वर्ग को हानि पहुँच सकती है। संरक्षण के द्वारा कृषि तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यवसायों को पतन से बचाया जा सकता है।

(ख) आर्थिक तर्क

(1) **शिशु-उद्योग तर्क** (Infant Industries Argument)—शिशु-उद्योग सम्बन्धी तर्क सर्वप्रथम 1791 में अमेरिका के एलेक्जैण्डर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) ने अपनी पुस्तक '*Report on Manufacturers*' में प्रस्तुत किया था। बाद में इस विचार को जर्मनी में फ्रेडरिक लिस्ट का जोरदार समर्थन प्राप्त हुआ। इंगलैण्ड में सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे० एस० मिल (J S Mill) ने भी इसका समर्थन किया।

इस तर्क का आधार यह है कि जो राष्ट्र उद्योगों को पहले से स्थापित कर चुके हैं, उनके सामने नये राष्ट्रों के शिशु-उद्योग प्रतियोगिता में नहीं टहर सकते। एक बालक किसी युवक का भला कैसे सामना कर सकता है! पहले से स्थापित उद्योगों को अनेक प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, जैसा कि लिस्ट के अनुसार, "कम मजदूरी पर अधिक संख्या में कुशल तथा अनुभवी कर्मचारी, सर्वोत्तम तकनीकी प्रतिभा, पूर्ण एवं सस्ती मशीनरी, अधिकतम लाभ पर क्रय-विक्रय की

---

1 "A nation which only carries on agriculture is like an individual who in his material production lacks an arm.' —F. List

सुविधा, यातायात के सस्ते साधन, बैंकों से कम से कम ब्याज पर अधिक से अधिक साख, अच्छे औजार, इमारतें, विस्तृत गृह बाजार आदि ..."। इन सब सुविधाओं के कारण ही नये उद्योग पूर्ण विकसित उद्योगों से प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाते, इसलिए शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना आवश्यक होता है। टॉसिग के अनुसार, "प्रारम्भ में स्वदेशी उत्पादक को कठिनाई होगी और विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने में असमर्थ होगा। अन्त में वह सीख लेता है कि अधिकतम लाभ के साथ किस प्रकार उत्पादन किया जाय और तब वह विदेशियों की भाँति सस्ती और कभी-कभी उनसे भी सस्ती वस्तु बाजार में लाने में असमर्थ होता है।[1] इसलिए नये उद्योगों को प्रारम्भ में संरक्षण देना आवश्यक होता है। बाद में विकसित हो जाने पर बिना किसी संरक्षण के ये भी विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सकते हैं। मिल ने तो यह स्पष्ट रूप में लिखा था कि संरक्षण केवल उन्हीं उद्योगों को दिया जाय जो बाद में उसका परित्याग कर पाने के योग्य हो सकें। इस प्रकार संरक्षण की नीति का सार यह है कि "शिशु का पालन करो, बालक की रक्षा करो, और युवक को स्वतन्त्र छोड़ दो" (Nurse the baby, protect the child and free the adult)।

मिल द्वारा शिशु-उद्योग तर्क स्वीकार कर लेने पर स्वतन्त्र व्यापार के अन्य समर्थकों की भी इसे सहमति प्राप्त हुई है, परन्तु इसकी आलोचना भी की जाती है, जो निम्नलिखित है

1. शिशु उद्योगों की पहचान करना कठिन होता है। जो उद्योग स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत अपना अस्तित्व भली प्रकार कायम रख सकते हैं, वे भी संरक्षण की इच्छा करने लगते हैं। मार्शल ने अमरीकी अनुभव के आधार पर लिखा था कि "संरक्षण नीति की योजना कितनी ही सरल क्यों न हो, वह प्रभावपूर्ण ढंग से जटिल बना दी जाती रही है जिससे वह विशेष रूप से उन्हीं उद्योगों को सहायता दे सकी है जो पहले से ही काफी शक्तिशाली थे, तथा जो बिना संरक्षण के भी कार्य चला सकते थे।"[2]
2. संरक्षण की नीति में स्थायित्व की प्रवृत्ति निहित होती है। प्रो० टॉसिग ने लिखा है कि "अधिकांश रूप में संरक्षण मिल जाने पर निहित स्वार्थ उत्पन्न हो जाते हैं जो संरक्षण के हटाये जाने के विरुद्ध होते हैं।"[3]
3. किसी एक उद्योग को संरक्षण दिये जाने पर अन्य उद्योग भी संरक्षण की माँग करने लगते हैं तथा इसकी प्राप्ति के लिए ऐसे उपाय अपनाने लगते हैं जिनसे देश में भ्रष्टाचार एवं पक्षपात की भावना बढ़ती है।
4. संरक्षण की नीति के कारण उपभोक्ताओं को हानि होती है, क्योंकि उन्हें घटिया माल के लिए अधिक कीमतें देनी पड़ती हैं।
5. कुछ उद्योग जो संरक्षण की आड़ में ही जन्म लेते हैं, संरक्षण हटा लेने पर तुरन्त समाप्त हो जाते हैं। यदि वे संरक्षण के बाद भी अस्तित्व में रहते हैं तो इसके कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं। यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि संरक्षण की नीति उनके लिए लाभदायक रही है। अनेक देशों में तो बिना संरक्षण के ही उद्योग स्थापित किये गये और विकसित हुए, जबकि कुछ अन्य देश संरक्षण के द्वारा भी पर्याप्त औद्योगिक विकास नहीं कर पाये।

शिशु-उद्योग तर्क के विरुद्ध उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद संरक्षण की नीति के पक्ष में यह एक महत्वपूर्ण तर्क है और व्यावहारिक रूप में यह प्रभावपूर्ण भी रहा है।

---

1 "At the outset the domestic producer has *difficulties and cannot meet foreign competition* In the end, he learns how to produce to the best advantage and then can bring the article to market as cheaply as the foreigner, *even more cheaply* —*Taussig*

2 " ... however simple the plan on which a protective policy started it was drawn irresistably to become intricate, and to lend its *chief aid to those industries which* were already strong enough to do without it "—Marshall, Quoted by Haberler in *Theory of International Trade*, p 285

3 "Protection given in most cases creates vested interests which are averse to the removal of protection —Taussig

(2) **उद्योगों में विविधता का तर्क** (Diversification of Industries Argument)—स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति मे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार सभी देशो मे अलग-अलग वस्तुओ के उत्पादन का विशिष्टीकरण हो जाता है। परन्तु असाधारण परिस्थितियों मे इससे किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था को भारी सकट का सामना करना पड सकता है। उद्योगो मे विविधता का तर्क सर्वप्रथम फ्रेडरिक लिस्ट द्वारा दिया गया था। सन्तुलित आर्थिक विकास के लिए, लिस्ट के अनुसार, देश मे विभिन्न प्रकार के उद्योगो का होना आवश्यक है। कुछ थोडे से उद्योगों का ही विकास करना और उन पर निर्भर रहना आर्थिक दृष्टिकोण से भी हानिकारक होता है और राजनीतिक दृष्टिकोण से भी। राजनीतिक दृष्टि से अन्य देशो पर निर्भर रहना पडता है और युद्ध आदि के समय अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती है। आर्थिक दृष्टिकोण से जब कभी विदेशो मे उत्पादित माल की माँग गिर जाती है तो देश पर भारी आर्थिक सकट आ पडता है। इसलिए यह आवश्यक है कि आर्थिक विकास के क्रम को सन्तुलित रखने के लिए देश मे विविध उद्योगो का विकास किया जाय तथा जिन उद्योगो के विकास के लिए देश मे अनुकूल परिस्थितियां न हों उन्हे पर्याप्त सरक्षण दिया जाय। इस तर्क के प्रतिपादक भौगोलिक श्रम-विभाजन से प्राप्त होने वाले लाभो को बिलकुल भुला देते है।

(3) **आधार-उद्योग तर्क** (Key Industries Argument)—औद्योगिक ढाँचे के आधार-स्वरूप कुछ प्रमुख उद्योगो, जैसे लोहा इस्पात, बिजली आदि की स्थापना करना आवश्यक होता है। औद्योगिक ढाचा अपने मे पूर्ण, सन्तुलित एव स्थिर तभी होगा जबकि देश उद्योगो के विकास के लिए भारी मशीने, प्लान्ट तथा परिवहन सम्बन्धी वस्तुओ का स्वय उत्पादन करे। आधार-उद्योगों का विकास करने पर ही किसी देश मे औद्योगिक विकास स्वयचालित (self-sustained) हो पाता है। इस प्रकार के उद्योगो के लिए सरक्षण की आवश्यकता हो सकती है।

(4) **प्राकृतिक साधनो का उचित उपयोग तर्क** (Proper Utilization of Natural Resources Argument)—स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत विशिष्टीकरण के कारण देश मे सभी प्राकृतिक साधनो का उचित उपयोग नही हो पाता है। खनिज पदार्थों का बहुत बडी मात्रा मे दूसरे देशो को निर्यात करना राष्ट्रीय हित मे अच्छा नही होता। जेवन्स (Javons) ने इसी तर्क के आधार पर इगलैण्ड से कोयले के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने का सुझाव दिया था। देश मे उपलब्ध प्राकृतिक साधनो के पूर्ण एव उचित उपयोग के लिए देश म ही सम्बद्ध उद्योगो को सरक्षण देकर विकसित किया जा सकता है।

(5) **बेकार साधन तर्क** (Idle Resources Argument)—स्वतन्त्र व्यापार तथा विशिष्टीकरण के कारण प्राकृतिक साधनों के अतिरिक्त श्रम और पूंजी आदि के साधन भी बेकार पडे रह सकते है। उद्योगो को सरक्षण देकर देश म औद्योगीकरण के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है तथा बेकार साधनो का समुचित प्रयोग किया जा सकता है।

(6) **रोजगार सम्बन्धी तर्क** (Employment Argument)—इस तर्क का अभिप्राय यह है कि देश मे रोजगार बढाने के लिए सरक्षण की नीति द्वारा उपयुक्त उद्योग स्थापित किये जा सकते है। इस सम्बन्ध मे यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सरक्षित उद्योगो की स्थापना से आयात कम हो जाने पर बेकारी कम हो सकती है, परन्तु यदि इसके प्रभाव से देश मे निर्यात भी कम हो जायें तो निर्यात-उद्योगो मे बेकारी बढ जायेगी। कीन्स (Keynes) ने लिखा था कि "यदि आयात मे कमी होने पर तत्काल लगभग निर्यात इतने ही कम हो जायें तो स्पष्ट रूप से तट-कर (और बहुत से अन्य उपाय) रोजगार मे वृद्धि करने के लिए पूर्णतया निरर्थक होंगे।"[1]

सरक्षण द्वारा देश मे बेकारी की समस्या को हल करने के लिए केन्स ने दो सुझाँव दिये हैं—(1) सरक्षण के साथ-साथ विदेशियो को ऋण देने की भी व्यवस्था की जाय ताकि वे देश का

1 "If a reduction of imports causes almost at once a more or less equal reduction of export, obviously a tariff (and many other things) would be completely futile for the purpose of augmenting employment —Keynes *Economic Notes on Free Trade* in *'The New Statesman and Nation* (11th April, 1931), p. 242

माल खरीद सके और निर्यात में कोई कमी न हो। (2) सरक्षण करो से प्राप्त आय निर्यात-उद्योगो को आर्थिक सहायता (bounties and subsidies) देने मे लगायी जाय ताकि यह उद्योग अपना माल विदेशो मे कम कीमत पर बेच सके। परन्तु केन्स के आलोचक इन दोनो सुझावो को अव्यावहारिक समझते हैं। विदेशियों को कब तक और कहाँ तक ऋण दिया जा सकता है? आयातो पर प्रतिबन्ध होने के कारण विदेशी ऋण का भुगतान कैसे करेंगे? निर्यात उद्योगो को आर्थिक सहायता देने पर क्या अन्य देश भी प्रतिस्पर्धा की भावना से निर्यात-मूल्य कम नही कर देंगे? इस प्रकार की शकाओ के कारण यह सन्देह होने लगता है कि सरक्षण द्वारा बेकारी की समस्या हल नही की जा सकती।

दूसरी ओर कुछ अन्य अर्थशास्त्री यह स्वीकार नही करते कि सरक्षण की नीति के परिणामस्वरूप आयात कम होने पर निर्यात भी उसी मात्रा मे कम हो जायेंगे, और यदि निर्यात कम हो भी जाये तो इसका अर्थ यह नहीं है कि निर्यात-उद्योगों मे बेकारी बढ़ेगी। हैबरलर के विचार मे निर्यात-उद्योगो की पुरानी विदेशी माँग का स्थान स्वदेश मे ही उत्पन्न माँग ग्रहण कर लेगी।[1] परन्तु व्यावहारिक रूप मे यह आवश्यक नही कि सभी निर्यात-उद्योगो की वस्तुओ के लिए स्वदेशी माँग मे पर्याप्त वृद्धि हो। यदि माँग नहीं बढ़ेगी तो बेकारी मे वृद्धि होगी ही। अतएव यह स्पष्ट है कि सरक्षण के लिए रोजगार सम्बन्धी तर्क मे अधिक बल नही है, परन्तु यह अवश्य है कि सरक्षण से बेकारी दूर करने मे कुछ न कुछ सहायता मिलती ही है।

(7) **सरकारी आय का तर्क** (The Revenue Argument)—सरक्षण के पक्ष मे एक तर्क यह भी दिया जाता है कि सरक्षण करो से सरकार को आय प्राप्त होती है। परन्तु जैसा कि हैबरलर ने सकेत किया है, सरक्षण की नीति तथा सरक्षण द्वारा प्राप्त सरकार को आय दोनो ही विरोधी तत्व (inconsistent) हैं, क्योंकि सरक्षण जितना अधिक होता है, आयात कर से प्राप्त आय उतनी ही कम होती है।[2] सरक्षण तथा सरकारी आय परस्पर विरोधी होने पर भी सरक्षण के पक्ष मे सरकारी आय का तर्क दिया जाता है।

(8) **स्वदेशी बाजार तर्क** (Home Market Argument)—सरक्षण द्वारा आयातो को बन्द करना अथवा महँगा करना इस उद्देश्य से भी किया जा सकता है कि स्वदेशी बाजार मे केवल गृह-उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओ की ही बिक्री हो। इसमे कोई सन्देह नही कि सरक्षण द्वारा स्वदेशी बाजार का विकास सम्भव है, परन्तु साथ मे यह भी सम्भावना रहती है कि आयात कम कर देने से निर्यात भी कम हो जाता है। इस सम्बन्ध मे केन्ज का विचार है कि सरक्षण के द्वारा रोजगार बढाया जा सकता है, परन्तु इसके साथ साथ कुल मजदूरी घट जायेगी। हमारे आयात प्राप्तियाँ (receipts) हैं जबकि निर्यात भुगतान (payments) है। ऐसी दशा मे कोई राष्ट्र अपनी प्राप्तियो मे कमी करके अपनी दशा को सुधारने की आशा कैसे कर सकता है?

(9) **द्रव्य को देश मे रखने का तर्क** (To Keep Money at Home Argument)—यह तर्क सर्वप्रथम अमेरिका के प्रेसीडेन्ट अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln) ने प्रस्तुत किया था। इस तर्क का आधार यह है कि विदेशो से आयात करने पर हमे भुगतान करना होगा जिससे हमारा द्रव्य विदेशों को चला जायेगा। सरक्षण के द्वारा गृह उद्योगो का विकास कर लिया जाय तो देश का द्रव्य देश मे ही रह जायेगा। इस तर्क की आलोचना मे यह कहा जाता है कि किसी देश द्वारा आयात कम कर देने पर उसके निर्यात भी कम हो जायेंगे। अन्तत आयातो तथा

---

1 "We must not forget that the purchasing power which was previously spent by consumers on imported goods and used by the foreign recipients to purchase exports from the country in question is now spent by consumers on home produced goods and may be used by the recipients to purchase goods from their own export industries so that a new home demand for the products of the export industries may replace the previous foreign demand —Haberler *Theory of International Trade*, p 261

2 " The duty which affords the maximum of protection is a prohibitive one which yields no revenue to the state On the other hand, the revenue yielded by a duty will be the greater the less import of the goods falls off, that is to say, the less the duty fulfills its protective function —Haberler *Theory of International Trade*, p 239

निर्यातों का सन्तुलन हो जाता है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में द्रव्य खोने अथवा पाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। विदेशों से आयात करने पर लाभ यह होता है कि थोड़ा द्रव्य देकर अधिक सन्तोष की प्राप्ति होती है।

(10) **सरक्षित उद्योगों में उत्पादन-वृद्धि तर्क** (Expanding the Production of Protected Industries Argument)—साधारण जनता पर इस तर्क का काफी प्रभाव पड़ता है कि संरक्षण द्वारा सरक्षित उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि होती है। जर्मनी तथा आस्ट्रिया ने कृषि को संरक्षण देकर कृषि-उत्पादन में काफी वृद्धि कर ली थी और हंगरी ने संरक्षण के द्वारा ही 10 वर्षों के भीतर पर्याप्त औद्योगिक विकास कर लिया था। इस सम्बन्ध में यह सिद्ध करना कठिन है कि इन देशों में उत्पादन में वृद्धि संरक्षण की नीति का ही परिणाम थी, तथा अन्य तत्वों का उसमें सहयोग नहीं था। यह भी प्रमाणित नहीं होता कि संरक्षण के द्वारा कुल सामाजिक उत्पत्ति अथवा कुल राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। सम्भव है कि सरक्षित उद्योगों में उत्पादन बढ़ जाय परन्तु अन्य उद्योगों में उत्पादन घट जाय, तो इस प्रकार उत्पादन की एक शाखा का विकास अन्य शाखाओं के हितों का बलिदान करके ही किया जाता है।

(11) **लागतों में समानता का तर्क** (Equalisation of Costs Argument)—इस तर्क के अनुसार संरक्षण की नीति का उद्देश्य यह होता है कि स्वदेश में बनी महँगी वस्तुओं और विदेश में बनी सस्ती वस्तुओं को आयात-कर द्वारा समान कर दिया जाय ताकि स्वदेशी और विदेशी उत्पादकों को अपनी वस्तुओं के बेचने के लिए समान अवसर मिल सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि तुलनात्मक लागत को समान करने के लिए जो उद्योग जितना अधिक दुर्बल तथा अकुशल होगा उसे उतना ही अधिक संरक्षण देना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में हैबरलर ने कहा है कि तुलनात्मक लागत के लाभ को समान कर देने पर तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समाप्त ही हो जायगा, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार तो तुलनात्मक लागतों में अन्तर ही है।[1]

(12) **क्रय-शक्ति तर्क** (Purchasing Power Argument)—संरक्षण मिल जाने पर औद्योगिक विकास सम्भव होगा, तथा औद्योगिक जनसंख्या की क्रय-शक्ति बढ़ जायगी। औद्योगिक वस्तुओं के लिए प्रभावपूर्ण माँग (effective demand) में वृद्धि होने पर उनके द्वारा कच्चे माल आदि की माँग बढ़ेगी और इस प्रकार कृषि का भी विकास होगा। परन्तु यह तर्क दूसरे पहलू को नहीं देखता। संरक्षण के परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं को वस्तुएँ ऊँची कीमत पर प्राप्त होती हैं, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि उनकी मौद्रिक आय अथवा क्रय शक्ति बढ़ जाने पर वे पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ या सेवाएँ खरीद सकेंगे।

(13) **बहुँमुखी संरक्षण तर्क** (Protection All-round Argument)—यह तर्क क्रय-शक्ति तर्क का ही दूसरा रूप है। इसके अनुसार जब किसी उद्योग को संरक्षण देने से क्रय-शक्ति में वृद्धि होने के कारण सभी उद्योगों को लाभ होता है तो सबसे अच्छा तरीका यह है कि उत्पादन की प्रत्येक शाखा को संरक्षण दे दिया जाय। बिस्मार्क (Bismark) ने कहा था, "संरक्षण प्रणाली जो कुछ स्वदेशी उत्पादन को विदेशी उत्पादकों पर प्राथमिकता देती है किसी वर्ग को अनुचित रूप से कठोर नहीं मालूम होगी, क्योंकि इससे देश के सभी उत्पादक वर्गों को समान रूप से लाभ होगा।"[2] इस तर्क की आलोचना में हैबरलर ने लिखा है कि "कोई भी देश विश्व की अर्थ-व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के लाभों से जितना अलग हो जायेगा, उसे उतनी ही अधिक सामाजिक उत्पादन में हानि होगी।"[3]

(14) **व्यापार-सन्तुलन सुधार तर्क** (Improvement in Balance of Trade Argu-

---

1 "It is clear that the complete logical application of this postulate would destroy all international trade since this arises only because of differences in cost —Haberler. *Theory of International Trade*

2 Bismark s communication to the Bundestrat on 15th Dec 1878

3 " the more is a country cut-off from the world economy and from the benefits of international division of labour, the greater is the loss to the social products "—Haberler *op cit*, p 248

ment)—सन् 1931 से बाद पूर्व और मध्य यूरोप मे अनेक देशो ने सरक्षण की नीति का प्रयोग व्यापार-सन्तुलन की स्थिति सुधारने के उद्देश्य से ही किया था। मुद्रा प्रसार अथवा मौद्रिक सकटो के समय मे जब कीमते बढ जाने के कारण विदेशी माल भारी मात्रा मे स्वदेशी बाजार मे आने लगता है तो व्यापाराधिशेष सन्तुलित रखने के लिए विदेशी आयातो पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते है। इस सम्बन्ध मे यह समझ लेना आवश्यक है कि सरक्षण द्वारा आयात कम करने से यह आवश्यक नही कि आयात-आधिक्य (import surplus) मे भी कमी हो जाय। आयातो मे कमी होने पर यदि निर्यात गिर गये तो आयात आधिक्य ज्यो का त्यो बना रहेगा।

(15) विलासिता की वस्तुओ के आयात पर प्रतिबन्ध तर्क (To Check the Import of Luxuries Argument)—सरक्षण की नीति का यह उद्देश्य हो सकता है कि विदेशो से विलासिता की वस्तुओ के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिये जायें ताकि विलासिता पर किये जाने वाले व्यय तथा उपभोग की आदतो को नियन्त्रित किया जा सके। परन्तु इसमे सफलता तभी मिल सकती है जब स्वदेश मे भी विलासिता की वस्तुओ के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगा दिये जायें, अन्यथा विदेशी वस्तुओ से हटकर माँग स्वदेशी विलासिता की वस्तुओ के लिए बढ जायेगी।

(16) प्रतिकारी सरक्षण तर्क (Retaliatory Protection Argument)—अन्य देशो द्वारा लगाये गये तट-करो (tariffs) के हानिप्रद परिणामो से बचने के उद्देश्य से जब तट-कर लगाये जाते है तो उन्हे 'प्रतिकारी प्रशुल्क' (retaliatory tariffs) कहते है। प्रतिकारी तट-कर लगाना तब भी आवश्यक हो जाता है जब दूसरे देशो की नीति राशिपातन (dumping) की हो, अर्थात् वे अपना माल इस देश के उद्योगो को कुचलने के उद्देश्य से अपनी लागत से भी कम मूल्य पर बेचना शुरू कर दें। हैबरलर तथा अन्य अनेक अर्थशास्त्री इस प्रकार की नीति को उचित नही समझते। उनके विचार मे यदि हम तट-कर लगाकर इसका प्रतिकार करते है तो इसमे हम स्वय अपने को और दूसरो को अधिक हानि पहुँचाते है, जबकि दूसरे के द्वारा की गयी हानि मे हम कुछ भी नही कर पाते। हैबरलर के शब्दो मे, "यह प्रचलित विश्वास कि विरोधी टैरिफ दीवारो से घिरा हुआ देश अपने भुगतान-सन्तुलन को कायम नही कर सकता, इतना निरर्थक है कि इसे छोड देना ही अच्छा है।"[1]

(17) मजदूरी तर्क (Wages Argument)—ऐसा कहा जाता है कि सरक्षण की आड मे ही अन्य देशो की अपेक्षा ऊँची मजदूरी-दर सम्भव हो सकती है। ऊँची मजदूरी वाले देशा, विशेष रूप से अमेरिका, म निर्धन श्रम तर्क (Pauper Labour Argument) अत्यन्त लोकप्रिय है। वहाँ जनसाधारण के विचार मे यदि सरक्षण प्राप्त न होता तो कम मजदूरी वाले एशियाई देशो की प्रतिस्पर्धा म अमरिका म औद्योगीकरण सम्भव नही हो पाता। आलोचको के अनुसार यह तर्क भी दोषपूर्ण है। यह मान्यता गलत है कि दो देशो के बीच वस्तुओ के व्यापार से उत्पत्ति के साधनो का मूल्य (factor prices) और विशेष रूप से मजदूरी म समानता आ जायगी। मजदूरी दरा म समानता तभी आ सकती है जब श्रम गतिशील हो, अर्थात् कम मजदूरी वाले देशो से श्रम अधिक मजदूरी वाले देशो को जा सके। इस प्रकार बजाय व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने के मजदूरी-दरा म अन्तर बनाये रखने का सही उपाय यह होगा कि श्रमिको की गतिशीलता अथवा आवास-प्रवास पर रोक लगा दी जाय।

निष्कर्ष—सरक्षण के पक्ष मे दिये जाने वाले तर्कों के साथ दी गयी आलोचनात्मक व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरक्षण कोई ऐसी आदर्श नीति नहीं है जिसे अपनाने से सदा लाभ ही होता हो। कुछ विशेष परिस्थितियो मे ही अपनाये जाने पर यह लाभपूर्ण हो सकती है। वास्तव मे, स्वतन्त्र व्यापार का तर्क पूर्ण रोजगार की उपलब्धता पर आधारित है, जबकि सरक्षण का तर्क अपूर्ण रोजगार की उपलब्धता पर। इस प्रकार, साधारणतया पूर्ण रोजगार वाली विश्व

1 "The popular belief that a country surrounded by a ring of hostile tariff walls cannot maintain her balance of payments in equilibrium is so primitive that we can pass it by —Haberler • cit, p 250

सित अर्थ-व्यवस्था के लिए स्वतन्त्र व्यापार अधिक लाभदायक हो सकता है, जबकि अपूर्ण रोज-गार वाली अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए सरक्षण की नीति ही उचित है।

सरक्षण के विरुद्ध तर्क

उपर्युक्त परिस्थितियाँ न होने पर सरक्षण की नीति अपनाने से अनेक हानियाँ अथवा कुप्रभाव भी सम्भव होते हैं। टाइबर डि साइटोवस्की (Tibor De Scitovszky) के अनुसार, "जैसे ही तट-कर दीवारें ऊँची उठती हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कमी आती है, प्रत्येक देश का व्यापार कम देशो के साथ हो जाता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आणविक स्वरूप नष्ट हो जाता है और प्रतिकार का भय व्यापक रूप से वास्तविकता ग्रहण करता है।"[1] सरक्षण के विरुद्ध, मुख्य रूप से, निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं

1. सरक्षण के कारण विदेशी व्यापार मे कमी आती है, चूँकि आयातो का भुगतान निर्यातो द्वारा ही किया जाता है, आयात कम होने पर निर्यात गिर जाते हैं तथा विदेशी व्यापार की मात्रा कम हो जाती है।
2. सरक्षण अधिकतम सामाजिक उत्पादन (social product) मे बाधक होता है, क्योकि इससे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन मे कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। साधनो की गतिशीलता मे रुकावटें पैदा होती हैं जिसके परिणामस्वरूप साधनो का वितरण अस्वाभाविक तरीके से होता है, तथा उत्पादन गिर जाता है।
3. अकुशल तथा दुर्बल उद्योगो के निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है, जो सरक्षण के अभाव मे अपने पैरो पर खडे होने मे असमर्थ होते हैं।
4. सरक्षण के कारण अर्थ-व्यवस्था म असन्तुलन (disequilibrium) की स्थिति उत्पन्न होती है। सरक्षण प्राप्त करने वाले उद्योगो मे अन्य उद्योगो म लगे हुए साधन आकर्षित होकर आने लगते है जिसके परिणामस्वरूप, जैसा कि हैबरलर ने लिखा है, 'सरक्षित उद्योग म उत्पादन मे होने वाली वृद्धि की अपेक्षा अन्य उत्पादन अधिक घट जाता है।"[2]
5. सरक्षण से उपभोक्ता एव अरक्षित उद्योगों को हानि होती है, क्योकि आयात-करो के कारण सस्ता विदेशी माल बाजार म नही मिलता तथा सरक्षित उद्योग ऊँची कीमते वसूल करने लगते हैं।
6. विदेशी प्रतियोगिता के समाप्त हो जाने से स्वदेशी उत्पादक लापरवाह हो जाते हैं। वे औद्योगिक कार्य कुशलता मे सुधार के लिए प्रयत्न नही करते, वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा आधुनीकरण की उपेक्षा करते है। उनमे सुस्ती आ जाती है और वे उन्नति नही कर पाते।
7. किसी उद्योग को एक बार सरक्षण देने पर उसे वापस लेना बहुत कठिन होता है, क्योंकि य उद्योग निरन्तर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि सरकार सरक्षण को वापस न ले, और इसके लिए वे अनुचित साधनो का भी प्रयोग करते है।
8. सरक्षण से एकाधिकारी सघो (monopoly organizations) की स्थापना को प्रोत्साहन मिलता है। अधिक लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से ये सघ उपभोक्ताओं तथा श्रमिकों का शोषण करते हैं।
9. सरक्षण से समाज मे धन के वितरण मे असमानता बढ़ती है। पूँजीपति और अधिक अमीर हो जाते है, जबकि कीमतो मे वृद्धि के कारण गरीबों पर भार बढ जाता है।

---

1 "As tariff walls mount and international trade dwindles, the number of countries each country trades with will diminish That will tend to destroy the atomistic nature of international trade and lend increasing reality to the danger of retaliation. —Tibor De Scitovszky *'Theory of Tariffs'* in *Readings in the International Trade*, p. 377.

2 "The decrease in production elsewhere is greater than the increase of production in the protected industry" —Haberler *op cit*, p 246

10 सरक्षण राजनीतिक भ्रष्टाचार का प्रेरक है । जिन उद्योगो को सरक्षण मिल जाता है वे इसे बनाये रखने के लिए सत्तारूढ दलो के नेताओ तथा ससद सदस्यो आदि को परोक्ष रूप से रिश्वत देते हैं । जिन उद्योगों को सरक्षण नही मिल पाता वे इसे पाने की लालसा मे शासक दल को प्रभावित करने के अनुचित तरीके अपनाते है ।

11 सरक्षण से राष्ट्रो मे परस्पर तनाव बढता है । बढता हुआ मनमुटाव तथा 'शीत युद्ध' (cold war) का वातावरण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए घातक होता है ।

वास्तव मे, अविकसित अथवा विकासशील देशो मे अपने उद्योग स्थापित करने के लिए सरक्षण की नीति अपनाना अनिवार्य हो जाता है, भले ही इसके कुछ दोष भी हो । विकसित राष्ट्र भी आर्थिक राष्ट्रवाद की भावना से प्रेरित होकर सरक्षण की नीति अपनाना आवश्यक समझते है । सरक्षण के बहुत सारे दोषो से बचा जा सकता है, यदि सरक्षण केवल उन्ही उद्योगो को दिया जाय जिनका विकास सरक्षण के बिना सम्भव न हो, जो आधारभूत उद्योग हो, तथा जिनके विकास के लिए देश मे यथेष्ट साधन उपलब्ध हो । इसके साथ-साथ सरक्षित उद्योगो की समय-समय पर जाँच करते रहना चाहिए और स्थिति अनुकूल होने पर उन्हे हटा लेना चाहिए । इस प्रकार विवेचनात्मक तथा अस्थायी सरक्षण के भी लाभ प्राप्त होते है और स्वतन्त्र व्यापार के भी ।

संरक्षण की रीतियाँ

देश मे औद्योगिक विकास के प्रोत्साहन तथा विदेशी माल के आयात को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से अपनायी गयी सरक्षण-नीति की विविध रीतियाँ (methods of protection) निम्नलिखित है

(1) **आयात प्रशुल्क** (Import Duties or Tariffs)—सरक्षण की सबसे प्राचीन तथा प्रचलित रीति यही है । इसके अन्तर्गत एक प्रशुल्क सारणी (Tariff Schedule) बना ली जाती है जिसमे सभी आयात करो का उल्लेख रहता है । आयात की गयी वस्तु की मात्रा पर लगाया गया कर अथवा प्रशुल्क परिमाण-कर (specific duty) कहलाता है, और जब इसे वस्तु के मूल्य के आधार पर लगाया जाता है तो इसे यथा मूल्य-कर (ad-valorem duty) कहते है ।

प्रशुल्क कई प्रकार के होते हैं—(1) **समान कर प्रणाली** (Unilinear or Single Column Tariff System), जिसके अन्तर्गत सभी देशो की समान वस्तुओ पर प्रशुल्क समान दर से लगाये जाते हैं, (2) **सामान्य या परम्परागत प्रशुल्क प्रणाली** (General or Conventional Tariff System), जिसके अन्तर्गत विशेष सन्धियो अथवा परम्पराओ वाले देशो को छोडकर अन्य सब देशो के लिए समान प्रशुल्क लगाये जाते हैं, (3) **अधिकतम एवं न्यूनतम प्रशुल्क प्रणाली** (Tariff System with Maximum or Minimum Rates), जिसमे विशेष समझौतो वाले देशो के लिए न्यूनतम तथा अन्य देशो के लिए अधिकतम दरो की व्यवस्था की जाती है, तथा (4) **विशेषाधिकारी प्रशुल्क प्रणाली** (Preferential Tariff System), जिसके अन्तर्गत घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित देशो के लिए प्रशुल्क सम्बन्धी विशेष रियायते अथवा छूटें दी जाती हैं ।

(2) **वैधानिक निषेध** (Legal Prohibitions)—कभी-कभी कुछ विशेष परिस्थितियो मे सरकार कानून द्वारा कुछ वस्तुओ के आयात अथवा निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देती है । 19वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे पाश्चात्य यूरोपीय देशो ने इसी रीति के द्वारा अपने उद्योगो को सरक्षण दिया था । प्रथम महायुद्ध काल तथा उसके पश्चात इस रीति को व्यापक रूप से अपनाया गया । आधुनिक काल मे व्यापार-नियन्त्रण की रीति के रूप मे अनेक देश इसे अपनाये हुए हैं ।

(3) **आयात अभ्यश** (Import Quotas)—इसके अन्तर्गत एक दी हुई अवधि के भीतर विभिन्न वस्तुओ के आयात का परिमाण निर्धारित कर दिया जाता है । **विभाजन कोटा** (allocated quota) के अन्तर्गत उन्ही देशो से और उतनी ही मात्राओ मे आयात किया जा सकता है जिसे सरकार ने तय कर दिया है, परन्तु **विश्व कोटा** (global quota) प्रणाली के अन्तर्गत निश्चित सीमा तक माल विश्व के किसी भी देश से मंगाया जा सकता है । द्वितीय महायुद्ध काल मे तथा इसके बाद कोटा प्रणाली का प्रयोग काफी अधिक हुआ है । भारत मे भी इसे अपनाया

गया है, और भारत की आयात-नीति की घोषणा में विभिन्न वस्तुओं की आयात की मात्रा स्पष्ट की जाती है।

(4) **लाइसेन्स प्रणाली** (Licence System)—लाइसेन्स प्रणाली अभ्यंश अथवा कोटा प्रणाली का ही एक विशिष्ट रूप है। इसके अन्तर्गत आयात केवल उन्हीं वस्तुओं का तथा उतनी ही मात्रा में किया जा सकता है जिसके लिए सरकार ने कुछ गिने-चुने व्यापारियों को लाइसेन्स दिये हैं। किस वस्तु को कितनी मात्रा में तथा किस के द्वारा आयात किया जाय, इसका निर्णय सरकार द्वारा ही किया जाता है।

(5) **आर्थिक सहायता** (Bounties and Subsidies)—किसी विशेष उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार उसे अनुदानों, विशेष छूटों, ऋणों आदि के रूप में आर्थिक सहायता देती है। इसके फलस्वरूप सहायता-प्राप्त उद्योगों की उत्पादन-लागत कम हो जाती है तथा वे आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में विदेशी माल से स्पर्धा कर सकते हैं।

(6) **भेदपूर्ण परिवहन-दरें** (Discriminating Freight Rates)—आयातकर्ता देश के परिवहन साधन अपने होने पर भेदपूर्ण परिवहन-दरों के द्वारा वह आयातों पर ऊँची परिवहन-दर तथा निर्यातों पर नीची दर लेकर आयातों को हतोत्साहित तथा निर्यातों को प्रोत्साहित कर सकता है।

(7) **विदेशी माल का बहिष्कार** (Boycott of Foreign Goods)—राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की भावनाओं से प्रेरित होकर कभी कभी विदेशी माल का बहिष्कार कर दिया जाता है। इससे स्वदेशी उद्योगों को स्वाभाविक संरक्षण मिल जाता है।

(8) **राजकीय व्यापार** (State Trading)—विदेशी व्यापार के राष्ट्रीयकरण द्वारा सरकार सम्पूर्ण विदेशी व्यापार अपने हाथ में ले लेती है और देश की आवश्यकताओं के अनुसार ही आयात करती है, जिसके फलस्वरूप वांछित उद्योगों को यथोचित संरक्षण मिल जाता है।

(9) **विनिमय-नियन्त्रण** (Exchange Control)—विदेशी मुद्रा की उपलब्धि को नियन्त्रित करने से भी आयात की मात्रा नियन्त्रित की जा सकती है। विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न रीतियाँ आयातों को प्रतिबन्धित करने की विधि के रूप में बहुत प्रभावशाली मानी जाने लगी हैं।

(10) **अवमूल्यन** (Devaluation)—अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर देने से अर्थात् इसका विदेशी मुद्रा में मूल्य गिरा देने से देश के निर्यात विदेशों में सस्ते और विदेशों से आयात महँगे पड़ते हैं। इससे निर्यात बढ़ते हैं तथा आयात कम हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप स्वदेशी उद्योगों को विकास का अवसर मिल जाता है।

संरक्षण की श्रेष्ठ रीति

यह कहना बहुत कठिन है कि संरक्षण की कौनसी रीति सबसे अच्छी है। प्रत्येक प्रणाली में अपने-अपने गुण तथा दोष हैं। अन्य रीतियों की अपेक्षा आयात प्रशुल्क तथा अभ्यंश एवं लाइसेन्स प्रणालियों का प्रयोग अधिक किया जाता है। आयात प्रशुल्क से स्वदेशी उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन तो मिलता है किन्तु यह आशंका बनी रहती है कि कहीं अन्य देश भी प्रतिकारात्मक प्रशुल्क न लगा दें। अभ्यंश रीति का भी गलत प्रयोग होने की सम्भावना बनी रहती है। लाइसेन्स देने में व्यापारियों के चुनाव के सम्बन्ध में हैबरलर ने लिखा है, "चुनाव का सिद्धान्त 'व्यवसाय में कुशलता' नहीं होता। इसके विपरीत, जब अभ्यंश प्रणाली लागू हुई उस समय जो वस्तु का आयात कर रहे हों अथवा जिनका प्रभाव सबसे अधिक हो या जिनके पास रिश्वत देने की सबसे अधिक कुशलता हो, वे ही लोग चुने जाते हैं।"[1] उद्योगों को आर्थिक सहायता भी सीमित मात्रा में ही दी जा सकती है। अन्य रीतियाँ अपनाने से भी विदेशों में प्रतिक्रिया होने की आशंका रहती

---

1 "The import licenses may be distributed, especially if the good is a consumer's good, among traders Skill in trading ceases to be a principle of selection. Instead, those who happened to be importing the good when the quota system came into force, or those with the most influence or the greatest skill in bribing, are the ones selected."—Haberler *Theory of International Trade*, p. 348

है तथा आपसी मनमुटाव की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। यदि आयात कम होने पर देश के निर्यात भी कम हो जाएँ तो संरक्षण की नीति का प्रभाव ही समाप्त हो जाता है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए संरक्षण की किसी रीति को सबसे अच्छा नहीं कहा जा सकता। बहुत कुछ तो किसी देश की वास्तविक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। संरक्षण की नीति को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए प्राय: एक साथ कई रीतियों का प्रयोग करना पड़ता है। वास्तविकता यह है कि संरक्षण की प्रत्येक रीति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा सद्भावना के विरुद्ध होती है, परन्तु फिर भी वर्तमान युग में कोई भी देश संरक्षण की नीति का परित्याग करके स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अनुसरण नहीं करना चाहता।

भारत की प्रशुल्क-नीति

भारत में ब्रिटिश सरकार ने दीर्घकाल तक स्वतन्त्र-व्यापार की नीति का ही अनुसरण किया, जिसका भारत के व्यापार तथा उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता रहा। सन् 1882 से 1894 तक तो आयात-निर्यात करों का प्रयोग बिलकुल नहीं किया गया। इसके पश्चात जब कभी सरकार की आय के उद्देश्य से थोड़े से आयात कर लगाये गये तो इनका संरक्षणात्मक प्रभाव समाप्त करने के लिए उसी दर पर भारत में उत्पादन-कर (excise duty) भी लगा दिये गये। प्रथम महायुद्ध के बाद बदलती हुई परिस्थितियों ने भारत में ब्रिटिश सरकार को भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने की सम्भावनाओं पर विचार करने के लिए विवश कर दिया। 7 अक्टूबर, 1921 को एक तट-कर आयोग (Fiscal Commission) नियुक्त किया गया। इसका कार्य यह था कि यह सभी हितों को ध्यान में रखते हुए देश की तट-कर नीति निर्धारित करे और शाही प्राथमिकता (Imperial Preferences) के सिद्धान्त के औचित्य पर विचार करे। इस आयोग ने भारत में 'विभेदात्मक संरक्षण' (discriminating protection) की नीति अपनाने की सिफारिश की।

विभेदात्मक संरक्षण

विभेदात्मक, जिसे विवेचनात्मक अथवा पक्षपातपूर्ण भी कहा जा सकता है, संरक्षण नीति का अर्थ यह है कि सभी उद्योगों को संरक्षण न देकर केवल उन्हीं उद्योगों को संरक्षण दिया जाय जो कुछ विशेष शर्तों को पूरा करते हों। तट-कर आयोग ने एक त्रिवर्गी सूत्र (triple formula) सुझाया जिसके आधार पर संरक्षण प्रदान करने के योग्य उद्योगों को चुना जा सकता था। ये शर्तें इस प्रकार थीं

1. उद्योग ऐसा होना चाहिए जिसके लिए देश में पर्याप्त प्राकृतिक साधन, जैसे कच्चा माल, पर्याप्त मात्रा में श्रम तथा शक्ति के साधन, विस्तृत घरेलू बाजार उपलब्ध हों,
2. उद्योग ऐसा होना चाहिए जिसका विकास बिना संरक्षण के सम्भव ही न हो अथवा *उसके विकास की गति बहुत मन्द हो, तथा*
3. उद्योग ऐसा होना चाहिए जो अन्त में बिना संरक्षण के भी विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सके अर्थात् कालान्तर में जिसे संरक्षण की आवश्यकता न रहे।

उक्त तीन शर्तों के अतिरिक्त आयोग ने कुछ और भी सुझाव दिए। यह कहा गया कि आधारभूत उद्योगों व सुरक्षा के लिए आवश्यक उद्योगों को संरक्षण दिया जाय, बड़े पैमाने पर उत्पादन करने में भिन्न उद्योगों में उत्पादन-लागत घटती हो उन्हें भी संरक्षण दिया जाय, जहाजी भाड़े की कमी, राशिपातन, अनुचित लाभ, आर्थिक सहायता प्राप्त आयात आदि के मामलों की जाँच की जाय।

1923 में सरकार द्वारा विभेदात्मक संरक्षण का सिद्धान्त मान लिया गया और इसे कार्यान्वित करने के उद्देश्य से एक वर्ष के लिए एक तट-कर बोर्ड (Tariff Board) की स्थापना की गयी। आयोग ने स्थायी बोर्ड की स्थापना की सिफारिश की थी, परन्तु सरकार ने अस्थायी बोर्ड ही स्थापित किये।

विभेदात्मक संरक्षण-नीति में अनेक त्रुटियाँ थीं तथा देश के अर्थशास्त्रियों और उद्योगपतियों ने इसकी कटु आलोचना की। इसकी मुख्य आलोचनाएँ ये थीं :

1 त्रिशर्ती सूत्र (triple formula) की पहली दो शर्तें विरोधात्मक समझी गयी। पर्याप्त मात्रा में प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध होने पर संरक्षण की आवश्यकता नहीं होती। दूसरी शर्त—उद्योग ऐसा हो जो बिना संरक्षण के पनप न सके—वही उद्योग पूरा कर सकता है जो प्रथम शर्त को पूरा न करता हो। वास्तव में, प्राकृतिक सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने पर कोई उद्योग बिना संरक्षण के ही विकास कर सकता है।
2 संरक्षण प्रदान करने की शर्तें कड़ी थी और उनका कठोरता एवं अनुदारतापूर्वक पालन किया गया।
3 संरक्षण सम्बन्धी एक सीमित दृष्टिकोण अपनाया गया। इसे आर्थिक विकास के एक साधन के रूप में नहीं बल्कि विदेशी प्रतियोगिता से बचने के एक साधन के रूप में देखा गया।
4 संरक्षण की नीति केवल चालू उद्योगों पर ही लागू की गयी। नये उद्योगों को संरक्षण का आश्वासन नहीं दिया गया।
5 तट-कर बोर्ड अस्थायी होते थे तथा उनके अधिकार सीमित थे।
6 सरकार का रवैया असहानुभूतिपूर्ण था तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव था।

यह ठीक है कि विभेदात्मक संरक्षण नीति दोषपूर्ण थी, परन्तु इसके अन्तर्गत संरक्षण प्राप्त उद्योगों ने सन्तोषजनक प्रगति की। लोहा तथा इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, कागज उद्योग तथा कृत्रिम रेशम उद्योग को संरक्षण मिला और इन उद्योगों ने काफी प्रगति की। इन उद्योगों पर मन्दी का प्रभाव नहीं पड़ा। इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि हुई। इन उद्योगों के साथ सहायक उद्योगों का भी विकास हुआ। परिणामस्वरूप देश में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रोजगार की मात्रा में वृद्धि हुई और अर्थ व्यवस्था को बल मिला।

द्वितीय युद्धकाल में सरकार की कठोर आयात-नीति के कारण उद्योगों को एक स्वाभाविक संरक्षण मिल गया था, तथापि 1940 में घोषणा की गयी कि जो उद्योग दृढ़ व्यापारिक नीति पर चलेंगे उन्हें भली-भाँति संरक्षण प्रदान किया जायेगा। 1945 में संरक्षण-नीति की पुनः घोषणा की गयी और दो वर्ष के लिए एक अन्तरिम तट कर बोर्ड (Interim Tariff Board) की नियुक्ति की गयी। अन्तरिम बोर्ड ने कुछ नये उद्योगों को संरक्षण अवश्य प्रदान किया, परन्तु इसने किसी प्रगतिशील दृष्टिकोण को न अपनाकर पुरानी विभेदात्मक नीति को ही अपनाये रखा। *1947 में अन्तरिम बोर्ड की अवधि तीन वर्ष के लिए बढ़ा दी गयी।*

इस प्रकार विभेदात्मक संरक्षण की नीति, जो दो महायुद्धों के बीच की अवधि में और कुछ परिवर्तित रूप में बाद में चलती रही, केवल सीमित रूप में ही सफल रही और स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक इसे अपर्याप्त तथा दोषपूर्ण समझा जाता रहा।

नवीन प्रशुल्क नीति

20 अप्रैल, 1949 को टी० टी० कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में द्वितीय तट-कर आयोग (Fiscal Commission) की नियुक्ति की गयी, जिसे निम्न बातों पर सिफारिशें देनी थी (1) उद्योगों को संरक्षण या सहायता देने के सम्बन्ध में भावी सरकारी नीति एवं संरक्षण अथवा सहायता प्राप्त उद्योगों की जिम्मेदारियाँ, (2) नीति को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक मशीनरी, तथा (3) नीति को प्रभावशाली बनाने वाली कोई अन्य बात। आयोग ने जुलाई 1950 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस आयोग ने राष्ट्रीय दृष्टिकोण को सामने रखते हुए संरक्षण के विकासात्मक पक्ष को प्राथमिकता देने के उद्देश्य से बहुमुखी औद्योगिक विकास पर बल दिया।

संरक्षण के लिए महत्व के दृष्टिकोण से आयोग ने उद्योगों को तीन भागों में बाँट दिया (1) **प्रतिरक्षा सम्बन्धी उद्योगों** को राष्ट्रीय महत्व की दृष्टि से संरक्षण दिया जाय, चाहे इसका जनता पर कितना ही भार पड़े, (2) **आधारभूत उद्योगों** (Basic Industries) को भी संरक्षण दिया जाय, संरक्षण की मात्रा एवं स्वरूप टैरिफ बोर्ड द्वारा निश्चित किया जाय, और इन उद्योगों

की प्रगति की समय-समय पर जाँच हो, (3) अन्य उद्योग जिनको योजना में उच्च स्थान प्राप्त हो तथा जो आधारभूत उद्योगों के सहायक अथवा पूरक हों, उनको भी संरक्षण दिया जाय, और टैरिफ बोर्ड इसका निश्चय इस आधार पर करे कि उस उद्योग की वास्तविक व सम्भावित लागत क्या होगी, उसका क्या लाभ होगा, और राष्ट्रीय हित में उसे संरक्षण प्रदान करना कहाँ तक आवश्यक है। आयोग ने सुझाव दिया कि संरक्षण प्रदान करते समय निम्नलिखित शर्तों को ध्यान में रखा जाय :

1. संरक्षण प्रदान करने के लिए कच्चे माल की स्थानीय उपलब्धता पर जोर न दिया जाय, यदि उद्योग को श्रम उपलब्धि एवं आन्तरिक बाजार की सुविधाएँ प्राप्त हों।
2. उस उद्योग के लिए यह शर्त न हो कि विकसित होने पर वह सम्पूर्ण माँग को पूरा कर सकेगा।
3. उस उद्योग की भावी निर्यात की सम्भावनाओं का भी ध्यान रखा जाय।
4. संरक्षित उद्योगों द्वारा तैयार किये गये माल का कच्चे माल के रूप में प्रयोग करने वाले उद्योगों को क्षतिपूरक संरक्षण (compensating protection) दिया जाय।
5. नये उद्योगों को जिनमें बहुत बड़ी पूँजी लगाने की आवश्यकता हो, संरक्षण प्रदान किये जायें।
6. राष्ट्रीय-हित में आवश्यकता पड़ने पर कृषि-पदार्थों को भी संरक्षण दिया जाय।
7. संरक्षित उद्योगों पर यथासम्भव सरकार को उत्पादन-कर (excise duties) नहीं लगाने चाहिए।

औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से आयोग ने यह सिफारिश की कि संरक्षण-करों से प्राप्त होने वाली आय का कुछ भाग प्रति वर्ष विकास-कोष (Development Fund) में जमा किया जाय और इसका उपयोग कुछ विशेष प्रकार के उद्योग-धन्धों को सहायता देने के लिए किया जाय। साधारणतः उद्योग-धन्धों को दीर्घकाल के लिए संरक्षण दिया जाय। सरकार को यथासम्भव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेशी माल की तुलना में स्वदेशी माल को प्राथमिकता देनी चाहिए। संरक्षित उद्योगों के प्रयोग में आने वाले कच्चे माल की कीमतें, आवश्यक होने पर, सरकार द्वारा निर्धारित कर दी जायें।

आयोग ने संरक्षण प्राप्त करने वाले उद्योगों के कुछ कर्तव्य अथवा दायित्व (obligations) भी निर्धारित किये उनके उत्पादन का पैमाना निरन्तर बढ़ना चाहिए, उनकी उत्पादित वस्तुएँ निश्चित किये गये गुणों (quality) के अनुसार हों, वे नवीनतम मशीनों व पद्धतियों का प्रयोग करें, वे शोध एवं कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करें, यथासम्भव स्थानीय कच्चे माल का प्रयोग करें तथा समाज-विरोधी कार्य न करें।

इस आयोग की एक महत्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि एक स्थायी तट-कर बोर्ड (Tariff Commission) की नियुक्ति की जाय जो औद्योगिक मूल्यों, संरक्षण के प्रभावों, संरक्षण-करों एवं संरक्षण से उत्पन्न होने वाले अन्य प्रश्नों की जाँच करे। यह बोर्ड अर्द्ध-न्यायिक (quasi-judicial) ढंग से कार्य करे और इसे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हों।

भारत सरकार ने कृष्णमाचारी आयोग की लगभग सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए 1952 में टैरिफ कमीशन नियुक्त कर दिया गया। गत वर्षों में नवीन सिद्धान्तों के आधार पर नये-नये उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया गया है। सन् 1956 के बाद आयातों पर काफी प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। संरक्षित उद्योगों ने सन्तोषजनक प्रगति की है। इनके उत्पादन में वृद्धि हुई है और उसमें विविधता आयी है। इन उद्योगों ने प्रायः लाभ ही दिखाये हैं। कई इकाइयों ने अपने आन्तरिक साधनों का विस्तार किया है और विदेशी पूँजी भी आकर्षित की है। 1966 के बाद आयात-प्रतिबन्धों में कुछ ढील दी गयी है ताकि देश के उद्योगों की निर्यात-क्षमता में वृद्धि हो सके। कई उद्योगों पर से संरक्षण उठा भी लिया गया है, क्योंकि उनकी सन्तोषजनक प्रगति हो चुकी है।

डा० वी० के० आर० वी० राव (Dr V K R V. Rao) की अध्यक्षता में सरकार ने एक समिति नियुक्त की थी, जिसका कार्य टैरिफ कमीशन के कार्यों एवं नीति की जाँच करना था। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट अक्टूबर 1967 में प्रस्तुत की। इस समिति का मुख्य सुझाव यह है कि टैरिफ कमीशन के अतिरिक्त एक ऐसी सरकारी एजेन्सी भी नियुक्त की जाय जो विभिन्न वस्तुओं के लागत-कीमत ढाँचे (cost-price structure) की जाँच करे। इस जाँच में 'शिशु' उद्योगों को भी शामिल किया जाय। किसी भी उद्योग के लिए प्रतिफल निर्धारित करते समय व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया जाय।

पिछले कुछ वर्षों से टैरिफ कमीशन के कार्य की निरन्तर आलोचना की जाती रही है। प्रशासन सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission) ने तो यह सुझाव दिया है कि टैरिफ कमीशन को समाप्त करके एक ऐसे कमीशन की स्थापना की जाय जो औद्योगिक कीमतों तथा लागतों की जाँच की ओर विशेष ध्यान दे सके। यह आवश्यकता ध्यान में रखते हुए एक लागत-कीमत ब्यूरो (Bureau of Costs and Prices) की स्थापना कर दी गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सहयोग एवं समझौते

द्वितीय युद्ध के समाप्त होते ही अनेक देशों में यह भावना पायी गयी कि उन सब प्रतिबन्धात्मक नीतियों को समाप्त कर दिया जाय जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में बाधक हो रही हों। एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (International Trade Organisation) की स्थापना के उद्देश्य से 1947 में एक सम्मेलन जेनेवा में हुआ तथा दूसरा सम्मेलन 1948 में हवाना में हुआ। हवाना सम्मेलन में एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चार्टर (International Trade Charter) तैयार किया गया, जो हवाना चार्टर (Hawana Charter) के नाम से प्रसिद्ध है। इस चार्टर का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर परिमाणात्मक प्रतिबन्ध तथा विनिमय-नियन्त्रणों को समाप्त करके प्रत्येक देश को व्यापारिक क्षेत्र में समानता का अधिकार देना था। चार्टर में प्रत्येक देश को प्रत्येक देश द्वारा परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार (most favoured nation treatment) देने की व्यवस्था की गयी थी ताकि पूर्ण विश्व में वस्तुओं का निरन्तर प्रवाह होता रहे। भारत ने भी इस चार्टर पर हस्ताक्षर किये थे। दुर्भाग्यवश इसे बहुत कम देशों द्वारा स्वीकृति मिली और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की स्थापना का स्वप्न साकार न हो सका।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उदारता की नीति को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से सन् 1947 में जेनेवा में व्यापार एवं प्रशुल्क-विषयक सामान्य समझौता (General Agreement on Tariffs and Trade) की रूपरेखा तैयार की गयी, जिसे 'गैट' (GATT) के नाम से जाना जाता है। यह समझौता, जिसमें 23 राष्ट्र सम्मिलित थे, 1948 से व्यवहार में लाया गया। इसमें सम्मिलित राष्ट्रों की वर्तमान संख्या 80 है। भारत इसमें प्रारम्भ से ही सम्मिलित रहा है। इस समझौते का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के मार्ग की रुकावटों को हटाना, पक्षपातपूर्ण रीतियों को समाप्त करना, आयात-प्रशुल्कों में कमी करना तथा ऐसी व्यवस्था करना है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सभी देशों को पारस्परिक लाभ प्राप्त हों।[1] मुख्य रूप से यह समझौता चार सिद्धान्तों पर आधारित है (1) व्यापार की दृष्टि से कुछ देशों के साथ पक्षपात न करके सभी देशों के साथ समान रूप से परमानुग्रहित राष्ट्र का व्यवहार (most favoured nation treatment) करना, (2) आयात-प्रशुल्क (tariffs) के अतिरिक्त संरक्षण की कोई अन्य नीति न अपनाना, अर्थात् व्यापार के परिमाण पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध न लगाना, (3) अन्य किसी सदस्य-राष्ट्र के व्यापारिक हितों को आघात न पहुँचाना, तथा (4) अन्त-

---

1 The GATT is an inter governmental instrument providing for rights and obligations in the field of commercial policy Its principle objective is to promote the expansion of international trade through reciprocal and mutually advantageous agreements directed towards the reduction of customs, tariffs and other barriers to trade and the elimination of discriminatory practices '—Lacarte, J A · *'GATT and the Expansion of Trade of Less Developed Countries'* in *Foreign Trade Review*, July–Sept 1966, p. 146

र्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा डालने वाले प्रतिबन्धों को हटाने तथा प्रशुल्क-दरों को कम करने के लिए व्यवस्था करना।

यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गैट (GATT) द्वारा निर्धारित नियम काफी लोचपूर्ण हैं और इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि सदस्यों के विरोधी हितों में सामंजस्य स्थापित किया जा सके। 1955 में यह स्वीकार कर लिया गया कि सदस्य देशों द्वारा औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रशुल्क-दरों को लोचपूर्ण रखा जा सकता है तथा अपने भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में सुधार अथवा आर्थिक विकास की गति बढ़ाने के उद्देश्य से आयातों पर परिमाणात्मक प्रतिबन्ध (quantitative restrictions) भी लगाये जा सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार सम्बन्धी किसी भी समझौते अथवा व्यवस्था के प्रभावपूर्ण होने के लिए यह आवश्यक है कि कम विकसित देशों के व्यापार सम्बन्धी हितों की रक्षा की जाय। ऐसी व्यवस्था का होना आवश्यक है कि ये देश अपने निर्यात बढ़ा सकें और इसके लिए उन्हें विकसित देशों का सहयोग मिले। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि इन देशों पर ऐसी कोई पाबन्दी न लगायी जाय कि ये भी विकसित देशों को वैसी ही सुविधाएँ दें जैसी कि इन्हें उनसे प्राप्त हैं। यदि विकसित देश कम विकसित देशों के निर्यातों पर कम प्रशुल्क-दरें लगायें तभी यह सम्भव हो सकता है कि इनके निर्यात बढ़ें तथा उसके बदले में ये विकसित देशों से माल आयात कर सकें।

गैट (GATT) के अन्तर्गत कम विकसित देशों के व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए किये गये प्रयासों में सबसे महत्वपूर्ण **'कैनेडी राउण्ड समझौता' (Kennedy Round Agreement)** है जो अमेरिका के भूतपूर्व प्रेसीडेण्ट स्वर्गीय श्री कैनेडी की दूरदर्शिता तथा सूझ-बूझ की यादगार है। 1963 के इस समझौते के अन्तर्गत इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है कि विकसित देश कम विकसित देशों से आयात की गयी सभी प्रकार की वस्तुओं, कृषि अथवा गैर-कृषि उत्पादन पर टैरिफ कम करें तथा आयात-प्रतिबन्ध हटायें ताकि कम विकसित देशों के आयात बढ़ सकें। इन रियायतों के बदले कम विकसित देशों द्वारा भी ऐसी ही रियायतें विकसित देशों को देना आवश्यक नहीं है।

व्यावहारिक रूप में, गैट (GATT) के सभी प्रयास कम विकसित देशों की समस्याओं को सुलझाने में असफल रहे हैं और इन देशों में यह भावना पायी गयी है कि गैट एक 'अमीर देशों की संस्था' (Rich Nations Club) है। समाजवादी देश तो प्रारम्भ से ही इससे अलग रहे हैं। इस समझौते की आड़ में पश्चिम के विकसित देशों ने अपने निर्यात बढ़ाये हैं, परन्तु अनेक समझौतों के बावजूद ये देश आयातों पर से प्रतिबन्ध नहीं हटाना चाहते हैं जिसका मुख्य कारण उनका संरक्षण की नीति के प्रति लगाव है। टैरिफ दरों में भी जो कुछ रियायतें कम विकसित देशों को मिल पायी हैं, वे पूर्णतया अपर्याप्त हैं। विकसित देशों की असहयोग की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कम विकसित देशों का भाग निरन्तर घटता गया है। औद्योगीकरण तथा आर्थिक विकास की योजनाएँ पूरी करने के लिए आयातों पर निर्भरता बढ़ी है, जबकि उत्पादन में वृद्धि हो जाने पर भी निर्यातों में वृद्धि करना सम्भव नहीं हो पाया है। व्यापार-सन्तुलन तथा भुगतान सन्तुलन कम विकसित देशों के प्रतिकूल हो गये हैं। क्या संसार के दो-तिहाई देशों के हितों की अवहेलना करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा सद्भावना को स्थापित किया जा सकता है? क्षेत्रीय आधार पर कुछ देशों के आपसी व्यापारिक संगठन, जैसे—यूरोपियन कॉमन मार्केट (*European Common Market*), यूरोपियन फ्री ट्रेड एसोसिएशन (European Free Trade Association) तथा लैटिन अमरिका के सात देशों का स्वतन्त्र व्यापार-क्षेत्र (Free Trade Area) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विकास के मार्ग में बहुत अधिक बाधक हैं।

वर्तमान परिस्थितियों ने कम विकसित देशों को बाध्य कर दिया है कि अपने हितों की रक्षा के लिए वे सगठित होकर प्रयास करें। इसी भावना से प्रेरित होकर अन्तर्राष्ट्रीय संघ के अन्तर्गत 1964 में (23 मार्च से 16 जून तक) जेनेवा में संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मे-

लन (United Nations Conference on Trade and Development—UNCTAD) किया गया। इस सिद्धान्त को मान्यता दी गयी कि विश्व की आर्थिक समस्याओं के हल के लिए राष्ट्रों में परस्पर सहयोग का होना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में ऐसे वातावरण की आवश्यकता है कि विकासशील देश विनिर्मित दशों को अधिक मात्रा में माल निर्यात कर सकें। इस सम्मेलन में सम्मिलित होने वाले अधिकांश देशों ने 15 सिद्धान्तों को स्वीकार किया, परन्तु अमेरिका ने इसमें से 9 तथा इंगलैण्ड ने 5 सिद्धान्त स्वीकार नहीं किये।

जनेवा में हुए UNCTAD I सम्मेलन के पश्चात यह तय हुआ कि UNCTAD II सम्मेलन नई दिल्ली में फरवरी 1968 में हो। इसके पूर्व अक्टूबर 1967 में 86 विकासशील देश (जिन्हें 77 का समूह (Group of 77) कहा जाता है, क्योंकि 1964 में विकासशील देशों की एक सम्मिलित घोषणा पर 77 देशों ने हस्ताक्षर किये थे) एलजियर्स (Algiers) में इकट्ठे हुए ताकि वह UNCTAD II के लिए एक नीति निर्धारित कर लें। एलजियर्स सम्मेलन में मुख्य रूप से यह तय हुआ कि विकसित देशों से अधिक मात्रा में आर्थिक सहायता की मांग की जाय तथा उनसे कहा जाय कि वे विकासशील देशों से आयात किये गये निर्मित तथा अर्द्ध-निर्मित माल से प्रतिबन्ध तथा टैरिफ हटा लें।

भारत में UNCTAD II सम्मेलन 1968 में 58 दिनों तक हुआ। विकसित देशों के सामने अनेक प्रस्ताव रखे गये। समाजवादी देशों के विचार सामान्यतया विकासशील देशों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण थे परन्तु पश्चिमी विकसित देशों का व्यवहार सतर्कता तथा असहयोग का था। बड़े देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्त को तो स्वीकार किया परन्तु इसको व्यावहारिक रूप देने के लिए किसी भी ठोस नीति को तत्काल अपनाने की सहमति प्रकट नहीं की। दिल्ली सम्मेलन का महत्व अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की यात्रा के एक पड़ाव के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है।

विश्व का भविष्य बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि आने वाले वर्षों में विकसित देश संसार की दो तिहाई जनसंख्या वाले गरीब देशों के प्रति क्या दृष्टिकोण अपनाते हैं। यदि गरीब और अमीर देशों के अन्तर बढ़ते गये तो भविष्य अन्धकारमय हो सकता है। वास्तव में, आवश्यकता इस बात की है कि संसार के विकसित देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न करें कि कम विकसित देश भी औद्योगिक विकास कर सकें। वे व्यापारिक संरक्षण एवं तटकर की दीवारों को हटायें ताकि कम विकसित देशों में निर्मित औद्योगिक पदार्थ विकसित देशों में प्रवेश पा सकें।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. 'विभिन्न देशों के बीच अधिकतम स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष का आर्थिक तर्क एक अखण्डनीय सामान्य सिद्धान्त पर आधारित है परन्तु संरक्षण के पक्ष वाले तर्क विशेष परिस्थितियों पर आधारित हैं तथा इनमें से अनेक अनार्थिक हैं।' विवेचन कीजिए।

   [संकेत प्रथम भाग में यह स्पष्ट कीजिए कि स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पर आधारित है तथा इसके पक्ष में तर्क दीजिए। दूसरे भाग में संरक्षण के पक्ष में अनार्थिक तथा आर्थिक तर्कों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

2. संरक्षण के पक्ष तथा विपक्ष में क्या तर्क दिये जाते हैं? इनकी आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।

   [संकेत पहले संरक्षण के पक्ष में तथा बाद में संरक्षण के विपक्ष में दिये गये तर्क समझाइए और साथ में विभिन्न तर्कों का आलोचनात्मक परीक्षण दीजिए।]

3. क्या आप संरक्षण की नीति के पक्ष में हैं? तर्कों के आधार पर समझाइए।

   [संकेत संरक्षण के पक्ष में दिये गये तर्कों की व्याख्या कीजिए तथा विपक्ष में भी तर्क दीजिए। अन्त में यह स्पष्ट कीजिए कि वर्तमान युग की विशेष परिस्थितियों में संरक्षण की नीति अपनाना, विशेषकर कम विकसित देशों द्वारा, आवश्यक हो गया है परन्तु इसे अपनाते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि इसके परिणामस्वरूप देश के निर्यात की मात्रा कम न हो जाय।]

4. संरक्षण की विभिन्न रीतियों का उल्लेख कीजिए।

   [संकेत संरक्षण प्रदान करने के विभिन्न ढंगों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

5. भारत मे सरक्षण-नीति किन सिद्धान्तों पर आधारित है ? विभेदात्मक सरक्षण की नीति को क्यों अनुपयुक्त समझा गया ?

   [सकेत : प्रथम भाग मे 1959 के तट-कर आयोग (Fiscal Commission) की सिफारिशें बताइए। दूसरे भाग मे विभेदात्मक सरक्षण-नीति की त्रुटियाँ स्पष्ट कीजिए।]

6. द्वितीय युद्ध के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिबन्धों को समाप्त करने के लिए कौन-कौनसे प्रयास किये गये हैं ? क्या इनमे सफलता मिली है ?

   [सकेत : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चार्टर, गैट (GATT), कैनेडी राउण्ड तथा UNCTAD के बारे म विस्तार पूर्वक बताइए और इनके सफल न होने के कारण भी स्पष्ट कीजिए।]

7. टिप्पणियाँ लिखिए—विभेदात्मक सरक्षण-नीति, द्वितीय तट-कर आयोग, भारतीय टैरिफ कमीशन, हवाना चार्टर, गैट (GATT), अन्कटैड (UNCTAD)।]

   [सकेत प्रत्येक से सम्बन्धित इतिहास, सिद्धान्त तथा कार्य स्पष्ट कीजिए।]

19

भारत का विदेशी व्यापार

[INDIA'S FOREIGN TRADE]

> *"शीघ्रातिशीघ्र स्वावलम्बन की उपलब्धि सुनिश्चित करने के लिए कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन की उन सभी योजनाओं को प्राथमिकता दी जायगी जो निर्यात के प्रोत्साहन तथा आयात की प्रतिस्थापना के लिए है।"*[1]
>
> —चौथी पंचवर्षीय योजना प्रारम्भिक रूपरेखा

अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि किसी देश का विदेशी व्यापार उसके आर्थिक विकास के लिए एक प्रमुख साधन है। व्यापार एवं आर्थिक वृद्धि में वस्तुत अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है क्योंकि एक की प्रगति एवं समृद्धि पर दूसरे की प्रगति एवं समृद्धि पर्याप्त मात्रा में निर्भर करती है। रॉबर्टसन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को 'विकास का इंजन (engine of growth)'[2] कहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी देश की व्यापार स्थिति, विदेशी व्यापार की रचना (composition) तथा दिशाएँ (directions) उस देश के आर्थिक विकास की गति एवं स्वरूप पर गहरा प्रभाव डालती हैं। आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से आयात तथा निर्यात दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। नये उद्योगों की स्थापना के लिए तथा स्थापित उद्योगों को चालू रखने के लिए विदेशों से मशीनें तथा कच्चे माल इत्यादि आयात करने पड़ते हैं और इन आयातों का भुगतान तभी सम्भव हो पाता है जबकि आयात करने वाला देश अपने माल का विदेशों में निर्यात भी करे।

भारत के विदेशी व्यापार का आकार

इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि ईसा से 3000 वर्ष पूर्व भारत के विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध थे। अंग्रेजों के भारत में आने से पूर्व अनेक प्रकार का माल स्वतन्त्र रूप से निर्यात होता था। परन्तु अंग्रेजों ने भारत में यह नीति अपनायी कि भारत ब्रिटेन को निरन्तर कच्चा माल भेजता रहे और बदले में वहाँ से निर्मित माल मँगवाता रहे। व्यापार सन्तुलन प्रायः भारत के पक्ष में ही रहता था लेकिन व्यापार का आकार बहुत छोटा था और अधिकतर व्यापार ब्रिटेन के साथ ही होता था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत के विदेशी व्यापार के आकार में निरन्तर वृद्धि हुई है, परन्तु व्यापार सन्तुलन भारत के प्रतिकूल ही रहा है। दूसरे शब्दों में, हमने आयात अधिक किया है और निर्यात कम, जिसके परिणामस्वरूप व्यापार सन्तुलन में घाटा बढ़ता ही गया है। आगे की तालिका में पंचवर्षीय योजनाओं के काल में भारत के आयात निर्यात का आकार तथा व्यापार-सन्तुलन की स्थिति दिखायी गयी है

---

1 "For ensuring the achievement of self reliance as early as possible, highest priority will be given to all such schemes of agricultural and industrial production as are designed to promote exports and replace imports —*Fourth Five Year Plan A Draft Outline*, p 18

2 Robertson *'The Future of International Trade'* in his *Essay in Monetary Theory*, p 214

भारत का विदेशी व्यापार (करोड रुपयो मे)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार-सन्तुलन
1950-51	650 22	600 64	— 49·58
1955-56	774 25	608·90	—165 35
1960 61	1,121 62	642 07	—479 55
1965 66	1,408·52	805·64	—602·88
1966-67*			
अप्रेल-मई	227 06	126 56	—100 50
जून मार्च	1,704·42	967 44	—736 98
1967-68	1,986 38	1,198·69	—787 69
1968-69	1,910·20	1,357 78	—552·42
1969-70	1,582 67	1,413 21	—169 46
1970-71 (प्रारम्भिक)	1,628 17	1,530 65	— 97 52

ऊपर दिये गये आँकडो से यह स्पष्ट हो जाता है कि पचवर्षीय योजनाओं के काल मे भारत के व्यापार-सन्तुलन मे घाटा निरन्तर बढता रहा है। 1950-51 मे केवल 49 58 करोड रुपये से बढकर घाटे की राशि 1955-56 मे 165 35 करोड रुपये, 1960-61 मे 479 55 करोड रुपये तथा 1965-66 मे 602 88 करोड रुपये हो गयी। 1966 67 मे तो घाटा और भी बढ गया। इसके बाद के वर्षों मे, विशेषतया 1969-70 तथा 1970-71 मे, स्थिति मे सुधार हुआ है और घाटा काफी कम हुआ है, परन्तु व्यापार-सन्तुलन अभी तक भारत के प्रतिकूल ही है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे हमारी वास्तविक स्थिति यह रही है कि हमारे लिए आयात करना अत्यावश्यक था जबकि निर्यात बढाना बहुत कठिन कार्य था। हमारे निर्यात मन्द गति से बढते रहे है, परन्तु विश्व-निर्यात के प्रतिशत के रूप मे भारत का निर्यात-अश उत्तरोत्तर गिरता चला गया है। उदाहरण के लिए, सन् 1948 मे 2 5 प्रतिशत से घटकर यह 1951 मे विश्व-निर्यात का 2 0 प्रतिशत, 1961 मे 1 3 प्रतिशत तथा 1965 मे 1 1 प्रतिशत ही रह गया। **इन परिस्थितियों में भुगतान सन्तुलन अधिकाधिक भारत के प्रतिकूल होता गया है जिसके परिणाम-स्वरूप हमारी विदेशी सहायता पर निर्भरता बढती गयी है। हम विदेशी विनिमय संकट की डरावनी छाया के नीचे रह रहे हैं।**

विदेशी व्यापार का स्वरूप

दीर्घकाल तक भारत के विदेशी व्यापार का स्वरूप एक औपनिवेशिक प्रशासित राज्य की अर्थ-व्यवस्था के समान रहा। भारत के प्रमुख निर्यात कुछ परम्परागत पदार्थो (traditional commodities), जैसे खाद्यान्न, चीनी, चाय, रुई, तिलहन, चमडा एव खनिज इत्यादि तक ही सीमित रहे। आयातों मे मुख्यत निर्मित एव अर्द्ध निर्मित सामग्री की ही प्रधानता रही। परन्तु देश के औद्योगिक स्वरूप मे क्रमश परिवर्तन होने के साथ-साथ देश के व्यापार का स्वरूप भी बदलता गया है।

आयात (Imports)—देश मे उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन मे वृद्धि के कारण निर्मित उपभोग सामग्री के स्थान पर अन्य प्रकार के आयातो मे निरन्तर वृद्धि हुई है। औद्योगीकरण की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मशीनो तथा यन्त्रो के अतिरिक्त मध्यवर्ती निर्मित पदार्थों तथा औद्योगिक कच्चे मालो के आयात मे महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। खाद्यान्नो के आयात मे भी काफी वृद्धि हुई है। निर्मित उपभोग पदार्थों के आयात मे कमी हुई है।

* 6 जून, 1966 के बाद के आँकडे रुपये के अवमूल्यन के बाद की दरो के है। उनकी तुलना इससे पहले के आँकडो से नहीं की जा सकती है।

भारत में आयात सरकारी खाते में होते हैं तथा व्यक्तिगत खाते में भी। सरकारी खाते में खाद्यान्नों को छोड़कर शेष सभी आयात पूँजीगत सामग्री से सम्बन्ध रखते हैं। व्यक्तिगत आयात खाते में विशेष रूप से कुछ खाद्य सामग्री, औषधियाँ, कागज, विद्युत सामग्री, रंग एवं रसायन, धातुएँ, औद्योगिक कच्चा माल (जैसे जूट तथा कपास), मशीन तथा खनिज तेल इत्यादि सम्मिलित हैं। सन् 1967 68 के बाद कृषि उत्पादन में वृद्धि होने के कारण हमारे खाद्यान्नों के आयात कम हुए हैं। सरकारी खाते में पूँजीगत आयात भी नहीं बढ़े हैं। परन्तु 1966 में अपनायी गयी उदारतापूर्ण आयात नीति के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत खाते के आयातों में वृद्धि की प्रवृत्ति पायी गयी है। कुल मिलाकर सन् 1950 51 में भारत द्वारा 650 22 करोड़ रुपये के मूल्य का माल आयात किया गया था। बढ़ते बढ़ते 1967 68 में यह 1986 38 करोड़ रुपये तक पहुँच गया। 1970 71 के लिए अनुमान 1628 17 करोड़ रुपये का है।

निर्यात (Exports)—भारत के निर्यातों में अधिकतर परम्परागत पदार्थों का ही समावेश है। इनमें चाय, वस्त्र व धागे, जूट, कच्चे खनिज तथा चमड़े का सामान प्रमुख है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ है। देश के औद्योगिक ढाँचे में परिवर्तन होने के कारण भारत अब कुछ ऐसी वस्तुओं का निर्यात करने लगा है जिन्हें वह पहले स्वयं आयात करता था। पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं के काल में हमारे निर्यात लगभग स्थिर बने रहे, परन्तु तृतीय योजना काल में निर्यातों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई तथा व्यापार के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। तृतीय योजनाकाल में 1964 65 तक निरन्तर वृद्धि होती रही, परन्तु 1965 66 में कृषि उत्पादन में कमी तथा पाकिस्तान से संघर्ष का निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से जून 1966 में रुपये का 36 5% अवमूल्यन कर दिया गया। परन्तु रुपये के अवमूल्यन ने हमारे सामने अनेक समस्याएँ खड़ी कर दी और निर्यातों को प्रोत्साहन देने में यह पूर्णतया प्रभावहीन रहा। सरकार द्वारा अपनाया गयी निर्यात प्रोत्साहन नीति के परिणामस्वरूप 1967 68 में स्थिति में कुछ सुधार हुआ और बाद के वर्षों में भी स्थिति अच्छी रही है।

अधिक सन्तोष का विषय यह है कि भारत के निर्यात व्यापार में कुछ गैर-परम्परागत वस्तुओं का भाग बढ़ने लगा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत के निर्यात व्यापार में चाय, कपास, जूट के माल तथा सूती कपड़े का भाग 60 प्रतिशत था। आज इन चारों वस्तुओं का निर्यात में 30 प्रतिशत से भी कम भाग है। इसके विपरीत हमारे देश के निर्यात में गैर-परम्परागत औद्योगिक निर्मित पदार्थों का भाग बढ़ा है। 1969 70 में भारत द्वारा किये गये निर्यात में लगभग $\frac{1}{3}$ भाग गैर परम्परागत पदार्थों का था, जबकि 1947 48 में यह 5 प्रतिशत से भी कम था। आज भी भारत के निर्यात व्यापार में चाय, जूट के माल व सूती कपड़े की प्रधानता है। परन्तु इसके साथ साथ लोहा तथा इस्पात, चमड़ा तथा चमड़े का सामान, मशीन तथा परिवहन का सामान, रसायन तथा अनेक प्रकार के औद्योगिक पदार्थों के निर्यात में भी वृद्धि हुई है। भारत के निर्यातों में जिन निर्मित पदार्थों का समावेश अभी हाल ही के वर्षों में हुआ है उनका आकार तथा मूल्य की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं है। परन्तु यह प्रवृत्ति इस बात की प्रतीक है कि भारतीय निर्यातों के परम्परागत स्वरूप में परिवर्तन प्रारम्भ हो गया है। यह निश्चित है कि देश का औद्योगिक आधार अधिक विस्तृत तथा बहुमुखी हो जाने पर आगामी वर्षों में निर्यात के स्वरूप में अधिक तीव्रता से परिवर्तन हो सकेगा। भारत के विदेशी व्यापार के हित में यह आवश्यक है कि उसके निर्यातों में कच्चे एवं अनिर्मित पदार्थों के स्थान पर निर्मित औद्योगिक पदार्थों का अधिकाधिक समावेश हो।

व्यापार की दिशा

व्यापार की दिशा (direction of trade) से अभिप्राय विदेशी व्यापार के भौगोलिक वितरण से है। ऐतिहासिक कारणों से भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार इंगलैण्ड से होता रहा है और आज जब भारत के व्यापारिक सम्बन्ध अन्य देशों से बढ़ते चले जा रहे हैं इंगलैण्ड का अब भी महत्वपूर्ण स्थान है। सन 1951 52 में भारत के 21 1 प्रतिशत आयात इंगलैण्ड से होते थे। द्वितीय योजना के आरम्भ में यह बढ़कर 25 4 प्रतिशत हो गये, परन्तु बाद के वर्षों में इसमें

कमी होती चली गयी। 1960-61 मे यह 19 1 प्रतिशत रह गये, और तृतीय योजना के अन्त में यह केवल 10 7 प्रतिशत थे। इस प्रकार निर्यात भी 1950 51 मे 23 5 प्रतिशत तथा 1960 61 मे 26 1 प्रतिशत से घटकर 1965-66 मे केवल 18 1 प्रतिशत रह गये। इस प्रकार गत वर्षों मे इगलैण्ड से भारत के व्यापार मे घटने की प्रवृत्ति पायी गयी है और इगलैण्ड के स्थान पर अन्य देशो का भाग बढने लगा है, जिनमे अमेरिका, रूस तथा जापान विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। पूर्वी यूरोपीय देशो (जिनमे रूस सम्मिलित है) से भारत के व्यापार मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। सन् 1960 61 के बाद विभिन्न क्षेत्रो तथा प्रमुख देशो से भारत के विदेशी व्यापार का विवरण आगे तालिका मे (पृष्ठ 264) दिया गया है।

आयात-नीति

गत लगभग 25 वर्षों मे भारत की आयात नीति (import policy) म परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तन होते रहे है। *आयात-नियन्त्रण कभी तो बहुत कठोर कर दिये गये और कभी उदार नीति अपनायी गयी।* भारत की वर्तमान आयात-नीति का मूल मन्त्र देश के आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण के दृढ एव विस्तृत आधार का निर्माण करना, देश की प्रतिरक्षा को दृढ करना, तथा इन उद्देश्यो के लिए विदेशी विनिमय को अधिक से अधिक मात्रा म बचाना ह। 1961 म आयात नियन्त्रण के उद्देश्यो की व्याख्या केन्द्रीय वाणिज्य एव उद्योग मन्त्री ने निम्न शब्दो मे की थी "आयात-नियन्त्रण की नीति व पद्धति को इस रूप मे सचालित किया जाना चाहिए कि यह योजना के मुख्य उद्देश्यो व नीति के अनुरूप हो। आयात-नियन्त्रण को औद्योगिक विकास के साधन, विदेशी विनिमय के रक्षक एव निर्यात सवर्द्धन के माध्यम के रूप म कार्य करना चाहिए। इसे देश के औद्योगिक आधार को सुदृढ करना चाहिए, आर्थिक ढाचे मे विविधता लानी चाहिए और आत्म-निर्भर अर्थ-व्यवस्थाओ की दशाओ को उत्पन्न करना चाहिए, जिससे देश अपनी शक्ति से ही यथासम्भव आगे बढ सके।"[1]

आर्थिक विकास की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए आयात के सम्बन्ध म एक चयनशील (selective) नीति का अनुसरण किया जा रहा है। स्थापित उद्योगो को चालू रखने (maintenance) के लिए और नये उद्योगो को स्थापित करने (development) के लिए आवश्यक कच्चे माल व अन्य साज समान के आयात का महत्व स्वीकार किया गया ह, परन्तु उपभोग सामग्री के आयात पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये है। विकास सम्बन्धी आयातो म भी केवल उन्ही पदार्थों के आयात को प्राथमिकता दी जाती है जो देश के आन्तरिक बाजार म उपलब्ध न हो।

भारत सरकार द्वारा नियुक्त की गयी आयात-निर्यात समिति (मुदालियर समिति) ने 1962 मे प्रस्तुत की गयी अपनी रिपोर्ट म वर्तमान उद्योगो को चालू रखने के लिए आवश्यक कच्चे माल व अन्य साज-सामान के आयात की सुविधाएँ दिये जाने की आवश्यकता पर बल दिया। *नये उद्योगो के लिए समिति न आयात-सुविधाओ के लिए निम्न प्रकार के उद्योगो को प्राथमिकता* देने के सुझाव दिये

- (अ) शक्ति व परिवहन, जिनका विकास न होने से आर्थिक विकास म बाधाएँ उत्पन्न होती है,
- (आ) निर्यात उद्योग,
- (इ) इस समय आयात किये जाने वाले कच्चे माल व अन्य सामान का उत्पादन करने वाले उद्योग, विशेष रूप मे ऐसे उद्योग जो विदेशी विनिमय मे सबसे अधिक बचत कर सकें,
- (ई) ऐसे उद्योग जो घरेलू कच्चे माल पर निर्भर करते है और मशीनरी आदि के आयात के लिए स्वय अपने निर्यातो द्वारा विदेशी विनिमय की व्यवस्था कर लेते हैं।

आयात-पद्धति के सम्बन्ध मे समिति ने वार्षिक आयात-लाइसेन्स देने का सुझाव दिया,

1 *Report of the Import and Export Policy Committee*, 1962, p 7

(करोड़ रुपयों में)

व्यापार की दिशा

क्षेत्र/देश	1960 61			1965 66			1969 70		
	आयात	निर्यात	सन्तुलन	आयात	निर्यात	सन्तुलन	आयात	निर्यात	सन्तुलन
अफ्रीका	70 68	48 99	—21 70	55 82	61 84	+6 02	141 43	88 12	—53 31
उत्तरी अमरिका	347 41	120 15	—227 27	565 60	168 04	—397 56	533 85	264 30	—269 55
कनाडा	19 86	17 62	—2 24	30 52	20 29	—10 24	73 89	26 33	—47 55
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	327 56	102 53	—225 03	535 08	147 75	—387 33	459 96	237 97	—221 99
लैटिन अमेरिका	1 75	16 78	+15 04	3 35	10 46	+7 11	10 79	4 68	—6 11
अन्य अमेरिकी देश	3 02	1 32	—1 70	0 01	1 61	+1 60	0 34	2 13	+1 79
एशिया एवं सुदूर पूर्व के देश (ECAFE)	179 35	142 72	—36 63	219 40	158 97	—60 43	260 03	378 09	+118 06
आस्ट्रेलिया	17 79	22 39	+4 60	24 18	17 54	—6 63	31 28	24 44	—6 84
जापान	60 78	35 27	—25 51	79 33	57·12	—22 22	66 82	179 36	+112 54
एशिया के अन्य देश एवं ओशानिया	27 35	22 95	—4 40	15 86	28 89	+13 03	37 01	73 02	+36 01
पूर्वी यूरोप	44 31	49 56	+5 25	156 68	156·58	—0 10	281 40	307 64	+26 24
सोवियत रूस	15 87	28 81	+12 94	83 17	92 99	+9 82	170 40	176 37	+5 98
यूरोपीय साझा बाजार (ECM)	195 89	51 75	—144 13	206 39	55 29	—151 10	170 39	100 50	—69 88
पश्चिमी जर्मनी	122 52	19 87	—102 65	137 15	18 16	—118 99	83 73	29 89	—53 84
यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार संघ (UFTA)	247 50	178 47	—69 03	182 59	155 66	—26 93	129 22	183 37	+54 15
ब्रिटेन	217 15	172 48	—44 68	150 09	145 71	—4 38	100 38	165 07	+64 69
अन्य यूरोपीय देश	4 35	9 36	+5 28	2 82	8 30	+5 48	4 2	11 35	+8 91

और पद्धति से सम्बन्धित अनेक विषयो पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया। इस समिति द्वारा दिये गये उपयोगी सुझाव सरकार ने आवश्यक परिवर्तनो के साथ स्वीकार कर लिये।

6 जून, 1966 को रुपये के अवमूल्यन के पश्चात सरकार ने प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों (priority industries) को कच्चा माल व अन्य आवश्यक साज-सामान मँगाने के लिए उदारता-पूर्वक आयात-लाइसेन्स देने की नीति अपनायी है। उद्देश्य यह है कि ये उद्योग अपनी उत्पादन-क्षमता का सर्वाधिक उपयोग कर सकें और निर्यात बढाने मे सहायक हो। परन्तु इस नीति के जो परिणाम अभी तक सामने आये है, उन्हे सन्तोषजनक नही कहा जा सकता। स्पष्ट है कि हमारी आयात-नीति प्रतिबन्धात्मक होने के साथ-साथ औद्योगिक विकास की दृष्टि से काफी उदार है। इस नीति को सफल तभी कहा जा सकता है जब यह उत्तरोत्तर उत्पादन मे वृद्धि करने तथा निर्यातो को बढावा देने मे सहायक हो। देश मे आर्थिक विकास की गति तथा देश की सुरक्षा मे दृढता इसी पर निर्भर करते है।

आयात-प्रतिस्थापन

आयात-प्रतिस्थापन (import substitution) का अर्थ यह है कि जो वस्तुएँ विदेशों से आयात करनी पडती है उनका उत्पादन देश मे ही कर लिया जाय ताकि उन्हे आयात न करना पडे। अनेक अर्थशास्त्रियो की यह धारणा है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अर्द्ध-विकसित देशो को कोई लाभ नही पहुँचता, इसलिए उन्हें विदेशी आयातो पर निर्भरता समाप्त करनी चाहिए।[1]

पिछले कुछ वर्षो से आयात-नीति के अन्तर्गत आयात-प्रतिस्थापन पर काफी जोर दिया गया है। विदेशी विनिमय के अभाव और विदेशी सहायता की अनिश्चितता ने इसे और भी अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। यह तो सर्वविदित ही है कि कृषि-उत्पादन मे वृद्धि के लिए हम कितने अधिक प्रयत्नशील हैं ताकि हम खाद्यान्नो के लिए आत्म-निर्भर हो सके। औद्योगिक क्षेत्र मे भी अनेक प्रकार के उद्योग देश मे स्थापित हो चुके है और हमारी अर्थ-व्यवस्था में आयात प्रतिस्थापन के लिए अन्तर्निहित प्रवृत्ति स्थापित हो चुकी है। औद्योगिक विकास की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की मशीनो, यन्त्रो, कच्चे माल तथा अन्य साज सामान (components) का उत्पादन देश मे होने लग गया है और इस प्रकार केवल वही पदार्थ विदेशों से आयात करने की अनुमति दी जाती है जो देश मे उपलब्ध न हो। अनेक वस्तुओ के लिए हम आत्म-निर्भर हो चुके हैं। यह सब होने पर भी हमारे आयातो की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि इसलिए होती रही है कि एक उद्योग की स्थापना करने से अनेक प्रकार के अन्य पदार्थों के लिए माँग उत्पन्न हो जाती है। औद्योगीकरण के प्रारम्भिक काल मे यह क्रम चलता रहता है। भविष्य मे औद्योगिक उत्पादन मे जैसे-जैसे विविधता आती है, आयात प्रतिस्थापन मे वृद्धि होती जाती है और आत्म निर्भरता बढती है।

आयात-प्रतिस्थापन की कुछ व्यावहारिक समस्याएँ भी है, जैसे उद्योगो के आरम्भ मे ऊँची उत्पादन-लागत, कार्यकुशलता मे कमी तथा उत्पादन की घटिया श्रेणी। अतएव आयात प्रतिस्थापन के लिए उद्योगों का चुनाव करने मे मुख्यत तीन बातो का ध्यान रखना आवश्यक है—उत्पादन लागत, माल की श्रेणी तथा दुर्लभ साधनो, जैसे पूँजी एव कच्चे माल का उचित उपयोग। भविष्य मे कुछ औद्योगिक कच्चे माल व अन्य पदार्थों के लिए हम विदेशो पर निर्भर रहना पडेगा, परन्तु हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे अधिकाधिक समर्थ होते जायें।

निर्यात-प्रोत्साहन नीति (Export Promotion Policy)

यह तो स्पष्ट ही है कि भारत के निर्यातो मे वृद्धि करना न केवल देश के व्यापार को समृद्ध करने के लिए आवश्यक है, बल्कि देश के आर्थिक विकास की गति को बढाने तथा देश की प्रतिरक्षा को सुदृढ करने के लिए भी आवश्यक है। निर्यातो मे वृद्धि करके ही हम आयातो का भुगतान और विदेशी ऋणो के मूलधन तथा ब्याज की अदायगी कर सकते है। भारत के भुगतान सन्तुलन की स्थिति मे सुधार तभी सम्भव है जबकि उसके निर्यातो मे वृद्धि हो।

1 H W. Singer, Gunnar Myrdal, Raul Presbisch and several other economists

निर्यातो को प्रोत्साहित करने के लिए भारत सरकार ने जुलाई 1949 मे एक निर्यात-प्रोत्साहन समिति (Export Promotion Committee) की नियुक्ति की थी, जिसने डालर-क्षेत्र मे निर्यातो की वृद्धि करने तथा निर्यात-सुविधाएँ बढाने के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिये थे । सन् 1957 मे पुन एक निर्यात-प्रोत्साहन समिति (गोरवाला समिति) ने निर्यात-सवर्द्धन के लिए कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये । समिति ने सिफारिश की कि सभी क्षेत्रो मे उत्पादन मे वृद्धि की जाय तथा निर्यात की वस्तुओ की कीमतो को प्रतिस्पर्धात्मक स्तर पर कायम रखा जाय, निर्यात की वस्तुओ तथा निर्यात बाजारो मे विविधता लायी जाय, विदेशी बाजारो से निरन्तर सम्पर्क स्थापित किया जाय, निर्यात-करो मे आवश्यक परिवर्तन किये जायें, और घरेलू उपभोग को कम करके भी निर्यात बढाये जायें ।

निर्यात बढाने के उद्देश्य से सरकार ने विभिन्न प्रकार के उपाय अपनाये हैं, जिनमे से प्रमुख उपाय निम्नलिखित है

(1) **संस्थागत उपाय**—निर्यात प्रोत्साहन के उद्देश्य से अनेक विशेष सगठनो की स्थापना की गयी है । मई 1962 मे व्यापार बोर्ड (Board of Trade) की स्थापना की गयी, जिसका 1 जनवरी, 1968 को पुनर्गठन किया गया है । यह बोर्ड व्यापार तथा उद्योग की सलाह से आयात-प्रोत्साहन नीति की जांच करता है । एक सलाहकार सस्था के रूप मे बोर्ड ने कुछ समितियाँ तथा अध्ययन-मण्डल नियुक्त किये हैं जो निर्यात-प्रोत्साहन से सम्बन्धित विषयो की जाँच कर सकें ।

विभिन्न वस्तुओ के निर्यात मे वृद्धि के लिए निर्यात-प्रोत्साहन परिषदो (Export Promotion Councils) की स्थापना की गयी है । इन परिषदो के कार्यों मे समन्वय लाने तथा विकास कार्यों मे उन्हे सहायता एव निर्देशन देने के लिए भारतीय निर्यात सगठन सघ (Federation of Indian Export Organisation) की स्थापना की गयी है ।

निर्यात की कुछ विशेष वस्तुओ, जैसे चाय, नारियल-जटा (coir), कॉफी, इलायची, दस्तकारियो, हथकरघा तथा रेशम के लिए वस्तु बोर्ड (Commodity Boards) भी स्थापित किये गये हैं ।

सन् 1964 के प्रारम्भ म निर्यात जोखिम बीमा निगम को 'निर्यात साख व गारण्टी निगम' (Export Credit and Guarantee Corporation) मे बदल दिया गया है । बीमा कार्य के साथ-साथ यह बैको को निर्यात-बिलो पर पुनर्वित्त के रूप मे मध्यकालीन निर्यात साख प्रदान करता है जिससे निर्यातको को साख की सुविधा प्राप्त हो जाती है ।

निर्यात की वस्तुओ की क्वालिटी को नियन्त्रित रखने से सम्बन्धित एक कार्यक्रम निर्धारित करने के लिए निर्यात जाँच सलाहकार परिषद (Export Inspection Advisory Council) स्थापित की गयी है । सूती कपडे के लिए 1964 से एक अलग से टैक्सटायल समिति (Textiles Committee) स्थापित की गयी है ।

भारतीय वस्तुओ के विदेशो मे प्रचार, मेलो व नुमाइशो आदि की व्यवस्था का कार्य प्रदर्शनी निर्देशालय (Directorate of Exhibitions) करता है और इसके सहायक के रूप मे बम्बई मे स्थापित भारतीय व्यापार मेला एव प्रदर्शनी परिषद (Indian Council of Trade Fairs and Exhibitions) कार्य करती है ।

सन् 1964 मे भारतीय विदेशी व्यापार सस्थान (Indian Institute of Foreign Trade) की स्थापना की गयी है । इसका कार्य निर्यात-प्रोत्साहन से सम्बन्धित प्रशिक्षण, शोध, बाजारो का सर्वेक्षण तथा वस्तुओ का अध्ययन करना है ।

भारतीय सवेष्टन सस्थान (Indian Institute of Packing) की स्थापना 1966 मे की गयी है । इसका मुख्य कार्य पैकिंग के सामान (packing materials) से सम्बन्धित प्रशिक्षण की व्यवस्था करना तथा पैकिंग की लागत मे कमी आदि विषयो पर विचार-विमर्श करना है ।

केन्द्रीय व्यापार एव वाणिज्य मन्त्रालय के अन्तर्गत कई निर्देशालय तथा राज्यो मे सलाहकार बोर्ड निर्यात-प्रोत्साहन के कार्य मे विभिन्न प्रकार से सहायता देते हैं ।

(2) **वित्तीय प्रेरणाएँ (Fiscal Incentives)**—कुछ गैर-परम्परागत वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से नकद सहायता (cash assistance) प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है। इन वस्तुओं में इजीनियरी का माल, लोहा और इस्पात, रसायन और सम्बद्ध पदार्थ, खेल-कूद का सामान, तैयारशुदा खाद्य-पदार्थ आदि महत्वपूर्ण है। एक बाजार विकास कोष (Market Development Fund) का भी निर्माण किया गया है। परम्परागत वस्तुओं के निर्यात-करो मे कमी की गयी है।

समय-समय पर सरकार तथा रिजर्व बैंक ने ऐसे कदम उठाये है कि निर्यातकों को कम ब्याज पर आसानी से ऋण मिल सके। व्यापारिक बैंक निर्यातकों को जहाज पर माल के लदान से पहले और बाद में रियायती दर पर अग्रिम राशि देते हैं। इसके लिए रिजर्व बैंक से पुनर्वित्त भी मिल सकता है। भारत का औद्योगिक विकास बैंक व्यापारिक बैंकों के सहयोग से पूँजीगत सामान और मशीनरी के निर्यातकों को सीधे ही अग्रिम राशि देता है।

(3) **अन्य सुविधाएँ (Other Facilities)**—6 जून, 1966 को रुपये के अवमूल्यन के पूर्व निर्यातकों को कई प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थी। उन्हे कच्चे माल व मशीनो के आयात अधिकार (import entitlements) प्राप्त थे। 450 करोड रुपये के लगभग वार्षिक निर्यात वाली 30 से अधिक वस्तुओं पर कुछ प्रतिशत तक कर जमा सर्टीफिकेट (tax credit certificates) दिये जाते थे। उत्पादन-कर मे छूट दी जाती थी। परन्तु यह सब उपाय निर्यात बढाने मे अधिक कारगर नही हुए थे, इसलिए सरकार को अवमूल्यन का कदम उठाना पडा। अवमूल्यन की घोषणा के साथ ही निर्यात प्रोत्साहन सम्बन्धी अन्य सुविधाएँ समाप्त कर दी गयी अथवा उनमें संशोधन किये गये।

अवमूल्यन के पश्चात 59 'प्राथमिकता प्राप्त' उद्योगों को उदारतापूर्वक आयात लाइसेन्स दिये गये हैं। पूंजीगत माल, साज-सामान तथा कच्चे माल के वितरण मे निर्यात उद्योगों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी है। देशी कच्चा माल, जैसे पिग लोहा, प्राइम इस्पात, टिन प्लेटें, प्लास्टिक का कच्चा माल आदि की उपलब्धि की भी विशेष सुविधाएँ निर्यात इकाइयों को प्राप्त हैं। चाय के बागानों को उर्वरक (fertilizers) तथा वित्त की सुविधाएँ दी गयी हैं।

निर्यात बढाने के लिए वित्तीय सहायता के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार की सहायता और प्रेरणा दी जाती है, जैसे परिवहन की सुविधाएँ, प्रशिक्षण की व्यवस्था, मंडियों की खोज, विशिष्ट उद्देश्यों के लिए विदेशी मुद्रा देना, आयात का पुनर्भरण, दुर्लभ कच्चा माल देते समय प्राथमिकता देना और कुछ कच्चे माल रियायती कीमतों पर देना, आयात और उत्पाद शुल्कों की वापसी इत्यादि।

(4) **राजकीय व्यापार (State Trading)**—मई 1956 मे एक परिमित कम्पनी के रूप में सरकार द्वारा राजकीय व्यापार निगम (State Trading Corporation) की स्थापना की गयी। इसका प्रमुख उद्देश्य पूर्वी यूरोप के राजकीय व्यापार वाले देशों मे निर्यातों को बढाना है तथा कुछ आवश्यक वस्तुओं के प्रतिस्पर्धात्मक मूल्यों पर आयात की व्यवस्था करना है। देश के निर्यातों मे विविधता लाना, बाजार का विस्तार करना, निर्यात माँग की पूर्ति के लिए उत्पादन को संगठित करना और निर्यात हेतु उत्पादन करने वाली इकाइयों को कच्चा माल व अन्य आवश्यक सामान सुलभ करना इत्यादि इसके अन्य प्रमुख कार्य हैं।

निगम के निर्यात-कार्यक्रम 5 प्रमुख समूहों मे बाटे गये हैं (1) रेलवे वैगन व रलो का अन्य सामान, (2) इंजीनियरिंग का सामान, मशीन, औजार व लघु उद्योगों के सामान सहित, (3) रसायन तथा दवाएँ आदि, (4) उपभोग पदार्थ, जैसे जूते, बाल तथा बालो से निर्मित विग (wigs and wiglets), वस्त्र, पोशाकें व हौजरी का सामान, (5) खाद्य-पदार्थ, जैसे मछली ताजे फल, फलो के रस, अच्छा चावल तथा दालें।

इस निगम ने अपने कार्यकाल मे सराहनीय कार्य किये है। 1956-57 म इसने कुल 9 2 करोड रुपये का व्यापार किया था जो दस वर्षों मे अर्थात् 1966-67 मे बढते बढते 156 4 करोड रुपये तक पहुँच गया। सन् 1967-68 मे इस निगम ने 181 3 करोड रुपये का व्यापार

किया । इस निगम ने अनेक देशों में भारत की नयी वस्तुओं के लिए बाजार ढूंढा है और इस प्रकार भारत की निर्यात सम्भावना में विविधता लाने में सहायता दी है। राजकीय व्यापार वाले देशों, विशेषतः पूर्वी यूरोप के देशों, में व्यापार को व्यवस्थित किया है, भारी वस्तुओं का आयात किया है और निर्यात से सम्बन्धित वस्तुओं के लिए मूल्य-सहारे (price supports) तथा बफर-स्टॉक (buffer-stock) की क्रियाएँ की हैं।

कुछ ही वर्षों में राजकीय व्यापार निगम का कार्य-भार इतना बढ़ गया कि 1 अक्टूबर, 1963 से इसके कुछ कार्य करने के लिए एक अलग निगम की स्थापना की गयी । यह दूसरी 'खनिज व धातु व्यापार निगम' (Minerals and Metals Trading Corporation of India Ltd) है जिसके प्रमुख कार्य खनिज व धातु पदार्थों के आयात-निर्यात की व्यवस्था करना है। यह निगम भी सराहनीय प्रगति कर रहा है।

रद्दी लोहम धातु (ferrous scrap) के निर्यात को प्रोत्साहन देने तथा संगठित करने के उद्देश्य से सितम्बर 1964 में रद्दी धातु व्यापार निगम (Metal Scrap Trading Corporation) स्थापित किया गया है। इस निगम ने अधिकांश निर्यात जापान को किये हैं।

राजकीय व्यापार निगम के सहायक के रूप में दस्तकारी एवं हथकरघा निर्यात निगम (Handicrafts and Handlooms Export Corporation) भी कार्य कर रहा है।

लोक-क्षेत्र में स्थापित अन्य व्यापारिक निगम भारतीय चल-चित्र निगम (Indian Motion Pictures Corporation) तथा भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India) हैं।

राजकीय व्यापार संगठनों ने आशाजनक प्रगति की है। इनकी सफलताओं के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भारत में राज्य-व्यापार के क्षेत्र में वृद्धि करने की भी गुंजायश है।

(5) **व्यापारिक समझौते (Trade Agreements)**—विदेशी व्यापार को बढ़ाने के उद्देश्य से भारत सरकार ने समय-समय पर संसार के विभिन्न देशों से व्यापारिक समझौते किये हैं जो अधिकांश में द्विपक्षीय (bilateral) व्यापार-समझौते है। व्यापारिक समझौतों में 'तट-कर एवं व्यापार के सामान्य समझौता' (G A T T), यूरोपीय साझा बाजार (E C. M.) तथा यूरोपीय स्वतन्त्र बाजार संघ (E F T A) के देशों से व्यापारिक समझौतों के अतिरिक्त पूर्वी यूरोप के देशों से किये गये समझौते विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इन समझौतों के उद्देश्य हैं भारत के विदेशी व्यापार को बहुमुखी बनाना, देश के भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में सुधार करना, विभिन्न देशों से प्रत्यक्ष व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना तथा साम्यवादी देशों के लिए भारतीय व्यापार का द्वार खोलना।

द्विपक्षीय समझौते, जो भारत ने रूस, युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, पोलैण्ड, पूर्वी जर्मनी, रूमानिया तथा बल्गारिया जैसे देशों से किये है, रुपये में भुगतान किये जाने वाले समझौते (rupee payment agreements) हैं, जिनमें विदेशी विनिमय की कठिनाई उत्पन्न नहीं होती और अन्ततः वस्तुओं का विनिमय वस्तुओं में ही होता है। इन समझौतों से हमें अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त हुए हैं (1) पूर्वी यूरोपीय देशों से सीधे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं और इन देशों से व्यापार में वृद्धि हुई है, (2) विदेशी विनिमय साधनों पर अतिरिक्त दबाव डाले बिना पूँजीगत माल व औद्योगिक कच्चा माल प्राप्त किया जा सका है, (3) आयात का उपयोग निर्यातों के स्वचालित विस्तार के लिए किया गया है, (4) निर्यात की नयी वस्तुओं के लिए नये बाजार स्थापित हुए हैं, (5) विदेशी व्यापार के स्वरूप तथा दिशा में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, (6) इन देशों से व्यापार के साथ-साथ तकनीकी प्रशिक्षण तथा कौशल सम्बन्धी बहुमूल्य सुविधाएँ उपलब्ध हुई हैं।

रुपया भुगतान समझौते के अन्तर्गत व्यापारिक सम्बन्धों की अनेक कमियाँ बतायी गयी हैं। इन समझौतों को व्यापार का एक कृत्रिम साधन माना गया है और दीर्घकालीन दृष्टि से इन्हें एक उचित व्यवस्था नहीं समझा जाता। इन समझौतों के अन्तर्गत किया गया व्यवहार यह सिद्ध

नही करता कि भारत के निर्यातों मे प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति आ गयी है । यह भी कहा जाता है कि भारत से माल खरीद कर इन देशों द्वारा कम दामो पर माल फिर से उन देशों को बेचा गया है जहाँ हमारे प्रत्यक्ष निर्यात होते हैं । वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के समझौतों के विरुद्ध की गयी आलोचनाओ का कोई ठोस आधार नही है इसलिए इनके विरुद्ध कुछ भी कहना कठिन है । हो सकता है कि कुछ कठिनाइयाँ सामने आयी हो, परन्तु कुल मिलाकर इन समझौतो ने भारत को सहायता ही मिली है और इनका प्रभाव गुणकारी रहा है ।

निर्यात-प्रोत्साहन की कठिनाइयाँ

निर्यात-प्रोत्साहन के लिए अनेक प्रयास किये जाने पर भी हमारे निर्यातो मे सन्तोषजनक वृद्धि नही हो पा रही है । कुल निर्यात मे परम्परागत वस्तुओ का भाग अब भी 70 प्रतिशत से अधिक है । हमारे कुल निर्यात 1964-65 मे 817 करोड रुपये (अवमूल्यन के बाद की दर पर 1,287 करोड रुपये) के थे । इसके बाद के वर्षों मे हम इससे भी नीचे गिर गये । 1968-69 मे कुछ वृद्धि के अनुमान लगाये गये हैं, परन्तु यह वृद्धि बहुत थोडी है । वास्तविकता यह है कि निर्यात-सवर्द्धन मे हमारे सामने कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं, जिनमे से प्रमुख निम्नलिखित है

1 देश मे कीमत-स्तर ऊँचा होने के कारण उत्पादको को घरेलू बाजार अधिक आकर्षक प्रतीत होता है और वे निर्यात करने के लिए अधिक उत्सुक नही हो पाते ।

2 निर्यात उद्योगों की उत्पादन-लागत ऊँची है तथा माल की श्रेणी (quality) भी अधिक अच्छी नही है । राष्ट्र सघ द्वारा नियुक्त बी० एफ० कोगेन (B. F Coggan) की अध्यक्षता मे 7 सदस्यो के एक दल ने फरवरी 1967 मे अपनी रिपोर्ट मे लागत कम करने तथा श्रेणी सुधारने की आवश्यकता पर ध्यान आकर्षित किया है और राष्ट्र सघ द्वारा 10 करोड रुपये की सहायता देने का सुझाव दिया है ।

3 भारत को विदेशी बाजारो मे अपने प्रमुख परम्परागत निर्यातो (चाय, सूती कपडा व जूट के सामान) के लिए प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड रहा है । हमारे निर्यातो के लिए विश्व के बाजारो मे माँग अनिश्चित व अस्थिर हो गयी है ।

4 विकसित देशो का रवैया सहयोगपूर्ण नहीं है । उनके द्वारा अपनायी गयी प्रतिबन्धात्मक आयात नीति अर्द्ध-विकसित देशों के निर्यात बढने मे एक बहुत बडी बाधा है । विश्व के बढते हुए निर्यात-व्यापार में विकसित देश का भाग बढता गया है, जबकि विकास-शील देशों का भाग निरन्तर रूप से कम हुआ है ।

5 औद्योगीकरण की गति भी धीमी रही है और उद्योगो की निर्यात-क्षमता सीमित रही है ।

6 आयात-प्रतिस्थापन की ओर अधिक ध्यान दिया गया है, क्योकि हम यह सोचते रहे है कि केवल आयात-प्रतिस्थापन से ही हम अपना भुगतान-सन्तुलन ठीक कर लेंगे ।

7 निर्यात की वस्तुओं मे विविधता लाने मे बहुत कम प्रगति हो पायी है ।

उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण ही हमारे निर्यात सन्तोषजनक ढग से नही बढ पाये है, जिसके परिणामस्वरूप भुगतान-सन्तुलन अधिकाधिक हमारे प्रतिकूल होता गया है और विदेशी ऋणों पर हमारी निर्भरता बढी है । आने वाले वर्षों मे हमारे आर्थिक विकास की गति बहुत कुछ हमारी निर्यात-सवर्द्धन मे सफलता पर निर्भर करेगी । योजना-आयोग का लक्ष्य है कि चतुर्थ योजनाकाल मे 7 प्रतिशत वार्षिक की दर से हमारे निर्यात बढे । यह हमारे लिए एक बहुत बडी चुनौती है । इसका हल निकालने के लिए हमे निम्न दशाओ मे प्रयत्न करने होंगे

1 देश मे कृषि एव उद्योगों के उत्पादन मे तीव्र गति से वृद्धि की जाय और इसके लिए नियोजित विकास अत्यन्त आवश्यक है ।

2. घरेलू उपभोग की माँग पर उचित नियन्त्रण लगाये जायें ।

3. निर्यात की बनावट (composition) तथा दिशा (direction) दोनो मे ही परिवर्तन

होना आवश्यक है अर्थात आयातों में विविधता लायी जाय तथा विश्व में नये बाजार ढूँढे जायें।

4 निर्यात उद्योगों को आवश्यकतानुसार कच्चे माल, अन्य साज-सामान तथा पर्याप्त मात्रा में साख का उपलब्ध किया जाना भी आवश्यक है।

5 निर्यातों में स्थिरता बनाये रखने के लिए पर्याप्त भण्डारों (stocks) के निर्माण की व्यवस्था की जाय।

6 निर्यात संवर्द्धन के लिए दी जाने वाली प्रेरणाओं तथा सुविधाओं में वृद्धि हो।

7 विदेशी बाजारों का सर्वेक्षण किया जाय तथा विदेशों में अधिक प्रचार की व्यवस्था हो।

8 निर्यात-संवर्द्धन के लिए सारे प्रयत्न तभी सफल हो सकते हैं जब विकसित देश उदार आयात-नीति अपनायें तथा अर्द्ध विकसित देशों को विशेष व्यापारिक सुविधाएँ दें।

निर्यात व्यापार को बढ़ावा देने के लिए एक प्रगतिशील राष्ट्रीय नीति का सफलतापूर्वक अनुसरण किया जाना आवश्यक है। इसके लिए न केवल कृषि, खनिज और औद्योगिक क्षेत्रों की निर्यात-योग्य वस्तुओं में वृद्धि करनी है तथा इनकी घरेलू खपत पर प्रतिबन्ध लगाने हैं, बल्कि यह भी आवश्यक है कि इन वस्तुओं की कीमत तथा क्वालिटी ऐसी हों कि विश्व के बाजारों में हम प्रतिस्पर्धा में टिक सकें। धातुरसायन, इंजीनियरी तथा रसायन क्षेत्रों में निर्यात बढ़ाना बहुत आवश्यक है और इसके लिए हमें नये बाजार भी ढूँढने होंगे। इन सब प्रयत्नों में सफलता के लिए हमें नये विकसित देशों के सहयोग की आवश्यकता होगी।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 भारत के विदेशी व्यापार के स्वरूप तथा दिशा में ▒ परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।

[संकेत पंचवर्षीय योजनाओं के काल में विशेष रूप से द्वितीय योजना के बाद भारत के आयात निर्यात के आकार में हुए परिवर्तन स्पष्ट कीजिए। फिर यह बताइए कि आयात निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ कौन कौनसी हैं तथा उनके महत्व में क्या परिवर्तन हो रहे हैं। यह भी बताइए कि हमारे विभिन्न देशों से व्यापारिक सम्बन्धों में क्या परिवर्तन हुए हैं।]

2 भारत सरकार की व्यापार-नीति क्या है और इसमें कहाँ तक सफलता मिल पायी है?

[संकेत आयात नियन्त्रण तथा प्रतिस्थापन एवं निर्यात प्रोत्साहन नीति के उद्देश्य तथा इनसे सम्बन्धित प्रयत्नों की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में यह बताइए कि हम अपने आयात क्यों नहीं कम कर पाये हैं और निर्यातों में सन्तोषजनक वृद्धि क्यों नहीं हो पायी है।]

3 निर्यात-संवर्द्धन हमारे लिए क्यों आवश्यक है? इससे सम्बन्धित कठिनाइयाँ क्या हैं?

[संकेत आर्थिक विकास में सहायक के रूप में देश की वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में निर्यात का महत्व स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग में निर्यात-संवर्द्धन की कठिनाइयाँ बताइए और सम्भव में हल भी सुझाइए।]

4 आयात प्रतिस्थापन तथा निर्यात प्रोत्साहन हमारी प्रमुख आवश्यकताएँ हैं। इन दोनों क्षेत्रों में हम कहाँ तक सफल हो पाये हैं?

[संकेत दूसरे प्रश्न के उत्तर के समान इसका भी उत्तर दीजिए।]

5 टिप्पणियाँ लिखिए आयात प्रतिस्थापन रुपया भुगतान व्यापारिक समझौते राजकीय व्यापार निगम।

[संकेत प्रत्येक के उद्देश्य महत्व तथा गुण-दोषों की व्याख्या कीजिए।]

चतुर्थ खण्ड

विदेशी विनिमय

[FOREIGN EXCHANGE]

20

विदेशी विनिमय
[FOREIGN EXCHANGE]

"विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-विनिमय का विज्ञान एव कला है ।"[1]
—हार्टले विदर्स

विभिन्न देशों में विभिन्न मुद्राओं का प्रचलन है जिनका नियन्त्रण वहाँ के केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है । विदेशी व्यापार में सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि विदेशी भुगतान के लिए कौनसी मुद्रा प्रयोग में लायी जाय । स्वर्णमान के दिनों में यह समस्या अधिक जटिल नहीं थी, क्योंकि विदेशी भुगतान स्वर्ण के माध्यम से किया जा सकता था । परन्तु वर्तमान युग में, जबकि प्रत्येक देश अपनी मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदलना चाहता है, विदेशी दायित्वों को चुकाना एक जटिल समस्या है जिसका विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक है ।

विदेशी विनिमय का अर्थ

'विदेशी विनिमय' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है जिनको दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—संकुचित अर्थ, तथा विस्तृत अर्थ ।

संकुचित अर्थ में, विदेशी विनिमय के अनेक अर्थ लगाये जाते हैं (1) कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि विदेशी विनिमय से अभिप्राय देश में विदेशी मुद्राओं के कोष से होता है । प्राय यह कहा जाता है कि विदेशी व्यापार के लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है । यहाँ विदेशी विनिमय शब्द का प्रयोग विदेशी मुद्राओं का द्योतक है । (2) जब विदेशी विनिमय बैंक विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करते हैं तब इसका आशय केवल विदेशी विनिमय बिलों से होता है । (3) जब हम कहते हैं कि विदेशी विनिमय हमारे अनुकूल अथवा प्रतिकूल है तब इसका अभिप्राय विदेशी विनिमय-दर (foreign exchange rate) से होता है ।

विस्तृत अर्थ में, विदेशी विनिमय का अभिप्राय उस समूची रीति से होता है जिसके द्वारा दो देश अपने दायित्वों का भुगतान करते हैं । हार्टले विदर्स के अनुसार, "विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा विनिमय का विज्ञान एव कला है ।" विज्ञान के रूप में इसका सम्बन्ध विदेशी विनिमय-दर तथा उससे सम्बन्धित अन्य समस्याओं से है । कला के रूप में इसका सम्बन्ध उन समस्त संस्थाओं, पत्रों तथा रीतियों से है जो विदेशी भुगतान करने में योग देते हैं । चैपमैन के शब्दों में, "विदेशी विनिमय से अभिप्राय उस यन्त्र से है जिसके द्वारा विदेशी वाणिज्य में भुगतान कार्य होता है ।"[2] इस प्रकार, व्यापक अर्थ में विदेशी विनिमय वह पद्धति है जिसके द्वारा दो क्षेत्रों के बीच, जिनमें विभिन्न प्रकार की मुद्रा चलन में है, भुगतान होता है ।"[3]

---

1 "Foreign Exchange is the Art and Science of International Money Exchanging "—Hartley Withers , *Money Changing*

2 "The machinery whereby payments are effected in foreign commerce is known as foreign exchange "—Sir S J Chapman

3 "The mechanism through which payments are effected between two areas that employ different currency systems is known as foreign exchange "—Steiner, Shapiro, Solomon in *Money and Banking*

था, केवल बैंक ही अपने आधिक्य कोषो के स्थानान्तरण के लिए स्वर्ण का प्रयोग करते थे। आज के युग मे विदेशी भुगतान स्वर्ण के माध्यम से नही किये जाते।

विदेशी भुगतान का एक अन्य तरीका आयात के बदले निर्यात करना है। वैसे तो प्रत्येक देश की यह नीति होती है कि उसके आयात का भुगतान निर्यात करके ही चुकाया जाय, परन्तु प्रत्येक देश के साथ आयात और निर्यात को सन्तुलित करना न केवल अत्यन्त कठिन होता है बल्कि दोषपूर्ण भी। इस प्रकार के व्यापार मे वस्तु विनिमय (barter) प्रणाली की सभी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं और व्यापार का क्षेत्र सीमित हो जाता है। यह सम्भव हो सकता है कि दूसरा देश अपने माल के बदले मे वह माल न लेना चाहे जिसे आयातकर्ता देना चाहता है और इस कारण उन देशो के बीच व्यापार हो ही न पाये। विदेशी मुद्राओ की कमी के कारण गत वर्षो मे कुछ देशों के बीच द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते (bilateral trade agreements) हुए हैं जिनके अन्तर्गत एक देश के माल का भुगतान दूसरे देश के माल द्वारा ही किया जाता है। रूस तथा अन्य समाजवादी देशों के साथ भारत ने इसी प्रकार के समझौते किये है। परन्तु इस प्रणाली का प्रयोग केवल कुछ वस्तुओ तथा कुछ काल के लिए केवल कुछ देशो तक ही सीमित है। सामान्य रूप मे सम्पूर्ण विश्व मे मौद्रिक विनिमय ही प्रचलित है।

वास्तव मे, विदेशी भुगतान प्राय बैंको के माध्यम से विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय करके किये जाते है और इसके लिए कुछ विशेष प्रकार के साख-पत्रो का प्रयोग किया जाता है। विदेशी भुगतानो के लिए इस प्रकार के साख-पत्रो की बैंको के पास उपलब्ध मात्रा 'विदेशी मुद्रा की पूर्ति' तथा इनके क्रय की मात्रा 'विदेशी मुद्रा की माँग' कही जा सकती है। विदेशी भुगतान के लिए प्रयोग किये जाने वाले साख-पत्र मुख्यत निम्नलिखित है :

(1) **विदेशी विनिमय बिल**—कुछ वर्षो पूर्व तक विदेशी व्यापार के भुगतान मे विदेशी विनिमय बिलो (foreign bills of exchange) का बहुत बडे पैमाने पर प्रयोग किया जाता था तथा विदेशी विनिमय-बाजार मे विनिमय बिलो की प्रधानता थी। वास्तव मे, विनिमय बिल विदेशी भुगतान के साधन नही है, परन्तु इनका प्रयोग विदेशी भुगतान को अनावश्यक बना देता है। एक साखपत्र के रूप मे, विनिमय बिल एक शर्त-रहित आज्ञापत्र है जिसमे लेनदार देनदार को आदेश देता है कि वह उसे या उसके द्वारा अधिकृत किसी अन्य व्यक्ति अथवा सस्था को बिल मे लिखी राशि का नियत अवधि मे भुगतान कर दे। देनदार अपने हस्ताक्षर कर बिल को स्वीकृति दे देता है और इसके बाद बिल लेनदार के पास वापस पहुँच जाता है। विदेशी विनिमय बिल ऋणियो की ओर से प्राय सस्थाओ (बैंको व स्वीकृति-गृहो) द्वारा स्वीकृत किये जाते है, क्योंकि व्यक्तियो की अपेक्षा सस्थाओ की साख अधिक होती है।

दो देशो के बीच अनेक लेन-देन होने के कारण कई बिलो का आदान-प्रदान होता है। मान लीजिए, 'क' व्यापारी ने दूसरे देश के व्यापारी 'ख' के नाम 10,000 रुपये का बिल जारी किया जिसे स्वीकृति देने के बाद 'क' को लौटा दिया गया। 'क' इस बिल को अपने देश मे 'ग' को बेच देता है जिसे इस बिल की रकम के बराबर भुगतान 'घ' को करना होता है जो 'ख' के ही देश का है। 'ग' इस बिल को 'घ' के पास भेज देता है जो इसकी रकम अपने देश मे इस बिल के मूल देनदार 'ख' से निर्धारित समय पर प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के आदान-प्रदान के द्वारा बिना स्वर्ण का आयात-निर्यात किये आसानी से विदेशी दायित्वो का भुगतान हो जाता है।

विदेशी व्यापार मे पहले विनिमय बिलो का इतना अधिक प्रयोग किया जाता था कि विदेशी विनिमय-बाजार को साधारणतया विदेशी विनिमय बिल-बाजार ही कहा जाता था। इन बिल-बाजारो मे विदेशी विनिमय बिल खरीदे या बेचे जाते थे जिनकी सहायता से विदेशी भुगतान तय किये जाते थे। सुविधा के लिए बिलो को स्वीकार करने के लिए स्वीकृति-गृह (Accepting Houses) स्थापित किये गये अथवा इनकी स्वीकृति तथा भुगतान बैंको द्वारा ही किये जाने लगे। इस प्रकार लेनदार बिल बनाकर जब किसी विदेशी विनिमय बैंक को दे देता है तो बैंक देनदार

के देश में स्थित अपनी शाखा को यह कागज भेज देता है। बैंक की यह शाखा देनदार से स्वीकृति और भुगतान ले लेती है और बैंक के द्वारा लेनदार को भुगतान कर दिया जाता है। यदि बिल मुद्दती है और लेनदार उसका भुगतान अवधि के पूर्व चाहता है तो बैंक बाकी अवधि की ब्याज काटकर (discount) भुगतान कर देता है।

बहुत दिनों तक विदेशी भुगतान का उपर्युक्त तरीका प्रचलित था। किन्तु विनिमय बिलों द्वारा भुगतान की व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में एक दिशा की ओर भुगतान दूसरी दिशा के भुगतान के बराबर हो। आजकल विदेशी विनिमय की समस्या एक मुद्रा का दूसरी मुद्रा के साथ प्रत्यक्ष परिवर्तनों की समस्या है जिसके परिणामस्वरूप विनिमय बिल प्रणाली का विदेशी भुगतानों के लिए उपयोग कम हो गया है।

(2) **बैंक ड्राफ्ट**—विदेशी विनिमय बैंकों की शाखाएँ प्रत्येक महत्वपूर्ण देश में पायी जाती हैं और जहाँ शाखा नहीं है वहाँ वे अन्य बैंकों से सम्बन्धित होते हैं। मान लीजिए, यदि भारत के एक व्यापारी को अमेरिका में किसी व्यापारी का भुगतान करना है तो उसके लिए भारतीय व्यापारी अमरीकी व्यापारी को बैंक ड्राफ्ट (bank draft) भेज देगा जिसके आधार पर उसे डालरों में भुगतान प्राप्त हो जायेगा। ड्राफ्ट की रकम की अदायगी करने वाला बैंक ड्राफ्ट जारी (issue) करने वाले बैंक से यह रकम विपरीत दिशा वाले किसी ड्राफ्ट या किसी अन्य साख-पत्र के द्वारा प्राप्त कर लेता है।

(3) **साख-पत्र**—साख पत्र (letters of credit) के द्वारा निर्यातकर्ता को अपने माल का तत्काल भुगतान प्राप्त हो जाता है। आयातकर्ता अपने बैंक से एक निश्चित रकम का साख-पत्र ले लेता है और निर्यातक को भेज देता है। इसके साथ ही साख-पत्र जारी करने वाला बैंक निर्यातक व्यापारी के देश में स्थित अपनी शाखा या किसी सम्बन्धित बैंक की शाखा को आदेश भेज देता है कि अमुक व्यक्ति अथवा फर्म का अमुक रकम का खाता खोल लिया गया है और उसको निर्यात किये गये माल का भुगतान निर्यातक को कर दिया जाय। निर्यातकर्ता माल जहाज में लदवाते ही अपने अधिकार-पत्र आयातकर्ता के बैंक को सौंप देता है और उनके आधार पर निश्चित रकम तक का भुगतान प्राप्त कर सकता है।

कुछ बैंक यात्रियों के लिए भी निश्चित रकम के साख पत्र लिखते हैं जिनके आधार पर उन्हें विदेशों में नकदी मिल जाती है।

(4) **यात्री चैक**—सुविधा एवं सुरक्षा की दृष्टि से यात्री अपने साथ विदेशों में नकद मुद्रा न ले जाकर अपने बैंक से निश्चित रकमों के यात्री चैक (traveller's cheques) खरीद लेते हैं। यह चैक शाखाओं तथा प्रतिनिधि बैंकों पर लिखे जाते हैं और इनका प्रयोग नोटों के समान ही हो सकता है। इन चैकों पर ग्राहक का एक हस्ताक्षर पहले से किया होता है और दूसरा हस्ताक्षर भुगतान प्राप्त करते समय करना पड़ता है। ग्राहक स्वयं इन चैकों को सम्बन्धित बैंकों से भुना सकता है और इन्हें होटल, यात्रा संस्थान, व्यापारिक संस्थाएँ आदि भी भुगतान में स्वीकार कर लेते हैं।

(5) **टेलीग्राफिक ट्रान्सफर**—विदेशों में भुगतान करने के लिए ग्राहक अपने बैंक के पास रकम जमा करा देता है और आदेश देता है कि यह रकम अमुक स्थान के अमुक व्यक्ति को दी जाय। रकम तथा आदेश प्राप्त होते ही यह बैंक अपनी विदेश स्थित शाखा अथवा प्रतिनिधि बैंक को तार अथवा समुद्री तार (cable) द्वारा निश्चित व्यक्ति को रकम चुकाने का आदेश देता है। भुगतान की इस रीति को टेलीग्राफिक ट्रान्सफर (telegraphic transfer or T T) कहते हैं। इसी प्रकार साधारण डाक द्वारा भी रकम का स्थानान्तरण किया जा सकता है जिसे मेल ट्रान्सफर (mail transfer or M T) कहते हैं, परन्तु इसमें भुगतान में विलम्ब होता है। बैंक ड्राफ्ट प्रायः डाक द्वारा ही भेजे जाते हैं।

विनिमय-दर

विनिमय-दर (exchange rate) से अभिप्राय एक मुद्रा की दूसरी मुद्रा में कीमत से है। दूसरे शब्दों में, यह वह अनुपात है जिस पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा से बदली जाती

है। कुछ अर्थशास्त्री विनिमय-दर को मुद्रा का बाह्य-मूल्य (external value) भी कहते हैं। यदि एक डालर के बदले में 7.5 रुपये देने पड़ते हैं तो यह डालर की रुपये से विनिमय-दर है। इस प्रकार अलग-अलग मुद्राओं की विनिमय-दर भी अलग-अलग होती है। विनिमय-दर की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :

"विनिमय-दर एक देश की इकाई मुद्रा के बदले में दूसरे देश की कितनी मुद्रा इकाइयाँ मिल सकती हैं, उसका माप है।"[1] —क्राउथर

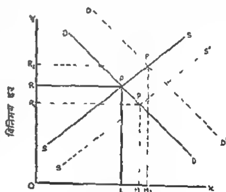
"विनिमय-दर एक देश की इकाई मुद्रा की दूसरे देश की मुद्रा में कीमत है।"[2] —हेन्स

"चलन मुद्राओं के परस्पर मूल्यों को ही विदेशी विनिमय-दर कहा जाता है।"[3]—सेयर्स

स्वतन्त्र विनिमय बाजार में बाजार विनिमय दर (market rate) तथा सामान्य विनिमय-दर (normal rate) में अन्तर हो सकता है। बाजार-दर में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है, किन्तु यह परिवर्तन प्रायः कुछ सीमाओं के आसपास ही होते हैं तथा सामान्य दर पर लौटने की प्रवृत्ति रखते हैं। विनिमय-दर में वृद्धि देश के लिए अनुकूल होती है और उसमें कमी होना प्रतिकूल होता है। विदेशी व्यापार के दृष्टिकोण से अनुकूल विनिमय-दर का यह प्रभाव होता है कि विदेशी आयातों के बदले कम मुद्रा देनी पड़ती है, विदेशी आयात सस्ते पड़ते हैं और उनकी मात्रा बढ़ने लगती है, देश में उत्पादन करने के बजाय बाहर से माल मँगवाना सस्ता होने के कारण देश में उत्पादन गिरने लगता है, निर्यात कम हो जाते हैं और विनिमय-दर भी गिर जाती है। विनिमय-दर का गिर जाना देश के लिए प्रतिकूल होता है। देशी की मुद्रा सस्ती होने के कारण निर्यात बढ़ने लगते हैं, औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है, व्यापार-सन्तुलन पक्ष में हो जाता है, देश की मुद्रा की माँग बढ़ती है और विनिमय-दर भी बढ़ने लगती है। इस प्रकार किसी भी देश की मुद्रा की विनिमय-दर बहुत अधिक समय तक अनुकूल या प्रतिकूल नहीं रह पाती।

विनिमय-दर का निर्धारण

विनिमय-दर एक मुद्रा का दूसरी मुद्रा में मूल्य है। जिस प्रकार अन्य वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण उनकी माँग और पूर्ति द्वारा होता है उसी प्रकार स्वतन्त्र विनिमय बाजार में विनिमय-दर का निर्धारण विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति की प्रतियोगी शक्तियों के द्वारा होता है। प्रस्तुत चित्र द्वारा विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति पर विनिमय-दर पर पड़ने वाला प्रभाव दिखाया गया है। OX रेखा विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति तथा OY रेखा विनिमय-दर को प्रदर्शित करती है। DD रेखा विदेशी मुद्रा की माँग तथा SS रेखा विदेशी मुद्रा की पूर्ति को व्यक्त करती है। ये दोनों रेखाएँ P बिन्दु पर एक-दूसरे को काटती हैं। यहाँ पर माँग तथा पूर्ति (OL) दोनों बराबर हैं और विनिमय-दर OR है। इस बिन्दु पर निर्धारित दर को 'समता दर' (par of exchange) कहा जाता है। यदि विदेशी मुद्रा की माँग में कोई परिवर्तन न हो और पूर्ति बढ़कर OM हो जाय तो विनिमय-दर गिरकर OR_1 हो जाता है। इसके विपरीत, जब पूर्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता परन्तु माँग बढ़कर OM_1 हो जाती है तो विनिमय-दर बढ़कर OR_2 हो जाती है।



विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति

चित्र 1

---

1 "It (rate of exchange) measures the number of units of one currency which exchange in the foreign exchange market for one unit of another." —Crowther

2 "Exchange rate is the price of one currency stated in terms of another currency."—Haines

3 "The prices of currencies in terms of each other are called foreign exchange rates."—R. S. Sayers *Modern Banking*, p. 158

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्र विनिमय-बाजार में जब पूर्ति यथास्थिर रहते हुए विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है तो विनिमय-दर में वृद्धि होती है, और जब माँग यथास्थिर रहे परन्तु पूर्ति बढ़ जाय तो विनिमय-दर गिर जाती है। साथ में यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति से क्या अभिप्राय है। संक्षेप में, हमारी विदेशी मुद्रा की माँग के पीछे किसी देश से किये गये कुल आयात का भुगतान करने की आवश्यकता होती है। विदेशी मुद्रा की पूर्ति के पीछे हमारे निर्यात होते हैं जिनका भुगतान करने के लिए विदेशी अपनी मुद्रा देकर हमारी मुद्रा खरीदना चाहते है। जब हम रुपये के बदले में डालर की माँग अथवा पूर्ति की चर्चा करते है तो डालर की माँग रुपये की पूर्ति है और डालर की पूर्ति रुपये की माँग है। विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति पर वैसे तो दो देशों के बीच पूँजी तथा ब्याज के गमनागमन इत्यादि का भी प्रभाव पड़ता है, परन्तु मुख्य प्रभाव विदेशी व्यापार सम्बन्धी भुगतानों का ही होता है। साधारणतया जब एक देश के किसी देश में आयात उस देश के निर्यात के मूल्य से अधिक होते हैं तो विदेशी मुद्रा की माँग पूर्ति से अधिक होती है, और यदि निर्यात अधिक और आयात कम होते है तो विदेशी मुद्रा की पूर्ति माँग से अधिक होती है। इन दोनों ही परिस्थितियों में विनिमय-दर का समता-दर से भिन्न होना स्वाभाविक है। [विदेशी मुद्राओं की माँग तथा पूर्ति को प्रभावित करने वाले कारणों का उल्लेख आगे किया गया है।]

अब प्रश्न यह उठता है कि विनिमय-दर किस सीमा तक समता-दर के ऊपर उठ सकती है अथवा नीचे गिर सकती है? ये सीमाएँ विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग होती है। विनिमय की समता-दर स्वयं भी विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से निश्चित होती है। भिन्न-भिन्न मुद्रा-व्यवस्थाओं में विनिमय दर का निर्धारण भिन्न-भिन्न होता है, इसलिए यह देखना आवश्यक है कि उन दोनों देशों में किस प्रकार की मुद्रा-व्यवस्था है।

साधारणत मुद्रा-व्यवस्थाएँ चार प्रकार की हो सकती हैं (1) दोनों देशों में स्वर्णमान अथवा रजतमान हो, (2) दोनों देशों में से एक में स्वर्णमान तथा दूसरे में रजतमान हो, (3) दोनों देशों में से एक में स्वर्णमान और दूसरे में पत्र-मुद्रामान हो, (4) दोनों देशों में पत्र-मुद्रामान हो। रजतमान के *अन्तर्गत विनिमय-दर का निर्धारण स्वर्णमान के ही समान होता है।* चूँकि संसार में रजतमान कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचलित नहीं रहा इसलिए स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय-दर के निर्धारण का अध्ययन करना ही पर्याप्त है। जब एक देश स्वर्णमान पर और दूसरा देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रामान पर आधारित होता है तो विनिमय-दर का निर्धारण स्वर्ण के आधार पर ही होता है। *पत्र-मुद्रामान वाले देश में मुद्रा की एक इकाई जितना स्वर्ण खरीद सकती है, और स्वर्ण-मुद्रामान* वाले देश में मुद्रा की एक इकाई जितने स्वर्ण के बराबर घोषित है, उन दोनों के अनुपात पर ही विनिमय दर आधारित होती है। वास्तव में, विनिमय-दर के निर्धारण की समस्या का अध्ययन केवल दो परिस्थितियों में करना ही काफी है—(1) जब दोनों देशों में स्वर्णमान का प्रचलन हो, तथा (2) *जब दोनों देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का प्रचलन हो।*

स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय-दर—टकसाली समता सिद्धान्त
(Mint Par Theory of Exchange)

स्वर्ण पर आधारित मुद्राओं का स्वर्ण के साथ एक निश्चित दर पर सम्बन्ध रहता है। देश में मुद्रा की मात्रा स्वर्ण कोषों के अनुपात में रखी जाती है और स्वर्ण में परिवर्तनीय होती है। साथ ही स्वर्ण का आयात-निर्यात भी स्वतन्त्र रूप से किया जा सकता है। इस प्रकार स्वर्णमान वाले देशों में विनिमय-दर के निर्धारण का आधार दोनों देशों की मुद्राओं में निहित स्वर्ण का अनुपात होता है। उदाहरणत प्रथम महायुद्ध के पूर्व एक डालर में विशुद्ध स्वर्ण की मात्रा 23 22 ग्रेन थी और एक पौण्ड में 113 0016 ग्रेन। इसी अनुपात के आधार पर विनिमय-दर 1 पौण्ड =4 866 डालर थी। इस प्रकार दो देशों की मुद्राओं में स्वर्ण की मात्रा (gold contents) के आधार पर जो विनिमय-दर निर्धारित होती है, उसे 'विनिमय की टकसाली दर' या 'टक समता-दर' (mint par of exchange) अथवा 'स्वर्ण समता-दर' (gold par exchange) कहते है।

टॉमस के शब्दों में, '**विनिमय की टकसाली दर वह अनुपात है जो एक ही धातु पद्धति वाले देशों की प्रामाणिक मुद्राओं की वैधानिक धातु मात्रा के साम्य से व्यक्त होती है।**'[1]

यदि स्वर्णमान वाले देशों में स्वर्ण चलनमान के स्थान पर स्वर्ण धातुमान अथवा स्वर्ण विनिमय मान होता है, (अर्थात् देश में स्वर्ण मुद्राएँ चलन में नहीं होती बल्कि पत्र-मुद्रा, जिसका मूल्य स्वर्ण में निश्चित कर दिया जाता है, चलन में होती है), तो भी विनिमय दर निर्धारण में कोई अन्तर नहीं पडता। उन मुद्राओं की स्वर्ण-तुल्यता का अनुपात ही उनकी टकसाली समता होती है और यही विनिमय-दर के निर्धारण का आधार होती है। टॉमस के वाक्य में "वैधानिक" (statutory) शब्द से अभिप्राय यह है कि स्वर्णमान पर आधारित देशों की मुद्रा के "वैधानिक विशुद्ध स्वर्ण-मूल्य" से ही टकसाली दर निश्चित की जाती है, न कि उसके "वास्तविक मूल्य" से। इस प्रकार टक समता में तब तक परिवर्तन नहीं होता, जब तक कोई वैधानिक परिवर्तन नहीं किया जाता। इसीलिए क्लेयर तथा क्रम्प ने लिखा है कि "विनिमय की टकसाली दर सिक्के के वास्तविक रूप पर निर्भर नहीं होती, बल्कि उसकी वैधानिक व्याख्या पर निर्भर करती है। जब तक विधान में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता, टकसाली दर में भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।"[2]

स्वर्ण-बिन्दु (Gold or Specie Points)

व्यावहारिक रूप में, विनिमय दर टकसाली दर के बराबर केवल उस स्थिति में हो सकती है जब विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति बराबर हो। चूंकि माँग म और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों म निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए इन परिवर्तनों के अनुसार विनिमय-दर में भी सदैव उतार चढाव होते हैं। इस प्रकार स्वर्णमान वाले देशों में विनिमय दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति टक-समता के बराबर होने की होती है, किन्तु व्यवहार म विनिमय-दर टक-समता से कभी ऊपर तो कभी नीचे रहती है। यह उतार-चढाव असीमित नहीं होते, बल्कि उच्चतम स्वर्ण बिन्दु (upper gold point) तथा निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु (lower gold point) के बीच सीमित रहते हैं।

मान लीजिए, इंगलैण्ड और अमेरिका के बीच भुगतान सन्तुलन अमेरिका के प्रतिकूल है, अर्थात् अमेरिका को इंगलैण्ड का भुगतान प्राप्ति से अधिक करना है तो यह स्वाभाविक है कि अमेरिका म पौण्ड की माँग उसकी पूर्ति से अधिक होगी, जिसके परिणामस्वरूप पौण्ड का मूल्य बढ जायगा। अब देखना यह है कि इसमें किस सीमा तक वृद्धि सम्भव है। यह तो हम जानते ही हैं कि स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। अब यदि अमरीकी व्यापारी यह देखता है कि विदेशी विनिमय-बाजार म पौण्ड का मूल्य बढ गया है तो वह अपना भुगतान इंगलैण्ड को स्वर्ण का निर्यात करके भी कर सकता है। परन्तु इसके लिए उसे स्वर्ण के यातायात, पैकिंग, बीमा आदि पर व्यय सहन करना पडेगा। मान लीजिए, प्रति 1 डालर के मूल्य का स्वर्ण इंगलैण्ड को भेजने में 0 1 डालर का अतिरिक्त व्यय होना है और टकसाली विनिमय-दर 1 पौण्ड=4 866 डालर है। अब यदि पौण्ड का मूल्य बाजार म 4 966 से अधिक माँगा जाता है तो अमरीकी व्यापारी इंगलैण्ड को स्वर्ण के निर्यात द्वारा भुगतान करेगा। इसलिए यह बिन्दु अमेरिका के लिए स्वर्ण निर्यात बिन्दु अथवा उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु (gold export point or upper gold point) होगा और इंगलैण्ड के लिए स्वर्ण आयात बिन्दु अथवा निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु (gold import point or lower gold point) होगा।

इसके विपरीत, जब इंगलैण्ड का भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल है तो डालर की माँग उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक होने के कारण डालर के मूल्य म वृद्धि होगी। यदि स्वर्ण के निर्यात पर इंगलैण्ड को भी उतना ही व्यय करना पडता है जितना उक्त उदाहरण म अमरिका द्वारा किया जाता है तो इंगलैण्ड के व्यापारी भी डालर का अधिकतम मूल्य 1 पौण्ड=4 966 डालर ही देंगे।

---

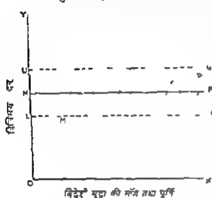
1 "The Mint Par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents of the standard monetary units of two countries on the same metallic standard —S E Thomas *Principles and Arithmetic of Foreign Exchange*, p 44

2 The Mint Par depends, in short, not on the coin itself but on the legal definition of it, not on the sovereign de facto but on the sovereign de-jure Unless and until the law is altered, the mint par cannot alter —Clare and Crump *A B C of Foreign Exchange*

इससे अधिक होने पर इंगलैण्ड से स्वर्ण का निर्यात होगा। यह इंगलैण्ड के लिए स्वर्ण निर्यात बिन्दु तथा अमेरिका के लिए स्वर्ण आयात बिन्दु होगा। दूसरे शब्दों में, इंगलैण्ड में यदि डालरों को पौण्ड में बदलना हो तो विनिमय-दर 1 पौण्ड=4.766 डालर से कम नहीं हो सकती; क्योंकि इससे कम होने पर इंगलैण्ड का व्यापारी अपने डालरों के बदले अमेरिका से स्वर्ण का आयात करेगा।

इस प्रकार किसी समय पर स्वर्ण भेजने के व्यय को टकसाली विनिमय-दर में जोड़ने से विनिमय-दर की उच्चतम सीमा (upper limit) निर्धारित होती है जो स्वर्ण निर्यात बिन्दु होता है। इसके विपरीत, स्वर्ण भेजने के व्यय को टकसाली विनिमय-दर से घटा देने पर विनिमय दर की निम्नतम सीमा (lower limit) निर्धारित होती है जो स्वर्ण आयात बिन्दु होता है। विनिमय-दर में उतार-चढ़ाव इन्हीं दो सीमाओं के बीच होते हैं। इन सीमाओं का उल्लंघन होने पर स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा विनिमय-दर इन दो बिन्दुओं के बीच पुनः आ जायेगी।

प्रस्तुत रेखाकृति में *MP* रेखा टक-समता दर को व्यक्त करती है। *UG* उच्चतम स्वर्ण बिन्दु तथा *LG* निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु को प्रदर्शित करती है। *MR* बाजार विनिमय-दर को प्रकट करती है जो दो सीमाओं के बीच ही रहता है। उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु 4.966 डालर के बराबर है और निम्नतम बिन्दु 4.766 डालर के बराबर, जबकि टक समता-दर 1 पौण्ड=4.866 डालर है।



चित्र 2

यह स्मरण रहे कि स्वर्णमान स्वचलित-मान होता है। व्यापार-असन्तुलन के कारण जैसे ही स्वर्ण का देश से निर्यात होने लगता है, स्वर्ण की मात्रा देश में कम हो जाने से मुद्रा-संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप कीमत स्तर गिर जाता है, आयात कम हो जाते हैं और निर्यात बढ़ते हैं। दूसरी ओर, स्वर्ण आयात करने वाले देश में मुद्रा-प्रसार होता है जिससे कीमतें बढ़ती हैं, वस्तुओं के आयात को प्रोत्साहन मिलता है और निर्यात गिर जाते है। इस प्रकार दोनों देशों में स्वर्ण के आयात निर्यात से व्यापार अपने आप सन्तुलित हो जाता है। प्रतिष्ठित (classical) अर्थशास्त्री इस क्रिया को 'कीमत-स्वर्ण प्रवाह क्रिया' (Price-Specie flow mechanism) कहते थे।

अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रामान के अन्तर्गत विनिमय-दर—क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory)

जब दो देशों में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा चलन में होती है तो उनमें विनिमय-दर का निर्धारण दोनों मुद्राओं की क्रय-शक्ति के अनुपात द्वारा होता है। क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) की अपूर्ण रूपरेखा 1803 में जॉन व्हीटले (John Wheatley) और 1810 में विलियम ब्लेक (William Blake) के लेखों में मिलती है, जिसको डेविड रिकार्डो (David Ricardo) ने पुनः प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप में वैज्ञानिक ढंग से विकसित करने का श्रेय स्वीडन के अर्थशास्त्री प्रो० गुस्टाव कैसल (Gustav Cassel) को है। क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का विकास कैसल द्वारा प्रथम महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों में किया गया जब स्वर्णमान त्याग देने से यूरोप के देशों में अधि-स्फीति की समस्या गम्भीर हो गयी थी तथा विदेशी विनिमय दरों में बड़े तीव्र परिवर्तन हो रहे थे। उन्होंने मुख्य रूप से समस्या के दो पहलुओं का अध्ययन किया—एक तो यह कि विनिमय-दर का निर्धारण किस प्रकार होता है, और दूसरे, विनिमय-दर में परिवर्तन क्यों और कितने होते हैं?

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की व्याख्या

क्रय-शक्ति समता के सिद्धान्त के अनुसार जो देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रामान पर होते हैं,

उनके बीच 'उचित विनिमय-दर' (proper rate of exchange or equilibrium rate of exchange) इन देशो की मुद्रा की क्रय-शक्ति साम्य (purchasing power par) के आधार पर निर्धारित होती है। इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न लेखकों ने इस प्रकार की है

स्वय गुस्टाव कैसल के अनुसार, "दो मुद्राओं के मध्य विनिमय-दर आवश्यक रूप से इन मुद्राओं की आन्तरिक क्रय शक्तियो के भजनफल पर निर्भर होनी चाहिए। यदि हम इस सत्य पर ध्यान दें तो यह सहज ही देखा जा सकता है कि जो मूल्य हम विदेशी मुद्रा मे देते है वह ऐसा मूल्य है जिसका अन्तिम दशा मे देशी बाजार में वस्तुओं के मूल्यों से एक निश्चित सम्बन्ध होता है।"[1]

प्रो० कोल के अनुसार, "राष्ट्रीय मुद्राओं का पारस्परिक मूल्य, जब विशेष रूप से वे स्वर्ण-मान पर नही होतीं, दीर्घकाल म उनकी वस्तुओं और सेवाओ मे क्रय शक्ति द्वारा निर्धारित होता है।"[2]

टॉमस के शब्दो मे, 'एक देश की मुद्रा का मूल्य दूसरे देश की मुद्रा के रूप मे किसी विशेष समय पर बाजार की माँग और पूर्ति की दशाओ द्वारा निर्धारित होता है, दीर्घकाल मे यह मूल्य उन देशो की मुद्राओ के सापेक्षिक मूल्य द्वारा निश्चित होता है, जबकि उन देशो की मुद्रा की क्रय-शक्ति अपने-अपने देश की वस्तुओ और सेवाओ के रूप म होती है। दूसरे शब्दो मे, विनिमय-दर मे उसी बिन्दु पर स्थिर रहने की प्रवृत्ति होती है जहाँ दोनो देशो की मुद्राओं की क्रय-शक्ति समान होती है। इस बिन्दु को ही क्रय-शक्ति साम्य कहते है।'[3]

साधारण तौर पर यदि अमेरिका मे एक डालर की क्रय-शक्ति भारत मे रुपये की क्रय-शक्ति से पाँच गुना अधिक है तो डालर और रुपये की विनिमय-दर 1 डालर=5 रुपये होगी। इसी प्रकार यदि इगलैण्ड मे पौण्ड की क्रय शक्ति अमेरिका म डालर की क्रय-शक्ति से चार गुना अधिक है तो पौण्ड और डालर मे विनिमय-दर 1 पौण्ड=4 डालर होगी। यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि मुद्रा की क्रय शक्ति अलग-अलग वस्तुओ के लिए अलग-अलग होती है। यदि किसी एक वस्तु मे दो देशों की मुद्राओ के क्रय-शक्ति साम्य के आधार पर विनिमय-दर निर्धारित करने का प्रयास किया जाता है तो वह सही नही है। वास्तव मे, पत्र-मुद्रामान के अन्तर्गत कोई भी वस्तु ऐसी नही हो सकती जिसे विभिन्न देशो मे मुद्रा की क्रय-शक्ति के मापक के रूप मे स्वीकार किया जा सके। इस कठिनाई को सामने रखते हुए मुद्रा की क्रय-शक्ति का अनुमान किसी एक वस्तु की कीमत के आधार पर नही अपितु वस्तुओ के एक समूह की कीमता के आधार पर लगाया जाता है। इस उद्देश्य से पत्र-मुद्रामान वाले देशो के लिए आवश्यक है कि वे सामान्य कीमत निर्देशाक (general price index) एकत्र करें। इसमे सम्मिलित की जाने वाली वस्तुओ के प्रकार तथा मात्रा का चुनाव बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिए और सामान्यत उन सभी वस्तुओ को इसमे शामिल कर लेना चाहिए जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे महत्वपूर्ण स्थान है। दोनो देशो मे मुद्राओ की सामान्य क्रय-शक्ति के अनुपात के आधार पर उन दोनो के बीच विनिमय-दर का निर्धारण होता है।

विनिमय दर में परिवर्तन—क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त विनिमय-दर म होने वाले परिवर्तनो

---

1 "The rate of exchange between two currencies must stand essentially on the quotient of the internal purchasing power of those currencies This is easily seen if we reflect on the fact that the price paid in foreign currency is ultimately a price which must stand in a certain relation to the prices of commodities in the home market"—Gustav Cassel in his article on *'Foreign Exchange* in *Encyclopedia Britanica*

2 "The relative values of national currencies, specially when they are off the gold standard, in the long-run are determined by their relative purchasing powers in terms of goods and services"—G D H Cole *What Everybody Wants to Know About Money*

3 "While the value of the unit of one currency in terms of another currency is determined at any particular time by the market conditions of demand and supply, in the long run, that value is determined by the relative values of the two currencies as indicated by their relative purchasing power over goods and services in their respective countries In other words, the rate of exchange tends to rest at that point which expresses equality between the respective purchasing powers of two currencies This point is called the Purchasing Power Parity —S E Thomas *The Principles and Arithmetic of Foreign E*

के कारणों के साथ-साथ परिवर्तन के अनुपात को भी स्पष्ट करता है। प्रो० कैसल के अनुसार विनिमय-दर ठीक उसी अनुपात में बढ़ती है जिस अनुपात में अन्य देशों की अपेक्षा कीमत-स्तर में कमी होती है और ठीक उसी अनुपात में कम होती है जिस अनुपात में अन्य देशों की अपेक्षा कीमत-स्तर में वृद्धि होती है। इस प्रकार जब दो देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति (अर्थात् सामान्य कीमत-स्तर) में परिवर्तन हो गया है तो उनके बीच विनिमय-दर में भी परिवर्तन होगा। इस परिवर्तन का अनुपात जानने की रीति प्रो० कैसल ने यह बतायी है कि जब दो मुद्राओं का प्रसार हुआ है तो उनके बीच सामान्य विनिमय-दर दोनों देशों में स्फीति की मात्रा के भजनफल (quotient) को पुरानी विनिमय-दर से गुणा करके ज्ञात किया जा सकता है।[1] इसे ऐसे भी व्यक्त किया जा सकता है कि—

$$\text{विनिमय दर} = \frac{\text{आधार वर्ष में विनिमय-दर} \times \text{आन्तरिक कीमत-निर्देशांक}}{\text{विदेशी कीमत-निर्देशांक}}$$

मान लीजिए, आधार वर्ष में जब भारत तथा अमेरिका दोनों देशों में सामान्य कीमत-निर्देशांक 100 था तो 1 डालर की क्रय-शक्ति 5 रुपयों के बराबर होने के कारण विनिमय-दर 5 रुपये = 1 डालर थी। दोनों ही देशों में मुद्रा स्फीति के कारण कीमतें बढ़ीं जिसके परिणामस्वरूप भारत में कीमत-निर्देशांक 300 हो गया और अमेरिका में 200। इस प्रकार भारत में अमेरिका की अपेक्षा कीमतों में अधिक वृद्धि हुई, अर्थात् रुपये के आन्तरिक मूल्य में डालर के आन्तरिक मूल्य की अपेक्षा अधिक गिरावट हुई। इसका प्रभाव यह होगा कि डालर की तुलना में रुपये का विदेशी मूल्य गिर जायेगा और विनिमय-दर में इस प्रकार परिवर्तन होगा—

$$\text{विनिमय-दर} = \frac{5 \text{ रुपये} \times 300}{200} = 7.50 \text{ रुपये}$$

इस प्रकार वर्तमान विनिमय-दर 7.50 रुपये = 1 डालर होगी। इसे इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है—

डालर × अमेरिकी कीमत-निर्देशांक = रुपया × भारतीय कीमत-निर्देशांक, अथवा 1 डालर × 200 = 5 रुपये × 300 अर्थात् 200 डालर = 1500 रुपये अथवा 1 डालर = 7.50 रुपये।

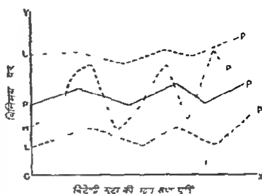
यह स्पष्ट है कि उक्त उदाहरण के अनुसार रुपये की क्रय शक्ति डालर की तुलना में 50 प्रतिशत अधिक कम हुई है और ठीक इसी अनुपात में रुपये की डालर से विदेशी विनिमय-दर भी गिर गयी है।

प्राय ऐसा कहा जाता है कि जिस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय-दर की प्रवृत्ति टक-समता दर के समान रहने की होती है और बाजार-दर इसी के आसपास रहती है, अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के अन्तर्गत बाजार विनिमय-दर की प्रवृत्ति भी क्रय-शक्ति साम्य पर आधारित सामान्य विनिमय-दर के बराबर रहने की होती है। बाजार-दर इससे बहुत अधिक भिन्न होने पर माँग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियाँ इसे पुन सन्तुलित कर देती हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि धातुमान देशों में और पत्र मुद्रामान देशों में विनिमय-दर के निर्धारण में कुछ आधारभूत अन्तर होते हैं।

स्मरण रहे कि टक-समता (mint par) एक निश्चित व स्थिर समता है, जिसमें विधान में परिवर्तन किये बिना कोई भी परिवर्तन सम्भव नहीं होता, जबकि क्रय शक्ति-समता एक अस्थिर समता (moving par) है जिसमें समय समय पर कीमतों में परिवर्तन के कारण घटा-बढ़ी होती रहती है। इसके अतिरिक्त, स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय-दर में परिवर्तन स्वर्ण-बिन्दुओं (gold points) तक सीमित रहते हैं। इसी प्रकार पत्र-मुद्रामान के अन्तर्गत बाजारी विनिमय-दर में घटा-बढ़ी की सीमाएँ वस्तुओं के परिवहन-व्यय, निर्यात व आयात कर, बीमे व बैंक की सेवाओं

1 "When two currencies have undergone inflation, the normal rate of exchange will be equal to the old rate multiplied by the quotient of the degree of inflation in the one country and in the other."—Gustav Cassel *Money and Foreign Exchange after 1914*

के व्यय, विदेशो मे विज्ञापन व्यय आदि द्वारा निर्धारित होती है। परन्तु यह सीमाएँ भी स्वर्णमान मे स्वर्ण-बिन्दुओ के समान निश्चित नहीं होती हैं। अल्पकाल मे किन्ही आर्थिक कारणो से यह सीमाएँ प्राय ऊपर-नीचे होती रहती हैं।



चित्र 3

प्रस्तुत रेखाचित्र से यह स्पष्ट है कि क्रय शक्ति समता सिद्धान्त के अन्तर्गत न तो सामान्य विनिमय-दर ही एक स्थिर समता है और न ही इसके उतार-चढ़ाव की सीमाएँ स्थिर होती हैं। बाजार विनिमय-दर का अस्थिर रहना तो स्वाभाविक ही है। *PP* रेखा क्रय-शक्ति-समता की अस्थिर दर (purchasing power parity moving rate), *UP* रेखा उच्चतम सीमा तथा *LP* निम्नतम सीमा को व्यक्त करती हैं। *MP* रेखा बाजार विनिमय-दर को दर्शाती है।

क्रय-शक्ति-समता-सिद्धान्त की आलोचनाएँ

समय-समय पर क्रय-शक्ति सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ की गयी हैं जो इसकी विभिन्न त्रुटियो पर प्रकाश डालती हैं। मुख्य आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं

(1) **विनिमय-दर का निर्धारण एकमात्र कीमत-स्तर मे परिवर्तनो के आधार पर नहीं होता**—क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त के अनुसार मुद्राओ को क्रय-शक्ति (अथवा दो देशो म कीमत-स्तर) मे परिवर्तन विनिमय-दर को प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि कीमत-स्तर म कोई परिवर्तन न होने पर भी देशो की मुद्राओं की विनिमय-दर म निम्न कारणो से परिवर्तन हो सकते हैं

1 **विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति**—मुद्रा-बाजार म विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति का निर्धारण केवल माल के आयात-निर्यात से ही प्रभावित नही होता। वास्तविकता यह है कि वस्तु आयात-निर्यात के अतिरिक्त विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति कुछ अन्य कारणो से भी उत्पन्न होती है, जैसे विदेशी ऋण अथवा विनियोजन, सट्टे वालो के सौदे, विदेशी मुद्रा के अनेक प्रकार मे प्रत्यक्ष लेन-देन इत्यादि। किन्ही कारणो से किसी देश के मुद्रा-बाजार मे डालर की पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक हो जाने पर, कीमत-स्तर पर कोई प्रभाव पडे बिना, डालर की विनिमय-दर कम हो जायेगी। इसके विपरीत, यदि डालर की पूर्ति माँग की अपेक्षा कम है तो उसकी विनिमय-दर मे स्वभावत वृद्धि होगी। इस प्रकार विनिमय-दर का निर्धारण अकेले वस्तुओ की कीमतो से ही नहीं वल्कि उन मुद्राओ की माँग तथा पूर्ति से भी प्रभावित होता है। इस सिद्धान्त द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाह की उपेक्षा करने के कारण ही केन्ज ने इसकी आलोचना की थी।

2 **वस्तुओ की माँग मे परिवर्तन**—हॉम के अनुसार दो देशो के बीच साम्य विनिमय-दर (equilibrium rate of exchange) दो देशो की पारस्परिक वस्तुओ की माँग में वृद्धि और कमी के द्वारा प्रभावित होती है, चाहे कीमत-स्तर म कोई परिवर्तन न हो।[1] आय और रोजगार की स्थिति म परिवर्तन वस्तुओ की माँग को प्रभावित करते हैं जिसके परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय-बाजार म मुद्राओ की माँग एव

---

1 "The equilibrium rate of exchange between the monetary units of two countries is affected by every increase or decrease of one country's products even though the price levels may stay the same —Halm *Monetary Theory*, p. 205.

पूर्ति में परिवर्तन होने के कारण उनकी विनिमय-दरें भी प्रभावित होती हैं। आलोचकों के अनुसार यह सिद्धान्त राष्ट्रों की आय तथा रोजगार के महत्वपूर्ण तत्वों की उपेक्षा कर केवल कीमत-स्तर के परिवर्तन को ही महत्वपूर्ण तत्व मानता है। साथ ही यह सिद्धान्त व्यापार-चक्र के विदेशी व्यापार पर पडने वाले प्रभाव की भी अवहेलना करता है।

प्रो॰ रैगनर नर्क्स (Ragner Nurkse) ने क्रय-शक्ति-समता-सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है, "यह सिद्धान्त केवल कीमत परिवर्तनों को ही माँग का कारण समझता है तथा व्यापार चक्र की अवधि में आय तथा व्यय में होने वाले भारी परिवर्तनों की ओर कोई ध्यान नहीं देता है। यह सिद्धान्त अन्य महत्वपूर्ण शक्तियों के प्रभाव को बिलकुल भुला देता है। यह सिद्धान्त इस महत्वपूर्ण सत्य पर कोई प्रकाश नहीं डालता है कि किस प्रकार व्यापार-चक्र के काल में मूल्य स्थिर रहते हुए आय तथा व्यय में उच्चावचन होने पर विनिमय दर में भी उच्चावचन उत्पन्न हो जाते हैं।"[1]

3 **तट-कर नीति का प्रभाव**—विनिमय-दर पर आयात व निर्यात-करों की दरों का भी प्रभाव पडता है। यदि एक देश अपने आयातों पर कर लगा देता है तो उस देश की मुद्रा इकाई के विदेशी मुद्रा मूल्य अथवा विनिमय-दर में वृद्धि होती है। कोई भी देश जिसकी विदेशी विनिमय-बाजार में स्थिति अच्छी है, तट-कर के द्वारा अपनी मुद्रा की विनिमय दर को ऊँचा रख सकता है। मान लीजिए, अमेरिका इगलैण्ड के माल पर भारी आयात-कर लगाकर उसके माल के आयात को बहुत कम कर देता है, परन्तु इगलैण्ड आर्थिक परिस्थितियों के कारण अमेरिका से आवश्यक वस्तुओं का आयात करने के लिए बाध्य है। परिणामस्वरूप अमेरिका से इगलैण्ड को निर्यात अधिक होंगे और इगलैण्ड से अमेरिका को आयात कम। इगलैण्ड में डालर की माँग उसकी पूर्ति से अधिक होगी और डालर का पौण्ड में मूल्य बढ जायेगा, जबकि डालर के आन्तरिक मूल्य अथवा क्रय-शक्ति में परिवर्तन करना आवश्यक नहीं है।

4 **अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन**—किन्हीं दो देशों में कीमतों के समान रहते हुए भी पारस्परिक आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन हो जाने से विनिमय दर में परिवर्तन हो सकता है। इन दो देशों के बीच विदेशी व्यापार के क्षेत्र में यदि कोई तीसरा प्रतियोगी देश प्रवेश कर ले तो इनके पारस्परिक व्यापार की मात्रा पर अवश्य प्रभाव पडेगा जिसके परिणामस्वरूप विनिमय-दर भी प्रभावित होगी।

5 **सामान्य अनुभव**—व्यावहारिक रूप में भी अभी तक का सामान्य अनुभव क्रय-शक्ति-समता-सिद्धान्त की सत्यता को सिद्ध नहीं करता है। गत वर्षों का अनुभव यह बताता है कि विनिमय-दर मुद्राओं की क्रय शक्ति-समता के आधार पर निर्धारित नहीं होती। कीमतों में परिवर्तन हो जाने पर भी सरकार ऐसे उपाय करती है जिससे विनिमय-दर में स्थिरता बनी रहे। इस प्रकार इस सिद्धान्त का व्यावहारिक जीवन में कोई विशेष महत्व नहीं है।

(2) **क्रय-शक्ति समताएँ नापने की कठिनाइयाँ**—क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त का बहुत बडा दोष यह है कि क्रय शक्ति समताएँ ठीक प्रकार से नापी नहीं जा सकती। इसमें निम्नलिखित कठिनाइयाँ होती हैं

1 **निर्देशांक की त्रुटियाँ**—मुद्राओं की क्रय-शक्ति नापने का साधन निर्देशांक (index numbers) हैं। वास्तविक स्थिति की जानकारी के लिए निर्देशांक प्राय विश्वसनीय साधन नहीं होते। इनमें कीमत-स्तर में परिवर्तनों की केवल अनुमानजनक जानकारी प्राप्त हो सकती है। अनुमानजनक परिवर्तन वास्तविक परिवर्तनों से भिन्न होते हैं। निर्देशांकों में एक अन्य दोष यह रहता है कि ये सदा ही भूतकाल से सम्बन्धित रहते

---

1 Ragner Nurkse *International Currency Experience*, p 126

हैं। इनकी सहायता से वर्तमान स्थिति ज्ञात नही हो पाती, इसलिए इन पर आधारित विनिमय-दर का वास्तविक विनिमय-दर से भिन्न होना स्वाभाविक ही है।

2 **सामान्य कीमत-स्तर मे सम्मिलित वस्तुएँ**—मुद्रा की क्रय शक्ति मे परिवर्तन की मात्रा का अनुमान सामान्य कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो के आधार पर लगाया जाता है। सामान्य कीमत-स्तर मे सम्मिलित वस्तुओ की सूची विभिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न होती है। प्राय. देश मे उपभोग की जाने वाली प्रत्येक महत्वपूर्ण वस्तु इसमे सम्मिलित होती हैं, चाहे उसका विदेशी व्यापार मे कुछ भी महत्व न हो। केवल देशी व्यापार की वस्तुओ की कीमतो मे परिवर्तन विनिमय-दर को प्रभावित नहीं करते। विनिमय-दर के निर्धारण के लिए वास्तव मे आवश्यकता इस बात की होती है कि सब प्रकार की वस्तुओ का वर्गीकरण देशी तथा विदेशी व्यापार के महत्व के आधार पर किया जाय। परन्तु ऐसा कर पाना सम्भव नही होता, क्योंकि एक वस्तु एक समय विदेशी व्यापार के महत्व की हो सकती है, परन्तु अन्य किसी समय मे उसका आयात-निर्यात न होने के कारण उसका महत्व नही रहता। इसके साथ साथ हमे ऐसी वस्तुओ की कीमतो पर भी विचार करना होगा है जिनमे वर्तमान समय मे विदेशी व्यापार नही होता है, किन्तु जिनमें भविष्य मे व्यापार की सम्भावनाएँ हैं। चूंकि सामान्य कीमत-स्तर से केवल औसत (average) स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है, इसके आधार पर निर्धारित विनिमय-दर वास्तविक विनिमय-दर के अनुरूप नही होती है।

3 **कीमत-स्तर की अस्पष्ट एव भ्रमपूर्ण धारणा**—कीमत-स्तर मे परिवर्तन निर्देशाक के द्वारा नापे जाते हैं। विभिन्न प्रकार के कीमत-निर्देशाको मे थोक कीमतो (wholesale prices) का निर्देशाक सबसे उत्तम समझा जाता है। परन्तु यदि इसके आधार पर दो देशो की मुद्राओ की क्रय शक्ति-समता नापी जाय तो इसमे हम सेवाओ तथा अदृश्य व्यापार की अन्य मदो को छोड देते हैं। दूसरी ओर, यदि जीवन-स्तर निर्देशाक (cost of living index) को आधार माना जाय तो इसमे कई प्रकार के व्यय (जैसे मकान का किराया) सम्मिलित होगे जिनका विदेशी व्यापार से कोई सम्बन्ध नही होता। इस प्रकार कीमत-स्तर एक ऐसी अस्पष्ट धारणा है जिसे न केवल नापना बहुत कठिन होता है बल्कि उसका विनिमय-दर के निर्धारण के लिए महत्व निश्चित करना और भी अधिक कठिन होता है।

(3) **विनिमय-दर का कीमत-स्तर पर प्रभाव**—गुस्टाव कैसल के अनुसार कीमत-स्तर मे परिवर्तन विनिमय-दर को प्रभावित करते हैं, किन्तु विनिमय-दर मे परिवर्तन का कीमत-स्तर पर कोई प्रभाव नही पडता। व्यावहारिक अनुभव से पता चलता है कि विनिमय-दरो मे होने वाले परिवर्तन कीमत-स्तर को अवश्य प्रभावित करते हैं। जो देश विदेशी व्यापार पर अधिक आश्रित हैं, उनमे तो यह प्रभाव विशेष रूप से काफी अधिक होता है। मान लीजिए, किन्ही कारणो से पौण्ड का विदेशी मूल्य गिर जाता है तो इगलैण्ड मे आयात की जाने वाली कच्ची सामग्री तथा अन्य वस्तुएँ महँगी हो जायेंगी। परिणामस्वरूप कीमत-स्तर ऊँचा हो जायेगा, अर्थात् पौण्ड की क्रय-शक्ति गिर जायेगी। इसका दूसरा प्रभाव यह होगा कि जिन देशो की मुद्राओ का मूल्य पौण्ड के रूप मे अधिक हो गया है, वे इगलैण्ड से अधिक माल मँगवायेंगे। इगलैण्ड का माल विदेशो मे सस्ता पडने के कारण इसका प्रभाव आयात करने वाले देश के कीमत-स्तर पर भी पडेगा। इस प्रकार विनिमय-दर मे परिवर्तन हो जाने पर न केवल उस देश मे कीमत-स्तर पर प्रभाव पडता है, बल्कि अन्य देशो के कीमत-स्तर भी प्रभावित होते हैं।

वास्तव मे, किसी वस्तु का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो सकता है या नहीं, इसके लिए विनिमय-दर पहले से मालूम होनी चाहिए। क्रय-शक्ति-समता-सिद्धान्त की यह मान्यता कि विनिमय-दर का निर्धारण कीमत-स्तर पर निर्भर करता है, एक प्रकार से घोडे के आगे गाडी रख देना है।

(4) **गलत मान्यताएँ**—क्रय शक्ति समता का निर्धारण इस मान्यता पर आधारित है कि सम्बन्धित देशों में कीमतों में होने वाले परिवर्तन सभी वस्तुओं को समान अनुपात में प्रभावित करते हैं।[1] केन्ज के मतानुसार यह मान्यता गलत है। ऐसा सोचना केवल एक कल्पना मात्र है कि सभी वस्तुओं की कीमतों पर एक ही प्रकार का प्रभाव पडता है।

क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की एक अन्य मान्यता यह है कि देश की वस्तुओं की विदेशों में माँग इकाई अथवा सम (unity) के बराबर होती है, अर्थात् जिस अनुपात में कीमतों में परिवर्तन होता है उसी अनुपात में माँग में भी परिवर्तन होता है। व्यवहार में प्रायः विदेशी वस्तुओं की माँग की लोच इकाई से कम या ज्यादा होती रहती है। इसका इकाई के बराबर रहना आवश्यक नहीं है।

यह सिद्धान्त इस बात को मानकर चलता है कि संसार के सब देशों में स्वतन्त्र व्यापार (free trade) होता है। यह मान्यता भी पूर्णतया गलत है। वर्तमान समय में लगभग सभी देशों में आयात निर्यात तथा स्वतन्त्र लेन-देन पर प्रतिबन्ध है।

(5) **दीर्घकालीन विवेचना**—क्रय शक्ति समता-सिद्धान्त, वास्तव में, विदेशी विनिमय-दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। अल्पकालीन दृष्टि से यह सिद्धान्त पूर्णतया असन्तोषजनक है। व्यवहार में, अल्पकालीन तत्वों के प्रभावों के उपचार के लिए दीर्घकाल तक प्रतीक्षा कर पाना असम्भव होता है क्योंकि, जैसाकि केन्ज ने कहा है, दीर्घकाल में तो हम सब मर जाते हैं और कोई आर्थिक समस्या रहती ही नहीं।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विविध आलोचनाओं से यह नहीं समझना चाहिए कि क्रय शक्ति-समता-सिद्धान्त का कोई महत्व है ही नहीं। टकसाली समता सिद्धान्त की तुलना में यह सिद्धान्त कहीं अधिक व्यावहारिक समयानुकूल तथा सरल है। इस सिद्धान्त की यह विशेषता है कि यह सब प्रकार की चलन पद्धति अथवा सब प्रकार की मुद्राओं पर लागू होता है। इस सिद्धान्त की आधारभूत मान्यता कि कीमत स्तर तथा विनिमय दर के बीच एक निश्चित सम्बन्ध होता है, मौद्रिक नीति के लिए व्यावहारिक महत्व की बात है और इससे राष्ट्रों को एक प्रकार की चेतावनी भी मिलती है। क्राउथर के शब्दों में "इस बात का ज्ञान कि कीमतों और विनिमय दर में गहरा सम्बन्ध है, मुद्रा नीति की दृष्टि से बहुत कुछ व्यावहारिक महत्व का है, क्योंकि 'क्रय शक्ति समता-सिद्धान्त सचेत करता है कि अनेक उद्देश्यों की प्राप्ति कीमतों और विनिमय दर के सम्बन्ध के कारण सम्भव नहीं हो सकती।'[2]

यह ठीक है कि क्रय शक्ति समताओं द्वारा साम्य दरों को निकालने में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं परन्तु फिर भी असाधारण परिस्थितियों में इस सिद्धान्त के आधार पर विनिमय-दर में परिवर्तन की अनुमानजनक सीमाएँ तो निर्धारित की ही जा सकती हैं। हॉम के अनुसार, "क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त का लाभ व पूर्ण उपयोग उस समय सम्भव हो सकता है जब हम पूर्णरूपेण अंधकार में हों उदाहरणार्थ दीर्घकालीन विनिमय-नियन्त्रण अथवा भयंकर मुद्रा प्रसार के काल के पश्चात। ऐसी स्थिति में क्रय शक्ति समता यदि वास्तविक नहीं तो कम से कम अनुमानजनक सन्तुलित विनिमय दर की सीमाएँ निश्चित करने में महत्वपूर्ण हो सकती है।'[3]

इस प्रकार इस सिद्धान्त की सहायता से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी समय में दो देशों के बीच व्यापार का रुख (direction of trade) किस दिशा में होगा। इसकी सहा-

1 'Calculation of purchasing power parity rests strictly on the proviso that the rise in prices in the countries concerned has affected all commodities in a like degree —*Gustav Cassel Money and Foreign Exchange after 1914* p 139

2 'The recognition that there is a close connection between prices and exchange rates has a certain practical importance from the point of view of currency policy, for it warns countries that there are certain things they cannot do —Crowther *An Outline of Money*, p 232

3 'The purchasing power approach may be used with advantage when we are entirely in the dark as after long periods of exchange control or after violent fluctuations Then it is valuable to use it for finding atleast the approximate range within which the equilibrium rate should be located —George N Halm *Monetary Theory* p 228

यता से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि मुद्रा के आन्तरिक मूल्यों में परिवर्तन का विदेशी व्यापार की मात्रा पर क्या प्रभाव पड सकता है ।[1]

पिछले कुछ वर्षों में भारत में कीमतें अन्य देशों की अपेक्षा अधिक तेजी से बढती रही है, जिसके परिणामस्वरूप रुपये का वैधानिक बाह्य मूल्य स्थिर रहने पर भी इसकी बाजार में विनिमय-दर गिर गयी । जून 1966 में रुपये के अवमूल्यन (devaluation) का सबसे बडा कारण यही बताया गया था । इससे यह स्पष्ट होता है कि सन्तुलित विनिमय-दर में क्रय-शक्ति के आस-पास निश्चित होने की प्रवृत्ति पायी जाती है, भले ही यह अल्पकाल में इससे भिन्न हो ।

भुगतान-सन्तुलन-सिद्धान्त (Balance of Payments Theory)

जिस प्रकार टक समता सिद्धान्त मुद्रा के टकसाली मूल्य तथा क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त मुद्रा की आन्तरिक क्रय शक्ति पर आधारित हैं, विनिमय दर निर्धारण का भुगतान सन्तुलन-सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि निर्यात ही आयातो का भुगतान करते हैं (Exports pay for the imports) । इससे अभिप्राय यह है कि सन्तुलित विनिमय-दर के निर्धारण के लिए किसी देश के कुल आयातो व कुल निर्यातो का मूल्य समान होना चाहिए ताकि प्रत्येक देश के भुगतान (payments) तथा आय (receipts) समान हो । इस सिद्धान्त को विदेशी विनिमय का सन्तुलन-सिद्धान्त (The Equilibrium Theory of Foreign Exchange) भी कहा जाता है । इस प्रकार, इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि विनिमय-दर का निर्धारण देश की भुगतान-सन्तुलन की स्थिति से प्रभावित होता है ।

सामान्य रूप में तो आयातो का भुगतान निर्यातो द्वारा किया जाता है, अर्थात् निर्यातो द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा का प्रयोग आयातो के भुगतान करने के लिए किया जाता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि किसी भी देश का व्यापार-सन्तुलन सदा सन्तुलित रहे । भुगतान सन्तुलन में व्यापार-सन्तुलन के अतिरिक्त लेन-देन की अन्य मदे भी सम्मिलित रहती हैं । अत भुगतान-सन्तुलन अनुकूल भी हो सकता है तथा प्रतिकूल भी । इस सिद्धान्त के अनुसार भुगतान सन्तुलन की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता विनिमय-दर में परिवर्तनों को प्रभावित करती है ।

भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल होने की स्थिति में उस देश द्वारा विदेशी मुद्रा की माँग बढ जाती है । विदेशी मुद्रा, अधिक माँग होने के कारण, इस देश के लिए महँगी हो जाती है । दूसरे शब्दों में, देश की मुद्रा का विदेशी मूल्य गिर जाता है । इसके विपरीत, अनुकूल भुगतान सन्तुलन के परिणामस्वरूप इस देश की मुद्रा की माँग विदेशो में बढ जाती है जिससे इस मुद्रा का विदेशी मूल्य बढ जाता है तथा विनिमय-दर इस देश के अनुकूल हो जाती है । अत हम कह सकते हैं कि किसी भी देश की मुद्रा का विदेशी मुद्राओ में मूल्य विदेशी विनिमय-बाजार में किसी भी मुद्रा विशेष की माँग तथा पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियो द्वारा निर्धारित होता है । भुगतान-सन्तुलन-सिद्धान्त वास्तव में विदेशी विनिमय की सामान्य माँग और पूर्ति का सिद्धान्त है, क्योकि माँग और पूर्ति के पारस्परिक व्यवहार द्वारा ही मुद्राओ की विनिमय-दर निर्धारित होती है ।

आलोचना—विनिमय-दर निर्धारण का भुगतान-सन्तुलन-सिद्धान्त भी त्रुटियो से रहित नहीं है, इसलिए इसकी निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती हैं

(1) **गलत मान्यताएँ**—इस सिद्धान्त द्वारा भुगतान-सन्तुलन को एक स्थिर अथवा निश्चित मात्रा (fixed quantity) मानना तथा विदेशो से आयात की जाने वाली अनेक वस्तुओ का आयात पूर्णतया बेलोच (perfectly inelastic) स्वीकार करना सर्वथा गलत है । वास्तविकता यह है कि वस्तु, चाहे वह कितनी ही आवश्यक क्यो न हो, की माँग पूर्णतया बेलोच नहीं होती । उनकी माग में कुछ न कुछ लोच का अंश अवश्य होता है ।

(2) **कीमतो का प्रभाव**—देश में कीमत-स्तर आयात तथा निर्यात की मात्रा को प्रभावित

---

1 "At best the purchasing power par can be utilized by nations on the convertible paper standard as a "compass" with which to locate the approximate leanings of the equilibrium rate of exchange between any pair of countries"—Steiner, Shapiro, Solomon

करते हैं। कीमत-स्तर नीचा होने पर निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है और आयात कम होते हैं। विदेशी व्यापार की मात्रा मे परिवर्तन अन्तत भुगतान-सन्तुलन को प्रभावित करते हैं[1] जिसका विनिमय-दर पर प्रभाव पडता है। इस प्रकार विनिमय-दर-निर्धारण में कीमत-स्तर की पूर्ण उपेक्षा करना ठीक नही है।

(3) **विनिमय-दर का भुगतान-सन्तुलन पर प्रभाव**—यह सिद्धान्त भुगतान-सन्तुलन के आधार पर विनिमय-दर के निर्धारण की व्याख्या करता है। व्यवहार मे, स्वय भुगतान-सन्तुलन विदेशी विनिमय दर द्वारा प्रभावित हो सकता है। विनिमय-दर गिर जाने पर भुगतान-सन्तुलन अनुकूल होने लगता है तथा विनिमय-दर ऊँची होने पर निर्यात घट जाने के कारण भुगतान-सन्तुलन की स्थिति प्रतिकूल होने की सम्भावना रहती है।

(4) **अन्य प्रभाव**—विनिमय-दर का निर्धारण अकेले विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति की स्थिति पर निर्भर नहीं करता। इस पर चलन सम्बन्धी दशाओ, राजनीतिक दशाओ, सट्टा-बाजार की स्थिति, बैंको की नियाओ, विदेशी आर्थिक सहायता तथा विनियोग की मात्रा आदि का भी प्रभाव पडता है। अतएव भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त का मौलिक आधार कि अन्य वस्तुओं के समान मुद्रा का विदेशी मूल्य भी उसकी माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है, केवल आंशिक रूप से सत्य है।

उपर्युक्त त्रुटियो के रहते हुए भी विनिमय-दर-निर्धारण के लिए भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त सरल, स्पष्ट तथा तर्कसगत है। भुगतान-सन्तुलन की स्थिति के आधार पर यह जानकारी सहज ही प्राप्त हो जाती है कि किसी देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो के क्षेत्र मे स्थिति कैसी है। भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल होने की दशा मे वह देश अनेक उपायो (जैसे, निर्यात-प्रोत्साहन एव आयात-प्रतिबन्ध, मुद्रा-अवमूल्यन, मुद्रा-विस्फीति, विनिमय-नियन्त्रण आदि) द्वारा अपनी स्थिति को सुधार सकता है। अत किसी देश के भुगतान-सन्तुलन की स्थिति का ज्ञान काफी महत्वपूर्ण होता है।

साम्य विनिमय-दर

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक प्राय सभी विचारको का यह विश्वास था कि विदेशी विनिमय-दरें स्थिर रहनी चाहिए। **विनिमय-दरो के स्थायित्व के अनेक लाभ बताये जाते थे; जैसे, विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन, व्यापार की गति बढने के कारण औद्योगिक उन्नति, कीमतो तथा मजदूरी-दरो मे स्थायित्व, पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहन, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी-प्रवाह, विनिमय व्यवस्था मे सुविधा आदि।** परन्तु समस्या यह है कि विनिमय-दरो मे स्थायित्व कैसे लाया जाय ? प्राय व्यापार-सन्तुलन विकसित देशो के पक्ष म रहता है तथा विकासशील देशो के विपक्ष म। यदि विकसित देश विकासशील देशो को नियमित रूप से ऋण दें तथा उन देशो म पूँजी का विनियोजन करें तो सम्भवत कुछ समय तक विनिमय-दरों को स्थिर बनाये रखा जा सकता है। परन्तु विकास के प्रयासो के परिणामस्वरूप विकासशील देशो मे मुद्रा की क्रय-शक्ति गिरना अवश्यम्भावी है, जिसका विनिमय-दर पर भी प्रभाव पडता है। विदेशी ऋणो की ब्याज और भुगतान की किस्तो का भार उन्हे विनिमय-दर गिराने को बाध्य कर देता है। अत व्यावहारिक दृष्टि से विनिमय-दरो को सदा एक विशेष बिन्दु पर स्थिर रखना सम्भव नही होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि कोई ऐसी व्यवस्था अपना ली जाय जिसमें विनिमय दर को परिस्थितियो के अनुसार निरन्तर बदलते रहने की छूट दे दी जाय। निरन्तर परिवर्तनशील विनिमय दरें देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए सर्वथा घातक होती हैं।

भुगतान-सन्तुलन के साथ जुडा हुआ साम्य विनिमय-दर का विचार है। प्रो० रैगनर नर्क्स के अनुसार साम्य विनिमय-दर "किसी एक निश्चित समय मे वह दर है जो देशो के मुद्रा-कोषो

---

1 "The balance of payments is partially dependent on the exchanges"—G V. Haberler, *The Theory of International Trade*, p. 35

मे कमी किये बिना भुगतान-सन्तुलन बनाये रख सकती है।"[1] इस प्रकार की विनिमय-दर के द्वारा जैसा कि नर्क्स ने एक अन्य स्थान पर कहा है, बिना देश मे अन्य देशो से अधिक बेकारी बढाये भुगतान-सन्तुलन मे साम्य बनाये रखा जा सकता है।[2] इस प्रकार, साम्य विनिमय-दर वह दर है जिसके बनाये रखने से देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर कोई बोझ नही पडता और देश के विदेशी विनिमय-बाजार मे भुगतान-सन्तुलन की समता स्थापित हो जाती है। साधारण शब्दो मे, जिस विनिमय-दर पर आयात तथा निर्यात के बीच सन्तुलन प्राप्त होता है, वह विनिमय की साम्य-दर होती है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए देश मे उत्पत्ति के साधनो, वस्तुओ की कीमतो, राष्ट्रीय आय एव मांग और अन्य देशो की कीमतो, आय तथा मांग के बीच सन्तुलित सम्बन्धो का होना आवश्यक है। एलसवर्थ के अनुसार इस प्रकार का सन्तुलन स्थापित करना साम्य विनिमय-दर का प्रमुख लक्षण है।

प्रो० हॉम के विचारानुसार साम्य विनिमय-दर एक 'तटस्थ' (neutral) दर है, क्योंकि इससे किसी भी देश के लिए कृत्रिम रूप से निर्यात के लाभ अथवा हानियाँ उत्पन्न नही होती हैं और न ही इस दर पर देश की मुद्रा अवमूल्यित अथवा अधिमूल्यित होती है।[3] इस प्रकार की विनिमय-दर के लिए प्रो० हॉम ने तीन विशेषताओ का उल्लेख किया है (1) यह दर आन्तरिक स्थायित्व की सामान्य स्थिति के अनुरूप होती है, (2) इस दर को बनाये रखने मे विदेशी मुद्रा-कोषो पर कोई प्रभाव नही पडता, तथा (3) यह दर किसी देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अनुचित लाभ अथवा हानि नही पहुँचा सकती। यदि किसी समय सरकार अपने विदेशी व्यापार तथा भुगतान-सन्तुलन के उतार-चढाव से यह अनुभव करे कि वर्तमान विनिमय-दर उक्त शर्तों को पूरा नही कर पा रही है तो उसमे उचित परिवर्तन कर देना चाहिए। इस प्रकार, साम्य-दर एक प्रकार की लोचपूर्ण विनिमय-दर है। प्रो० हॉम ने इसे 'प्रबन्धित लोच' (managed flexibility) कहा है।

सबसे कठिन समस्या यह है कि साम्य विनिमय-दर निर्धारित कैसे की जाय? एक तरीका यह हो सकता है कि सरकार कुछ समय तक विदेशी विनिमय-बाजार की क्रियाओ मे कोई हस्तक्षेप नही करे ताकि कुछ परिवर्तनो के पश्चात अपने आप साम्य-दर निर्धारित हो जाय। परन्तु यह तरीका बहुत दोषपूर्ण है। विनिमय-दर मे परिवर्तन सट्टेबाजी तथा अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी-प्रवाह को प्रभावित करेंगे और साम्य की स्थिति तक कभी नही पहुँचा जायेगा। वास्तव मे यह सरकार का कर्तव्य है कि वह न केवल विनिमय-दर की व्यवस्था करे बल्कि उसमे हस्तक्षेप भी करे और अपने सामान्य व्यापारिक अनुभव के आधार पर एक ऐसी विनिमय-दर निश्चित करे जो न तो अधिक ऊँची हो और न ही नीची। साम्य विनिमय-दर एक दीर्घकालीन दर है। स्केमेल (Scammel) ने इसके निर्धारण के लिए दो या तीन वर्ष की अवधि का सुझाव दिया है,[4] जबकि नर्क्स (Nurkse) के विचारानुसार 5 और 10 वर्ष के बीच की अवधि अधिक उपयुक्त होगी।

अग्रिम विनिमय

विदेशी विनिमय-दर दो प्रकार की हो सकती है—वर्तमान अथवा हाजिर दर (spot rate) तथा अग्रिम दर (forward rate)। अभी तक हमने हाजिर दर से सम्बन्धित समस्याओ का ही अध्ययन किया है। अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय-दर मे निरन्तर उतार-चढाव होते रहते हैं जिससे विदेशी व्यापार मे अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। परिणामस्वरूप व्यापारियो को हानि होने का सदा भय बना रहता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय

1 "The rate which, over a certain period, maintains the balance of payments in equilibrium without any net change in the international currency reserve"—Ragnar Nurkse *International Currency Experience*, p 124

2 " maintains the balance of payments' equilibrium without a degree of unemployment greater than in the outside world"—Ragner Nurkse *Essays in International Finance*, p [illegible]

3 "This equilibrium rate could also be specified as the rate which is 'neutral' because it would *not create artificial* export advantages or disadvantages At the equilibrium rate the currency in question would not be under or over-valued"—G N Halm *Monetory Theory*, p 219

4 W. M Scammell *International Monetary Policy*, 1957, p 50

व्यापार में रुकावटें पड़ने लगती हैं। इस प्रकार की अनिश्चितता तथा जोखिम से बचने के लिए व्यापारी अग्रिम विनिमय अथवा अग्रिम सौदे (forward contracts) कर लेते हैं, **जिनके अन्तर्गत विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय का किसी भविष्य की तिथि के लिए सौदा वर्तमान में ही कर लिया जाता है।**

जब कोई आयात अथवा निर्यातकर्ता भविष्य में विदेशों से माल खरीदने अथवा बेचने का सौदा करता है तो इसके साथ ही वह पेशबन्दी संविदा (hedging contract) भी कर लेता है, जिसके अधीन वह वर्तमान विनिमय-दर पर किसी भावी तिथि में विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का सौदा कर लेता है। इससे वह स्वयं को भविष्य में होने वाले विनिमय-दर के परिवर्तनों से सुरक्षित कर लेता है। मान लीजिए, इंगलैण्ड में एक आयातकर्ता को तीन माह के बाद अमरीकी निर्यातकर्ता को भुगतान करना है। सम्भव है कि इसी बीच पौण्ड और डालर के बीच विनिमय-दर में परिवर्तन हो जाय। यदि पौण्ड की विनिमय-दर गिर जाती है तो इंगलैण्ड में आयातकर्ता को नुकसान होगा, क्योंकि उसे अधिक पौण्ड देने पड़ेंगे। इसके विपरीत, विनिमय-दर बढ़ जाने पर निर्यातकर्ता को हानि होती है। इस अनिश्चितता से बचने के लिए आयातकर्ता सटोरियों (speculators) अथवा किसी विदेशी विनिमय बैंक से वर्तमान दर पर आयात के मूल्य के बराबर डालर खरीद लेता है जिसका भुगतान वह इसी दर पर तीन माह बाद करेगा। दूसरी ओर निर्यातकर्ता अपने माल की कीमत के डालर बेच देता है जिसका भुगतान वह तीन माह बाद लेगा। इस प्रकार आयातकर्ता को भुगतान के लिए विदेशी विनिमय पूर्व निश्चित दर पर प्राप्त हो जाता है और निर्यातकर्ता को भुगतान में प्राप्त विदेशी विनिमय पूर्व-निश्चित दर पर बिक जाता है।

अग्रिम विनिमय-दर तथा हाजिर विनिमय-दर में प्रायः घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योंकि अग्रिम दर हाजिर दर पर ही आधारित होती है। अग्रिम दर का निर्धारण करते समय चूँकि भविष्य में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति को ध्यान में रखा जाता है, इसलिए विदेशों की बैंक-दर, ब्याज की अल्पकालीन दर, मुद्रा-नीति, व्यापारिक प्रतिबन्ध, नियन्त्रण तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ आदि ध्यान में रखते हुए अग्रिम दर वर्तमान दर से कुछ ऊँची या कुछ नीची हो सकती है। डालर की अग्रिम दर वर्तमान दर की तुलना में ऊँची होने पर पौण्ड के लिए डालर तेजी पर (at premium) होता है, और डालर की अग्रिम दर नीची होने पर डालर कटौती पर (at discount) होता है।

अग्रिम सौदों के द्वारा व्यापारी तो जोखिम तथा अनिश्चितता से बच जाते हैं, परन्तु ऐसा सन्देह होने लगता है कि बैंकों को बहुत बड़ी जोखिम उठानी पड़ती है। वास्तविक स्थिति यह है कि बैंकों को इन सौदों से काफी लाभ होता है। वे विदेशी विनिमय के अग्रिम सौदों के लिए क्रेताओं तथा विक्रेताओं से शुल्क (commission) प्राप्त कर लेते हैं और अग्रिम विक्रय को अग्रिम क्रय से सन्तुलित करके अपने आप को तटस्थ कर लेते हैं। भविष्य के लिए क्रय-विक्रय दोनों ही करने से एक सौदे की हानि को दूसरे के लाभ से पूरा कर लिया जाता है। बैंकों द्वारा सौदों के पलटने के परिणामस्वरूप जो अग्रिम क्रय विक्रय में मिलाप कर लिया जाता है उसे 'marrying a transaction' कहते हैं। इस कार्य में बैंकों को सटोरियों से बहुत सहायता मिलती है। कुछ अग्रिम सौदों का मिलाप न होने की दशा में बैंक वह निश्चित राशि या तो सम्बन्धित देश के किसी बैंक में जमा कर देते हैं अथवा वहाँ की सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजित कर देते हैं। चूँकि अग्रिम दर निर्धारित करते समय विदेशी ब्याज की दर को ध्यान में रखा जाता है, इसलिए बैंकों द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था पहले से ही कर ली जाती है कि उन्हें विदेशों में जमा अथवा विनियोजित राशियों पर ब्याज की कोई हानि न होने पाये। प्रायः दो देशों की ब्याज-दरों में जितना अधिक अन्तर होगा उन्हीं अग्रिम दरों पर अधिक तेजी या बट्टा होगा।

वैसे तो प्रथम महायुद्ध से बहुत पहले जर्मनी तथा इटली में अग्रिम विनिमय-बाजार का विकास हो चुका था, परन्तु अमेरिका तथा इंगलैण्ड में अग्रिम बाजारों का विकास बाद में ही हुआ। इस प्रकार के बाजार के लिए एक विकसित बैंकिंग व्यवस्था के अतिरिक्त विश्वास की भावना का

होना आवश्यक होता है। 1931 मे स्वर्णमान के पतन से विश्वास को आघात पहुँचा जिससे अग्रिम बाजार ठप पड गये। वर्तमान अग्रिम विनिमय-बाजारो का विकास वर्तमान विदेशी विनिमय-बाजारो के साथ-साथ हुआ है, परन्तु कुछ देशो मे इनका इस आधार पर विरोध किया जाता है कि यह एक प्रकार की सट्टेबाजी ही है।

वास्तविकता यह है कि स्वतन्त्र विदेशी विनिमय-बाजार मे अग्रिम विनिमय का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसके द्वारा भावी विनिमय-दरो से सम्बन्धित अनिश्चितता नही रहती। साथ ही विनिमय-दरो मे होने वाले परिवर्तन अधिक नियन्त्रित हो जाते हैं, क्योकि अग्रिम दर ऊँची होते ही इसके और ऊपर जाने की सम्भावना से अग्रिम सौदो की सख्या बढ जाती है, जिसके फलस्वरूप हाजिर दर भी ऊँची हो जाती है तथा अग्रिम दर और हाजिर दर मे अधिक अन्तर नही रहता। अनिश्चितता के अभाव मे विदेशी पूँजी आकर्षित होती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी-प्रवाह को गति मिलती है।

अन्तरपणन क्रियाएँ

विभिन्न मुद्रा-बाजारो मे किसी मुद्रा की विनिमय-दरो म अन्तर होन पर लाभार्जन की दृष्टि से सस्ते बाजार मे मुद्रा खरीद कर उसे महँगे बाजार मे बेचना अन्तरपणन की क्रियाएँ (arbitrage operations) कहलाती हैं। दो देशो के बीच इस क्रिया (two point arbitrage) को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। न्यूयार्क तथा लन्दन के मुद्रा-बाजारो मे मान लीजिए, विनिमय-दर क्रमश 1 पौण्ड=3 डालर तथा 1 पौण्ड=3 05 डालर है। अमरीकी व्यापारी अथवा बैंको के प्रतिनिधि पौण्ड को 3 डालर की दर पर न्यूयार्क विनिमय-बाजार से खरीद कर 3 05 डालर की दर से लन्दन के बाजार मे बेच देंगे, इससे उन्हे प्रति पौण्ड 5 सेन्ट का लाभ हो जायेगा। इस प्रकार की क्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक दोनो बजारो मे विनिमय-दर समान नही हो जाती है। कभी-कभी तो अन्तरपणन की क्रियाएँ अनेक मुद्राओ के लिए एक साथ की जाती हैं। जिस किसी मुद्रा के लेन-देन मे लाभ दिखाई पडता है फौरन अन्तरपणन का कार्य आरम्भ हो जाता है, जैसे डालर का पौण्ड, पौण्ड का फ्रेंक, फ्रेंक का मार्क, मार्क का रुपये मे लाभार्जन के लिए परिवर्तन किया जा सकता है।

मुद्राओं का इस प्रकार का क्रय-विक्रय करते समय यह ध्यान मे रखना आवश्यक होता है कि कार्य मे विलम्ब न होने पाये क्योकि कुछ समय बीतने पर विनिमय-दर मे और परिवर्तन हो सकता है। अत यह सारे सौदे तार (cablegram or telegraphic transfer) द्वारा किये जाते हैं। विनिमय दरो म अन्तर अल्पकालीन रहने के कारण बहुत सतर्क रहने पर ही लाभ कमाया जा सकता है।

इन क्रियाओ का लाभ यह होता है कि विभिन्न विनिमय-बाजारो मे विनिमय-दरे अधिक समय तक असमान नही रह सकतीं, क्योकि जहाँ कहीं भी अन्तर होता है, इन क्रियाओं द्वारा उस मुद्रा की माँग तथा पूर्ति को प्रभावित करके उसकी विनिमय-दर मे समानता लायी जाती है। स्मरण रहे कि इन क्रियाओ का क्षेत्र केवल स्वतन्त्र विनिमय-बाजारो तक ही सीमित रह सकता है। वर्तमान विनिमय नियन्त्रण के युग मे इसका कोई महत्व नही है।

विनिमय-दर को प्रभावित करने वाले कारण

एक स्वतन्त्र विनिमय-बाजार मे विदेशी विनिमय-दर प्राय विनिमय की साम्य दर (equilibrium rate of exchange) से भिन्न होती है। विनिमय-दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति स्थिरता की होने पर भी अल्पकाल मे उच्चावचन होते ही रहते हैं जिनका आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था, विशेष रूप से उत्पादन, रोजगार तथा राष्ट्रीय आय की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। विनिमय दर मे होने वाले उच्चावचन के अनेक कारण हो सकते हैं जो अलग-अलग अथवा एक साथ मिलकर विनिमय-दर को प्रभावित करते है। इन समस्त कारणो को अध्ययन की सुविधा के लिए तीन भागो मे बाँटा जा सकता है—(1) विदेशी मुद्राओ की माँग और पूर्ति की स्थिति, (2) चलन सम्बन्धी दशाएँ, तथा (3) राजनीतिक स्थिति।

(1) **विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति की स्थिति (Demand and Supply Conditions of Foreign Exchanges)**—विदेशी मुद्राओं की माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन विनिमय-दर को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। पूर्ति की तुलना में विदेशी विनिमय की माँग अधिक होने पर विनिमय-दर में वृद्धि की सम्भावना होती है। इसी प्रकार विदेशी विनिमय की पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक होने पर विनिमय-दर में कमी हो सकती है। माँग और पूर्ति के विनिमय-दर निर्धारण पर पड़ने वाले प्रभाव का विस्तारपूर्वक उल्लेख पीछे किया गया है। अल्पकाल में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति पर निम्नलिखित बातों का प्रभाव पड़ता है :

1. **विदेशी व्यापार की स्थिति (Trade Conditions)**—यदि किसी देश के निर्यात अधिक और आयात कम होते हैं तो विदेशों में उस देश की मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से अधिक होती है और स्वदेश में विदेशी मुद्रा की माँग कम तथा पूर्ति अधिक होती है जिसके परिणामस्वरूप इस देश की मुद्रा का विदेशी मुद्राओं में मूल्य बढ़ जाता है। इसके विपरीत, देश के आयात निर्यात की अपेक्षा अधिक होने पर विदेशी विनिमय की माँग पूर्ति से अधिक होती है तथा विदेशी मुद्राओं का मूल्य देश की मुद्रा की तुलना में बढ़ जाता है। इस प्रकार व्यापार-सन्तुलन की स्थिति विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति को प्रभावित करके विनिमय-दर को भी प्रभावित करती है।
2. **सट्टा बाजार अथवा स्टॉक एक्सचेन्ज का प्रभाव (Stock Exchange Influences)**—भविष्य में विनिमय-दर में परिवर्तनों की आशा से जब किसी देश के लोग अन्य देशों में स्टॉक, शेयर अथवा प्रतिभूतियाँ खरीदने लगते हैं तो उनके भुगतान के लिए विनिमय की माँग बढ़ जाती है तथा विदेशी मुद्राओं के मूल्य में वृद्धि होती है। इसके विपरीत जब विदेशी किसी देश में स्टॉक, शेयर तथा प्रतिभूतियाँ खरीदने लगते हैं तो देश की मुद्रा का मूल्य ऊँचा उठ जाता है। इसी प्रकार ऋणों, ब्याज तथा लाभांश के लेन-देन और सट्टे के रूप में होने वाले लेन-देन का भी विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है और विनिमय-दर में परिवर्तन हो जाता है।
3. **बैंकिंग प्रभाव (Banking Influences)**—विनिमय-दर में परिवर्तन देश की बैंकिंग नीति के भी परिणाम हो सकते हैं। ऊँची बैंक-दर विदेशी पूँजी को आकर्षित करती है जिसके फलस्वरूप विदेशी मुद्राओं की पूर्ति माँग से अधिक हो जाती है तथा उनका देश की मुद्रा में मूल्य गिर जाता है। अन्य देशों की अपेक्षा किसी देश में बैंक-दर नीची है तो इस देश की पूँजी अन्य देशों को जाने लगेगी। विदेशी मुद्रा की माँग अधिक होने पर विनिमय-दर गिर जायेगी।
4. **मध्यस्थों की क्रियाएँ अथवा अन्तरपणन क्रियाएँ (Arbitrage operations)**—जैसा कि पहले बताया गया है, अन्तरपणन क्रियाओं के अन्तर्गत मध्यस्थों द्वारा सस्ते बाजारों में विदेशी मुद्राएँ खरीद कर महँगे बाजार में बेची जाती हैं। सस्ते विनिमय-बाजार में विदेशी विनिमय की माग अधिक होती है तथा महँगे बाजार में पूर्ति अधिक। यह क्रियाएँ विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति को प्रभावित करके विनिमय-दर पर प्रभाव डालती हैं।
5. **विदेशी विनियोग, ऋण तथा अन्य भुगतान (Foreign Investments, Loans and other Payments)**—जब किसी देश द्वारा अन्य देश में पूँजी-विनियोजन किया जाता है अथवा ऋण दिये जाते हैं अथवा अन्य किसी प्रकार के भुगतान किये जाते हैं, तो विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाने के कारण देशी मुद्रा की विनिमय-दर में वृद्धि की सम्भावना उत्पन्न होती है। स्थिति इसके विपरीत होने पर विनिमय-दर में कमी हो सकती है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति (अतएव विनिमय-दर) को प्रभावित करते हैं, जैसे वास्तविक राष्ट्रीय आय, देश की उत्पादन-शक्ति एवं लागत मूल्य, इत्यादि।

(2) **चलन सम्बन्धी दशाएँ (Currency Conditions)**—देश की चलन-स्थिति का विनिमय-दर पर प्रभाव पड़ता है। मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न होने पर मुद्रा की आन्तरिक क्रय-शक्ति गिर जाती है, अर्थात् कीमत स्तर ऊँचा हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप देश के निर्यात कम हो जाते हैं तथा आयात में वृद्धि होती है। विदेशी मुद्राओं की माँग अधिक हो जाने पर उनका मूल्य भी बढ़ जाता है तथा स्वदेशी मुद्रा की विनिमय-दर गिर जाती है। मुद्रा संकुचन का इसके विपरीत प्रभाव होगा तथा विनिमय-दर बढ़ने लगेगी। कभी-कभी कोई देश स्वयं ही वैधानिक रूप से अपनी मुद्रा का अवमूल्यन (devaluation) कर देता है जिससे विनिमय-दर कम हो जाती है।

(3) **राजनीतिक स्थिति (Political Conditions)**—यदि देश में स्थायी सरकार है, शान्ति और सुरक्षा की समुचित व्यवस्था है, सरकारी नीति निष्पक्ष है, औद्योगिक सम्बन्ध अच्छे हैं, तो ऐसे देश में अधिक विदेशी पूँजी का आगमन होगा तथा इससे विदेशी व्यापार का भी विस्तार होगा। ऐसी दशा में विनिमय-दर इस देश के पक्ष में होगी। जिन देशों में निरन्तर गृह-कलह, युद्ध अथवा राजनीतिक अस्थिरता एवं अशान्ति रहती है उनकी साख पर अन्य देशों को विश्वास नहीं रहता, उन्हें विदेशी पूँजी अथवा ऋण प्राप्त नहीं होते जिससे उनकी आर्थिक स्थिति अस्थिर और संकटमय हो जाती है और उनकी मुद्राओं की विनिमय-दर गिरने लगती है।

उपर्युक्त प्रभावों के अन्तर्गत अल्पकाल में विदेशी विनिमय-दर में निरन्तर उच्चावचन होते रहते हैं। गिरती हुई विनिमय-दर देश के लिए प्रतिकूल होती है, और बढ़ती हुई विनिमय-दर देश के लिए अनुकूल होती है। विनिमय-दर अनुकूल होने की दशा में विदेशों से आयात करना सस्ता होता है। परिणामस्वरूप आयात बढ़ जाते हैं, और वस्तुओं की कीमतें गिरने लगती हैं। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रह पाती। आयात सस्ते होने पर देश में उत्पादन करना महँगा पड़ता है। अतः उद्योग बन्द होने लगते हैं, बेकारी फैलती है और निर्यात गिर जाते हैं। इन परिस्थितियों में व्यापार-सन्तुलन देश के विपक्ष में हो जाता है, और विनिमय-दर में गिरावट आरम्भ हो जाती है। प्रतिकूल विनिमय-दर की दशा में देश के निर्यातों में वृद्धि होती है, व्यापार-सन्तुलन अनुकूल होने लगता है, तथा विनिमय-दर बढ़ने लगती है। इस प्रकार, दीर्घकाल में विनिमय-दर की प्रवृत्ति विनिमय की साम्य दर के आस-पास रहने की होती है, परन्तु अल्पकाल में अस्थिरता बनी रहती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. **विदेशी विनिमय का अर्थ स्पष्ट कीजिए। विदेशी विनिमय की समस्या से क्या तात्पर्य है?**

[संकेत विदेशी विनिमय के संकुचित तथा विस्तृत अर्थ की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में यह स्पष्ट कीजिए कि एक देश की मुद्रा अन्य मुद्राओं में परिवर्तित करने की समस्या ही विदेशी विनिमय की समस्या है, और *इस प्रकार यह बाह्य तरलता से सम्बन्धित है।*]

2. **विदेशी विनिमय-दर किसे कहते हैं? विनिमय-दर में परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालिए।**

[संकेत विनिमय-दर की परिभाषा दीजिए, तथा विनिमय-दर में परिवर्तन के विभिन्न कारण—विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति की स्थिति, चलन सम्बन्धी दशाएँ, राजनीतिक स्थिति—स्पष्ट कीजिए।]

3. **स्वर्णमान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय-दर किस प्रकार निर्धारित होती है? इस प्रकार की व्यवस्था में क्या विनिमय-दरों के उच्चावचन की कोई सीमाएँ हैं?**

अथवा

विनिमय की टकसाली-समता दर से आप क्या तात्पर्य समझते हैं? स्वर्ण बिन्दुओं का इसके अन्तर्गत क्या स्थान है?

[संकेत प्रथम भाग में टकसाली-समता-दर का अर्थ उदाहरण सहित समझाइए। दूसरे भाग में यह स्पष्ट कीजिए कि विनिमय-दर में परिवर्तन उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु तथा निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु के बीच ही सीमित रहते हैं।]

4. **क्रय शक्ति-समता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।**

अथवा

क्रय-शक्ति-समता-सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए और उसकी कमियाँ बताइए।

[संकेत कैसल द्वारा प्रतिपादित क्रय-शक्ति-समता-सिद्धान्त की अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा वाले दो देशों के बीच क्रय-शक्ति-समता की काल्पनिक उदाहरण के आधार पर विस्तृत व्याख्या कीजिए तथा दूसरे भाग में इस सिद्धान्त की आलोचनाओं का उल्लेख कीजिए।]

5 विदेशी विनिमय के भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए तथा साम्य विनिमय-दर का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

[संकेत भुगतान सन्तुलन का अर्थ बताइए तथा समझाइए कि भुगतान सन्तुलन की स्थिति किस प्रकार विनिमय दर में परिवर्तनों को प्रभावित करती है। भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त की आलोचनाओं का भी संक्षिप्त विवरण दीजिए। दूसरे भाग में साम्य विनिमय-दर का अर्थ विस्तारपूर्वक समझाइए और स्पष्ट कीजिए कि यह स्थिर विनिमय दर तथा परिवर्तनीय विनिमय दर से श्रेष्ठ है।]

6 विनिमय दरों में परिवर्तन की सीमाओं का उल्लेख कीजिए। ये सीमाएं कैसे निर्धारित होती हैं ?

[संकेत स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निर्धारित सीमाओं का उल्लेख कीजिए और यह स्पष्ट कीजिए की टंक-समता में स्वर्ण परिवहन-व्यय का जोड़ व घटाकर स्वर्ण बिन्दु निर्धारित किये जाते हैं। अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रामान के अन्तर्गत विनिमय दर में उच्चावचन की कोई निश्चित सीमाएँ नहीं होती हैं और न ही सामान्य विनिमय दर एक स्थिर समता होती है। विनिमय-दर में परिवर्तन विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति, बजट की स्थिति तथा राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं।]

7 अग्रिम विनिमय से क्या तात्पर्य है ? अग्रिम विनिमय के सौदों का क्या प्रभाव होता है ?

[संकेत अग्रिम विनिमय के अर्थ, उद्देश्य तथा महत्त्व की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

8 टिप्पणियाँ लिखिए—अन्तरपणन क्रियाएं, साम्य विनिमय दर, अग्रिम दर, स्वर्ण बिन्दु, भुगतान सन्तुलन, विदेशी भुगतान की रीतियाँ, अनुकूल एवं प्रतिकूल विनिमय-दर।

[संकेत प्रत्येक का अर्थ और उनसे सम्बन्धित अन्य महत्त्वपूर्ण बातों की व्याख्या कीजिए।]

21

विनिमय-नियन्त्रण
[EXCHANGE CONTROL]

> "नियोजन तथा निजी व्यवसाय मे सरकारी हस्तक्षप के वर्तमान युग मे विदेशी विनिमय-बाजार पर कोई नियन्त्रण न होना एक विचित्र बात होगी।"[1] —क्राउथर

एक स्वतन्त्र विनिमय-बाजार मे जहाँ विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति के आधार पर विनिमय दर का निर्धारण होता है, विनिमय-दर म निरन्तर उच्चावचन होते रहते हैं। प्रबन्धित पत्र मुद्रामान के अन्तर्गत तो विनिमय-दर मे परिवर्तनो की कोई सीमाएँ ही नही होती हैं। उच्चावची हुई विनिमय दरें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अनिश्चितता और जोखिम को बढा देती हैं, जिससे व्यापार तथा साख दोनो ही हतोत्साहित होते हैं। आज की आयोजित अर्थ-व्यवस्था के युग मे प्रत्येक सरकार का यह उद्देश्य होता है कि विनिमय-बाजार मे हस्तक्षेप द्वारा विनिमय-दरो मे अनियन्त्रित रूप से परिवर्तन न होने दिये जायें। स्वतन्त्र विनिमय-बाजार का अब केवल ऐतिहासिक महत्व रह गया है, क्योकि वर्तमान सरकारें विनिमय-नियन्त्रण के प्रयोग द्वारा विनिमय-दरो मे स्थिरता बनाये रखने का प्रयत्न करती हैं।

विनिमय-नियन्त्रण का अर्थ

विनिमय-नियन्त्रण का अभिप्राय सरकार द्वारा अपनाये गये ऐसे तरीको से है जिनका उद्देश्य विदेशी विनिमय-बाजार को नियन्त्रित करके विनिमय-दर को प्रभावित करना होता है। मुद्राशास्त्रियो ने 'विनिमय नियन्त्रण' शब्द का प्रयोग विस्तृत तथा सकुचित दोनो ही अर्थों मे किया है। विस्तृत अर्थ मे विदेशी विनिमय बाजार म किये गये प्रत्येक सरकारी हस्तक्षेप को विनिमय नियन्त्रण कहा जा सकता है। प्रो० हैबरलर के शब्दो मे, "विनिमय-नियन्त्रण उस सरकारी हस्तक्षेप को कहते हैं जो विदेशी विनिमय-बाजार मे आर्थिक शक्तियो को स्वतन्त्र रूप से कार्य नही करने देता।"[2] पॉल एन्जिग (Paul Einzig) के अनुसार, "विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय मौद्रिक अधिकारी के उन सभी हस्तक्षेपो से होता है जो विनिमय-दरो या उनसे सम्बन्धित बाजारो को प्रभावित करने के लिए किये जाते हैं।"[3] हीलपेरिन (Heilpenn) के अनुसार, "विनिमय-नियन्त्रण वह व्यवस्था है जिसमे विनिमय सम्बन्धी प्रत्येक व्यवसाय पर सरकार का अधिकार होता है।"[4]

वर्तमान समय मे विनिमय-नियन्त्रण शब्द का प्रयोग अधिकतर सकुचित अर्थ मे ही किया जाता है। इस अर्थ मे विनिमय नियन्त्रण का आशय केवल उन हस्तक्षेपो तथा

1 "In this age of planning and governmental interference with private business, it would be strange if the foreign exchange markets were not subject to some degree of control — Crowther *An Outline of Money*
2 "Exchange Control is the state regulation excluding the free play of economic forces from the foreign exchange market" —Haberler *Theory of International Trade*, p 83
3 Paul Einzig *Exchange Control*, p 10
4 Heilpern *International Monetary Economics*

प्रतिबन्धों से होता है जो विनिमय-व्यवहारों (transactions) के सम्बन्ध में किये जाते हैं। इस प्रकार विनिमय-नियन्त्रण तथा विनिमय-प्रतिबन्ध (exchange restriction) में अधिक अन्तर नहीं किया जाता है। विदेशी विनिमय का रूप कुछ भी हो, विनिमय-नियन्त्रण से तात्पर्य यह है कि समस्त विदेशी मुद्रा सरकार के हाथ में होती है तथा विदेशी विनिमय का कार्य सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा अधिकृत बैंक अथवा व्यक्ति ही कर सकते हैं। निश्चित दर पर उतने ही भुगतानों की अनुमति दी जाती है जो निर्धारित नीति अथवा नियमों के अनुकूल होते हैं। प्रो० कोल (Cole) के अनुसार, "विनिमय-नियन्त्रण का सार यह है कि नियन्त्रित मुद्रा के स्वामी को यह अधिकार नहीं होता कि वह बिना विशेष आज्ञा के इसे विदेशी मुद्रा में बदल सके।"[1]

विनिमय नियन्त्रण, स्पष्ट रूप में, आर्थिक नियोजन का ही एक अंग होता है। एल्सवर्थ (Ellsworth) के अनुसार, 'विनिमय नियन्त्रण भुगतान-सन्तुलन की कठिनाइयों का समाधान करने का ऐसा साधन है जो बाजार की शक्तियों की उपेक्षा कर उन्हें सरकारी कर्मचारियों के निर्णयों द्वारा प्रतिस्थापित करता है। आयात तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-समानताओं के स्थान पर राष्ट्रीय आवश्यकताओं के द्वारा निर्धारित होते हैं।"[2]

विनिमय-नियन्त्रण की प्रमुख विशेषताएँ

(1) विदेशी विनिमय-बाजार पर सरकार का पूर्ण अधिकार होता है।

(2) विदेशी विनिमय का कार्य सरकार द्वारा नियुक्त बैंक या लाइसेंस प्राप्त व्यक्ति ही कर सकते हैं।

(3) विदेशों में माल भेजने के पूर्व निर्यात लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक होता है।

(4) निर्यात अथवा अन्य किसी प्रकार से प्राप्त होने वाले विदेशी विनिमय की सम्पूर्ण राशि सरकार अथवा नियन्त्रण अधिकारी के हाथ में रहती है।

(5) देश के आयातों पर नियन्त्रण रखा जाता है तथा विदेशी विनिमय का वितरण आयात के महत्व के आधार पर किया जाता है।

(6) पूँजी के निर्यात पर प्रतिबन्ध रहता है।

(7) विदेशी विनिमय-दर सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है।

स्मरण रहे कि उक्त विशेषताएँ पूर्ण विनिमय नियन्त्रण की हैं जिनको भुगतान-सन्तुलन स्थिति के असाधारण रूप में प्रतिकूल होने पर लागू किया जाता है। साधारण परिस्थितियों में आंशिक नियन्त्रण ही पर्याप्त होता है, जिसके अन्तर्गत उक्त प्रतिबन्ध केवल कुछ मुद्राओं के ही सम्बन्ध में लगाये जाते हैं, कुछ आयात कम करने के प्रयत्न किये जाते हैं, तथा विदेशी विनिमय पर साधारण निरीक्षण रखा जाता है।

विनिमय-नियन्त्रण का विकास

पॉल एन्जिग (Paul Einzig) के अनुसार विनिमय-नियन्त्रण विभिन्न देशों में सोशलिस्ट एवं फासिस्ट (Fascists) सरकारों के मस्तिष्क की उपज थी ताकि वे राजनीतिक व आर्थिक हितों की दृष्टि से पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर सकें। प्रथम महायुद्ध काल में संसार के सभी देशों में, विशेष रूप से जर्मनी तथा इटली में, आर्थिक क्षेत्र में सरकार का हस्तक्षेप बढ़ने लगा था। परिस्थितियों के अनुसार विदेशी विनिमय पर भी सरकारी नियन्त्रण बढ़ता गया। 1926 के पश्चात् यह नियन्त्रण कुछ ढीले किये गये, परन्तु 1931 में स्वर्णमान के पतन ने देशों को विनिमय नियन्त्रण की नीति का पुन प्रयोग करने के लिए उत्साह प्रदान किया। महान् मन्दी

---

1 "The essence of exchange control is that the possessor of the controlled currency has no right, without special leave, to convert it into foreign currency "—G D H Cole *Money Its Present and Future*, p 293

2 "Exchange Control, the means of dealing with balance of payment difficulties disregards market force and substitutes for them the arbitrary decisions of Government officials Imports and other international payments are no longer determined by international price comparisons, but by considerations of national need —P T Ellsworth. *The International Economy*, p 332

के काल मे अनेक देशो मे केन्द्रीय बैंको को विनिमय-नियन्त्रण के विस्तृत अधिकार दिये गये। कुछ अन्य देशो ने विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Equalisation Fund) स्थापित किये। वास्तव मे, अब आर्थिक राष्ट्रवाद का उदय होने लगा था और सभी देश विनिमय-नियन्त्रण का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावो से बचने के लिए कर रहे थे। 1934 मे जर्मनी मे विनिमय-नियन्त्रण पूर्ण रूप से लागू किया गया था, ताकि जर्मनी युद्ध की तैयारी करने के योग्य बन सके। द्वितीय महायुद्ध काल मे विनिमय-नियन्त्रण का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा। युद्ध की समाप्ति पर अनेक देशो के भुगतान-सन्तुलन इतने अधिक प्रतिकूल हो चुके थे कि उनके लिए विनिमय-नियन्त्रण के अतिरिक्त अन्य कोई साधन ही नहीं था। भुगतान-असन्तुलन दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सहयोग के बावजूद भी विनिमय-नियन्त्रण को हटाना अधिकतर देशो के लिए सम्भव नही है। आधुनिक अर्थ व्यवस्था मे विनिमय-नियन्त्रण सरकारी हस्तक्षेप की नीति का अनिवार्य अग है।

विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य

विनिमय-नियन्त्रण का प्रयोग विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सकता है, जिनमे से प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं

(1) **व्यापार-सन्तुलन की स्थिति मे सुधार करना**—देश का भुगतान-सन्तुलन विपरीत होना देश के हित मे नहीं होता। ऐसी स्थिति मे विनिमय-नियन्त्रण का उद्देश्य आयात का सकुचन तथा निर्यात मे वृद्धि करना होता है, ताकि व्यापार-सन्तुलन के द्वारा भुगतान-सन्तुलन की स्थिति को सुधारा जा सके।

(2) **राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों से बचाना**—रैगनर नर्क्स (Ragnar Nurkse) के अनुसार, "विनिमय-नियन्त्रण एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा कोई भी देश, स्वतन्त्र रूप से, मन्दी की सृष्टि को रोकता है अथवा आर्थिक व्यवस्था को मन्दी के प्रभाव से मुक्त करता है। विनिमय-नियन्त्रण राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो के बीच एक प्रकार की आय की सृष्टि कर स्वतन्त्र मौद्रिक एव आर्थिक नीति के अनुसरण मे सहायक होता है।"[1]

(3) **नियोजित अर्थ-नीति को सफल बनाना**—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए देश के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करना पडता है। ऐसी स्थिति मे विदेशी विनिमय तथा विनिमय-दर को बाजार की शक्तियो के अधीन नही छोडा जा सकता। नियोजित अर्थ-नीति को सफल बनाने के उद्देश्य से विनिमय-नियन्त्रण आवश्यक होता है।

(4) **पूंजी के निर्यात पर रोक**—तीसे की महान् मन्दी तथा द्वितीय महायुद्ध काल के बीच पूंजी के बहिर्प्रवाह पर रोक लगाने के उद्देश्य से जर्मनी, डेनमार्क, अर्जेण्टाइना आदि देशो ने विनिमय-नियन्त्रण को अपनाया था। यदि पूंजी के असाधारण निर्यात को न रोका जाय तो इससे देश के विदेशी मुद्रा-कोष मे कमी होने लगती है और विनिमय-दर पर भी प्रभाव पड सकता है। मन्दी के समय पूंजी के बाहर जाने के और भी अधिक दुष्परिणाम होते है, क्योकि इसके कारण आय तथा रोजगार मे कमी आती है तथा कीमतें और अधिक गिर जाती है। अत विनिमय-नियन्त्रण के प्रयोग का उद्देश्य पूंजी के निर्यात को रोकना भी हो सकता है।

(5) **उद्योगो को सरक्षण प्रदान करना**—देशी उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए विनिमय-नियन्त्रण द्वारा कुछ वस्तुओ के आयातो को रोका अथवा कम किया जा सकता है। विकासशील देशो मे औद्योगिक विकास के लिए तुलनात्मक रूप से कम सुविधाएं होने के कारण उद्योगो को सरक्षण प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक होता है। सरक्षण की नीति को प्रभावपूर्ण बनाने के उद्देश्य से विनिमय-नियन्त्रण की नीति अपनायी जाती है।

(6) **व्यापारिक भेद-भाव की नीति को सफल बनाना**—विभिन्न देशो के बीच व्यापारिक

1 "We may consider exchange control as a means of enabling an individual country to pursue an independent policy of preventing depression or providing recovery from depression Exchange Control places a barrier between world and domestic prices so that monetary and general economic policies could be chosen and executed without regard to their effects on the balance of payments." —Ragnar Nurkse *International Currency Experiences*

सम्बन्धो को अनुकूल बनाये रखने के उद्देश्य से कोई देश व्यापारिक भेद-भाव की नीति अपना सकता है, जिसके अन्तर्गत कुछ देशो के आयात-निर्यात पर विशेष प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं और अन्य देशो को कुछ रियायतें दी जाती हैं। इस प्रकार की नीति का अनुसरण करने के उद्देश्य से विनिमय-नियन्त्रण का प्रयोग किया जाता है।

(7) **विदेशी विनिमय की पर्याप्त व्यवस्था करना**—स्वर्ण, विदेशी प्रतिभूतियों तथा विदेशी मुद्राओं की बचत करके उन्हे आवश्यक कार्यो के लिए उपयोग मे लाने के उद्देश्य से भी विनिमय-नियन्त्रण किया जाता है। आवश्यक वस्तुओं के आयात पर होने वाले विदेशी मुद्राओ के व्यय पर प्रतिबन्ध ल   दये जाते हैं।

(8) **अन्य महत्वपूर्ण देशों की मुद्राओ से विनिमय-दर स्थायी रखना**—प्राय. ऐसा भी हुआ है कि विनिमय-नियन्त्रण का प्रयोग इस उद्देश्य से किया गया है कि अन्य महत्वपूर्ण देशो की मुद्राओ के साथ अपनी मुद्रा के सम्बन्ध को स्थिर रखा जा सके। उदाहरण के लिए, 1931 में ब्रिटेन द्वारा स्वर्णमान का परित्याग कर देने पर स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो ने इगलैण्ड के साथ अपनी विनिमय-दर स्थायी रखने के उद्देश्य से विनिमय-नियन्त्रण की कार्यवाही की थी। इसी प्रकार, 1949 में इगलैण्ड द्वारा पौण्ड का अवमूल्यन कर देने पर अन्य कुछ देशा ने भी, जिनमे भारत भी था, अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन कर दिया था।

(9) **युद्धकालीन उद्देश्य**—युद्धकाल मे विनिमय-नियन्त्रण का प्रयोग अनेक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया जा सकता है, जैसे शत्रु द्वारा क्रय-शक्ति के प्रयोग की रोकथाम, विदेशी विनिमय के साधनो की सुरक्षा, सरकार की आय मे वृद्धि इत्यादि। विनिमय-नियन्त्रण का प्रयोग 'जवाबी कार्यवाही' (rataliatory action) के लिए भी किया जाता है, अर्थात् जब कोई देश ऐसे प्रतिबन्ध लगाता है कि किसी देश का माल वहां न आने पाये तो दूसरे देश को भी ऐसी ही कार्यवाही करने के लिए विनिमय-नियन्त्रण का प्रयोग करना पड़ता है।

विनिमय-दर प्रभावित करने के उद्देश्य

विनिमय नियन्त्रण के अनेक उद्देश्य हो सकते है, परन्तु प्रत्येक स्थिति मे सरकार का उद्देश्य विनिमय नियन्त्रण द्वारा एक ऐसी विनिमय-दर निश्चित करना होता है जो स्वतन्त्र विनिमय-बाजार मे स्वाभाविक रूप से निर्धारित होने वाली विनिमय-दर से भिन्न होती है। क्राउथर के शब्दो मे, "विनिमय-बाजार के नियन्त्रण का सबसे महत्वपूर्ण कारण नियन्त्रण के अभाव मे निर्धारित होने वाली विनिमय-दर से भिन्न विनिमय-दर रखना है। यदि सरकार विदेशी विनिमय-बाजार मे माँग तथा पूर्ति की शक्तियो के आधार पर निर्धारित होने वाली विनिमय-दर से सन्तुष्ट है तो विनिमय-नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नही होती है।"[1]

विनिमय-दर को स्वतन्त्र बाजार की स्वाभाविक दर से भिन्न बनाने मे सरकार के तीन सम्भावित उद्देश्य हो सकते हैं (1) विनिमय-दर को सामान्य दर से ऊँचा रखना, अर्थात् अधिमूल्यन (over-valuation), (2) विनिमय-दर को सामान्य दर से नीचा रखना, अर्थात् अवमूल्यन अथवा अधोमूल्यन (under-valuation), तथा (3) विनिमय-दर को सामान्य दर पर स्थायी रखना (exchange stabilization)।

अधिमूल्यन (Over-valuation)—स्वतन्त्र बाजार मे निर्धारित होने वाली साम्य विनिमय-दर (equilibrium rate of exchange) विनिमय-नियन्त्रण का सहारा लेती है। मान लीजिए, अमेरिका तथा भारत के बीच विनिमय-दर 1 डालर=7 50 रुपये से बदलकर 1 डालर =9 रुपये हो जाती है तो हम यह कहेंगे कि डालर का अधिमूल्यन हुआ है, क्योंकि पहले की अपेक्षा डालर की क्रय-शक्ति अब बढ़ गयी है। मुद्रा के अधिमूल्यन का प्रभाव यह होता है कि

1 "The most important reason for controlling the exchange market is to make the rate of exchange different from what it would be without control If the Government is satisfied with the rate of exchange determined by free interplay of demand and supply, there is no need for management." —Crowther. *An Outline of Money*, p. 236

विदेशों मे वस्तुएँ खरीदना सस्ता हो जाता है, जबकि विदेशी व्यापारियों द्वारा इस देश की वस्तुएँ खरीदना महँगा हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा का अधिमूल्यन आयात को प्रोत्साहित तथा निर्यात को हतोत्साहित करता है। स्वतन्त्र विनिमय-बाजार में तो कोई भी मुद्रा अधिक समय तक अधिमूल्यन की स्थिति मे नहीं रह सकती, परन्तु विनिमय-नियन्त्रण द्वारा काफी समय तक इस स्थिति को बनाये रखा जा सकता है।

कोई देश अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन उस दशा म करता है जब विनिमय-बाजार को अनियन्त्रित छोड देने पर राष्ट्रीय मुद्रा की पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक होने की सम्भावना होती है। मुख्यतया निम्नलिखित कारणों से अधिमूल्यन की आवश्यकता होती है

1 अधिमूल्यन की आवश्यकता उस देश को होती है जिसे अचानक विदेशों से बहुत अधिक खरीदारी करनी पडती है। उदाहरणार्थ, युद्धकाल म किसी देश के लिए निर्यात को बढाना तो कठिन होता है परन्तु अन्य देशों से आयात की माँग बढ जाती है। युद्ध के बाद पुनर्निर्माण के समय भी प्राय इसी प्रकार की स्थिति पायी जाती है।
2 जब किसी देश को बहुत अधिक मात्रा म विदेशी मुद्रा में ऋण चुकाना होता है तथा ऋणो पर ब्याज का भुगतान करना होता है तो उसके लिए भी अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन करना लाभपूर्ण होता है।
3 जब देश मे मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्तियाँ सिर उठा रही हो तब भी मुद्रा को अधिमूल्यित करना उचित होता है। अधिमूल्यन के परिणामस्वरूप आयात बढते हैं तथा निर्यात कम होते हैं जिससे बाजार मे वस्तुओं की पूर्ति बढने लगती है। आयात सस्ते होने के कारण विदेशी वस्तुएँ देश मे कम कीमत पर बिकती हैं जो अन्य वस्तुओ की कीमतो को भी गिरा देती हैं। विदेशी व्यापार देश के कुल व्यापार का महत्वपूर्ण भाग होने की दशा मे अधिमूल्यन और भी अधिक प्रभावपूर्ण होता है।
4 अधिमूल्यन उस स्थिति मे भी उचित होता है जब किसी देश का अधिकतर विदेशी व्यापार किसी एक अन्य देश के साथ होता है और वह देश इस देश के निर्यातो पर बहुत अधिक निर्भर करता है। उदाहरणत पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का मूल्य 1949 में नहीं गिराया था जबकि स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशो ने अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन किया था। इसका प्रमुख कारण यह था कि भारत जूट के आयात के लिए पाकिस्तान पर अत्यधिक निर्भर था और पाकिस्तान अधिमूल्यन द्वारा भारत से जूट के निर्यात पर अधिक कीमत प्राप्त कर सकता था।
5 विकासशील देशो को योजनाएँ पूरा करने के लिए प्राय वर्षों तक अत्यधिक आयात करने पडते हैं। वे अधिमूल्यन के द्वारा अपनी मुद्रा में कम मूल्य चुकाकर आयात प्राप्त कर सकते हैं।

अधिमूल्यन के कभी-कभी गम्भीर दुष्परिणाम भी हो सकते हैं। मुद्रा का अधिमूल्यन देश मे कीमतों और लागतो को अन्य देशो की अपेक्षा बढा देता है जिससे निर्यात कम हो जाते हैं तथा आयात बढते हैं। इससे क्रमश व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है। यह दशा मन्दी के काल मे, जबकि अर्थ व्यवस्था पहले से ही निम्न-स्तर पर होती है, अत्यन्त अवाछनीय है। साधारणतया युद्ध एव अभाव के समय मुद्रा का अधिमूल्यन किया जाता है, परन्तु मन्दी के समय यह बहुत ही हानिकारक होता है। 1925 से 1931 के बीच इगलैण्ड तथा 1932 से 1936 के बीच फ्रान्स ने अधिमूल्यन के दुष्परिणामो को अनुभव किया था। क्राउथर के मतानुसार, "जिस देश की मुद्रा अधिमूल्यित होती है उसकी सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था एक प्रकार के क्रमश बढते हुए पक्षाघात की शिकार हो जाती है।"[1]

अधोमूल्यन (Under-valuation)—मुद्रा की विनिमय-दर स्वतन्त्र बाजार म निर्धारित

1 "A sort of progressive paralysis appears to creep over the whole economy of a country whose currency is over valued —Crowther *op cit*, p 240

होने वाली साम्य-दर से कम रखने की नीति, यानी अधोमूल्यन अथवा अवमूल्यन, का परिणाम अधिमूल्यन के ठीक विपरीत होता है। जब कोई देश विनिमय-नियन्त्रण द्वारा अपनी मुद्रा की विनिमय-दर सामान्य से नीचे निर्धारित करता है तो उस देश के निर्यात अन्य देशों के लिए सस्ते हो जाते हैं, जबकि दूसरे देशों से आयात का इसे अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। इस प्रकार निर्यात प्रोत्साहित होते हैं और आयात हतोत्साहित, जिसके परिणामस्वरूप व्यापार-सन्तुलन पक्ष में हो जाता है।

अवमूल्यन का प्रमुख उद्देश्य भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूल स्थिति में सुधार करना होता है। आयात कम होने तथा निर्यात बढ़ने से देश में उत्पादन, रोजगार तथा आय में वृद्धि होती है तथा कीमत-स्तर ऊपर उठने लगता है। व्यावहारिक रूप में, अधोमूल्यन की नीति केवल उन देशों के लिए प्रभावपूर्ण होती है जिनकी अर्थ-व्यवस्था में उनके निर्यातों का महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु विश्व के व्यापार में उनका भाग महत्वपूर्ण नहीं है। दूसरे शब्दों में, जब बड़े देश अधोमूल्यन की नीति अपनाते हैं तो उनको विशेष लाभ नहीं हो पाता, क्योंकि अन्य देश स्पर्द्धात्मक रूप में अनेक नियन्त्रण लगाकर उनके निर्यात कम कर देते हैं। इसके विपरीत, न्यूजीलैण्ड, डेनमार्क, फिनलैण्ड जैसे छोटे देश अधोमूल्यन की नीति सरलता से अपना सकते हैं, क्योंकि विदेशी व्यापार स्वयं उनके लिए महत्वपूर्ण होते हुए भी विश्व के लिए महत्वपूर्ण नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि अधोमूल्यन द्वारा कोई भी देश अपने निर्यात बढ़ाने के लिए प्रयत्न कर सकता है, परन्तु नैतिक दृष्टिकोण से यह एक स्वार्थी नीति है। इससे जो भी लाभ एक राष्ट्र को प्राप्त होता है वह निश्चय ही दूसरे राष्ट्र की, जिसके इसके साथ व्यापारिक सम्बन्ध हों, हानि होती है। प्रो० हॉम के अनुसार, "यह एक खतरनाक नीति होती है क्योंकि इसका उद्देश्य अपने पड़ोसी को गरीब बनाना होता है, और अन्त में इससे किसी को लाभ नहीं हो पाता।"[1] क्राउथर के शब्दों में, "अधोमूल्यन एक ऐसा खेल है जिसे कोई भी खेल सकता है, परन्तु यदि सब राष्ट्र इसे खेलना प्रारम्भ कर दें और विश्व की मुद्राओं में एक होड़-सी लग जाय कि किसका मूल्य कम से कम रखा जा सकता है तो इसका परिणाम यह होगा कि विश्व की सभी मुद्राएँ मूल्यहीन हो जायेंगी।"[2] इस प्रकार अधोमूल्यन की नीति तभी अपनानी चाहिए जब भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में सुधार करने के अन्य उपायों का प्रयोग कर लिया गया हो तथा उनमें पर्याप्त सफलता न मिल पायी हो।

अधिमूल्यन तथा अधोमूल्यन में कौन अधिक उपयुक्त है, यह देश की परिस्थितियों पर निर्भर करता है, परन्तु किसी भी दशा में स्पर्द्धात्मक अधोमूल्यन की नीति अपनाना किसी भी देश के लिए हितकर नहीं होता। क्राउथर के विचार में सिद्धान्त यह होना चाहिए कि "युद्ध एवं अभाव के समय मुद्रा का अधिमूल्यन किया जाय तथा मन्दी एवं आधिक्य के समय मुद्रा का अधोमूल्यन किया जाय।"[3]

विनिमय-स्थायित्व (Exchange Stabilization)—विनिमय-नियन्त्रण का उद्देश्य विनिमय-दर में होने वाले उतार-चढ़ाव को रोकना हो सकता है ताकि परिवर्तन की सामयिक एवं *अस्थायी प्रवृत्तियों से अर्थ-व्यवस्था को बचाया जा सके।* विनिमय-दर में स्थायित्व आर्थिक प्रगति, उद्योग, व्यापार तथा रोजगार के विकास में सहायक होता है। स्वर्ण-मान के पतन के पश्चात् इंगलैण्ड, अमेरिका तथा फ्रांस में स्थापित किये गये विनिमय समानीकरण कोषों (Exchange Equalisation Funds) का उद्देश्य न तो मुद्रा का अधिमूल्यन करना था और न ही अधोमूल्यन, वरन् विनिमय-दरों में होने वाले सामयिक तथा अस्थायी परिवर्तनों को रोकना था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) का भी बहुत कुछ यही उद्देश्य है।

---

1 "The most dangerous beggar-my-neighbour policy which benefits no body in the end."—G N Halm. *Monetary Theory*, p 250

2 "Under-valuation is a game that anyone can play, but if every one plays at it and currencies enter upon a competition to see which can be pushed furthest below its real value, it quickly develops into a race to render all currencies worthless."—Crowther. *op. cit.*, p 243.

3 "In times of war and scarcity, over-value your currency, in times of slump and surfeit, under-value your currency."—*Ibid.*, p 240

विनिमय-नियन्त्रण की रीतियाँ

विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति को नियन्त्रित करने के अनेक तरीके हैं। पॉल एन्जिग (Paul Einzig) ने विनिमय-नियन्त्रण की 41 रीतियों की विवेचना की है। इनमें से प्रमुख रीतियों के अध्ययन के लिए इन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है :

(1) **एकपक्षीय रीतियाँ** (Unilateral Methods)—इनसे तात्पर्य उन प्रणालियों से है जिन्हें कोई भी देश अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए बिना अन्य देशों से कोई समझौता किये अथवा अन्य देशों पर पड़ने वाले प्रभावों की ओर ध्यान दिये, अपनाता है। बैंक-दर का नियमन, विदेशी व्यापार का नियमन, विनिमय उद्बन्धन, अवरुद्ध खाता, विदेशी विनिमय राशनिंग आदि इसी प्रकार की रीतियाँ हैं।

(2) **द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय रीतियाँ** (Bilateral or Multi-lateral Methods)—जिन्हें दो अथवा अधिक देश पारस्परिक समझौतों के द्वारा अपनाते हैं और इनके द्वारा वे अपने हितों की पूर्ति करना चाहते हैं। समाशोधन समझौते, भुगतान समझौते, विलम्बकाल हस्तान्तरण तथा यथास्थिर समझौते आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं।

विनिमय-नियन्त्रण की रीतियों का वर्गीकरण एक अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है—(1) प्रत्यक्ष रीतियाँ, तथा (2) परोक्ष रीतियाँ। प्रत्यक्ष नियन्त्रण के अन्तर्गत वे कार्यवाहियाँ आती हैं जिनका उद्देश्य विदेशी विनिमय को नियन्त्रित करना तथा विनिमय-दर को प्रभावित करना होता है। परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष नियन्त्रण किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए लगाये जाते हैं, परन्तु साथ में इनसे विनिमय-दर भी प्रभावित होती है। इन दोनों प्रकार के विनिमय-नियन्त्रणों की व्याख्या निम्नलिखित है :

विनिमय-नियन्त्रण की प्रत्यक्ष रीतियाँ

प्रत्यक्ष विनिमय-नियन्त्रण की रीतियाँ दो प्रकार की होती हैं : (1) हस्तक्षेप (intervention), तथा (2) विनिमय-प्रतिबन्ध (exchange restriction)। विनिमय-प्रतिबन्ध के अन्तर्गत सरकार विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति पर प्रतिबन्ध लगाकर निजी व्यापारियों की विदेशी विनिमय के इच्छानुसार क्रय-विक्रय की स्वतन्त्रता समाप्त कर देती है। इसके विपरीत, हस्तक्षेप की नीति के अन्तर्गत व्यापारियों की विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय की स्वतन्त्रता समाप्त किये बिना सरकार विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय की दर घोषित करती है तथा स्वयं विनिमय-बाजार में क्रय-विक्रय करके माँग तथा पूर्ति को प्रभावित करती है। इस प्रकार इन तरीकों में प्रधान अन्तर यह है कि एक में विनिमय-बाजार में मुक्त प्रवेश पर नियन्त्रण रहता है जबकि दूसरे में विनिमय-बाजार सब के लिए खुला रहता है किन्तु इसमें एक कृत्रिम तत्व रख दिया जाता है। एक में विदेशी मुद्रा के लेन-देन में कमी हो जाती है, दूसरे में वृद्धि होती है। इन दोनों रीतियों से सरकार विनिमय नियन्त्रण करती है, परन्तु उद्देश्य की पूर्ति के लिए दोनों के अन्तर्गत अलग-अलग तरीके अपनाये जाते हैं।

हस्तक्षेप (Intervention)

विनिमय-बाजार में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के द्वारा सरकार अपनी मुद्रा की विनिमय-दर को एक निश्चित स्तर पर बनाये रखने के प्रयास करती है। हस्तक्षेप का प्रमुख तरीका दर-अधिकालीन (pegging) है। विनिमय-दर में परिवर्तन को रोकने के लिए विनिमय समानीकरण (exchange equalisation) अथवा स्थिरीकरण कोषों का निर्माण भी किया जा सकता है।

(1) **अधिकालीन पद्धति अथवा विनिमय उद्बन्धन** (Exchange Pegging)—जब सरकार अपने हस्तक्षेप द्वारा स्वाभाविक रूप से निर्धारित होने वाली विनिमय-दर से भिन्न दर निर्धारित करना चाहे और उसे निश्चित स्तर से घटने-बढ़ने न दे तो इसे विनिमय-अधिकालीन अथवा 'पेगिंग' कहते हैं। किसी ऊँचे स्तर पर विनिमय-दर बनाये रखने के उद्देश्य से किया गया हस्तक्षेप ऊँचा अधिकालीन (pegging up) कहलाता है। जब विनिमय-दर को किसी नीचे स्तर पर निर्धारित किया जाय तो उसे नीचा अधिकालीन (pegging down) कहते हैं। साधारणतः पेगिंग के

द्वारा विनिमय-दर को ऊँचा ही रखा जाता है अर्थात् 'पेगिंग अप' ही होता है, परन्तु कभी-कभी अवमूल्यन के उद्देश्य से 'पेगिंग डाउन' की नीति भी अपनायी जा सकती है।

अधिकालीन पद्धति के अन्तर्गत सरकार (अथवा केन्द्रीय बैंक) विनिमय-बाजार में विदेशी मुद्राओं के बदले में अपनी मुद्रा का क्रय-विक्रय करती है, और उसकी माँग तथा पूर्ति को प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करती है। यदि सरकार का उद्देश्य 'पेगिंग अप' करना होता है तो सरकार अपने प्रयत्नों द्वारा अपनी मुद्रा की माँग में वृद्धि तथा पूर्ति में कमी कर देती है। इसके विपरीत, 'पेगिंग डाउन' के लिए सरकार को अपनी मुद्रा की पूर्ति बढ़ानी होती है। इस प्रकार, विनिमय-दर को ऊँचा अटकाने (पेगिंग अप) के लिए सरकार विदेशी मुद्राओं को असीमित मात्रा में बेचने तथा अपनी मुद्रा को निर्धारित दर पर असीमित मात्रा में खरीदने के लिए तैयार रहती है, जिसके परिणामस्वरूप विनिमय-बाजार में विदेशी मुद्राओं की मात्रा में वृद्धि तथा देशी मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाती है। इसके विपरीत, विनिमय-दर को नीचे अटकाने (पेगिंग डाउन) के लिए सरकार को निर्धारित की गयी विनिमय-दर पर असीमित मात्रा में देशी मुद्रा को विदेशी मुद्राओं के बदले में बेचना पड़ता है, जिससे बाजार में विदेशी मुद्राओं की मात्रा में कमी और देशी मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने लगे।[1]

हस्तक्षेप की उक्त रीति का प्रयोग समय-समय पर किया जाता रहा है। प्रथम महायुद्ध काल में ब्रिटेन की सरकार ने पौण्ड को ऊँची दर पर 'पेग अप' कर दिया था और पौण्ड की डालर में विनिमय-दर 1 पौण्ड=4 765 डालर पर टाँक दी थी। इस दर को बनाये रखने के लिए ब्रिटेन ने अमेरिका से ऋण लिया था तथा लन्दन के विनिमय बाजार में विदेशी मुद्राओं की खरीद की थी। 1919 में जैसे ही हस्तक्षेप हटा दिया गया, विनिमय-दर गिरकर 1 पौण्ड=3 40 डालर हो गयी। 1933 में न्यूजीलैण्ड ने अपने पौण्ड को 'पेग डाउन' किया था।

विनिमय अधिकालीन की नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक के पास यथेष्ट मात्रा में विदेशी विनिमय के भण्डार हों ताकि विनिमय-दर ऊँची करने के लिए वह उन भण्डारों से अपने देश की मुद्रा खरीद कर उसकी माँग में वृद्धि के द्वारा उसका मूल्य बढ़ा सके। इसके लिए विदेशों से ऋण लेना पड़ता है। किन्तु ऐसा बहुत समय तक सम्भव नहीं हो पाता जिसके कारण 'पेगिंग अप' की सीमा काफी संकुचित होती है। इसके विपरीत, 'पेगिंग डाउन' की सफलता के लिए सरकार को आन्तरिक मौद्रिक साधनों में वृद्धि करनी होती है। ऐसा अनेक तरीकों से किया जा सकता है, जैसे—करारोपण (taxation), जनता से ऋण (public borrowing) तथा मुद्रा की मात्रा में वृद्धि। परन्तु कर भी एक निश्चित सीमा तक ही लगाये जा सकते हैं और जनता से ऋण भी एक निश्चित सीमा से अधिक प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि सरकार के ऊपर इसकी ब्याज का बोझ पड़ता है। मुद्रा की मात्रा बढ़ाने से मुद्रा-स्फीति का भय रहता है। कीमत-स्तर में वृद्धि से 'पेगिंग डाउन' को निस्सन्देह बल मिलेगा। परन्तु मुद्रा-स्फीति स्थायी रूप से सहायक नहीं हो सकती। इन सब सीमाओं को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि विनिमय की अधिकालीन नीति केवल अस्थायी रूप में सम्भव हो सकती है, स्थायी रूप में नहीं।

(2) **विनिमय समानीकरण खाता (Exchange Equalisation Account)**—स्वर्णमान के पतन के पश्चात 1932 में इंग्लैण्ड में विनिमय समानीकरण खाता अथवा विनिमय स्थिरीकरण कोष (Exchange Stabilisation Fund) की स्थापना की गयी थी। इंगलैण्ड के अतिरिक्त फ्रांस, अमेरिका, हालैण्ड, बेल्जियम तथा स्विट्जरलैण्ड में भी इस प्रकार के कोषों की स्थापना इस उद्देश्य से की गयी थी कि विनिमय-दरों का अधिमूल्यन अथवा अवमूल्यन किये बिना इनमें अस्थायी परिवर्तनों को रोका जा सके। क्रम्प (Crump) के अनुसार इंगलैण्ड में इस कोष के दो उद्देश्य थे :

1 "A Government that is 'pegging' its currency must be in a position to pay out foreign currencies and receive its own currency; a Government that is 'pegging down' its currency must be in a position to pay out its own currency and receive foreign currencies; and both must be prepared to go on indefinitely unless they want either to resort to restriction or to fail in that purpose of controlling the rate of exchange'—Crowther *An Outline of Money*, p 249

समस्त विदेशी विनिमय तथा विदेशी स्वर्ण के लिए एक 'विश्राम-स्थल' स्थापित करना, और दूसरे, सटोरियो की विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्यवाहियो पर उचित नियन्त्रण रखना।

इस रीति के अन्तर्गत देश के केन्द्रीय बैंक के पास स्वर्ण, विदेशी मुद्रा और देशी मुद्रा का कोष बना दिया जाता है, जिसका प्रयोग विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय के लिए किया जाता है, और इस प्रकार विनिमय-दर को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया जा सकता है। इन कोषों का उपयोग दीर्घकालीन अथवा स्थायी प्रवृत्तियों मे हस्तक्षेप करने के उद्देश्य से नही किया जाता, बल्कि विनिमय-दर मे होने वाले अस्थायी परिवर्तनो को रोकना होता है।

इस प्रकार के कोष के प्रभावशील होने के लिए इसम यथेष्ट मात्रा मे विदेशी तथा देशी मुद्रा का होना आवश्यक होता है। इसकी वास्तविक शक्ति विदेशी मुद्रा की मात्रा पर निर्भर करती है। साथ मे पर्याप्त मात्रा मे देशी मुद्रा का होना इसलिए आवश्यक होता है ताकि विदेशी मुद्राएँ खरीदी जा सकें। इन कोषो ने विनिमय-दरो मे स्थायित्व लाने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। परन्तु चूँकि कोष का कार्य एक देश के हाथ मे सीमित होता है और यही देश विनिमय-दर निर्धारित करता है, इसलिए यह सम्भावना रहती है कि निर्धारित दर किसी अन्य देश के हित म न हो और वह देश मौद्रिक संघर्ष शुरू कर दे।

विभिन्न कोषो में पारस्परिक सहयोग की भावना से इगलैण्ड, अमेरिका तथा फ्रांस के कोषो के बीच 1936 में एक त्रिपक्षीय समझौता (tripartite agreement) किया गया था। इसके अनुसार कोई भी देश अन्य दो देशो की अनुमति के बिना विनिमय-दर मे परिवर्तन नही कर सकता था। तीनो देशो ने आवश्यकता पडने पर एक-दूसरे को निश्चित दर पर स्वर्ण बेचना भी तय किया था। बाद मे हालैण्ड, बेल्जियम तथा स्विट्जरलैण्ड भी इस समझौते में सम्मिलित हो गये। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होते ही (1939 मे) इन कोषों तथा त्रिपक्षीय समझौते का अन्त हो गया।

विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restriction)

द्वितीय महायुद्ध काल मे यह अनुभव किया जाने लगा कि प्रत्यक्ष विनिमय-नियन्त्रण के लिए हस्तक्षेप की नीति बहुत अधिक प्रभावपूर्ण नही होती। अतएव एक अधिक प्रबल युक्ति के रूप मे विनिमय-प्रतिबन्ध का प्रयोग किया जाने लगा। विनिमय-प्रतिबन्ध के अन्तर्गत विदेशी विनिमय-बाजार मे देशी मुद्रा की पूर्ति अनिवार्य रूप से कम कर दी जाती है, और इस प्रकार विनिमय-बाजार मे लेन-देन को कम कर दिया जाता है। विनिमय-प्रतिबन्ध रीति की मुख्य विशेषताएँ ये हैं: विदेशी विनिमय के लेन-देन पर सरकार का एकाधिकार होता है, सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति अथवा संस्था विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय नही कर सकती, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी सरकार का नियन्त्रण रहता है।

इस प्रकार विनिमय-प्रतिबन्ध की नीति के अन्तर्गत दो प्रकार के कार्यक्रमो की आवश्यकता होती है—(1) अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी एव स्वर्ण के आवागमन पर नियन्त्रण, तथा (2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियमन। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नियमन के कार्य के मुख्यत तीन पहलू हैं—(1) आयात एव निर्यात की प्रकृति, परिणाम, दिशा आदि सभी बातों को नियन्त्रित करना, (2) देश के निर्यात से प्राप्त विदेशी मुद्रा सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक को सौंप देना, तथा (3) इस विदेशी मुद्रा का आयातको के बीच वितरण राष्ट्र की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए करना।[1] इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्य देशों के साथ आर्थिक तथा व्यापारिक सम्बन्धो पर अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं अथवा कुछ समझौते कर लिये जाते हैं जिनके अन्तर्गत पारस्परिक हितो की रक्षा के लिए प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। विनिमय-प्रतिबन्ध के प्रमुख तरीके निम्नलिखित हैं

(1) **अवरुद्ध खाते (Blocked Accounts)**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार यह प्रति

---

1 रैगनर नर्क्स (Ragner Nurkse) के अनुसार विदेशी विनिमय के वितरण से सम्बन्धित चार प्रकार के निश्चय करने पडते हैं, अर्थात् भिन्न भिन्न उद्देश्यो के लिए, भिन्न भिन्न वस्तुओ के लिए, भिन्न भिन्न व्यापारियो अथवा फर्मों के बीच तथा भिन्न-भिन्न देशो के बीच सम्पूर्ण विदेशी विनिमय का वितरण किस परिमाण में किया जाय।

बन्ध लगा देती है कि विदेशी अपनी पूँजी अथवा सम्पत्ति देश के बाहर नहीं ले जा सकते। लेनदार (creditor) देशों के ऋण तथा ब्याज के भुगतान बन्द कर दिये जाते हैं। विदेशी पूँजी तथा विदेशी भुगतानों की रोकी हुई कुल राशि केन्द्रीय बैंक के पास 'अवरुद्ध खाते' में जमा करा दी जाती है। कभी-कभी विदेशियों को सुविधा दे दी जाती है कि वे इस पूँजी का उसी देश में उपयोग कर सकते हैं। इन खातों के द्वारा विदेशी भुगतान बन्द करने का परिणाम यह होता है कि विदेशी विनिमय चुकाने का भार कुछ समय के लिए कम हो जाता है और विनिमय-दर को गिराने से बचाया जा सकता है।

अवरुद्ध खाते की व्यवस्था को सर्वप्रथम नाजी जर्मनी ने तथा बाद में आस्ट्रिया तथा मध्य यूरोप के देशों ने अपनाया था। जर्मनी में इस नीति का जन्मदाता शॉट (Schacht) था और इसके अन्तर्गत यहूदियों को देश से निकालकर उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति अवरुद्ध खाते में लिख ली गयी थी। सन् 1940 में इंगलैण्ड ने भी विदेशियों की स्टर्लिंग सम्पत्ति अवरुद्ध खाते में रख ली थी। परन्तु चूँकि उन्हें इसका हस्तान्तरण अन्य विदेशियों को करने का अधिकार दिया गया था, इसके परिणामस्वरूप अमरिका में अवरुद्ध स्टर्लिंग सम्पत्ति काफी कटौती के साथ बिकी।

अवरुद्ध खाता में घिरी हुई अपनी पूँजी को वापस पाने के लिए विदेशी व्यापारी सरकार की अनुमति से इसी देश में ही माल खरीदकर अपना भुगतान ले लेते हैं अथवा अपनी मुद्रा को प्रचलित विनिमय-दर से कम दर पर बेच देते हैं। ऋणी देशों को प्रत्येक अवस्था में लाभ होता है। परन्तु यह व्यवस्था अवरुद्ध सम्पत्ति के 'काले बाजार' को जन्म देती है जिसे "ब्लैक बोर्स" (Black Bours) कहा जाता है। इससे दूसरी समस्या यह उत्पन्न होती है कि अवरुद्ध खाते वाले देश के विदेशी व्यापार को बहुत हानि होती है, क्योंकि इसे कोई भी देश माल नहीं भेजना चाहता और इसके आयातों के भुगतान अन्य देशों में रोक लिये जाते हैं। जब विदेशी विनिमय का लेन-देन ही बन्द हो जाता है तो विनिमय-दर का कुछ महत्व नहीं रहता। इस प्रकार इस क्रिया का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

(2) **विदेशी विनिमय की राशनिंग (Rationing of Foreign Exchange)**—इस प्रणाली के अन्तर्गत विदेशी विनिमय का स्वतन्त्र क्रय-विक्रय समाप्त कर दिया जाता है। निर्यातकों को उपलब्ध होने वाली विदेशी मुद्राएँ सरकार को सौंप दी जाती हैं। विदेशी विनिमय के वितरण के लिए आयातों की आवश्यकता के अनुसार राशनिंग किया जाता है। आयात के लिए एक प्राथमिकता क्रम निर्धारित कर लिया जाता है और उसी के अनुसार विदेशी विनिमय के भुगतान की राशि निर्धारित की जाती है। इस प्रकार इस प्रणाली का प्रयोग आयात की मात्रा को कम करके भुगतान-सन्तुलन की स्थिति सुधारने के लिए किया जाता है।

(3) **अभ्यंश प्रणाली (Quota System)**—जिस प्रकार विदेशी विनिमय की राशनिंग प्रणाली का उद्देश्य अलग-अलग वस्तुओं के आयात की मात्रा निश्चित करना होता है, अभ्यंश प्रणाली का उद्देश्य भिन्न-भिन्न देशों से आयात के परिमाण को निश्चित करना होता है। आयात एवं निर्यात की मात्रा सन्तुलित करने के लिए उन देशों से आयात कम कर दिया जाता है जिनको निर्यात कम किये जाते हैं। इस नीति का प्रयोग महान् आर्थिक मन्दी के बाद फ्रांस तथा स्टर्लिंग समुदाय के अन्य देशों ने किया था।

(4) **बहुमुखी विनिमय-दरें (Multiple Exchange Rates)**—इस रीति के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं के आयात-निर्यात तथा विभिन्न उद्देश्यों के लिए विदेशी विनिमय लेन-देन के लिए भिन्न-भिन्न विनिमय-दरें अपनायी जाती हैं। आयातों को कम करने तथा निर्यातों को बढ़ाने के उद्देश्य से एक विनिमय-दर को न अपनाकर अनेक विनिमय-दरों को अपनाया जाता है। इस पद्धति को सर्वप्रथम 1930 की महामन्दी के काल में लैटिन अमेरिका के देशों ने अपनाया था। बाद में जर्मनी ने अनेक प्रकार के मार्क (Marks) प्रचलित किये,[1] जिनके लन्दन के विनिमय-बाजार में

1 Register Marks, Handel Marks, Block Marks, Travel Marks, Sonder Marks, Aski Marks, etc

अलग-अलग मूल्य थे। यह प्रणाली भुगतान-सन्तुलन को ठीक बनाये रखने के लिए विकासशील देशो द्वारा भी अपनायी जा सकती है, परन्तु व्यावहारिक रूप मे यह एक जटिल प्रणाली है और इसका सचालन करना कठिन होता है।

(5) **समाशोधन समझौते (Clearing Agreements)**—समाशोधन समझौते मुख्यत दो देशो के पारस्परिक भुगतान केन्द्रीय बैंको के माध्यम से सन्तुलित रखने के लिए किये जाते हैं। इन समझौतो के अनुसार दोनो देशो मे आयातकर्ता अपने देश की मुद्रा मे ही देश के केन्द्रीय बैंक अथवा अन्य अधिकृत बैंको को भुगतान करते हैं। इसी प्रकार निर्यातकर्ता अपने माल का भुगतान अपने देश की मुद्रा मे केन्द्रीय बैंक अथवा अधिकृत बैंको से प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मुद्राओ का एक देश से दूसरे देश को हस्तान्तरण हुए बिना दोनो देशो मे भुगतान हो जाता है। दोनों देशो के आयात तथा निर्यात बराबर न होने की दशा मे भुगतानावशेष को चुकाने की रीति भी समझौते मे निर्धारित कर ली जाती है और प्राय इसके लिए भी विदेशी मुद्रा का प्रयोग नही किया जाता। दोनो सरकारें समझौते द्वारा विनिमय की दर निश्चित कर लेती हैं। साथ मे यह भी तय कर लिया जाता है कि भुगतान करते समय किन-किन मदो को प्राथमिकता दी जायगी। व्यापार का नियमन दोनो सरकारें करती हैं और उनका प्रयास यही होता है कि व्यापार-असन्तुलन हस्तक्षेप द्वारा ठीक कर दिया जाय।

1931 से 1939 तक विभिन्न देशो म इस प्रकार के अनेक समझौते किये गये थे। हेबरलर (G V Haberler) के मतानुसार यह समझौते उन देशो के बीच होते हैं जिनकी भुगतान-सन्तुलन मे समानता नही होती है। इस प्रकार की व्यवस्था मे विनिमय-बाजार का कार्य ही समाप्त हो जाता है और विदेशी व्यापार लगभग वस्तु विनिमय (barter) का रूप धारण कर लेता है। यह ठीक है कि इन समझौतो की सहायता से असन्तुलित भुगतान स्थिति वाले देशो को लाभ होता है और द्विपक्षीय (bilateral) व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु इनके कई दोष भी होते हैं। मुख्यत (1) माल का भुगतान माल के रूप मे ही प्राप्त करने की प्रथा विदेशी व्यापार के क्षेत्र मे स्वतन्त्रता को समाप्त कर देती है जिसके परिणामस्वरूप व्यापार की मात्रा कम हो जाती है, (2) इससे आर्थिक दृष्टि से कमजोर देशो का शोषण होता है, (3) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सामान्य सिद्धान्तो पर आधारित न होकर मजबूरी पर आधारित होता है, क्योकि माल के बदले माल लेना ही पडता है, चाहे इसमे हानि ही क्यो न हो, (4) दूसरे देश द्वारा दिये गये माल को खरीदने के लिए विवश होना पडता है। जर्मनी इन समझौतो के अन्तर्गत अन्य देशो से आवश्यक वस्तुएँ खरीदकर अपनी अर्थ-व्यवस्था को युद्ध के लिए सुदृढ कर सका, परन्तु हगरी को स्विट्जरलैण्ड से बहुत बडी मात्रा मे घडियाँ खरीदनी पडी थी जिनकी उसे आवश्यकता नही थी।

(6) **भुगतान समझौते (Payments Agreements)**—इस प्रकार के समझौतों के अन्तर्गत एक प्रकार से विनिमय की राशनिंग की व्यवस्था की जाती है। इनका मुख्य रूप से उद्देश्य यह होता है कि ऐसी व्यवस्था की जाय कि ऋणी (debtor) देश ऋणदाता (creditor) देश को मूलधन तथा ब्याज आदि चुका सके। इसके अन्तर्गत ऋणदाता देश ऋणी देश से आयातो को यथासम्भव बिना किसी प्रतिबन्ध के ही स्वीकार करता है। इसके विपरीत, ऋणी देश ऋणदाता देश से आने वाले आयातों को यथासम्भव कम रखता है और उसे भेजे जाने वाले निर्यातो को बढाने के प्रयास करता है। केवल इस प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होने पर ही ऋणी देश पुराने विदेशी ऋणो को चुका पाता है। एल्सवर्थ (Ellsworth) के अनुसार, "जिन देशो के विनिमय-नियन्त्रण वाले देशो मे या तो द्विपक्षीय समझौत के परिणामस्वरूप अथवा निर्यातकर्ताओ की अधिक जल्दबाजी के कारण भारी मात्रा मे ऋण एकत्र हो जाते हैं, उनकी इन देशो म आदेया की तरलता समाप्त हो जाती है। भुगतान समझौता उनमे तरलता उत्पन्न करने के साधन की व्यवस्था करता है।"[1]

---

1 "Countries that build up substantial credits in exchange control countries, either prior to the introduction of controls, as a result of the operation of bilateral accord, or simply because of the rashness of exporters, acquire a frozen asset A payments agreement provides the means to thaw it . "—Ellsworth : *The International Economy*, p. 340

द्वितीय महायुद्ध काल में अनेक देशों ने इस प्रकार के समझौतों द्वारा विदेशी विनिमय के राशनिंग के प्रयास किये थे।

(7) यथास्थिर समझौते (Standstill Agreements)—इन समझौतों का मुख्य उद्देश्य दो देशों के बीच पूंजी के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगाना होता है ताकि ऋणी देश अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर सके। पूंजी के आवागमन को रोकने के उद्देश्य की पूर्ति दो प्रकार से की जा सकती है—प्रथम, विदेशी भुगतान एकदम न करके धीरे-धीरे किस्तों में किये जाते हैं, तथा दूसरे, अल्पकालीन ऋणों को दीर्घकालीन ऋणों में बदला जा सकता है। इन दोनों तरीकों से ऋणी देश को अपने ऋणों का भुगतान करने के लिए अधिक समय मिल जाता है और इसी बीच वह देश अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार कर सकता है। पूंजी के आवागमन को नियन्त्रित करने से विनिमय-दर में भी स्थिरता बनाये रखी जा सकती है। 1931 की महान् मन्दी के पश्चात जर्मनी ने इस रीति का प्रयोग किया था।

(8) क्षतिपूर्ति समझौता (Compensation Agreements)—यह विदेशी व्यापार के क्षेत्र में एक प्रकार से वस्तु विनिमय पद्धति अपनाने के लिए एक समझौता होता है। इसके अन्तर्गत आयात का भुगतान निर्यात द्वारा किया जाता है और भुगतान के लिए विदेशी मुद्रा का प्रयोग किया ही नहीं जाता। दूसरे शब्दों में, आयातकर्त्ता देश आयात किये गये माल के मूल्य के बराबर मूल्य का माल निर्यात कर देता है जिसके परिणामस्वरूप दोनों देशों के भुगतान एक-दूसरे से रद्द हो जाते हैं। इस प्रकार के द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन की कार्यक्षमता गिर जाती है, देश की प्रतियोगिता करने की शक्ति को धक्का लगता है तथा उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता में अनुचित संरक्षण मिलता है।[1]

(9) विलम्बकाल हस्तान्तरण (Transfer Moratoria)—इस नीति के अन्तर्गत आयात तथा विदेशी पूंजी पर ब्याज एवं लाभांश आदि का भुगतान तत्काल न करके कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया जाता है। आयातकर्ता द्वारा देशी मुद्रा में ही केन्द्रीय बैंक के पास भुगतान जमा कर दिया जाता है और इसी राशि का केन्द्रीय बैंक निश्चित अवधि के पश्चात विदेशी मुद्राओं में निर्यातकर्ता अथवा ऋणदाता को भुगतान कर देता है। कभी-कभी ऋणदाताओं को विशेष अधिकार भी दिये जा सकते हैं कि वे केन्द्रीय बैंक के पास जमा राशि का भुगतान की अवधि पूर्ण होने के पूर्व ही देश में प्रयोग कर लें। इस प्रकार, विलम्ब काल की अवधि में ऋणी देश की सरकार को विनिमय सम्बन्धी आवश्यक समायोजन करने का अवसर मिल जाता है और प्रायः विदेशी मुद्राओं के हस्तान्तरण के बिना ही भुगतान समाशोधित हो जाते हैं।

इस प्रकार विनिमय प्रतिबन्ध के अनेक तरीके हैं, और इन सभी का उद्देश्य विनिमय-बाजार में देश की मुद्रा की पूर्ति को नियन्त्रित करना होता है। कुछ परिस्थितियों में तो विनिमय प्रतिबन्ध की इच्छा न रहते हुए भी इसे अपनाना अनिवार्य हो जाता है। हस्तक्षेप की तुलना में विनिमय प्रतिबन्ध एक अधिक कठोर, प्रत्यक्ष एवं सार्थक नीति है। जर्मनी के अनुभव से यह सिद्ध होता है कि विनिमय-प्रतिबन्ध की नीति के द्वारा कोई भी देश एक विनिमय-दर को बनाये रख सकता है जो उसके आर्थिक विकास में सहायक हो सकती है।

विनिमय-नियन्त्रण की परोक्ष रीतियाँ

हस्तक्षेप तथा प्रतिबन्ध के प्रत्यक्ष तरीकों के अतिरिक्त विनिमय-नियन्त्रण के कुछ परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तरीके भी हैं। इनमें आयात-निर्यात-नीति तथा ब्याज-दर में परिवर्तन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आयात निर्यात-नीति—देश के भुगतान-सन्तुलन की स्थिति प्रतिकूल होने की दशा में सरकार आयात कर लगाकर देश के आयात को गुणात्मक तथा परिमाणात्मक दृष्टि से सीमित कर देती है। इसी प्रकार विभिन्न आयातों की मात्रा (quota) निश्चित करके भी इस उद्देश्य को प्राप्त

1 K. K. Kurihara *Monetary Theory and Public Policy*, p 337

किया जा सकता है। कभी-कभी उन देशो के नाम भी निश्चित कर दिये जाते है जिनसे वस्तुओ का आयात किया जा सकता है। विदेशी व्यापार के द्वारा विनिमय की स्थिति सुधारने के लिए निर्यातो को प्रोत्साहन देना उतना ही आवश्यक होता है जितना आयातो को सीमित करना। इसके लिए निर्यातो पर करो मे छूट अथवा अधिदान (bounty) दिया जाता है। निर्यात की वस्तुओ का उत्पादन करने वाले उद्योगो को अनेक प्रकार से आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है और देश के बजट मे इसकी व्यवस्था की जाती है। आर्थिक भाषा मे इसे 'Dumping' की नीति कहते हैं। आयात सीमित करने तथा निर्यात बढाने के लिए किये गये इन कार्यों के परिणामस्वरूप विदेशो मे देश की मुद्रा की पूर्ति कम हो जाती है, परन्तु उसकी माँग बनी रहती है और विनिमय-दर ऊँची बनाये रखी जा सकती है। इस प्रकार की नीति अन्य देशो द्वारा अपना लिये जाने पर यह सब प्रयत्न विफल हो जाते हैं, परन्तु फिर भी यदि अन्य बातें समान रहें तो आयात को सीमित करने तथा निर्यात को प्रोत्साहन देने का प्रभाव देशी मुद्रा की विनिमय-दर बढाने का होता है।

ब्याज-दर—ब्याज की दरो अथवा बैंक-दर मे परिवर्तन द्वारा भी देश की मुद्रा की माँग तथा पूर्ति को प्रभावित किया जा सकता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूँजी के विनियोग पर कोई रुकावटें न हो तो ब्याज-दर बढाने पर विदेशी पूँजी देश में आने लगती है। इसके परिणामस्वरूप देश की मुद्रा की माँग बढ जाती है, भुगतान-सन्तुलन पक्ष मे हो जाता है, और विनिमय दर ऊँची होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। ब्याज की दर कम होने का प्रभाव इसके विपरीत होता है। इस प्रकार सामान्यत ऊँची बैंक-दर विनिमय-दर ऊँची रखने म तथा नीची बैंक-दर विनिमय-दर नीची रखने में सहायक होती है। 1924 तथा 1930 के बीच जर्मनी ने ब्याज-दर ऊँची करके विदेशी पूँजी को आकर्षित किया था जिससे मार्क की माँग म वृद्धि हुई तथा उसकी विनिमय-दर ऊँची हो गयी।

इस प्रकार विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्यो को विभिन्न परोक्ष तरीका से भी प्राप्त किया जा सकता है। प्राय यह देखा गया है कि प्रत्यक्ष तरीको की तुलना मे परोक्ष तरीके कम कठोर होते हैं और उनका प्रभाव भी कम होता है। वास्तव मे, व्यापार-नीति तथा ब्याज-दर मे सीमित मात्रा मे ही परिवर्तन सम्भव होते हैं, क्योंकि अधिक परिवर्तन होने की दशा मे अन्य देशो द्वारा प्रतिक्रिया (retaliation) का भय रहता है। इसीलिए विनिमय-नियन्त्रण की परोक्ष रीतियो को बहुत सावधानी से अपनाना पडता है।

निष्कर्ष—विनिमय-नियन्त्रण की विभिन्न रीतिया की उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि कोई भी देश विनिमय-नियन्त्रण के लिए अनेक रीतियो का प्रयोग कर सकता है। इनमे कौनसी रीति किस देश के लिए अधिक उपयुक्त है, यह उस देश की आवश्यकताओ तथा परिस्थितियो पर निर्भर करता है। चूंकि देश की आवश्यकताओ मे समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है इसलिए विनिमय नियन्त्रण के लिए अपनायी जाने वाली नीतियो मे भी परिवर्तन करना पडता है। प्राय एक समय मे एक साथ कई रीतियो को अपनाना आवश्यक हो जाता है ताकि नियन्त्रण का उद्देश्य पूरा हो जाय।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व दक्षिणी अमेरिका तथा मध्य यूरोप दोना के द्वारा विनिमय प्रतिबन्ध की रीतियो का प्रयोग किया गया जबकि इंगलैण्ड तथा अमेरिका मे हस्तक्षेप के ही उपाय अपनाये गये। युद्धकाल मे परिस्थितियो मे परिवर्तन के कारण सभी देशा ने विनिमय-प्रतिबन्ध की नीति को ही अपनाया और विभिन्न देशो ने इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए गुट बना लिये। युद्ध के समाप्त होते ही ऐसा सोचा जाने लगा कि विनिमय प्रतिबन्ध भुगतान सन्तुलन की समस्या का वास्तविक हल नही है। विभिन्न देशो द्वारा विनिमय-नियन्त्रण की रीतिया का प्रतिस्पर्धात्मक प्रयोग किये जाने पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कठिनाइयाँ कम नही होतीं बल्कि बढ जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने यही दृष्टिकोण अपनाया है। इन भावनाओ के बावजूद लगभग सभी देश विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न रीतियो का प्रयोग कर रहे हैं और विकास अथवा स्थायित्व से सम्बन्धित विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति के लिए इन्हें महत्वपूर्ण समझते है।

विनिमय-नियन्त्रण के दोष

विनिमय-नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य देश के असन्तुलित भुगतान को सन्तुलित करना होता है। एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था में, जैसा कि पहले बताया गया है, विनिमय-नियन्त्रण का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसकी सहायता से ही देश को अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रभावों से बचाया जा सकता है और आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में कीमतों में स्थिरता लायी जा सकती है। परन्तु जब सभी देशों में विनिमय-नियन्त्रण प्रणाली अपनाने में एक होड़ की सी भावना उत्पन्न हो जाय तो नियन्त्रण-व्यवस्था से अनेक हानियों की भी सम्भावना हो सकती है। इनकी संक्षिप्त विवेचना निम्नलिखित है

1. कठोर नियन्त्रण-व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में बाधक होती है। अनेक देशों द्वारा नियन्त्रण-व्यवस्था अपना लिये जाने पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संकुचन होता है। विनिमय-नियन्त्रण के परिणामस्वरूप आयातों में कमी देश के निर्यातों की मात्रा को भी प्रभावित करती है। 19 वीं शताब्दी तथा 20वीं शताब्दी के आरम्भ के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अच्छा विकास हुआ था, परन्तु विनिमय-नियन्त्रण की रीतियों ने इस विकास में बाधा पहुँचायी है।
2. विनिमय-नियन्त्रण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों में कमी हो जाती है, क्योंकि इससे बहुपक्षीय व्यापार तथा मुद्राओं की परिवर्तनशीलता की लाभदायक प्रथा के स्थान पर द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतों तथा मुद्रा की अपरिवर्तनशीलता को प्रोत्साहन मिलता है।
3. अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के स्थान पर आर्थिक राष्ट्रीयता की भयानक भावना को प्रोत्साहन मिलता है। प्रायः शक्तिशाली राष्ट्र अपने स्वार्थ में छोटे तथा कमजोर राष्ट्रों के हितों की अवहेलना करते हैं तथा उन्हें दबा लेते हैं।
4. विनिमय-नियन्त्रण प्रणाली अपनाने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के 'तुलनात्मक लागत सिद्धान्त' (Comparative Cost Theory) की क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है। स्वतन्त्र व्यापार के स्थान पर दो देशों के बीच पारस्परिक सहमति के अनुसार नियन्त्रित व्यापार होने लगता है। नियन्त्रण प्रणाली के कारण देश को सस्ते से सस्ते बाजार में माल खरीदने का अवसर नहीं मिल पाता और इसी प्रकार अच्छे से अच्छे बाजार में माल बेचने में भी बाधा पड़ती है।
5. प्रतिबन्धों के द्वारा आयातों के भुगतान स्थगित करने पर देश में मुद्रा-प्रसार की सम्भावना बढ़ती है। मुद्रा-प्रसार के कारण मुद्रा की क्रय-शक्ति में कमी होती है जिसका परिणाम यह होता है कि साम्य (equilibrium) विनिमय दर अधिमूल्यित (over-valued) विनिमय-दर में परिवर्तित हो जाती है।
6. विनिमय-नियन्त्रण भ्रष्टाचार तथा चोरबाजारी को प्रोत्साहित करता है। विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करना गैरकानूनी होता है। परन्तु दुर्लभ विदेशी मुद्राओं के मूल्य में वृद्धि के कारण उन्हें प्राप्त करने के लिए सरकारी अधिकारियों को रिश्वत देकर भ्रष्ट किया जाता है और इन मुद्राओं में चोरबाजारी का आरम्भ होता है।
7. विनिमय नियन्त्रण प्रणाली एक अत्यन्त खर्चीली प्रणाली होती है, क्योंकि इसे लागू करने के लिए बड़े पैमाने पर नौकरशाही की आवश्यकता पड़ती है। यही नहीं, कभी-कभी नौकरशाही के गलत निर्णय, असावधानी अथवा अयोग्यता के कारण देश को बहुत बड़ी हानि की सम्भावना रहती है।
8. एल्सवर्थ के अनुसार, "यह (विनिमय-नियन्त्रण) घाटे का समाधान करता है, न कि उसके कारणों का, और यह उन कारणों को बढ़ा देता है जो आधारभूत असन्तुलन को जन्म देने वाली प्रवृत्ति दर्शाते हैं।"[1]

1 "It deals only with the deficit, not its causes, and it exacerbates those causes, tending to create a more basic disequilibrium —Ellsworth *The International Economy*, p 348

विनिमय-नियन्त्रण के उपर्युक्त दोष, वास्तव में, इसके गलत प्रयोग के दोष हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक देश को विनिमय-दर में स्थायी साम्य स्थापित करने के उद्देश्य से विनिमय-नियन्त्रण के तरीकों में समय-समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन करते रहना चाहिए। साथ में यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक रीति अपनाने के पूर्व उसके हर पहलू पर सावधानी से विचार कर लिया जाय, क्योंकि बार-बार नीतियों में परिवर्तन का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता और इससे अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न होता है। विनिमय-नियन्त्रण को लागू करते समय कुछ देशों अथवा देश में कुछ वर्गों अथवा व्यक्तियों के साथ पक्षपात करना इसके प्रभाव को कम कर देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों द्वारा लगाये गये विनिमय-नियन्त्रणों को समाप्त करना है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई रुकावट न हो। कोष की स्थापना के समय यह आशा की गयी थी कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियाँ सामान्य हो जाने पर विनिमय-नियन्त्रणों को हटा दिया जायगा। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में जबकि विनिमय-नियन्त्रण प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का अविच्छिन्न अंग बन गयी है, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की आशाओं के पूरा होने की सम्भावना बहुत कम है।

भारत में विनिमय-नियन्त्रण

प्रथम महायुद्ध काल में रुपये की विनिमय-दर पर कोई नियन्त्रण नहीं था। इसके परिणाम-स्वरूप विनिमय-दर में काफी उतार-चढ़ाव होते रहे, विदेशी विनिमय में सट्टेबाजी चलती रही तथा देश के व्यापार और उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर सितम्बर 1939 में भारत में विनिमय-नियन्त्रण की नीति को अपनाया गया। भारत सुरक्षा अध्यादेश (Defence of India Rules) के अन्तर्गत विनिमय-नियन्त्रण की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को सौंप दी गयी। रिजर्व बैंक ने इस कार्य के लिए 'विनिमय-नियन्त्रण विभाग' की स्थापना की। 4 सितम्बर, 1939 को रिजर्व बैंक द्वारा विनिमय-नियन्त्रण की नीति से सम्बन्धित विज्ञप्ति प्रकाशित की गयी जिसके अनुसार विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण लगा दिया गया। विदेशी विनिमय का प्रयोग केवल रिजर्व बैंक द्वारा अधिकृत व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा केवल स्वीकृत कार्यों के लिए ही किया जा सकता था।

युद्धकाल में विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य से समस्त ब्रिटिश साम्राज्य को एक मुद्रा इकाई में संगठित किया गया और इसे 'स्टर्लिंग क्षेत्र' (Sterling Area) कहा गया। सामान्य नीति यह थी कि स्टर्लिंग क्षेत्र की मुद्राओं का लेन-देन तथा इस क्षेत्र में कोषों का स्थानान्तरण तो विनिमय-नियन्त्रण के कार्यक्षेत्र से मुक्त रहा, परन्तु इस क्षेत्र से बाहर के देशों को किये जाने वाले भुगतानों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। पूँजी के निर्यात तथा विदेशी विनिमय में सट्टेबाजी रोकने के उद्देश्य से स्टर्लिंग क्षेत्र की मुद्राओं का क्रय-विक्रय भी केवल अधिकृत बैंकों द्वारा ही किया जा सकता था। युद्धकाल में विनिमय-नियन्त्रण मुख्यतः स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर की मुद्राओं पर लागू किया गया था, ताकि विशेष रूप से डालर की बचत हो सके। रिजर्व बैंक को अपनी नीति में पर्याप्त सफलता मिली। देश के निर्यात आयात से अधिक थे और भारत ने स्टर्लिंग क्षेत्र के 'डालर पूल' (Dollar Pool) की वृद्धि करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। भारत के इंगलैण्ड में जमा स्टर्लिंग शेषों (Sterling Balances) में वृद्धि होती गयी।

युद्ध की समाप्ति पर भारत की भुगतान-सन्तुलन की स्थिति काफी सन्तोषजनक थी, परन्तु विनिमय-नियन्त्रण की नीति को समाप्त नहीं किया गया। आयातों के लिए माँग बढ़ रही थी। विदेशी विनिमय का भुगतान इंगलैण्ड में जमा स्टर्लिंग शेषों से किया जा सकता था, परन्तु इंगलैण्ड ने भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल होने के कारण इनके उपयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे। सन् 1947 का विदेशी विनिमय-नियमन अधिनियम (Foreign Exchange Regulation Act, 1947) 25 मार्च, 1947 को लागू किया गया जिसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक को विनिमय-नियन्त्रण के स्थायी अधिकार प्राप्त हो गये। विनिमय नियन्त्रण की नीति का कार्यक्षेत्र अब और अधिक

व्यापक हो गया तथा जुलाई 1947 से स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों से होने वाले लेन-देन पर भी विनिमय-नियन्त्रण लागू कर दिया गया। विशेष परिस्थितियों के कारण केवल पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान के साथ लेन-देन फरवरी 1951 तक विनिमय-नियन्त्रण के क्षेत्र से बाहर रखा गया। 1947 के एक्ट के अनुसार रिजर्व बैंक को प्राप्त अधिकारों का प्रयोग भारतीय स्वर्ण के निर्यात, विदेशों से भारत में आने वाली पूँजी एवं उसके भुगतान तथा विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय आदि पर नियन्त्रण रखने में होता है।

1947 के पश्चात भारत में विनिमय-नियन्त्रण की नीति के ढाँचे में तो कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु पंचवर्षीय योजनाओं के सम्बन्ध में इस नीति के उद्देश्यों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। भारतीय विनिमय-नियन्त्रण नीति अब देश के आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण यन्त्र है। देश में औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विदेशी पूँजी तथा ऋणों का आयात करना आवश्यक है। 1957 के बाद अनावश्यक वस्तुओं के आयात समाप्त कर दिये गये हैं, परन्तु फिर भी आवश्यक वस्तुओं के आयात के भुगतान के लिए विनिमय-नियन्त्रण की आवश्यकता काफी बढ़ गयी है। विनिमय-नियन्त्रण नीति न केवल विदेशी भुगतानों को नियन्त्रित करती है, बल्कि 1947 के आयात-निर्यात-नियन्त्रण अधिनियम (Imports and Exports Control Act, 1947) द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों को लागू करने में भी सहायक होती है। इस प्रकार भारत में विनिमय नियन्त्रण तथा व्यापार-नियन्त्रण के उपाय एक-दूसरे के सहायक के रूप में लागू किये गये हैं।

1947 के विदेशी विनिमय-नियमन अधिनियम के अन्तर्गत विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी अधिकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को प्राप्त है। रिजर्व बैंक ने विदेशी विनिमय में लेन-देन करने के लिए 37 अधिकृत व्यापारियों (authonsed dealers) की नियुक्ति की हुई है, जिनमें से 21 भारतीय अनुसूचित बैंक तथा शेष विदेशी बैंक हैं। साधारण जनता तथा व्यापारी वर्ग की विदेशी विनिमय की आवश्यकताएँ इन्हीं अधिकृत बैंकों द्वारा पूरी की जाती हैं। विदेशी विनिमय की आधारभूत दरें तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की मान्यता के अनुसार ही निर्धारित होती है, परन्तु बाजार-दरें निश्चित सीमाओं में घट-बढ़ सकती हैं। अधिकृत व्यापारियों द्वारा निश्चित दर पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय किया जाता है। [पौण्ड-स्टर्लिंग की वर्तमान (नवम्बर 1967 में पौण्ड के अवमूल्यन के पश्चात) क्रय-दर (buying rate) 1 पौण्ड = 17 72 रुपये है तथा विक्री-दर (selling rate) 1 पौण्ड = 18 25 रुपये है। इसी प्रकार, डालर की (जून 1966 में रुपये के अवमूल्यन के पश्चात) क्रय-दर 1 डालर = 7 35 रुपये तथा विक्री-दर 1 डालर = 7 60 रुपये है।] जून 1966 के पूर्व अग्रिम विनिमय (forward exchange) का भी क्रय-विक्रय होता था, परन्तु अब इसे समाप्त कर दिया गया है।

विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी प्रशासन रिजर्व बैंक के विनिमय-नियन्त्रण विभाग द्वारा किया जाता है जो उप-नियन्त्रक (Deputy Controller) की देख-रेख में कार्य करता है। बम्बई, कलकत्ता, नई दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर में विनिमय-नियन्त्रण विभाग के उप-कार्यालय सहायक नियन्त्रकों (Assistant Controllers) की देख-रेख में विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी कार्य करते हैं। विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी सभी प्रार्थना-पत्र उप-कार्यालयों को ही भेजे जाते हैं।

भारत में आयातों पर प्रतिबन्ध होने के कारण प्राय समस्त आयातों के लिए लाइसेंस प्राप्त करने पड़ते हैं। इन्हीं लाइसेन्सों के साथ विदेशी विनिमय की प्राप्ति के लिए परमिट दिये जाते हैं, जिनके आधार पर आयातकर्ता अधिकृत बैंकों से निश्चित राशि तक विदेशी विनिमय प्राप्त कर सकते हैं। आयातों के भुगतान के अतिरिक्त अन्य कई कारणों से भी रिजर्व बैंक विदेशी विनिमय प्राप्त करने की अनुमति दे सकता है। ये भुगतान निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए हो सकते हैं

1 राष्ट्रीय कार्यों के लिए सरकारी अधिकारियों अथवा अन्य व्यक्तियों की विदेश यात्रा, ऐसे क्षेत्रों में शिक्षा अथवा प्रशिक्षण की प्राप्ति जिनकी भारत में उचित व्यवस्था न

हो, किसी रोग का इलाज कराने के लिए यदि उसकी भारत में उचित व्यवस्था न हो, व्यापारिक कार्यों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो मे भाग लेने के लिए,

2 धार्मिक यात्राओ, मुख्यत हज यात्रा के लिए। [हज यात्रियो को विशेष प्रकार के नोट दिये जाते हैं जो अरब के नोटो मे परिवर्तनशील हैं।]

3 विदेशो से लौटते समय विदेशी मुद्रा मे चुकाये गये भाडे तथा आयातो के विदेशी मुद्रा मे चुकाये जाने वाले भाडे के लिए,

4 भारत स्थित विदेशियो की बीमा पॉलिसियो के शुल्क (premium) विदेशों मे भेजने के लिए,

5 भारत स्थित विदेशी कर्मचारियो अथवा व्यवसायियो को अपने परिवारो के निर्वाह के लिए अथवा विदेशो मे रहने वाले ऐसे व्यक्तियो के लिए जो भारत से पेंशन प्राप्त करने के अधिकारी हैं,

6 स्वदेश वापस लौटने वाले विदेशियों को अपनी बचत, प्रोवीडेण्ट फण्ड तथा सम्पत्ति की बिक्री से प्राप्त राशि को अपने देश की मुद्रा मे बदलकर ले जाने के लिए अथवा भारतीयो के दूसरे देशो मे जाकर बसने के लिए,

7 विदेशी पूँजी पर लाभांश तथा विदेशी ऋणों पर ब्याज भेजने के लिए, तथा

8. अनेक प्रकार के फुटकर भुगतानो के लिए, जैसे विदेशो मे विज्ञापन, पत्रिकाओं का चन्दा, शिक्षा की फीस इत्यादि।

समय समय पर विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी नियमो मे होने वाले परिवर्तन भारत सरकार के गजेट (*Gazette of India*) मे प्रकाशित किये जाते हैं और विज्ञप्तियाँ जारी की जाती हैं।

जिस प्रकार विदेशी भुगतान के लिए रिजर्व बैंक से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है, उसी प्रकार निर्यातो के बदले म प्राप्त होने वाले विदेशी विनिमय पर भी रिजर्व बैंक का पूर्ण अधिकार रहता है। भारत मे रहने वाले किसी भी भारतीय को विदेशी प्रतिभूतियाँ खरीदने, बेचने अथवा रखने का, बिना रिजर्व बैंक की आज्ञा के, अधिकार नही है। माल निर्यात करने के लिए भी लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक होता है और एक निश्चित अवधि के अन्दर ही माल निर्यात कर देना होता है। माल के निर्यात से प्राप्त विदेशी विनिमय अधिकृत बैंकों मे जमा हो जाता है तथा उसके बदले मे रुपया मे भुगतान प्राप्त हो जाता है। विदेशो मे 50 रुपये के मूल्य तक के भेंट (gift) पार्सल भेजने के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति लेना आवश्यक नही है।

विदेशी यात्री अपने साथ किसी भी मात्रा मे विदेशी मुद्रा ला सकते हैं, परन्तु उन्हे इसकी सूचना कस्टम अधिकारियों को देनी पडती है। विदेशो मे रहने वाले भारतीय भारत मे चाहे जितनी मात्रा मे मुद्रा स्थानान्तरित कर सकते हैं, परन्तु विदेशियो को एक निश्चित राशि से अधिक मुद्रा भारत मे भेजने के पूर्व रिजर्व बैंक से अनुमति लेनी पडती है। विदेशी पूँजी भारत म लगाने के पूर्व वाणिज्य तथा उद्योग मन्त्रालय तथा पूंजी निर्गमन नियन्त्रक (Controller of Capital Issues) से अनुमति लेनी पडती है। स्वर्ण, हीरे-जवाहरात तथा मूल्यवान धातुओ के आयात-निर्यात के लिए भी लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक होता है। भारत से बाहर जाने वाले यात्री एक निश्चित मात्रा में ही भारतीय मुद्रा अपने साथ ले जा सकते हैं, और इसी प्रकार विदेशी यात्री भी भारत मे अपने साथ भारतीय मुद्रा एक निश्चित मात्रा मे ही ला सकते हैं। भारतीय मुद्रा लाने तथा ले जाने की सीमा 75 रुपये है परन्तु पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान के लिए यह सीमा केवल 50 रुपये ही है। रिजर्व बैंक के विशेष प्रकार के नोट जो ईरान की खाडी के देशो मे प्रचलित हैं अथवा जो हज यात्रा करने वालो को दिये जाते हैं, उनका आयात इन स्थानो से भारत मे किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारतीय विनिमय-नियन्त्रण की नीति के अन्तर्गत एक ओर विदेशी यात्रियो, व्यापारियों तथा विनियोजको के लिए काफी उदारता अपनायी जाती है, तो दूसरी ओर, भारतीय व्यापारियो तथा यात्रियो के द्वारा किये जाने वाले विदेशी भुगतानो पर पर्याप्त नियन्त्रण रखा जाता है। इस नीति का उद्देश्य यह है कि हमारी विदेशी विनिमय की

प्राप्तियों में वृद्धि तथा भुगतानों में कमी हो ताकि देश की भुगतान-सन्तुलन की स्थिति जो पहले से ही प्रतिकूल है और अधिक प्रतिकूल न होने पाये। पिछले कुछ वर्षों से प्रतिबन्ध कुछ कड़े कर दिये हैं, परन्तु फिर भी नियम काफी लोचदार हैं। परिस्थितियों के अनुसार उनमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं और आवश्यकतानुसार कभी-कभी इन्हें कुछ ढीला भी कर दिया जाता है। भारत में वर्तमान विदेशी विनिमय संकट की स्थिति में आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था के निर्माण करने के उद्देश्य से यदि आगामी वर्षों में विदेशी विनिमय पर प्रतिबन्ध अधिक कड़े कर दिये जायें तो अनुचित न होगा।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. विनिमय नियन्त्रण का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा इसके उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।

   [संकेत विनिमय नियन्त्रण का अर्थ विस्तारपूर्वक समझाइए। दूसरे भाग में विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए।]

2. 'विनिमय-बाजार को नियन्त्रित करने का सबसे प्रमुख कारण विनिमय-दर को उस दर से भिन्न रखना है जो नियन्त्रण के अभाव में प्रचलित होती है।' इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्यों का विवेचन कीजिए।

   [संकेत विनिमय नियन्त्रण द्वारा मुद्रा के अधिमूल्यन, अवमूल्यन तथा विनिमय-स्थायित्व के कारणों तथा परिणामों का विस्तारपूर्वक विवेचना करिए और विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।]

3. विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों का उल्लेख कीजिए तथा भारत सरकार द्वारा अपनायी गयी विनिमय नियन्त्रण प्रणाली की सम्पूर्ण में विवेचना कीजिए।

   [संकेत प्रथम भाग में विनिमय नियन्त्रण की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रीतियों का विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए तथा दूसरे भाग में भारत में विनिमय नियन्त्रण नीति से सम्बन्धित उपायों तथा उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।]

4. 'विनिमय-बाजारों में हस्तक्षेप' तथा 'विनिमय प्रतिबन्ध' में अन्तर स्पष्ट कीजिए तथा इनकी विभिन्न रीतियों पर प्रकाश डालिए। इनमें से आप अधिक उपयुक्त किसे समझते हैं?

   [संकेत 'हस्तक्षेप' तथा 'प्रतिबन्ध' के अर्थ बताइए और इन दोनों के उद्देश्यों तथा तरीकों के आधार पर इनमें अन्तर समझाइए। 'हस्तक्षेप' तथा 'प्रतिबन्ध' की विभिन्न रीतियों की विवेचना के पश्चात यह स्पष्ट कीजिए कि विनिमय प्रतिबन्ध हस्तक्षेप की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष, कठोर एवं प्रभावपूर्ण नीति है। इनमें कौनसी अधिक उपयुक्त है यह देश की परिस्थितियों पर निर्भर करता है।]

5. विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग किन परिस्थितियों में आवश्यक होता है? क्या इससे कुछ हानियों की भी सम्भावना रहती है?

   [संकेत प्रथम भाग में विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए तथा दूसरे भाग में विनिमय नियन्त्रण के दोष समझाइए।]

6. टिप्पणियाँ लिखिए विनिमय समानीकरण कोष, विनिमय अधिमूल्यन (Pegging), अवरुद्ध खाता, समाशोधन समझौते।

   [संकेत प्रत्येक के अर्थ, स्वरूप, गुण तथा दोषों की अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव के आधार पर व्याख्या कीजिए।]

पचम खण्ड

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग

[INTERNATIONAL MONETARY CO-OPERATION]

22

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष

[INTERNATIONAL MONETARY FUND]

> "एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्था की स्थापना उन्हीं कारणों का परिणाम है जिन्होंने बहुत समय पूर्व राष्ट्रीय साख व्यवस्था में केन्द्रीय बैंकों को जन्म दिया था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष केन्द्रीय बैंकों का बैंक तथा विश्व की मौद्रिक व्यवस्था की आच्छादन शिला होगा।"[1] —हॉम

प्रथम महायुद्ध के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के स्थान पर आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो गयी थी। 1930 के विश्वव्यापी अवसाद (depression) तथा 1931 में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के पतन ने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में विघटन की शक्तियों को और भी अधिक बढ़ावा दिया। प्रत्येक देश अपने आयातों में कमी तथा निर्यातों में वृद्धि करने के उद्देश्य से स्पर्द्धात्मक विनिमय-अवमूल्यन (competitive currency devaluation) तथा विनिमय-नियन्त्रण की नीतियाँ अपनाने लगा, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, लेन-देन एवं पूंजी के आवागमन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा तथा आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था अनिश्चितता तथा अस्थायित्व के थपेड़ों से व्याकुल होने लगी। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होते ही कुछ बड़े देशों के बीच आपसी समझौते भी समाप्त हो गये। विनिमय-दरों में इतने अधिक उच्चावचन होने लगे कि अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन तथा व्यापार में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी। इन परिस्थितियों में द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के पूर्व ही राष्ट्रों में यह विश्वास बढ़ने लगा कि मानव-जाति का कल्याण एक अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है।[2]

मौद्रिक सहयोग की योजनाएँ

द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम चरण से ही अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग (international monetary co-operation), विदेशी व्यापार के विस्तार तथा अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के समुचित प्रवाह के लिए एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी जो विभिन्न राष्ट्रीय मौद्रिक स्वतन्त्रताओं को सुरक्षित रखते हुए एक स्थायित्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को जन्म दे सके। इस दिशा में ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के अर्थ विशेषज्ञों ने अलग-अलग सुझाव रखे।

ब्रिटेन की ओर से लॉर्ड केन्ज द्वारा 1943 में "अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ के लिए प्रस्ताव" (Proposal for an International Clearing Union) रखा गया, जिसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ की स्थापना तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा 'बैंकोर' (Bancor) को चलाने के सुझाव थे। इस योजना के प्रमुख सुझाव थे कि

1 "The creation of an international monetary institution is the consistent conclusion of the same development which long ago led to the establishment of Central banks within national credit systems. The International Monetary Fund will be a bank of Central banks, the capstone in the world's monetary system. —G. N. Halm : *Monetary Theory*, p. 264

2 Meir and Baldwin : *New Pattern of International Development*, p. 272

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के अन्तर बैंकोर में चुकाये जायें जिनका मूल्य स्वर्ण में परिभाषित हो, समस्त लेन-देन समाशोधन संघ के माध्यम से किये जायें और इसमें सभी सदस्य देशों के खाते हों, तथा लेन-देन में समानता रखने के उद्देश्य से प्रत्येक सदस्य राष्ट्र संघ से एक निश्चित अवधि के लिए अधिविकर्ष (overdraft) की सुविधा प्राप्त कर । इस प्रकार केन्ज का प्रस्ताव एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग व्यवस्था की स्थापना करने का था ताकि सदस्य देश "एक सम्मिलित तरलता भण्डार की सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों तथा भुगतान-सन्तुलन के संकटों से अपनी रक्षा कर सकें।"[1]

अमेरिका की ओर से हारवर्ड के अर्थशास्त्री डॉ० हैरी डैक्सटर ह्वाइट (Dr Harry Dexter White) ने 1943 में एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरीकरण कोष—"A United States Proposal for a United and Associated Nation's Stabilization Fund"—की स्थापना का प्रस्ताव रखा। प्रस्तावित कोष के उद्देश्य भुगतानों में सन्तुलन बनाये रखना, विनिमय-दरों में स्थिरता लाना अतिरिक्त विदेशी विनिमय साधनों का उचित उपयोग करना तथा विनिमय-नियन्त्रणों से मुक्त वातावरण में विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन देना थे। लेखे की इकाई के रूप में 'यूनिटास' (UNITAS) अपनाये जाने का सुझाव दिया गया, जिसका मूल्य 10 डालर रखा गया।

सन् 1943 में जब 19 राष्ट्रों के प्रतिनिधि वाशिंगटन में विभिन्न प्रस्तावों पर विचार-विमर्श कर रहे थे तो 'केन्ज योजना' तथा 'ह्वाइट योजना' को समन्वित करके कनाडा ने एक तीसरी योजना—"Tentative Draft Proposal of Canadian Experts for an International Exchange Union"—प्रस्तुत की, परन्तु यह अस्वीकार कर दी गयी।

अमेरिका तथा ब्रिटेन दोनों ही एक-दूसरे के सुझाव त्रुटिपूर्ण समझते थे। दोनों पक्षों में वाद-विवाद के बाद संशोधित रूप में अप्रैल 1944 में एक संयुक्त वक्तव्य—"The Joint Statement by Experts on the Establishment of an International Monetary Fund"—प्रकाशित किया गया। इस योजना पर अन्तिम निर्णय लेने के लिए जुलाई 1944 में ब्रेटनवुड्स (Brettonwoods) नामक स्थान पर 44 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन बुलाया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना

ब्रटनवुड्स सम्मेलन (Brettonwoods Conference) में काफी विचार-विमर्श के बाद एक योजना स्वीकार की गयी, जो ब्रेटनवुड्स समझौते (Brettonwoods Agreement) के नाम से जानी जाती है। इसके अन्तर्गत तय हुआ कि निम्नलिखित दो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं की स्थापना की जाय

(1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund), और

(2) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development)।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना 27 दिसम्बर, 1945 को हुई। इस संस्था ने अपना कार्य 1 मार्च, 1947 से प्रारम्भ किया। यद्यपि आरम्भ में इसके सदस्यों की संख्या केवल 30 थी, परन्तु आज साम्यवादी देशों को छोड़कर लगभग सभी राष्ट्र इसके सदस्य हैं। इसके सदस्यों की वर्तमान संख्या 118 है।

प्रो० हॉम ने मुद्रा-कोष की चर्चा करते हुए कहा है कि यह कोष 'केन्द्रीय बैंकों का बैंक' (a bank of Central banks) तथा विश्व की मौद्रिक व्यवस्था का प्रधान (the capstone in the world's monetary system) होगा। जिस प्रकार किसी राष्ट्र का केन्द्रीय बैंक अपने देश के व्यापारिक तथा अन्य बैंकों के नकद कोषों की व्यवस्था करता है, उसी प्रकार यह कोष सदस्य राष्ट्रों से प्राप्त किये गये साधनों का केन्द्रीकरण करके अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सहायक होता है। जिस प्रकार केन्द्रीय बैंक साख नीति में सामंजस्य स्थापित करता है, उसी

1 "... protected by a common pool of liquidity against international liabilities and against balance of payments crisis."—K K Kurihara *Monetary Theory and Public Policy*, p 341.

प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष सदस्य राष्ट्रो की मौलिक एव आर्थिक नीतियो मे समायोजन कर सन्तुलन लाने का प्रयास करता है। यह सब होते हुए भी यह समझ लेना आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक और मुद्रा-कोष की प्रकृति मे कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं। केन्द्रीय बैंक मुद्रा का निर्माण कर साख की कमी को दूर कर सकता है जबकि मुद्रा-कोष के पास मुद्रा-निर्माण की कोई शक्ति नही है। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको को आदेशो के पालन के लिए विवश कर सकता है। इस प्रकार मुद्रा-कोष की स्थापना मौद्रिक क्षेत्र मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एव पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीयता के बीच एक समझौता मात्र है।[1]

मुद्रा-कोष के उद्देश्य

कोष के समझौता पत्र की धारा 1 के अनुसार कोष के निम्नलिखित छ उद्देश्य है

(1) एक स्थायी मौद्रिक सस्था के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग (international monetary co-operation) को प्रोत्साहन देना।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रसार एव सन्तुलित विकास (expansion and balanced growth of international trade) के लिए उपयुक्त सुविधाएँ प्रदान करना और इस प्रकार राष्ट्रो मे रोजगार के उच्च स्तर को स्थापित करना एव उसे बनाये रखना (*to promote and maintain a high level of employment*)।

(3) सदस्य राष्ट्रो के मध्य प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन (competitive exchange depreciation) को रोककर विनिमय-स्थायित्व (exchange stability) को प्रोत्साहित करना तथा एक नियमित विनिमय व्यवस्था को बनाये रखना।

(4) चालू व्यवसायो के लिए बहुपक्षी भुगतान पद्धति (multi-lateral system of payments) की स्थापना कर सदस्य राष्ट्रो के मध्य विनिमय सम्भव करना तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी प्रतिबन्धो (exchange restrictions) को समाप्त करना।

(5) समुचित सुरक्षा के साथ सदस्य राष्ट्रो के लिए कोष के साधन उपलब्ध कर उनमें विश्वास उत्पन्न करना और इस प्रकार उन्हे राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय उन्नति को नष्ट करने वाले उपाय अपनाये बिना भुगतान-सन्तुलन के गलत समायोजनों (maladjustments in the balance of payments) को सुधारने मे सहायता देना।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-सन्तुलन के असन्तुलन की अवधि एव उसकी मात्रा (duration and degree of disequilibrium) को कम करना।

इस प्रकार, मुद्रा-कोष की स्थापना से उपर्युक्त उद्देश्यो के सहारे एक ऐसी सुदृढ व्यवस्था की नीव पडी जो अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के माध्यम से पर्याप्त लचीलापन (sufficient flexibility) बनाये रखने के साथ-साथ मौद्रिक अनुशासन के उन सिद्धान्तो पर आधारित है जिनके बिना कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था समुचित तरीके से नही चल सकती है।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के कार्य

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का प्रमुख कार्य सदस्य राष्ट्रो के प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलनो को ठीक करके अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग तथा बहुपक्षीय व्यापारिक सम्बन्धो के विकास को प्रोत्साहित करना है। आइवर रूथ (Ivor Rooth) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के तीन प्रमुख कार्य हैं अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-सन्तुलन को पुन प्राप्त करना, सदस्य देशो की मुद्राओ मे परिवर्तन का गुण स्थापित करना, एव व्यापारिक उच्चावचनो तथा अस्थिरताओ के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव को कम करना।[3]

---

1 G N Halm *Monetary Theory*, Chapter XV

2 "It was necessary to establish *something new and more strongly founded*, a kind of system which would provide at the same time, sufficient flexibility through international assistance and yet adhere to those *principles of monetary discipline*, without which no international system can function properly" —Per Jacobson, Managing Director, I M F

3 Ivor Rooth, Chairman of the Board of Directors of IMF, "Tasks Before I M F" Annual Number of *Commerce*, December 1953, p 35.

मुद्रा-कोष के प्रमुख कार्य निम्नलिखित है -

(1) **अल्पकालीन अन्तर्राष्ट्रीय साख की व्यवस्था**—सदस्य देशो के भुगतान-सन्तुलन मे उत्पन्न होने वाले अल्पकालीन असन्तुलन को समाप्त करने अथवा कम करने के उद्देश्य से मुद्रा-कोष एक तो प्रत्यक्ष रूप मे अपने सदस्यो को विदेशी मुद्रा बेचता है, अर्थात् ऋण देता है, दूसरे उनको आवश्यकता पडने पर विदेशी मुद्रा बेचने के वचन देता है, जिन्हे 'stand-by agreements' कहा जाता है। सदस्य राष्ट्र प्राय किसी संकटकालीन स्थिति, चालू भुगतान-असन्तुलन अथवा सामयिक विनिमय-कठिनाइयो का सामना करने के लिए मुद्रा-कोष से वित्तीय सहायता प्राप्त कर सकते है। आपातकालीन वचनो (stand-by agreements) की व्यवस्था का आरम्भ 1952 से हुआ। इनकी अवधि प्राय एक वर्ष होती है, परन्तु उसे बढाया भी जा सकता है।

(2) **स्पर्धापूर्ण अवमूल्यन पर रोक**—विभिन्न मुद्राओ की विनिमय-दरो अथवा सममूल्य दरो के निर्धारण तथा नियन्त्रण द्वारा मुद्रा-कोष उनमे एक सीमा से बाहर परिवर्तन नही होने देता। परन्तु साथ मे कोष यह भी ध्यान मे रखता है कि किसी भी देश मे दीर्घकालीन असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न न होने पाये। इसी उद्देश्य से मुद्रा-कोष सदस्य देशों की अर्थ-व्यवस्थाओ मे आधारमूलक परिवर्तन होने पर उन्हे अपनी मुद्राओ की समता-दरें बदलने की अनुमति देता है।

(3) **मौद्रिक तथा अन्य आर्थिक विषयो पर परामर्श**—वित्तीय सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त मुद्रा-कोष सदस्य देशो को विभिन्न मौद्रिक तथा आर्थिक विषयो पर परामर्श (अर्थात् तकनीकी सहायता) भी देता है। इस प्रकार की सहायता के अन्तर्गत कोष के विशेषज्ञ कुछ समय के लिए किसी भी सदस्य देश को समस्याओ के अध्ययन तथा परामर्श के लिए भेजे जा सकते हैं। इस उद्देश्य से कोष बाहर के विशेषज्ञो को भी नियुक्त कर सकता है। सदस्य देशो द्वारा भेजे गये पदाधिकारियो के प्रशिक्षण के लिए 1964 मे एक प्रशिक्षणालय (I. M F. Institute) स्थापित किया गया है। मुद्रा-कोष के विभिन्न प्रकाशन सदस्य देशो मे तकनीकी ज्ञान का प्रचार करते है। कोष के इस प्रकार के कार्यों से सदस्य देशो को आर्थिक विकास की नीतियाँ अपनाने तथा कार्यान्वित करने मे महत्वपूर्ण सहयोग मिलता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मुद्रा-कोष के कार्यों पर कुछ प्रतिबन्ध भी है। मुद्रा कोष निजी क्षेत्र की संस्थाओ अथवा व्यक्तियो के साथ व्यवसाय नही कर सकता। यह केवल केन्द्रीय बैंक स्थायीकरण कोष अथवा किसी अन्य अधिकृत केन्द्रीय मौद्रिक संस्था के साथ ही लेन-देन कर सकता है। इसके अतिरिक्त, कोष सदस्य राष्ट्र की आन्तरिक व्यवस्था तथा अर्थ-नीति मे हस्तक्षेप नही कर सकता, केवल परामर्श दे सकता है। किसी सदस्य राष्ट्र के व्यापारावशेष के अस्थायी सन्तुलन को दूर करने के लिए कोष केवल अल्पकालीन, अधिक से अधिक 5 वर्ष के लिए, सीमित मात्रा मे वित्तीय सहायता प्रदान कर सकता है। मुख्य रूप से, कोष का कार्य सदस्य देशों मे मौद्रिक अनुशासन की भावना को जाग्रत करना है, परन्तु उसका पालन करने के लिए किसी भी देश को विवश करने का अधिकार कोष को प्राप्त नही है।

मुद्रा-कोष की पूंजी

मुद्रा-कोष की पूँजी का निर्माण सदस्य देशो से प्राप्त निर्धारित अभ्यशों (quotas) के रूप म स्वर्ण तथा उनकी वैधानिक मुद्राओं द्वारा हुआ है। यह निश्चित किया गया कि प्रत्येक सदस्य देश अपने निर्धारित कोटा का 25 प्रतिशत भाग अथवा अपने स्वर्ण तथा डालर के कुल अधिकृत कोष (net official holding) का 10 प्रतिशत भाग, इनमे से जो भी कम हो, स्वर्ण के रूप मे कोष के पास जमा करे और शेष भाग अपनी वैधानिक मुद्रा के रूप मे जमा करे। प्रत्येक 5 वर्ष के बाद अथवा सदस्य राष्ट्र की प्रार्थना पर 4/5 बहुमत से किसी भी देश के कोटा मे परिवर्तन किया जा सकता है। इसके लिए सदस्य देश की सहमति प्राप्त करना आवश्यक होता है।

प्रारम्भ मे मुद्रा-कोष के साधन 1000 करोड डालर आँके गये, किन्तु रूस के इसमे सम्मिलित न होने से इसकी कुल पूंजी 880 करोड डालर ही रह गयी। जिन देशो ने 31 दिसम्बर, 1945 के पूर्व कोष की सदस्यता स्वीकार कर ली थी वे इसके मौलिक सदस्य (original mem-

bers) कहलाते हैं। भारत भी कोष का मौलिक सदस्य है। बाद में सम्मिलित होने वाले देशों का कोटा मौलिक सदस्यों द्वारा निश्चित किया गया है। अभ्यंश निर्धारित करते समय प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के राजनीतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय महत्व, उसकी राष्ट्रीय आय, उसके स्वर्ण और विदेशी विनिमय-कोष तथा भुगतान-सन्तुलन की स्थिति को ध्यान में रखा जाता है।

कोष की स्थापना के पश्चात 13 वर्षों तक सदस्य देशों के मौलिक कोटे में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। अक्टूबर 1958 में मुद्रा-कोष के गवर्नरों (Board of Governors) की एक बैठक दिल्ली में हुई, जिसमें कोष के साधनों में 50 प्रतिशत वृद्धि करने के प्रस्ताव को स्वीकृत किया गया। इसके अनुसार सदस्य देशों के अभ्यंश 50 प्रतिशत बढ़ा दिये गये। कनाडा, पश्चिमी जर्मनी तथा जापान में अधिक आर्थिक विकास होने के कारण उनके कोटों में विशेष वृद्धि की गयी। 26 फरवरी, 1965 को बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की सिफारिश पर सदस्य देशों के अभ्यंशों में एक बार फिर 25 प्रतिशत की वृद्धि कर दी गयी। साथ ही, 16 सदस्य देशों के कोटे में इससे भी अधिक वृद्धि का निर्णय किया गया। उद्देश्य यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (international liquidity) में वृद्धि की जा सके। परिणामस्वरूप, कोष की कुल पूंजी बढ़कर 2,100 करोड़ डालर हो गयी।

सदस्य राष्ट्रों के अभ्यंशों में तीसरी बार वृद्धि करने के निश्चय को फरवरी 1970 में स्वीकृति प्रदान की गयी है। इसका उद्देश्य अभ्यंशों में लगभग 35.5 प्रतिशत की वृद्धि करना है ताकि अभ्यंशों की कुल राशि 2,890 करोड़ डालर हो जाय। सदस्य देशों को अपने अभ्यंश बढ़ाने के लिए 15 नवम्बर, 1971 तक का समय दिया गया।

ऋण प्राप्त करने के सामान्य समझौतों (*General Agreements to Borrow*) के अन्तर्गत आवश्यकता पड़ने पर कोष कुछ विदेशी मुद्राएँ भी प्राप्त कर सकता है। इनका उपयोग समय-समय पर उत्पन्न होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की समस्याओं को हल करने के लिए किया जा सकता है।

सदस्य राष्ट्रों का वोट देने का अधिकार उनके अभ्यंशों की राशि पर निर्भर करता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से प्राप्त होने वाली सदस्य देशों को सहायता भी उनके अभ्यंशों द्वारा निर्धारित होती है।

मुद्रा-कोष का प्रशासन एवं संगठन

मुद्रा-कोष के लिए एक गवर्नरों का बोर्ड है तथा दूसरा सचालकों का बोर्ड। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स में प्रत्येक सदस्य देश 5 वर्ष की अवधि के लिए एक गवर्नर नियुक्त करता है। सदस्य देश एक विकल्प गवर्नर (Alternate Governor) भी नियुक्त कर सकता है जो गवर्नर की अनुपस्थिति में बोर्ड की बैठक में भाग ले सकता है। इस बोर्ड की बैठक वर्ष में कम से कम एक बार होना अनिवार्य है। सदस्य देशों के कोटों में संशोधन, नये सदस्यों के प्रवेश, सचालकों (Directors) के चुनाव तथा सदस्य देशों की मुद्राओं की समता-दरों के बारे में निर्णय लेने के अधिकार इसी बोर्ड को प्राप्त हैं।

कोष के दिन-प्रतिदिन के कार्य का सचालन करने के लिए 20 सदस्यों का एक सचालक बोर्ड है, जिसमें 5 स्थायी सदस्य उन देशों द्वारा नामजद किये जाते हैं जिनके कोटे सबसे अधिक होते हैं। 1 सदस्य कनाडा द्वारा भी नियुक्त किया जाता है। 5 सदस्य सुदूरपूर्व एवं प्रशान्त महासागर क्षेत्र के देशों द्वारा चुने जाते हैं। अफ्रीकी देशों, लेटिन अमेरिकी देशों तथा यूरोपीय देशों द्वारा तीन-तीन सदस्य चुने जाते हैं। सचालक बोर्ड अपनी बैठकों का आयोजन कोष के वाशिंगटन स्थित कार्यालय पर ही करता है।

सचालक बोर्ड का अध्यक्ष प्रबन्धक-सचालक (Managing Director) कहलाता है और वह मुद्रा-कोष का मुख्याधिकारी होता है। उसकी सहायता के लिए एक सहायक (Deputy) प्रबन्धक-सचालक भी होता है। प्रशासन के दृष्टिकोण से कोष का सगठन विभिन्न विभागों में बँटा हुआ है। प्रत्येक विभाग कोष के एक वरिष्ठ अधिकारी की देख-रेख में कार्य करता है।

विनिमय-दरों अथवा मुद्राओं की समता-दरों का निर्धारण

जैसा कि बताया जा चुका है, मुद्रा-कोष की स्थापना का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों के बीच

विनिमय-साध्यता तथा विनिमय-स्थायित्व को प्रोत्साहित करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोष के विनिमय-दरों के निर्धारण के लिए स्वर्ण को सामान्य आधार (common denominator) के रूप में चुना गया। सदस्य देशों को अपनी-अपनी मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण अथवा अमेरिकी डालर में निर्धारित करने के लिए कहा गया। स्वर्ण को सामान्य आधार मान लेने से विनिमय-दरों अथवा विभिन्न मुद्राओं की समता-दरों का निर्धारण करना काफी सहज हो गया।

पिछले अनुभवों के आधार पर ब्रेटनवुड्स समझौते में यह निश्चित किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की भाँति विनिमय-दरों को स्थायी रखते हुए भी मुद्रा-कोष इन्हें पूर्णतया बेलोच न बनायेगा, अर्थात् सदस्य राष्ट्रों को एक सीमा के अन्दर विनिमय-दरों में परिवर्तन करने की सुविधा दी जायगी। लॉर्ड केन्ज ने स्पष्ट किया कि "किसी भी चलन-मुद्रा का बाह्य-मूल्य स्वर्ण में व्यक्त होगा, किन्तु वह स्वर्ण की किसी निश्चित मात्रा में स्थायी रूप में बँधकर नहीं चलेगा। इस कोष की ऐसी कोई वित्तीय नीति नहीं होगी जो घरेलू चलन (domestic currency) के आन्तरिक मूल्यों को स्वर्ण में अभिव्यक्त बाह्य मूल्यों से ताल-मेल बैठाने को विवश करे।"[1]

विनिमय-दरों के निर्धारण में मुद्रा-कोष ने व्यवस्थित परिवर्तनशीलता (managed flexibility) के सिद्धान्त को अपनाया है। स्वर्ण के माध्यम से विभिन्न मुद्राओं के बीच विनिमय की समता-दरें (par values of exchange) तय होती है। सदस्य देशों द्वारा स्वर्ण के क्रय-विक्रय के लिए समता-दरों से अधिकतम और न्यूनतम सीमाएँ (margins) भी तय कर दी जाती हैं। यह सीमा अथवा मार्जिन केवल ¼ प्रतिशत निश्चित किया गया है। इससे प्रतियोगिता करने की प्रवृत्ति समाप्त होती है तथा विनिमय-दरों में स्थायित्व आता है। दूसरी ओर प्रत्येक सदस्य देश को अपनी घरेलू आर्थिक समस्याओं में परिवर्तनों के अनुसार विनिमय-दरों में घटा-बढ़ी करने की भी स्वतन्त्रता प्राप्त है।

कोई भी सदस्य राष्ट्र अपनी मुद्रा की प्रारम्भिक समता-दर (initial par value) में 10 प्रतिशत तक का परिवर्तन केवल कोष को सूचना देकर कर सकता है। 10 से 20 प्रतिशत के बीच किसी भी दिशा में परिवर्तन करने के लिए मुद्रा-कोष से स्वीकृति लेनी पड़ती है। कोष को यह अधिकार है कि वह इसके लिए स्वीकृति दे अथवा न दे, परन्तु उसे अपने निर्णय की सूचना 72 घण्टे के भीतर देनी होती है। 20 प्रतिशत से अधिक परिवर्तन की स्वीकृति कोष के ¾ सदस्यों की सहमति से ही दी जा सकती है। कोई भी सदस्य राष्ट्र मुद्रा-कोष की सहमति के बिना भी अपनी मुद्रा के समता-मूल्यों में परिवर्तन कर सकता है बशर्ते कि सदस्य राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों पर इसका कोई विपरीत प्रभाव न पड़े। स्पष्ट है, मुद्रा-कोष के अन्तर्गत विनिमय दरों में स्थिरता पर तो बल दिया गया है, दृढ़ता (rigidity) पर नहीं। अर्थ-व्यवस्था में किसी भी मौलिक अथवा स्थायी असन्तुलन (fundamental disequilibrium) के सुधार के लिए मुद्रा-कोष से विनिमय-दरों में परिवर्तन करने की अनुमति प्राप्त की जा सकती है ताकि विपरीत भुगतान-सन्तुलन अथवा विकट बेरोजगारी जैसी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की जा सके।

यदि कोई सदस्य देश अनधिकृत तरीके से अपने चलन के समता-मूल्यों में परिवर्तन करता है तो मुद्रा-कोष उसे दो प्रकार से दण्ड दे सकता है—कोष के साधनों के प्रयोग का निषेध करके अथवा उस देश की सदस्यता को समाप्त करके।

विनिमय-नियन्त्रण

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना विनिमय-नियन्त्रणों (exchange controls) को समाप्त करने के उद्देश्य से की गयी थी ताकि राष्ट्रों के मध्य बहुपक्षीय व्यापार को प्रोत्साहन मिले। किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए कोष ने यह तय किया कि कुछ परिस्थितियों में सदस्य देशों द्वारा नियन्त्रण अथवा प्रतिबन्ध लगाने की अनुमति देना उचित होगा, जैसे—

---

1 "The external value of a currency was expressed in terms of gold without being rigidly tied to a fixed quantity of gold or involving a financial policy which compels the internal value of the domestic currency to conform to this external value as fixed in terms of gold."
—Lord Keynes

(1) पूंजी के अत्यधिक और निरन्तर प्रवाह की रोकथाम के लिए, (2) किसी राष्ट्र की मुद्रा के दुर्लभ (scarce) होने की स्थिति में, तथा (3) सक्रान्ति काल (transitional period) में।

चूंकि मुद्रा-कोष की स्थापना के समय अधिकांश देशों के भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल थे, अतएव समझौते की धारा 14 के उपखण्ड 2 के अनुसार चालू अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन (current international transactions) पर पांच वर्ष के सक्रान्ति काल के लिए भुगतानों पर प्रतिबन्ध लगाने अथवा उन्हें अवरोधित करने (retention) की अनुमति दी गयी थी। भुगतान-सन्तुलन की स्थिति ठीक हो जाने पर प्रतिबन्धों को हटाया जाना आवश्यक है क्योंकि धारा 8 के उपखण्ड 2 (अ) और धारा 6 के उपखण्ड 3 के अन्तर्गत इस बात की व्यवस्था है कि कोई भी सदस्य राष्ट्र मुद्रा-कोष की सहमति और स्वीकृति के बिना चालू अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन के भुगतानों पर साधारण परिस्थितियों में प्रतिबन्ध नहीं लगा सकेगा।

कुरीहारा (K.K. Kurihara) के शब्दों में, "मुद्रा-कोष एक ओर विनिमय-दृढ़ता के बिना विनिमय-स्थायित्व बनाये रखने की आशा करता है और दूसरी ओर कुछ विनिमय-नियन्त्रण के साथ विनिमय की लोचपूर्ण व्यवस्था को प्रोत्साहन देने की आशा करता है।"[1]

मुद्रा-कोष के लेनदेन

मुद्रा-कोष सदस्य राष्ट्रों के भुगतान-सन्तुलन के अस्थायी घाटों (temporary deficits) को पूरा करने के लिए विदेशी मुद्राएं उनकी अपनी मुद्राओं के बदले में बेचता है। कोष चूंकि सभी सदस्य देशों की मुद्राओं की निधि रखता है अतः कोई भी सदस्य राष्ट्र भुगतानावशेष के अस्थायी असन्तुलन को ठीक करने के उद्देश्य से एक वर्ष में अपने अभ्यंश के 25% तक के मूल्य की विदेशी मुद्राएँ अपनी मुद्रा के बदले में खरीद सकता है। उसके कोटे के इस भाग को 'gold tranche' कहते हैं। कुल मिलाकर 5 वर्षों में अपने अभ्यंश के 125% तक के मूल्य की विदेशी मुद्राएँ खरीदी जा सकती हैं। किसी भी समय कोष के पास किसी सदस्य राष्ट्र की मुद्रा की निधि उसके अभ्यंश के 200% से अधिक नहीं हो सकती है, अर्थात् अपने मूलभूत अभ्यंश अथवा हिस्से का 75% तथा शेष 125% विदेशी मुद्राओं के क्रय के लिए हो सकता है। साथ ही, इस प्रकार की व्यवस्था भी की गई है कि प्रत्येक देश प्रति वर्ष कोष में बढ़ी हुई अपनी मुद्रा की वापसी अथवा पुनःक्रय (repurchase) का एक निश्चित क्रम के अनुसार प्रबन्ध करे।

स्मरण रहे कि कोष से सहायता तभी प्राप्त की जा सकती है जब किसी देश के सामने विपरीत भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने की समस्या हो। बिना आवश्यकता बार-बार विदेशी मुद्राओं के क्रय पर कोष ने कुछ प्रतिबन्ध लगा रखे हैं, जिनके अन्तर्गत कोष से प्राप्त की गयी सहायता की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ ब्याज-दर ऊँची होती जाती है। सहायता की अवधि अधिक होने पर भी ब्याज-दर अधिक हो जाती है। अभ्यंश के 25% के बराबर ऋण पर प्रथम तीन माह कुछ भी ब्याज नहीं देनी पड़ती, परन्तु यह अवधि के साथ-साथ बढ़ती जाती है और ½% से 2½% तक हो सकती है। अभ्यंश के 25% से अधिक ऋण होने पर तो ब्याज-दर 4% तक होती है। अधिक से अधिक 15 वर्ष के लिए सहायता दी जा सकती है।

पेर जेकोबसन (Per Jacobson) ने ठीक ही कहा था कि "मुद्रा-कोष आग बुझाने वाले इंजन की तरह है, जिसका प्रयोग केवल संकटकाल में किया जाना चाहिए।"

दुर्लभ मुद्राएँ

यह अनुमान था कि युद्धोपरान्त कुछ मुद्राएँ, विशेषतया डालर, सीमित अथवा दुर्लभ हो जायेंगी (अर्थात् मुद्रा-कोष पर उनकी माँग उनकी पूर्ति से अधिक होगी) और कोष अपने साधनों से उनकी पूर्ति न कर सकेगा। अतएव कोष के विधान में दुर्लभ मुद्राओं (scarce currencies) के लिए अलग से व्यवस्था की गयी है। किसी देश की मुद्रा दुर्लभ होने पर कोष उस देश से उधार

---

1 "...hopes to maintain exchange stability without exchange rigidity on the one hand, and to promote exchange flexibility with some exchange control on the other."—K. K. Kurihara. *Monetary Theory and Public Policy*, p. 351

लेकर उस मुद्रा की माँग पूरी कर सकता है। स्वर्ण देकर कोष उस मुद्रा का क्रय भी कर सकता है। परन्तु फिर भी यदि वह मुद्रा दुर्लभ बनी रहती है तो मुद्रा-कोष उस देश को सूचना देकर उस मुद्रा विशेष का राशनिंग (rationing) कर सकता है और अन्य सदस्य देशों को यह अधिकार देता है कि वे दुर्लभ मुद्रा वाले देश के साथ होने वाले विनिमय पर नियन्त्रण लगायें।

प्रश्न यह उठता है कि कोई मुद्रा दुर्लभ कैसे होती है ? सम्भवतः इसके चार प्रमुख कारण हो सकते हैं (1) वह अधोमूल्य मुद्रा (under valued currency) है, या (2) उस देश ने बहुत ऊँची प्रशुल्क अथवा तट-कर दीवारें (tariff walls) खड़ी कर रखी हैं, या (3) उस देश ने बहुत बड़े पैमाने पर अपनी पूँजी का विदेशों मे विनियोग किया है, या (4) उस देश ने बड़े पैमाने पर अपनी वस्तुओं का विदेशों में राशिपातन (dumping) किया है।[1]

भुगतान-सन्तुलन निरन्तर दुर्लभ मुद्रा वाले देश के पक्ष में रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विनिमय-स्थायित्व के दृष्टिकोण से न तो इस देश का व्यवहार उचित है और न ही उस देश का जिसमें निरन्तर असन्तुलन की स्थिति बनी रहती है। इन दोनों देशों की व्यवस्था ठीक करने के लिए सबसे उत्तम तरीका यह है कि मुद्रा-कोष दुर्लभ मुद्रा वाले देश को इसकी सूचना दे। साथ ही उसे यह भी आदेश दे कि वह मुद्रा का पुनर्मूल्यन (revaluation) करे ताकि लागतों व कीमतों म वृद्धि हो जिसके परिणामस्वरूप आयात और निर्यात कम हों। ऐसा होने पर दुर्लभ मुद्रा की पूर्ति बढ़ेगी और संकट दूर हो जायगा।

कोष की योजना में स्वर्ण का स्थान

स्वर्ण-मान के अन्तर्गत स्वर्ण को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त था, क्योंकि देश की मुद्रा स्वर्ण के साथ कठोरता से जुड़ी रहती थी। स्वर्ण की पूर्ति मे जो उतार-चढ़ाव होते थे उनका प्रभाव विनिमय-दरों पर पड़े बिना नहीं रहता था। मुद्रा-कोष प्रणाली के अन्तर्गत मुद्राओं के समता-मूल्य स्वर्ण पर आधारित होते हैं, परन्तु स्वर्ण के उत्पादन तथा उत्खनन (production and mining of gold) का मुद्रा के मूल्यों अथवा विनिमय-दरों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि विनिमय-दरों के उच्चावचन की उपयुक्त सीमाएँ निर्धारित कर दी जाती हैं।

इतना कुछ होने के बावजूद भी स्वर्ण का स्थान मुद्रा-कोष प्रणाली मे कुछ कम महत्व नहीं रखता है। सदस्य राष्ट्रों की मुद्राओं की प्रारम्भिक विनिमय-दरें स्वर्ण मे ही आँकी गयी हैं और स्वर्ण एक सामान्य मापक (common denominator) के रूप म स्वीकार किया गया है। प्रत्येक राष्ट्र निर्धारित दर पर ही स्वर्ण का क्रय-विक्रय करता है। साथ ही, नियमानुसार प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने अभ्यंश का एक निश्चित भाग अथवा प्रतिशत कोष के पास स्वर्ण में जमा करता है। घाटे वाले देश स्वर्ण देकर विदेशी मुद्रा खरीदते हैं और आधिक्य वाले देश स्वर्ण देकर अपनी अतिरिक्त मुद्रा खरीदते हैं। प्रो० जौन एच० विलियम्स ने जुलाई 1943 के *'The Foreign Affairs'* मे लिखा था कि केन्ज तथा ह्वाइट द्वारा प्रस्तावित दोनो ही योजनाएँ अनिवार्य रूप से स्वर्ण-मान योजनाएँ थीं और कोष से किये गये लेन-देन सदस्य देशो म बैंकों के कोषों को उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जिस प्रकार स्वर्ण-मान के अन्तर्गत स्वर्ण के प्रवाह का प्रभाव पड़ता है।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की व्यवस्था मे स्वर्ण मुख्यतः तीन कार्य करता है. (1) यह सभी सदस्य देशों की मुद्राओं का सामान्य मूल्य-मापक है, (2) यह अस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-सन्तुलनों की स्थिति को दूर करता है, तथा (3) जब कोई देश अन्य देशों के साथ स्वर्ण-समताओं म परिवर्तन करता है तो यह विनिमय-दरों को स्थिरता प्रदान करने मे योग देता है। स्वर्ण-मान की बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली के समान ही मुद्रा-कोष भी मुद्राओं को परिवर्तनशीलता प्रदान कर बहुपक्षीय भुगतानों को प्रोत्साहित करता है। स्वर्ण-मान विनिमय-नियन्त्रण के विरुद्ध था और मुद्रा-कोष भी सैद्धान्तिक रूप मे विनिमय-नियन्त्रण के विरुद्ध है। मुद्रा-कोष की कार्य-प्रणाली म स्वर्ण

---

1 Norman Crump *The ABC of Foreign Exchange*, p. 228

2 " essentially gold standard plans, and the transactions with the Fund affected bank reserves in precisely the same manner as the movements of gold under the gold standard " —John H Williams *Post war Monetary Plans*, pp 8 9.

को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। कोष से विदेशी मुद्रा खरीदने वाले देश की स्थिति स्वर्ण-मान के अन्तर्गत स्वर्ण खोने वाले के समान होती हैं। इन सब बातों से क्या यह समझा जाय कि मुद्रा-कोष की स्थापना स्वर्ण-मान की वापसी की ओर एक कदम है ? हॉम ने लिखा है, "मुद्रा-कोष की स्वर्ण व्यवस्थाएँ प्रदर्शन मात्र नही हैं। स्वर्ण यथार्थ में मुद्रा-कोष की तरलतम सम्पत्ति तथा सदस्य मुद्राओं के लिए एक सामान्य शरणस्थल के रूप में महत्वपूर्ण कार्य करता है।"[1]

स्वर्ण-मान के अनेक गुण मुद्रा-कोष की व्यवस्था में पाये जाने पर भी यह कहना गलत होगा कि मुद्रा-कोष प्रणाली, वास्तव में, स्वर्ण-मान ही है। लॉर्ड केन्ज ने हाउस ऑफ लॉर्ड्स (House of Lords) में 23 मई, *1944* के भाषण में स्वर्ण-मान और मुद्रा-कोष के स्वर्ण प्रयोग में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा था कि स्वर्ण-मान प्रणाली में देश की मुद्रा का बाह्य-मूल्य पूर्णतया स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा में बँधा रहता है, किन्तु इसके विपरीत मुद्रा-कोष व्यवस्था में स्वर्ण को केवल एक ऐसे सामान्य मापक के रूप में प्रयोग किया जाता है जिसके द्वारा विभिन्न राष्ट्रीय मुद्राओं के सापेक्ष मूल्यों में बिना कठिनाइयों के समय-समय पर परिवर्तन किये जा सकते हैं। यह सैद्धान्तिक आधार स्वर्ण-मान प्रणाली से अलग ही है और प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपनी आन्तरिक आर्थिक नीति में स्वतन्त्र रहकर विनिमय-स्थायित्व के साथ-साथ आर्थिक स्थायित्व का सामंजस्य करता है। स्वर्ण-मान प्रणाली में विनिमय-दर बिलकुल स्थायी होती है जबकि मुद्रा-कोष की योजना में व्यवस्थित लोच (managed flexibility) को महत्व दिया जाता है। कोष की योजना में अन्तर्राष्ट्रीय योजना के द्वारा एक ऐसी नयी प्रणाली का निर्माण किया गया है जो स्वर्ण-मान की पुरानी दूषित प्रणाली से कोसों दूर है।[2]

इस प्रकार, यद्यपि मुद्रा-कोष प्रणाली में स्वर्ण-मान के अनेक गुण विद्यमान है, किन्तु फिर भी यह पूर्णरूपेण स्वर्ण-मान नही है। इस प्रणाली में स्वर्ण की स्थिति एक सेवक की है, स्वामी की नही। इसमें स्वर्ण-मान के अनेक गुण होते हुए भी यह स्वर्ण-मान के दोषों से रहित है।

विशेष आहरण अधिकार या कागजी स्वर्ण

मुद्रा-कोष उचित सुरक्षा के साथ सदस्य राष्ट्रों के लिए कोष के साधन उपलब्ध करके उनके भुगतान-सन्तुलन के गलत समायोजनों (maladjustments) को सुधार कर मुद्राओं की माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करता है, अतः वह एक रक्षित कोष की भाँति कार्य करता है। इसके लिए उसे अपने साधनों में तरलता बनाये रखना आवश्यक हो जाता है। कोष के वित्तीय साधनों में स्वर्ण, विदेशी मुद्रा-कोष, आवश्यकता पड़ने पर प्राप्त होने वाली अन्य परिसम्पत्ति तथा कोष व अन्य वित्तीय संस्थाओं से ऋण प्राप्त करने से सम्बन्धित सुविधाएँ सम्मिलित हैं। परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कोष के वित्तीय साधन सदस्य राष्ट्रों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपर्याप्त रहे हैं। 1969 में अनुमान लगाया गया था कि पिछले 20 वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में 288 7 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि इसके लिए उपलब्ध वित्तीय साधनों में केवल 59 1 प्रतिशत की ही वृद्धि हो पायी थी। आगामी वर्षों में भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में 8 प्रतिशत वार्षिक के लगभग वृद्धि होने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त, विकासशील देशों पर विदेशी ऋण का भी अत्यधिक बोझ है। उन्हें इसके भुगतान तथा ब्याज आदि चुकाने की व्यवस्था करनी होती है, जबकि उनकी निर्यातों के द्वारा विदेशी विनिमय कमाने की क्षमता सीमित है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मुद्रा-कोष अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सोपाधिक (conditional) नकदी प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण स्रोत है, परन्तु अनोपाधिक (unconditional) नकदी प्राप्त करने की इसकी क्षमता अत्यन्त सीमित रही है।

इन परिस्थितियों में मुद्रा-कोष के सामने सबसे बड़ी समस्या अपने साधन बढ़ाने की रही

---

1 "The Fund's gold provisions are not just window dressing Gold plays a really important role as the *Fund's most liquid* asset and as a common anchorage for the member currencies —Halm *Monetary Theory*, p 285

2 Keynes' *speech delivered before the House of Lords on may 23, 1944*, quoted in '*The New Economics*', ed by S E Harris, p. 376

है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कोष के सदस्य राष्ट्रों के अभ्यशों में अब तक तीन बार वृद्धि की जा चुकी है। परन्तु इससे साधनों की कमी की समस्या हल नहीं हो पायी है। इसे हल करने के लिए अनेक प्रकार के सुझाव तथा योजनाएँ मुद्रा-कोष के विचाराधीन रही हैं। इसी प्रकार की एक योजना 'विशेष आहरण अधिकार' (Special Drawing Rights—SDRs) की है। इसे कागजी स्वर्ण (Paper Gold) योजना भी कहा जाता है। सितम्बर 1967 में रियो डी जेनीरो में हुई कोष की वार्षिक मीटिंग में इस योजना को सैद्धान्तिक मान्यता प्रदान की गयी। सन् 1970 के आरम्भ से इसे लागू करने का निश्चय कोष की सितम्बर 1969 की वार्षिक मीटिंग में किया गया। इस प्रकार, मुद्रा-कोष के पास अब दो प्रकार के खाते हैं प्रथम, सामान्य खाता जिसमें स्वर्ण तथा विदेशी मुद्राओं के लेन-देन सम्मिलित हैं, द्वितीय, विशेष आहरण खाता जिसके अन्तर्गत SDRs की सुविधा प्रदान की गयी है।

विशेष आहरण अधिकारों का स्पष्ट उद्देश्य बिना कोष में स्वर्ण अथवा मुद्राओं का भण्डार बढ़ाये *अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए उपलब्ध तरल साधनों की मात्रा में वृद्धि करना है।* यह एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुद्रा-कोष के द्वारा साख का सृजन है। इसके अन्तर्गत जब किसी देश को SDRs का कोटा दे दिया जाता है तो उस देश को एक ऐसी अनौपाधिक रक्षित परिसम्पत्ति (unconditional reserve asset) प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा बिना स्वर्ण का सहारा लिये वह विदेशी भुगतानों के लिए अन्य सदस्य देशों से, जिन्होंने SDRs स्वीकार किये हैं, परिवर्तनशील मुद्राएँ (convertible currencies) प्राप्त कर सकता है। इस योजना की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) SDRs एक ऐसी परिसम्पत्ति है जिसके द्वारा सदस्य देशों को अधिकारों के तुल्य विदेशी विनिमय प्राप्त करने की सुविधा मिल जाती है। विदेशी विनिमय की उस निश्चित राशि का उपयोग करने के लिए सदस्य देश को मुद्रा-कोष से पुनः अनुमति नहीं लेनी पड़ती है। इस प्रकार, अनौपाधिक तरलता (unconditional liquidity) की मात्रा में वृद्धि होती है।

(2) SDRs के सृजन के द्वारा एक ऐसे विचार को व्यावहारिक रूप दिया गया है (जिसकी चर्चा बहुत समय पहले से हो रही थी) जिसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में, बिना स्वर्ण को आधार माने हुए, एक ऐसी रक्षित परिसम्पत्ति का निर्माण किया गया है जिसका मूल्य तथा कार्य स्वर्ण के ही समान होगा। *इन्हें निरपेक्ष रूप से स्वर्ण के मूल्य की गारण्टी (absolute gold* value guarantee) प्राप्त होगी और अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में स्वर्ण के समान ही कार्य करेंगे। इसीलिए इन्हें 'कागजी स्वर्ण' (Paper Gold) की संज्ञा दी गयी है।

(3) प्रति तीन माह के बाद मुद्रा-कोष सदस्य देशों के भुगतान-सन्तुलन तथा विनिमय कोषों की स्थिति को ध्यान में रखते हुए उन्हें एक निश्चित राशि के SDRs स्वीकार करने का आदेश देता है। सदस्य देश को SDRs स्वीकार करने पड़ते हैं और माँग किये जाने पर अन्य देशों को अपनी मुद्रा देनी पड़ती है।

(4) SDRs की योजना तभी सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है जब मुद्रा-कोष के सभी सदस्य देशों का सहयोग प्राप्त हो। इसे लागू करने तथा अतिरिक्त SDRs का सृजन करने के लिए मुद्रा-कोष की कुल वोट-शक्ति का 85 प्रतिशत बहुमत इसके पक्ष में होना आवश्यक है।

(5) SDRs का वितरण सदस्य देशों के वर्तमान कोटों के अनुपात में किया गया है। कुल मिलाकर जनवरी 1970 के बाद के तीन वर्षों में 9.5 बिलियन डालर के SDRs का सृजन करने का निर्णय लिया गया है। प्रथम वर्ष में 3.5 बिलियन डालर तथा अन्य दो वर्षों में प्रति वर्ष 3.0 बिलियन डालर के SDRs का सृजन करने की योजना है।

(6) SDRs के सृजन तथा प्रयोग पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। इनसे सम्बन्धित सभी लेन-देन मुद्रा-कोष के माध्यम से सदस्य देशों के केन्द्रीय बैंक करेंगे। इनका प्रयोग सदस्य देश अस्थायी रूप में उत्पन्न होने वाले प्रतिकूल भुगतानावशेषों की पूर्ति के लिए ही कर सकता है। प्रत्येक देश को अपने SDRs के 70 प्रतिशत तक मूल्य की विदेशी मुद्रा का 5 वर्ष तक बिना

भुगतान के दायित्व के उपयोग करने का अधिकार है। परन्तु 70 प्रतिशत से अधिक आहरण सहायता प्राप्त करने पर उसे चुकाना पड़ेगा। इस प्रकार, 70 प्रतिशत के बराबर SDRs की इकाइयाँ ही नवीन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का रूप धारण करेंगी।

SDRs की व्यवस्था मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण कदम है। परन्तु विकासशील देश इस व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं हैं। चूँकि SDRs का वितरण सदस्य देशों के वर्तमान कोटों के अनुपात में किया गया है, अतः इनका अधिकांश भाग पश्चिम के विकसित देशों को मिला है। विकासशील देशों की विदेशी विनिमय की माँग बहुत है और न्यायपूर्ण भी, इसलिए SDRs का अधिकांश भाग उन्हें मिलना चाहिए था। चूँकि इस योजना का आधार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग है, इसलिए अच्छा यह होगा कि विकसित देश अल्प-विकसित देशों की समस्याओं को समझें और उन्हें आगे बढ़ने के अवसर दें। इसके लिए अनेक प्रकार के समायोजनों की आवश्यकता होगी।

भारत तथा मुद्रा-कोष

ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में भारत भी उन 44 देशों में था जिन्होंने अधिवेशन की गतिविधियों में भाग लिया। मार्च 1947 में भारत ने अपने 400 मिलियन डालर के अभ्यंश की अदायगी इस प्रकार की थी स्वर्ण 27,486,453 61 डालर, अमरीकी डालर 40,000 डालर तथा भारतीय रुपये एवं बिना ब्याज के प्रतिज्ञापत्र 372,473,546 39 डालर। भारत का 400 मिलियन डालर का प्रारम्भिक कोटा 1959 में बढ़कर 600 मिलियन डालर और 1965 के बाद 750 मिलियन डालर हो गया। इस समय भारत का कोटा 940 मिलियन डालर है। फरवरी 1970 में की गयी कोटों में वृद्धि के पूर्व कोटे के आधार पर भारत का कोष के सदस्यों में पाँचवाँ स्थान था, इसलिए कोष के संचालक बोर्ड में भारत का स्थायी प्रतिनिधि रहता था। परन्तु अब भारत का कोटा (940 करोड़ डालर) जापान, कनाडा तथा इटली से भी कम हो गया है। अतः संचालक बोर्ड में भारत की स्थायी सदस्यता समाप्त हो गयी है।

भारतीय रुपये का समता मूल्य प्रारम्भ में 0 268601 ग्राम शुद्ध स्वर्ण अथवा 30 225 अमेरिकी सेण्ट (Cent) (अर्थात् 1 डालर=3 508 रुपये) के बराबर निर्धारित किया गया था। सितम्बर 1949 में रुपये के अवमूल्यन के पश्चात रुपये की समता-दर 0 186621 ग्राम स्वर्ण अथवा 21 सेण्ट (1 डालर=4 75 रुपये) हो गयी। जून 1966 में रुपये का पुनः अवमूल्यन हुआ जिसके फलस्वरूप भारतीय रुपया अब 0 118516 ग्राम स्वर्ण अथवा 13 33 सेण्ट (1 डालर=7 50 रुपये) के बराबर रह गया है।

सन् 1949 में रुपये के अवमूल्यन के पूर्व भारत का व्यापार-सन्तुलन विपरीत था, अतः भारत ने मुद्रा-कोष से 100 मिलियन डालर का ऋण लिया। अवमूल्यन के बाद भारत के व्यापार-सन्तुलन में सुधार हुआ और हमारी आर्थिक स्थिति सुधरी। परन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही भारत के विदेशी विनिमय कोष कम पड़ने लगे। फरवरी 1957 में भारत ने अपने भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने के लिए मुद्रा-कोष से 200 मिलियन डालर का ऋण लिया जिसे जून 1957 तक तीन किस्तों में प्राप्त किया गया। अक्टूबर 1958 में दिल्ली में हुए कोष के एक अधिवेशन में सदस्यों के अभ्यंशों में 50 प्रतिशत की वृद्धि करने का निर्णय किया गया। अप्रैल 1959 में अतिरिक्त अभ्यंश की 209 मिलियन डालर की राशि चुका दी गयी, जिसमें 25% स्वर्ण था। अब भारत का अभ्यंश 600 मिलियन डालर हो गया जिससे भारत के ऋण प्राप्ति के अवसरों में वृद्धि हुई।

तृतीय योजना-काल के आरम्भ में ही, जुलाई 1961 में, भारत को 250 मिलियन डालर की विदेशी मुद्राएँ कोष से निकालने की अनुमति दी गयी। इसमें 6 मुद्राएँ सम्मिलित थीं—डालर, पौण्ड स्टर्लिंग, मार्क्स, फ्रैंक्स, लीरा तथा येन। जुलाई 1962 में 100 मिलियन डालर का सहायता वचन (stand-by agreement) प्राप्त किया गया। परन्तु स्थिति में कुछ सुधार होने के कारण 1962-63 में केवल 25 मिलियन डालर की विदेशी मुद्राएँ ही कोष से ली गयी। मार्च

1965 में भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिए मुद्रा-कोष ने भारत को 200 मिलियन डालर के मूल्य का एक अन्य सकटकालीन ऋण (stand-by credit) प्रदान किया। अभ्यंश की राशि में 25 प्रतिशत की वृद्धि हो जाने के कारण फरवरी 1966 में भारत ने कोष को 37 5 मिलियन डालर के मूल्य का स्वर्ण दिया। विदेशी विनिमय की कठिनाइयों तथा गिरते हुए सुरक्षित कोष के कारण अप्रैल 1966 में भारत को 187 5 मिलियन डालर की मुद्राएँ कोष से निकालनी पड़ीं। इसी बीच आन्तरिक तथा बाह्य दबावों के कारण भारत को अपनी मुद्रा का जून 1966 में 36 5 प्रतिशत का अवमूल्यन करना पड़ा। देश में सूखा तथा लगभग अकाल की स्थिति में 1967 में कोष की क्षतिपूरक वित्तीय योजना (Compensatory Financing Scheme) के अन्तर्गत भारत को 90 मिलियन डालर का एक और ऋण प्राप्त हुआ। दिसम्बर 1967 के बाद स्थिति में कुछ सुधार होने के कारण मार्च 1968 में 58 मिलियन डालर के ऋण मुद्रा के पुन क्रय द्वारा लौटा दिये गये। कुल मिलाकर 31 मार्च, 1968 तक भारत ने 817 50 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्राओं का क्रय किया, जिसमें से 480 करोड़ रुपये की पुन क्रय द्वारा अदायगी कर दी गयी। जनवरी 1968 के पश्चात भारत मुद्रा-कोष से बिना और ऋण लिये पुन क्रय (repurchases) की क्रिया के द्वारा ऋण लौटाता रहा है। मार्च 1971 में मुद्रा-कोष को 55 मिलियन डालर की अन्तिम किस्त चुकाने के बाद भारत ने मुद्रा-कोष से प्राप्त किये गये ऋणों को पूर्ण रूप से चुका दिया है। सन् 1970-71 में ही कोटा बढ़ जाने के कारण भारत ने मुद्रा-कोष को 142 5 करोड़ रुपये (190 मिलियन डालर) का भुगतान किया है जिसमें से 35 62 करोड़ रुपये (47 5 मिलियन डालर) का सोना है और शेष रुपया प्रतिभूतियों (rupee securities) के रूप में है।

विशेष आहरण अधिकारों (SDRs) की योजना के अन्तर्गत प्रथम वर्ष (1970) में भारत को 126 मिलियन डालर के SDRs दिये गये। इनमें से भारत ने 84 मिलियन डालर का प्रयोग किया और 42 मिलियन डालर के शेष SDRs विदेशी विनिमय कोष में जोड़ दिये गये। सन् 1971 के लिए भारत ने 100 58 मिलियन डालर के SDRs प्राप्त किये हैं। साथ ही, भारत की विदेशी विनिमय स्थिति में सुधार देखते हुए कोष ने भारत को आदेश दिया कि वह जुलाई से सितम्बर 1970 में समाप्त होने वाली तिमाही में 14 मिलियन डालर तक के SDRs स्वीकार करे (अर्थात् अन्य सदस्य देशों से माँगे जाने पर परिवर्तनीय मुद्रा दे)। इसके बाद की तिमाही (अक्टूबर से दिसम्बर 1970) में 14 मिलियन डालर के SDRs और स्वीकार करने के लिए कहा गया। अगली तिमाही (जनवरी से मार्च 1971) में 45 मिलियन डालर के SDRs स्वीकार करने को कहा गया। इस प्रकार, SDRs की योजना में भारत को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता से अनेक लाभ प्राप्त हुए हैं, जो मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं

1 *मुद्रा-कोष की सहायता से भारतीय रुपया अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए एक स्वतन्त्र* मुद्रा बन गया है। इसके पूर्व यह पौण्ड स्टर्लिंग से बँधा हुआ था तथा उसी में इसकी विनिमय-दर निर्धारित होती थी।
2 कोष से विदेशी मुद्राओं के क्रय द्वारा भारत को विदेशी विनिमय के सकट तथा भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता का सामना करने में सहायता मिली है।
3 मुद्रा-कोष का सदस्य होने के नाते भारत को विश्व बैंक की सदस्यता प्राप्त हुई, जिसने आर्थिक विकास के लिए समय-समय पर ऋण प्रदान किये हैं।
4 अपनी आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में भारत को समय-समय पर मुद्रा-कोष से बहुमूल्य परामर्श प्राप्त हुआ है।
5 सकटकालीन परिस्थितियों में भारत को यह आशा रहती है कि वह मुद्रा-कोष से आवश्यक सहायता प्राप्त कर सकेगा।
6 मुद्रा-कोष की व्यवस्था में भारत का महत्वपूर्ण स्थान है और मुद्रा-कोष की नीति

के निर्धारण मे भारत महत्वपूर्ण भाग लेता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र मे भारत का महत्व बढा है।

इसमे कोई सन्देह नही कि भारत को मुद्रा-कोष से अनेक लाभप्राप्त हुए है। भारत के प्रति कोष की नीति सहानुभूतिपूर्ण रही है और भारत ने भी कोष के नियमो का सदैव आदर किया है।

मुद्रा-कोष के कार्यों का मूल्यांकन

मुद्रा-कोष की अब तक की सफलताओ पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि इस संस्था ने 'अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व बैंक' (International Reserve Bank)[1] तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली' की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयास' (ingenius attempt to meet the requirements for international currency system)[2] के रूप मे विश्व को सकटपूर्ण आर्थिक स्थिति से निकलने मे सहायता दी है। एक ओर यह स्वतन्त्र विनिमय-दर और अत्यधिक विनिमय-नियन्त्रण दोनो के बीच का मार्ग है और दूसरी ओर यह एक मिश्रित मान के समान है जिसमे स्वर्ण-मान और पत्र-मुद्रा मान दोनो की विशेषताएँ हैं।

मुद्रा-कोष के प्रारम्भ के दो वर्षों मे ही अनेक राष्ट्रों के सामने डालर के अभाव की समस्या थी। इसे हल करने के दो ही रास्ते हो सकते थे—अमेरिका से आयात करना एकदम बन्द कर दिया जाय, अथवा स्थिति मे सुधार के लिए किसी अन्य योजना को अपनाया जाय। इन परिस्थितियों मे यूरोपीय देशो की *'मार्शल सहायता योजना'* (Marshall Aid Plan) से काफी सहायता मिली।

मुद्रा-कोष के नियमो के विरुद्ध फ्रास ने बहुचलन प्रणाली (multiple-currency practices) प्रारम्भ कर दी, किन्तु कोष के हस्तक्षेप से फ्रास को अक्टूबर 1948 मे इस प्रणाली का त्याग कर देना पडा। 1950 मे फ्रास तथा इटली ने बिना कोष को सूचना दिये अपनी मुद्राओ की विनिमय-दरो मे परिवर्तन कर लिया। कनाडा ने भी उनका अनुसरण किया और कोष द्वारा निर्धारित समता-दर को त्याग दिया। परन्तु 1951 के पश्चात कोष ने सदस्य देशों की विनिमय कार्यवाहियों पर प्रभावपूर्ण तरीके से नियन्त्रण किया है और उसे सफलता भी मिली है। हम देख चुके हैं कि 1950 के पश्चात विश्व के विदेशी व्यापार मे काफी वृद्धि हुई है और इसमे मुद्रा-कोष ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। परन्तु स्मरण रहे कि विभिन्न देशों द्वारा विदेशी विनिमय तथा व्यापार पर लगाये गये सभी प्रतिबन्धो को हटवाने मे मुद्रा-कोष समर्थ नही हुआ है।

मुद्रा-कोष समझौते का एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ है कि विशेषतया 1952 के पश्चात विदेशी पूँजी के विनियोगो मे वृद्धि हुई है। कम विकसित देशो मे आर्थिक विकास सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विदेशी पूँजी की माँग मे निरन्तर वृद्धि हुई है। कोष ने अपने सदस्य देशो को चालू सरकारी व्यय (current government expenditure) मे धीमी दर से वृद्धि करने की सलाह दी है ताकि विनियोग के लिए अधिक पूँजी उपलब्ध हो सके।

मुद्रा-कोष के प्रारम्भिक काल मे सदस्य देशो द्वारा विदेशी मुद्राओं का क्रय कम किया गया, परन्तु 1956-57 के पश्चात कोष के साधनो का अधिकाधिक प्रयोग किया गया है। 1948 से 30 अप्रैल, 1968 तक के बीस वर्षों मे सदस्य देशो द्वारा कुल 14595 60 मिलियन डालर (लगभग 14 6 बिलियन डालर) की विदेशी मुद्राओ का क्रय किया गया है। सदस्य देशो ने 7664 31 मिलियन डालर की मुद्राओ का पुन क्रय (repurchase) भी किया है जो कम महत्वपूर्ण नही है।[3] यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कोष से मुद्राओं का क्रय अधिकतर ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका और बाद मे फ्रास द्वारा किया जाता रहा है। अल्प-विकसित देशो की सहायता के लिए कुछ विशेष योजनाएँ अपनाये जाने पर भी इन देशों को कोष

1 G. N Halm · *International Monetary Co-operation*, p. 51.
2 Crowther *An Outline of Money*, p. 334
3 *I. M. F. Annual Report*, 1968, p. 105.

से प्राप्त होने वाली सहायता को महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। विशेष आहरण अधिकारों (SDRs) के सम्बन्ध में भी यही स्थिति देखने में आ रही है।

मुद्रा-कोष की प्रमुख सफलताएँ

1. मुद्रा-कोष को प्रतिस्पर्धात्मक मुद्रा-अवमूल्यनों पर रोक लगाने में सफलता मिली है और अनेक कठिनाइयों के बावजूद विदेशी विनिमय-दरों में स्थायित्व बनाये रखने में सफल हुआ है।
2. विनिमय-दरों में स्थायित्व के लिए सदस्य देशों को आन्तरिक आर्थिक नीतियों की स्वतन्त्रता का त्याग नहीं करना पड़ा। आन्तरिक स्थिति में परिवर्तन होने पर विनिमय दरों में भी परिवर्तन किये जा सके हैं।
3. कोष ने सदस्य राष्ट्रों के भुगतानावशेष के अस्थायी असन्तुलनों को सुधारने में पर्याप्त सहायता दी है और अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (international liquidity) की व्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।
4. मुद्रा-कोष ने संक्रान्ति काल में राष्ट्रों को विनिमय-नियन्त्रण की अनुमति देकर उन्हें असन्तुलन के संकट का सामना करने का अवसर दिया है। साथ में, यह भी आशा व्यक्त की है कि सन्तुलन स्थापित होते ही सदस्य देश विनिमय-नियन्त्रण हटा लेंगे।
5. मुद्रा-कोष ने विनिमय-स्थायित्व को व्यवस्थित लोच (managed flexibility) के आधार पर प्रोत्साहित कर बहुपक्षी भुगतान-व्यवस्था (multi-lateral system of payments) की स्थापना करने में सहायता दी है, जिसके परिणामस्वरूप सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास का मार्ग खुला है।
6. मुद्रा-कोष ने सदैव सदस्य राष्ट्रों की साख-नीतियों में अधिकतम समायोजन (integration and coordination) करने में महत्वपूर्ण कार्य किया है।[1]
7. मुद्रा-कोष ने राष्ट्रों द्वारा प्रचलित बहुचलन प्रणाली (multiple currency system) जैसी हानिकारक व्यवस्थाओं को समाप्त किया है।
8. मुद्रा-कोष के कार्यों से स्वर्ण-मान के लाभ प्राप्त हुए हैं जबकि स्वर्ण-मान के दोषों से मुक्ति मिली है।

मुद्रा-कोष की विफलताएँ

मुद्रा कोष की सफलताओं से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि मुद्रा-कोष अपने उद्देश्यों में पूर्ण रूप से सफल हुआ है। इसके आलोचकों का दावा है कि इसकी व्यवस्था तथा कार्यों में अनेक त्रुटियाँ रही है। इसकी आलोचना के कुछ आधार निम्नलिखित है

1. सदस्य राष्ट्र विनिमय-नियन्त्रण की नीति को नहीं छोड़ना चाहते क्योंकि वे सभी अवसाद के रोग (contagion to depression) से अपना बचाव करना आवश्यक समझते हैं।
2. कोष मुख्य रूप से केवल चालू लेन-देन (current transactions) से सम्बन्धित विदेशी विनिमय की समस्याओं को अल्पकालीन सहायता के द्वारा हल करने का प्रयास करता है। चूँकि यह पूँजी के आयात-निर्यात, आर्थिक विकास अथवा युद्ध सम्बन्धी ऋणों आदि के लिए कोई व्यवस्था नहीं करता, इसलिए इसका कार्यक्षेत्र सीमित रह जाता है।
3. कुछ आलोचकों का कहना है कि राष्ट्रों के अभ्यंश किसी उचित एवं वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं किये गये। ब्रिटेन तथा अमेरिका के कोटे निर्धारित करते समय

---

1 G N Halm *Monetary Theory*, p 290

उनके राजनीतिक स्वार्थों को ध्यान मे रखा गया है। अच्छा यह होता कि कोटो के निर्धारण मे किसी सर्वमान्य सिद्धान्त को आधार बनाया जाता।

4 मुद्रा-कोष राष्ट्रो की साख-योग्यता (creditworthiness) को देखे बिना ही क्रय अधिकार (purchasing rights) दे देता है, जिससे सकट की स्थिति उत्पन्न होने की आशका रहती हैं।

5 फ्रान्स जैसे कुछ राष्ट्र ऐसे भी हैं जिन्होने कोष के नियमो की अवहेलना की है तथा कोष की आज्ञा प्राप्त किये बिना अपनी मुद्राओ के समता-मूल्यो मे परिवर्तन कर लिये हैं। कोष इन देशो के विरुद्ध कोई कडी कार्यवाही नहीं कर सका है।

6 प्रो० कोल (G D H Cole) ने *'Money, Trade and Investment'* मे लिखा है कि वर्तमान पुन क्रय (repurchase) पद्धति असन्तोषजनक है क्योंकि मुद्रा-कोष का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-स्फीति एव अवसादो की गति (international transmission of inflations and depressions) पर कोई नियन्त्रण नहीं है।

7 साम्यवादी देशो का कोष के बाहर रहना मुद्रा-कोष के कार्यक्षेत्र को सीमित करता है। 'अन्तर्राष्ट्रीय' सस्था कहलाने का अधिकारी यह तभी हो सकता है जब ससार के सभी देशो को अपनी ओर आकर्षित कर सके। कॉलवोर्न ने लिखा है, "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का समझौता उस पारदर्शक कागज की तरह है जिसमे विश्व की राजनीतिक व्यवस्था की प्रत्येक दरार दिखाई पडती है।"

8 आलोचको का यह भी कहना है कि मुद्रा-कोष का व्यवहार सभी सदस्य राष्ट्रो के साथ एकसा नही है। धनी देशो को प्राय विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं जबकि अविकसित देशो की उपेक्षा की जाती है। अफ्रीका के कुछ राष्ट्रो ने इसे 'धनिको का क्लब' (richmen's club) कहा है।

9 एक आरोप यह भी लगाया जाता है कि मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी की सदस्यता का वितरण उचित नही है और इसमे अर्द्ध विकसित देशो को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही मिल पाता।

10 डालर-सकट से उत्पन्न हुई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सकट की स्थिति को हल करने मे मुद्रा-कोष असमर्थ रहा है। वर्तमान परिस्थितियो मे, मुद्रा-कोष द्वारा स्थापित समता-दरो की व्यवस्था खतरे मे पड गयी है।

सुधार

मुद्रा-कोष की कार्य-प्रणाली मे सुधार के उद्देश्य से अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं। स्टाम्प योजना (Stamp Plan) मे मुद्रा-कोष द्वारा साख-प्रमाणपत्रों के निर्गमन करने का सुझाव दिया गया है। ट्रिफिन योजना (Triffin Plan) मे मुद्रा-कोष को अन्तर्राष्ट्रीय उच्च-केन्द्रीय बैंक (Super Central Bank) बनाने का सुझाव दिया गया है ताकि यह कम विकसित देशो को अधिविकर्ष (overdraft) की सुविधाएँ दे सके। बर्न्सटीन योजना (Bernstein Plan) म सुझाव दिया गया है कि अनुकूल भुगतान-सन्तुलन वाले देश अनिवार्य रूप मे मुद्रा-कोष को ऋण दे। 1961 मे मुद्रा-कोष ने बर्न्सटीन योजना को सशोधित रूप मे स्वीकार कर लिया था। 1970 मे लागू की गयी 'Special Drawing Rights' योजना का उद्देश्य कोष के साधनो मे वृद्धि करके इसे एक प्रकार से साख-सृजन के अधिकार देना है।

सुधार की कोई भी योजना अपनाते समय यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि उसका उद्देश्य कोष को समाप्त करना नही होना चाहिए, बल्कि कोष को 'केन्द्रीय बिन्दु' (focal point) मानकर ही सुधार के उपाय अपनाये जाये।[1] कम विकसित देशो के लिए कोष तभी अधिक उपयोगी होगा जब यह उन्हे केवल अस्थायी असन्तुलनो को ठीक करने के लिए नहीं अपितु विकास

1 But it is obvious that any scheme of international monetary co-operation must have the I M. F. as the focal point of reform '—S L. N. Sinha *Essays on Finance*, p

कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा में उदारतापूर्वक दीर्घकालीन सहायता भी दे सकेगा। इसके लिए विकसित देशों को चाहिए कि वे कोष के साधन बढ़ाने में सहायक हों।

डालर-संकट से उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ से ही अमेरिका सम्पूर्ण विश्व में आर्थिक गतिविधियों का केन्द्र रहा है। अमेरिका में बढ़ते हुए स्वर्ण-कोषों ने डालर को एक दृढ़ एवं विश्वसनीय मुद्रा का रूप दिया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के क्षेत्र में अमेरिकी डालर सम्पूर्ण पूँजीवादी विश्व की मौद्रिक व्यवस्था का 'सम्राट' बन गया। डालर का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के माध्यम के रूप में किया जाने लगा और विनिमय-दरों में स्थिरता बनाये रखने के लिए डालर एक आधार के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। सन् 1934 में अमेरिकी कांग्रेस ने डालर का स्वर्ण-मूल्य 35 डालर प्रति औंस निर्धारित किया था और यह सरकारी दर आज तक अपरिवर्तित रही है। 1944 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के स्थापित होने पर अमेरिकी डालर को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-व्यवस्था में अधिकृत मान्यता प्राप्त हुई और डालर ने लगभग वही स्थान ग्रहण कर लिया जो स्वर्ण को प्राप्त था।

किसी भी मुद्रा की शक्ति बहुत बड़ी सीमा तक भुगतान-सन्तुलन की स्थिति और आन्तरिक कीमत-स्तर की स्थिति पर निर्भर करती है। पिछले कुछ वर्षों में आर्थिक परिस्थितियाँ इस प्रकार की रही है कि अमेरिका का भुगतान-सन्तुलन निरन्तर प्रतिकूल होता गया है और देश म कीमत-स्तर में निरन्तर वृद्धि होने से डालर की आन्तरिक क्रय-शक्ति में गिरावट आयी है। परिणाम-स्वरूप, अमेरिकी डालर निरन्तर दुर्बल होते-होते अब सकट की स्थिति तक आ पहुँचा है और इसने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक स्थिति को भी काफी प्रभावित किया है।

डालर-सकट के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पूँजीवादी विश्व म आर्थिक दृष्टिकोण से अमेरिका महत्वपूर्ण स्थान रखता है, परन्तु कुछ अन्य देशों ने अमेरिका को अनेक क्षेत्रों में पछाड़ना आरम्भ कर दिया है। अमेरिका की तुलना में पश्चिम जर्मनी तथा जापान में औद्योगिक उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हो रही है। 1950 से 1970 के बीच जापान की वार्षिक औसत विकास दर 14 8 प्रतिशत रही है। इसी काल में पश्चिम जर्मनी में औसत विकास दर 7 8 प्रतिशत रही है। इसके विपरीत, अमेरिका मे औसत विकास-दर केवल 4 2 प्रतिशत रही है। गत वर्षों में तो यह 3 प्रतिशत से भी कम हो गयी है। अमेरिका में बेकारी अनुमानत 6 प्रतिशत है और डालर की क्रय-शक्ति गिरती जा रही है। अमेरिका के निर्यातों की तुलना में आयात अधिक बढ़े हैं जिसके परिणामस्वरूप अमेरिका का व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल हो गया है। अमेरिका में ब्याज-दरें अन्य देशों की तुलना में नीची होने के कारण भारी मात्रा में निजी पूँजी विनियोग के लिए अन्य देशों में जाती रही है। इन कारणों के साथ-साथ वियतनाम युद्ध तथा अन्य देशों में बढ़ते हुए सैनिक-व्यय के परिणामस्वरूप अमेरिका का भुगतान-सन्तुलन बहुत अधिक प्रतिकूल हो गया है। 1970 में अमेरिका के भुगतान-सन्तुलन में 10,000 मिलियन डालर का घाटा था। 1971 की पहली तिमाही में ही घाटे की राशि 5,000 मिलियन डालर थी। अमेरिका के स्वर्ण का सुरक्षित भण्डार 1950 में 22,820 मिलियन डालर का था, जो 1970 में लगभग आधा होकर 11,072 मिलियन डालर रह गया है।

गत कुछ वर्षों में डालर की गिरती हुई स्थिति का आभास हो रहा था, परन्तु 1971 में डालर को शायद अपनी निकृष्टतम पराजय का सामना करना पड़ा है। गत दो वर्षों में यूरोप के मुद्रा-बाजारों में अमेरिकी डालरों के अनवरत प्रवाह के कारण इन देशों को गम्भीरतम मुद्रा-सकट का सामना करना पड़ा है। यूरोपीय बाजारों में डालर के बहुत बड़ी मात्रा में भटकते फिरने से ही डालर-सकट की स्थिति उत्पन्न हुई है। पश्चिम जर्मनी के भुगतान-सन्तुलन की अतिरेक दशा डालर के वर्तमान सकट का मूल कारण बतायी जाती है। अक्टूबर 1969 में जर्मन मार्क के पुनर्मूल्यन के बावजूद पश्चिम जर्मनी के भुगतान-सन्तुलन ने इस वर्ष इस परिकल्पना को बल दिया कि मार्क का एक और पुनर्मूल्यन होने की सम्भावना है। मार्क में लाभजनक विनिमय की आशा से यूरोप के सभी भागों से बहुत बड़ी मात्रा में डालर पश्चिम जर्मनी में आने लगे। अपनी अर्थ-

व्यवस्था को मुद्रा-स्फीति से बचाने के लिए पश्चिम जर्मनी द्वारा विदेशी मुद्रा-बाजार तथा डालर मे व्यापार बन्द कर देना पडा। स्विस, डच, आस्ट्रियन और बेल्जियन बैंकों ने भी शीघ्र इसका अनुसरण किया। लन्दन में विदेशी मुद्रा व्यापारियो ने डालर के मुकाबले महाद्वीपीय मुद्राओ के मूल्य उद्धृत करने से इन्कार कर दिया। डालर विपत्ति मे पड गया और डालर-सकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी। विश्व के मुद्रा-बाजारो मे डालर का मूल्य गिर गया। स्वर्ण का बाजार म डालर मूल्य प्रति औंस 35 डालर की सरकारी दर से बढकर 40 डालर से भी अधिक हो गया।

उपर्युक्त परिस्थितियो मे अमेरिकी प्रेसीडेण्ट श्री निक्सन ने 15 अगस्त, 1971 को एक नयी आर्थिक नीति की घोषणा की। इसके अनुसार विदेशी खजानो तथा केन्द्रीय बैंको के लिए डालर की स्वर्ण मे परिवर्तनशीलता (convertib lity) अस्थायी रूप से स्थगित कर दी गयी। स्वर्ण के सरकारी मूल्य (35 डालर प्रति औंस) मे कोई परिवर्तन नही किया गया, परन्तु अन्य राष्ट्रो के साथ बातचीत के द्वारा डालर तथा विदेशी मुद्राओ के बीच नयी उपयुक्त विनिमय-दरें निर्धारित करने के लिए कहा गया। यह आवश्यकता अनुभव की गयी कि दृढ मुद्राओ वाले देश, मुख्यत जापान, पश्चिम जर्मनी, नीदरलैण्ड, इटली, फ्रास, बेल्जियम तथा स्विट्जरलैण्ड, अपनी मुद्राओं का पुनर्मूल्यन (revaluation) करे। इसके अतिरिक्त, परिमाणात्मक प्रतिबन्धो से मुक्त आयातो पर 10 प्रतिशत अतिभार (surcharge) लगाने, विदेशी आर्थिक सहायता म 10 प्रतिशत की कटौती करने, 90 दिन के लिए कीमत तथा मजदूरी आदि को वर्तमान स्तर पर जमाये (freeze) रखने, सरकारी व्यय मे कमी करने तथा करो मे सशोधन के लिए काग्रेस को सलाह देने की घोषणा की गयी। इस प्रकार, प्रेसीडेण्ट निक्सन ने विनिमय-दरो की स्थिरता की अपेक्षा आन्तरिक स्थिरता को अधिक महत्व दिया है।

प्रेसीडेण्ट निक्सन की घोषणा ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सकट की स्थिति उत्पन्न कर दी है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-बाजारो मे डालर का मूल्य काफी गिर गया है। बडे पश्चिमी देशो तथा जापान ने अपनी मुद्राओ को बाजारो मे अपनी विनिमय-दर स्वय तय करने (floating) की छूट दे दी है। इन परिस्थितियो मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा स्थापित समता-दरो की व्यवस्था खतरे म पड गयी है। अमेरिका द्वारा आयातो पर लगाया गया 10 प्रतिशत अधिभार गैट (GATT) के सिद्धान्तो तथा कैनेडी राउण्ड समझौते के विरुद्ध है। जापान जैसे देशो के व्यापार के लिए इससे गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गयी है। ऐसा लगता है कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की सम्पूर्ण व्यवस्था पर ही सकट के बादल छा गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सकट की स्थिति का सामना करने के लिए अनेक सुझाव दिये जा रहे हैं। अधिकाश देशो की राय यह है कि अमेरिका डालर का अवमूल्यन (devaluation) करे, परन्तु अमेरिका इसके लिए तैयार नही है। यह कहा जाता है कि डालर के अवमूल्यन के लिए स्वर्ण का मूल्य बढाना होगा जिससे स्वर्ण के उत्पादक देश तथा सटटबाज अनुचित लाभ उठायेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली, जो स्वर्ण से चिपकी हुई है, गम्भीर रूप से प्रभावित होगी। डालर के अवमूल्यन से अमेरिका की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचेगा और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की व्यवस्था म भी गडबडी होगी। एक अन्य सुझाव यह दिया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-व्यवस्था म डालर तथा स्वर्ण के स्थान पर कोई अन्य आधार अपनाया जाय और इसके लिए सम्भवत कागजी स्वर्ण (Paper Gold or SDRs) ही अधिक उपयुक्त होगा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के समय लॉर्ड केन्ज ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के रूप म 'बैंकोर' (Bancor) अपनाने का सुझाव दिया था जिसका सचालन करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय निकासी सघ (ICU) की स्थापना के लिए कहा गया था। लॉर्ड केन्ज की इस योजना का उल्लेख इसी अध्याय म पहले किया जा चुका है। इस योजना पर पुन विचार करने का भी सुझाव दिया जा रहा है। कोई सा भी उपाय अपनाया जाय, यह बात स्पष्ट है कि कोई भी उपाय प्रभावपूर्ण तभी होगा जब इसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के माध्यम से अपनाया जाय। अलग-अलग गुटो अथवा समूहो द्वारा अपनाये गये उपाय प्रभावपूर्ण नहीं हो पायेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्तर्गत निर्धारित समता दरो म और अधिक लोच की

व्यवस्था की जा सकती है। विकासशील देशों को भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान देना आवश्यक होगा। अनुशासन-रहित व्यवस्था से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ नहीं सुलझेंगी। सितम्बर 1971 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के वार्षिक सम्मेलन में बोर्ड ऑफ गवर्नर्स द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव में सदस्य देशों से आग्रह किया गया है कि वे विनिमय तथा व्यापार की स्थिरता के लिए विनिमय-दरों का एक सन्तोषजनक ढांचा अपनायें जिसमें परिवर्तन की उचित सीमाएँ निर्धारित हों, व्यापार तथा विनिमय पर नियन्त्रण कम करें और ऐसी नीतियाँ अपनायें जिनसे वर्तमान मौद्रिक स्थिति को सुधारा जा सके और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के लिए ठीक प्रकार से कार्य करना सम्भव हो सके।

वर्तमान स्थिति पर नियन्त्रण पाने के लिए एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-पद्धति को अपनाना आवश्यक हो गया है। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को सक्रिय रूप में आगे आना होगा।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना किन उद्देश्यों से की गयी थी? यह अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफल हुआ है?

[संकेत प्रथम भाग में मुद्रा-कोष के उद्देश्यों की विवेचना करिए। दूसरे भाग में इसकी सफलताओं तथा कमियों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।]

2 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के कार्यों की विवेचना करिए। यह विदेशी विनिमय-दरों में किस प्रकार स्थायित्व रखता है?

[संकेत प्रथम भाग में मुद्रा-कोष के कार्यों की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में विनिमय की समता-दरों के निर्धारण तथा उनमें परिवर्तनों से सम्बन्धित नियमों को विस्तारपूर्वक समझाइए।]

3 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए और इसकी तुलना अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान से कीजिए।

[संकेत मुद्रा-कोष के उद्देश्यों तथा कार्यों का संक्षिप्त परिचय दीजिए। दूसरे भाग में इसकी तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की विशेषताओं के आधार पर समानताओं तथा भेदों को स्पष्ट कीजिए और यह बताइए कि मुद्रा-कोष प्रणाली में स्वर्णमान के सभी लाभ हैं, परन्तु यह उसके दोषों से मुक्त है।]

4 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता से भारत को क्या लाभ हुआ है? क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि मुद्रा कोष आग बुझाने वाली दमकल की भाँति है?

[संकेत प्रथम भाग में भारत को मुद्रा कोष से प्राप्त हुई सहायता तथा अन्य लाभों का उल्लेख कीजिए। दूसरे भाग में यह स्पष्ट कीजिए कि मुद्रा-कोष केवल अस्थायी असन्तुलन की स्थिति में सहायता देता है तथा इसका कार्यक्षेत्र सीमित है, परन्तु यह अधिक उपयोगी तभी होगा जब विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को भी पूरा करे।]

23

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक

[INTERNATIONAL BANK FOR RECONSTRUCTION AND DEVELOPMENT]

"विश्व बैंक ने अपने विशिष्ट क्षेत्र में काफी मात्रा में सफलता प्राप्त कर ली है और यह स्पष्ट कर दिया है कि अब वह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-यन्त्र में एक अनिवार्य तत्व है।"[1] —डी० कॉक

विश्व बैंक की स्थापना

ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक की स्थापना का भी निर्णय किया गया था। यह संस्था, जिसे विश्व बैंक (World Bank) भी कहते हैं, मुद्रा-कोष की एक पूरक संस्था के रूप में 27 दिसम्बर, 1945 को स्थापित हुई और 25 जून, 1946 से इसने अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

युद्ध-विनष्ट अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण तथा संसार के अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन पूँजी के विनियोगों की बहुत बड़ी आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। इन कार्यों के लिए व्यक्तिगत पूँजी पर निर्भर नहीं किया जा सकता था, क्योंकि विनियोगों में जोखिम की अधिकता के कारण व्यक्तिगत पूँजी बिना किसी प्रकार की गारण्टी के प्राप्त करना बहुत कठिन था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से दीर्घकालीन पूँजी प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती थी, क्योंकि यह संस्था अपने साधनों में तरलता बनाये रखकर ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकती थी। यह सब ध्यान में रखते हुए ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्रों ने एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना के लिए राय दी जो न केवल दीर्घकालीन पूँजी की स्वयं व्यवस्था करे, बल्कि व्यक्तिगत पूँजी को भी अपनी गारण्टी देकर अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता प्रदान करे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विश्व बैंक की स्थापना की गयी। मुद्रा-कोष की स्थापना का उद्देश्य अस्थायी असन्तुलनों को ठीक करने के लिए अल्पकालीन सहायता प्रदान करना था जबकि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में राष्ट्रों के बीच दीर्घकालीन सन्तुलन होना भी अनिवार्य है और यह केवल दीर्घकालीन विनियोगों द्वारा ही सम्भव हो सकता है। मुद्रा-कोष तथा विश्व बैंक स्थायित्व एवं विकास के उद्देश्यों पर आधारित हैं। मुद्रा-कोष 'स्थायित्व' पर अधिक बल देता है और विश्व बैंक 'विकास' पर। विश्व बैंक की स्थापना 'विनियोग बैंक' (Investment Bank) की धारणा के आधार पर हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना से सम्बन्धित प्रतिवेदन में वर्णित ये शब्द महत्वपूर्ण हैं: "विश्व बैंक मुद्रा-कोष की पूरक संस्था के रूप में विशेष रूप से एक ऊँचे और

1 "The bank has achieved a great measure of success in its particular sphere and has demonstrably become an essential cog in the machinery of international payments."—DeCock. *Central Banking*, p. 317.

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग स्तर की प्राप्ति के लिए कार्य करेगा ताकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ऊँचा स्तर बनाये रखा जा सके और उत्पादन तथा रोजगार को प्रोत्साहन मिले।"[1]

विश्व बैंक के उद्देश्य

कुरीहारा के शब्दों में, "विश्व बैंक राष्ट्रों के बीच कुछ पूर्व-निर्धारित विस्तृत योजनाओं के अनुसार जिनमें रोजगार में स्थिरता भी है, दीर्घकालीन पूंजी के आवागमन को नियन्त्रित करने की दिशा में पहला प्रयास है। इसके संगठन का बहुराष्ट्रीय स्वरूप 'भिक्षुक मेरा पड़ोसी' नीति का कट्टर विरोधी है।"[2]

विश्व बैंक के समझौते की धारा 1 के अनुसार इसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

(1) **सदस्य राष्ट्रों का पुनर्निर्माण एवं विकास**—विकास बैंक का सर्वप्रथम उद्देश्य युद्ध से विध्वंसित अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण तथा अविकसित एवं अर्द्ध-विकसित सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास के कार्यों में सहायता प्रदान करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दीर्घकालीन विनियोगों को प्रोत्साहित करना है ताकि उत्पादन तथा आय में वृद्धि हो और स्थायी विश्व-शान्ति की स्थापना सम्भव हो सके।

(2) **व्यक्तिगत विदेशी विनियोगों को प्रोत्साहित करना**--विश्व बैंक का दूसरा उद्देश्य विदेशी पूंजी के विनियोगों में वृद्धि करना है। व्यक्तिगत तथा संस्थागत विनियोजकों को उनके ऋणों के भुगतानों की गारण्टी देकर अथवा उनके साथ विनियोजकों के रूप में सम्मिलित होकर सदस्य राष्ट्रों में विदेशी विनियोगों को प्रोत्साहित करना है। व्यक्तिगत पूंजी के अभाव में स्वयं बैंक को उचित दरों पर अपनी पूंजी तथा साधनों में से उत्पादक कार्यों के लिए ऋणों की व्यवस्था करना है।

(3) **दीर्घकालीन सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करना**—बैंक का तीसरा प्रमुख उद्देश्य दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों के माध्यम से उत्पादन-क्षमता में वृद्धि, जीवन-स्तर तथा श्रम-स्थितियों में सुधार के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्थायी सन्तुलित विकास में सहायता प्रदान करना तथा सदस्य देशों के भुगतानाशेषों में स्थायी सन्तुलन स्थापित करना है।

(4) **अधिक आवश्यक उत्पादन के कार्यों को प्राथमिकता देना**—विश्व बैंक का एक उद्देश्य यह भी है कि वह ऐसे ऋणों को प्रदान करे अथवा उन पर गारण्टी दे जो अधिक आवश्यक उत्पादक कार्यों में लगाये जाने हों ताकि अधिक उपयोगी और नितान्त आवश्यक प्रोजेक्ट—चाहे वे छोटे अथवा बड़े हों—प्राथमिकता प्राप्त कर सकें।

(5) **शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना**—विश्व बैंक का उद्देश्य सदस्य देशों की युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्थाओं को शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्थाओं में परिवर्तित करने के लिए उचित दशाएँ उत्पन्न करना है।

विश्व बैंक की सदस्यता

प्रत्येक राष्ट्र जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य है, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का भी स्वतः ही सदस्य बन जाता है। इस प्रकार इन दोनों संस्थाओं की सदस्यता साथ-साथ चलती है। एक की सदस्यता का परित्याग करने पर दूसरे की सदस्यता भी समाप्त हो जाती है। 1944 में जिन राष्ट्रों ने मुद्रा-कोष की सदस्यता स्वीकार की थी, वही विश्व बैंक के भी मौलिक सदस्य (original members) हैं। सदस्यों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही है और जून 1970 तक यह 113 हो चुकी थी।

---

1 "It is intended to serve as an essential adjunct to the Monetary Fund and in particular to ensure a high and stable level of international investment with a view to promoting the maintenance of a high level of international trade and thus of production and employment" —Quoted by Cairn Cross in *Essays in International Finance*.

2 "The International Bank for Reconstruction and Development is the first attempt to regulate long-term capital movements among nations according to some pre-conceived long-range plans, including employment stabilization The multi-national character of its organisation is a strong presumption against begger-my neighbour policy"—Kenneth K Kurihara *Monetary Theory and Public Policy*, p 380

यदि कोई सदस्य राष्ट्र बैंक की सदस्यता का परित्याग करना चाहता है तो वह धारा 6 के अन्तर्गत बोर्ड ऑफ गवर्नर्स को एक लिखित प्रार्थना-पत्र भेजता है। सदस्यता का परित्याग करने के पूर्व उस देश को विश्व बैंक के प्रति अपने समस्त दायित्वो को पूरा कर देना पडता है। यदि कोई देश बैंक के अधिनियमो का पालन नही करता अथवा उनके पालन मे बाधा डालता है तो उसकी सदस्यता छीनी जा सकती है।

विश्व बैंक की पूंजी

आरम्भ मे बैंक की अधिकृत पूंजी (authorised capital) 10,000 मिलियन डालर थी जो 1 लाख डालर के एक लाख अशो (shares) मे विभाजित थी। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपने अश का 20 प्रतिशत तुरन्त जमा करना होता था, जिसमे 2 प्रतिशत भाग स्वर्ण अथवा स्वर्ण मे परिवर्तित मुद्रा (डालर) मे तथा शेष 18 प्रतिशत भाग अपनी वैधानिक मुद्रा मे चुकाना पडता था। कुल अश का शेष 80 प्रतिशत भाग बैंक द्वारा मांगे जाने पर (called up) जमा करना पडता था। स्पष्ट है कि इस प्रकार बैंक द्वारा तुरन्त ऋण देने के लिए किसी देश के चन्दे का केवल 2 प्रतिशत भाग उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त शेष 18 प्रतिशत जिस देश की मुद्रा हो उसकी अनुमति से ऋण दिया जा सकता है। बाकी का 80 प्रतिशत जो सदस्य देशो के पास ही रहता है, ऋण देने के लिए उपलब्ध नही हो पाता, इसका उपयोग बैंक अपने दायित्वो के भुगतान के लिए करता है। इस प्रकार इसका स्वरूप एक 'गारण्टी कोष' का सा है।[1]

बैंक के कार्यों के विस्तार तथा सदस्य राष्ट्रो की पूंजी की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए बैंक के साधनो म वृद्धि करना आवश्यक हो गया। 1958 मे दिल्ली मे हुई गवर्नर-मण्डल की बैठक मे बैंक की पूंजी मे वृद्धि करने के प्रश्न पर विचार किया गया। सदस्य राष्ट्रो ने भी इसमे काफी उत्साह का परिचय दिया। परिणामस्वरूप, सदस्यो के चन्दो मे 100% की वृद्धि कर दी गई। कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, जापान आदि 17 देशो ने 100 प्रतिशत से भी अधिक वृद्धि स्वीकार की। सितम्बर 1959 मे बैंक की अधिकृत पूंजी 21,000 मिलियन डालर हो गयी। बाद मे दिसम्बर 1963 मे इसमे फिर वृद्धि की गई और यह 22,000 मिलियन डालर हो गई। सदस्यो की सख्या मे वृद्धि हो जाने के कारण बैंक की स्वीकृत पूंजी (subscribed capital) 30 जून, 1969 को 2303 6 मिलियन डालर थी।

बैंक की पूंजी मे अमेरिका का भाग (6,350 मिलियन डालर) सबसे अधिक है। दूसरा स्थान इगलैण्ड का है (2,600 मिलियन डालर)। तीसरे स्थान पर पश्चिम जर्मनी तथा फ्रान्स हैं (प्रत्येक का भाग 1,050 मिलियन डालर) और चौथे स्थान पर भारत (800 मिलियन डालर) है।

विश्व बैंक का संगठन

विश्व बैंक का सगठन भी मुद्रा-कोष के सगठन की भांति है। बैंक के सगठन मे बोर्ड ऑफ गवर्नर्स, प्रशासनिक सचालक बोर्ड (Board of Executive Directors), सलाहकार समिति तथा ऋण समिति विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स मे प्रत्येक सदस्य देश एक गवर्नर की नियुक्ति करता है जो सामान्यतया उस देश का वित्त मत्री होता है। एक स्थानापन्न (alternate) गवर्नर की भी नियुक्ति की जाती है जो गवर्नर की अनुपस्थिति मे कार्य करता है। इनका कार्यकाल 5 वर्ष होता है, परन्तु इसके पूर्व भी इन्हे बदला जा सकता है। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की एक वर्ष मे कम से कम एक बैठक होना आवश्यक है जो प्राय मुद्रा-कोष की वार्षिक बैठक के साथ ही होती है। वार्षिक बैठक मे महत्वपूर्ण विषयो पर विचार-विमर्श किये जाते हैं।

कार्यकारिणी सचालक बोर्ड के सदस्यो की सख्या 20 है। उनमे से 5 उन देशो द्वारा नियुक्त किये जाते हैं जिनका बैंक की पूंजी मे सर्वाधिक हिस्सा होता है। इस समय अमेरिका, इगलैण्ड, पश्चिम जर्मनी, फ्रास तथा भारत के स्थायी सचालक हैं। शेष 15 सचालक अन्य सदस्यो द्वारा चुने जाते हैं। प्रत्येक सचालक का कार्यकाल 2 वर्ष होता है। प्रत्येक सचालक को उसके

1 S K Basu : *A Survey of Contemporary Banking Trends*, p 447

देश के चन्दे की राशि के अनुसार मताधिकार प्राप्त होते हैं।[1] सलाहकार समिति तथा ऋण समिति की नियुक्ति संचालक बोर्ड द्वारा होती है। संचालक बोर्ड की मीटिंग एक महीने में कम से कम एक बार होना आवश्यक है। संचालक समिति का अध्यक्ष बैंक का प्रधान अधिकारी होता है और वह बैंक के सभी साधारण कार्यों की देखभाल करता है। अध्यक्ष को केवल अपना निर्णायक मत (casting vote) देने का अधिकार होता है, साधारण मताधिकार नहीं। टेक्नीकल, विपणन, कानूनी तथा प्रशासनीय मामलों के विभागों के अतिरिक्त अलग-अलग क्षेत्रों के लिए भी अनेक विभाग स्थापित किये गये हैं। प्रत्येक विभाग एक डायरेक्टर के अधीन कार्य करता है।

विश्व बैंक की ऋण-क्रियाएँ

विश्व बैंक तीन प्रकार से अपने सदस्य देशों को ऋण देता है (1) अपने कोष में से प्रत्यक्ष ऋण देना, (2) विश्व बैंक द्वारा विभिन्न देशों के मुद्रा-बाजारों से उधार ली गयी पूँजी से ऋण देना, तथा (3) व्यक्तिगत विनियोजकों को गारण्टी देकर ऋण दिलाना।

यह पहले बताया जा चुका है कि प्रत्येक सदस्य देश अपने चन्दे का 20% भाग कोष में जमा करता है और शेष 80% उससे आवश्यकता पड़ने पर माँगा जा सकता है। 20% प्राप्त की गयी राशि में 2% स्वर्ण अथवा डालर किसी देश को ऋण देने के लिए बैंक प्रयोग कर सकता है। यदि ऋण किसी देश की मुद्रा में देना हो तो उस देश से अनुमति लेना आवश्यक होता है। ऋण देने से पूर्व विश्व बैंक कुछ शर्तों की पूर्ति चाहता है।

विश्व बैंक आवश्यकता पड़ने पर किसी सदस्य देश के मुद्रा-बाजार से पूँजी उधार भी ले सकता है परन्तु इसके लिए बैंक को उस देश से पूर्व-स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती है। इसी प्रकार उस देश की अनुमति लेकर ही बैंक उस उधार ली गयी मुद्रा को स्वर्ण अथवा अन्य मुद्राओं में बदल सकता है।

विश्व बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य निजी विनियोजकों को गारण्टी देकर उनकी पूँजी अन्य देशों को दिलाना है।

विश्व बैंक यथासम्भव यही प्रयत्न करता है कि अपने कोषों में से ऋण देने की अपेक्षा व्यक्तिगत विनियोजकों से गारण्टी देकर ऋण दिलवाया जाय। उत्पादन की विशिष्ट परियोजनाओं को पूरा करने के लिए ही विदेशी विनिमय की प्राप्ति हेतु ये ऋण सदस्य देशों को दिलवाये जा सकते हैं। ऋण की स्वीकृति के पूर्व प्रस्तावित परियोजना की स्थिति की भली-भाँति जाँच-पड़ताल कर ली जाती है। ऋण प्राप्त करने वाले तथा ऋण प्रदान करने वाले दोनों ही देशों की अनुमति भी ले ली जाती है। बैंक अपने नियमों की धारा 3 (उपखण्ड 4) के अन्तर्गत गारण्टी करने से पूर्व निम्नलिखित शर्तों की पूर्ति चाहता है

1. यदि किसी परियोजना के लिए ऋण प्राप्त करने वाला कोई व्यक्तिगत व्यवसायी अथवा गैर-सरकारी संस्था है, तो इस ऋण की गारण्टी उस देश की सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक को देनी पड़ती है जिसकी सीमा के भीतर यह परियोजना स्थित है।
2. विश्व बैंक ऋण की गारण्टी तब करता है जब इस बात की पुष्टि हो जाय कि ऋण चाहने वाला देश और कहीं से उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त करने में असमर्थ है।
3. विश्व बैंक यह भी देखता है कि ऋण की ब्याज-दर तथा अन्य व्यय प्रस्तावित परियोजना के लिए उचित हैं।
4. विश्व बैंक अपने को सन्तुष्ट कर लेता है कि ऋणी अथवा उस ऋण की गारण्टी देने वाला देश ऋण सम्बन्धी उत्तरदायित्वों को सुविधापूर्वक पूरा करने में समर्थ होगा।
5. विश्व बैंक कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर किसी विशेष योजना को पूर्ण करने के लिए ऋण की गारण्टी देता है। इस ऋण का उपयोग उसी कार्य के लिए किया जा सकता है जिसके लिए यह प्रदान किया गया है।

---

[1] प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को 250 वोट होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक 100,000 डालर के चन्दे पर एक अतिरिक्त वोट प्राप्त होता है।

6 गारण्टी देने के लिए बैंक प्रत्येक ऋण पर कमीशन लेता है जो साधारणतया 1 से 1.5 प्रतिशत तक होता है।

ऋण के लिए बैंक को दिये गये प्रार्थना-पत्र पर किसी उचित एवं अधिकृत संस्था की सिफारिश होना आवश्यक है। चूँकि बैंक ऋणी तथा ऋणदाता दोनों के हितों को ध्यान में रखता है, इसलिए ऋण की स्वीकृति देने के पूर्व एक मिशन (Mission) से प्रस्तावित परियोजना की स्थिति, ऋण चाहने वाले देश की अर्थ-व्यवस्था की स्थिति तथा अन्य सम्बन्धित बातों की जाँच-पड़ताल करा लेता है। मिशन की अनुकूल सिफारिशों तथा शर्तों की पूर्ति होने पर बैंक ऋण प्रदान करने की ऋण समिति (Loans Committee) से सिफारिश प्राप्त करता है। यह सब कार्यवाही पूरी हो जाने पर ऋण की राशि उस देश के केन्द्रीय बैंक में जमा करा दी जाती है। स्मरण रहे कि विश्व बैंक पर यह प्रतिबन्ध है कि वह अपने कुल साधनों से अधिक न तो स्वयं ऋण दे सकता है और न ही उसकी गारण्टी कर सकता है। ऋणी देश को ऋण का भुगतान स्वर्ण में अथवा उस मुद्रा में करना होता है जिसमें वह ऋण लिया गया था। वास्तव में, विश्व बैंक एक असाधारण संस्था है जो बैंकिंग के सिद्धान्तों को ऐसे कार्यों से जोड़ती है जो बहुत कम बैंकों के साधारण कार्यों जैसे हैं।

तकनीकी सहायता

वित्तीय सहायता के अतिरिक्त विश्व बैंक सदस्य देशों को तकनीकी सहायता भी प्रदान करता है। विश्व बैंक ने सर्वप्रथम 1949 में कोलम्बिया की अर्थ-व्यवस्था का सामान्य पर्यवेक्षण (general survey) कराया था। तब से यह सुविधा अनेक देश प्राप्त कर चुके हैं। विकास सम्बन्धी परियोजनाएँ तैयार करने में सदस्य देशों को विश्व बैंक से तकनीकी तथा प्रबन्धकीय मामलों पर सलाह मिली है और विभिन्न परियोजनाओं के प्रबन्ध तथा संगठन सम्बन्धी प्राथमिकताएँ निर्धारित करने में सहायता प्राप्त होती है। विकास सम्बन्धी विनियोग का आकार तथा रचना निर्धारित करने में सदस्य देश विश्व बैंक से सहायता प्राप्त करते हैं। विकास सम्बन्धी मामलों पर सलाह देने के लिए विश्व बैंक विशेषज्ञों को सदस्य देशों में भेजता है। पूर्वी तथा पश्चिमी अफ्रीका के देशों को तकनीकी सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से बैंक ने नैरोबी तथा अबिदजान में स्थायी क्षेत्रीय मिशन नियुक्त कर रखे हैं जो कृषि तथा यातायात के विकास की ओर विशेष रूप से ध्यान दे रहे हैं। सदस्य देशों के अधिकारियों को विकास योजनाओं के निर्माण तथा प्रबन्ध से सम्बन्धित प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से 1945 में वाशिंगटन में आर्थिक विकास संस्थान (Economic Development Institute) स्थापित किया गया है, जो संसार की प्रमुख भाषाओं में अल्पकालीन प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्रदान करता है।

विश्व बैंक की प्रगति

चूँकि विश्व बैंक को काफी कठिन परिस्थितियों में से गुजरना था, इसलिए इसके कार्य-काल के प्रथम तीन वर्ष औपचारिक रूप से परीक्षणात्मक ही रहे। 1947 में विश्व बैंक द्वारा यूरोप के चार देशों—फ्रांस, लक्ज़मबर्ग, डेनमार्क तथा नीदरलैण्ड—को 496.8 मिलियन डालर के ऋण पुनर्निर्माण के लिए प्रदान किये गये। 1948 में मार्शल प्लान (Marshall Plan) की स्वीकृति के बाद यूरोपीय देशों की समस्याएँ कुछ हल हुईं और विश्व बैंक ने अर्द्ध-विकसित देशों के विकास की ओर ध्यान दिया। सन् 1947 से जून 1956 के बीच बैंक ने कुल 2,667 मिलियन डालर के 150 ऋण दिये, जिनमें पुनर्निर्माण के लिए केवल 497 मिलियन डालर थे और शेष राशि विकास के लिए थी। गत वर्षों में विश्व बैंक द्वारा दिये गये ऋणों की संख्या तथा राशि में निरन्तर वृद्धि हुई है और ऋण प्राप्त करने वाले देशों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। जून 1960 तक कुल मिलाकर विश्व बैंक ने 53 देशों को 265 ऋण प्रदान किये थे जिनकी कुल राशि 5,068 मिलियन डालर थी। जून 1968 तक 85 देशों ने 552 ऋण प्राप्त किये जिनकी कुल राशि 11,247 मिलियन डालर थी। इसी बीच बैंक के कुल सदस्यों की संख्या 68 से बढ़कर 107 हो गयी। 1968 के वित्तीय वर्ष में बैंक की कुल आय (gross income) 356 मिलियन डालर

तथा शुद्ध आय (net income) 169 मिलियन डालर थी, जबकि 1960 मे बैंक की कुल आय 151 मिलियन डालर तथा शुद्ध आय 59 मिलियन डालर ही थी।

विश्व बैंक द्वारा दिये गये ऋणो का वितरण देखने से पता चलता है कि 496 8 मिलियन डालर की राशि के अतिरिक्त, जो यूरोप के देशो को पुनर्निर्माण के लिए दी गयी, बाकी के सभी ऋण विकास कार्यों के लिए दिये गये हैं और इनमे सबसे अधिक ऋण एशिया तथा मध्य-पूर्व के देशो को मिले हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 1964 65 के बाद विश्व बैंक के सामने वित्तीय साधनो की कमी की समस्या रही है। इसके परिणामस्वरूप विश्व बैंक के ऋण 1964-65 मे 1,023 मिलियन डालर से गिरकर आगामी तीन वर्षों (1965-66 से 1967-68 तक) मे 854 मिलियन डालर की वार्षिक औसत पर आ गये। 1968 मे बैंक ने अपने नये अध्यक्ष के नेतृत्व मे एक योजना बनायी जिसका उद्देश्य 1968 से 1973 तक के 5 वर्षों में बैंक तथा इसकी सहयोगी संस्थाओ द्वारा ऋणों मे इतनी वृद्धि करना है जो पिछले 5 वर्षों की तुलना मे लगभग दुगुनी हो। क्षेत्रीय आधार पर एशिया के देशो को दी जाने वाली सहायता मे पर्याप्त वृद्धि करनी है परन्तु लेटिन अमेरिका के लिए दुगुनी तथा अफ्रीका के लिए तिगुनी वृद्धि करनी होगी। इस योजना के प्रथम वर्ष (1968-69) मे विश्व बैंक ने 1,399 मिलियन डालर के 84 ऋण प्रदान करने के वचन (commitments) दिये। 1969-70 मे 1,680 मिलियन डालर के 70 ऋणो के लिए विश्व बैंक वचनबद्ध था।[1] नई योजना के पूर्व, 1967-68 मे विश्व बैंक ने केवल 847 मिलियन डालर के 44 ऋणो की ही स्वीकृति दी थी।

भारत तथा विश्व बैंक

जैसा कि बताया जा चुका है, भारत विश्व बैंक का मौलिक सदस्य है तथा इसे बैंक के प्रशासनिक सचालक मण्डल में स्थायी स्थान प्राप्त है। 1950 म पेरिस से हुई बैंक की वार्षिक बैठक का सभापतित्व भी इसने किया था। इसकी सदस्यता से भारत को अनेक लाभ प्राप्त हुए हैं।

भारत के आर्थिक विकास कार्य मे विश्व बैंक ने महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान की है। सर्वप्रथम अगस्त 1949 में भारत को रेलो के पुनर्निर्माण के लिए 34 मिलियन डालर का ऋण स्वीकृत किया गया था। कुल मिलाकर, प्रथम योजना की अवधि में भारत ने विश्व बैंक से 145 मिलियन डालर के ऋण प्राप्त किये। भारत के प्रति बैंक की नीति सदैव सहानुभूतिपूर्ण रही है और इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि भारत को विश्व बैंक के अन्य सभी सदस्यो की अपेक्षा सबसे अधिक ऋण दिये गये हैं। विश्व बैंक के आंकड़ो के अनुसार 30 जून, 1968 तक भारत को कुल 36 ऋण दिये गये जिनकी सम्पूर्ण राशि 1007 2 मिलियन डालर थी। 1968-69 मे भारत को विश्व बैंक से 45 मिलियन डालर के ऋण प्राप्त हुए। 1969-70 में 40 मिलियन डालर का एक और ऋण प्राप्त हुआ है। विश्व बैंक से सहायता प्राप्त करने वाले देशो मे भारत का स्थान प्रथम है। जिन परियोजनाओं के लिए भारत को विश्व बैंक से ऋण प्राप्त हुए हैं, वे हैं (1) रेलो की आवश्यक सामग्री तथा कल-पुर्जों का आयात, (2) बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए कृषि-मशीनो का आयात, (3) दामोदर घाटी निगम (D V C) की विद्युत परियोजनाएँ, (4) एयर इण्डिया निगम (Air India Corporation) द्वारा हवाई-जहाजो का क्रय, (5) कलकत्ता एव मद्रास के बन्दरगाहो का विकास, (6) महाराष्ट्र की कोयना बिजली परियोजना, (7) टाटा लोहा एव इस्पात कम्पनी तथा इण्डियन लोहा एव इस्पात कम्पनी के विस्तार, (8) ट्रामबे मे बिजलीघर की स्थापना, (9) बिजली के तार के निर्माण हेतु आवश्यक सामग्री का आयात, (10) आन्ध्र प्रदेश म कोठागुदम बिजली-घर का विस्तार, (11) निजी क्षेत्र मे कोयला उद्योग का विकास, तथा (12) भारतीय औद्योगिक साख एव विनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation of India) द्वारा निजी कम्पनियो को ऋण देने मे

1 इसम अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I F C) को दी जाने वाली 100 मिलियन डालर की राशि सम्मिलित थी।

सहायता । 1969-70 मे कृषि-उत्पादन में वृद्धि के लिए विश्व बैंक ने भारत को 13 मिलियन डालर का ऋण देने की स्वीकृति दी है। 30 जून, 1971 तक भारत को विश्व बैंक से 1,088 मिलियन डालर के ऋण प्राप्त हुए हैं। इसम सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा 629 74 मिलियन डालर हैं और शेष 458 37 मिलियन डालर के ऋण निजी क्षेत्र को प्राप्त हुए हैं। विभिन्न उद्देश्यों के लिए ऋणों का वितरण इस प्रकार हुआ है कृषि 20 मिलियन डालर, उद्योग 435 मिलियन डालर, शक्ति एव सिंचाई 163 मिलियन डालर, यातायात एव सन्देशवाहन 470 मिलियन डालर।

भारत में आर्थिक विकास की योजनाओं की सफलता के लिए भारी मात्रा मे प्रत्यक्ष ऋण देने के अतिरिक्त विश्व बैंक ने 1958 मे कनाडा, जर्मनी, जापान, इगलैण्ड तथा अमेरिका का एक सम्मेलन वाशिंगटन म बुलाया। विचार-विमर्श के बाद इन देशो ने विश्व बैंक के नेतृत्व में एक सघ (Consortium) स्थापित किया, जिसको 'Aid India Club' के नाम से भी पुकारा जाता है। बाद में बेल्जियम, इटली, फ्रान्स, आस्ट्रिया तथा नीदरलैण्ड भी इसमे सम्मिलित हो गये और इस प्रकार सघ के सदस्यो की सख्या 10 हो गयी। सघ की प्रथम बैठक सितम्बर 1960 म पेरिस मे तथा दूसरी बैठक मई 1961 मे वाशिंगटन म हुई, जिनमे भारत को तृतीय योजना की अवधि मे ऋण देने के प्रश्न पर विचार-विमर्श हुआ। भारत सहायता क्लब ने तृतीय योजना के 5 वर्षो के लिए 5,472 मिलियन डालर की सहायता देने की घोषणा की, जिससे भारत को योजना पूरी करने मे महत्वपूर्ण सहायता मिली है। 1967-68 में भारत को प्राप्त विदेशी ऋणो में 97 प्रतिशत भाग भारत सहायता क्लब के सदस्य देशो द्वारा दिये गये ऋणो का था जिनमे से 80 प्रतिशत ऐसे ऋण थे जो किसी विशेष परियोजना से बंधे हुए नही थे। वर्तमान परिस्थितियो म भारत के बढते हुए ऋण-भार तथा उस पर ब्याज आदि के भुगतानो की समस्या को ध्यान में रखते हुए विश्व बैंक भारत को ऋण-सुविधाएँ (debt relief) दिलाने के लिए प्रयत्नशील है। विश्व बैंक के नेतृत्व में ही भारत सहायता सघ ने गत वर्षों म भारत को ऋण-राहत सहायता (debt relief), बिना किसी परियोजना से बँधी सहायता (non project aid) तथा विशेष परियोजनाओं के लिए सहायता (project aid) दी है तथा इसकी आवश्यकता अनुभव की है।

वित्तीय सहायता के अतिरिक्त विश्व बैंक ने भारत को तकनीकी सहायता भी प्रदान की है। समय-समय पर भारत मे भेजे गये विशेषज्ञो ने विभिन्न परियोजनाओ का अध्ययन करके उनसे सम्बन्धित महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। इन अध्ययनो के आधार पर भारत को न केवल विश्व बैंक से सहायता मिली है बल्कि विकास की योजनाओं के कुशल सचालन के लिए पर्याप्त मार्गदर्शन भी मिला है।

देश के विभाजन के पश्चात भारत और पाकिस्तान के बीच नदियो के जल-विभाजन सम्बन्धी विवाद ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। विश्व बैंक की मध्यस्थता से 1952 म दोनो देशो के बीच वार्ता आरम्भ हुई तथा 1954 में बैंक ने सिन्धु-घाटी के जल-विभाजन सम्बन्धी योजना प्रस्तुत की। अन्तत 19 जनवरी, 1960 को दोनों देशो क बीच समझौता हो गया। इस झगडे को समाप्त कराने के लिए विश्व बैंक को स्वय 80 मिलियन डालर का ऋण देने के अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, अमेरिका, इगलैण्ड, न्यूजीलैण्ड, कनाडा तथा जर्मनी से सिन्धु-घाटी विकास कोष (Indus Basin Development Fund) की स्थापना करने के लिए 640 मिलियन डालर की सहायता देने के लिए प्रार्थना करनी पडी थी। इस झगडे का सफलतापूर्वक निपटारा करके विश्व बैंक ने यह सिद्ध कर दिया है कि राष्ट्रों के आपसी विवाद शान्तिपूर्ण बातचीत द्वारा समाप्त किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, बैंक ने कई बार भारत म अपन विशेषज्ञो की टोलियां भेजकर आर्थिक विकास की विभिन्न योजनाओं का अध्ययन किया है और सुझाव दिय है।

वास्तविकता यह है कि एक सच्चे मित्र, सहायक और मार्गदर्शक के रूप मे विश्व बैंक न भारत को जो आर्थिक तथा तकनीकी (technical) क्षेत्रों में सहानुभूतिपूर्ण सहयोग दिया है उससे भारत को आर्थिक विकास के कार्य में महत्वपूर्ण सहायता मिली है। भारत को दिया गया सहयोग न केवल मात्रा मे सब देशो से अधिक है वरन् मानवी मूल्यों मे सर्वोच्च है।

विश्व बैंक के कार्यों का महत्व

विश्व बैंक द्वारा किये गये अब तक के कार्यों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि एक सच्चे सहायक के रूप में इसने विकासशील देशों को आर्थिक तथा प्राविधिक सहायता देकर विकास के मार्ग पर आगे बढ़ने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। बैंक ने न केवल स्वयं सहायता दी है, बल्कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ जैसी संस्थाओं की स्थापना करने में भारी मात्रा में सहयोग प्रदान किया है। अमीर देशों में इस भावना को जाग्रत किया है कि गरीब देशों के विकास में हाथ बँटाना उनका उत्तरदायित्व है और स्थायी विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए आवश्यक है। गरीब देशों को अमीर देशों से प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता से सम्बन्धित विषयों की जाँच करने के लिए विश्व बैंक ने अगस्त 1968 में कनाडा के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री पियरसन (Lester B Pearson) की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया था। सितम्बर 1969 में पियरसन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट पेश की। कमीशन ने सुझाव दिया है कि विकास के लिए दी जाने वाली सहायता में विकसित देशों की सरकारें वृद्धि करें ताकि 1975 (अधिक से अधिक 1980) तक वे अपने कुल राष्ट्रीय उत्पादन (Gross National Product) का कम से कम औसत 0 70 प्रतिशत सहायता के रूप में देने लगें। 1968 में यह औसत 0 39 प्रतिशत था। कमीशन ने सुझाव दिया है कि सहायता कम से कम 3 वर्ष के लिए दी जाय और ऋणी देशों को अनेक सुविधाएँ दी जायें। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा दी जाने वाली सहायता में भी वृद्धि हो। इसके लिए विकसित देश प्राप्त होने वाले SDRs का एक भाग विकास संघ को दें। विश्व बैंक को अपने उद्देश्यों में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। डी कॉक के अनुसार विश्व बैंक ने अपने विशिष्ट क्षेत्र में काफी मात्रा में सफलता प्राप्त कर ली है और यह स्पष्ट कर दिया है कि अब वह अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग यन्त्र में एक महत्वपूर्ण तत्व है।[1] कुरीहारा ने लिखा है कि "विश्व बैंक ने अन्तर्राष्ट्रीय रोजगार स्थिरता की दिशा में आशावादी प्रगति की है।"[2] केवल यही नहीं, विश्व-शान्ति के हितों को सुरक्षित रखने की दिशा में भी विश्व बैंक ने भारत-पाकिस्तान सिन्धु-घाटी जल-विवाद तथा स्वेज नहर कम्पनी के अंशों की क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित विवाद का निपटारा करा कर प्रशंसनीय कार्य किया है।

विश्व बैंक के विकास ऋणों के सहारे अँधेरी झोपड़ियों तक प्रकाश पहुँचा है, मशीनों के पहियों में गति आई है, नये कल-कारखानों का निर्माण हुआ है, सूखे खेतों को पानी मिला है और रेगिस्तान नखलिस्तान (oasis) में परिणत हुए हैं। नये जल, थल तथा नभ मार्गों के लिए यातायात एवं सन्देश-वाहनों की सुविधा मिली है और विश्व की दूरियाँ समाप्त होने लगी हैं। इन सब सफलताओं से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं वह भावनाएँ जिनसे विश्व बैंक को प्रेरणा मिली है। विश्व बैंक के अध्यक्ष यूजीन आर० ब्लैक (Eugene R Black) ने 1962 में कहा था कि "बैंक के इन कार्यों का पत्थर, फौलाद तथा कंकरीट से निर्मित जड़ स्मारकों के रूप में नहीं आँकना चाहिए। उसके उद्देश्य व्यापक और गहन हैं—पृथ्वी की साधन-सम्पन्नता का विस्तार करना, मानव को प्रकाश एवं उष्णता प्रदान करना, अकर्मण्यता तथा निराशावाद से उनका उद्धार करना तथा उस दिवस की प्राप्ति के लिए जब विपुलता दूर-स्थित स्वप्न न रहकर एक वास्तविक सम्भावना बन सकेगी, विचारों को जन्म देना, और उनके लिए क्रियाशील संगठनों और रीतियों को समझने की रुचि उत्पन्न करना।"[3]

---

1 De Cock *Central Banking*, p 317

2 "The International Bank is a hopeful step in the direction of international employment stabilization "—Kurihara *Monetary Theory and Public Policy*, p 335.

3 "The Bank's work is not to be assessed in terms of the building of cold monuments of stone and steel and concrete, it has had a deeper purpose—to enlarge the riches of earth, to give men light and warmth, to lift them out of drudgery and despair, to interest them in the stirring of ideas and in the grasp of organization and techniques toward the realisation of a day in which plenty will be a real possibility and not a distant dream '—Quoted by G. L Mehta in his article published in *Commerce*, 8th December, 1962

विश्व बैंक के कार्य की आलोचना

विश्व बैंक के कार्य तथा नीतियों की अनेक कारणों से आलोचना की जाती है :

(1) प्रारम्भ में विश्व बैंक पर यह आरोप लगाया गया कि इस संस्था ने युद्ध-विनष्ट अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण के कार्य को अधिक महत्व दिया है और अर्द्ध-विकसित देशों की विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं की ओर ध्यान नहीं दिया है। यह आरोप ठीक है। परन्तु विश्व बैंक का विचार यह था कि एक ध्वसित भवन का पुनर्निर्माण एक नये भवन के निर्माण की अपेक्षा सीधा और आसान होता है। साथ में यह भी सोचा गया कि यूरोप के आर्थिक उत्थान से अर्द्ध-विकसित जगत को अपने विकास-कार्यक्रम पूरा करने में अनेक प्रकार से सहयोग तथा सहायता प्राप्त होने की सम्भावना हो सकती थी। वास्तविकता यह है कि आरम्भ के वर्षों को छोड़कर विश्व बैंक ने सदैव विकास के कार्यों में ही सहयोग दिया है।

(2) कुछ राष्ट्रों ने इस बात की शंका प्रकट की है कि विश्व बैंक के कार्य पूर्णतया निष्पक्ष नहीं रहे हैं। ऋणदाता देश ऐसा सोचते हैं कि बैंक के संगठन में ऋण लेनेवाले देशों को बहुमत प्राप्त है, इसलिए शर्तों का निर्धारण उन्हीं के पक्ष में होता है। दूसरी ओर ऋणी देश बैंक के संगठन तथा नीति-निर्धारण में अमेरिका तथा अन्य बड़े देशों का प्रभाव बहुत अधिक पाते हैं। यथार्थ में विश्व बैंक अपने सभी सदस्य देशों के हितों की सुरक्षा चाहता है। बैंक की कार्य-प्रणाली इस प्रकार की है कि प्रत्येक ऋण का जोखिम सभी सदस्य देशों पर व्यक्तिगत तथा संयुक्त रूप से आकर पड़ता है। विश्व बैंक के माध्यम से ऋणी तथा ऋणदाता देश दोनों को ही लाभ हुआ है। ऋणदाता देशों को सुरक्षित रूप में अपनी अतिरिक्त पूंजी का विदेशों में विनियोग करने का अवसर मिला है और ऋणी देशों को अपने आर्थिक विकास के कार्यक्रम पूरा करने में सहायता मिली है।

(3) ऋणी देशों का कहना है कि विश्व बैंक का ऋण देने का कार्य बड़ा विलम्बपूर्ण है तथा ऋण देने से पूर्व 'ऋण चुकाने की शक्ति' (repaying capacity) पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाता है। बैंक के ऋण विशिष्ट परियोजनाओं से बँधे होने के कारण ऋणी देश विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्धों से जकड़ा रहता है। इस सम्बन्ध में यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि विश्व बैंक एक व्यापारिक वित्तीय संस्था होने के नाते प्रत्येक ऋण देने के पूर्व उसकी सुरक्षा के लिए सन्तुष्ट होना चाहता है और उसके लिए छानबीन भी करता है। वास्तव में, इससे ऋणी देश को भी लाभ होता है क्योंकि प्रस्तावित परियोजना से सम्बन्धित आर्थिक पहलू की अच्छी तरह से जाँच-पड़ताल हो जाती है। ऋण की राशि को किसी विशिष्ट परियोजना के साथ बाँधने में बैंक का उद्देश्य यह होता है कि ऋणी देश में उत्पादन की मात्रा में अधिकतम वृद्धि हो सके। बैंक का अभी तक का अनुभव यह रहा है कि सामान्य विकास के लिए दिये गये ऋण अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुए।[1]

(4) कुछ आलोचकों के विचार में विश्व बैंक की तुलना में व्यक्तिगत देशों द्वारा दिये गये अन्तर्राष्ट्रीय ऋण अधिक उपयुक्त होते हैं, परन्तु विश्व बैंक व्यक्तिगत देशों तथा व्यक्तिगत विनि-योजकों का कार्य-क्षेत्र सीमित कर देता है। यह आलोचना भी निराधार है। विश्व बैंक किसी ऋण की व्यवस्था तभी करता है जब किसी देश को अन्य किसी साधन से यह उचित शर्तों पर न मिल सके। विश्व बैंक निजी पूंजी से प्रतिस्पर्धा नहीं करता, बल्कि उसे प्रोत्साहन देता है और गारण्टी देकर उसकी सुरक्षा की व्यवस्था करता है।

(5) विश्व बैंक द्वारा दिये गये ऋणों पर ब्याज की दर ऊँची है। व्यावसायिक दृष्टिकोण से दीर्घकालीन ऋणों पर $5\frac{1}{2}$ या 6 प्रतिशत ब्याज-दर अधिक ऊँची नहीं कही जा सकती, परन्तु अर्द्ध-विकसित देशों की दृष्टि से यह दर काफी ऊँची है। इसके अतिरिक्त बैंक 1 से $1\frac{1}{2}$ प्रतिशत तक का अपना कमीशन अलग से लेता है। यह ठीक है कि इससे बैंक लाभ कमाता है और आर्थिक संकटों का सामना करने की शक्ति प्राप्त करता है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि गरीब देशों की आर्थिक स्थिति और भुगतान-शक्ति को देखते हुए विश्व बैंक द्वारा दिये गये ऋण काफी महँगे

1 *Fifth Annual Report of the IBRD*, pp. 7 8

होते हैं और इन पर ब्याज-दर तथा कमीशन में कमी होना आवश्यक है। इन शिकायतों को दूर करने में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना से कुछ सहायता मिली है।

(6) एशिया तथा अफ्रीका के गरीब देशों को विश्व बैंक द्वारा दी गयी सहायता उनके आर्थिक विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपर्याप्त है। यही कारण है कि इन देशों के प्रतिनिधियों ने विश्व बैंक की वार्षिक बैठकों में बैंक की ऋण-नीति की आलोचना की है। आवश्यकता इस बात की है कि विश्व बैंक अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों के लिए अधिकाधिक विदेशी पूंजी के साधनों को जुटाने के प्रयासों को तीव्र करे।

इसमें सन्देह नहीं कि गत वर्षों में विश्व बैंक का महत्व बढ़ा है और इसका अनुमान इसी से हो जाता है कि इसके सदस्यों की संख्या निरन्तर बढ़ी है और इसे सहायता प्राप्त करने वाले देशों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। विश्व बैंक ने अपने कार्यों से यह सिद्ध कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एक कल्पना मात्र नहीं बल्कि यथार्थ है और प्रभावपूर्ण हो सकता है। परन्तु विश्व के अधिकांश देशों में गरीबी की जड़ें इतनी गहरी हैं कि विश्व बैंक के लिए अभी बहुत कार्य करना बाकी है। आगे आने वाले वर्षों में विश्व बैंक की सफलता इसके प्रबन्धकों की कुशलता तथा निष्पक्षता, बैंक की ऋण सम्बन्धी नीति, ऋणी देशों के ऋण वापस करने की क्षमता तथा इस सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक तथा आर्थिक सहयोग पर निर्भर करेगी। विश्व बैंक को एक ऐसे मजबूत पुल का कार्य करना है जिसके सहारे अमीर देशों के धन-कोष व्यवस्थित ढंग से निरन्तर स्वतन्त्र विश्व के तीन-चौथाई गरीब देशों की ओर बढ़े ताकि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सन्तुलन की स्थापना हो सके।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक के कार्यों की व्याख्या कीजिए। भारत को इस संस्था से क्या लाभ प्राप्त हुआ है?

[संकेत विश्व बैंक के प्रमुख कार्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या करिए और यह स्पष्ट कीजिए कि यह केवल एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ही नहीं है बल्कि इसका कार्य जनक सेवा से सम्बन्धित है। दूसरे भाग में विश्व बैंक से भारत को प्राप्त होने वाली आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता का विवरण दीजिए।]

2 विश्व बैंक के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए तथा स्पष्ट कीजिए कि उनकी प्राप्ति में यह कहाँ तक सफल हुआ है।

[संकेत प्रथम भाग में विश्व बैंक के उद्देश्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में विश्व बैंक की प्रगति का विवरण दीजिए और इसका मूल्यांकन करिए, अर्थात् संक्षेप में बैंक के कार्य की आलोचनाओं का भी उल्लेख कीजिए।]

3 अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक के उद्देश्यों, संगठन तथा कार्यों पर प्रकाश डालते हुए इसका मूल्यांकन कीजिए।

[संकेत सर्वप्रथम विश्व बैंक के उद्देश्य बताइए, इसके बाद संस्था के संगठन तथा कार्यों का उल्लेख कीजिए। अन्त में विश्व बैंक की प्रगति तथा कमियों की व्याख्या कीजिए।]

4 विश्व बैंक किस प्रकार कार्य करता है? इसने संसार के आर्थिक विकास में क्या योगदान दिया है?

[संकेत विश्व बैंक की कार्य-प्रणाली का उल्लेख कीजिए और यह स्पष्ट कीजिए कि ऋण देने तथा ऋणों पर गारण्टी देने में बैंक किन शर्तों की पूर्ति चाहता है। दूसरे भाग में बैंक के कार्यों में प्रगति तथा त्रुटियों का विवेचनात्मक विवरण दीजिए।]

5 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि भारत को इनसे क्या लाभ पहुँचा है।

[संकेत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्य अलग-अलग समझाइए। दोनों ही का अपने-अपने क्षेत्र में महत्व स्पष्ट करते हुए भारत को इनसे प्राप्त होने वाली सहायता का विवरण दीजिए।]

24

अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएँ

[OTHER INTERNATIONAL MONETARY AGENCIES]

"यदि अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का विचार कभी अच्छा था तो वह आज और भी अधिक अच्छा है।"[1] —रॉबर्ट एल गार्नर

विश्व बैंक, जैसा कि हम देख चुके हैं, अपने विशिष्ट क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य करता रहा है, परन्तु इसकी स्थापना के कुछ वर्ष बाद से ही यह अनुभव किया जाने लगा कि इसके द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता में अनेक कमियाँ हैं। यह देखा गया कि न केवल विश्व बैंक के साधन अत्यधिक सीमित हैं तथा ब्याज की दरें ऊँची हैं, बल्कि इसकी सबसे बडी कमी यह है कि यह केवल ऋण देता है, विनियोगों में हिस्सेदार नहीं बनता, जबकि विकासशील देश ऋणों पर ब्याज के भार से बचने के लिए साम्य वित्तीय प्रबन्धन (equity financing) की व्यवस्था अधिक उपयुक्त समझते हैं। यह भी देखा गया कि विश्व बैंक से निजी उद्योगों को विशेष सहायता नहीं मिल पाती, क्योंकि उन्हें ऋण केवल सरकार की गारण्टी पर दिये जा सकते हैं।

उपर्युक्त कठिनाइयाँ ध्यान में रखते हुए, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकास सम्बन्धी आर्थिक सुविधाएँ अधिक मात्रा में प्रदान करने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) तथा विश्व बैंक (Word Bank) के अतिरिक्त कुछ अन्य मौद्रिक संस्थाएँ भी स्थापित की गयी हैं। इनमें से अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation), अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Development Association), एशियाई विकास बैंक (Asian Development Bank) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम

ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में यह चर्चा की गयी थी कि हिस्सेदारी के आधार पर विकासशील देशों में पूँजी के विनियोग (equity financing) की व्यवस्था की जाय, परन्तु लॉर्ड केन्ज तथा वॉरेन पियरसन आदि विशेषज्ञों ने इसका विरोध किया और अन्ततः यही तय हुआ कि विश्व बैंक बिना सरकार की गारण्टी के निजी उपक्रमों को ऋण न दे। 1951 में अमेरिकी सरकार के एक सलाहकार बोर्ड (United International Development Advisory Board) ने एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के निर्माण का सुझाव दिया जो निजी उद्योगों के लिए धन की व्यवस्था करे और ऋण प्रदान करने के साथ-साथ पूँजी विनियोजन द्वारा उनकी सहायता करे। इसके पश्चात इस सुझाव पर विभिन्न स्तरों पर विचार होता रहा। दिसम्बर 1954 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा (General Assembly) ने एक प्रस्ताव में विश्व बैंक से प्रार्थना की कि वह इस प्रकार की संस्था के लिए एक मसौदा (Charter) तैयार करे। 11 अप्रैल, 1955 को विश्व बैंक ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की व्यवस्था सम्बन्धी मसौदा अपने सदस्यों

1 "So if the concept of I F C was ever a good one, today it is even better" —*Robert L Garner*

के सामने रखा। जुलाई 1956 में इसके सदस्यों की संख्या 31 हो जाने पर इसकी विधिवत् स्थापना कर दी गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के उद्देश्य

निगम का मूल उद्देश्य, विश्व बैंक के एक पूरक के रूप में, उत्पादनशील निजी साहस के विकास को, विशेषत अर्द्ध-विकसित देशों में, प्रोत्साहन देना है। इसके मसौदे की धारा 1 में वर्णित इसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं

(1) निजी उद्योगों के विकास, सुधार और विस्तार को प्रोत्साहित करना और इसके लिए बिना सरकार की गारण्टी के सदस्य देशों में स्थित निजी उद्योगों में विनियोग करना,

(2) विनियोग के अवसरों, देशी और विदेशी निजी पूंजी तथा अनुभवी प्रबन्धन को परस्पर मिलाना और उनमें समन्वय स्थापित करना, तथा

(3) सदस्य राष्ट्र में घरेलू तथा विदेशी व्यक्तिगत पूंजी को उत्पादनशील विनियोगों में प्रवाहित कर उन परिस्थितियों को जन्म देना जो विकास में सहायक हों।

स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का उद्देश्य निजी उद्योगों के साथ मिलकर, बिना सम्बन्धित सरकार की गारण्टी लिये, उनमें पूंजी का विनियोग करना है। जिस उद्योग में पूंजी लगाई जाती है, उसके प्रबन्ध में निगम शामिल नहीं होता। ध्यान देने योग्य बात यह है कि निगम के उद्देश्यों में घरेलू तथा विदेशी पूंजी दोनों की ही चर्चा है, अर्थात् निगम दोनों प्रकार की पूंजी के विनियोगों को प्रोत्साहित करना चाहता है। वास्तव में, इस निगम का उद्देश्य विनियोग के अवसरों, निजी पूंजी के साधनों तथा अनुभवी प्रबन्ध-कौशल के लिए एक समाशोधन गृह (clearing house) के रूप में कार्य करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की सदस्यता एवं प्रबन्ध

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की सदस्यता केवल उन्हीं देशों को मिल सकती है जो विश्व बैंक के सदस्य हैं। वैसे विश्व बैंक के सदस्यों के लिए इस निगम की सदस्यता ऐच्छिक है, अनिवार्य नहीं। निगम का प्रबन्ध भी विश्व बैंक के प्रबन्ध की भांति है। इसका भी एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्स होता है जिसमें वित्त निगम के सदस्य देशों द्वारा जो गवर्नर विश्व बैंक में मनोनीत किये गये हैं, वे वित्त निगम के भी गवर्नर होते हैं। निगम के दिन-प्रतिदिन के कार्य-संचालन के लिए एक संचालक बोर्ड (Board of Executive Directors) होता है जिसमें विश्व बैंक के संचालक बोर्ड के वे सदस्य जो वित्त निगम के भी सदस्य हैं, सम्मिलित होते हैं। विश्व बैंक का अध्यक्ष वित्त निगम के संचालक बोर्ड का पदेन (ex-officio) चेयरमैन होता है। उसकी सहमति से निगम द्वारा अपना अध्यक्ष चुना जाता है जो निगम के नियमित कार्य-संचालन के लिए उत्तरदायी होता है।

30 जून, 1969 को निगम के सदस्य देशों की संख्या 86 थी। विश्व बैंक की भांति ही निगम के प्रत्येक सदस्य को 250 मत प्राप्त होते हैं और प्रति 1000 डालर के चन्दे पर एक अतिरिक्त मत प्राप्त होता है।

वित्त निगम विश्व बैंक की एक सम्बद्ध इकाई के रूप में कार्य करता है, परन्तु इसका अस्तित्व विश्व बैंक से सर्वथा अलग है। निगम के कोष तथा हिसाब-किताब बैंक से अलग रखे जाते हैं। विश्व बैंक के अधिकारियों की सेवाओं का प्रयोग करने पर उनका शुल्क बैंक को दिया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की पूंजी

प्रारम्भ में निगम की अधिकृत पूंजी 100 मिलियन डालर रखी गयी थी जो 100 डालर मूल्य के एक लाख शेयर्स में विभाजित की गयी थी। सदस्य देश अपने हिस्से की राशि स्वर्ण अथवा डालर में चुका सकते थे। समय के साथ-साथ इसके सदस्यों की संख्या बढ़ती गयी और पूंजी में भी वृद्धि हुई। 30 जून, 1968 को निगम की स्वीकृत पूंजी 101,368,000 डालर थी। इसमें अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, भारत, जर्मनी तथा कनाडा के हिस्से क्रमशः 35,168, 14,400, 5,815, 4,431; 3,655 तथा 3,600 हजार डालर थे। इस प्रकार भारत का निगम की पूंजी में चौथा स्थान था।

6 बैंक इस बात पर भी ध्यान देगा कि ऋणी देश ऋण समझौते मे वर्णित शर्तों के पालन करने योग्य है अथवा नही।
7 बैंक से प्राप्त ऋण, विनियोग अथवा अन्य राशियो का उपयोग सदस्य देशो मे उत्पादित वस्तुओ और सेवाओ की प्राप्ति के लिए ही किया जायगा। दो-तिहाई डायरेक्टरो के बहुमत से इनका उपयोग गैर-सदस्य देशो से वस्तुओ और सेवाओ की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है।
8 बैंक अपने कार्यों मे ठोस बैंकिंग सिद्धान्तो (sound banking principles) का पालन करेगा।

चूंकि बैंक को विश्व के पूंजी-बाजार म अपनी साख जमानी है इसलिए बैंक प्राय कठोर शर्तों पर ऋण (hard loans) प्रदान करता है। प्रारम्भिक काल मे बैंक 'कोमल ऋण' (soft loans) नही देगा, परन्तु आगे चलकर यह इन ऋणो के लिए अपनी स्वीकृत पूंजी के 10% से एक विशेष कोष स्थापित कर सकता है। इस प्रकार के कोष की स्थापना के लिए अमेरिका ने 100 मिलियन डालर की राशि अलग से देने की घोषणा कर दी है। 1968-69 मे जापान तथा कनाडा की सहायता से दो विशेष कोष स्थापित किये गये है जिनका उद्देश्य विकासशील देशो को रियायती शर्तों पर ऋण देना है।

वास्तविक स्थिति

एशियाई विकास बैंक की अदा-पूंजी मे भारत का हिस्सा 93 मिलियन डालर है। पूंजी के आधार पर एशियाई देशो मे जापान का हिस्सा 200 मिलियन डालर सबसे अधिक है और दूसरा स्थान भारत का है। अमेरिका का हिस्सा भी 200 मिलियन डालर है। बैंक की स्थापना के आरम्भ से बैंक के उद्देश्य और विशेष रूप से अमेरिका और जापान के इरादो को सन्देहपूर्ण दृष्टि से देखा गया है। सम्भवत इसी कारण रूस ने इसकी सदस्यता स्वीकार नही की। यह सब होते हुए भी एशिया तथा सुदूरपूर्व (ECAFE) के लगभग सभी देश इससे यह आशा लेकर सदस्य बन गये हैं कि शायद उन्हें कुछ लाभ पहुँच सके।

1968 मे एशियाई विकास बैंक ने कुल 41 6 मिलियन डालर के ऋणो की स्वीकृति दी थी। 1969 मे 98 1 मिलियन डालर के ऋण स्वीकार किये। 1970 मे स्वीकृत ऋणोकी राशि बढकर 245 2 मिलियन डालर हो गयी। ऋणो की राशि मे वृद्धि तो अवश्य हुई है परन्तु अब तक अधिकाश ऋण प्राय उन्ही देशो को मिले है जिन्हे आर्थिक विकास की नीति मे अमेरिका का समर्थन प्राप्त है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक विकास के स्थान पर अवस्थापना (infra structure) के लिए अधिक मात्रा मे ऋण दिये गये हैं।

वास्तव मे एशियाई बैंक विश्व बैंक का ही एक नमूना है, जो बहुत बडी मात्रा मे ऋण देने के पश्चात भी विकासशील देशो को यह विश्वास नही दिला पाया है कि वह उनके हितो की रक्षा करता है तथा उनके लिए अत्यधिक उपयोगी है। विश्व बैंक के ऋणो के समान ही एशियाई बैंक के ऋणो पर ब्याज की दर काफी ऊँची है और ऋणो की शर्तें कठोर है। इनके उपयोग पर अनेक प्रतिबन्ध हैं। इनका उपयोग साधारणतया सदस्य देशो द्वारा उत्पादित वस्तुओ और सेवाओ के प्राप्त करने (procurement of goods and services in member countries) के लिए ही किया जा सकता है। एशियाई बैंक के ऋण निश्चित परियोजनाओ के साथ बँधे होते है और उनमे लोच का अभाव होता है। बैंक का प्रशासन इस प्रकार का है कि पूंजी मे अधिक हिस्सा होने के कारण अमेरिका, जापान तथा अमेरिकी गुट के देशो को बहुत अधिक मताधिकार प्राप्त हैं और एशिया के गरीब देशो का उचित प्रतिनिधित्व नही हो पाता। परिणामस्वरूप, बैंक का अधिकतर कार्य अमेरिकी नीति द्वारा ही प्रभावित होने की सम्भावना रहती है। सार्वजनिक क्षेत्र की आवश्यकताओ की ओर पर्याप्त ध्यान न देकर निजी क्षेत्र की आवश्यकताओ को पूरा करने का प्रयास किया जाता है।

एशियाई विकास बैंक का अभी तक का कार्य सन्तोषजनक नही कहा जा सकता। भारत

ने अभी तक इसमें कोई सहायता प्राप्त नहीं की है। परन्तु यदि यह संस्था ठीक प्रकार से कार्य करे तो भारत को इससे अनेक लाभ प्राप्त हो सकते हैं। क्षेत्रीय सहयोग की भावना का विकास होने पर हमारे निर्यात बढ़ सकते हैं तथा हमारे औद्योगिक उत्पादन के लिए एक निश्चित विदेशी बाजार का विकास हो सकता है। हमें आवश्यकता भी इसी बात की है कि हमारे तैयार किये हुए इंजीनियरिंग पदार्थों, पूँजीगत मालों तथा अन्य निर्मित पदार्थों के लिए विदेशों में माँग बढ़े। एशियाई विकास बैंक तथा ECAFE की बैठकों में भारत ने इस बात पर जोर दिया है कि एशियाई बैंक विकासशील देशों द्वारा दी गयी निर्यात साख के पुनर्वित्त (refinancing of export credits) की सुविधा देने पर विचार करे ताकि ये देश अपने निर्मित पदार्थों की विदेशी बाजारों में प्रतिस्पर्धा करने की शक्ति में सुधार कर सकें। आने वाले वर्षों में बैंक की सफलता बहुत कुछ बैंक के अधिकारियों के व्यवहार तथा विकसित देशों की अर्द्ध-विकसित देशों के प्रति सहयोग की भावना पर निर्भर करेगी। विकसित देशों के साधनों का विकासशील देशों में आर्थिक विकास के लिए उपयोग करने के लिए एशियाई बैंक एक महत्वपूर्ण माध्यम बन सकता है।[1]

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 विश्व बैंक के होते हुए अन्तर्राष्ट्रीय निगम की स्थापना की क्या आवश्यकता थी? निगम को अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफलता मिली है?

[संकेत विश्व बैंक द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता की कमियाँ स्पष्ट कीजिए और अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के उद्देश्य विस्तारपूर्वक समझाइए। दूसरे भाग में निगम के कार्यों में प्रगति तथा इसकी आलोचना का उल्लेख कीजिए।]

2 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के उद्देश्यों तथा इसकी कार्य-प्रणाली को स्पष्ट कीजिए। विकासशील देशों के लिए इसके महत्व पर भी प्रकाश डालिए।]

[संकेत अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के उद्देश्य तथा इसके द्वारा ऋण दिये जाने की पद्धति तथा इससे सम्बन्धित सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक विवरण दीजिए। दूसरे भाग में निगम के कार्यों के आधार पर इसका विकासशील देशों के लिए महत्व स्पष्ट कीजिए।]

3 अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना किन उद्देश्यों से की गयी है? विकासशील देशों के लिए इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

[संकेत अन्तर्राष्ट्रीय संघ विकास की स्थापना की संक्षिप्त पृष्ठभूमि तथा इसके उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में इसके द्वारा दी गयी सुलभ ऋण सहायता तथा इसकी कार्य प्रणाली के आधार पर विकासशील देशों के लिए इसका महत्व स्पष्ट कीजिए।]

4 एशियाई विकास बैंक के उद्देश्यों तथा कार्यों का उल्लेख कीजिए। इसकी सफलता की सम्भावनाओं पर प्रकाश डालिए।

[संकेत प्रथम भाग में एशियाई विकास बैंक के उद्देश्यों तथा कार्यों की व्याख्या कीजिए और संक्षेप में यह भी बताइए कि यह अपने कार्यों में किन सिद्धान्तों को सामने रखता है। दूसरे भाग में इसकी नीति तथा कार्य का मूल्यांकन कीजिए और भविष्य की सम्भावनाओं का उल्लेख कीजिए।]

5 विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम एशियाई विकास संघ तथा एशियाई विकास बैंक की ऋण-व्यवस्था में मौलिक अन्तर स्पष्ट कीजिए।

[संकेत चारों संस्थाओं की ऋण प्रणाली तथा ऋण-व्यवस्था पहले अलग-अलग समझाइए और फिर उनमें तुलनात्मक रूप से अन्तर बताइए।]

6 टिप्पणियाँ लिखिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ, एशियाई विकास बैंक।

[संकेत प्रत्येक के उद्देश्य कार्य-प्रणाली, सदस्यता, संगठन एवं पूँजी तथा कार्यों में प्राप्त प्रगति का संक्षिप्त विवरण दीजिए।]

---

1 "The Asian Development Bank can be a major vehicle for the sustained and effective deployment of resources and the responsible approach that the Bank has taken in facing the problems of the region should surely establish its entitlement to some priority of access to the limited world resources available for development —*First Annual Report, Asian Development Bank*, 1968

षष्ठ खण्ड

भारतीय मुद्रा एवं बैंकिंग

[INDIAN CURRENCY AND BANKING]

25

भारतीय मुद्रा का इतिहास

[HISTORY OF INDIAN CURRENCY]

भारत मे मुद्रा का प्रयोग अति प्राचीन काल से होता आया है । हिन्दू काल मे स्वर्ण तथा चाँदी के सिक्को का प्रचलन था । मुगल शासको ने इनकी बनावट तथा निर्माण विधि मे कई सुधार किये और स्वर्ण तथा चाँदी के सिक्को के साथ-साथ ताँबे के कम मूल्य के सिक्को का भी निर्माण किया । मुगल साम्राज्य के कमजोर हो जाने पर देश कई छोटी-छोटी स्वतन्त्र इकाइयो मे विभाजित हो गया और इनमे से अधिकारा ने अपनी अलग-अलग मुद्राएँ जारी की । जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत मे आयी, देश मे विभिन्न वजन तथा शुद्धता के 994 प्रकार के सोने तथा चाँदी के सिक्के प्रचलित थे । इन मुद्राओं की अदला-बदली का आधार उनमे पायी जाने वाली धातु की मात्रा थी । एक निश्चित मुद्रा-मान के अभाव मे देश मे उद्योग एव वाणिज्य का सन्तुलित विकास सम्भव नही था । सन् 1835 तक भारत मे एक प्रकार का अव्यवस्थित द्विधातुमान प्रचलित था क्योंकि सोने तथा चाँदी के सिक्के एक साथ प्रचलन मे थे । इन सिक्को के बीच कोई निश्चित कानूनी अनुपात निर्धारित न होने के कारण व्यापार मे असुविधा होना स्वाभाविक ही था । देश की मुद्रा-प्रणाली को व्यवस्थित रूप देने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 1835 मे रजत-मान (Silver Standard) की स्थापना की । वास्तव मे, भारतीय मुद्रा का इतिहास यही से आरम्भ होता है ।

सन् 1835 से 1925 तक का इतिहास

रजत-मान—सन् 1835 के भारतीय टकन अधिनियम (The Indian Coinage Act, 1835) के अन्तर्गत देश मे रजत-मान (Silver Standard) की स्थापना की गयी । चाँदी के रुपये का वजन 180 ग्रेन था जिसमे 165 ग्रेन शुद्ध चाँदी थी । इस प्रकार रुपये की शुद्धता 11/12 थी । ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा शासित सम्पूर्ण क्षेत्र मे रुपया प्रमाणित सिक्का घोषित कर दिया गया और इसकी स्वतन्त्र एव अपरिमित ढलाई की गयी ।

सन् 1841 मे यह घोषणा की गयी कि सरकारी भुगतान सोने की मुहरा मे भी किये जा सकते थे । सोने की मुहर का मूल्य 15 रुपये निर्धारित किया गया । प्रारम्भ मे तो सोने का बाजार मूल्य उसके टकसाली मूल्य से अधिक था, परन्तु 1848 से 1851 के बीच आस्ट्रेलिया तथा कैलीफोर्निया मे सोने की खानें मिल जाने से सोने का बाजार-मूल्य गिरना प्रारम्भ हो गया । इन परिस्थितियों मे जनता द्वारा अधिकतर भुगतान स्वर्ण मुहरो मे किये जाने लगे । इसमे सरकार के पास बहुत अधिक सोना इकट्ठा होने लगा और सरकार को हानि होने लगी । परिणामस्वरूप, सरकार ने 25 दिसम्बर, 1852 की एक घोषणा के अनुसार सोने के सिक्के भुगतान मे स्वीकार करना बन्द कर दिया और इस प्रकार सोने का पूर्णतया विमुद्रीकरण (demonetisation) हो गया ।

सोने के सिक्को के विमुद्रीकरण के पश्चात मौद्रिक उपयोग के लिए चाँदी की माँग बढ गयी, परन्तु इसी बीच चाँदी का उत्पादन घट जाने से इसके बाजार-मूल्य मे

वृद्धि होने लगी। परिणामस्वरूप, लोगो ने रुपये को गलाकर धातु म परिवर्तित करना प्रारम्भ कर दिया। इन कारणो से देश मे मुद्रा के अभाव की स्थिति उत्पन्न हो गयी और व्यापार मे कठिनाइयाँ आने लगी। सन् 1864 मे सर चार्ल्स ट्रेवेलियन के सुझाव पर इगलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया के सावरेन भारत सरकार द्वारा 18 रुपय की दर से स्वीकार किये जाने लगे और सरकार भी इनक द्वारा अपने भुगतान करने लगी। परन्तु इससे कठिनाइया दूर नही हुई और देश मे स्वण मुद्रा मान अपनाने पर जोर दिया जाने लगा।

देश मे मुद्रा की कमी की समस्या पर विचार करने के लिए 1866 ई० मे **मैन्सफील्ड कमीशन** (Mansfield Commission) की नियुक्ति की गयी, जिमने 5, 10 और 15 रुपये की स्वण मुद्राएँ जारी करने की सिफारिश की। यह सुझाव भी दिया गया कि भारत की मुद्रा सोने चादी और कागज तीनो की होनी चाहिए। सरकार ने इस कमीशन की सिफारिशा को स्वीकार नही किया।

इसी बीच सन 1872 के बाद रजत मान का चलाने मे अनेक कठिनाइया उपस्थित हो गयी जिनका प्रमुख कारण चादी के मूल्य म गिरावट होना था। मेक्सिको तथा अन्य देशो मे चादी की नयी खान मिल जाने से चादी के उत्पादन मे वृद्धि हुई थी। जमनी, स्वीडन, नार्वे एव डेनमाक आदि देशो ने रजत मान का त्याग कर दिया था। 1873 मे लेटिन सघ के देशो ने फ्रास की देखी देखी चादी के सिक्को को चलन से निकाल दिया था। अमेरिका ने भी चाँदी की खरीद करना बन्द कर दिया। इन कारणो से चाँदी की पूर्ति मे वृद्धि हुई और इसके मूल्य म गिरावट आयी। परिणामस्वरूप भारत मे चादी का आयात बढ गया जिससे मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गयी। रुपये का आन्तरिक मूल्य गिरने के साथ साथ रुपये की विनिमय दर मे भी गिरावट आ गयी। 1871 मे एक रुपया लगभग 2 शिलिंग के बराबर था, जो 1875 मे 1 शिलिंग $9\frac{1}{2}$ पेंस 1883 म 1 शिलिंग $7\frac{1}{2}$ पेंस तथा 1892 म 1 शिलिंग 2 पस के बराबर रह गया। विनिमय दर गिर जाने के कारण सरकार को गृह व्यय (home charges) के भुगतान मे अब पहले से अधिक रुपये देना आवश्यक हो गया। भारत मे विदेशी पूंजी का आयात कम हो गया और विदेशी व्यापार म हानि हुई। इन परिस्थितियो मे भारत सरकार के लिए रजत मान बनाये रखना कठिन हो गया और देश म स्वण मान अपनाने की जोरदार माँग की जाने लगी।

उपयुक्त कठिनाइयो पर विचार करने तथा समस्या को सुलझाने के उद्देश्य मे भारत सरकार न 1892 मे **हरशैल समिति** (Herschell Committee) की नियुक्ति की। इस समिति ने सुझाव दिये कि चादी तथा सोने की स्वतन्त्र ढलाई बन्द कर दी जाय, रुपये की विनिमय दर 1 शिलिंग 4 पेंस रखी जाय (अर्थात 1 पौण्ड 15 रुपये के बराबर हो), तथा रुपया देश की असीमित कानूनी मुद्रा बना रहे। भविष्य म स्वण मान अपनाने का सुझाव दिया गया था। हरशैल समिति ने एक प्रकार से देश मे रजत मान के स्थान पर पगु-मान (Limping Standard) को स्थापित करने की योजना प्रस्तुत की थी जिसके अन्तगत चादी अथवा सोने के सिक्को का स्वतन्त्र टकण नही कराया जा सकता था, परन्तु चाँदी के रुपये को असीमित विधिग्राह्य (unlimited legal tender) माना गया था। अन्तरिम काल मे स्वर्ण अशत चलाथ के रूप मे प्रयोग किया जा सकता था और समिति ने यह सुझाव दिया कि सोने की मुद्रा सरकारी खजानो म 1 शिलिंग 4 पस की दर से स्वीकार की जाय।

सरकार ने हरशैल समिति की सिफारिशो को स्वीकार कर लिया और इस प्रकार 1893 मे भारत मे रजत मान का त्याग कर दिया गया। पुराने विधान म सुधार करने के लिए 1893 मे एक नया चलन अधिनियम बनाया गया। चादी का स्वतन्त्र टकण बन्द हो जाने से चादी की मुद्राओ की पूर्ति कम हो गयी जिससे रुपये की विनिमय दर बढकर 1898 म 1 शिलिंग 4 पेंस हो गयी। वास्तव म सन् 1893 के बाद के कुछ वष सक्रान्ति काल के (transitional) थे और इस काल मे अपनाये गये उपायो का उद्देश्य कुछ समय बाद देश मे स्वण मान अपनाने के लिए प्रयास करना था।

फाउलर समिति, 1898 (Fowler Committee, 1898)

भारत में स्वर्ण मान की स्थापना के लिए सरकार ने भारत सचिव को 8 मार्च, 1898 को सिफारिश की, जिस पर विचार करने के लिए अप्रैल 1898 में सर हेनरी फाउलर (Sir Henry Fowler) की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी। फाउलर समिति की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं

(1) भारत में ब्रिटिश सॉवरेन तथा अर्द्ध-सॉवरेन असीमित विधिग्राह्य मुद्रा मान लिये जायें और इनकी स्वतन्त्र ढलाई हो।

(2) सोने के सिक्कों के साथ-साथ चाँदी का रुपया असीमित विधिग्राह्य बना रहे, परन्तु इसका स्वतन्त्र टंकण न हो। इस प्रकार रुपया सहायक सिक्का बनकर देश में चले।

(3) विनिमय-दर को 1 शिलिंग 4 पेंस पर स्थायी बनाया जाय। इस दर पर सरकार सोने के बदले रुपये दे, परन्तु रुपये के बदले सोना देने के लिए बाध्य न हो।

(4) विदेशी व्यापार की स्थिरता के लिए भारत सरकार सोने का पर्याप्त कोष इकट्ठा करे ताकि व्यापार-सन्तुलन विपरीत होने की स्थिति में सरकार सोना देने के लिए तैयार हो।

(5) रुपये की ढलाई से जो लाभ प्राप्त हो उसे एक स्वर्ण-मान कोष में जमा किया जाय।

भारत सरकार ने फाउलर समिति के सुझावों को स्वीकार कर लिया। 1899 में भारतीय टंकण अधिनियम (Indian Coinage Act) पास किया गया जिसके अनुसार देश भर में सॉवरेन तथा अर्द्ध-सॉवरेन क्रमशः 15 रुपये और 7½ रुपये के बराबर घोषित कर दिये गये। सरकारी खजानों तथा डाकखानों आदि को आदेश दिया गया कि वे यथासम्भव जनता को सोने के सिक्कों में ही भुगतान दें।

व्यावहारिक रूप में सरकार को अपने प्रयासों में सफलता नहीं मिल सकी। सरकार द्वारा दिये गये सोने के सिक्के फिर से वापस आने लगे और रुपयों की माँग बढ़ने लगी, यहाँ तक कि सॉवरेन बाजार में चार आने बट्टे पर बिकने लगा। इसका कारण यह था कि देश में निरन्तर दो-तीन वर्ष तक अकाल की स्थिति रही और छोटे भुगतानों के लिए छोटे सिक्कों की अधिक आवश्यकता थी, जबकि सरकार ने चारों ओर से जनता पर सॉवरेनों की एकदम बौछार कर दी थी।

स्वर्ण-विनिमय मान—फाउलर समिति के सुझावों पर अमल करने में असफलता के कारण 1893 से लेकर 1907 के आर्थिक संकट के समय तक भारत सरकार ने कुछ ऐसे कार्य किये जिनके परिणामस्वरूप **स्वर्ण-मान के बजाय देश में स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard) की स्थापना हो गयी।** सरकार द्वारा किये गये इस प्रकार के प्रयत्न निम्नलिखित थे

(1) सन् 1900 में ही सरकार ने सोने के सिक्कों को चलाने के प्रयत्न कमजोर कर दिये और बहुत बड़े पैमाने पर चाँदी के सिक्कों का टंकण प्रारम्भ कर दिया था।

(2) भारत में स्वर्ण टकसाल स्थापित करने की जो सिफारिश फाउलर समिति ने दी थी, ब्रिटिश ट्रेजरी के विरोध के कारण रद्द कर देनी पड़ी।

(3) रुपये की ढलाई के लाभ से निर्मित स्वर्ण-कोष भारत में न रखकर इंगलैण्ड में रखा जाने लगा।

(4) भारत सरकार ने लन्दन में कागजी मुद्रा रक्षित कोष (paper currency reserve) तथा स्वर्ण-मान रक्षित कोष (gold standard reserve) स्थापित किये।

(5) सन् 1907 में स्वर्ण-कोष की एक शाखा भारत में भी स्थापित की गयी, जिसका उद्देश्य स्वर्ण के बदले में रुपया देना तथा विनिमय-दर को 16 पेंस पर स्थिर रखना था। इस प्रकार स्वर्ण-मान कोष की दो शाखाएँ हो गयीं—एक लन्दन में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में तथा दूसरी भारत में चाँदी के रुपयों के रूप में।

उपर्युक्त कार्यों के फलस्वरूप भारत में आकस्मिक रूप से बिना किसी पूर्व-योजना के स्वर्ण-विनिमय मान स्थापित हो गया। फाउलर समिति ने स्वर्ण विनिमय मान की स्थापना का कोई सुझाव नहीं दिया था। भारत स्वर्ण-मान अपनाना चाहता था, परन्तु परिस्थितियों के प्रभाव में उसे स्वर्ण-विनिमय मान ही स्वीकार करना पड़ा।

भारत में अपनाये गये स्वर्ण-विनिमय मान की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थी :

1 देश के भीतर सोने के सिक्के चलन में नहीं थे, बल्कि चाँदी के रुपये तथा नोट प्रचलित थे।

2. भारत सरकार स्वर्ण-मान कोष (gold standard reserve) तथा पत्र-चलन कोष (paper currency reserve) लन्दन में रखती थी। इनकी शाखाएँ भारत में भी रखी गयी थी।

3 भारतीय रुपये को इगलैण्ड के पौण्ड में सम्बन्धित कर दिया गया था। 1 शिलिंग 4 पेंस (अर्थात् 16 पेंस) की दर से इसे पौण्ड में बदला जा सकता था और पौण्ड निश्चित दर पर स्वर्ण में परिवर्तनीय था।

4 रुपये की विनिमय-दर स्थिर रखने के लिए काउन्सिल बिल्स (council bills) तथा रिवर्स काउन्सिल बिल्स (reverse council bills) खरीदे व बेचे जाते थे।

काउन्सिल बिल्स अथवा परिषद विपत्र एक प्रकार से रुपयों के ड्राफ्ट (rupee drafts) थे जिनमें भारत सचिव की ओर से भारत सरकार को आदेश होता था कि उन पर लिखी रुपयों की राशि बिल लाने वाले को दे दी जाय। इगलैंड के जिन व्यापारियों को भारत में रुपया भेजना होता था, वे काउन्सिल बिल खरीदते थे। इसके विपरीत, रिवर्स काउन्सिल बिल अथवा प्रति परिपद विपत्र में भारत सरकार भारत सचिव को यह आदेश देती थी कि वह बिल में लिखी स्टर्लिंग की राशि का भुगतान कर दे। ये बिल्स भारतीय बैंकों तथा व्यापारियों द्वारा इगलैंड में भुगतान करने के उद्देश्य से खरीदे जाते थे। इन बिलो की रकम इगलैण्ड में भारत के पत्र-चलन कोष में जमा हो जाती थी। लन्दन में भारत सचिव द्वारा काउन्सिल बिल्स 1 शि० $4\frac{1}{8}$ पे० की दर से बेचे जाते थे। इसके विपरीत, भारतीय व्यापारी भारत सरकार से रिवर्स काउन्सिल बिल्स 1 शि० 3 पे० की दर से खरीदते थे। इस प्रकार रुपये के पौण्ड मूल्य में परिवर्तन की सीमाएँ निर्धारित थी।

स्वर्ण-विनिमय मान के पक्ष में बहुधा यह कहा जाता है कि इससे भारत को अनेक लाभ प्राप्त हुए। इसके अपनाने से स्वर्ण मान के सभी लाभ प्राप्त हो गये, परन्तु सोने के सिक्के चलन में न रहने के कारण सोने के उपयोग में बहुत अधिक बचत हुई। काउन्सिल बिलो की व्यवस्था के द्वारा रुपये की विनिमय-दर को स्वर्ण के आयात-निर्यात के बिना स्थिर रखा जा सकता था। लन्दन में सुरक्षित कोष में रखा गया सोना भारत तथा ब्रिटेन दोनों देशों की मुद्राओं के सुरक्षित कोष का काम करता था। इन सब बातों के बावजूद, व्यावहारिक रूप में, स्वर्ण-विनिमय मान को एक दोषपूर्ण प्रणाली समझा गया और इसकी काफी आलोचना की गई। मुख्य आलोचनाएँ ये थी

(1) इससे विनिमय-दर में तो स्थिरता आ गयी परन्तु देश के अन्दर कीमत-स्तर में स्थिरता लाने में यह सफल नहीं हो सका। इससे व्यापार में अनिश्चितता उत्पन्न हो गयी तथा पूँजी के विकास में बाधा आने लगी।

(2) चूँकि यह प्रबन्धित मान (managed standard) था इसलिए सरकार को इसके सचालन के लिए निरन्तर हस्तक्षेप करना पड़ता था।

(3) केन्द्रीय बैंक के अभाव में सरकारी कर्मचारी ही इसका प्रबन्ध करते थे। बाजार तथा व्यापार की परिस्थितियों से उनका सम्पर्क न होने के कारण उनका प्रबन्ध त्रुटिपूर्ण था।

(4) कोषों में अनावश्यक दोहरापन था।

(5) विदेशी मुद्रा से सम्बन्धित होने के कारण इगलैंड की मौद्रिक दशाओं में होने वाले परिवर्तनों का भारत पर भी प्रभाव पड़ता था।

स्वर्ण-विनिमय मान के उपर्युक्त दोषों के कारण भारत में इसकी काफी आलोचना की गयी और देश में यह माँग की जाती रही कि स्वर्ण-मान की स्थापना की जाय। स्वर्ण-विनिमय मान के सचालन के सम्बन्ध में भारत सरकार तथा भारत सचिव के बीच मतभेद पैदा हो गये थे। भारतीय मुद्रा एवं विनिमय सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने के लिए अप्रैल 1913 में श्री चेम्बर-

लेन (Chamberlain) की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की गयी। चेम्बरलेन आयोग द्वारा 1914 में प्रस्तुत की गयी रिपोर्ट में ये सुझाव दिये गये

(1) भारत में स्वर्ण-विनिमय मान को चालू रखा जाय,

(2) स्वर्ण-मान कोष लन्दन में ही रखा जाना चाहिए,

(3) भारत में सोने के सिक्कों की ढलाई के लिए टकसाल स्थापित करने की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु जनमत को सन्तुष्ट करने के लिए देश में टकसाल की स्थापना की जा सकती थी,

(4) स्वर्ण-मान कोष की रजत-शाखा, जो भारत में थी, बन्द कर देनी चाहिए,

(5) देश की पत्र-मुद्रा प्रणाली को अधिक लोचदार बनाने के लिए नोटों का अरक्षित भाग (fiduciary issue) बढ़ा दिया जाय और नोटों का प्रयोग अधिक किया जाय।

(6) विनिमय दर की स्थिरता बनाये रखने के लिए सरकार को 1 शिलिंग $3\frac{29}{32}$ पेंस की दर से रिवर्स काउन्सिल बिल्स बेचने की गारण्टी देनी चाहिए।

चेम्बरलेन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट फरवरी 1914 में पेश की। इस पर विचार हो ही रहा था कि जुलाई 1914 में प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। युद्ध प्रारम्भ होते ही जनता में सरकार के प्रति एक व्यापक अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गयी। सेविंग बैंक खातों से रुपया निकाला जाने लगा तथा नोटों को स्वर्ण में परिवर्तित करने की माँग बढ़ गयी। 5 अगस्त, 1914 से सरकार ने आवश्यक व्यापारिक कार्यों के अतिरिक्त सोना देना बन्द कर दिया। इसके पश्चात नोटों के बदले चाँदी की माँग बढ़ गयी। बिगड़ी हुई स्थिति को सुधारने और जनता का विश्वास जमाने के लिए सरकार ने अनेक प्रयत्न किये। विनिमय-दर में गिरावट को रोकने के लिए जनवरी 1915 तक भारत सरकार द्वारा लगभग 87 लाख पौण्ड के रिवर्स काउन्सिल बिल्स बेचे गये। 1915 के अन्त तक स्थिति सुधरने लगी। व्यापार-सन्तुलन भारत के पक्ष में हो गया और रुपये की विनिमय-दर में वृद्धि होने लगी। रुपये की बढ़ती माँग की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा बड़ी मात्रा में चाँदी खरीदी गयी। चाँदी के भाव बढ़ने से रुपये का वास्तविक मूल्य उसके वैधानिक मूल्य से अधिक हो गया। ऐसी दशा में रुपये के सिक्के गलाये जाने लगे और मुद्रा की कमी हो गयी। चाँदी के बढ़ते हुए मूल्यों के कारण रुपये की विनिमय-दर को स्थिर रखना असम्भव हो गया। काउन्सिल बिल्स की बिक्री बन्द कर देनी पड़ी जिससे स्वर्ण विनिमय मान का आधार ही समाप्त हो गया। चाँदी के मूल्य में वृद्धि के साथ-साथ रुपये की विनिमय-दर में वृद्धि होती गयी, जो 1917 में 1 शि० $4\frac{1}{2}$ पें० से बढ़कर 1918 में 2 शि० 4 पे० हो गयी। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय मान बिना किसी औपचारिक घोषणा के टूट गया और सरकार इसकी रक्षा न कर सकी। यह प्रणाली साबुन के बुलबुले की भाँति समाप्त हो गयी।[1]

युद्ध-काल की विषम परिस्थितियों का सामना करने के लिए सरकार द्वारा बड़ी मात्रा में चाँदी खरीदी गयी, चाँदी तथा सोने के निर्यात पर रोक लगा दी गयी, सोने-चाँदी के सिक्के गलाना दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया, छोटे सिक्कों में गिलट का प्रयोग किया गया, 1 रुपये तथा $2\frac{1}{2}$ रुपये के नोट निकाले गये और नोटों को रुपये में बदलने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इन सब उपायों के बावजूद न तो स्वर्ण-विनिमय मान की रक्षा की जा सकी और न ही विनिमय-दर को स्थिर रखा जा सका। विनिमय दर बढ़ते-बढ़ते 1919 में 2 शि० 4 पे० तथा 1920 में 2 शि० 11 पे० तक पहुँच गयी।

बैबिंगटन स्मिथ समिति, 1919 (Babington Smith Committee, 1919)

मई 1919 में सर हेनरी बैबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी, जिसका कार्य भारतीय मुद्रा-प्रणाली की जाँच करना, विनिमय-दर की स्थिरता के लिए सुझाव देना तथा मौद्रिक व्यवस्था में परिवर्तन करने के बारे में सुझाव देना था। फरवरी 1920 में समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें ये मुख्य सुझाव दिये गये

---

1 "But now that the standard (gold exchange) broke down, the enchantment was at an end, the mirage evaporated, the soap bubble burst and the chariot of Cinderella relapsed into its original pumpkins and mice —J M. Keynes . *Indian Currency and Finance*, p 29

(1) रुपये का विनिमय मूल्य 2 शिलिंग निर्धारित किया जाय, अर्थात् रुपये और सॉवरेन मे 10 : 1 का अनुपात हो।

(2) रुपया और सॉवरेन दोनो ही असीमित विधिग्राह्य हो, परन्तु सॉवरेन के बदले मे रुपये के सिक्के देने के लिए सरकार का कोई दायित्व न हो।

(3) स्वर्ण-मान कोष का अधिकाश भाग सोने मे रहे तथा शेष सरकारी प्रतिभूतियो के रूप म। कोष की कम से कम आधी रकम भारत मे रखी जाय।

(4) पत्र मुद्रा कोष का सोना-चांदी भारत मे ही रखा जाय। नोट-निर्गमन में लोच उत्पन्न करने के लिए आनुपातिक कोष प्रणाली (proportional reserve system) अपनायी जाय और नोटो के पीछे 40 प्रतिशत स्वर्ण कोष अवश्य रखा जाय। अरक्षित मुद्रा (fiduciary currency) का निर्गमन 120 करोड रुपये तक ही रखा जाय और यह केवल एक निश्चित अवधि के लिए हो।

(5) सोने के छोटे सिक्के ढालने के लिए बम्बई म एक टकसाल स्थापित की जाय।

(6) स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो। चांदी का आयात बढाया जाय परन्तु निर्यात पर रोक लगा दी जाय।

(7) रुपये की विनिमय-दर स्टर्लिंग के बजाय सोने में व्यक्त की जाय।

(8) आवश्यकता पडने पर काउन्सिल बिल्स तथा रिवर्स काउन्सिल बिल्स असीमित मात्रा बेचे जायें।

बैबिंगटन स्मिथ कमेटी के एक भारतीय सदस्य श्री डी० एम० दलाल ने अपनी असहमति प्रकट करते हुए रुपये की विनिमय-दर 2 शिलिंग के बजाय 1 शि० 4 पें० रखने का सुझाव दिया था। परन्तु बहुमत की सिफारिशो को स्वीकार करते हुए सरकार ने रुपये की विनिमय-दर 2 शि० पर निश्चित कर दी जो काफी ऊँची थी। इस ऊँची विनिमय-दर का देश के व्यापार पर हानिकारक प्रभाव पडा। देश के आयात बढ गये और उनके भुगतान के लिए रिवर्स कौंसिल बिल्स की मॉग बढी। 1920 मे विदेशी व्यापार भारत के विपक्ष में होने लगा। स्टर्लिंग की मांग बढने के कारण रुपये का बाजार मूल्य गिरने लगा। रुपये के मूल्य को गिरने से बचाने के लिए बडी मात्रा मे रिवर्स काउन्सिल बिल्स बेचे गये जिनका भुगतान करने के लिए पत्र-चलन कोष में से स्वर्ण प्रतिभूतियों तथा सरकारी हुण्डियो का विक्रय करना पडा। 15 रुपये के भाव से खरीदी गयी यह हुण्डियां 7 से लेकर 10 रुपये तक बेची गयी जिससे भारत सरकार को 35 करोड रुपये की हानि हुई। मुद्रा सकुचन की नीति का भी प्रयोग किया गया, परन्तु विनिमय-दर का गिरना बन्द न हुआ।

सरकार 2 शिलिंग की विनिमय-दर बनाये रखने मे सफल न हो सकी। रुपये की विनिमय-दर जून 1920 मे 1 शि० 5 पें० से गिरकर मार्च 1921 मे 1 शि० $2\frac{7}{8}$ पे० ही रह गयी। जिन व्यापारियो ने आयात के ऑर्डर पहले से दे रखे थे, वे बरबाद हो गये। विनिमय-दर बढाने के सभी प्रयत्न असफल हो जाने पर 1922 मे सरकार ने काउन्सिल बिल्स बेचना बन्द कर दिया और विनिमय-दर को परिस्थितियों पर छोड दिया गया। सन् 1922 के बाद की भारत सरकार की मुद्रा नीति को 'बेजोड अकर्मण्यता' (masterly inactivity) की नीति कहा गया है। इससे व्यापार को भारी धक्का पहुँचा और सरकार को भी बहुत हानि उठानी पडी थी। यह सब बैबिंगटन स्मिथ समिति की सिफारिशो को कार्यान्वित करने मे जल्दबाजी का परिणाम था।

सन् 1923 से आर्थिक दशाओं मे कुछ सुधार होने लगा और विनिमय-दर धीरे-धीरे बढने लगी। 1925 मे जब विनिमय दर 1 शि० 6 पे० पर आकर रुक गयी तो सरकार ने इसे इस स्तर पर स्थिर रखने का निश्चय किया। वास्तव मे, 1922 से 1925 तक का समय सक्रमण काल था क्योंकि युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था मे बदल रही थी। ऐसे समय मे किसी भी मुद्रा-नीति की सफलता सन्देहपूर्ण रहना स्वाभाविक था। 1925 से ससार की आर्थिक स्थिति मे स्थिरता आने लगी। इगलैण्ड ने स्वर्ण-मान को फिर से अपना लिया, जिससे स्टर्लिंग व

स्वर्ण के मूल्य समान हो गये। भारत सरकार ने यह अनुभव किया कि देश की मुद्रा-प्रणाली को नये रूप से संगठित करने का यह अच्छा अवसर था और इसके लिए अनेक प्रयत्न किये गये।

सन् 1925 से 1939 तक का इतिहास

हिल्टन यंग कमीशन (Hilton Young Commission, 1925)

25 अगस्त, 1925 को भारत सरकार ने लेफ्टिनेण्ट कर्नल हिल्टन यंग की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की जिसके कुल 11 सदस्य थे जिनमें से 4 भारतीय थे। इस कमीशन को मुख्य रूप से तीन बातों से सम्बन्धित सुझाव देने थे (1) देश के लिए एक उपयुक्त मुद्रा-प्रणाली के बारे में, (2) विनिमय-दर की स्थिरता के सम्बन्ध में, तथा (3) देश में केन्द्रीय बैंक स्थापित करने के विषय में।

हिल्टन यंग कमीशन ने अपनी रिपोर्ट जुलाई 1926 में पेश की। इसकी सिफारिशों का देश की मुद्रा, विनिमय तथा बैंकिंग व्यवस्था के विकास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। कमीशन के मुख्य सुझाव ये थे (1) देश में स्वर्ण धातु मान (gold bullion standard) अपनाया जाय, (2) रुपये की विनिमय-दर 1 शिलिंग 6 पेंस रखी जाय, तथा (3) देश में एक केन्द्रीय बैंक—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया—की स्थापना की जाय।

स्वर्ण धातु मान का सुझाव—स्वर्ण-मान के विविध रूपों की उपयुक्तता पर विचार करते हुए कमीशन ने भारत के लिए स्वर्ण-धातु मान को ही उपयुक्त समझा और स्वर्ण-विनिमय मान, स्वर्ण-मुद्रा मान तथा स्टर्लिंग-विनिमय मान का विरोध किया।

हिल्टन यंग कमीशन ने स्वर्ण-विनिमय मान के निम्नलिखित दोष बताये (1) यह एक जटिल प्रणाली है जिसे साधारण जनता ठीक से समझ नहीं पाती है। (2) इसमें स्वचालन का अभाव रहता है। (3) इसमें पर्याप्त लोच का भी अभाव रहता है क्योंकि मुद्रा के प्रसार अथवा सकुचन के लिए काउन्सिल तथा रिवर्स काउन्सिल बिलों की सहायता लेनी पड़ती है। (4) इस प्रणाली में स्वर्ण की बचत के स्थान पर उसका अपव्यय होता है, क्योंकि एक बड़ी मात्रा में सोना कोष में रखना पड़ता है। (5) देश की मुद्रा विदेशी मुद्रा से जुड़ी होने के कारण यह एक पराधीन मुद्रा प्रणाली है। इंगलैण्ड में होने वाले मौद्रिक परिवर्तनों का प्रभाव भारत पर भी पड़ता था। (6) यह प्रणाली रुपये के मूल्य में स्थिरता बनाये रखने में असफल रही थी। (7) इस प्रणाली के अनुसार दो प्रकार के कोष—स्वर्ण कोष तथा पत्र-मुद्रा कोष—भारत तथा इंगलैण्ड दोनों देशों में रखने की व्यवस्था को भी दोषपूर्ण कहा गया।

कमीशन ने भारत में स्वर्ण-मुद्रा मान स्थापित करने का भी विरोध किया, क्योंकि (1) इसे चलाने के लिए भारत के पास स्वर्ण की पर्याप्त मात्रा नहीं थी और न ही भारत बड़ी मात्रा में सोना खरीद सकता था, (2) सोने को खरीदने के लिए सरकार को बड़ी मात्रा में चाँदी बेचनी पड़ेगी, इससे सोना महँगा होने तथा चाँदी का मूल्य कम हो जाने की सम्भावना होगी, (3) भारत जैसे गरीब देश के लिए यह एक महँगी मुद्रा-प्रणाली होगी, (4) इसके अपनाने से मुद्रा-प्रणाली में लोच कम हो जायगी, तथा (5) संसार के अधिकांश देशों में यह प्रणाली असफल रही थी और इसे छोड़ दिया गया था।

स्टर्लिंग-विनिमय मान के सम्बन्ध में कमीशन का विचार था कि इसमें स्वर्ण विनिमय मान के सब दोष पाये जाते हैं तथा इंगलैण्ड पर निर्भरता बढ़ जाती है।

अतएव हिल्टन यंग कमीशन ने भारत के लिए स्वर्ण-धातु मान की सिफारिश की थी, जिसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं

(1) सोने के सिक्के तथा सॉवरेन का देश में चलन नहीं होगा। चाँदी के सिक्के तथा कागज के नोट चलन में रहेंगे।

(2) यद्यपि स्वर्ण वास्तविक रूप में मुद्रा की भाँति नहीं चलेगा, परन्तु रुपया स्वर्ण से सम्बन्धित रहेगा। नोटों के बदले एक निश्चित दर पर सोने की छड़ें (gold bars) किसी भी कार्य के लिए मिल सकेंगी।

(3) मुद्रा-सचालक असीमित मात्रा मे शुद्ध सोना एक निश्चित दर पर खरीदेगा तथा बेचेगा।

(4) रिजर्व बैंक द्वारा निकाले गये नोटो पर सरकार की गारण्टी होगी। 1 रुपये के नोट स्वय सरकार जारी करेगी जो पूर्णतया वैधानिक ग्राह्य होते हुए भी रुपये के सिक्कों मे नही बदले जा सकेंगे।

(5) स्वर्ण कोष तथा पत्र-मुद्रा कोष मिलाकर एक कर दिये जायेंगे। इस सम्मिलित कोष मे स्वर्ण तथा स्वर्ण प्रतिभूतियाँ 40% से कम न होगी और शेष 60 प्रतिशत भाग सरकारी प्रतिभूतियो अथवा व्यापारिक बिलो के रूप में होगा।

स्वर्ण-धातु मान अपनाने के हिल्टन यग कमीशन ने कई लाभ बताये थे, जैसे—(1) इस मान को स्वर्ण मुद्रा मान के सभी लाभ प्राप्त होंगे, (2) यह एक सरल प्रणाली होने के कारण जनता का विश्वास प्राप्त कर सकेगी, (3) जनता में बैंकिंग तथा विनियोग की आदत बढेगी, (4) स्वर्ण का प्रयोग केवल कोष के रूप मे होने के कारण यह प्रणाली अधिक अपव्ययी अथवा खर्चीली न होगी, (5) चलन के विस्तार और सकुचन मे स्वचालकता का गुण आ जायगा, (6) इससे स्वर्ण कोषो में वृद्धि होगी और विनिमय-दर को स्थिर रखा जा सकेगा, (7) इस प्रणाली को इगलैण्ड में भी अपनाया गया था, तथा (8) यह प्रणाली स्वर्ण मुद्रा मान अपनाने की दिशा में पहला कदम होगा।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने, जो इस कमीशन के सदस्य थे, स्वर्ण-धातु मान का विरोध किया था और देश मे स्वर्ण-मुद्रा मान की स्थापना का सुझाव दिया था। भारत सरकार ने कमीशन की स्वर्ण-धातु मान की सिफारिश को स्वीकार कर लिया और 1927 के करैंसी एक्ट द्वारा इस प्रणाली की स्थापना कर दी। सॉवरेन का मुद्रा के रूप में चलन बन्द कर दिया गया। सरकार ने घोषणा की कि वह बम्बई की टकसाल म 21 रुपये 3 आने 10 पाई प्रति तोला के हिसाब से स्वर्ण छडो के रूप में सोने को खरीदेगी तथा बेचेगी, परन्तु ऐसी खरीद 400 औंस या 1065 तोले से कम नही हो सकेगी। छडो के रूप म सोना लन्दन में भी दिया जायगा। रुपये तथा नोट के बदले सोना या स्टर्लिंग देने की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार, कुछ लोगो के विरोध के बावजूद भारत मे स्वर्ण-धातु मान स्थापित कर दिया गया।

विनिमय दर सम्बन्धी सुझाव—हिल्टन यग कमीशन ने बहुमत से यह सुझाव दिया था कि रुपये की विनिमय दर 1 शि॰ 6 पें॰ रखी जाय। परन्तु सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने अपनी असहमति रिपोर्ट में 1 शि॰ 4 पें॰ विनिमय दर रखने के पक्ष मे जोरदार तर्क प्रस्तुत किये थे। इस प्रकार रिपोर्ट प्रकाशित होते ही विनिमय दर के सम्बन्ध में गम्भीर विवाद उठ खडा हुआ था।

विनिमय-दर 1 शिलिंग 6 पेंस रखने के पक्ष मे निम्नलिखित मुख्य तर्क दिये गये थे

(1) 1 शि॰ 6 पें॰ (अथवा 18 पेंस) की विनिमय-दर एक स्वाभाविक दर थी, क्योंकि यह दर भारत तथा अन्य देशों की आर्थिक दशाओं के समायोजन (adjustment) पर आधारित थी और पिछले दो वर्षो से यह दर स्थिर रही थी।

(2) काफी समय से यह दर भारत में चालू रहने के कारण देश की कीमतो, मजदूरी, उत्पादन-व्यय आदि से इस दर का समायोजन हो चुका था।

(3) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो के बजट इसी दर के आधार पर बनाये गये थे।

(4) 16 पेंस की दर कृत्रिम दर होगी जिसे बनाये रखने के लिए मुद्रा-प्रसार करना होगा और कीमत-स्तर म $12\frac{1}{2}$ प्रतिशत की वृद्धि होने की सम्भावना होगी।

(5) 16 पेंस की दर पहले भी सफल नही हुई थी और अब भी केवल विनिमय दर कम रखने से सोने का आयात नही रोका जा सकेगा।

(6) 16 पेंस की दर रखने पर चाँदी का भाव 43 पेंस प्रति औंस होगा जिससे लोग चाँदी के रुपये गलाने लगेंगे। विनिमय-दर 18 पेंस रखे जाने पर चाँदी का भाव 48 पेंस प्रति औंस होगा और रुपये के सिक्के गलाने का भय नही रहेगा।

(7) कमीशन का विचार था कि व्यापार सन्तुलन बनाये रखने के लिए 18 पेंस की दर अधिक उचित होगी।

(8) 18 पेंस की दर अपनाने पर भारत सरकार द्वारा इंग्लैण्ड को दिये जाने वाले गृह-खर्चों (home charges) का भार भी कम होगा।

(9) 18 पेंस की दर ऋणदाताओं तथा ऋणियों के प्रति अधिक न्यायपूर्ण होगी क्योंकि ऋण तथा व्यापार के अल्पकालीन प्रसंविदे (contracts) इसी दर पर किये गये हैं।

उपर्युक्त तर्कों के विरोध में सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने 18 पेंस की दर के विपक्ष में तथा 16 पेंस (1 शि० 4 पे०) की दर के पक्ष में निम्नलिखित प्रमुख तर्क प्रस्तुत किये

(1) सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने 18 पेंस की दर को प्राकृतिक दर नहीं माना और यह अस्वीकार किया कि इस दर पर भारत के मूल्यों का अन्य देशों के मूल्यों के साथ कोई स्थायी समायोजन हो गया था।

(2) 18 पेंस की दर स्वीकार कर लेने पर भारत के आयात बढ़ेंगे और निर्यात हतोत्साहित होंगे, जिसके परिणामस्वरूप भारत को सोने का भारी निर्यात करना होगा।

(3) मजदूरी का 18 पेंस की दर पर समायोजन स्वीकार नहीं किया गया। मजदूरी का समायोजन इस दर पर न होने तक भारतीय उद्योगों को मजदूरी पर अधिक खर्च करना पड़ेगा, उनकी उत्पादन-लागत अधिक होगी। भारतीय उद्योगों की प्रतिस्पर्धा शक्ति कम हो जायगी तथा विदेशी उद्योगों को अप्रत्यक्ष लाभ होगा।

(4) अन्य किसी भी देश ने अपनी विनिमय-दर को नहीं बढ़ाया था, इसलिए यह उचित नहीं था कि रुपये की विनिमय-दर को प्रथम महायुद्ध से पहले की दर से ऊँचा किया जाय।

(5) 16 पेंस की विनिमय-दर पुरानी और वास्तविक दर थी। केवल युद्धकाल की परिस्थितियों के कारण इसमें गड़बड़ी पैदा हुई थी। युद्धोत्तर काल में पुरानी विनिमय-दर को ही अपनाना ठीक होगा।

(6) 18 पेंस की दर से किसानों के ऋण में प्राय 12½ प्रतिशत की वृद्धि होगी, इसलिए इसका किसानों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। 16 पेंस की दर से भारत के असंख्य किसानों को लाभ होगा।

(7) प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन की दशा में 16 पेंस की दर ही उचित होगी क्योंकि इसमें स्वर्ण कोष पर कम बोझ पड़ेगा।

(8) 16 पेंस की विनिमय-दर का देश के कुछ ही व्यक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा परन्तु 18 पेंस का बहुत बड़े वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। 16 पेंस की दर अपनाने से निर्यात बढ़ेंगे, उद्योग व कृषि की उन्नति होगी और अधिक लोगों को रोजगार दिया जा सकेगा।

सरकार ने बहुमत की सिफारिश को स्वीकार करते हुए 1927 में चलन अधिनियम (Currency Act) पास करके 1 शि० 6 पेंस की विनिमय-दर को अपनाने का निश्चय किया। इस निर्णय का औचित्य इस बात से सिद्ध हो जाता है कि 1927 में निश्चित की गयी 18 पेंस की विनिमय-दर 5 जून, 1966 तक बनी रही।

केन्द्रीय बैंक की स्थापना सम्बन्धी सुझाव—हिल्टन यंग कमीशन की तीसरी महत्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि देश की मुद्रा एवं बैंकिंग व्यवस्था में समन्वय स्थापित करने तथा मुद्रा के नियन्त्रण के लिए देश में 'रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया' के नाम से केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय। उस समय की व्यवस्था, जिसमें मुद्रा-नियन्त्रण का कार्य सरकार करती थी और साख-नियन्त्रण का कार्य इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया, कमीशन ने दोषपूर्ण बतायी। दोहरे प्रबन्ध के कारण मुद्रा एवं साख-नीति में सहयोग तथा समन्वय का अभाव था और विनिमय-दर को स्थिर करने के प्रयत्न में सफलता नहीं मिलती थी। मुद्रा, साख तथा विनिमय-दर पर एक साथ नियन्त्रण रखने के लिए ही हिल्टन यंग कमीशन ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना का प्रस्ताव दिया था।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने रिजर्व बैंक की स्थापना सम्बन्धी सुझाव का भी विरोध

किया था और इम्पीरियल बैंक को ही देश का केन्द्रीय बैंक बना देने की सलाह दी थी। इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्यों को अवश्य करता था, किन्तु यह एक व्यापारिक बैंक था और कमीशन का बहुमत इसे केन्द्रीय बैंक मे परिवर्तित करने के पक्ष मे नही था। कमीशन ने अलग से रिजर्व बैंक की स्थापना एक गैर-सरकारी संस्था के रूप मे करने का सुझाव दिया। सरकार ने कमीशन के इस सुझाव को मान लिया, परन्तु विभिन्न कारणों से 1934-35 के पूर्व रिजर्व बैंक की स्थापना न की जा सकी।

हिल्टन यंग कमीशन के सुझावो का भारतीय मुद्रा प्रणाली पर प्रभाव—सरकार ने हिल्टन यंग कमीशन के सभी सुझाव स्वीकार कर लिये थे, परन्तु व्यावहारिक रूप मे यह कहना कठिन है कि भविष्य मे भारतीय मुद्रा प्रणाली का विकास पूर्णतया हिल्टन यंग कमीशन के सुझावो के अनुसार हुआ। कमीशन ने स्वर्ण-धातु मान का सुझाव रुपये का स्वर्ण के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से दिया था। परन्तु व्यवहार मे सरकार ने रुपये का सम्बन्ध सोने के अतिरिक्त स्टर्लिंग से भी रखा। इस प्रकार भारत मे स्थापित मुद्रा-मान स्वर्ण धातु मान तथा स्टर्लिंग-विनिमय मान का मिला-जुला रूप (Gold Bullion-cum Sterling Exchange Standard) था। स्टर्लिंग के मूल्य मे परिवर्तनो का रुपये के मूल्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। रुपये को स्टर्लिंग अथवा स्वर्ण मे बदलना सरकार की इच्छा पर निर्भर था। व्यवहार मे रुपया स्टर्लिंग मे ही परिवर्तनीय था और स्टर्लिंग स्वर्ण पर आधारित होने के कारण रुपया परोक्ष रूप से स्वर्ण मे परिवर्तनशील था। 1931 मे ब्रिटेन द्वारा स्वर्ण मान का परित्याग कर देने पर भारत मे स्टर्लिंग-विनिमय मान प्रत्यक्ष रूप मे अपना लिया गया। इस प्रकार नाममात्र का स्वर्ण-धातु मान भी 4 ही वर्ष बाद समाप्त कर देना पड़ा।

18 पेंस की विनिमय-दर, जिसे सरकार ने कमीशन के सुझाव पर अपनाया, रुपये की स्वाभाविक दर नही कही जा सकती, क्योंकि इसने देश मे गम्भीर वाद-विवाद को जन्म दिया और केवल सरकार के सहारे यह दर टिक सकी।

कमीशन के रिजर्व बैंक की स्थापना सम्बन्धी सुझाव को अवश्य सफलता मिली, परन्तु इस सुझाव को भी 1935 मे ही कार्यान्वित किया जा सका।

यह बात अवश्य सत्य है कि हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशो तथा उनसे सम्बन्धित विवादो ने भारतीय मुद्रा के इतिहास को काफी विषय-सामग्री प्रदान की है, परन्तु यह कहना कठिन है कि भारतीय मुद्रा प्रणाली का विकास कमीशन के वास्तविक उद्देश्यों के अनुसार ही हुआ।

भारत मे स्टर्लिंग-विनिमय मान (Sterling Exchange Standard, 1931-1947)

सितम्बर 1931 मे इंगलैण्ड द्वारा स्वर्ण मान का परित्याग कर देने पर 24 सितम्बर, 1931 से भारत ने स्वर्ण-धातु मान को छोड़कर स्टर्लिंग-विनिमय मान को अपना लिया। 1927 के करेंसी अधिनियम को रद्द करके सरकार ने विदेशी व्यापार के कार्यों के लिए नोटों व रुपयों को 1 शि० 6 पेंस की दर पर स्टर्लिंग मे बदलने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली।

स्टर्लिंग-विनिमय मान के पक्ष मे कहा गया कि रुपये का स्टर्लिंग से प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो जाने के कारण विनिमय-दर मे अधिक घटा-बढ़ी नही हो पायेगी, जिससे भारतीय व्यापार को लाभ होगा। साथ मे, भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार स्टर्लिंग मे होता था और भारत को प्रति वर्ष गृह-खर्चों के रूप मे इंगलैण्ड को एक बड़ी रकम चुकानी होती थी, इसलिए रुपये को स्टर्लिंग के साथ जोड़ना अधिक लाभप्रद था। इसके विपरीत, स्टर्लिंग-विनिमय मान के विपक्षियो का कहना था कि इससे राजनीतिक दासता के साथ-साथ भारत का आर्थिक भाग्य भी इंगलैण्ड के साथ बँध जायगा। स्वर्ण-मान छोड़ देने के कारण स्टर्लिंग का स्वर्ण-मान वाले देशो की तुलना मे 30 प्रतिशत अवमूल्यन हो गया था, इसलिए आलोचको का कहना था कि स्वर्ण-मान वाले देशो से आयात करने पर हमे अधिक मूल्य चुकाना पड़ेगा। रुपये का स्वर्ण मे मूल्य कम हो जाने के कारण स्वर्ण का भारत से निर्यात होने लगेगा, और बाद मे हुआ भी ऐसा ही।

स्वर्ण एवं रजत का निर्यात—सन् 1931 मे स्टर्लिंग का सोने मे मूल्य गिर गया, अर्थात्

स्वर्ण का मूल्य बढ गया। रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से जोड देने पर भारत मे भी स्वर्ण का मूल्य बढ गया। 1931 के मध्य मे सोने का भाव 21 रुपये 13 आने 3 पाई प्रति तोला था जो उस वर्ष के अन्त तक 29 रुपये 2 आने हो गया। एक ओर सोने के भाव बढे, दूसरी ओर सन् 1931 के आर्थिक सकट तथा मन्दी के कारण कृषि-पदार्थों के मूल्य बहुत गिर गये। इन परिस्थितियों मे किसानों ने स्वर्ण के रूप मे अपना सचित धन बेचना शुरू किया। इगलैण्ड मे स्वर्ण का मूल्य विशेष रूप से बढ गया था। अत लाभ कमाने के उद्देश्य से भारतीय व्यापारी बडी मात्रा मे इगलैण्ड को स्वर्ण निर्यात करने लगे। 1935 मे सोने का भाव 35 रु० प्रति तोला हो गया और लोग धडाधड सोना बेचने लगे। अनुमान लगाया जाता है कि 1931 से 1940 तक के नौ वर्षों मे भारत मे कुल 362 45 करोड रुपये के मूल्य का सोना दूसरे देशो को निर्यात किया गया था।

स्वर्ण के निर्यात के साथ-साथ चाँदी भी बाहर जाने लगी। इसके मुख्य कारण ये थे कि विदेशो मे चाँदी का मूल्य अधिक था और सरकार ने नोटो को चाँदी म बदलना बन्द कर दिया था जिससे रजत कोष की आवश्यकता कम हो गयी थी। 1931 से 1934 तक लगभग 2 करोड औंस चाँदी का निर्यात किया गया। 1935 मे अमेरिका द्वारा बहुत अधिक मात्रा मे चाँदी खरीदने के कारण चाँदी के भाव ऊँचे हो गये और निर्यात को प्रोत्साहन मिला। इन परिस्थितियो मे चीन ने रजत-मान छोड दिया और अमेरिका ने भी चाँदी खरीदना बन्द कर दिया। 1936 मे चाँदी के भाव गिर गये, परन्तु भारत सरकार समय-समय पर चाँदी बेचती ही रही।

सन् 1931 के पश्चात जबकि भारत का व्यापार-सन्तुलन मुख्यत प्रतिकूल था, स्वर्ण तथा चाँदी के निर्यात की सहायता मे सरकार 1 शि० 6 पें० की विनिमय-दर को बनाये रख सकी। साथ म, बडी मात्रा मे स्टर्लिंग खरीदकर भारतीय मुद्रा के सुरक्षित कोष मे पर्याप्त वृद्धि की जा सकी। स्वर्ण-निर्यात की सहायता से भारत अपने स्टर्लिंग के दायित्वो का भुगतान कर सका। लोगो के पास सचित स्वर्ण लाभदायक क्षेत्रो मे विनियोजित हुआ, जिससे आर्थिक प्रगति मे सहायता मिली। परन्तु भारतीय जनमत स्वर्ण-निर्यात के पक्ष मे नही था, क्योकि इससे भारत अपनी युगो की सचित कमाई खो रहा था और भविष्य मे स्वर्ण-मान स्थापित करने की सम्भावनाएँ समाप्त हो रही थी। स्वर्ण जैसी मूल्यवान वस्तु बेचकर जनता उपभोग की वस्तुएँ खरीद रही थी। स्वर्ण को खोकर भारत अन्तर्राष्ट्रीय साख का आधार ही खो रहा था। लोगो का कहना था कि स्वर्ण-निर्यात के बजाय सोना सरकार तथा रिजर्व बैंक द्वारा खरीदा जाय। यदि सरकार चाहती तो सोने को बाहर जाने से रोक सकती थी, परन्तु विदेशी सरकार की लापरवाही के कारण भारतीय जनता की युगो की कमाई कुछ ही वर्षों मे देश के बाहर चली गयी। ऐसे समय म जबकि ससार का प्रत्येक देश स्वर्ण-सचय मे लगा हुआ था, भारत का सोना लुट रहा था।

इस समय की एक विशेष घटना रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना थी। 6 अगस्त, 1934 को भारतीय विधान सभा द्वारा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पास हुआ जिसके अनुसार 1 अप्रैल, 1935 को रिजर्व बैंक की स्थापना हुई। देश के सम्पूर्ण चलन तथा साख के नियन्त्रण का एकाधिकार रिजर्व बैंक को दिया गया तथा 1 शि० 6 पे० की विनिमय-दर को स्थायी रखने का दायित्व भी इसे ही दिया गया।

द्वितीय युद्धकालीन इतिहास

द्वितीय महायुद्ध की घोषणा 3 सितम्बर, 1939 को की गयी। रुपये का स्वतन्त्र अस्तित्व न होने के कारण भारत की मुद्रा प्रणाली पर युद्ध के अति गम्भीर प्रभाव पडे। उनमे से कुछ की सक्षिप्त विवेचना निम्न प्रकार है

(1) मुद्रा-पूर्ति की समस्या—युद्ध प्रारम्भ होते ही जनता मे घबराहट फैल गयी और लोग नोटो को चाँदी के सिक्को मे बदलने की माँग करने लगे। माँग इतनी बढ गयी कि जून से अगस्त 1940 तक के तीन महीनो मे सरकार को 22 करोड रुपये के नोटो के बदले चाँदी के सिक्के देने पडे। सरकार के लिए इतनी तेजी से सिक्के ढालना सम्भव नही था। इसके अतिरिक्त जनता द्वारा नोटो के बदले प्राप्त किये गये रुपये चलन से निकलकर भूमिगत (hoarding) हो रहे थे और उन्हे

गलाया भी जा रहा था। परिणामस्वरूप देश में मुद्रा की कमी हो गयी, जबकि उत्पादन तथा व्यवसाय में वृद्धि के कारण मुद्रा की माँग काफी बढ़ गयी। मुद्रा की कमी की समस्या को हल करने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाये गये

1 15 जून, 1940 से रुपये के नियन्त्रित वितरण की योजना प्रारम्भ की गयी, जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति अपनी व्यावसायिक आवश्यकताओं से अधिक अपने पास सिक्के नहीं रख सकता था। इससे रुपयों की माँग तो कम हो गयी परन्तु नोट बट्टे पर मिलने लगे और देश में रेजगारी की कमी आ गयी।

2 रुपयों की कमी को दूर करने के लिए सरकार ने 25 जून, 1940 से एक रुपये के नोट तथा फरवरी 1943 से दो रुपये के नोट छापना प्रारम्भ किया। एक रुपये का नोट असीमित ग्राह्य होते हुए भी सिक्कों में परिवर्तनीय नहीं था।

3 रेजगारी की कमी को दूर करने के लिए रेजगारी गलाना तथा संग्रह करना अपराध घोषित कर दिया गया और साथ ही अधिक मात्रा में नये तथा सस्ते छोटे सिक्के ढाले जाने लगे। 1944 म सरकार प्रति मास 21 करोड 60 लाख रुपय की रेजगारी का मुद्रण करती थी।

4 1940 में भारतीय टकण एक्ट (Indian Coinage Act) में सशोधन करके रुपये, अठन्नी तथा चवन्नी के सिक्कों की शुद्धता $\frac{11}{12}$ से घटाकर $\frac{1}{2}$ कर दी गयी, ताकि उपलब्ध चाँदी से अधिक सिक्के ढाले जा सके। 1940 में महारानी विक्टोरिया की छाप वाले रुपये तथा अठन्नियाँ, 1941 में एडवर्ड सप्तम की छाप वाले रुपये और अठन्नियाँ तथा 1943 से जार्ज पचम तथा षष्ठ की छाप वाले रुपये तथा अठन्नियाँ जिनम चाँदी की मात्रा $\frac{11}{12}$ थी, प्रचलन से निकाले लिये गये। इनके स्थान पर 30 दिसम्बर, 1943 से नवीन किटकिटीदार रुपये चलाये गये जिनमे केवल नाम-मात्र की चाँदी थी। इस प्रकार युद्धकाल में भारतीय रुपये का सम्पूर्ण निकृष्टीकरण करके उसे साकेतिक मुद्रा मात्र रहने दिया गया।

(2) **मुद्रा-स्फीति की समस्या**—युद्धकाल में बढ़े हुए खर्चों की पूर्ति के लिए तथा सामग्री खरीदने के लिए सरकार को अधिक रकम की आवश्यकता थी, अतएव सरकार ने अधिक मात्रा में नोट छापना शुरू कर दिया। 1939 में नोटों की मात्रा 196 64 करोड रुपये थी जो 1945 में बढ़कर 1147 14 करोड रुपये हो गयी। मुद्रा-प्रसार के कारण साख का भी काफी फैलाव हुआ। उत्पादन में वृद्धि इतनी पर्याप्त नहीं थी कि मुद्रा-स्फीति को प्रभावहीन बनाया जा सके। परिणाम-स्वरूप थोक कीमतों के सूचक अक (1939=100) 349 तक पहुँच गये।

मुद्रा-स्फीति की स्थिति का सामना करने के लिए कन्ट्रोल तथा राशनिंग की व्यवस्था लागू की गयी, विभिन्न प्रकार की बचत योजनाएँ लागू की गयी, करों तथा रेल, डाक, तार आदि के शुल्कों में वृद्धि की गयी और कर्मचारियों को महँगाई भत्ते दिये गये।

(3) **विनिमय-नियन्त्रण**—युद्ध आरम्भ होते ही सन् 1939 में भारत रक्षा नियमों (Defence of India Rules) के अन्तर्गत विनिमय नियन्त्रण के अधिकार रिजर्व बैंक को सौंप दिये गये। रिजर्व बैंक में एक अलग से विनिमय-नियन्त्रण विभाग खोला गया। विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य करने का अधिकार कुछ बैंकों तथा व्यक्तियों को दिया गया और इसके लिए उन्हें रिजर्व बैंक द्वारा लाइसेन्स दिये गये। विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण लगाये गये तथा विदेशी विनिमय के भुगतान के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति लेना आवश्यक कर दिया गया। सोने के आयात-निर्यात के लिए लाइसेन्स प्रथा आरम्भ की गयी। विनिमय नियन्त्रण के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के सब देशों को 'स्टर्लिंग क्षेत्र' मान लिया गया था। सरकार की नीति यह थी कि स्टर्लिंग क्षेत्र की मुद्राओं का क्रय-विक्रय स्वतन्त्रतापूर्वक किया जा सकता था, परन्तु स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर की मुद्राओं के क्रय विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। सरकार का मुख्य उद्देश्य विनिमय-दर को 1 शि० 6 पे० पर बनाये रखना था और इसमें सफलता भी मिली।

(4) **साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool)**—युद्धकाल में डालर एक दुर्लभ मुद्रा (hard currency) हो गयी थी, क्योंकि युद्ध सम्बन्धी सभी प्रकार का सामान केवल अमेरिका ही

दे सकता था। डालर की बढती हुई माँग को पूरा करने के उद्देश्य से ब्रिटिश साम्राज्य के देशो ने मिलकर 1939 मे साम्राज्य डालर कोष की स्थापना की जिसमे वे सभी प्रकार से अर्जित डालर जमा कर देते थे। इस कोष का सचालन बैंक ऑफ इगलैण्ड तथा ब्रिटिश ट्रेजरी द्वारा होता था। प्रत्येक सदस्य देश को आवश्यकतानुसार इस कोष से डालर मिल सकते थे, किन्तु सभी देशो ने यह नैतिक बन्धन स्वीकार कर लिया था कि वे अत्यन्त आवश्यक कार्यों के लिए ही डालर की माँग करेंगे। युद्धकाल मे भारत का अमेरिका के साथ भुगतान-सन्तुलन अनुकूल था, इसलिए डालर कोष मे भारत के 114 करोड रुपये के बराबर डालर जमा रहे। आलोचको का कहना है कि साम्राज्य डालर कोष के साधनो का उपयोग अधिकाशत ब्रिटेन के हित मे ही किया गया था और भारत को इस कोष म से उसका उचित हिस्सा नही मिल सका। 1947 म भारत इस कोष से अलग हो गया और उसे अपने डालर उपार्जनो के व्यय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिल गयी।

(5) पौण्ड पावने (Sterling Balances)—युद्धकाल मे इगलैण्ड ने भारत से बहुत बडी मात्रा मे माल खरीदा था। इस सामान का भुगतान भारत मे व्यापारियो को तो भारतीय मुद्रा के प्रसार द्वारा तत्काल कर दिया गया था, परन्तु भारत सरकार को इगलैण्ड से केवल स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ प्राप्त हुई जिनके आधार पर नये नोटो का निर्गमन किया जाता रहा। युद्ध के पूर्व भारत को इगलैण्ड का लगभग 36 करोड पौण्ड का ऋण देना था, किन्तु युद्धकाल मे न केवल यह ऋण चुकता हो गया बल्कि भारत 1662 करोड रुपये का लेनदार हो गया। भारत की इगलैण्ड से यह लेनदारी 'पौण्ड पावना' कहलाती है। पौण्ड पावनो की रकम की प्रगति निम्न तालिका से स्पष्ट है

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	रकम	वर्ष	रकम
1939	64	1944	755
1940	91	1945	1182
1941	169	1946	1549
1942	211	1947	1662
1943	394		

पौण्ड पावनो की इतनी बडी राशि जमा होने के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे

(1) युद्धकाल मे इगलैण्ड ने भारत से बहुत बडी मात्रा मे माल खरीदा जिसका भुगतान स्टर्लिंग प्रतिभूतियो के रूप मे किया गया।

(2) मित्र-राष्ट्रो ने भी भारत से भारी मात्रा मे माल खरीदा जिसका भुगतान स्टर्लिंग मे लन्दन म जमा कर दिया गया। इससे भी पौण्ड पावनो मे वृद्धि हुई।

(3) युद्धकाल के छ वर्षों मे भारत ने लगभग 1738 करोड रुपये का रक्षा व्यय (defence expenditure) किया था जबकि युद्ध से पूर्व रक्षा व्यय केवल 50 करोड रुपये वार्षिक था। 1939 के एक समझौते के अनुसार भारत सरकार द्वारा एक निश्चित सीमा से अधिक किया गया रक्षा-व्यय उसे इगलैण्ड से प्राप्त करना था। यह रकम भी स्टर्लिंग प्रतिभूतियो के रूप मे जमा की गयी जिससे पौण्ड पावनो मे वृद्धि हुई।

(4) साम्राज्य डालर कोष मे भारत द्वारा अमेरिका तथा कुछ अन्य दुर्लभ मुद्रा वाले देशो से अर्जित विदेशी मुद्रा जमा की जाती रही। भारत म रखी गयी अमेरिकी सेना पर भारत द्वारा किये गये व्यय के बदले मे प्राप्त डालर भी इसी कोष मे जमा किये गये। इन जमाओ के बदले इगलैण्ड मे भारत के खाते मे स्टर्लिंग जमा कर दिये गये।

(5) सोना तथा चाँदी बेचने का जो क्रम 1932 म आरम्भ हुआ था वह युद्ध के आरम्भ होने के कुछ समय बाद तक चलता रहा। उसकी बिक्री की रकम भी इगलैण्ड मे स्टर्लिंग म जमा हो गयी।

युद्धकाल म भारत के पौण्ड पावने की तीव्र गति से वृद्धि ने भारत म पत्र मुद्रा की मात्रा के विस्तार मे महत्वपूर्ण योग दिया। रिजर्व बैंक स्टर्लिंग प्रतिभूतियो के आधार पर नोट जारी

करता था जिसके फलस्वरूप जैसे-जैसे पौण्ड पावने की राशि बढ़ती गयी, रिजर्व बैंक द्वारा निर्गमित नोटों की मात्रा भी बढ़ती गयी। यह कहना कि युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार का एकमात्र कारण पौण्ड पावनों का संग्रह ही था, अधिक युक्तिसंगत नहीं है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पौण्ड पावने का संग्रह युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार का एक महत्वपूर्ण कारण था।

पौण्ड पावनों के भुगतान की समस्या

युद्ध समाप्त होने पर भारत ने पौण्ड पावनों के भुगतान का प्रश्न उठाया। इंगलैण्ड में इस प्रश्न को लेकर एक व्यापक आन्दोलन आरम्भ हो गया कि भारत के पौण्ड पावनों को या तो रद्द कर दिया जाय अथवा इनकी मात्रा कम की जाय। इंगलैण्ड की ओर से दिये गये प्रमुख तर्क निम्नलिखित थे

(1) इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री सर विन्सटन चर्चिल का यह तर्क था कि इंगलैण्ड ने युद्ध केवल अपने लिए नहीं लड़ा है, इसमें भारत की भी जापान से सुरक्षा हुई है। अतएव युद्ध-व्यय का भार भारत पर भी पड़ना चाहिए।

(2) दूसरा तर्क यह रखा गया था कि पौण्ड पावने कोई व्यापारिक ऋण नहीं थे। यह तो युद्ध ऋण थे और जिस तरह अमेरिका ने अपने युद्ध-ऋणों को माफ कर दिया था उसी तरह भारत भी उन्हें स्वेच्छा से माफ कर दे।

(3) पौण्ड पावनों को कम करने के पक्ष में यह कहा गया कि युद्धकाल में रुपये की विनिमय-दर ऊँची रखी गयी थी और भारत ने इंगलैण्ड को बेचे गये माल की ऊँची कीमतें लगायी थीं, अतः पौण्ड पावनों की राशि में आनुपातिक कमी की जानी चाहिए।

(4) इंगलैण्ड की ओर से यह कहा गया कि युद्ध के कारण इंगलैण्ड की अर्थ व्यवस्था इतनी कमजोर हो चुकी थी कि इतना बड़ा ऋण चुकाना उसकी शक्ति के बाहर था, अतएव इसमें भारी कमी होनी चाहिए।

उपर्युक्त तर्कों के विरोध में भारत की ओर से निम्नलिखित उत्तर दिये गये

(1) यह कहना गलत था कि भारत पर युद्ध का भार कम पड़ा। युद्धकाल में भारत को बहुत अधिक रक्षा-व्यय करना पड़ा था।

(2) स्टर्लिंग ऋण ब्रिटेन ने भारत पर जबरन थोपा था, भारत स्वेच्छा से ऋण नहीं देना चाहता था। इसलिए इनका भुगतान अवश्य करना चाहिए।

(3) श्री मनु सूबेदार ने केन्द्रीय विधान सभा में 1 मार्च, 1946 को कहा था कि यह सत्य है कि पौण्ड पावने व्यापारिक ऋण नहीं हैं, परन्तु यह ऋण राजनीतिक शक्ति के आधार पर भारत से नियन्त्रित कीमतों पर उस माल के रूप में लिये गये हैं जिनकी स्वयं इस देश के लोगों को बड़ी आवश्यकता थी। इस ऋण की अदायगी न करना न केवल अन्यायपूर्ण होगा, बल्कि अनैतिक भी।

(4) भारत की अमेरिका से तुलना करना गलत है क्योंकि दोनों की आर्थिक स्थिति में बहुत अन्तर है। भारत द्वारा इंगलैण्ड को दिया गया ऋण भारतीय जनता के महान् त्याग एवं कष्ट का परिणाम था। जनता ने नंगे, भूखे व कष्ट में रहकर इंगलैण्ड को माल भेजा था।

(5) भारत सरकार ने माल एकाधिकारी के रूप में नियन्त्रित कीमतों पर खरीदा था, इसलिए कीमतों के अधिक होने का प्रश्न नहीं उठता।

(6) भारत की आर्थिक स्थिति इतनी अधिक खराब थी कि अपने आर्थिक विकास के लिए इसे दूसरे देशों की सहायता की आवश्यकता थी। भारत किसी भी प्रकार से पौण्ड पावने छोड़ सकने की स्थिति में नहीं था।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के समय भारतीय प्रतिनिधि ने पौण्ड पावने का प्रश्न सम्मेलन के सामने रखा था। सम्मेलन ने तो इस प्रश्न पर विचार नहीं किया, परन्तु ब्रिटेन के प्रतिनिधि लॉर्ड केन्ज ने यह आश्वासन दिया कि इंगलैण्ड ईमानदारी से पौण्ड पावनों के ऋण को चुकायेगा।

पौण्ड पावने के भुगतान सम्बन्धी समझौते

सन् 1947 में इगलैण्ड की लेबर सरकार ने भारत के पौण्ड पावने सम्बन्धी दावे को स्वीकार कर लिया। इनके भुगतान के लिए भारत तथा इगलैण्ड के बीच समय-समय पर निम्नलिखित समझौते हुए :

(1) **जनवरी 1947 का समझौता**—पौण्ड पावनों के भुगतान सम्बन्धी यह पहला समझौता था जिसके अन्तर्गत भारत को पौण्ड पावनो की राशि से स्टर्लिंग क्षेत्र से माल खरीदने का अधिकार दिया गया और स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर से माल आयात करने के लिए भारत को कुछ सीमित मात्रा मे स्टर्लिंग को डालर मे परिवर्तित करने की छूट दे दी गयी। यह समझौता अधिक समय तक नही चला, किन्तु इसके फलस्वरूप पौण्ड पावनो के भुगतान सम्बन्धी सभी शकाओं का अन्त हो गया।

(2) **अगस्त 1947 का समझौता**—इस समझौते के अनुसार पौण्ड पावनो की कुल राशि 112 5 करोड पौण्ड अथवा 1634 करोड रुपये आँकी गयी, जिसे बैंक ऑफ इगलैण्ड के पास दो खातो मे बाँट दिया गया। खाता न० 1 चालू खाता (Current Account) रखा गया और इसमे 86 5 करोड रुपये डाले गये जिनका प्रयोग किसी भी देश से किसी प्रकार का माल खरीदने मे किया जा सकता था। खाता न० 2 अवरुद्ध खाता (Blocked Account) रखा गया जिसमे डाली गयी 1466 6 करोड रुपये की राशि का प्रयोग केवल पूँजीगत माल खरीदने के लिए किया जा सकता था।

इस समझौते की अवधि 31 दिसम्बर, 1947 तक ही थी परन्तु इसे छः माह के लिए और बढा दिया गया। 24 करोड रुपये के स्टर्लिंग खाता न० 2 मे से खाता न० 1 मे हस्तान्तरित कर दिये गये। इस काल मे भारत के सामने आर्थिक विकास की कोई निश्चित योजना न होने तथा आयातो की कमी के कारण केवल 4 करोड रुपये (3 मिलियन पौण्ड) के स्टर्लिंग का उपयोग किया गया।

(3) **जुलाई 1948 का समझौता**—पुराना समझौता 30 जून, 1948 को समाप्त हो जाने पर यह समझौता किया गया। इस समझौते के समय भारत का कुल पौण्ड पावना 1550 करोड रुपये आँका गया, जिसमे से 133 करोड रुपये ब्रिटेन द्वारा भारत मे छोडे गये फौजी सामान के, 224 करोड रुपये भारत से रिटायर होकर इगलैण्ड मे बसने वाले अग्रेजो की पेन्शन के तथा 126 करोड रुपये पाकिस्तान का भाग काट लिये गये। इस प्रकार मे बचे 1067 करोड रुपये के पौण्ड पावनो मे से भारत को 30 जून, 1951 तक के तीन वर्षों मे 214 करोड रुपये के पौण्ड पावनो का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करने का अधिकार दिया गया। इस राशि मे से प्रति वर्ष अधिक से अधिक 20 करोड रुपये की रकम दुर्लभ मुद्रा अथवा डालर म बदली जा सकती थी। इस समझौते मे भारतीय व्यापारी तथा अर्थशास्त्री सन्तुष्ट नही हुए क्योकि इसमे भारत को बहुत कम राशि के प्रयोग की छूट दी गयी थी, अत इस समझौते की अवधि समाप्त होने के पूर्व ही जुलाई 1949 मे एक नया समझौता किया गया।

(4) **जुलाई 1949 का समझौता**—सन् 1948 के समझौते मे 1949 के लिए पूँजीगत माल खरीदने के लिए कोई राशि निर्धारित नही की गयी थी। जुलाई 1949 मे किये गये समझौते के अनुसार भारत को 1949 मे 8 1 करोड पौण्ड के मूल्य का पूँजीगत माल पौण्ड पावनो की राशि मे से खरीदने का अधिकार मिल गया। 1950 तथा 1951 मे पूँजीगत माल के आयात के लिए पहले भारत को 8 करोड पौण्ड का अधिकार दिया गया था जो अब बढाकर 10 करोड पौण्ड कर दिया गया। इस प्रकार, 1949 से 1951 तक 18 1 करोड पौण्ड पूँजीगत माल के आयात के लिए तथा 16 करोड पौण्ड खुली खरीद के लिए भारत द्वारा पौण्ड पावनो मे से व्यय किये जा सकते थे। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन ने उन आयातों के लिए भी स्टर्लिंग देने की घोषणा की जिनके लिए खरीद के ऑर्डर इस समझौते से पहले ही भेजे जा चुके थे। इस समझौते के अनुसार भारत को पौण्ड पावनो मे से 15 करोड डालर देना भी तय किया गया था। परन्तु

सितम्बर 1949 में स्टर्लिंग के अवमूल्यन के फलस्वरूप डालरों में बदलवाये जाने वाले पौण्ड पावनों का मूल्य 30·5 प्रतिशत कम हो गया। 1949 के समझौते की अवधि समाप्त होने से पूर्व ही इसके द्वारा अधिकृत राशि का उपयोग कर लिया गया था।

(5) जुलाई 1951 का समझौता—पूर्व समझौते की अवधि समाप्त होने पर जुलाई 1951 में एक नया समझौता किया गया जिसके अनुसार 31 करोड़ पौण्ड की राशि खाता न० 2 में से खाता न० 1 को हस्तान्तरित कर दी गयी। यह राशि रिजर्व बैंक द्वारा चलन निधि (currency reserve) के रूप में रखी जानी थी।

(6) फरवरी 1952 का समझौता—इस समझौते के अनुसार जुलाई 1951 का समझौता 30 जून, 1957 तक बढ़ा दिया गया। इस समय भारत के पौण्ड पावनों की रकम लगभग 57 करोड़ पौण्ड (761 करोड़ रुपये) आंकी गयी। प्रति वर्ष 3 5 करोड़ पौण्ड की रकम खाता न० 2 से खाता न० 1 में स्थानान्तरित करने की व्यवस्था की गयी। यह भी निश्चय किया गया कि 1 जुलाई, 1957 को खाता न० 2 में जो भी राशि होगी उसे खाता न० 1 में स्वत. ही हस्तान्तरित कर दिया जायगा और इसका प्रयोग भारत सरकार स्वेच्छापूर्वक कर सकेगी।

सन् 1951 तथा 1952 के समझौतों को मिलाकर 20 जुलाई, 1953 को एक औपचारिक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। 30 जून, 1957 को खाता न० 2 में बचे हुए पौण्ड पावने खाता न० 1 में हस्तान्तरित कर दिये गये। इसके बाद पौण्ड पावने के भुगतान सम्बन्धी कोई नया समझौता करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी।

पौण्ड पावनों का उपयोग

सन् 1951 के पूर्व पौण्ड पावनों के उपयोग की गति धीमी रही। प्रथम पंचवर्षीय योजना में 290 करोड़ रुपये के पौण्ड पावनों को उपयोग में लाने का विचार था परन्तु वास्तव में केवल 120 करोड़ रुपये के पौण्ड पावनों का उपयोग किया जा सका। दूसरी योजना में 200 करोड़ रुपये के पौण्ड पावने खर्च करने का विचार था, परन्तु योजना के पहले ही वर्ष में 219 करोड़ रुपये के पौण्ड पावनों को उपयोग में लाना पड़ा। 1955-56 में भारत के पौण्ड पावनों की राशि 748 करोड़ रुपये थी। दूसरी योजना काल में इनका इतनी बड़ी मात्रा में उपयोग किया गया कि तीसरी योजना के आरम्भ में यह राशि केवल 136 करोड़ रुपये रह गयी। तीसरी योजना की अवधि में भी पौण्ड पावने की राशि बराबर घटती गयी और 1965 में यह केवल 73 करोड़ रुपये रह गयी। वास्तव में, स्टर्लिंग पावने का अब केवल ऐतिहासिक महत्व रह गया है।

भारत सरकार ने जिस प्रकार पौण्ड पावनों का उपयोग किया है, उसकी देश में बहुत आलोचनाएँ हुई हैं। भारतीय जनता द्वारा वर्षों के त्याग एवं बलिदान से कमाये गये पौण्ड पावनों को सरकार ने बहुत कम समय में खर्च कर दिया। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि इनमें से एक बहुत बड़ी राशि अनुत्पादक तथा अनावश्यक कार्यों पर खर्च कर दी गयी। उपभोग की वस्तुओं के आयात के अतिरिक्त युद्ध की पुरानी सामग्री खरीदने तथा पेन्शन आदि के भुगतान के लिए इनका अधिक उपयोग किया गया। इन पर हमें केवल 0 78% की दर से ब्याज दी गयी। यह सब आलोचनाएँ ठीक होते हुए भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि पौण्ड पावनों के उपयोग से भारत अपने पुराने ऋणों को चुका सका, आर्थिक विकास के लिए आवश्यक सामग्री तथा साज-सामान खरीदने और जनता को भूख से बचाने के लिए भी इनका उपयोग किया गया। यह अवश्य कहा जा सकता है कि पौण्ड पावनों का और अच्छी तरह से उपयोग किया जा सकता था, जिससे देश के औद्योगिक विकास में अधिक सहायता मिल सकती थी।

भारतीय पत्र-मुद्रा

सन् 1861 के पत्र-मुद्रा अधिनियम (Paper Currency Act) के अनुसार भारत में नोट-निर्गमन का करेंसी सिद्धान्त (currency principle of note issue) अपनाया गया था और निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली (fixed fiduciary method) के आधार पर सरकार नोट छापती थी। सन् 1926 में हिल्टन यंग कमीशन ने देश की पत्र-मुद्रा प्रणाली के सम्बन्ध में कई सुझाव

दिये । कमीशन के प्रमुख सुझाव ये थे : (1) देश मे एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय जिसे नोट जारी करने का एकाधिकार हो, (2) एक रुपये के अपरिवर्तनीय नोट जारी किये जायँ, (3) नोट रुपयों के बजाय 400 औंस के स्वर्ण पिण्ड (gold bullion) में परिवर्तनीय हो, (4) स्वर्ण-मान कोष (gold standard reserve) तथा पत्र-चलन कोष (paper currency reserve) का एकीकरण किया जाय, तथा (5) आनुपातिक कोष प्रणाली (proportional reserve system) के आधार पर नोट जारी किये जायँ जिसके लिए 40 प्रतिशत धातु-कोष रखा जाय ।

आनुपातिक कोष प्रणाली

सरकार ने हिल्टन यग कमीशन के आनुपातिक कोष प्रणाली सम्बन्धी सुझाव को स्वीकार कर लिया था, परन्तु इस पर अमल सन् 1935 मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के बाद ही किया जा सका । सन् 1935 से 1956 तक रिजर्व बैंक इसी प्रणाली के अन्तर्गत नोट जारी करता रहा । रिजर्व बैंक द्वारा जारी किये गये नोटो के पीछे पत्र-चलन कोष रखना आवश्यक था, जिसका 40 प्रतिशत भाग स्वर्ण, स्वर्ण के सिक्को तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियो में होना अनिवार्य था । 1948 के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य देशो की मुद्राओं को भी इस कोष मे रखने का अधिकार रिजर्व बैंक को दे दिया गया । एक प्रतिबन्ध यह लगाया गया कि इस कोष में कम से कम 40 करोड रुपये के मूल्य का (21 रुपये 3 आने 10 पाई प्रति तोला की कीमत पर) स्वर्ण अवश्य रखा जाय । कोष का शेष 60 प्रतिशत भाग रुपये के सिक्के, सरकारी प्रतिभूतियों, स्वीकृत विनिमय बिलो तथा प्रतिज्ञा-पत्रो मे रखना पडता था । स्वर्ण एव विदेशी प्रतिभूतियो का अनुपात कभी भी 40 प्रतिशत से कम हो जाने पर रिजर्व बैंक के लिए सरकार की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था ।

भारत मे अपनायी गयी आनुपातिक कोष प्रणाली के प्रमुख गुण ये थे

(1) 40 प्रतिशत कोष रखने की आवश्यकता के कारण अनियन्त्रित मात्रा में नोट नही छापे जा सकते थे, परन्तु स्वीकृत विनिमय बिलो तथा विदेशी प्रतिभूतियो के आधार पर नोट जारी करने की व्यवस्था ने इस पद्धति को लोचपूर्ण बना दिया था । अतएव इस प्रणाली मे नियन्त्रित लोच होना इसका सबसे बडा गुण था ।

(2) विशेष परिस्थितियो मे कोष सम्बन्धी छूट मिल सकने की व्यवस्था ने इस प्रणाली को सकटकालीन परिस्थितियो का सामना करने के लिए अधिक उपयुक्त बना दिया था ।

(3) स्वर्ण-मान कोष तथा पत्र-चलन कोष को मिला देने से काफी मितव्ययता हो गयी थी । स्वर्ण जैसी मूल्यवान धातु को एक सीमित मात्रा में ही कोष मे रखना इस प्रणाली का एक महत्त्व-पूर्ण गुण था ।

(4) कोष में विदेशी प्रतिभूतियो को रखने की व्यवस्था से न केवल इस प्रणाली में लोच उत्पन्न हुई, बल्कि इससे विनिमय-नियन्त्रण का समुचित नियमन भी सम्भव हो सका ।

आनुपातिक कोष प्रणाली मे अनेक गुण होते हुए भी यह विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओ को पूरा करने मे असमर्थ थी । इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित थे

(1) अल्पकालीन प्रतिभूतियो को बढाकर नोटो की सख्या मे वृद्धि करने से मुद्रा प्रसार का भय रहता था ।

(2) इस प्रणाली मे रुपये की विदेशी विनिमय-दर मे स्थिरता बनाये रखने पर अधिक ध्यान दिया जाता था और आन्तरिक कीमत-स्थिरता की उपेक्षा की जाती थी ।

(3) यह एक प्रबन्धित प्रणाली थी जिसके सचालन के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक था । इसमे पर्याप्त मात्रा मे लोच का अभाव था ।

(4) देश की मौद्रिक आवश्यकताओ तथा मुद्रा की मात्रा मे समायोजन सम्भव न होने के कारण यह प्रणाली विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओ को पूर्ण करने मे असमर्थ थी ।

देश मे पचवर्षीय योजनाओ को पूरा करने के लिए मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करना आवश्यक

हो गया था जबकि विदेशी मुद्रा के कोष में कमी होने लगी। इन परिस्थितियों में आनुपातिक कोष प्रणाली का परित्याग करना आवश्यक हो गया।

नोट-निर्गमन की वर्तमान प्रणाली—न्यूनतम कोष प्रणाली

सन् 1956 में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन करके पुरानी आनुपातिक कोष प्रणाली के स्थान पर न्यूनतम कोष प्रणाली अपनायी गयी। इसके अनुसार रिजर्व बैंक को अपने पास कुल 115 करोड़ रुपये के मूल्य का सोना और 400 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ रखना आवश्यक कर दिया गया। इसके पूर्व रिजर्व बैंक के पास केवल 40 21 करोड़ रुपये का सोना था जो 21 रुपये 13 आने 10 पाई प्रति तोला की दर से मूल्यांकित था। परन्तु नई व्यवस्था में सोने का मूल्य 62 रु० 50 न० पै० प्रति तोला की दर से आंका जाना था।

सन् 1956 के अन्त में ही भारत के सामने विदेशी विनिमय संकट उपस्थित हो गया जिससे विदेशी प्रतिभूति कोष की व्यवस्था में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। 31 अक्टूबर, 1957 को एक अध्यादेश जारी कर [जो बाद में Reserve Bank of India (Second Amendment) Act, 1957 हो गया] रिजर्व बैंक के न्यूनतम कोष की मात्रा घटाकर 200 करोड़ रुपये कर दी गयी, जिसमें 115 करोड़ रुपये का सोना (62 50 रुपये प्रति तोला की दर में) होना आवश्यक था।[1] इस प्रकार, विदेशी प्रतिभूतियों के कोष की न्यूनतम सीमा 95 करोड़ रुपये ही रह गयी। केन्द्रीय सरकार की पूर्व-अनुमति से रिजर्व बैंक इस कोष की मात्रा में और भी कमी कर सकता है।

भारत की वर्तमान नोट-निर्गमन प्रणाली में निम्नलिखित गुण हैं .

(1) यह एक लोचपूर्ण व्यवस्था है। आर्थिक नियोजन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा हीनार्थ-प्रबन्धन (deficit financing) इसी प्रणाली के कारण सम्भव हुआ है।

(2) यह एक मितव्ययी प्रणाली है। न्यूनतम कोष की व्यवस्था कर लेने पर बिना कोष की मात्रा बढ़ाये कितनी ही मात्रा में पत्र-मुद्रा सहज ही जारी की जा सकती है।

(3) संकटकालीन स्थिति में कोष की मात्रा को और भी कम किया जा सकता है, इसलिए यह अधिक उपयुक्त है।

(4) रिजर्व बैंक के पास न्यूनतम कोष रहने के कारण इस प्रणाली में थोड़ी बहुत परिवर्तनशीलता भी पायी जाती है जिससे जनता का इसमें विश्वास बना रहता है।

(5) भारतीय रुपये का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण विदेशी विनिमय-दर में स्थिरता बनाये रखना सरल हो गया है।

न्यूनतम कोष प्रणाली में कुछ दोष भी बताये जाते हैं, जो इस प्रकार है

(1) इस प्रणाली में मुद्रा-प्रसार के विरुद्ध कोई रोक न होने के कारण अनावश्यक मुद्रा-प्रसार करना सम्भव हो गया है जिससे रुपये के आन्तरिक मूल्य में निरन्तर कमी हुई है।

(2) यह एक प्रबन्धित मुद्रा प्रणाली है जिसमें मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन सरकारी हस्तक्षेप द्वारा होते है, न कि अर्थ-व्यवस्था की मौलिक आवश्यकतानुसार। दूसरे शब्दों में, इसमें स्वचालकता का अभाव है। नोटों की निकासी करना सरल होता है परन्तु चलन से अतिरेक मुद्रा को वापस निकाल पाना कठिन होता है।

(3) प्रबन्धित तथा कृत्रिम प्रणाली होने के कारण यह एक जटिल प्रणाली है।

(4) रिजर्व बैंक द्वारा निर्गमित नोट रुपयों में परिवर्तनीय हैं, परन्तु रुपये के सिक्के का आन्तरिक मूल्य नगण्य होने के कारण परिवर्तनशीलता की गारण्टी अर्थहीन है। नोट स्वर्ण अथवा चाँदी में बदलने की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक नहीं लेता है।

वास्तविकता यह है कि रुपये की विनिमय दर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा नियन्त्रित

---

1 31 जनवरी, 1969 तक स्वर्ण-कोष का मूल्यांकन 53 58 रुपये प्रति 10 ग्राम की दर से किया जाता था, परन्तु इसके बाद 84 39 रुपये प्रति 10 ग्राम की दर से किया जाने लगा है।

होती है। रुपये के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि रिजर्व बैंक की मुद्रा-प्रसार की नीति विवेकपूर्ण हो। तनिक-सी असावधानी बहुत बड़ी कठिनाई उत्पन्न कर सकती है। नोट-निर्गमन की वर्तमान प्रणाली की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि सरकार तथा रिजर्व बैंक को जनता का कितना विश्वास प्राप्त है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. **प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत में स्वर्ण-विनिमय मान के कार्यवाहन का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।**

   [संकेत : भारत में स्वर्ण-विनिमय मान की स्थापना, इसकी विशेषताओं तथा पतन के कारणों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। यह स्पष्ट कीजिए कि फाउलर कमेटी ने स्वर्ण-मुद्रा मान की सिफारिश की थी, परन्तु कुछ परिस्थितियों के कारण स्वर्ण विनिमय मान स्थापित हो गया। स्वर्ण विनिमय की विशेषताएँ तथा इसकी कार्य-प्रणाली समझाइए। अन्त में इसकी त्रुटियों की व्याख्या कीजिए जिनके फलस्वरूप यह प्रणाली समाप्त हो गयी।]

2. **हिल्टन यंग कमीशन की मुख्य सिफारिशों का विवेचन करिए और बताइए कि उनका भारतीय मुद्रा-प्रणाली पर क्या प्रभाव पड़ा।**

   [संकेत प्रथम भाग में हिल्टन यंग कमीशन द्वारा दी गयी सिफारिशों की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में यह बताइए कि वैसे तो कमीशन की सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली गयी थीं, परन्तु यह कहना कठिन है कि भारतीय मुद्रा प्रणाली का विकास कमीशन के वास्तविक उद्देश्यों के अनुसार ही हुआ। 1931 में स्टर्लिंग-विनिमय मान अपनाया गया जो कमीशन की सिफारिशों के विरुद्ध था।]

3. **हिल्टन यंग कमीशन द्वारा दी गयी सिफारिशों के औचित्य पर प्रकाश डालिए। इनका कुछ क्षेत्रों में विरोध क्यों किया गया?**

   [संकेत प्रथम भाग में हिल्टन यंग कमीशन द्वारा अपनी सिफारिशों के पक्ष में दिये गये तर्क समझाइए। दूसरे भाग में इन सुझावों के विपक्ष में, विशेषतया सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास द्वारा दिये गये तर्कों की विवेचना कीजिए।]

4. **सन् 1931 में रुपये को स्टर्लिंग से क्यों सम्बन्धित किया गया था? उसके परिणाम क्या हुए थे?**

   [संकेत प्रथम भाग में स्टर्लिंग-विनिमय मान की स्थापना के पक्ष में दिये गये तर्क स्पष्ट कीजिए और यह बताइए कि किन परिस्थितियों में इस प्रणाली की स्थापना हुई। दूसरे भाग में भारत से सोने तथा चाँदी के भारी मात्रा में निर्यात तथा इससे सम्बन्धित समस्याओं की विवेचना कीजिए।]

5. **भारतीय मुद्रा प्रणाली पर द्वितीय महायुद्ध के क्या प्रभाव पड़े? वर्णन कीजिए।**

   [संकेत युद्धकाल में मुद्रा-पूर्ति की समस्या तथा मुद्रा-स्फीति की समस्या का वर्णन कीजिए और इनको हल करने के लिए किये गये उपाय बताइए। युद्धकाल में अपनायी गयी विनिमय-नियन्त्रण नीति का भी उल्लेख कीजिए। संक्षेप में, साम्राज्य डालर कोष तथा पौण्ड पावनों के बारे में भी बताइए।]

6. **द्वितीय युद्धकाल में भारत के इंगलैण्ड के पास भारी राशि में स्टर्लिंग पावने कैसे जमा हुए? बाद में इनके भुगतान के लिए भारत तथा इंगलैण्ड के बीच हुए समझौतों का वर्णन कीजिए। क्या भारत ने इनका ठीक उपयोग किया?**

   [संकेत प्रथम भाग में ब्रिटेन के पास भारत के स्टर्लिंग पावनों के एकत्रित होने के मुख्य कारण बताइए। दूसरे भाग में भुगतान सम्बन्धी विभिन्न समझौतों की शर्तें बताइए। अन्त में, पौण्ड पावनों के भारत द्वारा उपयोग के सम्बन्ध में की गयी आलोचनाओं की व्याख्या कीजिए।]

7. **भारत में सन् 1956 में नोट-निर्गमन की 'आनुपातिक कोष प्रणाली' के स्थान पर 'न्यूनतम कोष प्रणाली' क्यों अपनायी गयी? वर्तमान प्रणाली के गुण और दोष बताइए।**

   [संकेत प्रथम भाग में दोनों प्रणालियों की विशेषताओं के आधार पर यह बताइए कि आनुपातिक कोष प्रणाली लोच के अभाव तथा अधिक कोष रखने की आवश्यकता के कारण अव्यावहारिक हो गयी और इसका परित्याग करना पड़ा। दूसरे भाग में न्यूनतम कोष प्रणाली के गुण-दोषों की व्याख्या कीजिए।]

26

भारतीय रुपये का अवमूल्यन

[DEVALUATION OF THE INDIAN RUPEE]

अवमूल्यन से अभिप्राय देश की मुद्रा का विदेशी मुद्राओं मे मूल्य जान बूझकर कम कर देने से होता है। इसके परिणामस्वरूप देश की मुद्रा की क्रय-शक्ति विदेशी मुद्राओ के रूप मे कम हो जाती है। पॉल एन्जिग के अनुसार, "मुद्राओ की अधिकृत समताओं (official parities) मे कमी करना अवमूल्यन है।" सरल शब्दो मे, जब कोई देश अपनी मुद्रा के बदले दूसरे देशो की मुद्राएँ पहले से कम लेने के लिए तैयार हो जाता है तो उसको मुद्रा का अवमूल्यन कहते है।

अवमूल्यन से देश के निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है और आयातो मे कमी होती है। परिणामत देश के भुगतान-सन्तुलन मे स्थायी असन्तुलन को दूर किया जा सकता है। अवमूल्यन करने वाले देश की मुद्रा अन्य देशों की मुद्राओ की तुलना मे सस्ती हो जाने से विदेशी कम मुद्रा देकर अधिक माल खरीद सकते है। इस देश की वस्तुएँ अन्य देशो के लिए सस्ती हो जाने के कारण उनकी माँग बढती है और इस प्रकार निर्यात बढ जाते हैं। इसके विपरीत, अवमूल्यन करने वाले देश को अन्य देशो मे माल खरीदना महँगा पडता है, क्योंकि उसे कम माल के लिए अधिक मुद्रा देनी पडती है। इस देश मे विदेशी माल की माँग गिरने लगती है और आयात कम हो जाते है। इस प्रकार, किसी देश की सरकार भुगतान-सन्तुलन की स्थायी प्रतिकूलता को दूर करने अथवा कम करने के लिए अवमूल्यन का सहारा ले सकती है। कुरीहारा के शब्दो मे, "जब कोई देश मुद्रा-सकुचन नही करना चाहता और स्थिर विनिमय-दरों के लाभ से भी वचित नही होना चाहता तो वह अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर सकता है।"[1]

अवमूल्यन के कारण एवं परिणाम

साधारणतया अवमूल्यन निम्नलिखित दशाओ मे किया जाता है

(1) जब किसी देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य व बाह्य मूल्य मे अन्तर होता है अथवा देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य अधिक होता है, तो व्यापार-सन्तुलन देश के विपरीत होने लगता है। मुद्रा का अवमूल्यन करके इस स्थिति को सुधारा जा सकता है।

(2) मुद्रा के बाह्य तथा आन्तरिक मूल्य म कोई अन्तर न होने पर भी कोई देश अपने निर्यात बढाने तथा आयात कम करने के उद्देश्य से अवमूल्यन कर सकता है।

(3) मुद्रा-सकुचन की स्थिति मे जब देश मे माँग की कमी के कारण कीमतें गिरने लगती हैं तो अवमूल्यन के द्वारा देश के माल की विदेशा मे माँग बढायी जा सकती है और देश म कीमत-स्तर ऊँचा उठाया जा सकता है।

(4) जब कोई दूसरा देश अपनी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओ का मूल्य

---

1 "A country which wishes neither to deflate nor to forego the advantage of stable exchange rates may elect to devalue its currency —K Kurihara *Monetary and Public Policy*, p 307.

गिरा देता है अथवा राशिपातन (dumping) की नीति अपनाता है तो उसके हानिकारक प्रभाव से बचने के लिए अवमूल्यन करना आवश्यक हो जाता है।

(5) जब दो देशों के बीच घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध होते हैं तो एक देश द्वारा अवमूल्यन करने पर दूसरा देश भी ऐसा करने के लिए बाध्य हो जाता है।

(6) विदेशी ऋण प्राप्त करने के उद्देश्य से भी अवमूल्यन का सहारा लिया जा सकता है।

अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के निर्यात तथा आयात की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी उस देश के निर्यात तथा आयात की माँग की लोच पर निर्भर करती है। अवमूल्यन का लाभ केवल उस देश को मिल सकता है जिसके द्वारा निर्यात किये गये माल की विदेशी माँग लोचपूर्ण हो और स्वयं उसके आयातों की माँग भी लोचपूर्ण हो। यदि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के निर्यात विनिमय-दर में की गयी कमी से कम अनुपात में बढ़ते हैं, तो अवमूल्यन का प्रभाव ऋणात्मक (negative) कहलाता है। इसके विपरीत, यदि निर्यात विनिमय-दर में की गयी कमी से अधिक अनुपात में बढ़ते हैं, तो अवमूल्यन का प्रभाव धनात्मक (positive) होता है।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि अवमूल्यन का उपाय कुछ विशेष परिस्थितियों में ही सफल हो सकता है, जैसे अवमूल्यन के बाद देश की निर्यात-वस्तुओं की कीमत में वृद्धि न हो, सरकार सट्टेबाजी पर रोक लगाकर तथा अन्य उपायों के द्वारा आन्तरिक कीमत-स्तर को ऊँचा न उठने दे, दूसरे देश आयात-नियन्त्रण न लगायें तथा दूसरे देश अपनी मुद्रा का उतना ही अवमूल्यन न कर लें। इन परिस्थितियों के अभाव में प्राय एक बार अवमूल्यन करने के बाद पुन अवमूल्यन की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। बार-बार अवमूल्यन करने से लाभ के बजाय हानि की सम्भावना अधिक होती है और अन्य देशों का उस देश की मुद्रा में से विश्वास उठ जाता है।

सन् 1949 में रुपये का अवमूल्यन

18 सितम्बर, 1949 को इंग्लैण्ड द्वारा स्टर्लिंग का 30 5 प्रतिशत अवमूल्यन घोषित करने के दो दिन बाद 20 सितम्बर, 1949 को भारतीय रुपये का भी 30 5 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया गया। परिणामस्वरूप, रुपये का स्वर्ण मूल्य 0 268601 ग्राम से घटकर 0 186621 ग्राम रह गया। रुपये का डालर मूल्य 30 225 सेंट से घटकर 21 सेंट हो गया। परन्तु स्टर्लिंग का भी अवमूल्यन हो जाने के कारण स्टर्लिंग के साथ रुपये की विनिमय-दर (1 शि० 6 पेंस प्रति रुपया) में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

अवमूल्यन के कारण

सन् 1949 में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे

(1) **स्टर्लिंग का अवमूल्यन**—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता प्राप्त कर लेने के बाद भारतीय रुपये का स्टर्लिंग से वैधानिक तौर पर सम्बन्ध टूट चुका था, परन्तु व्यवहार में रुपये का स्टर्लिंग से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-बाजार म रुपये का स्टर्लिंग से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। ब्रिटेन द्वारा स्टर्लिंग का अवमूल्यन कर देने पर जब स्टर्लिंग क्षेत्र के 28 अन्य देशों ने भी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया तो परिस्थितियों से विवश होकर भारत सरकार को भी रुपये का अवमूल्यन करना पडा।

(2) **निर्यात व्यापार की रक्षा**—इस समय भारत का 75 प्रतिशत विदेशी व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों के साथ होता था। ऐसी स्थिति में जब स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों ने (पाकिस्तान को छोड़कर) अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया तो अपने निर्यातों को बनाये रखने के लिए भारत द्वारा मुद्रा का अवमूल्यन करना आवश्यक हो गया। ऐसा न करने पर अन्य देशों के लिए भारत का माल महँगा हो जाता और भारतीय माल का निर्यात कम हो जाता।

(3) **डालर की कमी**—भारत का अमेरिका के साथ प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन था और डालर की कमी अनुभव की जा रही थी। ऐसी परिस्थितियों में यदि भारत अवमूल्यन न करता तो अमेरिका उन देशों से माल खरीदने लगता जिन्होंने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया था।

भारतीय माल महँगा होने के कारण भारत के अमेरिका को जाने वाले निर्यात काफी कम हो जाते तथा व्यापार-सन्तुलन और भी अधिक प्रतिकूल हो जाता।

(4) **पौण्ड पावनों की समस्या**—उस समय भारत के स्टर्लिंग कोष में लगभग 1733 करोड़ रुपये की राशि थी। ब्रिटेन ने जब स्टर्लिंग का मूल्य गिरा दिया तो भारत द्वारा रुपये का अवमूल्यन न करने पर इंगलैण्ड में रखे उसके पौण्ड पावनों का मूल्य कम हो जाता क्योंकि रुपये की विनिमय-दर 1 शिलिंग 6 पेंस से ऊपर चली जाती।

(5) **भारत का ऊँचा कीमत-स्तर**—भारत में भारी मुद्रा-प्रसार के कारण 1949 में देश का कीमत-स्तर अन्य देशों की अपेक्षा ऊँचा था। यदि भारत अवमूल्यन न करता तो उसका माल अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतियोगिता न कर पाता और निर्यात व्यापार की रक्षा न हो पाती।

अवमूल्यन का देश में काफी विरोध किया गया और इसे देश की आर्थिक नीति की पराधीनता का प्रतीक कहा गया, परन्तु उस समय जब देश के सम्मुख स्टर्लिंग क्षेत्र पर व्यापारिक निर्भरता, प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन, ऊँचे कीमत-स्तर, आर्थिक विकास का नीचा स्तर आदि अनेक समस्याएँ थीं, रुपये की कीमत ऊँची रखने से सम्भव था कि हमारा विदेशी व्यापार अस्तव्यस्त हो जाता। इन परिस्थितियों में भारत रुपये का अवमूल्यन करने के लिए विवश हो गया। इस प्रकार अवमूल्यन स्वेच्छा से नहीं किया गया, बल्कि परिस्थितियों के दबाव में भारत ऐसा करने के लिए मजबूर हो गया। तत्कालीन वित्त मन्त्री डा० जॉन मथाई ने कहा था, "मैं अनुभव करता हूँ कि इस मामले में मुझे तर्क पर आधारित अपने विश्वास पर नहीं अपितु परिस्थितियों की विवशता के कारण कार्य करना पड़ा है।"[1]

अवमूल्यन के प्रभाव

भारत की अर्थ-व्यवस्था पर रुपये के अवमूल्यन के अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के प्रभाव पड़े जो मुख्य रूप से निम्नलिखित थे

अच्छे प्रभाव

(1) **भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में सुधार**—अवमूल्यन से भारत के भुगतान-सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। सन् 1948-49 में भुगतानावशेष का घाटा 183 45 करोड़ रुपये था, परन्तु 1949-50 में यह घाटा कम होकर 118 89 करोड़ रुपये रह गया और 1950-51 में केवल 22 01 करोड़ रुपये ही रह गया। घाटे की रकम में इस उल्लेखनीय कमी को मूलत अवमूल्यन का ही प्रभाव मानना तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि इसी समय आयातों पर लगाये गये नियन्त्रणों का भी अवश्य प्रभाव पड़ा था। परन्तु श्री चिन्तामणि देशमुख के मतानुसार स्थिति में हुए सुधार का प्रमुख कारण अवमूल्यन ही था।

(2) **अमेरिकी आर्थिक सहायता एवं व्यापार**—अवमूल्यन के कारण डालर क्षेत्र में हमारे निर्यातों को प्रोत्साहन मिला और आयातों में कमी हुई। देश में अमेरिकी पूँजी का आगमन बढ़ा। उद्योगों में अमेरिकी पूँजी का विनियोग बढ़ गया और इस प्रकार भारत को आर्थिक विकास के कार्य में सहायता मिली।

(3) **स्टर्लिंग क्षेत्र के डालर कोषों में वृद्धि**—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की रिपोर्ट के अनुसार 1949 में स्टर्लिंग क्षेत्र के डालर कोष 1688 मिलियन डालर थे, परन्तु वे बढ़कर जून 1950 में 2422 मिलियन डालर हो गये थे। स्टर्लिंग क्षेत्र का सदस्य होने के नाते भारत को भी इन कोषों के उपयोग का अवसर मिला।

बुरे प्रभाव

(1) **अल्पकालीन अनुकूल प्रभाव**—जैसा कि ऊपर बताया गया है, सन् 1950-51 में भारत के भुगतान-सन्तुलन में केवल 22 01 करोड़ रुपये का घाटा रह गया था, परन्तु अगले ही वर्ष अर्थात् 1951-52 में यह घाटा पुन बढ़कर 209 63 करोड़ रुपये तक पहुँच गया। इसका

---

1 "I feel in this matter, I have had to act, not to conviction born of logic necessarily, but, so to speak, by the compulsion of events" —Dr John Mathai

प्रमुख कारण यह था कि पाकिस्तान द्वारा अपने रुपये का अवमूल्यन न करने पर वहाँ से कच्चे जूट व कपास के आयात का मूल्य बढ गया जिससे भारत मे कपडे व जूट के सामान के उत्पादन की लागत बढ गयी। इसका इन वस्तुओ के निर्यात पर प्रभाव पडा। इस प्रकार, आयात तथा निर्यात दोनो म भारत को हानि हुई।

(2) **सामान्य कीमत-स्तर मे वृद्धि**—अवमूल्यन के बाद भारत मे अनेक वस्तुओ की कीमतो तथा स्फीतिक दबावो मे वृद्धि की प्रवृत्ति दिखाई पडी। उन वस्तुओ की कीमतो म विशेष रूप से अधिक वृद्धि हुई जिनका आयात अमेरिका से किया जाता था। भारत के बढे हुए निर्यातो के कारण भी देश मे आवश्यक वस्तुओ का अभाव उत्पन्न हो गया। दूसरी ओर कोरिया युद्ध तथा देश मे मुद्रा-प्रसार के कारण वस्तुओ की माँग बढ गयी। इन परिस्थितियो मे कीमत-स्तर मे वृद्धि होना स्वाभाविक था। बढी हुई कीमतो का भारतीयो के जीवन-स्तर पर बुरा प्रभाव पडा।

(3) **देश के आर्थिक विकास मे बाधा**—पाकिस्तान से आयात की जाने वाली कपास तथा जूट की कीमतें बढ जाने के कारण भारत म कपडा एव जूट उद्योगो के लिए सकट उत्पन्न हो गया। अमेरिका से आयात किये जाने वाला पूँजीगत माल भी महँगा हो गया। सरकार को विवश होकर आर्थिक विकास की कुछ योजनाओ को स्थगित करना पडा जिससे हमारे आर्थिक विकास म बाधाएँ उत्पन्न हो गयी।

(4) **विदेशी ऋणो के भार मे वृद्धि**—भारत ने अमेरिका तथा विश्व बैंक से भारी मात्रा मे ऋण ले रखे थे। चूँकि यह ऋण डालरो मे थे और अवमूल्यन के बाद डालर महँगे हो गये, इसलिए भारत पर विदेशी ऋणो का भार बढ गया।

(5) **पौण्ड पावनो के डालर मूल्यो मे कमी**—रुपये के अवमूल्यन के कारण भारत के पौण्ड पावनो के डालरो म परिवर्तनीय भाग मे 30 5 प्रतिशत की कमी हो गयी। भारत द्वारा डालर क्षेत्र मे खर्च किये गये पौण्ड पावनो का मूल्य गिर गया जिसके परिणामस्वरूप इनसे प्राप्त होने वाले माल की मात्रा कम हो गयी।

स्मरण रहे कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर उपर्युक्त प्रभाव पूर्णतया अवमूल्यन के प्रभाव नही कहे जा सकते हैं। इनम से कुछ प्रभाव उस समय की आर्थिक व राजनीतिक दशाओ के भी परिणाम थे। अवमूल्यन के प्रभावो को निष्क्रिय किये जाने के उद्देश्य से सरकार ने 5 अक्टूबर, 1949 को एक आठ-सूत्री कार्यक्रम (Eight-point Programme) की घोषणा की। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार थी (1) विदेशी विनिमय के अपव्यय को रोकना, (2) सरकारी व्यय म बचत करना, (3) आवश्यक वस्तुओ की कीमतो मे 10 प्रतिशत की कमी करना, (4) भारत द्वारा अपनी मोल-भाव करने की शक्ति का उपयोग करना ताकि अधिमूल्यन मुद्रा वाले देशो से उचित मूल्यो पर माल खरीदा जा सके, (5) विनियोग को प्रोत्साहन तथा ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग सुविधाओ का विस्तार, (6) युद्धकालीन छिपी हुई आय को बाहर निकालने के लिए करो के ऐच्छिक भुगतान की व्यवस्था, (7) साख सुविधाओ का नियमन और सट्टेबाजी पर रोक, तथा (8) दुर्लभ मुद्रा वाले देशो को किये जाने वाले निर्यातो पर कर लगाकर विदेशी विनिमय-उपार्जनो मे वृद्धि करना। इस प्रकार, अष्टसूत्री कार्यक्रम के मुख्य उद्देश्य दो थे पहला, आन्तरिक कीमत-स्तर की वृद्धि को रोकना, तथा दूसरा, देश मे उत्पादन की मात्रा म वृद्धि करना।

घोषित नीति के अनुसार कीमतो पर नियन्त्रण रखने, औद्योगिक करो म कमी करने, बचत योजनाओ को प्रोत्साहन देने तथा आयातो म कमी करने के प्रयत्न किये गये। परन्तु आठ-सूत्री कार्यक्रम को कोई विशेष सफलता न मिल सकी और कीमत-स्तर म निरन्तर वृद्धि होती गयी। परिणामत अवमूल्यन के लगभग एक वर्ष बाद ही रुपये के पुनर्मूल्यन (revaluation) की माँग की जाने लगी। जुलाई 1951 म डा० जॉन मथाई ने एक लेख म रुपये के पुनर्मूल्यन के पक्ष म जोरदार तर्क दिये जिनके आधार पर रुपये के पुनर्मूल्यन की माँग और भी तीव्र हो गयी। किन्तु तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख पुनर्मूल्यन के पक्ष मे दिये गये तर्को से प्रभावित न हुए और उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि सरकार पुनर्मूल्यन के लिए तैयार नही थी। 31 जुलाई,

1955 को पाकिस्तान ने भी अपने रुपये का अवमूल्यन करके उसे भारतीय रुपये के बराबर कर दिया और इससे पुनर्मूल्यन की माँग समाप्त हो गयी।

जून 1966 में रुपये का अवमूल्यन

रुपये का दूसरी बार अवमूल्यन 6 जून, 1966 को किया गया। तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री शचीन चौधरी ने 5 जून की रात्रि को इसकी घोषणा की और इसके कुछ ही घण्टे बाद 6 जून को रात के 2 बजे इसे लागू कर दिया गया। अवमूल्यन द्वारा स्वर्ण में रुपये का मूल्य 0·186621 ग्राम से घटकर 0 118489 ग्राम रह गया। इस प्रकार स्वर्ण के रूप में रुपये का अवमूल्यन 36 5 प्रतिशत हुआ। *अवमूल्यन के पूर्व एक डालर का मूल्य 4 76 रु० के बराबर था जो अवमूल्यन के बाद 7 50 रु० हो गया।* स्टर्लिंग के साथ रुपये की विनिमय-दर 13·33 रु० प्रति पौण्ड के स्थान पर 21 रुपये हो गयी।[1] रूसी रूबल 8 33 रुपये के बराबर हो गया जबकि इसके पूर्व 5 21 रुपये के बराबर था। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि स्वर्ण के रूप में तो भारतीय रुपये का अवमूल्यन 36 5 प्रतिशत ही हुआ, परन्तु विदेशी मुद्राओं का मूल्य भारतीय रुपये में 57 5 प्रतिशत बढ़ गया।[2] इसका अर्थ यह हुआ कि अवमूल्यन के कारण हमारे निर्यातों का मूल्य 36 5 प्रतिशत घट गया है, परन्तु चूँकि आयातों का भुगतान विदेशी मुद्राओं में करना होता है, इसलिए आयातों का मूल्य हमारे लिए 57 5 प्रतिशत बढ़ गया है।

रुपये के अवमूल्यन की घोषणा के साथ-साथ वित्त मन्त्री ने कुछ अन्य निर्णयों की भी घोषणा की। प्रथम, आयात की गयी आवश्यक वस्तुओं की कीमतें यथासम्भव अवमूल्यन पूर्व स्तर पर बनाये रखने के लिए सरकार अपनी ओर से उपदान (subsidies) देगी। दूसरे, सभी तत्कालीन निर्यात-प्रोत्साहन परियोजनाएँ (export incentive schemes) समाप्त कर दी जायेंगी। तीसरे, कुछ निर्यातों पर निर्यात कर लगाये जायेंगे। चौथे, आयातों में उदारता (import liberalization) की नीति अपनायी जायगी।

अवमूल्यन के कारण

सितम्बर 1949 में रुपये का अवमूल्यन स्टर्लिंग के अवमूल्यन के कारण किया गया था, परन्तु जून 1966 में भारत सरकार ने किसी अन्य देश के निर्णय से प्रभावित होकर नहीं, बल्कि स्वयं अपनी परिस्थितियों के कारण स्वतन्त्र रूप से अवमूल्यन किया है। 1966 में रुपये का अवमूल्यन निम्नलिखित कारणों से हुआ

(1) **रुपये का अधिमूल्यित होना**—किसी मुद्रा की अधिकृत दर (official rate) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की व्यवस्था के अनुसार निश्चित रहती है। इसके विपरीत, स्वतन्त्र विनिमय-बाजार में मुद्रा की माँग व पूर्ति के आधार पर स्थापित विनिमय-दर प्रभावकारी दर (effective rate) कहलाती है। इन दो दरों में अधिक मात्रा में तथा स्थायी अन्तर होना अर्थ-व्यवस्था में आधारभूत असन्तुलन का प्रतीक है। जब किसी मुद्रा का अधिकृत मूल्य उसके प्रभावकारी अथवा वास्तविक मूल्य से अधिक हो जाता है तो वह अधिमूल्यित मुद्रा (over-valued currency) हो जाती है।

भारत में आन्तरिक कीमत-स्तर में निरन्तर वृद्धि होती गयी परन्तु रुपये की अधिकृत विनिमय-दर अपरिवर्तित रही। स्वतन्त्र विनिमय-बाजार में रुपये का प्रभावकारी मूल्य उसके

---

1 18 नवम्बर, 1967 को ब्रिटिश सरकार ने पौण्ड का 14 3 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप अब 1 पौण्ड=18 रुपय हो गया है।

2 अवमूल्यन के कारण एक डालर 4 76 रु० से बढ़कर 7 50 रु० के बराबर हो गया, अर्थात् उसमें (7·50—4 76)=2 74 रु० की वृद्धि हुई, जो

$$\frac{2\ 74}{4\ 76} \times 100 = 57\ 5 \text{ प्रतिशत के बराबर हुई।}$$

इसी प्रकार, पौण्ड के मूल्य में (21—13 33)=7 67 रु० की वृद्धि हुई, जो

$$\frac{7\ 67}{13{\cdot}33} \times 100 = 57\ 5 \text{ प्रतिशत के बराबर हुई।}$$

अधिकृत मूल्य से कम हो गया, अर्थात् रुपये का अधिमूल्यन हो गया। इससे देश में तस्कर व्यापार (smuggling) को प्रोत्साहन मिला और देश के विदेशी मुद्रा कोष पर अनुचित दबाव पड़ने लगा। इस स्थिति के निराकरण के उद्देश्य से ही रुपये का अवमूल्यन किया गया।

प्रो० सी० एन० वकील[1] के मतानुसार रुपये का वस्तुत (de facto) अवमूल्यन तो पहले ही हो चुका था, सरकार ने जून 1966 में कानूनी (de-jure) अवमूल्यन करके उसको नियमित रूप प्रदान किया है। इसी प्रकार डा० गांगुली के अनुसार,[2] कुछ समय तक रुपये के 'छिपे हुए' अवमूल्यन को जून 1966 में 'खुले' अवमूल्यन में बदल दिया गया।

(2) **भुगतान-असन्तुलन की स्थिति**—निरन्तर कई वर्षों से भारत के विदेशी व्यापार में घाटा रहने के कारण भारत के सामने भुगतान सम्बन्धी आधारभूत असन्तुलन (fundamental disequilibrium) की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक स्थिति काफी गम्भीर हो चुकी थी। विदेशी विनिमय की आय में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो रही थी, जबकि सुरक्षा-व्यय में वृद्धि, खाद्यान्नों के असाधारण मात्रा में आयात, ऋणों तथा उन पर ब्याज के भुगतान की बढ़ती हुई रकम तथा विदेशी सहायता में कमी, आदि कारणों से विदेशी भुगतानों का बोझ बढ़ रहा था। देश में तस्कर व्यापार में वृद्धि हुई थी। निर्यात के बिलों में कम मूल्य दिखाने (under-invoicing of exports) तथा आयात के बिलों में अधिक मूल्य लगाने (over-invoicing of imports) की व्यवस्था के द्वारा विदेशी मुद्रा की चोरी की प्रवृत्ति विकसित हुई थी। परिणाम यह हुआ कि भारत का विदेशी विनिमय-कोष जो द्वितीय योजना के आरम्भ में 785 करोड़ रुपये के बराबर था, मार्च 1966 के अन्त में केवल 184 करोड़ रुपये के बराबर रह गया। भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में सुधार के लिए कुछ लोगों के विचार से रुपये का अवमूल्यन करना आवश्यक समझा गया।

(3) **निर्यात-प्रोत्साहन में कठिनाई**—पर्याप्त मात्रा में विदेशी विनिमय के उपार्जन के लिए निर्यातों का बढ़ाना आवश्यक था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अवमूल्यन के पूर्व कई उपाय अपनाये गये। निर्यात बिल साख योजना (Export Bills Credit Scheme) के अन्तर्गत मुद्दती निर्यात बिलों (usance export bills) के आधार पर रिजर्व बैंक ने व्यापारिक बैंकों को ऋण देने में विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की थी। आयात अधिकार योजना (Import Entitlement Scheme) के अन्तर्गत निर्यातकों को कुछ सीमा तक अपनी इच्छानुसार आयात करने के अधिकार दिये गये थे ताकि वे निर्यात की हानि को आयात के लाभ से पूरा कर सकें। कर-साख प्रमाण पत्र (tax credit certificates) चालू किये गये जिनके आधार पर निर्यात-उद्योगों के लिए साख सम्बन्धी विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की गयी। निर्यातों की वृद्धि के लिए प्रत्यक्ष सहायता (export subsidy) भी प्रदान की गयी। परन्तु इन सब उपायों के बावजूद निर्यात स्तर में कोई विशेष सुधार नहीं हो रहा था। इसका मुख्य कारण यह था कि विदेशी बाजारों में भारतीय निर्यातों के मूल्य ऊँचे थे और अन्य देशों से प्रतिस्पर्धा के कारण नहीं बढ़ पा रहे थे। इसके विपरीत, देश में ऊँची कीमतों तथा अधिक माँग के कारण उत्पादकों के लिए घरेलू बाजार अधिक आकर्षक हो गया था। इन परिस्थितियों में निर्यात प्रोत्साहन के लिए आधारभूत सुधारों की आवश्यकता समझी गयी और अवमूल्यन कर दिया गया।

(4) **आयात-प्रतिस्थापन की आवश्यकता**—आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि विदेशों से आवश्यक मशीनें, साज-सामान तथा अन्य आवश्यक पदार्थ आयात करने के बजाय उनका उत्पादन देश में ही किया जाय, अर्थात् आयात प्रतिस्थापन (import substitution) को बढ़ावा दिया जाय। भारत में इस प्रकार के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने में भारी कठिनाई अनुभव की जा रही थी, क्योंकि भारी आयात-करों के बावजूद विदेशी मशीनें भारतीय मशीनों की तुलना में सस्ती पड़ती थीं। ऐसा सोचा गया कि अवमूल्यन करने से आयात

---

1 C. N Vakil *The Devaluation of the Rupee—A Challenge and An Opportunity*
2 B N Ganguli *Devaluation of the Rupee*

महँगे हो जायेंगे जिससे देश में आयात-प्रतिस्थापन उद्योगों में पूँजी के विनियोजन को प्रोत्साहन मिलेगा।

(5) **विदेशी सहायता की माँग**—आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को पूरा करने तथा भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में सुधार करने के लिए हमारी विदेशी सहायता के लिए माँग बढ़ गयी थी, परन्तु चौथी योजना को लागू करने के लिए विदेशी सहायता की स्थिति अनिश्चित थी। विदेशी पूँजी को देश में आकर्षित करने के लिए अवमूल्यन का सहारा लिया गया। विदेशी पूँजी का रुपयों में मूल्य बढ़ा देने से आशा की गयी कि भारत में विदेशी पूँजी का प्रवाह बढ़ेगा। विश्व बैंक के बैल मिशन (Bell Mission) ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर अपनी रिपोर्ट में रुपये के अवमूल्यन की माँग की थी। प्रायः यह कहा जाता है कि भारत सरकार ने विश्व बैंक और अमेरिका के दबाव में आकर रुपये का अवमूल्यन किया है।

उपर्युक्त कारणों से जून 1966 में रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा। इससे सम्बन्धित निर्णय की घोषणा अचानक की गयी जिसने सबको चौंका दिया। इसके पूर्व सदैव सरकार अवमूल्यन का विरोध करती रही और यह खुले आम कहा जाता रहा कि अवमूल्यन हमारी समस्याओं का उपचार नहीं हो सकता था। अवमूल्यन के पूर्व प्रो० शेनॉय (B R Shenoy) आदि कुछ इने-गिने अर्थशास्त्रियों को छोड़कर देश में सामान्य विचारधारा अवमूल्यन के विरुद्ध ही थी।

अवमूल्यन के पक्ष में तर्क

अवमूल्यन के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए वित्त मन्त्री ने उठाये गये कदम के समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये थे

(1) **निर्यात-प्रोत्साहन**—अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारतीय निर्यातों की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति में वृद्धि होगी और निर्यात-उद्योगों में पूँजी का विनियोग बढ़ेगा। परम्परागत निर्यातों पर थोड़ा शुल्क बढ़ाकर अपरम्परागत निर्यातों को प्रोत्साहन दिया जायगा जिससे हमारे निर्यातों में विविधता आयेगी और हमारे विदेशी व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होगा।

(2) **आयातों में कमी**—अवमूल्यन के कारण विदेशी मुद्राओं का रुपयों में 57 5 प्रतिशत मूल्य बढ़ गया है। अतः भारत को आयातों के बदले अधिक रकम देनी पड़ेगी, जिससे आयातों की मात्रा कम होगी।

(3) **भुगतान-सन्तुलन में सुधार**—निर्यात बढ़ने तथा आयात कम होने के फलस्वरूप भुगतान-सन्तुलन की स्थिति अनुकूल होने में सहायता मिलेगी। सम्भव है कि अवमूल्यन के कारण अदृश्य उपार्जनों (invisible earnings) में सुधार हो, विदेशी कम्पनियों द्वारा भारत में कमाये गये लाभ विदेशों को न भेजकर भारत में ही रखे जायँ तथा भारतीय लोग विदेशों में जमा अपनी रकमें स्वदेश लाने के लिए प्रोत्साहित हों। इन सब का भुगतान-सन्तुलन की स्थिति पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।

(4) **रुपये के यथार्थ मूल्य का निर्धारण**—अवमूल्यन के पूर्व स्वतन्त्र विनिमय-बाजार में रुपये का अधिमूल्यन हो चुका था, अर्थात् विनिमय-बाजार में रुपये का वास्तविक मूल्य उसके अधिकृत मूल्य से कम हो चुका था। यह आशा की गयी कि अवमूल्यन से भारतीय रुपये का मूल्य अपने यथार्थ अथवा वास्तविक स्तर पर पहुँच जायगा।

(5) **उत्पादन को प्रोत्साहन**—निर्यात-प्रोत्साहन व आयात-संकुचन अथवा आयात प्रतिस्थापन से औद्योगिक उत्पादन की मात्रा बढ़ेगी। विनियोग, रोजगार तथा आय आदि का भी विकास होगा जिससे देश के आर्थिक विकास में सहायता मिलेगी। अवमूल्यन के बाद आयात-नीति में थोड़ी-सी ढील देकर कच्चे माल, मशीनों तथा पुर्जों आदि की पूर्ति में वृद्धि होगी। इससे उत्पादन बढ़ाने में सुविधा होगी। उत्पादन में अधिकाधिक वृद्धि मुद्रा स्फीति को कम करने में सहायक होगी।

(6) **विदेशी पूँजी का विनियोग**—अवमूल्यन से देश में विदेशी पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन मिलेगा। विदेशी पूँजी का रुपयों में मूल्य बढ़ जाने से आकर्षित होकर विदेशी विनियोजक भारत में अधिकाधिक मात्रा में पूँजी लगायेंगे। आयात कम होने से विदेशी उद्योगपति भारत में

ही उत्पादन करने लगेंगे। इससे भारत के अदृश्य उपार्जनों (invisible earnings) में वृद्धि की आशा की जा सकती है। अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत को प्राप्त होने वाली विदेशी सहायता में भी वृद्धि होगी।

(7) **सरकार को लाभ**—निर्यात-प्रोत्साहन के लिए सरकार द्वारा निर्यात-उपदान (export subsidies) के रूप में दी जा रही करोड़ों रुपये की रकम बच जायगी। इस बचत का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अवमूल्यन के कुछ समय पूर्व व्यापार मन्त्री ने निर्यात प्रोत्साहन पर व्यय के लिए 200 करोड़ रुपये की माँग की थी। अवमूल्यन से सरकार को न केवल बचत होगी बल्कि अतिरिक्त आय भी प्राप्त होगी। अवमूल्यन के साथ ही सरकार ने 12 वस्तुओं पर निर्यात-कर लगाने की घोषणा की ताकि अवमूल्यन के कारण निर्यात व्यापार को प्राप्त होने वाले लाभ का एक अंश सरकार को भी मिले। इन करों से सरकार को प्रति वर्ष लगभग 140 करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय का अनुमान लगाया गया।

(8) **अवाछनीय क्रियाओं का अन्त**—अवमूल्यन के समर्थन में यह कहा गया कि इसमें अवाछनीय, गैर-कानूनी तथा समाज-विरोधी व्यापारिक क्रियाएँ, जो अनुचित रूप से लाभ-उपार्जन के लिए देश में बड़े पैमाने पर प्रचलित थी, समाप्त हो जायेंगी। इससे तस्कर व्यापार (smuggling) पर रोक लगेगी। बिलों में निर्यात का मूल्य कम तथा आयात का मूल्य अधिक (under-invoicing of exports and over-invoicing of imports) दिखाने की प्रवृत्ति समाप्त होगी। आयात-निर्यात लाइसेन्सों में चोरबाजारी का अन्त होगा और यात्री चैकों तथा विदेशी मुद्राओं को चोरबाजार में ऊँचे दामों नहीं बेचा जा सकेगा। इन कार्यवाहियों का अन्त हो जाने पर देश के विदेशी मुद्रा-उपार्जनों में वृद्धि होगी तथा देश का विदेशी मुद्रा-कोष सुदृढ़ होगा।

(9) **अन्य देशों का अनुभव**—अवमूल्यन के समर्थन में फ्रांस तथा यूगोस्लाविया के उदाहरण दिये गये, जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I M F) की सलाह पर अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया था और उनको इससे आर्थिक लाभ प्राप्त हुए थे। अवमूल्यन के बाद इन दोनों देशों की अर्थ-व्यवस्थाएँ आगे बढ़ी हैं।

अवमूल्यन के पक्ष में दिये गये उपर्युक्त तर्कों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रुपये का अवमूल्यन मुख्य रूप से इस उद्देश्य से किया गया कि देश में प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की समस्या का कोई हल निकल सके, निर्यात-उद्योगों और आयात-प्रतिस्थापन उद्योगों के लिए अधिक पूंजी उपलब्ध हो सके तथा इनका उत्पादन बढ़े और भारतीय अर्थ-व्यवस्था हर प्रकार से सुदृढ़ बने।

भारतीय अर्थशास्त्री प्रो० बी० आर० शेनॉय तथा डा० जगदीश भगवती अवमूल्यन के पूर्व ही अवमूल्यन का समर्थन कर रहे थे, बल्कि प्रो० शेनॉय तो 36 5 प्रतिशत से अधिक अवमूल्यन चाहते थे। अवमूल्यन के पश्चात तुरन्त ही प्रकाशित की गयी पुस्तक में प्रो० बी० एन० गागुली ने अवमूल्यन के कदम का कहीं भी विरोध नहीं किया, बल्कि इसे देश की आर्थिक परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम माना। प्रो० सी० एन० वकील ने इसे एक 'प्रायश्चित' (penance) कहा। उनके मतानुसार भारत को घाटे की वित्त-व्यवस्था तथा अनुचित व्ययों के पापों के लिए प्रायश्चित करना था जो अवमूल्यन के रूप में किया गया। इन विचारों के विपरीत, साधारण जनमत अवमूल्यन के विरुद्ध था और अधिकाश विचारकों का कहना था कि अवमूल्यन हमारी समस्याओं का समाधान नहीं कर पायेगा बल्कि इससे लाभ के बजाय हानियाँ अधिक होगी।

अवमूल्यन के विपक्ष में तर्क

अवमूल्यन के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं

(1) **निर्यात-प्रोत्साहन की सीमित सम्भावनाएँ**—भारतीय मुद्रा का मूल्य गिर जाने से विदेशी आयातकों को भारत से आयात किये गये माल का पहले से कम मूल्य देना होगा, जिसमें हमारे निर्यात बढ़ने की आशा की जा सकती है। परन्तु भारत को निर्यातों द्वारा पहले के बराबर विदेशी विनिमय उपार्जित करने के लिए 57 5 प्रतिशत अधिक माल का निर्यात करना होगा। यदि वृद्धि इससे कम रही तो पहले के बराबर भी विदेशी मुद्रा नहीं मिल पायेगी। वास्तविक स्थिति का

विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि हमारे परम्परागत निर्यात (traditional exports) तो पहले ही उच्चतम सीमा पर पहुँच चुके है। हाँ, नये निर्यातो को बढाया जा सकता है। किन्तु अधिक निर्यात के लिए अधिक उत्पादन होना चाहिए और इस मार्ग मे देश मे अनेक बाधाएँ हैं। साथ ही, हमे घरेलू बाजार की बढती हुई आवश्यकताओ को भी पूरा करना है अन्यथा देश मे कीमतें और भी अधिक बढ सकती है।

भारत सरकार के वाणिज्य मन्त्रालय की सन् 1965-66 की वार्षिक रिपोर्ट मे बताया गया था कि हमारे 82 8 प्रतिशत निर्यात ऐसे थे जिन्हे बिना किसी सरकारी सहायता अथवा उपदान के अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो पर ही बेचा गया था। केवल 17 2 प्रतिशत निर्यातो को ही सरकारी उपदान देने की आवश्यकता पडी थी, क्योकि इन वस्तुओ की आन्तरिक कीमते अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो से ऊँची थी। उक्त रिपोर्ट म अवमूल्यन का स्पष्ट रूप मे विरोध किया गया था। रुपये के अवमूल्यन से केवल 17 2 प्रतिशत निर्यातो को प्रोत्साहन मिल सकता है और शेष 82 8 प्रतिशत निर्यातो पर अवमूल्यन के कारण देश को हानि होगी। यदि भारतीय निर्यातक रुपयो मे कुछ मूल्य बढा देते है अथवा सरकार निर्यात-कर लगा देती है तो उस सीमा तक विदेशी मुद्रा की हानि 36.5 प्रतिशत से कम हो सकती है। परन्तु विदेशी आयातकर्ता इन उपायो का विरोध करेंगे और यह सन्देहपूर्ण है कि भारतीय निर्यातों का विदेशी मुद्रा मे मूल्य बढ सके। यह सब बातें ध्यान मे रखते हुए यह आशा नही की जा सकती कि भारत के निर्यातो मे कोई विशेष वृद्धि हो सकती है अथवा बढ़े हुए निर्यातो से भारत को कोई विशेष लाभ हो सकता है। विदेशो मे भारतीय माल की माँग बेलोच है और भारत मे निर्यात-माल की पूर्ति बेलोच है। ऐसी स्थिति मे अवमूल्यन से सुधार की अधिक आशा करना एक बहुत बडी गलती है।

(2) **महँगे आयात**—हमारे देश मे आयात माल की माँग बेलोच है। विशेषकर योजनाबद्ध आर्थिक विकास की अवधि मे बहुत-से आयात तो अनिवार्य रहेंगे। उनके कम होने का प्रश्न ही नही उठता। जहाँ तक अनावश्यक आयातो का प्रश्न है, उन पर सरकार ने पहले से ही नियन्त्रण लगा रखा था। आयातो की मात्रा मे कोई विशेष कमी न होने पर अवमूल्यन के कारण आयातो के मूल्य बढने से आर्थिक बोझ बढ जायगा। अनुमान लगाया गया है कि भारत द्वारा विदेशो से आयात किये जा रहे कच्चे माल, कलपुर्जो तथा मशीनो आदि की कीमतें अवमूल्यन के कारण *लगभग 34 से 38 प्रतिशत तक बढ जायेंगी। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन-लागत मे वृद्धि होना* स्वाभाविक है।

(3) **आन्तरिक कीमतों मे वृद्धि**—अवमूल्यन के पक्ष मे सरकार द्वारा यह तर्क दिया गया था कि पिछले दस वर्षो मे आन्तरिक कीमत-स्तर मे 80 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, इसलिए विनिमय-दर मे परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। यह समझ मे नही आता कि बढती हुई कीमतो की समस्या का उपचार अवमूल्यन द्वारा कैसे किया जा सकता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश मे आयातित माल की कीमतें बढ जाने तथा निर्यात सवर्द्धन की ओर अधिक ध्यान देने से आन्तरिक कीमतों मे और अधिक वृद्धि होगी। यदि उपदान देकर (जिनका भार अन्तत. जनता पर ही पडता है) सरकार गिनी-चुनी वस्तुओ की कीमतो को न बढने दे तो भी सामान्य कीमत-स्तर *को बढने से नही रोका जा सकता।*

वास्तव मे, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से हमे निर्यात-वस्तुओ के मूल्य ही देखने चाहिए, न कि सामान्य कीमत-स्तर। सन् 1955 से 1965 तक भारत मे सामान्य थोक कीमतो मे 78 प्रतिशत की वृद्धि हुई, परन्तु निर्यात-वस्तुओ की कीमतें केवल 12 प्रतिशत बढी। कीमतो मे वृद्धि अकेले भारत मे ही नही हुई वरन् अन्य देशो मे भी, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भारत के प्रतिद्वन्द्वी हैं, कीमतें बढी है। यदि किसी निर्यात-पदार्थ की कीमत बहुत अधिक बढ गयी थी तो उसके लिए अलग से कदम उठायें जा सकते थे। अवमूल्यन के द्वारा सभी वस्तुओ के लिए एकसा उपाय अपनाना उचित नही कहा जा सकता है।

(4) **रुपये के अधिमूल्यन का भ्रामक तर्क**—यह कहना कि रुपये का अवमूल्यन इसलिए

करना पड़ा कि इसके विनिमय की अधिकृत दर बाजार-दर से भिन्न थी, अर्थात् विनिमय-बाजार मे रुपया अधिमूल्यित था, एक भ्रामक तर्क है। तस्कर बाजार अथवा काले बाजार की दर को मुद्रा की सच्ची विनिमय-दर नही माना जा सकता है। यदि ऐसा होने लगे तो काले बाजार का अर्थशास्त्र ही सच्चा अर्थशास्त्र बन जायगा। आयातो पर प्रतिबन्ध होने के कारण यदि तस्कर चोरी से देश मे अनावश्यक अथवा विलासता की वस्तुएँ बाहर से ले आते है तो उनके बदले मे वे अधिक कीमत लेंगे ही। तस्कर बाजार की दर को मुद्रा की वास्तविक दर मानना उसी प्रकार गलत होगा जिस प्रकार किसी वस्तु का वितरण नियन्त्रित होने पर काले बाजार में उस वस्तु की कीमत को वास्तविक या सच्ची कीमत मान लिया जाय। यदि रुपया वास्तव मे अधिमूल्यित था तो पिछले 15 वर्षों में प्रति वर्ष 600 से 800 करोड रुपये तक का निर्यात कैसे किया जाता रहा है। एक विनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे यदि विनिमय-दर का निर्धारण काले बाजार की स्थिति के आधार पर किया जाता है तो इसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जायगा।

(5) **उत्पादन सम्बन्धी गलत धारणाएँ**—अवमूल्यन करने मे सरकार की यह धारणा रही है कि इससे निर्यात-वस्तुओ तथा आयात-प्रतिस्थापन वस्तुओ का उत्पादन बढ़ेगा और देश मे औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिलेगा। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उत्पादन मे वृद्धि तथा औद्योगिक प्रोत्साहन के लिए केवल माँग का होना ही पर्याप्त नही है। इसके लिए पूँजी, प्रावधिक ज्ञान व उपकरणो आदि की आवश्यकता होती है, जिनका हमारे देश मे अभाव है। इन्ही के कारण निम्न उत्पादकता, ऊँची लागत, कम उत्पादन तथा ऊँची कीमतो आदि की समस्याएँ हमारे सामने है। अवमूल्यन से इन समस्याओ का कोई हल नही निकलता। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अवमूल्यन के कारण उत्पादन-लागत मे वृद्धि होगी, कमी नही। इससे विकास की गति तीव्र होने के बजाय धीमी होने की सम्भावनाएँ अधिक हैं।

(6) **विदेशी ऋण के भार मे वृद्धि**—पचवर्षीय योजनाओ के काल मे भारत सरकार विदेशो से बहुत बडी मात्रा मे ऋण लेती रही है। 31 मार्च, 1966 को भारत का कुल विदेशी ऋण लगभग 2629 18 करोड रुपये था, जो अवमूल्यन के कारण अनुमानत 4000 करोड रुपये के लगभग हो जायगा। मूलधन के अतिरिक्त ब्याज का भार भी बढ जायगा। आगामी वर्षो मे विदेशी विनिमय की समस्या हल होने के बजाय और जटिल हो जायगी।

(7) **विदेशी विनियोग एव सहायता की अनिश्चितता**—यह सोचना कि केवल अवमूल्यन करने से विदेशी पूँजी अथवा विदेशो से आर्थिक सहायता को आकर्षित किया जा सकता है, सर्वथा भ्रमपूर्ण है। आज के युग मे अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी-प्रवाह अनेक आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्नो से प्रभावित होता है। अत सरकार का यह तर्क कि रुपये का अवमूल्यन विदेशी पूँजी आकर्षित करने के उद्देश्य से किया गया है, अवास्तविक प्रतीत होता है।

वास्तविकता यह है कि विदेशी ऋणदाताओ द्वारा भारत सरकार पर रुपये का अवमूल्यन करने के लिए बहुत दबाव पड रहा था और उसी दबाव के कारण अवमूल्यन करना पडा। इस सम्बन्ध मे हमारी स्वतन्त्रता उस विमान-चालक की स्वतन्त्रता के समान थी जिसे विमान मे रखे बम (bomb) का विस्फोट हो जाने के कारण विमान से कूदना पडता है। इण्डोनेशिया का अनुभव हमारे सामने है जहाँ एक बार अवमूल्यन करने पर बार-बार अवमूल्यन करना पडा। सन् 1952 मे 1 अमरीकी डालर 31 72 इण्डोनेशी रुपये के बराबर था। सन् 1965 म यही विनिमय दर 1 डालर=10,000 इण्डोनेशी रुपये हो गयी। इण्डोनेशिया मे सरपट-स्फीति फूट पडी और स्थिति को संभालना कठिन हो गया। भारत मे अवमूल्यन के दुष्प्रभावो से बचने के अनेक उपाय किये गये हैं, परन्तु यह स्वीकार करना पडता है कि रुपये का अवमूल्यन करना सरकार द्वारा उठाया गया एक गलत कदम था जिससे देश को हानि हुई है।

अवमूल्यन के प्रभाव

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, अवमूल्यन के साथ ही सरकार ने निर्यात-प्रोत्साहन के अन्य उपाय, जैसे आयात-अधिकार योजना व कर-जमा-प्रमाणपत्र योजना, तुरन्त समाप्त कर

दिये। विदेशों में बेलोच माँग वाली वस्तुओं पर निर्यात-करों में वृद्धि कर दी गयी। निर्यात-प्रोत्साहन तथा आयात-प्रतिस्थापन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आयातों में उदारता (import liberalization) की नीति अपनायी गयी, जिसके अन्तर्गत 59 प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों के लिए कच्चे माल व अन्य साज-सामान के आयात की स्वतन्त्रता दी गयी। आन्तरिक कीमत-स्तर में स्थिरता बनाये रखने के उद्देश्य से अनेक उपाय अपनाये गये। आयात की गयी आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि रोकने के लिए कुछ आवश्यक कदम उठाये गये। खाद्यान्नों व उर्वरकों (fertilizers) के लिए आर्थिक सहायता (subsidy) देने की घोषणा की गयी तथा मिट्टी के तेल व डीजल तेल के भावों को आयात व उत्पादन-करों में परिवर्तन करके स्थिर रखने की नीति अपनायी गयी। कृषि-उत्पादन में वृद्धि करने के लिए रासायनिक खादों आदि को आयात-कर से मुक्त करने का निर्णय किया गया। आवश्यक मशीनों, कल-पुर्जों तथा कच्चे माल पर लगे आयात-करों में कमी कर दी गयी। उपभोग की वस्तुओं की कीमतों पर नियन्त्रण रखने तथा उनके उचित वितरण की व्यवस्था करने के लिए भी सरकार ने अनेक उपाय अपनाये। इस प्रकार, अवमूल्यन का पूरा लाभ उठाने के लिए सरकार द्वारा अवमूल्यन के पश्चात अपनाये गये विभिन्न उपायों के तीन प्रमुख उद्देश्य रहे हैं निर्यात-प्रोत्साहन, कीमत-वृद्धि को रोकना, तथा कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करना।

अवमूल्यन के वास्तविक परिणामों को देखने से पता चलता है कि यह अपने उद्देश्यों को पूरा करने में असफल रहा है। अवमूल्यन का मुख्य उद्देश्य निर्यातों में वृद्धि करना था, किन्तु 1966-67 में भारत के कुल निर्यात गत वर्ष की तुलना में लगभग 11 प्रतिशत कम रहे। सन् 1966 में कृषि-उत्पादन में कमी, कच्चे माल के अभाव, उत्पादन-लागतों में वृद्धि तथा ऊँची कीमतों आदि का भी देश के निर्यातों पर प्रभाव पड़ा, परन्तु इनकी कमी का मुख्य कारण जून 1966 में रुपये का अवमूल्यन ही था। अवमूल्यन से विदेशी व्यापार की स्थिति अस्त-व्यस्त हो गयी और इसके तुरन्त बाद हमारे निर्यात तेजी से घटे। बाद के महीनों में स्थिति कुछ सुधरने लगी, परन्तु गत वर्ष की तुलना में निर्यात कम ही रहे। जून 1966 से मार्च 1967 तक भारत के निर्यात 179 मिलियन डालर कम हो गये।

अवमूल्यन के बाद सरकार द्वारा अपनायी गयी उदार आयात-नीति के अनुसार आयात लाइसेन्स अधिक संख्या में दिये गये थे, परन्तु 1966-67 में कुल आयात गत वर्ष की तुलना में कम रहे। इसके बावजूद, निर्यातों की असाधारण कमी के कारण भुगतान-सन्तुलन में घाटा बढ़ गया। परिणामस्वरूप, 1 जुलाई, 1966 से 30 जून, 1967 के बीच विदेशी विनिमय कोष में 15 9 करोड़ डालर की कमी हो गयी जबकि गत वर्ष इसी अवधि में उसमें 9 3 करोड़ डालर की वृद्धि हुई थी।

अवमूल्यन से न तो विदेशी पूँजी आकर्षित हुई और न विदेशी सहायता को ही कोई प्रोत्साहन मिला। तृतीय योजना के अन्तिम चरण में विदेशी सहायता की वार्षिक औसत 130 5 करोड़ डालर थी, जो 1966-67 में 1[illegible] 5 करोड़ डालर के बराबर रही। शायद विदेशी पूँजीपति तथा सरकारें रुपये के अवमूल्यन की मात्रा से सन्तुष्ट नहीं हुईं।

सरकार द्वारा किये गये अनेक प्रयत्नों के बावजूद आन्तरिक कीमत-स्तर में वृद्धि को नहीं रोका जा सका। थोक कीमतों के निर्देशांक में 1966-67 में 16 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि 1965-66 में 15 2 प्रतिशत तथा उसके पूर्व दो वर्षों में प्रति वर्ष 9 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। 1966-67 में खाद्यान्नों की कीमतें विशेष रूप से काफी अधिक बढ़ीं, जिसका लोगों के जीवन-स्तर पर गहरा प्रभाव पड़ा।

सूखे के कारण कृषि-उत्पादन में कमी हो गयी, जिसका प्रभाव औद्योगिक उत्पादन पर भी पड़ा क्योंकि कच्चे माल की पूर्ति कम हो गयी। सन् 1965-66 की तुलना में सन् 1966-67 में यद्यपि राष्ट्रीय आय 3 प्रतिशत बढ़ी, किन्तु 1964-65 की तुलना में यह लगभग 6 प्रतिशत कम रही।

इस अवधि की एक विशेष घटना यह रही है कि सामान्य कीमत-वृद्धि और स्फीतिक दबाव के साथ कुछ उद्योगों, विशेष रूप से इन्जीनियरिंग, धातु-उत्पादन से सम्बन्धित तथा अन्य बहुत-से

आधारभूत उद्योगों में शिथिलता की प्रवृत्ति (recessionary trend) भी दिखाई पड़ी। इससे हमारी कठिनाइयाँ और अधिक बढ़ गयीं।

आयात की उदार नीति से न तो उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिली है और न ही आयात-प्रतिस्थापन को प्रोत्साहन मिला है। उद्योगपतियों ने आयात लाइसेन्सों का प्रयोग अपने लाभ में वृद्धि के लिए किया है।

अवमूल्यन के तुरन्त बाद के वर्ष में अवमूल्यन के उद्देश्यों में हमें कुछ भी सफलता नहीं मिल पायी, जिसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि यह वर्ष असाधारण परिस्थितियों का वर्ष था जिसमें हमें प्राकृतिक तथा अन्य कारणों से अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। बाद के वर्षों में स्थिति में कुछ सुधार हुआ है। निर्यातों में वृद्धि हुई है तथा उत्पादन बढ़ा है। परन्तु कुल मिलाकर, देश में एक अनिश्चितता का वातावरण रहा है। नियोजित विकास के कार्यक्रमों को स्थगित कर देना पड़ा है और देश में आर्थिक नियोजन का भविष्य सन्देहपूर्ण बन गया है। वर्तमान परिस्थितियों में, जून 1966 में उठाये गये कदम के दोष निकालने में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसको अब आसानी से बदलना सम्भव नहीं है। हाँ, हमें भविष्य के लिए सतर्क रहना है कि ऐसी परिस्थितियाँ फिर उत्पन्न न हों कि सरकार रुपये का मूल्य और अधिक गिराने के लिए विवश हो जाय।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 अवमूल्यन से क्या अभिप्राय है? सितम्बर 1949 में किन कारणों से भारतीय रुपये का अवमूल्यन हुआ?

[संकेत अवमूल्यन का अर्थ समझाइए। दूसरे भाग में 1949 में रुपये के अवमूल्यन के कारणों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

2 सितम्बर 1949 में किये गये रुपये के अवमूल्यन की आवश्यकता तथा उपयोगिता का वर्णन कीजिए।

[संकेत 1949 के अवमूल्यन के कारणों तथा अच्छे व बुरे प्रभावों का विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए।]

3 जून 1966 में रुपये का अवमूल्यन क्यों किया गया? इसके प्रमुख अपेक्षित लाभ क्या थे?

[संकेत प्रथम भाग में जून 1966 के अवमूल्यन के कारण बताइए। दूसरे भाग में इसके पक्ष में दिये गये तर्कों की विवेचना कीजिए।]

4 जून 1966 में रुपये का अवमूल्यन करना कहाँ तक ठीक था? इसका भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा है?

[संकेत अवमूल्यन के पक्ष तथा विपक्ष में दिये गये तर्कों की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में यह स्पष्ट कीजिए कि देश की अर्थ-व्यवस्था पर अवमूल्यन का क्या प्रभाव पड़ा है। वास्तव में, इसके उद्देश्यों में सफलता नहीं मिल पायी है।]

27

भारत में बैंकिंग का विकास एवं समस्याएँ

[GROWTH AND PROBLEMS OF BANKING IN INDIA]

भारतीय इतिहास में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि ईसा से 2000 से 1400 वर्ष पूर्व के काल में भारत में ऋणों के लेन-देन का कार्य प्रचलित था। बौद्धकालीन इतिहास में 'श्रेष्ठी' वर्ग का विवरण मिलता है। ईसा से लगभग 500 वर्ष पूर्व यह वर्ग व्यापारियों तथा राजाओं को उनकी व्यक्तिगत अथवा चल व अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण देने का कार्य करता था। मुसलमानों के शासन-काल में भारत में महाजन, साहूकार तथा सर्राफ बहुत बड़ी मात्रा में ऋणों का लेन-देन करते थे। इनमें से कुछ तो इतने प्रभावशाली थे कि उन्हें 'जगत सेठ' की उपाधि दी गयी। ब्रिटिश शासन-काल में देशी बैंकरों के पतन का क्रम आरम्भ हुआ और आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था का विकास होने लगा। भारत में प्राचीन बैंकिंग व्यवस्था अभी तक पूर्णतया समाप्त नहीं हुई है। अब भी भारतीय बैंकिंग प्रणाली के दो अंग हैं (1) प्राचीन अथवा असंगठित अंग, जिसमें महाजन व देशी बैंकर आते हैं, तथा (2) आधुनिक अथवा संगठित अंग, जिसमें रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, व्यापारिक बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाएँ हैं।

आधुनिक बैंकिंग का आरम्भ

17वीं शताब्दी में अंग्रेज व्यापारियों तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों की बैंकिंग सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत में 'एजेन्सी गृहों' (Agency Houses) की स्थापना हुई। इन्हीं एजेन्सी गृहों की स्थापना से भारत में आधुनिक बैंकिंग का इतिहास आरम्भ होता है। ये एक प्रकार की व्यापारिक फर्में थीं जो व्यापार के साथ बैंकिंग का कार्य भी करती थीं। इनके पास अपनी पूँजी नहीं होती थी अतः जमा धन से ही ऋण दिये जाते थे। ये विनिमय-पत्रों का लेन-देन भी करते थे। आगे चलकर कम्पनी के बैंकर के रूप में भी ये कार्य करने लगे।

सन् 1770 में एलेक्जेण्डर एण्ड क० नाम के एजेन्सी गृह ने भारत में आधुनिक ढंग का सबसे पहला बैंक 'दी बैंक ऑफ हिन्दुस्तान' स्थापित किया। किन्तु 1832 में एलेक्जेण्डर एण्ड क० के फेल हो जाने पर यह बैंक भी बन्द हो गया। सन् 1785 में स्थापित दो अन्य बैंक 'बंगाल बैंक' तथा 'दी जनरल बैंक ऑफ इण्डिया' भी कुछ वर्ष कार्य करने के बाद समाप्त हो गये। सन् 1770 से 1870 के बीच देश में 39 बैंक स्थापित हुए, किन्तु इनमें से अधिकतर डूब गये। इन बैंकों ने इतना अवश्य किया कि देश में आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था की नींव डाली।

भारत में आधुनिक बैंकिंग के विकास का दूसरा युग प्रेसीडेन्सी बैंकों की स्थापना से आरम्भ हुआ। सन् 1806 में 'बैंक ऑफ कलकत्ता' की स्थापना हुई, जिसे 1809 में 'बैंक ऑफ बंगाल' की संज्ञा दी गयी। सन् 1840 में 'बैंक ऑफ बम्बई' तथा सन् 1843 में 'बैंक ऑफ मद्रास' की स्थापना हुई। इन तीनों बैंकों के शेयर्स खरीद कर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इन्हें पूँजी प्रदान की थी। सन् 1862 तक इन बैंकों को पत्र-मुद्रा निकालने का अधिकार था। इन बैंकों के कार्य में अनेक दोष होते हुए भी इनका

भारतीय बैंकिंग के इतिहास में विशेष स्थान रहा है। सन् 1921 में इन तीनों बैंकों को मिलाकर 'इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया' की स्थापना की गयी। 1 जुलाई, 1955 को इसका राष्ट्रीयकरण करके इसे 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' में बदल दिया गया।

सन् 1860 में सीमित दायित्व (limited liability) के आधार पर मिश्रित पूंजी वाले बैंक (Joint-stock Banks) स्थापित करने का कानून पास किया गया था। इसके बाद इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यापारिक बैंक स्थापित किये जाने लगे जिनकी संख्या सन् 1874 तक 14 हो गयी। ये सब बैंक यूरोपीय लोगों द्वारा स्थापित किये गये थे। सबसे पहला भारतीय बैंक 'अवध कॉमर्शियल बैंक' था जिसकी स्थापना 1881 में हुई। भारतीयों के प्रयास से ही 1894 में 'पंजाब नेशनल बैंक' तथा 1901 में 'पीपुल्स बैंक ऑफ इण्डिया' की स्थापना हुई। किन्तु 'इलाहाबाद बैंक' (1865) तथा 'पंजाब नेशनल बैंक' को छोड़कर अन्य सभी बैंक डूब गये।

सन् 1906 के स्वदेशी आन्दोलन से भारतीय बैंकों की स्थापना को बल मिला। प्रथम महायुद्ध के आरम्भ तक कई बड़े बैंकों की स्थापना हुई। भारत के प्रमुख बड़े बैंक, जैसे 'बैंक ऑफ इण्डिया', 'सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया', 'बैंक ऑफ बड़ौदा', 'बैंक ऑफ मैसूर' और 'इण्डियन बैंक ऑफ मद्रास' इसी काल में स्थापित हुए। सन् 1913 तक 5 लाख रुपये से अधिक पूंजी और संचित कोष वाले बैंकों की संख्या 9 से बढ़कर 18 हो गयी। इनके अतिरिक्त बहुत-से छोटे बैंकों की भी स्थापना हुई, जिनकी संख्या लगभग 500 हो गयी।

बैंकिंग संकट का काल

सन् 1913 से बैंकों के संकट के चिह्न दिखाई देने लगे। प्रथम विश्वयुद्ध काल में तो स्थिति अत्यधिक खराब हो गयी। सन् 1913 से 1917 के बीच कुल 87 बैंक फेल हुए और उनकी लगभग 175 लाख रुपये की चुकता पूंजी डूब गयी, जो उस समय के कुल बैंकों की चुकता पूंजी की लगभग आधी थी। इससे बैंकिंग व्यवसाय के प्रति जनता में अविश्वास की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। इस काल में बैंकों के फेल होने के प्रमुख कारण ये थे कि स्वदेशी आन्दोलन के भावनात्मक प्रभाव में बहुत-से ऐसे बैंक स्थापित हो गये जिनके पास न तो पर्याप्त साधन थे और न ही जिनके प्रबन्ध तथा संचालन की उचित व्यवस्था थी। अधिक जमा आकर्षित करने के लिए बैंक ऊँची दरों पर ब्याज देते थे। अधिक लाभ कमाने की दृष्टि से एक ओर तो इन बैंकों को अपने साधन सट्टेबाजी जैसे जोखिमपूर्ण कार्यों में लगाने पड़ते थे और दूसरे नकद-कोष की मात्रा कम करनी पड़ती थी। परिणाम यह होता था कि आवश्यकता पड़ने पर जमाकर्ताओं की माँग के भुगतान करने के लिए बैंक दिये गये ऋणों को वापस नहीं ले पाते थे। इस काल में देश में न तो कोई केन्द्रीय बैंक था और न ही बैंकों में पारस्परिक सहयोग की भावना थी। जनता में भी बैंकिंग की भावना का अभाव था, इसलिए जरा-सी अफवाह फैलने पर जमाकर्ता बैंक पर दौड़ (run on the bank) लगा देते थे और अपना धन वापस माँगने लगते थे। ऐसे संकटग्रस्त बैंकों द्वारा माँग के भुगतान न कर पाने पर उनका फेल हो जाना निश्चित हो जाता था। वास्तविकता यह है कि सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवसाय जनता के विश्वास पर निर्भर करता था और जिस किसी बैंक में जनता का विश्वास गिर गया वही फेल हो गया। इस प्रकार सन् 1913 से 1917 तक का काल बैंकिंग संकट का काल था।

प्रथम महायुद्ध के बाद से द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक (1918–38)

सन् 1918 से बैंकों की दशा में कुछ सुधार होने लगा। युद्ध-काल में मुद्रा-प्रसार के कारण जनता के पास अधिक धन पहुँच जाने से बैंकों के पास जमा राशि बढ़ने लगी। पुराने बैंकों ने व्यापार का विस्तार किया और कई नये बैंकों की स्थापना हुई। सन् 1918 से 1921 तक के काल में देश में कुछ औद्योगिक बैंक भी खोले गये। सन् 1921 में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी जो बैंकिंग के विकास के लिए एक महत्वपूर्ण कदम था।

सन् 1921 में सरकार की मुद्रा-संकुचन की नीति से उत्पन्न व्यापारिक मन्दी के कारण

बैंकों पर फिर से संकट आ गया। सन् 1921 से 1924 के बीच बैंकों की जमा राशि 84 करोड़ रुपये से घटकर 55 करोड़ रुपये रह गयी। परिणामस्वरूप, 447 बैंक जिनमें 8 करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई थी, फेल हो गये।

सन् 1924 से स्थिति में कुछ सुधार होने लगा और 1930 तक फेल होने वाले बैंकों की संख्या बहुत कम रही। सन् 1930 से आरम्भ हुई विश्वव्यापी मन्दी के कारण भारत में बैंकों के फेल होने का क्रम फिर से शुरू हो गया जो द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक चलता ही रहा। सन् 1922 से 1936 तक कुल 373 छोटे-बड़े बैंक फेल हुए थे और 1936 से 1940 तक और 372 बैंक फेल हो गये। सन् 1936 के बाद विशेष रूप से दक्षिण भारत के बैंक अधिक संख्या में फेल हुए। केवल 1936 में ट्रावनकोर में 30 बैंक फेल हुए थे।

महान् मन्दी के प्रारम्भ होने पर सन् 1930 में भारत सरकार ने केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Inquiry Committee) को नियुक्त किया था, जिसने दो महत्वपूर्ण सुझाव दिये—(1) देश में केन्द्रीय बैंक की स्थापना हो, तथा (2) एक व्यापक बैंकिंग कम्पनीज एक्ट बनाया जाय। देश में केन्द्रीय बैंक के रूप में सन् 1935 में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी। सन् 1936 में इण्डियन कम्पनीज एक्ट (1913) में बैंकिंग कम्पनियों से सम्बन्धित नियमों में संशोधन किये गये।

दो महायुद्धों के बीच के काल में यद्यपि बहुत-से बैंक फेल हो गये, किन्तु अनेक नये बैंकों की भी स्थापना हुई। चूँकि नये बैंक देश के सभी भागों में नहीं खोले गये, इसलिए बैंकिंग व्यवसाय का स्थानीकरण हुआ। जनता के निक्षेप (deposits) भी कुछ बड़े बैंकों के पास केन्द्रित हो गये। देश में बैंकिंग के अव्यवस्थित विकास के अनेक कारण थे, जैसे बैंकिंग व्यवसाय का इने-गिने व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित होना, नये बैंकों के खोलने में इम्पीरियल बैंक तथा विनिमय बैंकों के अनुकरण की प्रवृत्ति, देशी रियासतों तथा छोटे नगरों में बैंक न खोलने की प्रवृत्ति, आर्थिक पहलुओं की अवहेलना की प्रवृत्ति, आदि।

द्वितीय महायुद्ध काल

सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ होने पर भारतीय बैंकिंग को नया जीवन मिला। इस काल में मुद्रा-प्रसार के कारण व्यापारियों व उद्योगपतियों के पास बहुत सारा धन इकट्ठा हो गया। फलतः सभी बैंकों के निक्षेप बढ़ गये, जिससे बैंकों को अपने व्यापार का विस्तार करने तथा अधिक साख का निर्माण करने का अवसर मिला। व्यापार तथा उद्योग में तेजी के कारण बैंक के ऋणों की माँग भी अधिक थी, जिससे बैंकों की आय बढ़ गयी। रिजर्व बैंक ने भी साख-विस्तार की उदार नीति अपनायी थी। इन सब कारणों से द्वितीय युद्धकाल में भारतीय बैंकों ने आशातीत उन्नति की। इस काल में बैंकिंग विकास की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं

(1) युद्धकाल में, विशेष रूप से सन् 1942 से 1946 के बीच, **बैंकों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई।** सन् 1939 में इम्पीरियल बैंक सहित अनुसूचित (Scheduled) व विनिमय (Exchange) बैंकों की कुल संख्या 51 थी जो 1946 में 93 हो गयी। इस काल में स्थापित होने वाले बैंकों में यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, हिन्दुस्तान कॉमर्शियल बैंक, हिन्दुस्तान मर्केण्टाइल बैंक, बैंक ऑफ राजस्थान, जोधपुर कॉमर्शियल बैंक तथा हबीब बैंक आदि प्रमुख थे।

(2) **बैंकों की शाखाओं में वृद्धि हुई।** इस अवधि में अनुसूचित बैंकों के कुल कार्यालयों की संख्या 1328 से बढ़कर 3106 हो गयी। छोटे बैंकों को भी शाखा-विस्तार का यथोचित अवसर मिला।

(3) **बैंकों की जमा राशि में वृद्धि हुई।** युद्ध के प्रारम्भिक दो वर्षों में तो जनता ने बैंकों से 5.12 करोड़ रुपये निकाल लिये थे, परन्तु 1941 से बैंकों की जमा राशि बढ़ने लगी। भारत में बैंकों की कुल जमा राशि सन् 1939 में 249.45 करोड़ रुपये थी जो 1946 में बढ़कर 1,097 करोड़ रुपये हो गयी।

(4) व्यापारियो, उद्योगपतियो तथा सरकार द्वारा बैंको से ऋणो की माँग बढ जाने के कारण बंको की आय मे **वृद्धि हुई**। इससे बैंका की स्थिति मजबूत हो गयी।

(5) **बंको के नकद-कोष बढ गये**। युद्ध के पहले अनुसूचित बैंको के नकद कोप 11 प्रतिशत के लगभग थे जो युद्धकाल मे 25 प्रतिशत हो गये।

(6) **बंको की विनियोग नीति मे परिवर्तन हुआ**। युद्ध के पहले बैंक अपनी कुल जमा का 54% ऋण, नकद साख या बिलो म लगाते थे। परन्तु 1946 मे यह प्रतिशत घटकर केवल 32 ही रह गया। इसके विपरीत, सरकारी प्रतिभूतियो म विनियोजन 54 प्रतिशत से बढकर 61 प्रतिशत हो गया।

इसमे सन्देह नहीं कि युद्धकाल म बैंका का विकास तेजी से हुआ, परन्तु यह विकास पूर्णतया दोप रहित नही था। बैंको की स्थापना तथा विस्तार इस तेजी से हुए कि स्थान की उपयुक्तता, कोपा के प्रयोग, प्रबन्ध-व्यवस्था तथा हिसाब किताब की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। अव्यवस्था छुपाने के लिए कुछ बैंको ने तो लखो म हेर-फेर तथा अन्य अनुचित रीतियो को भी अपनाया। सामान्य अविश्वास तथा अव्यवस्था क कारण सन् 1939 से 1943 तक के 7 वर्षो म क्रमश 117, 107, 94, 50, 59, 28 तथा 27 (कुल 482) बैंक फेल हुए, जिनकी कुल प्रदत्त पूंजी लगभग 94 लाख रुपये थी। स्पष्ट है कि फेल होने वाले बैंक छोटे तथा दुर्बल बैंक ही थ।

बडे तथा मजबूत बैंको का विकास भी, बिना किसी पूर्व योजना के, असन्तुलित ढग स हुआ। देश के सभी भागा मे बैंकिंग सुविधाओ का समान विकास नहीं हुआ। नये बैंको की स्थापना प्राय देश के प्रमुख उद्योगपतियो द्वारा की गयी थी और उन्हाने बैंका के जमा धन का अपन ही हित म प्रयोग किया। लाभ बढ जाने के कारण बैंका द्वारा अपन शेयर्स पर ऊँचे लाभाश घोषित किये गये जिससे बैंको के शेयर्स म सट्टेबाजी बढ गई। अधिक लाभाश देकर बैंका न अपने सुरक्षित कोष बढाने का स्वर्ण अवसर खो दिया। योग्य एव कार्यकुशल कर्मचारियो तथा अधिकारियो के अभाव के कारण बैंका म कार्यकुशलता का स्तर भी नीचा रहा। अपने लाभ बढान के लिए बैंक अपने अतिरिक्त धन को सट्टा कार्यों म लगाते रहे जिसको रोकने के लिए रिजर्व बैंक ने कोई विशेष उपाय नहीं अपनाये।

युद्धोत्तर काल

युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था का अन्त होते ही व्यापार, आयात, निर्यात आदि अपने सामान्य रूप मे आने लगे जिससे भारतीय बैंका की सम्पत्ति एव दायित्व राशियो मे परिवर्तन आरम्भ हो गया। निक्षेप गिरने लगे तथा उनकी रचना म परिवर्तन होने लगा। परन्तु युद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद बैंको के विकास म कोई बाधा नही आयी। सन् 1946 मे एक छोटा सा सकट आया, किन्तु इसका प्रभाव मुख्य रूप मे बगाल के बैंको पर ही पडा था।

15 अगस्त, 1947 को देश स्वतन्त्र हुआ और इसके साथ ही देश का विभाजन हो गया। इसका देश की बैंकिंग व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पडा। पाकिस्तान को जाने वाले क्षेत्रो म स्थित बंको को काफी अधिक हानि हुई। कई बैंको ने पाकिस्तान स्थित शाखाओ को बन्द कर दिया और शरणार्थी जनसख्या की भाँति भारत म शरण ली। पाकिस्तान स्थित शाखाओ को अपना धन वहीं छोड जाना पडा तथा उनके ऋणो की वसूली न हुई। सबसे अधिक हानि पजाब नेशनल बैंक को उठानी पडी थी। इन परिस्थितियो म रिजर्व बैंक एक्ट की धारा 17 मे सशोधन कर गैर-अनुसूचित बैंको को भी उचित प्रतिभूतियो के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करने की सुविधा दी गयी। पूर्वी पजाब तथा दिल्ली बैंकिंग अध्यादेश (Ordinance), 1947 के अन्तर्गत पूर्वी पजाब तथा दिल्ली म स्थित प्रधान कार्यालय वाले बैंका के विरुद्ध तीन माह तक कोई भी कानूनी कार्यवाही करने की मनाही कर दी गयी। सकटग्रस्त बैंको क पुनर्वास के लिए सरकार द्वारा एक करोड रुपये की सहायता देने की भी व्यवस्था की गयी। सरकार तथा रिजर्व बैंक के सहयोग से कई बैंक फेल होने से बच गये। 1947 से 1951 तक प्रति वर्ष फेल होने वाले बैंको की सख्या क्रमश 37, 45, 53, 45 तथा 62 थी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ बनाने के लिए सरकार द्वारा अनेक उपाय किये गये हैं जिनके फलस्वरूप बैंको की कार्य-प्रणाली मे सुधार हुआ है, मुद्रा-बाजार अधिक सगठित हो गया है तथा 'स्थिरता एव विकास' के उद्देश्य को पूरा करने के लिए बैंको पर सरकार तथा रिजर्व बैंक का नियन्त्रण बढा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात भारतीय बैंकिंग व्यवस्था मे निम्नलिखित प्रमुख प्रवृत्तियाँ देखने मे आयी हैं

(1) **बैंको के राष्ट्रीयकरण की ओर झुकाव**—रिजर्व बैंक को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए तथा बैंकिंग व्यवस्था को सगठित करने के लिए 1 जनवरी, 1949 से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य सरकार तथा केन्द्रीय बैंक की नीति म समानता लाना था, ताकि रिजर्व बैंक देश मे योजनाबद्ध आर्थिक विकास के कार्य मे पहले से अधिक सहयोग दे सके।

देश मे बैंकिंग सेवाओ का विस्तार करने के उद्देश्य से 1 जुलाई, 1955 को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और उसे एक नये आधार पर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के नाम से पुन मगठित किया गया। बाद मे देशी राज्यो के 8 बैंको को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का सहायक (subsidiary) बना दिया गया जिससे ये भी सरकार के स्वामित्व मे आ गये।

देश मे व्यापारिक बैंको के राष्ट्रीयकरण की माँग पिछले कुछ वर्षों से की जा रही थी। जुलाई 1969 मे प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने वित्त मन्त्रालय अपने हाथ मे लेने के तीन दिन बाद ही देश के 14 प्रमुख बैंको के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी। इसका अध्ययन आगे अलग से किया गया है।

(2) **बैंकिंग कम्पनी कानून, 1949**—स्वतन्त्रता से पूर्व बैंको के समुचित नियन्त्रण तथा नियमन के लिए कोई अलग कानून नही था। 16 मार्च, 1949 से देश मे बैंकिंग कम्पनीज एक्ट लागू किया गया जिसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक को बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण करने के विस्तृत अधिकार दिये गये है। इस कानून मे बैंको के कार्यों, सगठन, पूँजी, शाखा-विस्तार, ऋण-नीति, हिसाब-किताब, लाभाश वितरण आदि से सम्बन्धित व्यापक नियम बनाये गये हैं। इस कानून मे समय समय पर आवश्यकतानुसार सशोधन किये जाते रहे हैं। सितम्बर 1965 मे इसे बैंकिंग नियमन अधिनियम (Banking Regulation Act) की सज्ञा दी गयी। 1968 मे किये गये सशोधन का उद्देश्य बैंकिंग व्यवसाय पर सामाजिक नियन्त्रण (social control) लागू करना था।

(3) **बैंको का एकीकरण**—गत वर्षों मे सरकार तथा रिजर्व बैंक ने कमजोर व छोटे बैंको के एकीकरण तथा विलीनीकरण (amalgamation) की ओर विशेष ध्यान दिया है। सन् 1950 मे बगाल के चार बैंको को मिलाकर एक नये बैंक 'दी यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया' की स्थापना की गयी थी। सन् 1951 मे भारत बैंक को पजाब नेशनल बैंक मे मिला दिया गया। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना करते समय दस देशी रियासतो के बैंको को भी इसमे मिला देने का सुझाव दिया गया था, परन्तु इस पर अमल नही किया जा सका। सन् 1960 मे रिजर्व बैंक को कमजोर बैंको का अनिवार्य रूप से विलीनीकरण करने की शक्ति प्रदान की गयी। 1960 से 1968 तक आठ वर्षों की अवधि मे 204 बैंको का अन्य बैंको के साथ विलीनीकरण किया गया है।

(4) **बैंकिंग शिक्षा की व्यवस्था**—बैंको के सफल सचालन के लिए बैंको के कर्मचारियो व अधिकारियो को प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने 1954 मे एक स्टाफ ट्रेनिंग कालेज बम्बई म स्थापित किया था। प्रशिक्षण सुविधाओ के विस्तार की माँग को पूरा करने के लिए 1963 मे मद्रास मे दूसरा कालेज खोला गया। तीसरे कालेज के भवन का शिलान्यास रिजर्व बैंक के गवर्नर द्वारा मई 1967 मे पूना मे किया गया। ये कालेज व्यापारिक तथा सहकारी बैंको के कर्मचारियो तथा अधिकारियो को बैंकिंग की उच्च शिक्षा देते है।

(5) **जमा बीमा योजना**—जमाकर्ताओ की सुरक्षा तथा बैंको मे जनता का विश्वास जमाने के उद्देश्य से 1 जनवरी, 1962 से जमा बीमा निगम की स्थापना की गयी है। यह निगम बैंको

के पास जनता की जमा का बीमा करता है जिससे बैंक के फेल हो जाने पर भी जमाकर्ता को हानि नही होती है।

(6) **व्यापार का विस्तार**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात देश मे व्यापारिक बैको के व्यापार का विस्तार हुआ है। बैंकिंग व्यवसाय मे सुदृढता (consolidation) लाने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। मार्च 1951 मे अनुसूचित व्यापारिक बैको की सख्या 93 थी जो मार्च 1967 मे घटकर केवल 73 ही रह गयी। 1970 71 के अन्त मे भी यह सख्या 73 ही थी। भारत मे गैर-अनुसूचित बैको की सख्या मार्च 1956 मे 378 थी। मार्च 1961 तक यह सख्या 256 रह गयी। दिसम्बर 1970 मे इस प्रकार के केवल 12 बैंक ही कार्य कर रहे थे। अनुसूचित बैंको की सख्या कम हुई है, परन्तु इनकी शाखाओ की सख्या मे निरन्तर वृद्धि होती रही है। मार्च 1961 मे 89 अनुसूचित व्यापारिक बैंको के कुल 4166 कार्यालय थे। सन् 1970 तक बैको की सख्या तो 73 हो गयी, परन्तु इनके कार्यालयो की सख्या 11,040 थी। अनुसूचित व गैर-अनुसूचित व्यापारिक बैक मिलाकर दिसम्बर 1970 मे भारत मे कुल 11,184 बैंकिंग कार्यालय थे। इस प्रकार प्रति 52,000 से भी कम जनसख्या के लिए एक व्यापारिक बैंक कार्यालय उपलब्ध था। कार्यालयो के विस्तार के साथ साथ बैंको की जमा व साख दोनो मे वृद्धि हुई है। मार्च 1951 से मार्च 1971 के बीच अनुसूचित व्यापारिक बैंको की कुल जमा 880 61 करोड रुपये से बढकर 5893 42 करोड रुपये हो गयी है। इस प्रकार यह राशि 20 वर्षो मे छ गुनी से भी अधिक हो गयी है। इसी अवधि मे इन बैंको द्वारा दी गयी साख की मात्रा भी 546 93 करोड से बढकर 4649 28 करोड रुपये हो गयी है।

(7) **उपेक्षित वर्गों के लिए साख-सुविधाएँ**—गत वर्षो मे सरकार तथा रिजर्व बैंक इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे है कि बैको द्वारा उचित ब्याज पर उन व्यक्तियो तथा व्यवसायियो को भी साख प्रदान की जाय जो आवश्यक उत्पादक कार्यों मे लगे हुए है परन्तु उनके निजी साधन कम है। इसी नीति के अन्तर्गत छोटे किसानो, कारखानेदारो, परिवहन परिचालकों तथा छोटे व्यापारियों आदि को ऋण दिलाने के लिए बैंको को अनेक प्रकार की सुविधाएँ और छूटें दी गयी हैं। थोडे साधनो वाले व्यक्तियो को दिये गये ऋणो की गारण्टी के लिए जनवरी 1971 मे भारतीय साख गारण्टी निगम (Credit Guarantee Corporation of India Limited) की स्थापना की गयी है। इस निगम द्वारा निर्धारित छोटे ऋणो से सम्बन्धित गारण्टी योजना अप्रैल 1971 से लागू हुई है। इसके पूर्व, जुलाई 1960 से रिजर्व बैंक का औद्योगिक वित्त विभाग छोटे उद्योगो को दिये गये ऋणो की गारण्टी देता रहा है। प्रमुख बैको के राष्ट्रीयकरण के बाद कृषि तथा छोटे उद्योगो आदि को बैंको से प्राप्त होने वाली साख की मात्रा मे वृद्धि हुई है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात भारतीय बैंकिंग व्यवस्था विकसित हुई है तथा इसमे सुदृढता आयी है। भारत सरकार तथा रिजर्व बैक निरन्तर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे है कि देश के आर्थिक विकास के कार्य मे बैको स अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त किया जा सके। राष्ट्रीय हितो को ध्यान मे रखते हुए ही 14 प्रमुख व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया है।

जमा बीमा निगम

किसी बैंक के फेल हो जाने की स्थिति मे जमाकर्ताओ की सुरक्षा के लिए जमा बीमा व्यवस्था का होना आवश्यक होता है। भारत मे इस आवश्यकता का समर्थन सर्वप्रथम ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति (1950) द्वारा किया गया था। बाद मे 1954 मे श्रॉफ समिति (Committee on Finance for Private Sector) ने भी अमेरिकी पद्धति के अनुरूप भारत से जमा बीमा व्यवस्था आरम्भ करने की सिफारिश की थी। सन् 1960 मे लक्ष्मी बैंक तथा पलाई सेण्ट्रल बैंक के फेल हो जाने के कारण इस व्यवस्था को लागू करने की माँग और तीव्र हो गयी। सन् 1961 म पास किये गये कानून के अन्तर्गत 1 जनवरी, 1962 से जमा बीमा निगम (Deposit Insurance Corporation) की स्थापना की गयी।

जमा बीमा निगम का उद्देश्य छोटे तथा मध्यम वर्ग के जमाकर्ताओं के हितों को सुरक्षित करना है। 31 दिसम्बर, 1967 तक निगम एक जमाकर्ता के एक बीमित बैंक में एक खाते की 1500 रुपये तक की जमा का बीमा करता था, किन्तु 1 जनवरी, 1968 से यह सीमा बढ़ाकर 5,000 रुपये कर दी गयी। 1 अप्रैल, 1970 से यह सीमा बढ़ाकर 10,000 रुपये कर दी गयी है। इस प्रकार, किसी बैंक के फेल हो जाने पर प्रत्येक जमाकर्ता को *10,000* रुपये तक की जमा सुरक्षित रहती है। प्रत्येक बैंक को प्रति 100 रुपये की जमा के लिए 5 पैसे वार्षिक के हिसाब से प्रीमियम अदा करना पड़ता है। निगम की अधिकृत पूंजी 1 करोड़ रुपये है जो सब की सब *रिजर्व बैंक द्वारा लगायी गयी है। आवश्यकता पड़ने पर निगम रिजर्व बैंक से 5 करोड़ रुपये तक के* ऋण भी ले सकता है। निगम का प्रबन्ध 5 सदस्यों वाले एक संचालक-मण्डल द्वारा किया जाता है जिसमें रिजर्व बैंक का गवर्नर अध्यक्ष होता है।

सितम्बर 1970 के अन्त में बीमित बैंकों (insured banks) की संख्या 83 थी। यह संख्या एक वर्ष पूर्व 86 थी और 1966 तथा 1967 के अन्त में क्रमश 103 और 285 थी। बीमित बैंकों की संख्या में कमी का कारण बैंकों के एकीकरण तथा विलयन द्वारा बैंकों की संख्या में बराबर कमी होते रहना है। राष्ट्रीयकृत बैंकों को बीमित बैंकों के रूप में अपनी स्थिति बनाये रखने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है।

सितम्बर 1967 के अन्तिम शुक्रवार को बीमाकृत बैंकों के पास जमा खाता की संख्या 155 26 लाख थी जिनमें से 118 67 लाख खातों (जिनमें बकाया राशि 1,500 रुपये से अधिक नहीं थी) अर्थात् 76 4 प्रतिशत खातों का निगम के पास बीमा हो चुका था। 1 जनवरी, 1968 से बीमा की सीमा 5,000 रुपये कर देने से 91 प्रतिशत खाते सुरक्षित हो गये। अप्रैल 1970 में बीमे की सीमा 10,000 रुपये कर देने के बाद सितम्बर 1970 के अन्त में बीमाकृत बैंकों के *कुल 240 39 लाख खातों में से 231 65 लाख खातों (अर्थात् 96 4 प्रतिशत) का निगम के पास* बीमा हो चुका था। बीमाकृत जमा की कुल राशि 3,367 28 करोड़ रुपये थी।

जमा बीमा निगम के कार्य की विशेष रूप से बड़े बैंकों ने बहुत आलोचना की है। उनका कहना है कि बड़े एवं दृढ़ बैंकों तथा दुर्बल बैंकों के बीच जमाकर्ताओं के लिए भेद समाप्त हो जाता है जिसका बड़े बैंकों की जमाओं पर प्रभाव पड़ता है। इससे लोगों में बड़ी जमाएँ एक ही खाते तथा एक ही बैंक में न रखने की प्रवृत्ति भी बढ़ती है। निगम द्वारा प्रीमियम बैंक की कुल जमा राशि पर लिया जाता है, न कि बीमा किये गये अंश पर। इसके फलस्वरूप अधिक जमा वाले बैंकों पर भार अधिक पड़ता है। परन्तु वास्तव में, ये सब तर्क निराधार हैं तथा दृढ़ बैंकों के प्रति अन्याय की बात भ्रामक है। जमा बीमा से लोगों का बैंकों में विश्वास बढ़ता है और इससे निश्चय ही बड़े बैंकों को अधिक लाभ होता है। जमा बीमा व्यवस्था से बैंकिंग व्यवस्था में दृढ़ता आयी है जिससे बैंकिंग की आदत तथा बैंकों के विस्तार को प्रोत्साहन मिलता है।

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दोष

इसमें सन्देह नहीं कि गत वर्षों में भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का काफी विकास हुआ है, परन्तु इतना होने पर भी यह दोषों से रहित नहीं है। इन दोषों के कारण ही देश के आर्थिक विकास में अब तक बैंकों का पर्याप्त सहयोग नहीं मिल पाया है। भारतीय बैंकिंग के प्रमुख दोष इस प्रकार हैं

(1) **अपर्याप्त बैंकिंग विकास**—भारत के आकार, जनसंख्या तथा आर्थिक विकास के साथ-साथ बैंकिंग सम्बन्धी बढ़ती हुई आवश्यकताओं को देखते हुए अभी तक देश में बैंकिंग का जितना विकास हुआ है उसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों की तो बात छोड़िए, *अप्रैल 1969 में देश में 617 कस्बे तथा नगर ऐसे थे जिनमें किसी भी व्यापारिक बैंक का कोई* कार्यालय नहीं था। इनमें से 136 कस्बे 10,000 से अधिक आबादी वाले थे और बाकी के 481 कस्बे 5,000 से 10,000 आबादी वाले थे। बैंकिंग सुविधाओं से रहित 617 कस्बों में से 173 में सहकारी बैंक थे। यदि इनको निकाल दिया जाय तो भी देश में 444 कस्बे ऐसे थे जिनमें किसी

भी प्रकार की बैंकिंग सुविधाएँ उपलब्ध नही थी ।[1] यह कहना गलत नही होगा कि भारतीय बैंको का वर्तमान विकास असमान एव असन्तुलित है क्योकि बैंको की नयी शाखाएँ अधिकाशत उन्ही बडे-बडे व्यापारिक एव औद्योगिक केन्द्रो मे खोली गयी हैं जहां पहले ही बैंकिंग सुविधाएँ पर्याप्त रूप मे उपलब्ध थी । ग्रामीण क्षेत्रो तथा छोटे कस्बो को अभी तक पर्याप्त बैंकिंग सुविधाएँ उपलब्ध नही हो पायी हैं ।

(2) **उद्योगपतियो का प्रभाव**—भारत के अधिकाश मिश्रित पूंजी वाले बैंको पर देश के बडे-बडे उद्योगपति छाये रहे हैं । वास्तव मे, प्रमुख बैंको के राष्ट्रीयकरण के पूर्व विभिन्न बैंको के साथ बडे व्यवसायी गृहो के नाम जुडे हुए थे, जैसे बिडला का बैंक, टाटा का बैंक आदि । एकाधिकार आयोग रिपोर्ट, औद्योगिक लाइसेंसिंग रिपोर्ट तथा दत्त समिति की रिपोर्ट म बडे व्यापारियो तथा बैंको की पारस्परिक निर्भरता का उल्लेख किया गया है । परिणामस्वरूप, बैंको द्वारा साख का अधिकाश भाग उन उद्योगो के लिए दिया जाता रहा है जिनमे उनके डायरेक्टरो के स्वार्थ निहित होते थे । मार्च 1951 मे बैंको द्वारा दी गयी साख मे उद्योगो का हिस्सा 34 प्रतिशत था, जो बढते-बढते मार्च 1967 मे 64 3 प्रतिशत हो गया । इसके विपरीत, सरकार तथा रिजर्व बैंक के विभिन्न प्रयासा तथा अनुरोधो के बावजूद कृषि तथा लघु उद्योगो के बैंक-ऋण मे हिस्से मे वृद्धि नही हो पायी । कृषि का हिस्सा मार्च 1951 मे 2 1 प्रतिशत था जो मार्च 1967 मे भी उतना ही रहा ।

(3) **बैंको की कार्यशील पूंजी की कमी**—अन्य देशो की अपेक्षा भारतीय बैंको की कार्यशील पूंजी बहुत कम है । विशेष रूप से गैर-अनुसूचित बैंक बहुत कमजोर तथा छोटे हैं जिनका बैंकिंग व्यवस्था मे कोई महत्व नही है । सन् 1969-70 के अन्त म भारत मे केवल 86 ऐसे बैंक थे जिनकी चुकता पूंजी 5 लाख रुपये से अधिक थी । भारतीय बैंको की दुर्बलता का प्रमुख कारण उनके निक्षेपो का कम होना है । भारतीय बैंको के निक्षेपो की हीन स्थिति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय आंकडो (International Financial Statistics) के आधार पर सन् 1965 मे भारतीय बैंको के प्रति व्यक्ति निक्षेप केवल 68 रुपये थे जबकि लका तथा पाकिस्तान मे भी प्रति व्यक्ति निक्षेप क्रमश 142 तथा 130 रुपये थे । विकसित देशो से तो तुलना की ही नही जा सकती । अमेरिका, इगलैण्ड तथा जापान मे प्रति व्यक्ति निक्षेप क्रमश *10,700, 4,200 तथा 4,050 रुपये थे।*

(4) **दोषपूर्ण बैंकिंग प्रणाली**—भारतीय बैंकिंग प्रणाली मे सम्मिलित बैंक अधिकाशत व्यापारिक बैंक ही हैं । औद्योगिक, कृषि, सेविंग्स तथा विदेशी विनिमय आदि के लिए विशिष्ट बैंको (specialised banks) का देश मे लगभग पूर्ण अभाव है । भारतीय बैंकिंग प्रणाली का यह एक बडा दोष है । भारतीय बैंको की कार्य-पद्धति म समानता का भी अभाव है । भारतीय बैंकिंग व्यवस्था मुख्य रूप से दो भागो—सगठित (organised) क्षेत्र तथा असगठित (un-organised) क्षेत्र—म बँटी हुई है । इन दोनो भागो के बीच किसी भी प्रकार का सम्पर्क अथवा सम्बन्ध नही है । सगठित क्षेत्र मे भी बैंक अनेक प्रकार के हैं । कुछ बैंक सार्वजनिक क्षेत्र मे हैं और कुछ निजी क्षेत्र मे । इनके साथ-साथ विदेशी बैंक हैं और सहकारी बैंक भी । परिणामस्वरूप, भारतीय बैंको की ऋण, विनियोग अथवा निक्षेप नीति मे एकता लायी जा सकी है । प्राय देखा गया है कि भारतीय बैंको की ऋण सम्बन्धी नीति विशुद्ध बैंकिंग सिद्धान्तो पर आधारित नही होती । अपर्याप्त जमानत पर ऐसी कम्पनियो तथा सस्थाओ को ऋण दिये जाते हैं जिनम बैंको के डायरेक्टरो अथवा प्रबन्धको के स्वार्थ निहित होते हैं । अचल सम्पत्ति के आधार पर भी ऋण दिये जाते हैं ।

(5) **अपर्याप्त सुविधाएं**—देश मे विभिन्न क्षेत्रो तथा विभिन्न व्यवसायो के लिए बैंकिंग सुविधाओ के असमान तथा असन्तुलित वितरण के अतिरिक्त भारतीय बैंकिंग प्रणाली का एक बहुत बडा दोष यह भी है कि अनेक बैंकिंग सुविधाएँ अपर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध की जाती हैं । रिजर्व बैंक के भरसक प्रयत्नो के बावजूद भी देश मे अभी तक बिल बाजार का समुचित विकास नही हो

1 *Reserve Bank of India Bulletin*, April 1969, p 529

पाया है। भारतीय बैंको द्वारा व्यक्तिगत ऋणो, किस्त ऋणो तथा धन-प्रेषण सुविधा (remittance facility) जैसी अन्य सेवाओ के प्रदान करने मे विशेष रुचि नही दिखायी गयी है जबकि विकसित देशो मे ये सुविधाएँ बहुत अधिक मात्रा मे उपलब्ध है। भारतीय बैंको की कार्यकुशलता का स्तर भी बहुत नीचा है जिसका मुख्य कारण कुशल, योग्य एव अनुभवी कर्मचारियो तथा अधिकारियो का अभाव है। बैंको के डायरेक्टरो तथा प्रबन्धको को प्राय बैंकिंग व्यवसाय सम्बन्धी यथेष्ट ज्ञान भी नही होता है। फलत बैंको मे अनेक प्रकार की अनियमितताएँ चालू रहती है।

(6) **रिजर्व बैंक का अपूर्ण नियन्त्रण**—देश की बैंकिंग व्यवस्था के उचित नियमन के लिए रिजर्व बैंक को व्यापक अधिकार दिये गये है, परन्तु व्यावहारिक रूप मे न तो रिजर्व बैंक अपनी शक्ति का कठोरता मे प्रयोग करता है और न ही इसके आदेशो का पूरी तरह से पालन हो पाता है। बडे बैंको के पास निजी साधन अधिक होने के कारण रिजर्व बैंक की साख-नियन्त्रण नीति भी सफल नही हो पाती है। रिजर्व बैंक के निरीक्षणो के सम्बन्ध मे भी समय-समय पर आशकाएँ प्रकट की गयी हैं।

उपर्युक्त समस्याओ के कारण ही भारतीय बैंकिंग प्रणाली मे सुधार के लिए समय समय पर अनेक सुझाव दिये जाते रहे है। सन् 1968 मे व्यापारिक बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण (social control) तथा जुलाई 1969 मे 14 प्रमुख बैंको का राष्ट्रीयकरण सुधार की भावना से प्रेरित होकर ही किये गये है। हम चाहते यह है कि देश के आर्थिक विकास के कार्य मे बैंक अधिक से अधिक सहयोग दें तथा सम्पूर्ण राष्ट्र के हित मे कार्य करें।

बैंकिंग कमीशन, 1969

14 दिसम्बर, 1967 को श्री मोरारजी देसाई, तत्कालीन उप-प्रधान मन्त्री एव वित्त मन्त्री, ने लोकसभा मे घोषणा की थी कि बैंकिंग के विकास से सम्बन्धित विषयो के अध्ययन के लिए एक बैंकिंग कमीशन नियुक्त किया जायगा। 29 जनवरी, 1969 को भारत सरकार ने श्री आर० जी० सरैया (R G Saraiya) की अध्यक्षता मे बैंकिंग कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की। अध्यक्ष के अतिरिक्त इसके तीन और सदस्य है—श्री एन० रामानन्द राव (स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के मैनेजिंग डायरेक्टर), प्रो० भावातोष दत्त (अर्थशास्त्री) तथा श्री वी० जी० पढारकर (रिजर्व बैंक के प्रमुख सलाहकार)। कमीशन को निम्नलिखित विषयो पर विचार करने के लिया कहा गया है

(1) व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली के आकार, फैलाव तथा कार्यक्षेत्र से सम्बन्धित वर्तमान ढाँचे का अध्ययन करना और उसमे सुधार के उपाय सुझाना,

(2) व्यापारिक बैंको के भौगोलिक तथा कार्यो से सम्बन्धित क्षेत्र के विस्तार के लिए सुझाव देना,

(3) बैंको की कार्य प्रणाली तथा प्रबन्ध मे सुधार के लिए सुझाव देना,

(4) बैंको की विकास सम्बन्धी आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए उनकी लागत तथा पूँजी के ढाँचे की जाँच करना तथा उनको उपलब्ध अधिशेष तथा कोषो (surplus and reserves) की समीक्षा करना और प्राप्त की गयी जानकारी के आधार पर सिफारिशें देना,

(5) बैंको के कर्मचारियो की भर्ती, प्रशिक्षण तथा इस प्रकार के अन्य विषयो से सम्बन्धित वर्तमान व्यवस्था की समीक्षा करना तथा सुझाव देना,

(6) सहकारी बैंको के कार्य का अध्ययन करना और बैंकिंग के विस्तार की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए व्यापारिक बैंको तथा सहकारी बैंको के समन्वित विकास के लिए सुझाव देना,

(7) गैर-बैंकिंग वित्तीय मध्यस्थो (non banking financial intermediaries) के विभिन्न वर्गों के कार्य की समीक्षा करना, उनके ढाँचे तथा कार्य विधि की जाँच करना तथा उनके नियमित विकास के उपाय सुझाना,

(8) देशी बैंकरो (indigenous banking agencies) के विभिन्न वर्गों के कार्य की

समीक्षा करना, मुद्रा-बाजार में उनके महत्व की जाँच करना तथा अध्ययन से प्राप्त की गयी जानकारी के आधार पर सिफारिशें देना,

(9) व्यापारिक व सहकारी बैंकों से सम्बन्धित वर्तमान कानूनों की समीक्षा करना, तथा

(10) जाँच से सम्बन्धित किसी अन्य विषय पर जिसे कमीशन महत्वपूर्ण समझे अथवा जिसे सरकार कमीशन के विचारार्थ रखे, सुझाव देना।

कमीशन की पहली मीटिंग 7 मार्च, 1969 को नई दिल्ली में हुई जिसमें श्री आर० जी० सरैया ने यह विश्वास दिलाया कि कमीशन के सुझावों का उद्देश्य देश में वित्तीय संस्थाओं को सामाजिक तथा आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन बनाना होगा। आशा थी कि कमीशन सन् 1970 के अन्त तक अपनी रिपोर्ट दे देगा, परन्तु कमीशन को जाँच के लिए दिये गये विषयों की व्यापकता और बैंकों के राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न समस्याओं को देखते हुए कमीशन ने रिपोर्ट देने के लिए और अधिक समय की माँग की है। आशा है कि कमीशन की रिपोर्ट प्राप्त हो जाने पर सरकार बैंकों के संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन करेगी।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. भारत में बैंकिंग के विकास पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

[संकेत : 17वीं शताब्दी में एजेन्सी गृहों की स्थापना से लेकर 1969 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण तक बैंकिंग के विकास की प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त विवरण दीजिए। बैंकिंग विकास की वर्तमान प्रवृत्तियों का भी उल्लेख कीजिए।]

2. सन् 1947 के बाद भारतीय बैंकिंग की मुख्य प्रवृत्तियों की विवेचना करिए और वर्तमान बैंकिंग व्यवस्था के दोषों का वर्णन करिए।

[संकेत : प्रथम भाग में वर्तमान बैंकिंग व्यवस्था की प्रमुख प्रवृत्तियों का विस्तारपूर्वक विवरण दीजिए और यह बताइए कि बैंकों का विस्तार हुआ है, उनमें सुरक्षा आयी है तथा उनकी कार्यप्रणाली में सुधार हुआ है। उन पर सरकार तथा रिजर्व बैंक का नियन्त्रण भी बढ़ा है। दूसरे भाग में वर्तमान बैंकिंग व्यवस्था के प्रमुख दोषों का विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए।]

3. क्या आप सोचते हैं कि भारतीय बैंकिंग का विकास अनियोजित तथा अनियन्त्रित ढंग से हुआ है? बैंकिंग कमीशन, 1969 की नियुक्ति किस उद्देश्य से की गयी है?

[संकेत : भारतीय बैंकिंग के इतिहास के आधार पर यह स्पष्ट कीजिए कि भारत में समय-समय पर राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तन बैंकिंग के विकास को प्रभावित करते रहे हैं। उनका विकास नियोजित तथा नियन्त्रित ढंग से नहीं हो पाया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार तथा रिजर्व बैंक का बैंकों पर नियन्त्रण बढ़ा है परन्तु अब तक इसके बहुत अधिक प्रभावपूर्ण न होने के कारण भारतीय बैंकिंग प्रणाली में अनेक दोष रहे हैं। दूसरे भाग में बैंकिंग कमीशन को विचारार्थ दिये गये विषयों (Terms of Reference) का उल्लेख कीजिए।]

4. भारतीय जमा बीमा निगम पर टिप्पणी लिखिए।

[संकेत : जमा बीमा निगम के उद्देश्य, पूँजी व संगठन तथा कार्य का संक्षिप्त विवरण दीजिए।]

28

भारतीय बैंकिंग विधान—सामाजिक नियन्त्रण तथा राष्ट्रीयकरण

[INDIAN BANKING LEGISLATION—SOCIAL CONTROL AND NATIONALISATION]

वर्तमान युग में प्रत्येक देश की अर्थ-व्यवस्था में बैंकों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। बैंक एक ओर तो जमा के रूप में लोगों से धन प्राप्त करते हैं और दूसरी ओर व्यापार एवं उद्योग के विकास के लिए साख की व्यवस्था करते हैं। बैंकों की चालू पूँजी का अधिकांश भाग अंशधारियों का न होकर जमाकर्ताओं का होता है, जबकि बैंक की प्रबन्ध-व्यवस्था अल्पसंख्यक अंशधारियों के अधिकार में होती है। जमाकर्ताओं के हितों की रक्षा के लिए बैंकों की क्रियाओं पर वैधानिक नियन्त्रण होना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त, सभी देशों में साख मुद्रा के प्रयोग में इतनी अधिक वृद्धि हुई है कि बैंकों की ऋण-नीति अथवा साधनों के उपयोग पर नियन्त्रण रखना बहुत आवश्यक हो गया है।

सन् 1949 के पूर्व

सन् 1913 के इण्डियन कम्पनीज एक्ट (Indian Companies Act, 1913) में अन्य कम्पनियों के अतिरिक्त बैंकिंग कम्पनियों के सम्बन्ध में भी कुछ नियम बनाये गये थे, परन्तु उनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। सन् 1913-14 के बैंकिंग संकट-काल में जब अनेक बैंक फेल हो गये तो एक व्यापक बैंकिंग विधान की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। सन् 1929 में नियुक्त की गयी केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने सन् 1931 में पेश की गयी अपनी रिपोर्ट में भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का नियन्त्रण करने के लिए एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया तथा इस बात पर जोर दिया कि बैंकों के संगठन, संचालन, अंकेक्षण, निरीक्षण आदि विविध पहलुओं पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए वैधानिक नियमों की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में समिति ने कुछ सुझाव भी दिये जिन्हें ध्यान में रखकर सरकार ने सन् 1936 में 1913 के इण्डियन कम्पनीज एक्ट में संशोधन कर बैंकिंग सम्बन्धी कुछ धाराएँ जोड़ दी। परन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि यह वैधानिक व्यवस्था देश की बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण रखने के लिए अपर्याप्त थी। आने वाले वर्षों में रिजर्व बैंक द्वारा एक पूर्णकाय एवं स्वतन्त्र बैंकिंग विधान की माँग की जाने लगी।

सन् 1939 में रिजर्व बैंक ने स्वतन्त्र बैंकिंग विधान लागू करने के लिए एक बैंकिंग विधेयक (Bill) का मसौदा सरकार के सामने प्रस्तुत किया। परन्तु द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने के कारण इस पर कोई कार्यवाही नहीं की गयी। युद्धकाल में सन् 1942 तथा 1944 में कम्पनीज एक्ट में संशोधन करके कुछ नये नियम जोड़ दिये गये। सन् 1939 के बैंकिंग विधेयक में कुछ परिवर्तन करके रिजर्व बैंक ने इसे पुनः सरकार के सामने रखा, जिसे नवम्बर 1944 में भारतीय व्यवस्थापिका सभा के सामने प्रस्तुत

किया गया। व्यवस्थापिका सभा ने इसे प्रवर समिति (Select Committee) को सौंप दिया। परन्तु व्यवस्थापिका सभा का अधिवेशन 1 अक्टूबर, 1945 से आगे न बढ सकने के कारण यह विधेयक कानून न बन सका। सन् 1946 मे पुन एक नया बैंकिग कम्पनी विधेयक प्रस्तुत किया गया और यह भी प्रवर समिति को विचार करने के लिए सौंप दिया गया। प्रवर समिति ने इस पर विचार करने मे काफी समय ले लिया और इसमें इतने अधिक सशोधन करने का सुझाव दिया कि उसे बिलकुल नये सिरे से तैयार करना पड़ा। इसी बीच देश मे बैंको ने तेजी से शाखा-विस्तार करना शुरु कर दिया था। अवाछित शाखा-विस्तार रोकने के लिए 1946 मे बैंकिग कम्पनी शाखा निरोधक अधिनियम (Banking Companies Restriction of Branches Act, 1946) पास किया गया। उसी वर्ष बैंकिग कम्पनी (निरीक्षण) अध्यादेश [Banking Companies (Inspection) Ordinance, 1946] पास किया गया तथा सन् 1948 म बैंकिग कम्पनी (नियन्त्रण) अध्यादेश [Banking Companies (Control) Ordinance, 1948] पास हुआ।

सन् 1949 का बैंकिग अधिनियम

मार्च 1948 मे विधान-निर्मात्री सभा (Constituent Assembly) के समक्ष प्रस्तुत किया गया बैंकिग कम्पनी विधेयक फरवरी 1949 मे कुछ सशोधनो के साथ **"बैंकिग कम्पनी अधिनियम, 1949"** (Banking Companies Act, 1949) के नाम से पास कर दिया गया। गवर्नर जनरल की स्वीकृति के पश्चात 16 मार्च, 1949 से यह कानून जम्मू व काश्मीर राज्य को छोडकर सम्पूर्ण देश मे लागू कर दिया गया। सितम्बर 1965 के एक सशोधन के द्वारा इसका नाम बदलकर **'बैंकिग नियमन अधिनियम'** (Banking Regulation Act) कर दिया गया है।

(1) **परिभाषा**—इस कानून की धारा 5 (ब) के अनुसार, "बैंकिग का अर्थ है उधार देने अथवा विनियोग करने के उद्देश्य से जनता से ऐसी जमा स्वीकार करना जो माँग पर या किसी अन्य प्रकार से चैक, ड्राफ्ट, आदेश या अन्य किसी माध्यम से देय हो।"[1] इस प्रकार बैंकिग कम्पनी वह कम्पनी है जो बैंकिग का कार्य करती है। धारा 7 के अन्तर्गत प्रत्येक बैंकिग कम्पनी के लिए अपने नाम के साथ 'बैंक', 'बैंकर' या बैंकिग' शब्द का प्रयोग करना अनिवार्य है। बैंकिग व्यवसाय *न करने वालो को इन शब्दो का प्रयोग करने मे रोका गया है। इस दृष्टि से साहूकार तथा महाजन* बैंकर नही कहे जा सकते हैं। मूल रूप मे यह कानून सहकारी बैंको पर लागू नही होता था, परन्तु सन् 1965 के सशोधन के पश्चात यह उन पर भी लागू होता है और राज्य-सहकारी बैंको को अनुसूचित बैंको की श्रेणी मे ले लिया गया है।

(2) **बैंकिग व्यवसाय**—अधिनियम की धारा 6 मे उन कार्यों का उल्लेख किया गया है जो बैंको द्वारा किये जा सकते हैं। इन कार्यों की सूची मे एक आधुनिक बैंक के सभी कार्यों का समावेश कर दिया गया है। धारा 8 और 9 म उन कार्यों का उल्लेख किया गया ह जो बैंको के लिए निषिद्ध कर दिये गये हैं। कोई भी बैंक बैंकिग के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार नही कर सकता है और न ही कोई सहायक कम्पनी स्थापित कर सकता है। बिना रिजर्व बैंक की पूर्व-अनुमति के बैंक के अपने उपयोग मे न आने वाली अचल सम्पत्ति को कोई भी बैंक सात वर्ष से अधिक के लिए नही रख सकता है। बैंक को किसी अन्य कम्पनी की प्राप्त पूँजी के 20 प्रतिशत अथवा अपनी परिदत्त पूँजी के 30 प्रतिशत से अधिक रकम के शेयर्स खरीदने का अधिकार नही है। बैंक ऐसी कम्पनियो के शेयर्स नही खरीद सकता जिनमे बैंक के सचालको अथवा प्रवन्धको का स्वार्थ हो।

(3) **प्रबन्ध**—अधिनियम की धारा 10 के अनुसार कोई भी बैंक अपने प्रबन्ध के लिए मैनेजिंग एजेण्ट्स की नियुक्ति नही कर सकता है। ऐसा कोई भी व्यक्ति बैंकिग कम्पनी का प्रबन्धक नही हो सकता जिसको कम्पनी द्वारा पारिश्रमिक कमीशन अथवा लाभाश के रूप मे दिया जाता हो, जो किसी अन्य व्यवसाय मे लगा हुआ हो, जो किसी दूसरी कम्पनी का भी सचालक हो, जो

---

1 "Banking means the accepting, for the purpose of lending or investment of deposits of money from the public, *repayable on demand or otherwise, are withdrawable by cheque,* draft, order or otherwise"

बैंकिंग कम्पनी की सहायक नहीं है, जो कभी दिवालिया घोषित हो चुका हो अथवा जिसे किसी फौजदारी अदालत द्वारा नैतिक अपराध के लिए दण्ड दिया गया हो।

(4) **पूंजी**—अधिनियम की धारा 11 के अन्तर्गत बैंकों के कार्य-क्षेत्र के आधार पर उनकी निम्नतम पूंजी की मात्रा निश्चित की गयी है। यदि बैंक का एक ही कार्यालय है, जो कलकत्ता या बम्बई में नहीं है, तो उसकी न्यूनतम प्रदत्त पूंजी तथा प्रारक्षित कोष मिलाकर 50 हजार रुपये होनी चाहिए। यदि कार्यालय एक से अधिक राज्यों में हैं, किन्तु कलकत्ता या बम्बई में नहीं हैं, तो न्यूनतम पूंजी व कोष 5 लाख रुपये होना आवश्यक है और यदि कार्यालय कलकत्ता या बम्बई अथवा दोनों में हो तो पूंजी तथा कोष की राशि 10 लाख रुपये होनी चाहिए। इस प्रकार, बैंकिंग अधिनियम के अन्तर्गत किसी भी भारतीय बैंक की प्रदत्त पूंजी तथा सुरक्षित कोष की कुल राशि मिलाकर 10 लाख रुपये से अधिक होने की आवश्यकता नहीं है।

प्रत्येक विदेशी बैंक के लिए, जिसकी भारत में शाखाएँ हैं, पूंजी और कोष मिलाकर 15 लाख रुपये और यदि शाखाएँ कलकत्ता, बम्बई अथवा दोनों में है तो 20 लाख रुपये, नकद अथवा अनुमोदित प्रतिभूतियों में रिजर्व बैंक के पास जमा रखना आवश्यक है। 1962 के पश्चात विदेशी बैंकों के लिए यह भी अनिवार्य कर दिया गया है कि उपर्युक्त राशि के अतिरिक्त वे भारत में कमाये गये वार्षिक लाभ का 20 प्रतिशत रिजर्व बैंक में जमा कराएँ। बैंक के फेल हो जाने पर रिजर्व बैंक अपने पास जमा की गयी राशि का उपयोग उसके भारत में दायित्वों के भुगतान के लिए कर सकता है।

बैंकिंग अधिनियम की धारा 12 के अनुसार कोई भी बैंक अपना कार्य तभी आरम्भ कर सकता है जब उसकी प्रार्थित पूंजी अधिकृत पूंजी की तथा प्रदत्त पूंजी प्रार्थित पूंजी की आधी से कम न हो।

सन् 1962 के संशोधन के अनुसार 16 सितम्बर, 1962 के बाद स्थापित होने वाले किसी भी भारतीय बैंक की प्रदत्त पूंजी व सुरक्षित कोष मिलकर 5 लाख रुपये से कम नहीं हो सकते।

(5) **सुरक्षित कोष**—अधिनियम की धारा 17 में यह व्यवस्था की गयी थी कि प्रत्येक बैंक अपने वार्षिक शुद्ध लाभ का कम से कम 20 प्रतिशत भाग तब तक सुरक्षित कोष में जमा करता रहे जब तक उसका सुरक्षित कोष प्रदत्त पूंजी के बराबर न हो जाय। सन् 1962 के संशोधन के अनुसार अब सुरक्षित कोष प्रदत्त पूंजी के बराबर हो जाने के बाद भी प्रत्येक बैंक को अपने लाभ का 20% सुरक्षित कोष में डालना अनिवार्य कर दिया गया है। इसका उद्देश्य यह है कि बैंकों की प्रदत्त पूंजी और सुरक्षित कोषों की राशि कुल निक्षेपों के 6 प्रतिशत तक पहुँच जाय ताकि बैंकों की आर्थिक स्थिति अधिक दृढ़ हो जाय।

(6) **नकद कोष**—रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा 42 (1) और बैंकिंग अधिनियम की धारा 18 में सितम्बर 1962 में किये गये संशोधनों के अन्तर्गत प्रत्येक अनुसूचित बैंक के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया है कि वह अपनी कुल जमा का कम से कम 3 प्रतिशत न्यूनतम नकद-कोष के रूप में रिजर्व बैंक के पास रखे, जिसे आवश्यकता पड़ने पर 15 प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकता है। (इसके पूर्व मियादी जमाओं का 2 प्रतिशत तथा चालू जमाओं का 5 प्रतिशत नकद-कोष रखना आवश्यक था।) गैर-अनुसूचित बैंक अपनी कुल जमाओं का 3 प्रतिशत न्यूनतम नकद-कोष कुछ अपने पास और कुछ भाग रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक के पास रख सकते हैं।

उपर्युक्त नकद-कोष के अतिरिक्त, बैंकिंग अधिनियम की धारा 24 के अनुसार, जो सन् 1962 में संशोधित की गयी, यह आवश्यक है कि प्रत्येक बैंक अपने कुल जमा देय-धन (liabilities) के कम से कम 25 प्रतिशत मूल्य के बराबर नकद, सोना अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियाँ[1] अपने पास रखे। (इस संशोधन के पूर्व कुल दायित्वों का केवल 20 प्रतिशत ही तरल रूप में रखना आवश्यक था।) इस प्रकार सभी बैंकों को अपने कुल दायित्वों का कम से कम 28 (3+25) प्रतिशत तरल

---

1 "Cash, gold or unencumbered approved securities, valued at a price not exceeding the current market price"

रूप मे रखना आवश्यक है, जिसे आवश्यकता पडने पर रिजर्व बैंक 40 (15+25) प्रतिशत तक बढा सकता है।

धारा 25 के अनुसार प्रत्येक बैंक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने कुल दायित्वो के कम से कम 75 प्रतिशत मूल्य के बराबर परिसम्पत्ति (assets) भारत में ही रखे।

(7) **ऋणों पर प्रतिबन्ध**—अधिनियम की धारा 21 के अनुसार किसी एक बैंक या सभी बैंको को रिजर्व बैंक किसी भी प्रकार के ऋण देने से रोक सकता है और दिये जाने वाले ऋणो पर निर्धारित सीमान्तर (margins) रखने का आदेश दे सकता है। रिजर्व बैंक द्वारा वरणात्मक साख-नियन्त्रण (selective credit controls) इसी अधिकार के अन्तर्गत लगाये जाते हैं। धारा 20 के अनुसार कोई भी बैंक अपने अंशो की जमानत पर तथा अपने सचालको को बिना प्रतिभूति के ऋण नही दे सकता है। बैंक ऐसी किसी भी कम्पनी को ऋण नही दे सकता है जिसमें उसका कोई सचालक साझीदार, प्रबन्धक अभिकर्ता अथवा ऋणो की प्राप्ति के लिए जमानतदार हो।

(8) **अन्य प्रतिबन्ध**—अधिनियम की धारा 22 के अनुसार भारत मे बैंकिंग व्यवसाय करने के लिए प्रत्येक बैंक के लिए रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त करना अनिवार्य है। बैंक की स्थिति अथवा नीति सन्तोषजनक न होने पर उसका लाइसेन्स रद्द किया जा सकता है। धारा 23 के अनुसार प्रत्येक बैंक के लिए नई शाखा खोलने या पुरानी शाखा का स्थान बदलने के पूर्व रिजर्व बैंक की स्वीकृति लेना आवश्यक है। धारा 27 के अनुसार प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक के पास महीने के अन्तिम शुक्रवार के दिन अपनी पूंजी और दायित्वो का सम्पूर्ण विवरण भेजना अनिवार्य है। धारा 29, 30 और 31 मे बैंको द्वारा तैयार किये जाने वाले अन्तिम खातों के सम्बन्ध मे नियम बनाये गये हैं। प्रत्येक बैंक को 31 दिसम्बर (सहकारी बैंको को 30 जून) तक के खाते तैयार करने पडते हैं, जिनका प्रारूप निश्चित कर दिया गया है। विस्तृत अंकेक्षण के बाद प्रत्येक बैंक को अपने अन्तिम खातो का विवरण अंकेक्षण (audit) रिपोर्ट सहित तीन प्रतियो मे प्रति वर्ष 31 मार्च तक रिजर्व बैंक के पास भेजना होता है। बैंक को अन्तिम खाते की जानकारी सर्वसाधारण को भी देनी पडती है। बिना रिजर्व बैंक की अनुमति के कोई भी बैंक स्वेच्छापूर्वक निस्तारण (liquidation) करने का अधिकार नही रखता है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के विशेषाधिकार

बैंकिंग अधिनियम, 1949 के अन्तर्गत देश के व्यापारिक बैंको पर नियन्त्रण बनाये रखने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक को कुछ विशेषाधिकार दिये गये हैं, जिनमे से मुख्य निम्नलिखित हैं

(1) रिजर्व बैंक स्वय अपनी इच्छा से अथवा केन्द्रीय सरकार के आदेश पर किसी भी बैंक का निरीक्षण कर सकता है। बैंक की स्थिति असन्तोषजनक होने पर उसे निरीक्षण रिपोर्ट पर विचार करने के लिए अपने सचालको की बैठक बुलाने तथा रिपोर्ट मे दिये गये सुझावो का पालन करने का आदेश दिया जा सकता है। रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार है कि वह असन्तोषजनक स्थिति वाले बैंक को प्रबन्ध बदलने अथवा अपना कारोबार बन्द करने का आदेश दे सकता है।

(2) रिजर्व बैंक किसी भी बैंकिंग कम्पनी को अथवा सभी बैंकिंग कम्पनियो को किसी विशेष प्रकार के लेन-देन करने से रोक सकता है या उन्हें आवश्यक सलाह अथवा चेतावनी दे सकता है।

(3) अल्पकाल के लिए रिजर्व बैंक बैंको की परिदत्त पूँजी तथा रक्षित कोषो से सम्बन्धित नियमों में छूट दे सकता है। किसी भी बैंक को सात वर्ष से अधिक काल के लिए अचल सम्पत्ति रखने की छूट दी जा सकती है। रिजर्व बैंक को अधिकार है कि वह किसी भी बैंकिंग कम्पनी को ऋण अथवा अग्रिम देकर सहायता प्रदान करे।

(4) रिजर्व बैंक को यह अधिकार प्राप्त है कि वह बैंको के वरिष्ठ अधिकारियो की नियुक्ति व उनके वेतन आदि से सम्बन्धित नियम बनाये तथा उनको स्वीकृति प्रदान करे। रिजर्व बैंक को किसी बैंक के अध्यक्ष, प्रबन्धक अथवा मुख्य प्रशासनिक अधिकारी को उसके पद से हटाने का भी अधिकार दिया गया है।

(5) रिजर्व बैंक को अधिकार है कि वह बैंको से विविध प्रकार के विवरण तथा सूचनाएँ प्राप्त करे, उनका अवलोकन करे तथा उन पर आवश्यक कार्यवाही करे।

(6) किसी बैंकिंग कम्पनी का दूसरी कम्पनी के साथ एकीकरण (amalgamation) करने के लिए रिजर्व बैंक की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। कोई भी अदालत बिना रिजर्व बैंक की स्वीकृति के एकीकरण की योजना पर स्वीकृति नही दे सकती है।

(7) प्रत्येक बैंक को नई शाखाओ की स्थापना तथा अपनी पुरानी शाखाओ के स्थान परिवर्तन के लिए रिजर्व बैंक से अनुमति लेनी पडती है।

(8) रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक अथवा सभी बैंको की ऋण-नीति पर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त है।

(9) किसी बैंक की आर्थिक स्थिति असन्तोषजनक होने पर रिजर्व बैंक उस बैंक के लिए कानूनी तौर पर विलम्बकाल (moratorium) घोषित करने की सिफारिश कर देता है, जिसकी अवधि 6 मास तक बढ़ायी जा सकती है।

(10) किसी बैंक का समापन (winding up) अदालत के सामने विचाराधीन होने पर यदि रिजर्व बैंक उसके लिए सरकारी निस्तारक (official liquidator) के रूप में कार्य करना चाहे तो यह कार्य उसे ही दिया जायगा। इसके अतिरिक्त, विशेष परिस्थितियो मे रिजर्व बैंक किसी बैंक के अनिवार्य समापन के लिए हाईकोर्ट मे आवेदन कर सकता है।

(11) रिजर्व बैंक को देश की बैंकिंग व्यवस्था की प्रगति व प्रवृत्ति (trend and progress of banking) से सम्बन्धित वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करनी पडती है। इस रिपोर्ट से बैंकिंग व्यवस्था की प्रगति तथा दृढता से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त हो जाती है।

भारतीय बैंकिंग विधान में संशोधन

बैंकिंग कम्पनी अधिनियम, 1949 में अब तक कई संशोधन हो चुके है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है

सर्वप्रथम महत्वपूर्ण संशोधन सन् 1950 में हुआ जिसके द्वारा (1) नई शाखाएं खोलने तथा पुरानी शाखाओ का स्थान-परिवर्तन करने के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति लेना आवश्यक हो गया, (2) एकीकरण से सम्बन्धित कुछ और नियम बनाय गये और अन्तिम निर्णय का अधिकार रिजर्व बैंक को दिया गया, तथा (3) बैंक व उसके ऋणदाता के बीच होने वाले सभी समझौते तभी कार्यान्वित हो सकेंगे जब वे रिजर्व बैंक द्वारा मान्य हो।

सन् 1951 के संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक को राज्य सहकारी बैंको की लेखा-पुस्तकें निरीक्षण के लिए माग सकने का अधिकार दिया गया।

सन् 1953 के संशोधन का उद्देश्य मुख्य रूप से बैंकिंग कम्पनियो के समापन व निस्तारण (liquidation) कार्य को सरल बनाना था।

सन् 1956 के संशोधन का उद्देश्य भारतीय बैंकिंग व्यवस्था पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण दृढ करना था। इसके द्वारा रिजर्व बैंक को अन्य बैंको से उनके कार्य की सूचना माँगने तथा उन्हें आदेश देने का अधिकार दिया गया। प्रबन्ध संचालको तथा मुख्य अधिकारियो की नियुक्ति के लिए रिजर्व बैंक की पूर्व-स्वीकृति लेना आवश्यक कर दिया गया। बैंको के कार्य की जांच के लिए रिजर्व बैंक को पर्यवेक्षक नियुक्त करने का अधिकार मिला।

सन् 1959 के संशोधन के द्वारा रिजर्व बैंक को अधिकार दिया गया कि वह भारतीय बैंको की विदेशो मे स्थित शाखाओ का भी निरीक्षण कर सके। आवश्यकता पडने पर रिजर्व बैंक स्वय किसी बैंक के समापन के लिए अदालत के सामने आवेदन कर सकता है। यदि किसी बैंक का संचालक, व्यवस्थापक अथवा प्रशासनिक अधिकारी रिजर्व बैंक की दृष्टि म अवांछनीय व्यक्ति हो तो रिजर्व बैंक उसे उसके पद से हटा सकता है। इस प्रकार बैंकिंग संस्थाओ पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण और भी कठोर कर दिया गया। बैंको को अधिकार दिया गया कि वे रिजर्व बैंक की

पूर्व-अनुमति से भारत के बाहर बैंकिंग का कार्य करने के लिए गौण कम्पनियाँ (subsidiary companies) स्थापित कर सकें।

सन् 1960 के संशोधन के द्वारा किन्ही दशाओं में बैंकों के अनिवार्य एकीकरण (compulsory amalgamation) की व्यवस्था की गयी।

सन् 1961 के संशोधन के द्वारा एकीकरण की व्यवस्था को अधिक स्पष्ट किया गया। इसकी आवश्यकता सन् 1963 में केरल के पलाई सेन्ट्रल बैंक के फेल हो जाने के बाद अनुभव की गयी थी।

सन् 1962 के संशोधन के अनुसार निश्चित किया गया कि अनुसूचित बैंक सभी प्रकार की सामूहिक जमाओं का 3 प्रतिशत न्यूनतम नकद-कोष के रूप में रिजर्व बैंक के पास रखें, जिसे रिजर्व बैंक 15 प्रतिशत तक बढ़ा सकता है। इसके अतिरिक्त, अपनी जमाओं का 25 प्रतिशत तरल सम्पत्ति (liquid assets) के रूप में रखना अनिवार्य कर दिया गया और इसके लिए बैंकों को दो वर्ष का समय दिया गया। इसके पूर्व तरल सम्पत्ति की न्यूनतम सीमा 20 प्रतिशत थी। किसी भी बैंकिंग कम्पनी की स्थापना के लिए न्यूनतम प्रदत्त पूँजी 5 लाख रुपये होना अनिवार्य कर दिया गया। सरक्षित कोष प्रदत्त पूँजी के बराबर हो जाने पर भी उसमें 20 प्रतिशत लाभ रखना आवश्यक कर दिया गया। निर्यात व्यापार में ऋण देने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा अनुसूचित बैंकों को दी गयी सुविधाएँ बढ़ा दी गयी।

सन् 1963 के संशोधन का उद्देश्य बैंकों पर नियन्त्रण कठोर करना था। बैंकों के प्रबन्ध तथा ऋण-नीति से सम्बन्धित अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये। किसी भी अंशधारी का अधिकतम मतदान 5 प्रतिशत से घटाकर 1 प्रतिशत कर दिया गया।

सन् 1965 के संशोधन द्वारा 'बैंकिंग कम्पनी अधिनियम' का नाम बदलकर 'बैंकिंग नियमन अधिनियम' (Banking Regulation Act) हो गया है। यह अधिनियम अब सहकारी बैंकों पर भी लागू होता है। 2 जुलाई, 1966 को 12 राज्य सहकारी बैंकों को अनुसूचित बैंकों की श्रेणी में ले लिया गया।

दिसम्बर 1967 में लोकसभा में प्रस्तुत किये गये संशोधन बिल का उद्देश्य बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण का विस्तार करना था। यह बिल प्रवर समिति (Select Committee) को सौंप दिया गया और बाद में कुछ संशोधन के साथ पास कर दिया गया।

भारतीय बैंकिंग विधान का मूल्यांकन

भारतीय बैंकिंग विधान के अन्तर्गत बैंकों के नियन्त्रण तथा नियमन की व्यवस्था का स्वतन्त्र पूँजीवाद के समर्थकों द्वारा अत्यधिक विरोध किया गया है। उनके विचार में स्वतन्त्र उद्यम (free enterprise) पर प्रतिबन्ध लगाना अवांछनीय है। अच्छी बैंकिंग व्यवस्था अच्छे बैंकों के होने से बनायी जा सकती है, न कि अच्छे कानूनों द्वारा। नियन्त्रण साहसिक कार्य करने की प्रेरणा समाप्त कर देते हैं।

वास्तव में, बैंकों को अनियन्त्रित रखने के पक्ष में दिये गये विचार निराधार एवं पक्षपातपूर्ण हैं। आज के युग में स्वतन्त्र पूँजीवाद कहीं भी नहीं है। आर्थिक क्रियाओं का नियमन एवं नीतियों का निर्धारण प्रत्येक सरकार के कार्यों का एक अभिन्न अंग बन गया है। विशेष रूप से बैंकों पर नियन्त्रण रखना और भी आवश्यक होता है, क्योंकि जमाकर्ताओं के हितों की रक्षा करनी होती है। प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के शब्दों में, "बैंक प्रणाली एक ऐसी सेवा-व्यवस्था है, जिसका सम्बन्ध हमारे लाखों देशवासियों के जीवन से है, और होना ही चाहिए। इसलिए यह जरूरी है कि यह व्यवस्था देश के सामाजिक आदर्शों से जुड़ी हो और राष्ट्र के उद्देश्य को आगे बढ़ाने में सहायक हो।"

बैंकिंग कानूनों के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को बैंकों के नियमन तथा नियन्त्रण सम्बन्धी विस्तृत अधिकार दिये गये हैं। देश की बैंकिंग व्यवस्था के अनेक दोष दूर हुए हैं अथवा कम हो गये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बैंकिंग कानूनों के परिणामस्वरूप देश की बैंकिंग व्यवस्था में बहुत सुधार

हुआ है। उदाहरणार्थ, बैंको द्वारा ऋण देने के सिद्धान्त निर्धारित कर दिये गये हैं और बैंको के समुचित सुरक्षित कोषो के निर्माण की व्यवस्था कर दी गयी है। इससे एक ओर तो बैंको की आर्थिक स्थिति मे दृढता आयी है और दूसरी ओर जमाकर्ताओ के हितो की रक्षा हुई है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी यह मानना पडेगा कि भारतीय बैंकिंग विधान पूर्णत दोषमुक्त नही है।

भारतीय बैंकिंग विधान मुख्य रूप से व्यापारिक बैंको पर लागू होता है, जबकि भारतीय साख प्रणाली मे देशी बैंकर भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। देशी बैंकरो पर बैंकिंग नियमन अधिनियम लागू ही नही होता। गत वर्षों मे भारत मे सहकारी बैंको का काफी विकास हुआ है। सन् 1965 के पूर्व सहकारी बैंक बैंकिंग अधिनियम की पाबन्दियो से पूर्णत मुक्त थे और अब केवल राज्य सहकारी बैंक इसके अन्तर्गत लिये गये हैं। इस प्रकार बैंकिंग अधिनियम तथा उसमे सशोधनो के द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध मुख्यत देश मे व्यापारिक बैंको पर ही लागू होते हैं। इसमे सन्देह नही कि व्यापारिक बैंको का विकास हुआ है, परन्तु विभिन्न नियन्त्रणो के बावजूद उन्होने जिस ढग से कार्य किया है उसे दोष-रहित नही कहा जा सकता है। इसके लिए कुछ तो उत्तरदायित्व रिजर्व बैंक पर रखा जा सकता है, क्योकि इसने अपने अधिकारो का कठोरतापूर्वक प्रयोग न करके बैंको के प्रति उदारतापूर्ण नीति अपनायी है। परन्तु अधिक जिम्मेदारी स्वय व्यापारिक बैंको तथा उनके प्रबन्धको व सचालको की है जिन्होने राष्ट्रीय आर्थिक हितो की अवहेलना करके अपने हितो की पूर्ति की ओर ही अधिक ध्यान दिया है। उनकी नीति तथा कार्यों को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करने म भारतीय बैंकिंग विधान असफल रहा है।

भारतीय बैंकिंग विधान की दुर्बलता इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि विभिन्न नियन्त्रणो तथा प्रतिबन्धो के बावजूद भारतीय बैंकिंग व्यवस्था की अवाछनीय प्रवृत्तियो को नही रोका जा सका है। देश मे व्यापारिक बैंको से सम्बन्धित निम्नलिखित त्रुटियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं·

(1) भारत मे बैंकिंग व्यवस्था ने **आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण** (concentration of economic power) **को बढावा दिया है**। अधिकाश बैंकिंग व्यवसाय थोडे से बडे बैंको मे ही केन्द्रित रहा है और ये बैंक कुछ इने-गिने उद्योगपतियो अथवा व्यावसायिक गृहो (business houses) के नियन्त्रण मे रहे हैं। सन् 1967 मे बैंको द्वारा औद्योगिक तथा व्यापारिक उद्देश्यो के लिए दिये गये 1800 करोड रुपये के ऋणो मे से 1400 करोड रुपये केवल 572 खातो मे दिये गये थे। यदि छान-बीन की जाय तो पता चलेगा कि इन सब खातो का सम्बन्ध केवल चार या पाँच व्यावसायिक गृहो से था।[1] व्यापारिक बैंको तथा बडे उद्योगपतियो मे साठ गाँठ के कारण बैंक-ऋणो का एक सकुचित औद्योगिक क्षेत्र मे सकेन्द्रण हुआ है। बैंक-ऋणो पर ब्याज-दर बाजार की ब्याज-दर से कम होने के कारण उद्योगपतियो को प्रति वर्ष करोडो रुपये का लाभ हुआ है। एकाधिकार जाँच आयोग (*Monopolies Enquiry Commission*) ने बैंको की भेदपूर्ण तथा अनुचित ऋण-नीति को देश मे एकाधिकारी प्रवृत्तियो को बढावा देने के लिए जिम्मेदार ठहराया था।

(2) **बैंको के साधनो का बहुत बडा भाग उनके सचालको अथवा उनसे सम्बन्धित व्यापारिक सस्थाओ के लाभ के लिए प्रयोग किया जाता रहा है।** इसका प्रमुख कारण यह है कि अधिकतर बैंको के सचालक अन्य कम्पनियो के भी सचालक रहे हैं। 20 बडे बैंको के 188 सचालक 1100 अन्य कम्पनियो से भी सम्बन्धित थे। सचालकताओ के अन्त कालीन (interlocking of directorships) के कारण बैंक अपने वित्तीय साधनो का दुरुपयोग करते रहे हैं।

(3) **बैंको की ऋण नीति व्यापक राष्ट्रीय हितो के प्रति अवहेलनापूर्ण रही है।** योजनाओ मे निर्धारित प्राथमिकताओ (plan priorities) की ओर ध्यान न देकर बैंक मनमाने ढग से निजी क्षेत्र के उद्योगो को ही अधिकतर ऋण देते रहे हैं। देश के कुल औद्योगिक उत्पादन का लगभग 35 प्रतिशत भाग लघु उद्योग द्वारा उत्पादित होता है, परन्तु व्यापारिक बैंको का इनके प्रति रवैया

---

1 Report on Banking by four economists (Prof H K Manmohan Singh, Dr V B Singh, Dr S C Gupta and Dr S K Gupta) presented to the Congress President at the Jabalpur Session of AICC in 1967

उपेक्षापूर्ण रहा है। कृषि-क्षेत्र के प्रति भी बैंको का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से अवहेलनापूर्ण रहा है, जबकि कुल राष्ट्रीय आय तथा निर्यात का लगभग आधा अकेले कृषि-क्षेत्र मे प्राप्त होता है। इस प्रकार, व्यापारिक बैंको द्वारा योजनाओं मे निर्धारित प्राथमिकताओ के अनुसार ऋण नही दिये गये जिससे उनका आर्थिक विकास के कार्य मे योगदान बहुत कम रहा है।

(4) बैंक-ऋणो का प्रयोग जमाखोरी और सट्टेबाजी जैसे समाज-विरोधी तथा अवाछनीय कार्यों के लिए भी किया जाता रहा है। बैंको द्वारा अनुमानत लगभग 300 करोड रुपये प्रति वर्ष के ऐसे ऋण दिये जाते हैं। इससे कीमत-स्तर में वृद्धि हुई है।

(5) भारतीय बैंको के विकास तथा शाखा-विस्तार की स्थिति असन्तुलित रही है। औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रो मे बैंकिंग का पर्याप्त विकास नही हुआ। ग्रामीण क्षेत्रों मे बैंकिंग सुविधाएँ प्रदान करने की ओर व्यापारिक बैंको ने कोई ध्यान नही दिया।

देश मे एकाधिकारी प्रवृत्ति, आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण, साधनो का गलत दिशा मे प्रयोग रोकने तथा विकास की अधिकतम दर प्राप्त करने के उद्देश्य से गत वर्षों मे यह अनुभव किया जाने लगा कि बैंक देश के सर्वाधिक हित मे कार्य तभी कर सकते हैं जब उन पर राष्ट्र का स्वामित्व हो। पिछले कुछ वर्षों से बैंको के राष्ट्रीयकरण की मांग निरन्तर बढ़ती ही रही है।

बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण

तृतीय योजना के अन्त तक बैंको के राष्ट्रीयकरण की मांग काफी तीव्र हो चुकी थी। कांग्रेस पार्टी के अन्य प्रगतिशील विचारधारा वाले लोग बराबर राष्ट्रीयकरण की मांग कर रहे थे। सरकार ने राष्ट्रीय आर्थिक नीतियो के अनुरूप बैंको पर नियन्त्रण लगाने की बात तो स्वीकार कर ली थी, परन्तु पूर्ण राष्ट्रीयकरण की मांग का विरोध किया जाता रहा। राष्ट्रीयकरण की बढ़ती हुई मांग को शान्त करने के लिए कांग्रेस ने सन् 1967 के चुनाव घोषणा-पत्र मे बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण (social control) लगाने का निर्णय सम्मिलित किया था। मई 1967 मे कांग्रेस द्वारा अपनाये गये दस-सूत्री कार्यक्रम (Ten-Point Programme) मे भी बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण लागू करने का निर्णय था। केन्द्रीय वित्त मन्त्रालय ने सामाजिक नियन्त्रण की समस्या का अध्ययन करने तथा इस सम्बन्ध मे रिपोर्ट देने का काम रिजर्व बैंक के एक विशेषज्ञ श्री वी० ए० पाई पनाण्डिकर (*V. A Pai Panandikar*) को सौंपा। श्री पनाण्डिकर की रिपोर्ट छपी तो नही, परन्तु उसके सम्बन्ध मे जो कुछ सूचना प्राप्त हुई उससे पता चला कि उन्होंने वर्तमान परिस्थितियो मे बैंको के राष्ट्रीयकरण को अनुपयुक्त माना। श्री पनाण्डिकर ने सिफारिश की कि बैंको पर प्रभावशाली सामाजिक नियन्त्रण लागू किया जाना चाहिए।

अक्टूबर 1967 मे कांग्रेस पार्टी के जबलपुर अधिवेशन मे प्रगतिशील सदस्यो ने बैंको के राष्ट्रीयकरण की कड़ी मांग की थी। कांग्रेस संसदीय दल के मन्त्री श्री चन्द्रशेखर के अनुरोध पर चार अर्थशास्त्रियों[1] की बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे रिपोर्ट कांग्रेस अध्यक्ष के सामने रखी गयी। वित्त मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने पूर्ण राष्ट्रीयकरण का विरोध किया, परन्तु अधिक से अधिक 6 माह के अन्दर बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण लागू कर देने की घोषणा की। वित्त मन्त्री का विश्वास था कि प्रभावशाली सामाजिक नियन्त्रण द्वारा बैंको की कार्य-पद्धति मे सुधार किया जा सकता है, इसलिए बैंको का राष्ट्रीयकरण जरूरी नहीं है।

सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ

सामाजिक नियन्त्रण की कोई आधिकारिक परिभाषा नही दी गयी है। समाजवाद से सम्बन्धित कांग्रेस पार्टी के अन्य नारो की भाँति सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ भी अस्पष्ट है। परन्तु इसके अन्तर्गत अपनाये गये उपायो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक नियन्त्रण से अभिप्राय एक ऐसी व्यवस्था से है जिसके द्वारा, बैंकों का राष्ट्रीयकरण किये बिना, बैंको की साख नीति का निर्धारण तथा इनके प्रबन्ध का नियमन इस प्रकार किया जाय ताकि बैंको के साधनो का

1 प्रोफेसर एच० के० मनमोहनसिंह, डा० वी० बी० सिंह, डा० एस० के० गोयल तथा डा० एम० सी० गुप्ता।

राष्ट्रीय हितो और लक्ष्यो के अनुसार अधिकाधिक उपयोग सम्भव हो सके। दूसरे शब्दो मे, सामाजिक नियन्त्रण की योजना ऐसी व्यवस्था कायम करना चाहती है जिसमे "बैंक सरकारी निर्देशानुसार जमा को गतिशील बनाने तथा अर्थ-व्यवस्था मे सामाजिक दृष्टि के अधिक उपयोगी अगो के लिए साख उपलब्ध कराने मे अधिकाधिक सहयोग करें।"[1] इस प्रकार, सामाजिक नियन्त्रण राष्ट्रीयकरण व मुक्त साहस (free enterprise) के बीच का रास्ता है जिसम बैंक निजी स्वामित्व मे रहते हुए व्यापक राष्ट्रीय हिता की दृष्टि से सरकार द्वारा निर्धारित नीतियो तथा प्रतिबन्धो का पालन करते है। यह व्यवस्था फ्रासीसी बैंकिग प्रणाली पर आधारित है।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये जा सकते है

(1) बैंक-साख का वितरण आर्थिक योजनाओ मे निर्धारित प्राथमिकताओ के अनुसार हो। राष्ट्रीय हितो और लक्ष्यो को सबसे आगे रखा जाय।

(2) कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात जैस उपेक्षित क्षेत्रो के लिए अधिक बैंक-साख उपलब्ध हो।

(3) बैंक रहित क्षेत्रो, विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों मे भारतीय बैंको का अधिकाधिक प्रवेश हो।

(4) बैंको के साधनो का थोडे से लोगो द्वारा उपयोग तथा बैंकिग शक्ति का उनके हाथो मे केन्द्रीकरण रोका जाय।

(5) बैंको के प्रवन्ध मे व्यापारिक हितों के स्थान पर व्यवसायीकरण की व्यवस्था की जाय।

सामाजिक नियन्त्रण की योजना

बैंकों पर लागू की गयी सामाजिक नियन्त्रण योजना की मुख्य बाते निम्नलिखित हैं

1 **राष्ट्रीय साख परिषद की स्थापना**—22 दिसम्बर, 1967 को भारत सरकार ने *राष्ट्रीय साख परिषद (National Credit Council) की स्थापना की घोषणा की।* इसको निम्नलिखित कार्य सौपे गये

(i) अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो द्वारा बैंक-साख की माँग का पता लगाना,

(ii) उपलब्ध साधनो तथा प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो, विशेषतया कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात व्यापार की साख सम्बन्धी आवश्यकताओ के आधार पर, बैंक-ऋणो या विनियोगो स सम्बन्धित प्राथमिकताएँ निर्धारित करना,

(iii) साधनो के उचित एव कुशल उपयोग के उद्देश्य से व्यापारिक बैंको तथा सहकारी बैंको एव विशिष्ट सस्थाओं की ऋण तथा विनियोग सम्बन्धी नीतियो में समन्वय स्थापित करना, तथा

(iv) परिषद के अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष द्वारा सुझाये गये अन्य सम्बन्धित विषयो पर विचार करना।

इस प्रकार, राष्ट्रीय साख परिषद की स्थापना एक सलाहकार (advisory) तथा विचार-विमर्श करने वाली सस्था (deliberative body) के रूप मे की गयी। इसको मुख्य कार्य यह सौपा गया कि नियोजित विकास के कार्यक्रमो को ध्यान मे रखते हुए यह बैंको के लिए ऋणो तथा विनियोगो से सम्बन्धित पथ प्रदर्शक दिशा (guide line) निर्धारित करे।

राष्ट्रीय साख परिषद के सदस्यो की सख्या 25 से अधिक नही हो सकती है। इनमें से 5 स्थायी सदस्य हैं। केन्द्रीय वित्त मन्त्री इसके अध्यक्ष तथा रिजर्व बैंक के गवर्नर इसके उपाध्यक्ष हैं। योजना आयोग के उपाध्यक्ष, वित्त मन्त्रालय मे आर्थिक मामलो के विभाग के सचिव तथा कृषि पुनर्वित्त निगम के अध्यक्ष इसके अन्य स्थायी सदस्य है। अन्य 20 सदस्य विभिन्न क्षेत्रो के विशेषज्ञ होते हैं जो बैंको, सहकारी समितियो, उद्योगो, कृषि व्यापार आदि क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व करते हैं।

1 " Social control over banks may be defined as greater participation of banks (with active state guidance) in the mobilisation of deposits and distribution of credits to the socially desirable sectors of the economy —*Banker*, November 1967, p 716

अर्थशास्त्री एव अन्य विशेषज्ञ भी इसमे सम्मिलित होते हैं। इनकी नियुक्ति सरकार द्वारा तीन वर्ष की अवधि के लिए की जाती है। एक वर्ष मे परिषद की कम से कम दो बैठकें होना अनिवार्य है।

2 **बैंकिंग कानून मे सशोधन**—सामाजिक नियन्त्रण की योजना प्रभावपूर्ण बनाने के लिए 23 दिसम्बर, 1967 को लोक सभा मे बैंकिंग अधिनियम (सशोधन) विधेयक (The Banking Laws (Amendment) Bill, 1967) पेश किया गया, जिसका उद्देश्य बैंकिंग नियम अधिनियम, 1949, रिजर्व बैंक अधिनियम, 1930 तथा स्टेट बैंक अधिनियम, 1955 मे आवश्यक सशोधन करना था। यह विधेयक प्रवर समिति (Select Committee) को सौंप दिया गया जिसने अपनी रिपोर्ट 6 मई, 1968 को दी। प्रवर समिति द्वारा सशोधित रूप मे लोक सभा ने इसको पास कर दिया। इसकी प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं

(1) **बैंको को अपने सचालक-मण्डलो का पुनर्गठन** इस प्रकार करना होगा कि उनके कम से कम 51 प्रतिशत सदस्य उद्योगपति न हो, बल्कि ऐसे व्यक्ति हों जिन्हे लेखा-प्रणाली, कृषि, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था, लघु उद्योग, सहकारिता, बैंकिंग, अर्थशास्त्र, विधि अथवा वित्त का विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव हो, जो बैंको के लिए उपयोगी हो सके। कम से कम दो सचालक ऐसे होने चाहिए जो ग्रामीण अर्थ व्यवस्था, सहकारिता तथा लघु उद्योगो का प्रतिनिधित्व करें।

(2) प्रत्येक व्यापारिक बैंक का एक पूर्णकालिक अध्यक्ष (full time chairman) होना आवश्यक है जो किसी अन्य कम्पनी अथवा फर्म से सम्बन्धित न होकर पेशेवर (professional) बैंकर हो। उसे व्यापारिक बैंकिंग अथवा वित्त, आर्थिक अथवा व्यापारिक प्रशासन का विशिष्ट ज्ञान तथा व्यावहारिक अनुभव होना चाहिए। उसकी नियुक्ति 5 वर्ष की अवधि से अधिक के लिए नही की जायगी और इसके लिए रिजर्व बैंक की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक होगा। अध्यक्ष बैंक के सचालक मण्डल के निर्देशन तथा नियन्त्रण मे कार्य करेगा।

(3) कोई भी बैंक अपने किसी सचालक अथवा किसी ऐसी व्यावसायिक सस्था को, जिसमे वह सचालक, साझेदार, प्रबन्धक, कर्मचारी, प्रबन्ध अभिकर्ता अथवा बडे अशधारी के रूप मे कोई हित रखता हो, ऋण नही दे सकता है और न ही ऋणो पर गारण्टी दे सकता है। यदि किसी सचालक को पुराने वायदे के अनुसार ऋण दिया गया है तो उसे एक वर्ष मे वसूल कर लिया जायगा। रिजर्व बैंक इस अवधि को 3 वर्ष तक बढा सकता है।

(4) भारत मे व्यवसाय करने वाले प्रत्येक विदेशी बैंक के लिए अनिवार्य होगा कि वह एक सलाहकार बोर्ड की स्थापना करे, जिसके सभी सदस्य भारतीय हो और उनका चुनाव उन्ही नियमो के आधार पर किया जाय जो भारतीय बैंको के सचालको के चुनाव के लिए निश्चित किये गये हैं। विदेशी बैंको के लिए यह भी अनिवार्य होगा कि वह अपने भारतीय व्यवसाय के लेखो का परीक्षण भारत मे रजिस्टर्ड लेखा-परीक्षको (auditors) से करायें।

(5) यदि कोई बैंक सामाजिक नियन्त्रण से सम्बन्धित व्यवस्थाओ का एक बार से अधिक उल्लघन करेगा अथवा इस सम्बन्ध मे दिये गये निर्देशो का पालन नहीं करेगा, अथवा अन्य प्रकार से कानून का उल्लघन करेगा, तो मुआवजा देकर सरकार उसे अपने अधिकार मे ले सकेगी।

(6) बैंक के कार्य मे अनुचित बाधाएँ उत्पन्न करना, धमकीपूर्ण प्रदर्शन करना जो सामान्य व्यवसाय मे बाधक हो तथा इस प्रकार की कोई कार्यवाही करना जिससे जमाकर्ताओ का बैंक मे विश्वास कम हो, गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया है। परन्तु बैंको के कर्मचारी सामान्य व वैधानिक ट्रेड यूनियन क्रियाएँ कर सकेंगे।

प्रारम्भ मे सामाजिक नियन्त्रण की उपर्युक्त योजना 25 करोड रुपये व इससे अधिक जमा वाले बडे बैंको पर लागू की जायगी। बाद मे यह सभी बैंको पर लागू होगी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि व्यापारिक बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण के अन्तर्गत बैंक साख को निश्चित दिशा देने का प्रयास किया गया। साथ मे, सचालक मण्डलो के पुनर्गठन की व्यवस्था की गयी और सचालको को अथवा उनकी इच्छानुसार अन्य सस्थाओ को ऋण या अग्रिम देने पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। परन्तु ये सब व्यवस्थाएँ अल्पकालीन स्वभाव की थी। भारतीय

बैंकिंग के स्थायी सुधार के लिए सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत दीर्घकालीन नीति यह थी कि शाखा-विस्तार द्वारा ग्रामीण व अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों में अत्यधिक जमा प्राप्त करने का प्रयास किया जायगा, बैंकों की कार्य-कुशलता में वृद्धि के लिए उनकी कार्य-प्रणाली में सुधार किये जायेंगे और प्रशिक्षण की सुविधाएँ बढ़ायी जायेंगी। बैंकिंग व्यवसाय की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करने के लिए एक 'बैंकिंग कमीशन' की नियुक्ति की गयी जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

सामाजिक नियन्त्रण का प्रभाव

सामाजिक नियन्त्रण की योजना का बैंकों की ओर से विरोध किया गया। जिन आरोपों के आधार पर इस नियन्त्रण की आवश्यकता हुई, भारतीय बैंक संघ ने उनको निराधार तथा असत्य बताया। परन्तु वास्तविकता यह है कि राष्ट्रीयकरण के विकल्प के रूप में इसका स्वागत ही हुआ। सभी बैंकों ने इस योजना के अनुसार कार्य करने का आश्वासन दिया। बड़े बैंकों ने योजना के अनुसार अपने संचालक मण्डलों का पुनर्गठन किया और पूर्णकालिक अध्यक्ष नियुक्त किये जो पेशेवर व्यवस्थापक थे। जुलाई 1969 में जिन 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया उनके कुल 160 संचालकों में से लगभग 100 ऐसे थे जिनकी नियुक्ति सामाजिक नियन्त्रण योजना की व्यवस्था के अनुसार की गयी थी और ऐसे ही उन सभी के अध्यक्ष थे। सामाजिक नियन्त्रण लागू करने के बाद 9 महीने की अवधि में (जुलाई 1968 से मार्च 1969 तक) राष्ट्रीय साख परिषद की इच्छानुसार, बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को दिये गये ऋणों में 55 प्रतिशत तथा कृषि-क्षेत्र को दिये गये ऋणों में 150 प्रतिशत की वृद्धि हुई।[1]

व्यावहारिक रूप में, सामाजिक नियन्त्रण योजना लागू करने के बाद जो परिणाम सामने आये उन्हें सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। सामाजिक नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य बैंक साख का राष्ट्रीय हितों तथा लक्ष्यों के अनुसार वितरण करना था। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गयी व्यवस्था अपर्याप्त थी। राष्ट्रीय साख परिषद को केवल सलाह देने का कार्य सौंपा गया था, अपनी नीति लागू करने की शक्ति नहीं दी गयी। रिजर्व बैंक के अधिकारों की भी स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी। इस प्रकार बैंकों द्वारा साख के वितरण में काफी मनमानी करने की गुंजायश थी। परिणामस्वरूप, सामाजिक नियन्त्रण के बावजूद बड़े उद्योगपति बैंकों से अनुचित लाभ उठाते रहे हैं। बैंकों को जो कुछ निर्देशन दिये गये उनमें निहित भावनाओं की अवहेलना की गयी। यह बात इसी से स्पष्ट हो जाती है कि कृषि-क्षेत्र के लिए दी गयी अधिकतर साख राज्य सरकारों को उर्वरक (fertilisers) खरीदने के लिए दी गयी, न कि सीधे किसानों को।

यह ठीक है कि सामाजिक नियन्त्रण की योजना के अन्तर्गत बैंकों ने अपने संचालक मण्डलों का पुनर्गठन कर लिया था, परन्तु व्यवहार में बैंकों के पुराने संचालक अब भी किसी न किसी प्रकार से अपना प्रभाव डालते रहे और बैंकों के प्रबन्ध तथा नीति-निर्धारण में उनके हस्तक्षेप से बचा नहीं जा सका। कहीं-कहीं तो यह प्रभाव बैंकों के उन पुराने अध्यक्षों तथा उपाध्यक्षों द्वारा डाला गया जो अब भी संचालक मण्डलों से अपना सम्बन्ध बनाये हुए थे। रिजर्व बैंक को केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही बैंकों के किसी संचालक को हटाने का अधिकार दिया गया था और वह केवल सीमित संख्या में बैंकों के संचालक नियुक्त कर सकता था।

वास्तविकता यह है कि जब किसी नीति को किसी दबाव के कारण माना जाता है तो उसके प्रति वह उत्साह नहीं रहता जितना कि उसे स्वेच्छा से अपनाने पर होता है। सामाजिक नियन्त्रण बैंकों पर एक दबाव था और इसके प्रति उनमें उत्साह न होना स्वाभाविक था। दूसरी ओर, देश में एक बहुत बड़ा वर्ग, जिसमें अनेक अर्थशास्त्री तथा राजनीतिज्ञ सम्मिलित थे, सामाजिक नियन्त्रण की नीति से सन्तुष्ट न हो सका। इसे भारत सरकार, विशेषतया वित्त मन्त्रालय, की एक चाल माना गया जिसके द्वारा बैंकों के राष्ट्रीयकरण की माँग को दबा देने का प्रयास किया गया था। सामाजिक नियन्त्रण से बहुत अधिक आशा रखना एक भूल थी। इसके परिणामों

---

1 *Commerce*, July 26, 1969, p 168

की बहुत अधिक प्रतीक्षा न करके प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने वित्त मन्त्रालय अपने हाथों में लेकर 19 जुलाई, 1969 को देश के 14 प्रमुख व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी।

चौदह प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण

श्री मोरारजी देसाई से वित्त मन्त्रालय लेने के तीन दिन बाद प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 19 जुलाई, 1969 को देश के 14 प्रमुख व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की। ये सभी बैंक ऐसे थे जिनकी जमा राशि 50 करोड़ रुपये से अधिक थी। इस आधार पर ये बैंक क्रमश: इस प्रकार थे (1) सैण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, (2) बैंक ऑफ इण्डिया, (3) पंजाब नेशनल बैंक, (4) बैंक ऑफ बड़ौदा, (5) यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, (6) कनारा बैंक, (7) यूनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया, (8) देना बैंक, (9) यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया, (10) इलाहाबाद बैंक, (11) सिंडीकेट बैंक, (12) इण्डियन ओवरसीज बैंक, (13) इण्डियन बैंक, तथा (14) बैंक ऑफ महाराष्ट्र।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण की अचानक घोषणा ने पूरे देश को चौंका दिया। उसी शाम आकाशवाणी द्वारा प्रसारित अपने सन्देश में प्रधान मन्त्री ने कहा कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण के द्वारा हम अपने उद्देश्यों की पूर्ति अब तेजी से कर सकेंगे और बैंकिंग विकास की त्रुटियों को दूर किया जा सकेगा। बैंक-साख का उचित उपयोग सम्भव हो सकेगा। कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात व्यापार के लिए पर्याप्त साख की व्यवस्था की जा सकेगी। बैंकों पर से इने-गिने लोगों का नियन्त्रण समाप्त करके प्रबन्ध-व्यवस्था में व्यावसायिक कुशलता लायी जा सकेगी। उद्योग के क्षेत्र में आने वाले नये साहसियों को प्रोत्साहन मिलेगा। बैंकों के कर्मचारियों के लिए उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा सकेगी और उन्हें अन्य सुविधाएँ दी जा सकेंगी। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सामाजिक नियन्त्रण की नीति अपर्याप्त थी और बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना अनिवार्य हो गया था।

राष्ट्रीयकरण के लिए कानूनी व्यवस्था

19 जुलाई, 1969 को बैंकिंग कम्पनीज (एक्वीजीशन एण्ड ट्रान्सफर ऑफ अण्डरटेकिंग्स) अध्यादेश, 1969 [The Banking Companies (Acquisition and Transfer of Undertakings) Ordinance, 1969] जारी किया गया। इसके अन्तर्गत 50 करोड़ रुपये से अधिक जमा-राशि वाले अनुसूचित बैंक, जिनकी संख्या 14 है, सरकार ने अपने स्वामित्व में लेने की घोषणा की। विदेशी बैंकों पर यह लागू नहीं किया गया। राष्ट्रीयकृत बैंकों की परिसम्पत्ति तथा दायित्वों पर केन्द्रीय सरकार का अधिकार हो गया और पुराने बैंकों को मुआवजा देने के नियम निर्धारित किये गये। मुआवजे की रकम तय करने से सम्बन्धित विवादपूर्ण विषयों को हल करने के लिए एक न्यायाधिकरण (Tribunal) नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी। राष्ट्रीयकृत बैंकों को अलग-अलग इकाइयों के रूप में कार्य करने के लिए कहा गया, परन्तु उनके नामों के साथ से 'लिमिटेड' शब्द हटा लिया गया। यह स्पष्ट कर दिया गया कि बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 द्वारा बैंकों पर लगाये गये नियन्त्रण तथा रिजर्व बैंक के अनुसूचित बैंकों से सम्बन्धित अधिकार इन बैंकों पर पूर्ण रूप से लागू होंगे। पुराने बैंकों के चेयरमैन कोई अन्य व्यवस्था न होने तक बैंक के परिरक्षक (Custodian) के रूप में कार्य करेंगे, जिनको सलाह देने तथा सहायता करने के लिए सलाहकार बोर्ड (Advisory Board) नियुक्त किये जायेंगे। नये संचालक-मण्डलों के बन जाने पर सलाहकार बोर्ड भंग कर दिये जायेंगे। राष्ट्रीयकृत बैंक केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये आदेश मानने के लिए बाध्य होंगे और निर्धारित नियमों का पालन करेंगे।

अध्यादेश जारी करने के तुरन्त बाद सरकार के सामने एक कानूनी बाधा उत्पन्न हो गयी। अध्यादेश के विरुद्ध रिट याचिकाओं (writ petitions) के आधार पर[1] सुप्रीम कोर्ट ने 22 जुलाई

1 ये याचिकाएँ स्वतन्त्र पार्टी के नेता श्री एम॰ आर॰ मसानी, एम. पी., भारतीय जनसंघ के नेता श्री बलराज मधोक तथा एक बैंक के संचालक डॉ॰ आर॰ सी॰ कूपर द्वारा दायर की गयी थी।

को अध्यादेश में सम्बन्धित तीन बातें लागू करने पर अन्तरिम रोक (interim stay) लगा दी। केन्द्रीय सरकार को आदेश दिया गया कि वह (1) याचिकाओं पर निर्णय होने तक सलाहकार बोर्ड नियुक्त नहीं करेगी, (2) इन बैंकों के चेयरमैन नहीं हटायेगी, तथा (3) बैंकिंग विधान में दी गयी व्यवस्था से भिन्न कोई आदेश नहीं देगी। प्रधान मन्त्री ने संसद में दिये गये वक्तव्य में यह स्पष्ट कर दिया कि सुप्रीम कोर्ट के द्वारा दिये गये आदेश अध्यादेश की आवश्यक बातों को लागू करने में कोई बाधा नहीं डालते थे और न ही सरकार को बैंकों पर अपना स्वामित्व स्थापित करने से रोका गया था। परन्तु फिर भी सरकार द्वारा यह आवश्यक समझा गया कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित अध्यादेश को शीघ्र ही कानून में बदल दिया जाय, ताकि अनिश्चितता का वातावरण समाप्त हो और राष्ट्रीयकरण के विरोधियों को रुकावटें डालने का समय न मिले।

19 जुलाई, 1969 को जारी किये गये बैंक राष्ट्रीयकरण अध्यादेश को संसद द्वारा कानून का रूप दिलाने के उद्देश्य से 25 जुलाई को लोक सभा में विधेयक (Bill) रखा गया। स्वतन्त्र पार्टी तथा भारतीय जनसंघ के सदस्यों ने इसका विशेष रूप से विरोध किया। परन्तु इन सब के बावजूद यह विधेयक रेकार्ड समय में पारित हो गया। 4 अगस्त को लोक सभा ने तथा 8 अगस्त को राज्य सभा ने इसे पारित कर दिया। 9 अगस्त को कार्यवाहक राष्ट्रपति के इस पर हस्ताक्षर हो जाने से यह बैंकिंग कम्पनीज (एक्वीजीशन एण्ड ट्रान्सफर ऑफ अण्डरटेकिंग्स) एक्ट, 1969 [Banking Companies (Acquisition and Transfer of Undertakings) Act, 1969] बन गया। इस कानून में राष्ट्रीयकरण की मूल व्यवस्था तो वही रही जो 19 जुलाई के अध्यादेश में दी गयी थी, परन्तु इसमें कुछ साधारण संशोधन कर दिये गये। विरोधी दलों की माँग पर यह स्वीकार कर लिया गया कि राष्ट्रीयकृत बैंकों के संचालक-मण्डलों तथा अस्थायी सलाहकार मण्डलों में जमाकर्ताओं, बैंक कर्मचारियों, किसानों, मजदूरों तथा कारीगरों को उचित प्रतिनिधित्व दिया जायगा। कोई अन्य व्यवस्था न होने तक राष्ट्रीयकृत बैंकों का प्रबन्ध 'कस्टोडियन' के रूप में इन बैंकों के पहले के चेयरमैनों द्वारा किये जाने की अनुमति दी गयी। कानून में अस्थायी सलाहकार बोर्डों की भी व्यवस्था की गयी। मुआवजे की अदायगी का विषय बहुत विवादपूर्ण रहा है। अन्त में यही तय हुआ कि मुआवजा शेयरहोल्डरों को नहीं बल्कि बैंकों को दिया जायगा। मुआवजे के रूप में बैंक $4\frac{1}{2}$ प्रतिशत ब्याज-दर पर 10 वर्षीय अथवा $5\frac{1}{4}$ प्रतिशत ब्याज-दर पर 30 वर्षीय बॉण्ड ले सकेंगे। मुआवजे की रकम निर्धारित करने से सम्बन्धित नियम एक्ट की द्वितीय सूची में दिये गये थे। अनुमान लगाया गया है कि मुआवजे की कुल रकम लगभग 75 करोड़ रुपये होगी।

चौदह बैंकों का पुनः राष्ट्रीयकरण

बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित अध्यादेश तथा कानून के विरोध में दायर की गयी रिट याचिकाओं पर सुप्रीम कोर्ट ने 10 फरवरी, 1970 को अपना निर्णय दिया। सुप्रीम कोर्ट द्वारा बैंकों के राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी कानून के दो दोष बताये गये। प्रथम, यह कानून चौदह बैंकों के प्रति भेदभावपूर्ण बताया गया क्योंकि इन बैंकों को बैंकिंग बिजनेस (banking business) करने से रोक दिया गया था जबकि अन्य वर्तमान देशी अथवा विदेशी बैंकों अथवा भविष्य में स्थापित होने वाले बैंकों पर इस प्रकार की कोई रोक नहीं लगायी गयी थी। द्वितीय, बैंकों को दिये जाने वाले मुआवजे को निर्धारित करने के लिए अपनाये गये सिद्धान्त तथा तरीके को भी गलत बताया गया। इन दो दोषों के कारण बैंकों के राष्ट्रीयकरण कानून को सुप्रीम कोर्ट द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया।

सुप्रीम कोर्ट के फैसले के बाद, उन्हीं चौदह प्रमुख बैंकों का पिछली तिथि अर्थात् 19 जुलाई, 1969 से पुन राष्ट्रीयकरण करने के उद्देश्य से राष्ट्रपति ने 14 फरवरी, 1970 को एक अध्यादेश जारी किया। 27 फरवरी, 1970 को संसद में एक विधेयक प्रस्तुत किया गया जिसे बैंकिंग कम्पनीज (एक्वीजीशन एण्ड ट्रान्सफर ऑफ अण्डरटेकिंग्स) एक्ट, 1970 के रूप में पास कर दिया गया। इस नये कानून को 31 मार्च, 1970 को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल गयी।

पुन.राष्ट्रीयकरण के नये कानून मे चौदह बैंको द्वारा बैंकिंग बिजनेस करने पर रोक नही लगायी गयी। केवल यह कहा गया कि यदि ये बैंकिंग कम्पनियाँ बिजनेस करना चाहेगी तो उन्हे एक आवश्यक कानून के अन्तर्गत लाइसेन्स लेना होगा। एक्ट की द्वितीय सूची मे मुआवजे से सम्बन्धित नियमो का उल्लेख *किया गया है*। मुआवजा प्राप्त करने के लिए बैंको के सामने कई विकल्प रखे गये है। मुआवजा नकद रूप मे अथवा $4\frac{1}{2}$ प्रतिशत वार्षिक ब्याज वाली 10 वर्ष की प्रतिभूतियो (securities) मे अथवा $5\frac{1}{2}$ प्रतिशत वार्षिक ब्याज वाली 30 वर्ष की प्रतिभूतियों मे अथवा इन तीनो तरीको को मिलाकर किसी भी रूप मे प्राप्त किया जा सकता है।

प्रत्येक बैंक के मुआवजे की अलग-अलग रकम निर्धारित कर दी गयी है, जो कुल मिलाकर 87 40 करोड़ रुपये है। दो बैंको ने मुआवजे की रकम नकद रूप में माँगी है, जो उन्हे तीन वार्षिक किस्तो मे दी जायगी। अन्य 12 बैंको ने आंशिक रूप से नकदी तथा शेष प्रतिभूतियो के रूप मे मुआवजा प्राप्त कर लिया है।

बैंको के राष्ट्रीयकरण का विस्तृत अध्ययन आगे अलग से किया गया है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 भारतीय बैंकिंग विधान की मुख्य व्यवस्थाओ का विवरण दीजिए। इसका भारतीय बैंकिंग व्यवस्था पर क्या प्रभाव पडा है ?

[संकेत बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 तथा बाद मे किये गये संशोधनो के आधार पर बैंको पर लगाये गये उनके कार्यों, शाखा-विस्तार, पूँजी व लाभांश, प्रबन्ध, नकद-कोष, ऋण व अग्रिम सम्बन्धी तथा अन्य प्रतिबन्धो का संक्षिप्त विवरण दीजिए। दूसरे भाग मे भारतीय बैंकिंग विधान का मूल्यांकन कीजिए और यह बताइए कि इससे बैंकिंग व्यवस्था के अनेक दोष दूर हुए हैं और व्यवसाय मे दृढ़ता आयी है, परन्तु अनेक त्रुटियाँ ऐसी भी हैं जिन्हे दूर नही किया जा सका है।]

2 भारतीय बैंकिंग विधान के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अन्य बैंकों पर नियन्त्रण रखने के कौनसे अधिकार दिये गये हैं ? इनके प्रयोग मे रिजर्व बैंक को कितनी सफलता मिली है ?

[संकेत बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 तथा बाद मे किये गये संशोधनो और रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट, 1934 के द्वारा रिजर्व बैंक को दिये गये नियन्त्रण सम्बन्धी अधिकारो का उल्लेख कीजिए। वर्तमान बैंकिंग प्रवृत्तियो के आधार पर रिजर्व बैंक द्वारा उठाये गय कदमो का परीक्षण कीजिए और यह बताइए कि अनेक नियन्त्रण सफलतापूर्वक लगाने के बावजूद रिजर्व बैंक बैंकिंग व्यवस्था की कुछ अवांछनीय प्रवृत्तियो को नहीं रोक पाया है।]

3 'बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण' का अर्थ तथा उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।

[संकेत बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ बताइए और यह स्पष्ट कीजिए कि यह राष्ट्रीयकरण से किस प्रकार भिन्न है। सामाजिक नियन्त्रण की योजना के आधार पर यह स्पष्ट कीजिए कि इसे किन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए लागू किया गया है। अन्त मे इसकी कमियो का भी संक्षिप्त विवरण दीजिए जिनके कारण प्रमुख बैंको का राष्ट्रीयकरण करना पड़ा है।]

4. 'बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण' व 'बैंकों के राष्ट्रीयकरण' मे अन्तर स्पष्ट कीजिए।

[संकेत : सामाजिक नियन्त्रण तथा राष्ट्रीयकरण का अर्थ समझाइए। दोनो प्रकार की व्यवस्था की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए और यह समझाइए कि राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था किस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था से भिन्न है।]

29

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

[RESERVE BANK OF INDIA]

भारत के केन्द्रीय बैंक के रूप मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना 1 अप्रैल, 1935 को हुई। भारत मे एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता तो बहुत पहले से अनुभव की जा रही थी। सन् 1913 मे चैम्बरलेन आयोग ने, जिसके एक सदस्य लॉर्ड केन्ज भी थे, भारत के लिए एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया था। किन्तु प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने से इस सुझाव पर कोई विचार नही किया जा सका। सन् 1921 मे तीन प्रेसीडेंसी बैंको को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी जिसे केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्य दिये गये। परन्तु इम्पीरियल बैंक मुख्यत. एक व्यापारिक बैंक था और उसे नोट छापने का अधिकार नही दिया गया था। अतएव इम्पीरियल बैंक भारत मे केन्द्रीय बैंक की कमी को पूरा नही कर सका। सन् 1925 मे हिल्टन यंग कमीशन ने देश मे एक स्वतन्त्र केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की जोरदार शब्दों में सिफारिश की, जिसके आधार पर जनवरी 1917 मे सर बेसिल ब्लैकट ने केन्द्रीय असेम्बली मे एक बिल रखा। परन्तु बिल की मूल धाराओं पर बहुत अधिक विरोध प्रकट किया गया और सरकार ने उसे वापस ले लिया। सन् 1930 में केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति ने भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया। सन् 1933 के गोलमेज सम्मेलन मे राजनीतिक अधिकार देने के साथ-साथ भारत मे केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का भी निर्णय किया गया। 8 सितम्बर, 1933 को विधान सभा के सामने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बिल रखा गया जो 1934 मे एक एक्ट के रूप मे पास हुआ। इसी एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई और इसने 1 अप्रेल, 1935 से कार्य आरम्भ कर दिया।

रिजर्व बैंक के उद्देश्य

रिजर्व बैंक की स्थापना मुख्यत निम्नलिखित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए की गयी थी.

(1) रुपये के आन्तरिक और बाह्य मूल्यो मे स्थिरता लाना,

(2) सभी बैंको से नकद-कोष प्राप्त करके एक दृढ केन्द्रीय कोष का निर्माण करना जिससे बैंकिंग सकट को रोका जा सके तथा मुद्रा बाजार मे लोच पैदा हो,

(3) देश मे साख व मुद्रा की मात्रा उसकी कुल माग के अनुरूप बनाये रखना,

(4) भारतीय मुद्रा व साख-व्यवस्था तथा बैंकिंग व्यवसाय आदि विविध विषयो पर आंकडे इकट्ठे करना व उन्हे प्रकाशित करना,

(5) सरकार के बैंकर के रूप मे सरकार की ओर से ऋण लेना, भुगतान करना, विदेशी विनिमय का लेन-देन करना तथा सम्बन्धित विषयो पर सरकार को सलाह देना,

(6) कृषि-साख सम्बन्धी विभिन्न विषयो का अध्ययन करना तथा प्रत्यक्ष सहायता की व्यवस्था करना।

(7) देश के बैंकिंग व्यवसाय पर नियन्त्रण रखना और उसको सही दिशा मे विकसित करने का प्रयत्न करना, तथा

(8) विदेशों से मौद्रिक सम्पर्क स्थापित करना।

वास्तव में, सन् 1920 के पश्चात समार भर में यह स्वीकार कर लिया गया था कि प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक हो। आर्थिक विकास के विभिन्न कार्यक्रम तभी सफलतापूर्वक चल सकते हैं जब देश की मुद्रा व साख-व्यवस्था में दृढता हो और यह दृढता बहुत कुछ बैंको की दृढता व सफलता पर निर्भर करती है।

रिजर्व बैंक का विधान

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक की स्थापना अशधारियो (shareholders) के बैंक के रूप में हुई थी। इसकी अधिकृत पूंजी (authorised capital) 5 करोड रुपये थी जिसे 100 रुपये के मूल्य के 5 लाख अशो में विभाजित किया गया था। कार्य के कुशल सचालन तथा शक्ति के विकेन्द्रीकरण के उद्देश्य से सम्पूर्ण देश को पांच क्षेत्रों—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली तथा रगून में—विभाजित किया गया था और प्रत्येक क्षेत्र के लिए अशधारियों की उच्चतम सीमा निर्धारित कर दी गयी थी।[1]

रिजर्व बैंक की स्थापना के समय यह विवाद उठ खडा हुआ था कि यह अशधारियो का बैंक हो अथवा इस पर राज्य का स्वामित्व हो। दोनो विचारो के पक्ष-विपक्ष में अनेक तर्क दिये गये थे। परन्तु चूंकि उस समय ससार में अधिकतर केन्द्रीय बैंक अशधारियो के अधिकार में थे और स्वय ब्रिटिश सरकार पूंजीवादी सिद्धातो का अनुसरण करती थी, इसलिए रिजर्व बैंक की स्थापना अशधारियो के बैंक के रूप में ही हुई।

भारत के स्वतन्त्र होने के बाद जनमत विशेष रूप से रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में हो गया और इसके लिए अनुकूल परिस्थितियाँ भी पैदा हो गयी। बैंक ऑफ इगलैण्ड, बैंक ऑफ फ्रान्स तथा यूरोप के अन्य देशो में केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका था। सितम्बर 1948 में भारतीय ससद ने कानून [Reserve Bank of India (Transfer to Public Ownership) Act, 1948] पास किया जिसके अनुसार 1 जनवरी, 1949 से रिजर्व बैंक पर सरकार का अधिकार हो गया। बैंक के अशधारियों को प्रति 100 रुपये के अश के लिए सरकार ने 118 रुपये 10 आने मुआवजा देकर सभी अश ले लिये। मुआवजे की रकम प्रति अश 18 रु० 10 आने के बराबर नकद में दी गयी और शेष 100 रु० के बदले 3 प्रतिशत ब्याज वाले सरकारी बौण्ड दिये गये।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण निम्नलिखित कारणो से आवश्यक था

(1) युद्धोत्तर काल में आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनाओ की सफलता के लिए केन्द्रीय बैंक का सरकारी स्वामित्व में होना तथा सरकार की नीति के अनुसार कार्य करना आवश्यक था।

(2) सरकार की मुद्रा-नीति पूर्ण रूप से तभी सफल हो सकती थी जब केन्द्रीय बैंक की नीति सचालको द्वारा प्रभावित न होकर सरकार के निर्णय द्वारा प्रभावित हो।

(3) रिजर्व बैंक के अशों को थोडे से लोगो के हाथो में केन्द्रित होने से नही रोका जा सका था। यह स्थिति देश के हित में नही थी।

(4) सरकार की आर्थिक नीति के सचालन में केन्द्रीय बैंक के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता थी। केन्द्रीय बैंक अर्थ-नीति के सचालन का अस्त्र तभी बन सकता है जब इस पर सरकार का पूर्ण अधिकार हो।

(5) विश्व के महत्वपूर्ण केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका था।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक समझा गया ताकि वह सरकार का ठीक प्रकार से प्रतिनिधित्व कर सके।

---

1 प्रत्येक क्षेत्र के अशों की उच्चतम सीमा बँधी होने के बावजूद रिजर्व बैंक की स्थापना के कुछ ही वर्ष बाद हस्तान्तरण द्वारा अधिकाश अश बम्बई में ही केन्द्रित हो गये थे। इसे रोकने के लिए सन् 1940 में रिजर्व बैंक एक्ट में सशोधन करके किसी भी व्यक्ति के पास 20,000 रुपये से अधिक के अश होने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। किन्तु इसके बाद भी बैंक के अशो को बम्बई क्षेत्र में केन्द्रित होने से न रोका जा सका।

(7) देश में मुद्रा-बाजार का ठीक प्रकार से संगठन करने, बैंकिंग व्यवस्था में दृढ़ता लाने, बैंकों की वास्तविक स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त करने तथा देश की आर्थिक समस्याओं को हल करने में केन्द्रीय बैंक का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक हो गया।

(8) वास्तविक रूप में, रिजर्व बैंक सरकार के नियन्त्रण में ही कार्य कर रहा था। इस प्रकार जब वह सरकारी नियन्त्रण में ही था तो उसका राष्ट्रीयकरण कर लेना ही उचित था।

रिजर्व बैंक का प्रबन्ध

रिजर्व बैंक के कार्यों का संचालन केन्द्रीय संचालक मण्डल (Central Board of Directors) द्वारा होता है। सारे देश को चार भागों में बाँटा गया है—उत्तरी क्षेत्र, दक्षिणी क्षेत्र, पूर्वी क्षेत्र तथा पश्चिमी क्षेत्र। इसमें प्रत्येक के लिए 5 सदस्यों का एक स्थानीय बोर्ड (local board) होता है।

केन्द्रीय बोर्ड के सदस्यों की संख्या 20 होती है। इनमें से 1 गवर्नर तथा 4 डिप्टी गवर्नर होते हैं, जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार पाँच वर्ष के लिए करती है। चार संचालक चारों स्थानीय बोर्डों (प्रत्येक से एक) से केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। दस अन्य संचालक तथा एक सरकारी अधिकारी भी सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। 4 वर्ष के कार्यकाल के लिए नियुक्त किये गये ये संचालक उद्योग, व्यापार, सहकारिता आदि विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ होते हैं। सरकारी अधिकारी प्रायः भारत सरकार का वित्त सचिव होता है जो केन्द्रीय सरकार की इच्छानुसार कितने भी समय तक बोर्ड में बना रह सकता है।

स्थानीय बोर्डों के कार्यालय दिल्ली, मद्रास, कलकत्ता और बम्बई में हैं। स्थानीय बोर्ड केन्द्रीय बोर्ड के आदेशानुसार कार्य करते हैं और उनको सौंपे गये विषयों पर केन्द्रीय बोर्ड को सलाह देते हैं। स्थानीय बोर्डों के सदस्य भारत सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं और वे विभिन्न क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका कार्यकाल 4 वर्ष होता है।

रिजर्व बैंक का प्रधान अथवा केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में स्थित है। नई दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में स्थानीय प्रधान कार्यालय हैं। बैंक ने अपने कार्यालय कानपुर, बंगलौर, नागपुर, इत्यादि स्थानों पर स्थापित किये हैं। जहाँ कहीं रिजर्व बैंक के कार्यालय नहीं हैं, स्टेट बैंक इसके प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है।

संगठन के दृष्टिकोण से, रिजर्व बैंक का केन्द्रीय कार्यालय दस विभागों में विभक्त है: सैक्रेटरी का कार्यालय, चीफ एकाउन्टेण्ट का कार्यालय, निरीक्षण विभाग, कानूनी विभाग, बैंकिंग कार्य-कलाप विभाग, बैंकिंग विकास विभाग, कृषि-साख विभाग, औद्योगिक वित्त विभाग, विनिमय-नियन्त्रण विभाग तथा अनुसन्धान व सांख्यिकी विभाग।

केन्द्रीय कार्यालय के अतिरिक्त अन्य कार्यालयों का संगठन दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) नोट-निर्गम विभाग (Issue Department), तथा (2) बैंकिंग विभाग। निर्गम विभाग भी दो भागों में विभक्त रहता है—सामान्य विभाग (General Department) तथा नकद विभाग (Cash Department)। नोट-निर्गम विभाग के मूल सात कार्यालय बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, नई दिल्ली, कानपुर, नागपुर और बंगलौर तथा दो उप-कार्यालय गोहाटी व हैदराबाद में हैं। बैंकिंग विभाग द्वारा रिजर्व बैंक वे सभी कार्य करता है जो इसे सरकार के बैंक या बैंकों के बैंक के रूप में करने पड़ते हैं। यह विभाग चार उप-विभागों में बाँटा गया है—जमा खाता विभाग (Deposit Accounts Department), प्रतिभूति विभाग (Security Department), सरकारी खाता विभाग (Public Accounts Department), तथा सरकारी ऋण विभाग (Public Debt Department)।

रिजर्व बैंक के कार्य

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट, 1934 की प्रस्तावना (Preamble) के अनुसार रिजर्व बैंक का प्रमुख कार्य भारत में मौद्रिक स्थिरता स्थापित करने तथा देश के हित में मुद्रा तथा साख

प्रणाली का सचालन करने के उद्देश्य से नोटो के निर्गमन का नियमन करना तथा रक्षित कोषो को रखना है।[1] देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक को केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य करने पडते हैं। इसके साथ-साथ, देश की परिस्थितियों के अनुसार रिजर्व बैंक को कुछ अन्य प्रकार के कार्य भी करने पडते हैं। देश के आर्थिक विकास के कार्य में उचित मौद्रिक तथा बैंकिंग नीतियो द्वारा सहयोग देना रिजर्व बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य हो गया है। रिजर्व बैंक कुछ ऐसे भी कार्य करता है जिन्हें साधारण बैंकिंग कार्य कहा जा सकता है। इस प्रकार, रिजर्व बैंक के कार्यो को दो भागो मे बाँटा जा सकता है—केन्द्रीय बैंकिंग के कार्य, तथा साधारण बैंकिंग कार्य।

केन्द्रीय बैंकिंग के कार्य

(1) नोट-निर्गमन (Issue of Paper Currency)—एक रुपये के नोट को छोडकर, जो भारत सरकार के वित्त मन्त्रालय द्वारा जारी किये जाते हैं, अन्य सब नोट रिजर्व बैंक द्वारा जारी किये जाते हैं। ये सभी नोट असीमित विधि-ग्राह्य होते है और केन्द्रीय सरकार की उन पर गारण्टी रहती है। कानूनी दृष्टि से रिजर्व बैंक द्वारा जारी किये गये नोट परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (convertible paper money) हैं। परन्तु व्यावहारिक रूप मे इनके बदले मे रिजर्व बैंक को पूर्ण मूल्य की बहु-मूल्य धातुएँ देने के लिए बाध्य नही किया जा सकता है, केवल एक रुपये के सिक्के प्राप्त किये जा सकते हैं।

भारत की वर्तमान नोट-निर्गमन व्यवस्था का अलग से विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। सन् 1956 से न्यूनतम मुद्रा कोष प्रणाली (Minimum Reserve System) अपनायी गयी है। नवम्बर 1957 मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे किये गये द्वितीय सशोधन के अनुसार नोटो के बदले परिसम्पत्ति के रूप मे रिजर्व बैंक का 200 करोड रुपये के मूल्य का सोना, सोने के सिक्के तथा विदेशी प्रतिभूतियाँ कोष मे रखनी पडती हैं, जिनमे से 115 करोड रुपये के मूल्य का सोना अथवा सोने के सिक्के होना आवश्यक है। 31 जनवरी, 1969 तक स्वर्ण कोष का मूल्य 53 रुपये 58 पैसे प्रति 10 ग्राम की दर से आँका जाता था। वर्तमान दर 84 रुपये 39 पैसे प्रति 10 ग्राम है।

नोट-निर्गमन के लिए रिजर्व बैंक का एक अलग विभाग—Issue Department—है, जिसका स्थिति-विवरण बैंकिंग विभाग से अलग रखा जाता है। बैंकिंग विभाग की माँग तथा उसके द्वारा हस्तान्तरित विनिमय बिलो अथवा सरकारी या अनुमोदित प्रतिभूतियो आदि के आधार पर निर्गम विभाग नोट जारी अथवा रद्द करता है। भारत मे व्यापारिक दृष्टि से अक्टूबर-नवम्बर से अप्रेल-मई तक का काल 'व्यस्त काल' (busy season) होता है जिसमे मुद्रा तथा साख की माँग बढ जाती है। इसके विपरीत, मई-जून से सितम्बर-अक्टूबर तक का काल 'शिथिल काल' (slack season) कहलाता है जिसमे व्यापारी तथा उद्योगपति अपने ऋण लौटाने लगते हैं। प्राय यह देखा गया है कि रिजर्व बैंक 'व्यस्त काल' म निर्गमित नोटो की मात्रा बढाता है और 'शिथिल काल' मे कम कर देता है।

जैसा कि बताया जा चुका है, रिजर्व बैंक द्वारा निर्गमित नोटो को चलन मे लाने अथवा रखने के लिए निर्गमन विभाग के सात कार्यालय तथा दो उप-कार्यालय हैं। इनके अतिरिक्त, देश भर मे लगभग 1,300 स्थानो पर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की प्रमुख शाखाओ के पास चलन तिजोरियाँ (Currency Chests) रखी रहती हैं जिनमे रिजर्व बैंक के नोट जमा रहते हैं। देश मे अन्य व्यापारिक बैंक इन्ही तिजोरियो मे विनिमय-पत्र अथवा सरकारी या अन्य अनुमोदित प्रति-भूतियो के आधार पर साख प्राप्त करते हैं। चलन तिजोरियो मे जमा राशि चलन मुद्रा नहीं मानी जाती, बल्कि बैंकिंग विभाग की जमा समझी जाती है। इनमे से निकाली गयी राशि ही चलन मुद्रा मानी जाती है और इसकी सूचना रिजर्व बैंक को प्रत्येक शुक्रवार को भेज दी जाती है।

1 "The main function of the Bank is to regulate the issue of Bank notes and the keeping of reserve with a view to securing monetary stability in India and generally to operate the currency and credit system of the country to its advantage."—*Reserve Bank of India Act, 1934*

30 अप्रैल, 1971 को रिजर्व बैंक द्वारा जारी किये गये नोटों की कुल राशि 4,335.10 करोड़ रुपये थी, जिसमें से 4,330.95 करोड़ रुपये के नोट चलन में थे और शेष 4.15 करोड़ रुपये के नोट बैंकिंग विभाग में जमा थे।

स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक का कार्य न केवल पत्र-मुद्रा का निर्गमन करना है बल्कि मुद्रा की मात्रा को आवश्यकतानुसार नियन्त्रित करना भी है। यदि रिजर्व बैंक को मुद्रा-प्रसार करना हो तो बैंकिंग विभाग से प्रतिभूतियाँ निर्गम विभाग को हस्तान्तरित कर दी जाती हैं जिनके मूल्य के बराबर नये नोट छाप दिये जाते हैं। बैंकिंग विभाग से ली गयी प्रतिभूतियों को लौटा देने पर उतने मूल्य के नोट रद्द कर देने पड़ते हैं जिससे मुद्रा की मात्रा में कमी होती है।

(2) साख-नियन्त्रण (Control of Credit)—साख-नियन्त्रण से अभिप्राय बैंकों की ऋण देने की नीति को नियन्त्रित करना है। आज के युग में केवल चलन-मुद्रा की मात्रा नियन्त्रित करके ही विकास एवं स्थिरता सम्बन्धी वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति सम्भव नहीं हो पाती है। साख की मात्रा को भी आवश्यकतानुसार नियन्त्रित रखना अनिवार्य होता है। देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक को साख-नियन्त्रण के विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं और यह इनका प्रयोग भी करता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार रिजर्व बैंक को साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से बैंक-दर में परिवर्तन करने, खुले बाजार की क्रियाएँ करने तथा बैंकों के नकद-कोषों की मात्रा में परिवर्तन करने के अधिकार प्राप्त हैं। बैंकिंग नियमन अधिनियम में दिये गये अधिकारों के अनुसार रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों की ऋण-नीति, ब्याज-नीति तथा विनियोग नीति को पूर्ण रूप से नियन्त्रित कर सकता है। इस प्रकार, रिजर्व बैंक को साख-नियन्त्रण के वे सब अधिकार प्राप्त हैं जो अन्य केन्द्रीय बैंकों को दिये जाते हैं। साख-नियन्त्रण के सामान्य उपायों, जैसे बैंक-दर में परिवर्तन तथा खुले बाजार की क्रियाओं आदि के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने साख-नियन्त्रण के गुणात्मक अथवा चयनात्मक (qualitative or selective) उपायों का भी प्रयोग किया है। रिजर्व बैंक की साख-नियन्त्रण की नीति तथा विभिन्न रीतियों के प्रयोग का विस्तृत विवरण इसी अध्याय में आगे दिया गया है।

(3) **बैंकों का बैंक तथा अन्तिम ऋणदाता** (Banker's Bank and Lender of the Last Resort)—देश की बैंकिंग व्यवस्था का संरक्षक होने के नाते रिजर्व बैंक एक ओर तो बैंकों पर नियन्त्रण रखता है तथा दूसरी ओर उनके लिए अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करता है।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, भारतीय बैंकिंग विधान के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अन्य बैंकों पर नियन्त्रण रखने के विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं। प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी कुल जमा का 3 प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास नकदी के रूप में रखना पड़ता है, जिसे 15 प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकता है। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप एक तो देश के बैंकिंग आरक्षण (banking reserves) केन्द्रित होते हैं जिससे रिजर्व बैंक को साख-नियन्त्रण में सुविधा होती है और दूसरे बैंकों के जमाकर्त्ताओं के हित सुरक्षित हो जाते हैं। बैंकों पर नियन्त्रण रखने के अनेक अधिकार जो रिजर्व बैंक को दिये गये हैं, मुख्यतः इस प्रकार हैं : बैंकों को लाइसेन्स देना, बैंकों के शाखा-विस्तार पर नियन्त्रण रखना, बैंकों के एकीकरण की योजनाओं की जाँच करना तथा स्वीकृति देना, बैंकों का निरीक्षण करना, बैंकों से विवरण प्राप्त करना तथा उनकी जाँच करना, कमजोर बैंकों की समाप्ति की सिफारिश करना, ऋण-नीति की जाँच करना, सुझाव तथा सलाह या निर्देशन देना, बैंकों की प्रबन्ध-व्यवस्था का नियमन करना, आदि।

आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक अन्य बैंकों के लिए अन्तिम सहारा अथवा अन्तिम ऋणदाता का कार्य करता है। अनुमोदित प्रतिभूतियों की धरोहर पर अनुसूचित बैंक रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सकते हैं। रिजर्व बैंक इन बैंकों द्वारा प्रस्तुत बिलों की पुनर्कटौती (rediscount) करता है। यह इनको निःशुल्क अथवा सस्ती प्रेषण सुविधाएँ (remittance facilities) प्रदान करता है। जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक के कार्यालय हैं वहाँ यह अनुसूचित बैंकों को समाशोधन गृह (clearing house) की सुविधाएँ प्रदान करता है।

(4) **सरकार का बैंकर (Banker to the Government)**—सरकारी बैंकर के रूप में रिजर्व बैंक भारत सरकार तथा राज्यों के बैंकर, एजेण्ट तथा सलाहकार का कार्य करता है। यह सरकार के नकदी शेष जमा करता है तथा अन्य संस्थाओं या लोगों द्वारा सरकार को चुकाई जाने वाली राशि वसूल करके सरकार के हिसाब में जमा करता है। सरकारी खाते में जमा धन-राशि की सीमा तक रिजर्व बैंक सरकार के आदेश से भुगतान भी करता है। रिजर्व बैंक सरकारी कोषों का स्थानान्तरण करता है तथा सरकार के लिए विदेशी विनिमय की व्यवस्था करता है। सरकार के साधारण बैंकिंग कार्यों के लिए रिजर्व बैंक को कोई कमीशन नहीं दिया जाता, पर सरकारी जमाओं पर इसे ब्याज भी नहीं देना पड़ता है।

सरकार के एजेण्ट के रूप में रिजर्व बैंक सार्वजनिक ऋणों (public debt) का प्रबन्ध करता है। सार्वजनिक ऋण प्राप्त करने की पद्धति एवं व्यवस्था से लेकर निश्चित तिथि पर ब्याज तथा मूलधन के भुगतान तक का सारा प्रबन्ध रिजर्व बैंक ही करता है और इसका हिसाब-किताब रखता है। आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक सरकार की ओर से कोषागार विपत्र (treasury bills) बेचकर अल्पकालीन ऋणों की व्यवस्था करता है। सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था के लिए रिजर्व बैंक को 2,000 रुपये प्रति करोड़ वार्षिक शुल्क मिलता है।

रिजर्व बैंक सरकार को कामचलाऊ ऋण देता है, जिन्हें 'उपाय एवं साधन अग्रिम' (ways and means advances) कहा जाता है। इन ऋणों का भुगतान अधिक से अधिक 90 दिन के अन्दर कर देना पड़ता है। इन पर बैंक-दर से 1 प्रतिशत कम ब्याज लिया जाता है।

सलाहकार के रूप में रिजर्व बैंक सरकार को मौद्रिक, वित्तीय तथा आर्थिक कार्यों में सलाह देता है और इनसे सम्बन्धित सरकारी नीति को सफल बनाने की दिशा में भी कार्य करता है। सरकार के आदेश पर रिजर्व बैंक अपने अधिकारी विदेशों में तथा देश में विभिन्न पदों पर विशेषज्ञ-रूप में कार्य करने के लिए भेजता है।

(5) **विनिमय-नियन्त्रण का कार्य (Regulation of Foreign Exchange)**—रिजर्व बैंक का विनिमय-नियन्त्रण विभाग देश में विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति का सम्पूर्ण लेखा-जोखा रखता है और उनमें सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास करता है। विदेशी मुद्राओं का समस्त राष्ट्रीय कोष रिजर्व बैंक के अधिकार में रहता है और इसमें से कोई भी भुगतान उसकी स्वीकृति के बिना नहीं किया जा सकता है। रुपये की विनिमय-दर को स्थिर रखने के लिए रिजर्व बैंक निर्धारित दरों पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करता है अथवा किसी अन्य बैंक को इसके लिए अपना प्रतिनिधि बना सकता है, जिसे 'अधिकृत लेन-देन कर्ता' (authorised dealer) कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F) द्वारा निर्धारित रुपये की दर में स्थिरता बनाये रखना रिजर्व बैंक का दायित्व है।

(6) **कृषि-साख की व्यवस्था (Provision of Agricultural Credit)**—रिजर्व बैंक का एक पृथक कृषि-साख विभाग है जिसके कार्य (1) कृषि-साख सम्बन्धी प्रश्नों का अध्ययन करना, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों और राज्य सहकारी बैंकों व अन्य बैंकों को सलाह देना, तथा (2) कृषि-साख प्रदान करने वाली संस्थाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है। कृषि को उदारतापूर्ण सहायता देने के लिए 1956 में रिजर्व बैंक द्वारा दो कोषों की स्थापना की गयी—राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long-Term Operations) Fund] तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund]। रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों को मौसमी कृषि-कार्यों तथा फसलों की बिक्री के लिए अल्पकालीन ऋण तथा कुछ विशिष्ट कृषि-प्रयोजनों के लिए मध्यकालीन ऋण रियायती दर पर देता है। राज्य सरकारों को दीर्घकालीन ऋण देता है ताकि वे सहकारी साख संस्थाओं की शेयर पूँजी में भाग ले सकें। भूमि-बन्धक बैंकों को उनके ऋण-पत्र (debentures) खरीदकर व बेचकर उनके आधार पर ऋण दिये जाते हैं। व्यापारिक बैंकों को भी आदेश दिये गये हैं कि वे कृषि-साख को प्राथमिकता दें।

(7) अन्य कार्य—देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी करता है

(i) **समाशोधन कार्य (Clearing House Function)**—बैंकों का बैंक तथा अन्तिम ऋणदाता होने के कारण रिजर्व बैंक शुरू से ही समाशोधन का कार्य कर रहा है। बंगलौर, बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, मद्रास, नागपुर, नई दिल्ली, पटना तथा हैदराबाद के समाशोधन गृहों की व्यवस्था स्वयं रिजर्व बैंक करता है। अन्य समाशोधन गृहों का संचालन स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया करता है। गत वर्षों में समाशोधन गृहों में आने वाले चैकों की संख्या और उनकी राशि में काफी वृद्धि हुई है, जो इस बात का प्रमाण है कि भारत में चैकों का प्रयोग दिनोदिन बढ़ रहा है।

(ii) **औद्योगिक वित्त (Industrial Finance)**—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात देश में स्थापित औद्योगिक वित्त संस्थाओं को रिजर्व बैंक से महत्वपूर्ण सहयोग मिला है। औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगमों में रिजर्व बैंक ने अंश-पूंजी लगा रखी है। औद्योगिक विकास बैंक व यूनिट ट्रस्ट की अंश-पूंजी में भी रिजर्व बैंक का हिस्सा है। सन् 1964 में रिजर्व बैंक अधिनियम में *एक संशोधन द्वारा राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन कार्य) कोष* [National Industrial Credit (Long-term Operations) Fund] की स्थापना की गयी है जिसका उद्देश्य बड़े उद्योगों को दीर्घकालीन वित्तीय सहायता देना है। लघु व मध्यम आकार के उद्योगों को बैंकों व वित्तीय संस्थाओं द्वारा वित्तीय सहायता दिलाने के उद्देश्य से 1 जुलाई, 1960 से भारत सरकार ने साख गारण्टी योजना (Credit Guarantee Scheme) चालू की है। इस योजना के अन्तर्गत यद्यपि गारण्टी भारत सरकार द्वारा दी जाती है, परन्तु इस योजना का संचालन रिजर्व बैंक ही करता है। स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में, परोक्ष रूप में, महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है।

(iii) **सूचना प्रकाशन (Provision of Monetary and Financial Information)**—*रिजर्व बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य मुद्रा, साख तथा आर्थिक स्थिति के बारे में विश्वस्त जानकारी* प्रकाशित करना है। रिजर्व बैंक देश के मुद्रा-बाजार के सम्बन्ध में सूचना प्रदान करता है और करैन्सी, वित्त, बैंकिंग तथा सहकारी आन्दोलन के सम्बन्ध में भी रिपोर्टें प्रकाशित करता है। रिजर्व बैंक प्रति वर्ष संचालक-मण्डल की वार्षिक रिपोर्ट, भारतीय बैंक व्यवसाय की प्रवृत्ति और प्रगति की रिपोर्ट तथा मुद्रा और वित्त की रिपोर्ट प्रकाशित करता है। रिजर्व बैंक का मासिक बुलेटिन महत्वपूर्ण आर्थिक सूचनाएँ तथा आंकड़े देता है।

(iv) **बैंकिंग में प्रशिक्षण (Training in Banking)**—बैंकों के सफल संचालन के लिए प्रशिक्षित कर्मचारियों का होना आवश्यक है। सितम्बर 1954 में रिजर्व बैंक ने बम्बई में 'बैंकर्स ट्रेनिंग कालेज' की स्थापना की जहां व्यापारिक बैंकों के अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है।

साधारण बैंकिंग कार्य

केन्द्रीय बैंकिंग के कार्यों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक कुछ साधारण बैंकिंग कार्य भी करता है, जो निम्नलिखित हैं

(1) रिजर्व बैंक केन्द्रीय व राज्य सरकारों तथा व्यापारिक बैंकों के अतिरिक्त अन्य सरकारी, अर्द्ध-सरकारी अथवा गैर-सरकारी संस्थाओं तथा व्यक्तियों से **जमा प्राप्त कर सकता है।** किन्तु इन जमाओं पर रिजर्व बैंक ब्याज नहीं देता है।

(2) रिजर्व बैंक ऐसे **व्यापारिक बिलों का क्रय विक्रय तथा पुन कटौती** (rediscount) करता है, जिनकी अवधि 90 दिन से अधिक न हो, जिनका भुगतान भारत में होने वाला हो तथा जिन पर दो प्रतिष्ठित हस्ताक्षर हों, जिनमें एक किसी सदस्य बैंक का हो।

(3) ऐसे **कृषि बिलों** को रिजर्व बैंक भुना अथवा खरीद-बेच सकता है जो फसल की बिक्री अथवा कृषि के लिए वित्तीय सहायता देने के उद्देश्य से लिये गये हों जिनकी अवधि 15 माह से अधिक न हो।

(4) रिजर्व बैंक ऐसे **विदेशी विनिमय बिलों** का क्रय-विक्रय कर सकता है जिनकी अवधि

90 दिन से अधिक न हो तथा जिनका भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के किसी सदस्य देश में होना हो।

(5) सदस्य बैंको से रिजर्व बैंक **विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय** कर सकता है, परन्तु यह 1 लाख रुपये से कम मूल्य का नहीं होना चाहिए।

(6) **विदेशी सरकारो द्वारा जारी की गयी प्रतिभूतियाँ** रिजर्व बैंक द्वारा खरीदी-बेची जा सकती है, परन्तु इनका भुगतान खरीदने की तिथि से 10 वर्षो के अन्दर हो जाना चाहिए।

(7) केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकारो को रिजर्व बैंक **कामचलाऊ ऋण** (ways and means advance) देता है, जिनकी अवधि 90 दिन से अधिक नही हो सकती है।

(8) अनुसूचित बैंको तथा राज्य सहकारी बैंको को स्वीकृत प्रतिभूतियो, उच्च कोटि के ऋण-पत्रों, सोना-चाँदी आदि की जमानत पर अधिक से अधिक 90 दिनो के लिए ऋण दिये जा सकते है।

(9) आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक किसी सदस्य बैंक या विदेशी केन्द्रीय बैंक से अपनी ही सम्पत्ति की जमानत पर अधिक से अधिक 30 दिन के लिए ऋण ले सकता है, परन्तु ऋण की कुल रकम बैंक की कुल पूँजी से किसी प्रकार भी अधिक नही होनी चाहिए।

(10) रिजर्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के किसी सदस्य देश के **केन्द्रीय बैंक के यहाँ खाता खोल सकता है, उससे एजेन्सी सम्बन्ध बना सकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओ के साथ लेन-देन** कर सकता है।

(11) रिजर्व बैंक **स्वर्ण के सिक्के तथा स्वर्ण-धातु का क्रय-विक्रय** कर सकता है।

(12) रिजर्व बैंक और भी कई प्रकार के साधारण बैंकिंग कार्य कर सकता है, जैसे—अपने कार्यालय पर देय दर्शनी ड्राफ्ट (demand draft) बेचना, नकद रुपया, प्रतिभूतियाँ या बहु मूल्य पदार्थों को सुरक्षित रखना, ऋण-पत्रो पर भुगतान लेना, अपने किसी दावे के भुगतान में हाथ मे आई हुई चल या अचल सम्पत्ति को बेचना और उसका मूल्य प्राप्त करना, आदि।

रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य

अनेक साधारण बैंकिंग कार्य करने के बावजूद रिजर्व बैंक कोई साधारण व्यापारिक बैंक नही है और न ही यह किसी व्यापारिक बैंक के साथ प्रतियोगिता कर सकता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट की धारा 18 के अनुसार रिजर्व बैंक को निम्नलिखित कार्य करने की अनुमति नहीं है

(1) जनता से ब्याज पर जमा स्वीकार नही कर सकता।

(2) किसी प्रकार का व्यापार नही खोल सकता, किसी व्यापारिक संस्था में न हिस्सा ले सकता है और न ही उसे आर्थिक सहायता दे सकता है। अपने ऋण को वसूल करने के लिए कुछ निश्चित काल के लिए रिजर्व बैंक किसी उद्योग अथवा व्यवसाय मे हिस्सा ले सकता है।

(3) निश्चित अवधि से अधिक के लिए ऋण नही दे सकता है।

(4) गैर-जमानती (unsecured) ऋण नही दे सकता है।

(5) अचल सम्पत्ति की जमानत पर न तो ऋण दे सकता है और न ही अपने काम के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से अचल सम्पत्ति खरीद सकता है। ऐसी किसी प्रतिभूति की जमानत पर ऋण नही दे सकता है जो उसके द्वारा अनुमोदित न हो।

(6) किसी कम्पनी के अंश न तो खरीद सकता है और न ही उनकी जमानत पर ऋण दे सकता है।

(7) वह न तो ऐसे बिलो को लिख सकता है और न ही स्वीकार कर सकता है जो मांग पर शोधनीय (payable on demand) न हो।

रिजर्व बैंक को ऐसे सभी कार्य करने की मनाही कर दी गयी है जिनसे इसकी सुरक्षा पर आँच आने की सम्भावना हो अथवा अन्य बैंको से प्रतियोगिता करना सम्भव हो सके।

रिजर्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन

रिजर्व बैंक की स्थापना से लेकर अब तक इसके सामने कई समस्याएँ आयीं और इसने उन

मय का कुशलतापूर्वक सामना किया है। अपने कार्यों में रिजर्व बैंक को अनेक सफलताएँ मिली हैं और कुछ क्षेत्रों में यह असफल भी रहा है। इसकी सफलताओं तथा विफलताओं का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है

रिजर्व बैंक की सफलताएँ

(1) **मुद्रा की सुलभता**—रिजर्व बैंक ने सदैव प्रयत्न किया है कि देश में उद्योग, व्यापार तथा कृषि के लिए कम ब्याज पर पर्याप्त मात्रा में ऋण उपलब्ध हो सकें। नवम्बर 1935 में बैंक-दर 3 प्रतिशत निश्चित की गयी और सन् 1951 तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया। सन् 1951 के बाद बैंक-दर में समय-समय पर वृद्धि की जाती रही है, परन्तु यह बाजार की ब्याज-दर से सदैव बहुत नीची रही है। सस्ती मुद्रा-नीति के कारण रिजर्व बैंक देश में साधारण ब्याज-दर कम करने में सफल रहा है। व्यस्त ऋतुओं में अतिरिक्त मुद्रा तथा साख की व्यवस्था करके रिजर्व बैंक बढ़ी हुई मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के सदैव प्रयास करता रहा है।

(2) **ब्याज दरों में स्थिरता**—मुद्रा-बाजार की दरों में होने वाले समय-समय पर अथवा ऋतु-अनुसार उतार-चढ़ाव को नियन्त्रित करने में रिजर्व बैंक सफल रहा है। विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों में प्रचलित ब्याज-दरों में पाये जाने वाले परिवर्तन समाप्त हो गये हैं।

(3) **प्रेषण-सुविधाएँ**—रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों, सहकारी संस्थाओं तथा सरकार आदि को सस्ती प्रेषण सुविधाएँ (*remittance facilities*) प्रदान करने तथा इनका विस्तार करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। इससे देश में कम खर्चों पर धन का हस्तान्तरण करना सरल हुआ है।

(4) **बैंकिंग व्यवसाय में दृढ़ता**—मुद्रा-बाजार में रिजर्व बैंक के अस्तित्व तथा अन्य बैंकों पर इसके नियन्त्रण के कारण देश में बैंकिंग का स्वस्थ विकास सम्भव हो सका है। देश में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार हुआ है और बैंकिंग व्यवसाय के प्रति जनता में विश्वास उत्पन्न हुआ है। बैंकों के फेल होने की प्रवृत्ति कम हुई है तथा बैंकों के एकीकरण द्वारा रिजर्व बैंक देश की बैंकिंग व्यवस्था में दृढ़ता लाने के प्रयास करता रहा है।

(5) **बैंकिंग विधान**—रिजर्व बैंक ने बैंकिंग कम्पनीज एक्ट, 1949 के निर्माण करने तथा उसे सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। सन् 1950 से यह अन्य बैंकों का नियमित रूप से निरीक्षण करता रहा है। बैंकिंग कानून के अन्तर्गत प्राप्त किये गये अधिकारों तथा शक्तियों के सफलतापूर्वक प्रयोग द्वारा देश में बैंकिंग व्यवस्था के दोषों को दूर करने में रिजर्व बैंक ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया है।

(6) **मुद्रा तथा साख की मात्रा पर नियन्त्रण**—मुद्रा तथा साख की मात्रा को नियन्त्रित करने के लिए रिजर्व बैंक को विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं। इन अधिकारों के प्रयोग द्वारा रिजर्व बैंक का व्यापारिक बैंकों पर अधिक नियन्त्रण सम्भव हो सका है। इसकी साख नियन्त्रण तथा मौद्रिक अनुशासन की नीति ने मुद्रा-स्फीति के दबावों को रोकने में बड़ी सहायता की है। रिजर्व बैंक की मुद्रा तथा साख नीति के दो मुख्य उद्देश्य रहे हैं—विकास एवं स्थिरता (*growth with stability*), अर्थात् विकासशील अर्थ-व्यवस्था की साख सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करके विकास में सहायता देना तथा मुद्रा-स्फीति के दबावों को नियन्त्रण में रखना। इन उद्देश्यों में पूर्ण सफलता न मिलने के बावजूद यह स्वीकार करना पड़ता है कि मुद्रा तथा साख-नियन्त्रण के क्षेत्र में रिजर्व बैंक महत्वपूर्ण कार्य करता रहता है।

(7) **विनिमय-दरों में स्थिरता**—रिजर्व बैंक ने न केवल विनिमय-नियन्त्रण को सफलतापूर्वक चलाया है, बल्कि कई बार भारी दबावों के बावजूद रिजर्व बैंक रुपये की विनिमय-दर को स्थिर बनाये रखने में सफल रहा है। इस कार्य को करने के लिए रिजर्व बैंक ने अनेक विदेशी मुद्राओं को अपने पास रखा है तथा निश्चित दरों पर विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का कार्य किया है। रिजर्व बैंक ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से सम्बन्ध रखकर विदेशी विनिमय-दरों को स्थायी रखने का प्रयास किया है।

(8) **सरकार का बैंकर**—सरकारी बैंकर के रूप में रिजर्व बैंक ने सार्वजनिक ऋणों का

प्रबन्धन, सरकारी कोषो की सुरक्षा तथा सरकार की ओर से लेन-देन आदि कार्यो को सुचारु रूप से किया है। गत वर्षों में रिजर्व बैंक ने अत्यन्त सफलतापूर्वक केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो की ओर से कम दरो पर ऋण (floated loans) जारी किये हैं। आवश्यकता पडने पर इसन सरकार को अल्पकालीन वित्तीय सहायता भी प्रदान की है।

(9) आर्थिक सलाहकार—रिजर्व बैंक न केवल सरकार के आर्थिक सलाहकार के रूप मे कार्य करता है, बल्कि गत वर्षो में इसने अपने विशेषज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, एशियाई विकास बैंक तथा खाद्य एव कृषि सगठन (F A O) जैसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ मे भारत सरकार के आदेशानुसार भेजे है। रिजर्व बैंक के विशेषज्ञ सूडान, तनजानिया, घाना, जाम्बिया, लीबिया, युगाडा आदि अनेक अफ्रीकी देशो के केन्द्रीय बैंको मे सलाहकार के रूप मे कार्य करते रहे है। देश के भीतर जमा-बीमा निगम, कृषि-पुनर्वित्त निगम, यूनिट ट्रस्ट, औद्योगिक विकास बैंक, औद्योगिक वित्त निगम, अनेक राज्य सहकारी बैंक तथा व्यापारिक बैंक आदि सस्थाओं में रिजर्व बैंक के विशेषज्ञ कार्य कर रहे है।

(10) बिल-बाजार का विकास—देश मे विनिमय-बिलो का प्रयोग बढाने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने सन् 1952 मे एक बिल-बाजार योजना (Bill Market Scheme) चालू की। इसके अन्तर्गत अधिक आवश्यकता के समय बैंक अपने निवेश ढाँचे में बिना किसी प्रकार की गडबडी किये अधिक वित्त प्राप्त कर सकते हैं तथा मन्दी के समय उसको लौटा सकते है। इस प्रकार देश मे साख-व्यवस्था लोचपूर्ण हो जाती है।

(11) कृषि वित्त-व्यवस्था—कृषि की वित्त-व्यवस्था मे रिजर्व बैंक का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। रिजर्व बैंक के प्रयास से ही देश मे सहकारिता का विकास हुआ है। राज्य सहकारी बैंको को उदारतापूर्वक ऋण तथा अन्य सुविधाएँ देकर रिजर्व बैंक ने प्रशसनीय कार्य किया है। कृषि-साख के विकास के लिए रिजर्व बैंक केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारो को परामर्श, सहायता एव सहयोग प्रदान करता है।

(12) औद्योगिक वित्त-व्यवस्था—औद्योगिक वित्त के लिए विभिन्न सस्थाओ, जैसे औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगम तथा औद्योगिक विकास बैंक आदि का निर्माण करने मे रिजर्व बैंक ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। इसने अपने सहायक के रूप में औद्योगिक विकास बैंक स्थापित किया है। रिजर्व बैंक द्वारा औद्योगिक साख कोष तथा औद्योगिक वित्त विभाग की भी स्थापना की गयी है।

(13) आर्थिक विकास मे सहयोग—देश म आर्थिक विकास के कार्यक्रमो को पूरा करन म रिजर्व बैंक ने सरकार को सहयोग दिया है। इसने कृषि, उद्योग तथा विदेशी व्यापार की बढती हुई साख आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करके आर्थिक विकास मे सहायता दी है। साधनो की कमी को पूरा करने के लिए सरकार ने घाटे की वित्त व्यवस्था (deficit financing) का सचालन रिजर्व बैंक के द्वारा ही किया है।

(14) बैंकिंग विकास को प्रोत्साहन—रिजर्व बैंक ने बैंको के मित्र, दार्शनिक तथा मार्ग-दर्शक के रूप में कार्य किया है। रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद ही देश म स्वस्थ बैंकिंग परम्परा का विकास हुआ है तथा देश मे बैंकिंग सेवाओ की वृद्धि हुई है। समाशोधन व्यवस्था के विकास द्वारा बैंक द्वारा लेन-देन सुविधाजनक हो गया है। जमा दरो (deposit rates) का अधिक नियमित ढांचा लागू करन से लोगो को दीर्घकालीन जमा रखने के लिए प्रेरणा मिली है। देश म प्रशिक्षित बैंकिंग कार्यकर्ताओं व विशेषज्ञो की कमी दूर करने के लिए रिजर्व बैंक ने बैंकिंग प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की है। जमा-बीमा निगम की स्थापना एव सचालन म रिजर्व बैंक ने महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

(15) अनुसन्धान तथा अक-प्रकाशन—रिजर्व बैंक के सांख्यिकी विभाग (Statistics Department) ने मुद्रा, साख तथा देश की आर्थिक समस्याओ के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण अनुसन्धान किया है। रिजर्व बैंक द्वारा प्रकाशित मुद्रा, मूल्य, वित्त आदि सम्बन्धी सूचनाएँ तथा आँकडे हमे देश की आर्थिक स्थिति से परिचित कराते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक ने देश की अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसने अपने कार्यों द्वारा देश में मौद्रिक स्थिरता, बैंकिंग सुधार एवं प्रसार तथा मुद्रा बाजार के परिष्कार (re-orientation) का सूत्रपात किया है। परन्तु कुछ क्षेत्र अथवा कार्य ऐसे भी हैं जिनमें रिजर्व बैंक को पूर्ण सफलता नहीं मिल पाई है, इसलिए इसके कार्य आलोचना से रहित नहीं हैं।

रिजर्व बैंक की असफलताएँ

(1) **मुद्रा-बाजार के पूर्ण संगठन में असफलता**—इसमें सन्देह नहीं कि गत वर्षों में भारतीय बैंकिंग व्यवस्था ने काफी प्रगति की है, परन्तु विकसित देशों की तुलना में अभी भी हमारी बैंकिंग व्यवस्था बहुत पिछड़ी हुई है। रिजर्व बैंक की सबसे बड़ी असफलता यह है कि यह देश के मुद्रा-बाजार को अच्छी तरह संगठित नहीं कर पाया है। देशी बैंकर भारतीय मुद्रा-बाजार का प्रमुख अंग होते हुए भी रिजर्व बैंक के प्रत्यक्ष सम्पर्क में नहीं आ सके हैं। सहकारी साख समितियों तथा छोटे बैंकों पर भी इसका नियन्त्रण प्रभावशाली नहीं रहा है। मुद्रा-बाजार के विभिन्न भागों व अंगों में कोई ताल-मेल नहीं है और भारतीय मुद्रा-बाजार में एक अविकसित मुद्रा-बाजार के सब लक्षण विद्यमान हैं।

(2) **रुपये के आन्तरिक मूल्य में अस्थिरता**—रिजर्व बैंक की मुद्रा-नीति रुपये के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता बनाये रखने में असफल रही है। रिजर्व बैंक की साख-नियन्त्रण नीति भी पूर्णतया प्रभावपूर्ण नहीं हुई है। मुद्रा तथा साख की पूर्ति में निरन्तर वृद्धि होने के कारण देश में कीमत-स्तर में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इसका जनता की आर्थिक स्थिति तथा देश में आर्थिक विकास के कार्यक्रमों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि देश में मुद्रा-स्फीति की स्थिति के लिए एकमात्र उत्तरदायित्व रिजर्व बैंक का नहीं है, यह अनेक कारणों का परिणाम है। परन्तु यदि रिजर्व बैंक का नियन्त्रण अधिक कठोर होता तो स्थिति इतनी अधिक न बिगड़ पाती।

(3) **रुपये के विदेशी मूल्य में गिरावट**—रिजर्व बैंक भारतीय रुपये का विदेशी मूल्य भी स्थिर नहीं रख पाया है। सन् 1949 में रुपये का अवमूल्यन बहुत कुछ विदेशी कारणों के प्रभाव में किया गया था। परन्तु 1966 में रुपये का अवमूल्यन हमारी आन्तरिक आर्थिक नीतियों की विफलता का परिणाम था। विदेशी विनिमय-बाजार में रुपये का मूल्य गिर चुका था, जून 1966 के अवमूल्यन द्वारा इसे केवल सरकार ने नियमित रूप प्रदान कर दिया जिसके परिणामस्वरूप 'छिपा हुआ' अवमूल्यन 'खुले' अवमूल्यन में बदल गया है।

(4) **ब्याज की दरों में भिन्नता**—रिजर्व बैंक देश में ब्याज की दरों में समानता लाने में भी विफल रहा है। भारतीय मुद्रा-बाजार में प्रचलित ब्याज की दरों में भारी भिन्नता पायी जाती है। देशी बैंकर, साहूकार तथा महाजन ऊँची ब्याज दर वसूल करते हैं और बैंक-दर में परिवर्तनों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

(5) **प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों के लिए अपर्याप्त साख-व्यवस्था**—देश के आर्थिक विकास की योजनाओं में कृषि तथा लघु उद्योगों के विकास को प्राथमिकता दी गयी है। अनेक प्रयास करने के बावजूद रिजर्व बैंक इन क्षेत्रों के लिए पर्याप्त साख की व्यवस्था करने में असमर्थ रहा है। बैंकों पर 'सामाजिक नियन्त्रण' लागू करने के बाद भी अधिक सन्तोषजनक परिणाम नहीं मिल सके। विवश होकर बड़े व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना पड़ा है।

(6) **बिल-बाजार का अभाव**—रिजर्व बैंक देश में एक स्वतन्त्र, सुसंगठित तथा विस्तृत बिल-बाजार की स्थापना करने में असमर्थ रहा है। बिलों की पुनः कटौती की पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान नहीं की जा सकी हैं। रिजर्व बैंक की बिल-बाजार योजना से बैंकों को व्यस्त मौसम में धन प्राप्त करने की सुविधा हुई है, परन्तु उससे स्वतन्त्र बिल-बाजार की स्थापना नहीं हो सकी है।

(7) **दोषपूर्ण बैंकिंग व्यवस्था**—देश में बैंकिंग व्यवस्था पर नियन्त्रण रखने के विस्तृत अधिकार प्राप्त होने पर भी रिजर्व बैंक बड़े व्यापारिक बैंकों के कार्य तथा नीति को पूर्णतया

नियन्त्रित नहीं कर पाया है। उन्होंने अपने साधनो का मनमाने ढग से प्रयोग किया है तथा देश मे बडे उद्योगपतियो व पूँजीपतियो के हित मे कार्य किया है। इनके कारण देश मे आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण को प्रोत्साहन मिला है। इन्ही कारणो से जुलाई 1969 मे इनका राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है। अब भी विदेशी बैंक सरकार के स्वामित्व मे नही है। विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्धन तथा विनिमय सम्बन्धी कार्यों के लिए अभी भी हमे बैंको पर बहुत अधिक निर्भर रहना पडता है।

निष्कर्ष

वास्तविकता यह है कि रिजर्व बैंक के कार्य तथा उत्तरदायित्व इतने अधिक है कि सभी दिशाओ मे पूर्ण सफलता प्राप्त करना इसके लिए सम्भव नही हो पाया है। एक विकासशील देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते इसकी जिम्मेदारियाँ और भी बढ गई हैं। यह अनुभव किया जाने लगा है कि सफल सचालन के लिए रिजर्व बैंक के सगठन मे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। रिजर्व बैंक का कार्य-भार कम करने के लिए इसके कुछ कार्य अन्य सस्थाओ को सौप देने चाहिए। एक सुझाव यह भी है कि देश के विभिन्न क्षेत्रों मे, अमरीकी फेडरल रिजर्व सिस्टम की भांति, अलग-अलग क्षेत्रीय रिजर्व बैंक सगठित किये जायें। सेयर्स के अनुसार, भारत जैसे बडे देशो को, जिनमे जनसख्या अधिक है और जो आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए हैं, सघात्मक (federal) सस्थाओ की आवश्यकता होती है।[1] रिजर्व बैंक के विभिन्न विभागो के कार्यों व नीतियो मे समानता लाने के लिए केन्द्रीय समन्वय बोर्ड की स्थापना की जा सकती है। भारतीय मुद्रा-बाजार के नियमित विकास के लिए रिजर्व बैंक को निरन्तर प्रयत्नशील रहना है और देश मे बैंकिंग सुविधाओ का विस्तार करना है। रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित नीतियो के सफल सचालन पर ही देश मे बैंकिंग व्यवस्था का भविष्य निर्भर करेगा। बडे बैंको के राष्ट्रीयकरण से भारत की बैंकिंग व्यवस्था को नया मोड मिला है। आशा है कि सरकार के राष्ट्रीय दृष्टिकोण व रिजर्व बैंक की सजग नीति से देश मे बैंकिंग का समुचित विकास शीघ्र ही सम्भव हो सकेगा।

रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति अथवा साख-नियन्त्रण नीति

उद्देश्य

एक विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था के लिए ऐसी क्रियाशील मौद्रिक नीति की आवश्यकता होती है जो आर्थिक विकास मे सहायक होने के साथ-साथ देश मे स्थिरता कायम रख सके। भारत मे नियोजित आर्थिक विकास के काल मे रिजर्व बैंक द्वारा अपनायी गयी मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य 'स्थिरता के साथ आर्थिक विकास' (growth with stability) की प्राप्ति के लिए प्रयास करना रहा है। इस प्रकार रिजर्व बैंक की नीति का उद्देश्य एक ओर तो आर्थिक विकास की गति को तीव्र करना तथा दूसरी ओर अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा-स्फीति दबावो (inflationary pressures) को नियन्त्रण द्वारा कम करना रहा है।

देश मे आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने मे सहायक होने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने साख-विस्तार (credit expansion) के क्षेत्र मे उल्लेखनीय कार्य किया है। कृषि और औद्योगिक वित्त के लिए रिजर्व बैंक ने कई विशिष्ट वित्तीय सस्थाओ की स्थापना मे सहायता की है। सहकारी सस्थाओं तथा छोटे उद्योगों के लिए विशेष रूप से साख का प्रबन्ध किया है। भारत के निर्यात बढाने तथा उनके लिए वित्त का प्रबन्ध करने मे भी रिजर्व बैंक ने सराहनीय कार्य किया है। प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो के लिए रिजर्व बैंक की नीति उदारतापूर्ण रही है। सरकारी प्रतिभूतियों को विभेदात्मक आश्रय (discriminatory support) प्रदान करके सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करने मे सहायता की है। रिजर्व बैंक की मुद्रा-नीति न केवल आर्थिक विकास के लिए विनियोग प्रोत्साहित

1 "Large countries, like India, with huge population, particularly when they are economically backward, need *federal* type of institutions both in government and for the management of money, modelled on the American system."—R. S Sayers . *Modern Banking*, p 296

करने के लिए प्रयत्नशील रही है, बल्कि ब्याज-दरों में आवश्यक वृद्धि करके इसने बचतों को भी प्रोत्साहन दिया है।

स्थिरता कायम रखने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने देश के उत्पादक साधनों के अनुरूप बैंक साख के विस्तार को नियमित करने और आर्थिक प्राथमिकताओं को दृष्टि में रखते हुए इसे नियन्त्रित करने की नीति अपनायी है। एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा-स्फीति की सम्भावनाएँ निरन्तर बनी रहती हैं, क्योंकि विनियोग की मात्रा बढ़ती जाती है और उत्पादन तथा आय में साथ-साथ उस अनुपात में वृद्धि न होने के कारण बचत की दर कम होती है। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक होता है कि मुद्रा-नीति द्वारा साख की लागत, मात्रा तथा प्रयोग को नियन्त्रित किया जाय।

उपर्युक्त उद्देश्यों को सामने रखते हुए रिजर्व बैंक ने **'नियन्त्रित साख-विस्तार'** (Controlled Credit Expansion) की नीति अपनायी है। इस प्रकार की मुद्रा-नीति का दीर्घकालीन उद्देश्य साख का विस्तार करना होता है, किन्तु अल्पकाल में इसके विस्तार की गति को नियन्त्रित करने का प्रयास किया जाता है।

साख-नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक ने सामान्य साख नियन्त्रणों (general credit controls) तथा गुणात्मक साख-नियन्त्रणों (selective credit controls) का प्रयोग किया है। अब हम रिजर्व बैंक द्वारा प्रयोग किये गये साख-नियन्त्रण के अस्त्रों का अध्ययन करेंगे।[1]

(1) **बैंक-दर (Bank Rate)**—4 अप्रैल, 1935 को रिजर्व बैंक की बैंक-दर $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत घोषित की गयी थी, किन्तु नवम्बर 1935 में उसे 3 प्रतिशत कर दिया गया। तब से 14 नवम्बर, 1951 तक, अर्थात् सोलह वर्ष तक, बैंक-दर 3 प्रतिशत पर ही स्थिर रही। देश की आर्थिक परिस्थितियों में अनेक परिवर्तन हुए, परन्तु रिजर्व बैंक ने बैंक-दर में कोई परिवर्तन नहीं किया। सन् 1951 तक रिजर्व बैंक ने बैंक-दर का प्रयोग साख-नियन्त्रण के एक अस्त्र के रूप में नहीं किया। व्यापारिक बैंकों की जमाओं में वृद्धि हो जाने के कारण वे न तो रिजर्व बैंक से आर्थिक सहायता लेने के इच्छुक थे और न ही उन्हें इसकी कोई विशेष आवश्यकता थी। इस काल में रिजर्व बैंक सस्ती मुद्रा-नीति (cheap money policy) का अनुसरण करता रहा, जिसके परिणामस्वरूप न केवल असाधारण रूप से साख का विस्तार हुआ अपितु इससे व्यापारिक क्षेत्र में सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिला और भुगतान-सन्तुलन के घाटे में वृद्धि हुई।

15 नवम्बर, 1951 को बैंक-दर 3 प्रतिशत से बढ़ाकर $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दी गयी। 16 मई, 1957 को बैंक दर 4 प्रतिशत कर दी गयी, जिससे बैंक-दर मुद्दती बिलों की वास्तविक दर के समान हो गयी। 3 जनवरी, 1963 से बैंक-दर में $\frac{1}{2}$ प्रतिशत की और वृद्धि की गयी और इस प्रकार यह $4\frac{1}{2}$ प्रतिशत हो गयी। तृतीय योजना काल में बढ़ती हुई मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए 25 सितम्बर, 1964 को बैंक-दर 5 प्रतिशत कर दी गयी। लगभग 6 माह के भीतर ही बैंक-दर में और वृद्धि करना आवश्यक समझा गया। पहली बार एक साथ 1 प्रतिशत की वृद्धि करके 17 फरवरी, 1965 को बैंक-दर 6 प्रतिशत कर दी गयी। तृतीय योजना-काल के बाद देश में औद्योगिक शिथिलता (recession) की स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसमें सुधार लाने के लिए 2 मार्च, 1968 को बैंक-दर घटाकर पुनः 5 प्रतिशत कर दी गयी। 8 जनवरी, 1971 से बैंक-दर पुनः बढ़ा कर 6 प्रतिशत कर दी गयी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 1963 के बाद बैंक-दर में समय-समय पर परिवर्तन किये गये हैं। सामान्य प्रवृत्ति बैंक-दर को ऊँचा उठाने की ही रही है।

1 अक्टूबर, 1960 से 25 सितम्बर, 1964 तक रिजर्व बैंक ने ब्याज-दर की खण्ड-प्रणाली (slab system of lending rates) अपनायी। इसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक के पास अनुसूचित बैंकों की कुल वैधानिक जमाओं (statutory deposits) के एक निश्चित प्रतिशत के बराबर उनके मूल कोटे (basic quota) निर्धारित कर दिये गये। निर्धारित कोटे की सीमा तक रिजर्व बैंक से बैंक-दर पर ऋण लिया जा सकता था। इससे अधिक ऋण लेने पर बैंक दर के अतिरिक्त ब्याज

1 साख नियन्त्रण के विभिन्न अस्त्रों की प्रकृति तथा प्रभावों का वर्णन 'केन्द्रीय बैंकिंग' के अध्याय में किया जा चुका है।

की दण्ड-दर (penal rates) देनी पड़ती थी। श्रेणीबद्ध दरों (graded lending rates) की इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक बैंक-दर के बजाय बहुमुखी दरों (multiple rates) की रीति अपनायी गयी थी।

सन् 1960 में बैंक-दर की त्रिसूत्री प्रणाली (Three-Tier System) चालू हुई, जिसके अनुसार अपनी वैधानिक जमाओं की 50 प्रतिशत राशि तक अनुसूचित बैंक बैंक-दर पर ऋण ले सकते थे। इसके बाद कोटे के 200 प्रतिशत तक 1 प्रतिशत अधिक और इससे अधिक ऋण पर बैंक-दर से 2 प्रतिशत अधिक ब्याज देनी पड़ती थी। 2 जुलाई, 1962 को इस प्रणाली को चतुर्सूत्री (Four-Ties System) बना दिया गया और मूल कोटा वैधानिक जमाओं के 25 प्रतिशत के बराबर निर्धारित किया गया। 31 अक्टूबर, 1962 को कुछ और परिवर्तन किये गये। 2 जनवरी, 1963 में यह व्यवस्था की गयी कि अनुसूचित बैंक अपनी वैधानिक जमाओं के 50 प्रतिशत तक ऋण बैंक-दर ($4\frac{1}{2}$ प्रतिशत) पर ले सकेंगे और शेष 50 प्रतिशत ऋण लेने के लिए 6 प्रतिशत ब्याज देनी पड़ेगी। इससे अधिक ऋण देना रिजर्व बैंक की इच्छा पर निर्भर करेगा और उसके लिए $6\frac{1}{2}$ प्रतिशत ब्याज देनी पड़ेगी। कोटा-प्रणाली में 30 अक्टूबर, 1963 तथा 11 मार्च, 1964 को भी कुछ परिवर्तन किये गये।

बैंक-दर की बहुमुखी दरें लागू करने का उद्देश्य बैंकों को आवश्यकता से अधिक ऋण लेने से रोकना था। परन्तु यह प्रणाली औचित्य अथवा समता के सिद्धान्त के विरुद्ध थी, क्योंकि अधिक जमाओं वाले बैंक रिजर्व बैंक से बैंक-दर पर अधिक ऋण प्राप्त कर सकते थे। इसके विपरीत, छोटे बैंक रिजर्व बैंक से कम ऋण ले सकते थे और उन पर दण्ड-दर का भार भी अधिक पड़ता था।

25 सितम्बर, 1964 को ब्याज-दर की खण्ड-प्रणाली समाप्त कर दी गयी और इसके स्थान पर भेदपूर्ण ब्याज-नीति (differential interest rate policy) लागू की गयी। रिजर्व बैंक से लिये गये ऋणों पर ब्याज का निर्धारण अब बैंकों की तरलता स्थिति (liquidity position) के आधार पर किया जाने लगा। किसी भी बैंक द्वारा बैंक-दर (5 प्रतिशत) पर ऋण प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि वह अपनी कुल मांग तथा समय जमाओं (demand and time deposits or liabilities) का 28 प्रतिशत या इससे अधिक विशुद्ध तरलता अनुपात (net liquidity ratio) के रूप में अपने पास रखे।[1] इस अनुपात में प्रत्येक 1 प्रतिशत की कमी पर ब्याज की दर $\frac{1}{2}$ प्रतिशत बढ़ जायगी। साथ ही, यह भी निश्चित कर दिया गया कि बैंक अपने द्वारा दिये जाने वाले ऋणों पर अधिक से अधिक 9 प्रतिशत तक ब्याज ले सकेंगे।

17 फरवरी, 1965 को बैंक-दर 6 प्रतिशत कर देने के साथ-साथ बैंक दर पर ऋण प्राप्त करने के लिए विशुद्ध तरलता अनुपात 28 प्रतिशत से बढ़ाकर 30 प्रतिशत कर दिया गया। बैंकों द्वारा ली जाने वाली ब्याज-दर की उच्चतम सीमा 1 प्रतिशत बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दी गयी।

उपर्युक्त परिवर्तनों के बावजूद साख विस्तार की गति बढ़ती ही गयी और अनुसूचित बैंकों द्वारा रिजर्व बैंक से लिये जाने वाले ऋणों में वृद्धि हुई। सन् 1966 के प्रारम्भ से देश में औद्योगिक शिथिलता (recession) की स्थिति पैदा हो गयी। इसे दूर करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने उदार साख-नीति का सहारा लिया और 2 मार्च, 1968 को बैंक-दर 6 प्रतिशत से घटाकर 5 प्रतिशत कर दी गयी।

1968 में बैंक-दर में की गयी कमी, वास्तव में, अनावश्यक थी और अनेक अर्थशास्त्रियों द्वारा इसका विरोध भी किया गया था। बाद में उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों ने और भी स्पष्ट कर

---

1 विशुद्ध तरलता अनुपात किसी बैंक की विशुद्ध तरल परिसम्पत्ति की उसकी माँग व समय देनदारियों के साथ अनुपात है। विशुद्ध तरल परिसम्पत्ति बैंक की नकद राशि, रिजर्व बैंक के पास बकाया राशि, अन्य बैंकों के पास चालू खातों में बकाया राशि तथा सरकारी व स्वीकृत प्रतिभूतियों में विनियोग के योग में से उसके द्वारा रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक और औद्योगिक विकास बैंक से प्राप्त ऋण की राशि को घटाने से बचने वाली राशि के बराबर है। बैंकों के वैधानिक तरलता अनुपात से यह भिन्न है क्योंकि इसमें स्वीकृत प्रतिभूतियों के अतिरिक्त अन्य बिलों पर रिजर्व बैंक से प्राप्त ऋण तथा औद्योगिक विकास बैंक से प्राप्त ऋण सम्मिलित नहीं हैं। इसीलिए इसे विशुद्ध तरलता अनुपात कहा गया है।

दिया कि बैंक-दर मे पुन वृद्धि करना आवश्यक था । 1970 मे मुद्रा की पूर्ति 12 प्रतिशत बढ गयी क्योकि बैंक-साख मे वृद्धि का अनुपात बैंको की जमा-राशि मे वृद्धि से काफी अधिक था । अधिक साधन प्राप्त करने के लिए बैंको की रिजर्व बैंक के साधनो पर निर्भरता बढ गयी । एक वर्ष पूर्व की तुलना मे 19 दिसम्बर, 1970 को थोक कीमतो का निर्देशाक 7 4 प्रतिशत ऊँचा था।

विवश होकर रिजर्व बैंक को 9 जनवरी, 1971 से बैंक-दर 5 प्रतिशत से बढाकर पुन 6 प्रतिशत कर देनी पडी । बैंक-दर पर ऋण प्राप्त करने के लिए विशुद्ध तरलता अनुपात 33 प्रतिशत से बढाकर 34 प्रतिशत कर दिया गया । साथ ही, बचत को बढावा देने तथा बैंको की जमा-राशि मे वृद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से जमाओं पर दी जाने वाली ब्याज-दरो मे भी वृद्धि की गयी है । प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों के लिए रिजर्व बैंक से सहायता प्राप्त करने के लिए रियायती दरो की व्यवस्था मे कोई परिवर्तन नही किया गया है ।

स्पष्ट है कि गत वर्षों मे रिजर्व बैंक ने बैंक-दर को साख-नियन्त्रण के सक्रिय उपाय के रूप म अपनाया है । रिजर्व बैंक की नीति यह रही है कि एक निश्चित सीमा के पश्चात बैंको द्वारा रिजर्व बैंक से ऋण लेना हतोत्साहित किया जाय । 2 मार्च, 1968 की कटौती को छोडकर बैंक-दर मे उत्तरोत्तर वृद्धि करने का उद्देश्य मुख्यत स्फीतिक दबावो को कम करना था । परन्तु इसका प्रयोग बहुत भिझक कर किया जाता रहा है, इसलिए यह अपने उद्देश्य को पूरा करने मे अधिक प्रभावपूर्ण नही रही है । वास्तव म, भारत मे बैंक-दर ब्याज की बाजार-दरो का अनुसरण करती रही है । बाजार-दरों को प्रभावित करने के बजाय यह उल्टे बाजार-दरो से प्रभावित हुई है ।

(2) खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations)—जैसा कि 'केन्द्रीय बैंकिग' के अध्याय मे बताया जा चुका है, खुले बाजार की क्रियाओ से अभिप्राय खुले बाजार मे सरकारी प्रतिभूतियो तथा प्रथम श्रेणी के बिलो व प्रतिज्ञा-पत्रो आदि के क्रय-विक्रय से है । साख-नियन्त्रण के एक उपाय के रूप म खुले बाजार की क्रियाएँ विशेषकर बैंक-दर मे परिवर्तनो को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए की जाती है । रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा 17 के अनुसार रिजर्व बैंक को अधिकार प्राप्त है कि वह सरकारी व अर्द्ध-सरकारी सस्थाओ द्वारा जारी की गयी प्रतिभूतियो के क्रय विक्रय के अतिरिक्त ऐसे व्यापारिक बिलो तथा प्रतिज्ञा-पत्रो को खरीद, बेच अथवा पुन भुना सकता है जिनका भुगतान 90 दिन के भीतर भारत म होने वाला हो तथा जिन पर कम से कम दो प्रतिष्ठित हस्ताक्षर हो (इनमे से एक हस्ताक्षर किसी सदस्य बैंक का हो) । रिजर्व बैंक 15 माह तक की अवधि के लिए लिखे गये कृषि बिलो को भी खरीद, बेच या पुन. भुना सकता है।

रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियाएँ मुख्यत सरकारी प्रतिभूतियो के क्रय-विक्रय से सम्बन्धित रही है । भारत मे सभी अनुसूचित बैंको को अपने कुल दायित्वो का कम से कम 25 प्रतिशत तरल रूप (नकद राशि, स्वर्ण तथा अनुमोदित प्रतिभूतियो) मे रखना होता है जिसका अधिकाश भाग सरकारी प्रतिभूतियो के रूप मे रखा जाता है । सन् 1951 तक बैंक रिजर्व बैंक को असीमित मात्रा मे सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचकर नकदी प्राप्त कर लिया करते थे जिसके आधार पर साख का प्रसार कर लेते थे । नवम्बर 1951 मे रिजर्व बैंक ने बैंको से उदारतापूर्वक प्रतिभूतियाँ खरीदने की नीति मे परिवर्तन कर दिया । यह घोषणा कर दी गयी कि बैंको की सामयिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक इन प्रतिभूतियो को खरीदेगा नही, बल्कि इनके आधार पर ऋण देगा । यह नीति नवम्बर 1956 तक प्रचलित रही । इन पाँच वर्षों मे रिजर्व बैंक ने केवल 50 करोड रुपये की सरकारी प्रतिभूतियों को बेचा, जबकि सन् 1948 से 1951 तक के तीन वर्षों मे बैंक ने लगभग 200 करोड रुपये की प्रतिभूतियो को खरीदा था। रिजर्व बैंक की इस नीति का प्रभाव यह हुआ कि बैंक-दर पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण हो गयी और बैंकिग सस्थाओं पर रिजर्व बैंक का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया । परन्तु बैंको की शिकायत यह थी कि नयी नीति उनके लिए महँगी, असुविधाजनक तथा कष्टदायक थी ।

बाजार मे मुद्रा की कमी को दूर करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने नवम्बर 1956 से समय-समय पर सरकारी ऋण-पत्रो को खरीदने की नीति को अपनाया । यह नीति एक वर्ष से भी

कम समय तक प्रचलित रही और सन् 1957 से बैंक ने ऋण पत्रों को अधिक मात्रा में बेचना प्रारम्भ कर दिया । सन् 1960 में रिजर्व बैंक ने अधिक मात्रा में ऋण-पत्रों को खरीदा था । 1962 के पश्चात रिजर्व बैंक के खुले बाजार की क्रियाओं का उद्देश्य देश में मुद्रा स्फीति को कम करना रहा है और इसके लिए रिजर्व बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को बेचता रहा है । ऋण-पत्रों के प्रत्यक्ष क्रय-विक्रय के अतिरिक्त रिजर्व बैंक अपने निवेशों में सन्तुलन रखने तथा निवेशकर्ताओं की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से समय-समय पर एक श्रेणी के ऋण पत्रों को बेचकर दूसरी श्रेणी के ऋण-पत्रों को खरीदता रहा है । इसे बदला क्रियाएँ (switch operations) कहते हैं ।

स्पष्ट है कि सन् 1951 के पश्चात खुले बाजार की क्रियाओं का काफी प्रयोग किया जाता रहा है । परन्तु साख-नियन्त्रण के एक उपाय के रूप में यह अधिक प्रभावपूर्ण नहीं रहा है । भारतीय मुद्रा-बाजार के असगठित होने के कारण खुले बाजार की क्रियाओं का प्रभाव केवल बैंकों पर पड़ता है । रिजर्व बैंक के अधिकार भी सीमित हैं, क्योंकि यह कुछ विशेष प्रकार की प्रतिभूतियों का ही क्रय विक्रय कर सकता है । विकास के लिए साधनों की कमी की समस्या के कारण रिजर्व बैंक द्वारा इन क्रियाओं का प्रयोग एक ही दिशा में, अर्थात् प्रतिभूतियों की बिक्री के लिए, करने की सम्भावना अधिक है ।

16 जनवरी, 1952 से रिजर्व बैंक ने देश में 'बिल-बाजार योजना' (Bill Market Scheme) चालू की है, जिसका मुख्य उद्देश्य बिलों के प्रयोग को प्रोत्साहित करना तथा देश में व्यापार और उद्योग की आवश्यकतानुसार साख की मात्रा में वृद्धि करना और इस प्रकार मुद्रा बाजार में लोच पैदा करना है । इस योजना का सविस्तार विवरण आगे दिया गया है ।

(3) बैंकों के नकद कोषानुपातों में परिवर्तन (Variable Cash Reserve Ratio)—रिजर्व बैंक अधिनियम के अनुसार प्रत्येक अनुसूचित बैंक के लिए यह अनिवार्य था कि वह अपनी माँग जमा (demand deposits) का 5 प्रतिशत तथा मियादी अथवा काल जमा (time deposits) का 2 प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास नकदी में जमा कराए । सन् 1956 में रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह माँग जमाओं के लिए न्यूनतम नकद कोषानुपात 5 प्रतिशत से बढ़ाकर 20 प्रतिशत तक तथा मियादी जमाओं के लिए 2 प्रतिशत से 8 प्रतिशत तक कर सकता है । साथ ही, रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार दिया गया कि वह अनुसूचित बैंकों को आदेश दे सकता है कि एक निश्चित तिथि के बाद प्राप्त की गयी अतिरिक्त जमाओं पर वे रिजर्व बैंक के पास 100 प्रतिशत तक नकद कोष जमा करायें । परन्तु अतिरिक्त जमाओं पर अतिरिक्त कोष रखने पर भी नकद-कोष कुल माँग जमा व मुद्दती जमा के क्रमश 20 प्रतिशत और 8 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकते थे ।

सन् 1956 में प्राप्त किये गये अधिकारों का प्रयोग रिजर्व बैंक ने सर्वप्रथम 1960 में किया । 11 मार्च, 1960 को यह नियम लागू किया गया कि इस तिथि के बाद प्रत्येक अनुसूचित बैंक को जमा-राशि में वृद्धि का 25 प्रतिशत नकद-कोष के रूप में रिजर्व बैंक के पास रखना होगा । 6 मई, 1960 से यह सीमा 50 प्रतिशत कर दी गयी । रिजर्व बैंक के पास जमा किये जाने वाले ये नकद-कोष वैधानिक न्यूनतम कोषानुपात (माँग जमा का 5 प्रतिशत तथा मुद्दती जमा का 2 प्रतिशत) के अतिरिक्त थे और इन पर निश्चित दर पर ब्याज देने की व्यवस्था की गयी थी । इन नियमों का प्रभाव यह हुआ कि व्यस्त काल में मुद्रा-बाजार में अत्यधिक दुर्लभता की स्थिति अनुभव की जाने लगी । अत 13 जनवरी, 1961 से अतिरिक्त जमाओं का एक भाग रिजर्व बैंक के पास नकद-कोष के रूप में जमा करवाने की व्यवस्था समाप्त कर दी गयी ।

16 सितम्बर, 1962 को रिजर्व बैंक एक्ट तथा बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में संशोधन किये गये । रिजर्व बैंक एक्ट की धारा 42 (1) में संशोधन के अनुसार माँग जमा तथा मुद्दती जमा पर नकद-कोष की अलग-अलग प्रतिशत रखने की व्यवस्था समाप्त कर दी गयी और कुल जमा पर कम से कम 3 प्रतिशत नकद-कोष रखने का नियम लागू किया गया । रिजर्व बैंक को अधिकार दिया गया कि आवश्यकता पड़ने पर वह इस अनुपात को 15 प्रतिशत तक बढ़ा सकता है । यह

नियम गैर-अनुसूचित बैंकों पर भी लागू होता है, उन्हें छूट केवल इतनी दी गयी है कि वे चाहें तो नकद-कोष की राशि रिजर्व बैंक के पास न रखकर अपने पास ही रख सकते हैं।

बैंकिंग नियमन एक्ट की धारा 24 में संशोधन के अनुसार बैंकों के लिए अनिवार्य कर दिया गया है कि वे (रिजर्व बैंक के पास रखे वैधानिक कोषानुपात के अतिरिक्त) अपनी कुल जमा का कम से कम 25 प्रतिशत तरल परिसम्पत्तियों (liquid assets)[1] के रूप में अपने पास रखें। यह व्यवस्था 2 वर्ष बाद, अर्थात् 16 सितम्बर, 1964 से लागू हुई।

इस प्रकार, बैंकों के लिए यह अनिवार्य है कि वे कम से कम 28 प्रतिशत (25% तरल परिसम्पत्तियाँ+3% न्यूनतम नकद-कोषानुपात) कोष (reserves) रखें, जिन्हें 40 प्रतिशत (25%+15%) तक बढ़ाया जा सकता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, बैंक-दर पर रिजर्व बैंक से ऋण उन्हीं बैंकों को मिल पाता है जिनके तरल-कोष उनकी कुल जमा के कम से कम 34 प्रतिशत होते हैं। वास्तविकता यह है कि साख-नियन्त्रण के लिए कोषानुपात में परिवर्तन तभी प्रभावपूर्ण होता है जब इसके साथ साथ साख-नियन्त्रण के अन्य अस्त्र भी प्रयोग में लाये जायें।

(4) **वरणात्मक साख-नियन्त्रण (Selective Credit Controls)**—साख-नियन्त्रण की उपर्युक्त सामान्य (general) अथवा परिमाणात्मक (quantitative) रीतियों के अतिरिक्त कुछ विशेष क्षेत्रों अथवा कार्यों के लिए साख-नियन्त्रण करने के उद्देश्य से वरणात्मक अथवा गुणात्मक (qualitative) उपायों का प्रत्यक्ष प्रयोग भी किया जा सकता है। इन उपायों का प्रयोग करके केन्द्रीय बैंक साख की दिशा का नियमन करता है जबकि सामान्य उपायों के प्रयोग द्वारा साख की मात्रा निश्चित की जाती है।

बैंकिंग नियमन अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारों के अनुसार रिजर्व बैंक बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋणों पर मूल्यान्तर (margin) निर्धारित कर सकता है, कुछ विशेष प्रकार के ऋण देने पर प्रतिबन्ध लगा सकता है और कुछ प्रकार के ऋण देने के पूर्व अनुमति लेने के आदेश दे सकता है। रिजर्व बैंक द्वारा वरणात्मक साख-नियन्त्रण की नीति का प्रयोग सर्वप्रथम 17 मई, 1956 को किया गया जबकि अनुसूचित बैंकों को आदेश दिया गया कि वे चावल व धान की जमानत पर किसी व्यक्ति अथवा संस्था को 50 हजार रुपये से अधिक ऋण न दें और इनके मूल्यान्तर में 10 प्रतिशत वृद्धि करें। सितम्बर 1956 में इस प्रकार के नियम अन्य खाद्यान्नों पर भी लागू कर दिये गये। इसके बाद समय-समय पर रिजर्व बैंक खाद्यान्नों के अतिरिक्त दाल, तेल, तिलहन, चीनी, कपास, जूट, मूंगफली, वनस्पति आदि अनेक वस्तुओं पर वरणात्मक साख-नियन्त्रण लगाता रहा है। ये नियन्त्रण मुख्यतः मूल्यान्तर निश्चित करने तथा ऋणों की सीमा निर्धारित करने से सम्बन्धित रहे हैं। कम्पनियों के अंशों (shares) पर सट्टेबाजी को रोकने के लिए रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों को चेतावनी देता रहा है कि वे अंशों की जमानत पर ऋण न दें। 11 मार्च, 1960 को अंशों की जमानत पर दिये जाने वाले 5,000 रुपये से अधिक के ऋणों के लिए 50 प्रतिशत मूल्यान्तर निश्चित कर दिया गया। बैंकों को यह भी आदेश दिया गया कि वे अंशों के 'बदला' सौदों के लिए प्रत्यक्ष ऋण न दें।

वरणात्मक साख-नियन्त्रण मुख्यतः दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लगाये जाते रहे हैं. प्रथम, आवश्यक वस्तुओं के सट्टे, संग्रह तथा मुनाफाखोरी के लिए साख की सुविधाओं पर रोक लगाना, दूसरे, इन वस्तुओं की कीमतों को अनुचित रूप में बढ़ने से रोकना। परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर नियमों तथा आदेशों में परिवर्तन किया जाता रहा है। इन नियमों का प्रभाव यह हुआ है कि सट्टेबाजी अथवा संचय करने के लिए व्यापारी बैंकों से पर्याप्त सहायता प्राप्त नहीं कर पाये हैं। परन्तु देश में रिजर्व बैंक के नियन्त्रण के बाहर ऐसे अनेक साधन रहे हैं जिनसे व्यापारियों को आसानी से ऋण प्राप्त होते रहे हैं और सट्टेबाजी तथा मुनाफाखोरी जैसे समाज-विरोधी कार्यों को नहीं रोका जा सका है।

---

1 This comprises till money, gold, excess over statutory reserves, balances with the State Bank of India and with notified banks and unencumbered approved securities.

(5) **नैतिक प्रभाव (Moral Suasion)**—साख-नियन्त्रण के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष उपायों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने समय-समय पर नैतिक प्रभाव डालकर तथा बैंकों को समझा-बुझाकर भी साख-नियन्त्रण का कार्य किया है। रिजर्व बैंक समय-समय पर अनुसूचित बैंकों के प्रतिनिधियों की सभाएँ आमन्त्रित करता रहा है और अपने गश्ती-पत्रों (circular letters) द्वारा उन्हें सलाह देता रहा है। सितम्बर 1949 में, रुपये के अवमूल्यन के पश्चात्, रिजर्व बैंक के गवर्नर ने बैंकों के प्रतिनिधियों को आमन्त्रित करके उन्हें सलाह दी थी कि वे सट्टे की क्रियाओं के लिए ऋण न दें। जून 1957 में गश्ती-पत्र भेजकर तथा जुलाई 1957 में बैंकों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन बुला कर गवर्नर ने बैंकों को अपने अग्रिमों (advances) में कमी करने की सलाह दी थी। 15 जून, 1959 तथा 8 मई, 1960 को पत्रों द्वारा रिजर्व बैंक के गवर्नर ने बैंकों के साख में कमी करने पर जोर दिया था तथा उनसे अनुरोध किया था कि वे रिजर्व बैंक के साथ सहयोग करें। दिसम्बर 1961 में रिजर्व बैंक ने बैंकों को अपने कोषों में वृद्धि करने की सलाह दी थी। वास्तव में, नैतिक प्रभाव डालने का तरीका साख नियन्त्रण का एक कमजोर अस्त्र समझा जाता है और इसके परिणाम भी अनिश्चित होते हैं। परन्तु बैंकों की साख क्रियाओं को निश्चित दिशाओं में नियोजित करने में इसका कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है।

बैंकों द्वारा रिजर्व बैंक की सलाह न मानने पर साख-नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक को प्रत्यक्ष कार्यवाही करने के अधिकार भी दिए गये हैं। बैंकिंग नियमन अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को बैंकों के लाइसेन्स प्रदान करने तथा रद्द करने, शाखा-विस्तार को नियन्त्रित करने, कमजोर बैंकों का एकीकरण करने अथवा उन्हें बन्द करने, बैंकों के खातों का निरीक्षण करने तथा किसी विशेष प्रकार के लेन-देन करने से रोकने आदि से सम्बन्धित विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं। इन अधिकारों का प्रयोग करके रिजर्व बैंक देश की बैंकिंग व्यवस्था को सही दिशा में चलने के लिए मजबूर कर सकता है।

रिजर्व बैंक की साख-नियन्त्रण नीति का मूल्यांकन (972)

रिजर्व बैंक द्वारा अपनायी गयी 'नियन्त्रित साख-विस्तार' (controlled expansion) की नीति में 'साख-विस्तार' उतना ही महत्वपूर्ण रहा है जितना इसका 'नियन्त्रण'। आर्थिक विकास के उद्देश्य से रिजर्व बैंक कृषि, उद्योग, सहकारिता तथा निर्यात के लिए पर्याप्त साख सुविधाएँ दिलाने में काफी सफल रहा है। इस उद्देश्य से कई विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना भी हुई है। परन्तु, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, देश में व्यापारिक बैंकों पर बड़े उद्योगपतियों तथा व्यापारियों का नियन्त्रण होने के कारण बैंक साख का अधिक उपयोग वे ही करते रहे हैं और प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों (priority sectors) को पर्याप्त मात्रा में सुविधाएँ नहीं दी जा सकी हैं। जुलाई 1969 में बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। अब आशा की जा सकती है कि भविष्य में देश के आर्थिक विकास कार्य में बैंकों से अधिक मात्रा में सक्रिय योगदान प्राप्त हो सकेगा।

रिजर्व बैंक द्वारा साख की मात्रा नियन्त्रित करने का उद्देश्य आर्थिक विकास के साथ-साथ स्थिरता (stability) बनाये रखना रहा है। विकास तथा स्थिरता दोनों को एक साथ प्राप्त करना एक जटिल समस्या है। रिजर्व बैंक द्वारा अपनायी गयी नीति अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार समय समय पर बदलती रही है और इसे अधिक व्यावहारिक बनाने का निरन्तर प्रयास किया जाता रहा है। परन्तु वास्तविक स्थिति यह रही है कि सब प्रकार के साख नियन्त्रण सम्बन्धी अस्त्रों के प्रयोग के बावजूद अर्थ-व्यवस्था में स्फीतिक दबाव (inflationary pressures) बढ़ते ही रहे हैं। इसके लिए कुछ सीमा तक तो रिजर्व बैंक को ही जिम्मेदार ठहराया जाता है। प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि रिजर्व बैंक की मुद्रा-नीति बहुत ढीली-ढाली रही है और इसे बहुत झिझक के साथ लागू किया जाता रहा है। दृढ़ मुद्रा एवं साख-नीति के अभाव में कीमत-स्तर में वृद्धि को नहीं रोका जा सका है।

वास्तविकता यह है कि मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए केवल मुद्रा-नीति ही पर्याप्त नहीं

होगी । मुद्रा-नीति तभी प्रभावपूर्ण होती है जब इसे सरकार की राजकोषीय नीति (fiscal policy) का भी सहयोग प्राप्त हो । क्रय-शक्ति में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन में भी आनुपातिक वृद्धि होना आवश्यक होता है । जब सरकार द्वारा उत्पादक तथा अनुत्पादक व्यय में निरन्तर वृद्धि हो रही हो और साधनों की कमी घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) द्वारा पूरी की जा रही हो, देश में गुप्त व काली मुद्रा (unaccounted or black money) अत्यधिक मात्रा में हो, विनियोग में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि न हो रही हो, तो अकेले मुद्रा-नीति क्या कर सकती है ? वैसे भी, मुद्रा-नीति एक सुव्यवस्थित तथा संगठित अर्थ-व्यवस्था में अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती है, न कि हमारे जैसी अल्प-विकसित तथा असंगठित अर्थ-व्यवस्था में, जहाँ अनेक प्रकार के अभाव हैं और जहाँ संगठित बैंकिंग व्यवसाय के अतिरिक्त विस्तृत असंगठित बैंकिंग क्षेत्र है जिस पर रिज़र्व बैंक का कोई नियन्त्रण नहीं है । इन सब सीमाओं को ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि रिज़र्व बैंक अपनी मुद्रा एवं साख-नीति को कुशलतापूर्वक लागू करने के लिए प्रयत्नशील रहा है ।

रिज़र्व बैंक की बिल-बाजार योजना

भारतीय मुद्रा-बाजार में बिलों के प्रयोग को प्रोत्साहित करने तथा देश में व्यापार व उद्योग की आवश्यकतानुसार साख की मात्रा में वृद्धि करने के उद्देश्य से रिज़र्व बैंक ने 16 जनवरी, 1952 से एक 'बिल-बाजार योजना' आरम्भ की । इस योजना के अनुसार रिज़र्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को यह सुविधा दी कि यदि वे चाहें तो अपने ग्राहकों से नकद-साख, अधिविकर्ष या ऋणों के बदले में प्राप्त माँग पर देय प्रतिज्ञा-पत्रों (demand promissory notes) को 90 दिनों के मुद्दती प्रतिज्ञा-पत्रों (usance promissory notes) अथवा बिलों में बदल सकते हैं और फिर इन मुद्दती बिलों की जमानत पर वे रिज़र्व बैंक से माँग-ऋण ले सकते हैं । आरम्भ में यह योजना केवल उन्हीं अनुसूचित बैंकों तक सीमित रखी गयी जिनकी कुल जमा 10 करोड़ रुपये से कम नहीं थी । किसी एक बैंक को कम से कम 25 लाख रुपये का ऋण लेना पड़ता था और एक बिल की रकम कम से कम 1 लाख रुपये होनी चाहिए थी । इन शर्तों के कारण इस योजना का लाभ कुछ बड़े बैंक ही उठा सकते थे । जून 1953 से यह योजना उन बैंकों पर भी लागू कर दी गयी जिनकी कुल जमा 5 करोड़ रुपये अथवा इससे अधिक थी । सन् 1953 में इस योजना के अन्तर्गत बैंकों ने रिज़र्व बैंक से 61 करोड़ रुपये के अग्रिम प्राप्त किये थे । सन् 1954 के प्रथम छः महीनों में योजना के अन्तर्गत प्राप्त किये गये अग्रिमों की राशि 122 करोड़ रुपये थी । श्रॉफ समिति (Shroff Committee) की सिफारिश पर 14 जुलाई, 1954 से इस योजना में वे सभी बैंक शामिल कर लिये गये जिन्हें 1949 के बैंकिंग अधिनियम की धारा 22 के अन्तर्गत लाइसेन्स प्राप्त था । ऋण की न्यूनतम सीमा घटाकर 5 लाख रुपये और प्रति बिल न्यूनतम रकम 50 हजार रुपये कर दी गयी । इस प्रकार प्रत्येक अनुसूचित बैंक को बिल-बाजार योजना से लाभ प्राप्त करने का अधिकार मिल गया ।

योजना को लोकप्रिय बनाने के लिए आरम्भ में रिज़र्व बैंक ऐसे ऋणों पर बैंक-दर ($3\frac{1}{2}\%$) से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत कम (3%) ब्याज लेता था । परन्तु आगे चलकर 1 मार्च, 1956 से $\frac{1}{4}$ प्रतिशत और 21 नवम्बर, 1956 से शेष $\frac{1}{4}$ प्रतिशत की छूट वापस ले ली गयी । इस प्रकार योजना के अन्तर्गत उधारदान-दर (lending rate) बैंक-दर के बराबर हो गयी । आरम्भ में रिज़र्व बैंक ने माँग बिलों को मुद्दती बिलों में बदलने के लिए स्टाम्प ड्यूटी (stamp duty) के रूप में होने वाले व्यय का आधा भार स्वयं उठाने की छूट दी थी, परन्तु 1 मार्च, 1956 से यह छूट भी समाप्त कर दी गयी । फरवरी 1957 से मुद्दती बिलों पर स्टाम्प ड्यूटी की दर में वृद्धि हो जाने के कारण योजना के अन्तर्गत प्राप्त ऋणों पर वास्तविक ब्याज-दर 4 प्रतिशत हो गयी । यह देखते हुए मई 1957 से बैंक-दर भी 4 प्रतिशत कर दी गई ।

अक्टूबर 1958 से निर्यात बिलों (export bills) को भी बिल-बाजार योजना में सम्मिलित कर लिया गया । सर्वप्रथम यह व्यवस्था एक वर्ष के लिए ही की गयी और इसके अन्तर्गत

ऋणों की न्यूनतम सीमा 2 लाख रुपये तथा प्रति बिल न्यूनतम रकम 20 हजार रुपये निश्चित की गयी। रिजर्व बैंक ने स्टाम्प ड्यूटी का आधा भार उठाने की भी सुविधा दी। अक्टूबर 1959 से यह व्यवस्था एक वर्ष के लिए और बढ़ा दी गयी। ऋणों की न्यूनतम सीमा घटाकर 1 लाख रुपये तथा प्रति बिल न्यूनतम रकम 10 हजार रुपये कर दी गयी। स्टाम्प ड्यूटी का पूरा भार रिजर्व बैंक ने अपने ऊपर ले लिया। जनवरी 1961 से प्रति बिल न्यूनतम रकम घटाकर 5000 रुपये कर दी गयी। सितम्बर 1962 में रिजर्व बैंक को अधिकार दिया गया कि वह 180 दिन तक की अवधि के निर्यात बिलों की पुनर्कटौती कर सकता है, उन्हें खरीद सकता है अथवा उनकी जमानत पर ऋण दे सकता है। निर्यात व्यापार में और अधिक वित्तीय सहायता दिलाने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने 23 मार्च, 1963 से 'निर्यात बिल साख योजना' (Export Bills Credit Scheme) चालू की है। इस योजना के अनुसार अधिकृत बैंकों को माँग पर देय प्रतिज्ञा-पत्रों पर ऋण लेने का अधिकार दिया गया है। ऋण लेने वाले बैंकों को उनके द्वारा क्रय किये गये अथवा भुनाये गये मुद्दती निर्यात बिलों का विवरण देना पड़ता है।

बिल-बाजार योजना के द्वारा व्यापारिक बैंक रिजर्व बैंक से काफी मात्रा में ऋण प्राप्त कर सके हैं। सन् 1956-57 तक तो इसके अन्तर्गत लिये जाने वाले ऋणों में निरन्तर वृद्धि हुई, क्योंकि इसके प्रोत्साहन के लिए कई रियायतें दी गयी थीं। यह सब होते हुए भी इस योजना द्वारा देश में एक पूर्ण बिल-बाजार का निर्माण नहीं हो पाया है। यह योजना केवल बैंकों को रिजर्व बैंक से ऋण और अग्रिम दिलाने से सम्बन्धित रही है। देशी बैंकरों को इसमें शामिल नहीं किया गया और न ही कृषि सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास किया गया है। ऋण प्राप्त करने के लिए माँग बिलों को मुद्दती बिलों में बदलना न केवल असुविधाजनक होता है बल्कि अनार्थिक भी होता है। वास्तव में, इस योजना को सही अर्थों में बिल-बाजार योजना नहीं कहा जा सकता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना किन उद्देश्यों से की गयी थी? अपने कार्यों से रिजर्व बैंक ने अपनी स्थापना का औचित्य कहाँ तक सिद्ध किया है?

   [संकेत : प्रथम भाग में विस्तारपूर्वक समझाइए कि रिजर्व बैंक की स्थापना किन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की गयी थी। दूसरे भाग में रिजर्व बैंक की सफलताओं तथा विफलताओं का विवरण दीजिए और देश की बैंकिंग व्यवस्था में रिजर्व बैंक के महत्व की व्याख्या कीजिए।]

2. रिजर्व बैंक के कार्यों पर प्रकाश डालिए।

   [संकेत : रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों तथा साधारण बैंकिंग कार्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य भी बताइए। देश की बैंकिंग व्यवस्था में रिजर्व बैंक के महत्व का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।]

3. रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया था? इसकी सफलताओं तथा विफलताओं का उल्लेख कीजिए।

   [संकेत : प्रथम भाग में स्पष्ट रूप से समझाइए कि रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करना क्या आवश्यक था। दूसरे भाग में इसके कार्यों से सम्बन्धित इसकी सफलताओं तथा विफलताओं का वर्णन कीजिए।]

4. रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण नीति का विवेचन कीजिए। इसमें यह कहाँ तक सफल रहा है?

   [संकेत : रिजर्व बैंक की 'नियन्त्रित साख-विस्तार' की नीति के उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उन सभी उपायों का उल्लेख कीजिए जिनके द्वारा रिजर्व बैंक साख की मात्रा नियन्त्रित करने के प्रयास करता रहा है। दूसरे भाग में, रिजर्व बैंक की साख-नियन्त्रण नीति का मूल्यांकन कीजिए और यह बताइए कि इस नीति में सीमित मात्रा में सफलता प्राप्त करना स्वाभाविक था।]

   भारत के आर्थिक विकास में रिजर्व बैंक के महत्व का संक्षिप्त वर्णन तथा मूल्यांकन कीजिए।

   [संकेत : रिजर्व बैंक के कार्यों तथा इसकी मुद्रा-नीति के उद्देश्यों के आधार पर यह स्पष्ट कीजिए कि देश के आर्थिक विकास में रिजर्व बैंक ने क्या योग दिया है। इसने न केवल सरकार को अनेक प्रकार से सहायता दी है, बल्कि देश की मुद्रा एवं साख-व्यवस्था को नियन्त्रित रखने के प्रयास किये हैं ताकि 'स्थिरता के साथ आर्थिक विकास' प्राप्त किया जा सके। कृषि तथा औद्योगिक साख के क्षेत्र में रिजर्व बैंक द्वारा दी गयी सहायता का विशेष रूप से उल्लेख कीजिए। रिजर्व बैंक की सफलताओं तथा विफलताओं के आधार पर रिजर्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।]

6. रिजर्व बैंक की 'बिल-बाजार योजना' पर टिप्पणी लिखिए।

   [संकेत : 'बिल-बाजार योजना' का अर्थ, विकास तथा महत्व स्पष्ट कीजिए।]

30

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

[STATE BANK OF INDIA]

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना 1 जुलाई, 1955 को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण करके की गयी थी। अत स्टेट बैंक का अध्ययन करने के पूर्व इम्पीरियल बैंक के सम्बन्ध म कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा।

इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया

इम्पीरियल बैंक की स्थापना सन् 1921 में तीन प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर की गयी थी। इसकी स्थापना के लिए प्रो० केन्ज ने भी सुझाव दिया था। भारतीय मुद्रा-बाजार तथा बैंकिंग व्यवस्था मे इम्पीरियल बैंक को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। यह न केवल एक साधन-सम्पन्न प्रमुख व्यापारिक बैंक था बल्कि रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व यह आंशिक रूप से केन्द्रीय बैंक के कार्य भी करता था। सरकार के बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों की देखभाल इम्पीरियल बैंक ही करता था और अन्य बैंकों का बैंकर भी था।

सन् 1927 म जब हिल्टन यंग कमीशन ने देश में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना के विषय पर विचार किया तो कमीशन के एक सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास न इम्पीरियल बैंक को ही केन्द्रीय बैंक बनाने का सुझाव दिया था। परन्तु यह सुझाव नहीं माना गया, क्योंकि ऐसा करने से इसे व्यापारिक बैंकिंग के कार्य बन्द करने पड़ते और इसकी बहुत-सी शाखाएँ बन्द हो जाती। यदि केन्द्रीय बैंक बना देने के बाद भी इसे व्यापारिक बैंकिंग कार्य करने की अनुमति दे दी जाती, तो उसकी शक्ति इतनी अधिक बढ जाती कि अन्य बैंक उसकी स्पर्द्धा में टिक ही नहीं पाते। वस्तुत इम्पीरियल बैंक का प्रबन्ध अधिकांशत विदेशियों के हाथों में था। उसके संचालक तथा अंशधारी न तो व्यापारिक कार्य छोड़ने को तैयार थे और न ही अपने अधिकारों का परित्याग करना चाहते थे। अत इसकी स्थिति म परिवर्तन करना असम्भव था।

इम्पीरियल बैंक मूलत एक व्यापारिक बैंक था, परन्तु आंशिक रूप से केन्द्रीय बैंक होने के नाते इस पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। यह छ मास से अधिक अवधि के लिए ऋण नहीं दे सकता था और न ऋणों के पीछे अपने अंशों अथवा अचल सम्पत्ति की जमानत या व्यक्तिगत जमानत स्वीकार कर सकता था। अपनी निजी आवश्यकताओं के अतिरिक्त यह विदेशी विनिमय का कार्य भी नहीं कर सकता था और न ही इसे देश के बाहर जमा या ऋण लेने का अधिकार था।

सन् 1935 में रिजर्व बैंक की स्थापना हो जाने से केन्द्रीय बैंकिंग के सभी कार्य इम्पीरियल बैंक से ले लिये गये। फलत उस पर लगाये गये प्रतिबन्ध भी ढीले कर देने पड़े। इम्पीरियल बैंक को अब छूट दे दी गयी कि वह विदेशों में अपनी शाखाएँ खोल सकता था अथवा जमा या ऋण प्राप्त कर सकता था। विदेशी विनिमय का कार्य करने तथा माल को अपने पास रखने के बजाय उसे माल के अधिकार-पत्रों की जमानत पर ऋण देने की भी छूट मिल गयी। इम्पीरियल बैंक अब रिजर्व बैंक के अंशों,

स्वायत संस्थाओं के ऋण-पत्रों तथा लिमिटेड कम्पनियों के अंशों की जमानत पर ऋण दे सकता था। इस प्रकार, सन् 1935 के पश्चात इम्पीरियल बैंक केवल एक व्यापारिक बैंक ही रह गया था, परन्तु अन्य व्यापारिक बैंकों से इसकी स्थिति अब भी भिन्न थी। इसका सचालन एक अलग कानून के अन्तर्गत होता था। ऐसे सभी स्थानों पर जहां रिजर्व बैंक की शाखाएँ नहीं थीं, इम्पीरियल बैंक उसके एजेन्ट के रूप में कार्य करता था। इन स्थानों पर यह सरकारी कोष जमा करने तथा सरकार की ओर से लेन-देन आदि कार्य भी करता था। इनके लिए इम्पीरियल बैंक को पूर्व-निश्चित दर पर कमीशन मिलता था।

रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद भी इम्पीरियल बैंक अपने साधनों, सम्बन्धों तथा प्रतिष्ठा के कारण भारतीय मुद्रा-बाजार का गैर-सरकारी नेता बना रहा। भारतीय जनता तथा अन्य व्यापारिक बैंक सरकार की इसके प्रति पक्षपातपूर्ण नीति से बहुत असन्तुष्ट थे। उनका कहना था कि अकेले इसी बैंक को सरकारी कार्य सौंपना न्यायसंगत नहीं था। इम्पीरियल बैंक पर यह आरोप लगाया जाता था कि इसकी अधिकांश पूंजी विदेशियों के हाथ में थी और इसके अधिकांश उच्चाधिकारी भी विदेशी थे। यह बैंक भारतीय व्यापारियों तथा बैंकों के विरुद्ध भेद भाव की नीति बरतता था। इसने देश में दृढ़ बिल-बाजार स्थापित करने की कोशिश नहीं की और न ही कृषि-क्षेत्र की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिया। इसके प्रति असन्तोष के कारण यह मांग की जाने लगी कि इम्पीरियल बैंक की विशेष स्थिति समाप्त कर दी जाय अथवा इसका राष्ट्रीयकरण कर लिया जाय।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात और विशेष रूप से रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का निर्णय हो जाने पर इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की मांग तीव्र हो गयी। फरवरी 1948 में भारत के तत्कालीन वित्त-मन्त्री ने घोषणा की कि सरकार इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के विचार को सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार करती है, परन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण उसका अभी राष्ट्रीयकरण करना सम्भव नहीं है। सन् 1950 में ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति ने स्वीकार किया कि इस बैंक के विरुद्ध भारतीय जनता का रोष न्यायसंगत था। इसका भारतीयकरण करने के लिए समिति ने कुछ सुझाव भी दिये और ग्रामीण क्षेत्रों में इस बैंक द्वारा 5 वर्षों में कम से कम 270 शाखाएँ व उप-शाखाएँ खोलने की सिफारिश की। इम्पीरियल बैंक ने 30 जून, 1954 तक के 5 वर्षों में 114 नयी शाखाएँ खोलना स्वीकार किया था, परन्तु यह केवल 63 शाखाएँ ही खोल सका। सन् 1951 में रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त की गयी ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (Rural Credit Survey Committee) ने 1954 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस समिति ने सुझाव दिया कि इम्पीरियल बैंक तथा देशी रियासतों से सम्बन्धित दस अन्य बैंकों को मिलाकर 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' की स्थापना की जाय जिसके आधे से अधिक अंश सरकार के हों। यह बैंक ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाओं का विस्तार करे, सहकारी बैंकों को सहायता प्रदान करे तथा राष्ट्रीय नीति के अनुसार कार्य करे। सरकार ने यह सुझाव मान लिया और इम्पीरियल बैंक को अपने नियन्त्रण में लेने की घोषणा कर दी।

स्टेट बैंक की स्थापना

16 अप्रैल, 1955 को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना से सम्बन्धित विधेयक संसद में रखा गया, जिसके पास हो जाने पर 1 जुलाई, 1955 को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना कर दी गयी। इम्पीरियल बैंक की समस्त परिसम्पत्ति तथा दायित्व स्टेट बैंक को हस्तान्तरित हो गये। इम्पीरियल बैंक के अंशधारियों को मुआवजा देने का निर्णय किया गया। मुआवजे की दर पूर्ण प्रदत्त (fully paid) अंश (500 रुपये) के लिए 1765 रुपये 10 आने तथा अंशतः प्रदत्त (partly paid) अंश (125 रुपये) के लिए 431 रुपये 12 आने 4 पाई निर्धारित की गयी। 10,000 रुपये तक का मुआवजा नकद में देने की व्यवस्था कर दी गयी और शेष के लिए 3.5 प्रतिशत वाली सरकारी प्रतिभूतियाँ दी गयीं।

पूंजी

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की अधिकृत पूंजी (authorised capital) 20 करोड रुपये है जो 100 रुपये प्रति शेयर के मूल्य के 20 लाख शेयरों मे विभाजित है। इसकी निर्गमित, स्वीकृत तथा प्रदत्त पूंजी (issued, subscribed and paid-up capital) 5 6 करोड रुपये है जिसे बिना सरकार की पूर्व-अनुमति के 12 5 करोड रुपये तक बढाया जा सकता है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट, 1955 मे व्यवस्था की गयी है कि स्टेट बैंक की निर्गमित पूंजी में कम से कम 55 प्रतिशत अश रिजर्व बैंक अपने पास रखेगा और शेष 45 प्रतिशत अश इम्पीरियल बैंक के पुराने अशधारियो तथा अन्य प्रार्थियो को बेच सकेगा। कोई भी व्यक्ति स्टेट बैंक के 200 से अधिक अश अपने पास नही रख सकता है। स्पष्ट है कि स्टेट बैंक पूर्ण रूप से सरकारी बैंक नही है। परन्तु चूंकि इसके 92 प्रतिशत अश रिजर्व बैंक के पास है और केवल 8 प्रतिशत अन्य व्यक्तियों अथवा सस्थाओ को प्राप्त हैं, इसलिए इस पर प्रभावशाली सरकारी नियन्त्रण हो गया है।

प्रबन्ध

स्टेट बैंक का प्रबन्ध 20 सदस्यो वाले केन्द्रीय बोर्ड के अधीन है। मूल कानून मे इसके गठन की व्यवस्था इस प्रकार थी (1) एक अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष जिनकी नियुक्ति रिजर्व बैंक के परामर्श मे सरकार द्वारा की जायगी। (2) दो प्रबन्ध सचालक (Managing Directors) जिन्हें केन्द्रीय बोर्ड सरकार की स्वीकृति लेकर नियुक्त करेगा। (3) छ सचालक रिजर्व बैंक के अतिरिक्त अन्य अशधारियो द्वारा चुने जायेगे। (4) आठ ऐसे सचालक केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक की सम्मति स मनोनीत करेगी जो प्रादेशिक तथा आर्थिक हितो का प्रतिनिधित्व करेंगे। इनमे से कम से कम दो को सहकारिता तथा ग्रामीण वित्त का विशेष ज्ञान होना चाहिए। (5) एक सचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा, तथा (6) एक सचालक रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत होगा।

चूंकि रिजर्व बैंक के अतिरिक्त अन्य अशधारियो ने स्टेट बैंक की पूंजी मे 45 प्रतिशत के बजाय 8 प्रतिशत अश ही प्राप्त किये, इसलिए दिसम्बर 1964 में उपर्युक्त व्यवस्था मे यह सशोधन कर दिया गया कि यदि निजी अशधारियो के पास 10 प्रतिशत से कम अश रहेंगे तो उन्हे केवल 2 सचालक चुनने का अधिकार होगा। केन्द्रीय सरकार द्वारा रिजर्व बैंक की सलाह से कम से कम 2 और अधिक से अधिक 6 सचालक नियुक्त किये जायेंगे, जो वाणिज्य, सहकारिता, उद्योग, व्यापार, वित्त और बैंकिंग आदि के विशेषज्ञ होंगे।

स्टेट बैंक का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई मे है जहां से केन्द्रीय बोर्ड इसकी नीति निर्धारित करता है। इसके अतिरिक्त स्टेट बैंक की प्रबन्ध-व्यवस्था 7 स्थानीय बोर्डों (Local Boards) मे विभक्त है, जो बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, नई दिल्ली, कानपुर, अहमदाबाद तथा हैदराबाद मे स्थित हैं।

स्टेट बैंक की प्रबन्ध-व्यवस्था लगभग पूर्णत भारत सरकार और रिजर्व बैंक के अधिकार मे है। निजी अशधारियों के अधिकार बहुत सीमित हैं। किसी भी अशधारी व्यक्ति अथवा सस्था को 1 प्रतिशत से अधिक मत देने का अधिकार नहीं है, चाहे उसके पास कितने ही अश हो।

सहायक बैंक (Subsidiary Banks)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, स्टेट बैंक की स्थापना के लिए ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने इसके साथ देशी रियासतो के 10 बैंक मिलाने का सुझाव दिया था। स्टेट बैंक की स्थापना के बाद उन्हे मिलाने के प्रयास आरम्भ हुए। बैंक ऑफ बडौदा को मिलाने का प्रश्न तो आरम्भ से ही अलग कर दिया गया, क्योकि स्वतन्त्र रूप मे ही यह एक विशाल बैंक था। अन्य 9 बैंक भी स्टेट बैंक के साथ मिलने के लिए तैयार न हुए और अन्ततः विलयन का प्रयास छोड दिया गया। इसके बाद इन बैंको को स्टेट बैंक का सहायक (subsidiary) बनाने का सुझाव रखा गया जिसे बैंक ऑफ राजस्थान को छोडकर धीरे-धीरे अन्य 8 बैंको ने मान लिया। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (सहायक बैंक) अधिनियम, 1959 [State Bank of India (Subsidiary Banks)

Act, 1959] के अनुसार 1 अक्टूबर, 1959 को बैंक ऑफ हैदराबाद, 1 जनवरी, 1960 को बैंक ऑफ बीकानेर, बैंक ऑफ इन्दौर, बैंक ऑफ जयपुर और बैंक ऑफ ट्रावनकोर, 1 मार्च, 1960 को बैंक ऑफ मैसूर, 1 अप्रैल, 1960 को बैंक ऑफ पटियाला तथा 1 मई, 1960 को बैंक ऑफ सौराष्ट्र सहायक बैंक बनाये गये और उनके नाम के पहले 'स्टेट' शब्द जोड दिया गया। आगे चलकर 1 जनवरी, 1963 से स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर तथा स्टेट बैंक ऑफ जयपुर का एकीकरण हो गया। इस प्रकार स्टेट बैंक के सहायक बैंको की सख्या 7 हो गयी।

सहायक बैंको के कम से कम 55 प्रतिशत अश स्टेट बैंक के पास है और शेष 45 प्रतिशत पुराने अशधारियो अथवा अन्य लोगो के पास रह सकते हैं, परन्तु उनमे से किसी एक के पास 200 से अधिक अश नही रह सकते। स्टेट बैंक के अतिरिक्त अन्य किसी अशधारी को 5 प्रतिशत से अधिक मत देने का अधिकार नही है। एक सहायक बैंक साधारण बैंकिंग व्यवसाय के अतिरिक्त स्टट बैंक के प्रतिनिधि के रूप मे वे सब कार्य करता है जो सरकार अथवा रिजर्व बैंक द्वारा उस सौंपे जाते है। रिजर्व बैंक स्टेट बैंक की सलाह से इसे निर्देशन दे सकता है। रिजर्व बैंक की स्वीकृति से स्टेट बैंक सहायक बैंको के लिए नियम बना सकता है। कोई भी सहायक बैंक स्टट बैंक की स्वीकृति से अन्य किसी भी बैंक की सम्पत्ति और दायित्व ले सकता है।

सहायक बैंक का प्रबन्ध एक सचालक बोर्ड करता है जिसके गठन में स्टेट बैंक का मुख्य हाथ होता है। इस बोर्ड के 5 सचालक स्टट बैंक द्वारा ही मनोनीत किये जाते है। सहायक बैंक के जनरल मैनेजर की नियुक्ति स्टेट बैंक रिजर्व बैंक की स्वीकृति से करता है। बाद म स्टट बैंक को सहायक बैंको पर नियन्त्रण रखने के अधिक अधिकार दिये गय हैं। स्टेट बैंक किसी भी सहायक बैंक के सचालक या प्रमुख अधिकारी को उसके पद से हटा सकता है और आवश्यकता पडन पर अतिरिक्त सचालक नियुक्त कर सकता है।

स्टेट बैंक के कार्य

स्टट बैंक के अधिकाश कार्य वे ही हैं जो इम्पीरियल बैंक के कार्य थे। साधारण बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त यह रिजर्व बैंक के एजेण्ट के रूप मे भी कार्य करता है। ग्रामीण साख की व्यवस्था मे सहायता देने तथा ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग के विकास सम्बन्धी कार्य भी स्टेट बैंक को दिये गये हैं। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट, 1955 के अनुसार इस निम्नलिखित कार्य करने के अधिकार प्राप्त हैं

(1) उन सभी स्थानो पर जहाँ स्टट बैंक की शाखाएँ हैं परन्तु रिजर्व बैंक के बैंकिंग *विभाग की शाखाएँ नही है, रिजर्व बैंक के एजेण्ट के रूप म कार्य करना।* इस नाते स्टट बैंक सरकार के बैंक के रूप मे तथा बैंको के बैंक के रूप में कार्य करता है। रिजर्व बैंक की ओर से यह समाशोधन गृह (clearing house) का कार्य करता है। धन का हस्तान्तरण भी करता है। समय-समय पर रिजर्व बैंक के आदेशानुसार अन्य कार्य भी करता है।

(2) स्टॉक, स्वायत्त सस्थाओं, कम्पनियो तथा विधान द्वारा स्थापित निगमो के ऋण-पत्रो, स्वीकृत प्रतिज्ञा-पत्रों, सीमित दायित्व वाली कम्पनियो के पूर्ण चुकता अशो आदि की जमानत पर ऋण, अग्रिम, नकद-साख या अधिविकर्ष देना।

(3) जमानत के रूप म प्राप्त ऋण-पत्रों, अशो, माल, आदि को ऋण की वसूली न होन पर बेचकर अपनी रकम वसूल करना।

(4) विनिमय बिल तथा अन्य विनिमय-साध्य साख-पत्रो को लिखना, स्वीकार करना, भुनाना अथवा उनका क्रय विक्रय करना।

(5) अपने कोषो का मान्य प्रतिभूतियो म विनियोग करना।

(6) दर्शनी ड्राफ्ट जारी करना तथा तार या अन्य प्रकार से धन का हस्तान्तरण करना, या साख-पत्र (letters of credit) जारी करना।

(7) स्वर्ण तथा चाँदी का क्रय-विक्रय करना।

(8) जमा प्राप्त करना तथा नकद खाते खोलना।

(9) सभी प्रकार के बौण्ड, प्रतिभूतियाँ, अधिकार-पत्र व बहुमूल्य वस्तुओं को धरोहर के रूप मे सुरक्षित रखना।

(10) ऋण की अदायगी के रूप मे प्राप्त चल या अचल सम्पत्तियो को बेचना व अन्य प्रकार से उन्हे प्रयोग मे लाना।

(11) विधानत स्थापित किसी पजीकृत (registered) सहकारी बैंक के अभिकर्ता (agent) के रूप म कार्य करना।

(12) जिन अशो, ऋण पत्रो या प्रतिभूतियो मे बैंक को विनियोग करने का अधिकार प्राप्त है, उनका अभिगोपन (underwriting) करना।

(13) कमीशन लेकर एजेण्ट के काम करना, क्षतिपूर्ति (indemnity), गारण्टी या जमानतदारी (suretyship) के प्रसंविदे करना।

(14) प्रन्यासी (executor), ट्रस्टी या निस्तारक के रूप मे कार्य करना।

(15) भारत के वाहर शोधनीय विनिमय-पत्र या लेटर ऑफ क्रेडिट लिखना।

(16) विदेशो मे भुगतान होने वाले उन मुद्दती बिलो को खरीदना जिनकी अवधि कृषि सम्बन्धी बिलो के विषय म 15 मास तथा अन्य बिलो के विषय मे 6 मास से अधिक न हो।

(17) अपने व्यवसाय के लिए अपनी परिसम्पत्ति की जमानत पर ऋण लेना।

(18) भारत मे रजिस्टर्ड किसी कम्पनी या सहकारी सस्था को समापन (liquidation) मे बचाने या समापन की सुविधा देने के लिए उसकी सम्पत्ति की जमानत पर अकेले या किसी के साथ मिलकर ऋण देना।

(19) रिजर्व बैंक की अनुमति से किसी अन्य बैंक को अपने सहायक के रूप मे स्थापित करना, उसे चलाना अथवा किसी बैंक के अशों का क्रय-विक्रय करना।

(20) उन सभी कार्यो को करना जिनका अधिकार केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक के परामर्श और केन्द्रीय बोर्ड की सिफारिश पर प्रदान करे। मुख्य कार्यो को करने के लिए यदि कुछ अन्य सहायक कार्य करना आवश्यक हो जाय तो उन्हे भी सम्पन्न करना।

स्टेट बैंक के निषिद्ध कार्य

स्टट बैंक आफ इण्डिया एक्ट की धारा 34 के अन्तर्गत इसको निम्नलिखित कार्य करने का अधिकार नही है

(1) स्टेट बैंक अपने ही स्टाक अथवा अशो की प्रतिभूति पर या अचल सम्पत्ति अथवा उसके अधिकार-पत्रों के आधार पर 6 माह मे अधिक समय के लिए ऋण नही दे सकता है।

(2) यह ऐसे बिलो को न तो भुना सकता है और न उनकी आड पर ऋण दे सकता है जिनकी परिपक्वता (maturity) की अवधि 6 मास से अधिक है, परन्तु मौसमी कृषि-क्रियाओ के लिए लिखे गये बिलो की इस प्रकार की अवधि 15 मास तक हो सकती है।

(3) इस बैंक को ऐसे विनिमय-बिल खरीदने, कटौती करने या उनके आधार पर ऋण देने का अधिकार नही है जिन पर कम से कम दो व्यक्तियो या फर्मो के हस्ताक्षर न हो। ऐसे व्यक्तियों या फर्मो मे साझेदारी का सम्बन्ध नही होना चाहिए।

(4) किसी व्यक्ति या फर्म को निश्चित प्रतिभूतियों की जमानत पर एक निश्चित रकम से अधिक ऋण नही दे सकता।

(5) अपने व्यावसायिक प्रयोग के लिए अथवा अपने कर्मचारियो व अधिकारियो के निवास के लिए ही यह बैंक अचल सम्पत्ति रख सकता है। अन्य किसी भी प्रकार की अचल सम्पत्ति रखने का इसे अधिकार नही है।

सन् 1955 के कानून के अनुसार स्टेट बैंक सामान्यतया 6 मास से अधिक के लिए ऋण नही दे सकता था। कृषि-साख के लिए यह अवधि 15 मास थी। सन् 1957 के सशोधन के द्वारा स्टेट बैंक कुछ उद्योगों को 7 वर्ष तक के ऋण दे सकता है। एक अन्य सशोधन के द्वारा स्टेट बैंक को निर्यात सम्बन्धी कार्यों के लिए भी 7 वर्ष तक के ऋण देने का अधिकार दिया गया है। बैंकिंग

विधान (संशोधन) विधेयक, 1967 [The Banking (Amendment) Bill, 1967] पर विचार करते हुए प्रवर समिति (Select Committee) ने स्टेट बैंक अधिनियम में संशोधन करने का भी सुझाव रखा, ताकि स्टेट बैंक 6 मास के बजाय 1 वर्ष तक की अवधि के ऋण तथा अग्रिम दे सके। एक्ट की धारा 33 के अनुसार, स्टेट बैंक किसी भी हालत में 10 वर्ष से अधिक समय के लिए ऋण नहीं दे सकता है। देश में बदली हुई आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए प्रवर समिति ने इस सीमा को 15 वर्ष तक बढ़ा देने का सुझाव दिया है।

स्टेट बैंक के उद्देश्य

स्टेट बैंक मूलतः एक व्यापारिक बैंक है। परन्तु अपने उद्देश्यों के कारण स्टेट बैंक को देश की बैंकिंग व्यवस्था में एक विशेष स्थान प्राप्त है। स्टेट बैंक के मुख्य उद्देश्य निम्न प्रकार हैं

(1) स्टेट बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य देश की व्यापारिक बैंकिंग व्यवस्था के एक महत्वपूर्ण अंग को सरकारी नियन्त्रण में लाना था, ताकि देश की आर्थिक नीतियों के संचालन में इससे आवश्यक सहायता मिल सके।

(2) इसकी स्थापना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य देश में, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में, बैंकिंग सुविधाओं का विकास करना था, ताकि ग्रामीण जनता में बचत करने की आदत को प्रोत्साहन मिले और उनकी बचत राष्ट्रीय उपयोग में आ सके। स्टेट बैंक से तय हुआ कि वह प्रथम पाँच वर्षों में ग्रामीण या अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों में कम से कम 400 नयी शाखाएँ खोलेगा। नयी शाखाओं पर होने वाली हानि अथवा असाधारण व्यय के बोझ से बचने के उद्देश्य से एक अनुकूलन एवं विकास कोष (Integration and Development Fund) के बनाने की व्यवस्था की गयी।

(3) कृषि तथा ग्रामीण उद्योगों के विकासार्थ सरल शर्तों पर सहकारी संस्थाओं को ऋण देना, लाइसेन्स-प्राप्त गोदामों और बिक्री-समितियों की स्थापना में आर्थिक सहायता देना तथा केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों के ऋण-पत्र खरीदना अथवा उनकी जमानत पर ऋण देना।

(4) छोटे उद्योगों के लिए वित्त प्रबन्ध करना तथा उनके विकास में सहायक होना।

(5) रिजर्व बैंक के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में रहकर उसकी मौद्रिक नीति का पालन करना तथा उसे अधिक सक्रिय बनाने में सहायक होना।

(6) बैंकिंग विकास सम्बन्धी कार्य करना और अन्य बैंकों की सहायता करना।

स्टेट बैंक की प्रगति तथा सफलताएँ

अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने में स्टेट बैंक निरन्तर प्रयत्नशील रहा है। जून, 1955 में अपनी स्थापना के बाद स्टेट बैंक ने सभी क्षेत्रों में सन्तोषजनक प्रगति की है और इसे पर्याप्त मात्रा में सफलता प्राप्त हुई है। स्टेट बैंक की विविध क्षेत्रों में प्रगतियों तथा सफलताओं का वर्णन निम्न प्रकार है

(1) **शाखाओं का विस्तार**—स्टेट बैंक की स्थापना के समय जून 1955 में बम्बई, कलकत्ता और मद्रास स्थित स्थानीय प्रधान कार्यालयों सहित इसकी कुल 466 शाखाएँ थीं। स्टेट बैंक अधिनियम की धारा 16 (5) के अनुसार यह निश्चित किया गया कि स्टेट बैंक प्रथम पाँच वर्षों में (जुलाई 1955 से जून 1960 तक) कम से कम 400 नयी शाखाएँ खोलेगा, जिनमें से अधिकतर शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों[1] में खोली जायेंगी। प्रारम्भिक काल में शाखा विस्तार के कार्य में अनेक प्रशासनिक व प्रबन्ध सम्बन्धी कठिनाइयाँ थीं उपयुक्त स्थानों का चुनाव करना था, नयी शाखाओं के लिए उपयुक्त भवन प्राप्त करने थे, इनके लिए आवश्यक साज-सामान तथा उपकरण निर्दिष्ट स्थानों पर भेजने थे तथा इनके संचालन के लिए दक्ष व प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं का प्रबन्ध करना था। इन कठिनाइयों के कारण अनेक व्यक्तियों ने बैंक के शाखा-विस्तार के कार्यक्रम को अव्यावहारिक बताया तथा इसका विरोध किया। इन सब कठिनाइयों और शंकाओं के बावजूद स्टेट बैंक ने अपने निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति निश्चित अवधि से एक मास पूर्व, 1 जून, 1960 को

1 स्टेट बैंक द्वारा 25,000 तक की जनसंख्या वाले स्थान शाखा-विस्तार की दृष्टि से ग्रामीण माने गये हैं।

कैराना (उत्तर प्रदेश) में 400वीं शाखा खोलकर कर दी। 30 जून, 1960 तक स्टेट बैंक ने 416 नयी शाखाएँ खोलीं, जिनमें से 274 शाखाएँ 25 हजार से कम जनसंख्या वाले स्थानों पर खोली गयीं।

शाखा-विस्तार का प्रथम चरण पूरा होने पर प्रो० डी० जी० कर्वे की अध्यक्षता में नियुक्त की गयी केन्द्रीय बोर्ड की एक उपसमिति के सुझाव पर जुलाई 1960 से जून 1965 तक 300 नयी शाखाएँ खोलने का निश्चय किया गया। इनमें से 145 शाखाएँ स्टेट बैंक द्वारा और 155 शाखाएँ सहायक बैंकों द्वारा खोलने का कार्यक्रम निश्चित हुआ। बाद में इस लक्ष्य को क्रमशः 151 और 221 कर दिया गया। 30 जून, 1965 तक स्टेट बैंक द्वारा 114 तथा सहायक बैंकों द्वारा 190 शाखाएँ खोली गयीं। शाखा-विस्तार का द्वितीय कार्यक्रम पूरा होने के पहले ही 1 जनवरी, 1964 से 31 दिसम्बर, 1968 तक 319 नयी शाखाएँ खोलने का तीसरा कार्यक्रम चालू किया गया। 1968 के अन्त तक बैंक की शाखाओं की संख्या 1,557 तक पहुँच गयी थी।

नवम्बर 1970 तक स्टेट बैंक की शाखाओं की संख्या 2000 हो गयी। आगामी तीन वर्षों में 1000 नयी शाखाएँ खोलने की योजना बनायी गयी। इस प्रकार प्रथम एक हजार शाखाएँ खोलने के लक्ष्य तक पहुँचने में स्टेट बैंक को आठ वर्ष लगे। अगली एक हजार शाखाएँ सात वर्ष के समय में खुलीं। अब बैंक का लक्ष्य तीन ही वर्ष में एक हजार और शाखाएँ खोलने का है। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि स्टेट बैंक की नयी शाखाओं में 80 प्रतिशत ऐसी हैं जिन्हें उन स्थानों पर खोला गया है जहाँ पहले बैंकिंग सुविधाएँ बिलकुल नहीं थीं। अधिकतर शाखाएँ अर्द्ध शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित हैं। स्टेट बैंक के सहायक बैंक भी अपनी शाखाओं का विस्तार कर रहे हैं। 30 जून, 1970 को सहायक बैंकों की शाखाओं की संख्या 1060 थी।

(2) **कुल जमा**—*स्टेट बैंक की जमा-राशि (deposits) में काफी अधिक वृद्धि हुई है।* जुलाई 1955 में स्टेट बैंक की कुल जमा-राशि 202 करोड़ रुपये थी, जो जुलाई 1969 तक 1200 करोड़ रुपये के लगभग हो गयी। इस प्रकार, चौदह वर्षों में बैंक की जमा-राशि लगभग छः गुना बढ़ गयी। कुल अनुसूचित बैंकों की जमा-राशि में स्टेट बैंक का भाग 18 प्रतिशत से बढ़कर 22 प्रतिशत हो गया। सहायक बैंकों की जमा-राशि साथ मिला लेने से यह अनुपात 22 प्रतिशत हो जाता है। इस काल में स्टेट बैंक के जमा-खातों की संख्या में पाँच गुना वृद्धि हुई। सन् 1955 में 5 लाख खाते थे जो सन् 1969 तक लगभग 25 लाख हो गये। स्टेट बैंक के लगभग 88 प्रतिशत जमा-खाते छोटी रकमों के हैं और इनमें प्रत्येक की रकम 5,000 रुपये से कम है। *स्टेट बैंक समूह की कुल जमा-राशि मई 1969 के अन्त में 1225 4 करोड़ रुपये थी,* जो एक वर्ष बाद 16 7 प्रतिशत बढ़कर 1430 4 करोड़ रुपये हो गयी। मई 1971 में यह राशि 1693 2 करोड़ रुपये थी जो समस्त अनुसूचित व्यापारिक बैंकों की कुल जमा का 27 प्रतिशत भाग थी। मई 1970 से मई 1971 तक के एक वर्ष में स्टेट बैंक समूह की जमा-राशि में 18 4 प्रतिशत वृद्धि हुई।

(3) **ऋण तथा विनियोग**—*जून 1955 में स्टेट बैंक के कुल ऋण 110 करोड़ रुपये तथा* विनियोग 87 करोड़ रुपये थे। 1 अगस्त, 1969 को स्टेट बैंक द्वारा दिये गये ऋण तथा अग्रिमों की राशि 937 65 करोड़ रुपये थी, जिसमें से 258 14 करोड़ रुपये बिलों की खरीद तथा कटौती के रूप में दिये गये थे। स्टेट बैंक द्वारा किये गये विनियोगों की राशि 340 68 करोड़ रुपये थी, जिसमें से 332 64 करोड़ रुपये सरकारी तथा अन्य न्यास (trustee) प्रतिभूतियों में लगे हुए थे। स्टेट बैंक के ऋणों तथा विनियोगों में निरन्तर वृद्धि इसके बढ़ते हुए व्यवसाय तथा महत्व का प्रतीक है। इसमें न केवल निजी क्षेत्र में छोटे बड़े उद्योगों तथा कृषि के विकास में सहायता मिली है, बल्कि स्टेट बैंक ने अपनी जमा-राशि का बड़ा अंश सरकारी प्रतिभूतियों में लगाकर सार्वजनिक *क्षेत्र के विस्तार के लिए वित्त का प्रबन्ध करने में महत्वपूर्ण योग दिया है।*

(4) **लघु उद्योगों को सहायता**—छोटे उद्योगों के लिए वित्त का प्रबन्ध करना अब स्टेट बैंक के कार्यों का एक अभिन्न अंग बन गया है। अप्रैल 1956 में स्टेट बैंक द्वारा लघु उद्योगों को

वित्तीय सहायता देने के उद्देश्य से एक अग्रगामी योजना (Pilot Scheme) आरम्भ की गयी। 1 जनवरी, 1959 से इस योजना को सब शाखाओं द्वारा अपना लिया गया। लघु उद्योगों के प्रति स्टेट बैंक की ऋण-नीति अति सरल और उदार है। प्राय सभी प्रकार के कच्चे अथवा निर्मित माल की जमानत पर उन्हे ऋण दिया जा सकता है। सरकार द्वारा गारण्टी मिलने पर गैर-जमानती ऋण भी दिये जा सकते हैं। इन उद्योगों के नवीनीकरण, विस्तार या मशीनों को बदलने के उद्देश्य से स्टेट बैंक उन्हें मध्यावधि ऋण भी देता है। लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता दिलाने के उद्देश्य से भारत सरकार द्वारा चालू की गयी साख गारण्टी योजना के अन्तर्गत भी स्टेट बैंक उदारतापूर्वक सहायता दे रहा है। सन् 1962 से स्टेट बैंक ने किस्तों में अदा होने वाली साख (instalment credit) प्रदान करने की योजना भी चलाई है जिसके अन्तर्गत लघु व मध्य आकार के उद्योगों को मशीनें या औजार खरीदने के लिए मध्यावधि ऋण दिये जाते हैं जिनकी अदायगी वे किस्तों में कर सकते हैं।

स्टेट बैंक तथा उसके सहायक बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को दिये जाने वाले ऋणों की सीमाओं (limits) की मंजूरी जून 1969 में 212 58 करोड रुपये तक पहुँच चुकी थी जो एक वर्ष पूर्व की राशि से 88 01 करोड रुपये अधिक थी। जून 1968 में ऋण-अवशेष (loans outstanding) 66 74 करोड रुपये थे, जो एक वर्ष बाद, अर्थात् जून 1969 में, 103 01 करोड रुपये हो गये। जून 1969 तक 25,908 औद्योगिक इकाइयों को स्टेट बैंक से सहायता मिल चुकी थी, जिनमें 80 प्रतिशत से अधिक इकाइयाँ ऐसी थीं जिनके पास 1 लाख रुपये से कम मूल्य की मशीनें थीं। अगस्त 1970 में 42,895 इकाइयों के लिए 299 86 करोड रुपये की ऋण-सीमाएँ स्वीकृत थीं और 171·21 करोड रुपये के ऋण बकाया थे। स्पष्ट है कि लघु उद्योगों को स्टेट बैंक उदारतापूर्वक सहायता दे रहा है।

(5) **कृषि के लिए सहायता**—सन् 1967 तक स्टेट बैंक की नीति किसानों को प्रत्यक्ष ऋण न देने की रही है। बैंक सहकारी समितियों तथा भूमि-बन्धक बैंकों को ही ऋण देता रहा है। सन् 1967 से स्टेट बैंक ने सीधे किसानों को भी बीज, उर्वरक आदि खरीदने, प्रोसेसिंग करने तथा गोदामों में माल रखने के लिए ऋण देना आरम्भ कर दिया है। मालगोदामों (warehouses) में रखे गये माल की रसीदों की जमानत पर बैंक ऋण की सुविधा देता है।

किसानों को उत्पादन में वृद्धि करने के लिए सीधे ऋण देने के उद्देश्य से पहले कुछ ही केन्द्र चुने गये थे, परन्तु अब स्टेट बैंक तथा इसके सहायक बैंकों की लगभग सभी शाखाएँ यह कार्य कर रही हैं। कृषि-ऋणों के लिए स्टेट बैंक तथा इसके सहायक बैंक अपने निर्धारित लक्ष्य से बहुत अधिक आगे निकल गये हैं। जुलाई 1968 के आरम्भ में कृषि-ऋणों के लिए 41 करोड रुपये की सीमाएँ मंजूर की गयी थीं, जो जून 1969 के अन्त तक 174 33 करोड रुपये हो गयीं। इस प्रकार कृषि-ऋण की सीमाओं की मंजूरी (loans sanctioned) में एक वर्ष में 325 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जुलाई 1968 से जून 1969 के बीच बाकी (outstanding) ऋणों की राशि 17 26 करोड रुपये से बढ़कर 116 68 करोड रुपये हो गयी और इस प्रकार एक वर्ष में इसमें 99 42 करोड रुपये की वृद्धि हुई। इस एक वर्ष के समय में स्टेट बैंक तथा इसके सहायक बैंकों द्वारा दिये गये कृषि-क्षेत्र के लिए ऋण कुल अग्रिमों के 4 प्रतिशत से बढ़कर 12 प्रतिशत हो गये। 1970 के अन्त तक स्टेट बैंक समूह ने लगभग 3 लाख किसानों को सीधे ऋण दिये। इनमें से 2 लाख से भी अधिक ऐसे छोटे किसान थे जिनके पास 4 हेक्टर से भी कम भूमि थी। स्टेट बैंक समूह ने किसानों को 75 करोड रुपये की सीधी ऋण-सहायता दी है। स्टेट बैंक का इस दिशा में कार्य वास्तव में प्रशंसनीय है।

(6) **सहकारिता को सहायता**—स्टेट बैंक सहकारी बैंकों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सहकारी संस्थाओं, जैसे सहकारी शक्कर फैक्टरियों, विक्रय एव विधायन समितियों, उत्पादन समितियों, थोक उपभोक्ता भण्डारों आदि को अल्पकालीन तथा मध्यकालीन ऋण की सुविधाएँ प्रदान करता है। स्टेट बैंक भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा जारी किये गये ऋण-पत्र (debentures) खरी-

देता है तथा इनकी जमानत पर ऋण देता है। सहकारी संस्थाओं के बीच धन का आदान-प्रदान सरल बनाने तथा सहकारी संस्थाओं को सहायता देने के उद्देश्य से स्टेट बैंक राज्य सहकारी बैंकों तथा उनसे सम्बद्ध केन्द्रीय सहकारी बैंकों को निःशुल्क प्रेषण-सुविधाएँ (remittance facilities) प्रदान करता है। प्रति वर्ष 800 करोड़ रुपये की निःशुल्क प्रेषण-सुविधाएँ दी जा रही हैं।

वास्तविकता यह है कि सहकारी संस्थाओं को व्यापारिक बैंकों द्वारा दिये जाने वाले 87 प्रतिशत ऋण स्टेट बैंक तथा उसके सहायक बैंकों द्वारा ही दिये जाते हैं। जुलाई 1961 से जून 1969 के बीच आठ वर्षों में सहकारी संस्थाओं को दी गयी सहायता 17 गुना बढ़ी है। जुलाई 1961 में बाकी ऋण 7.67 करोड़ रुपये थे जो जून 1969 में 130.29 करोड़ रुपये हो गये। इसी समय मंजूर किये गये ऋणों की सीमाएँ 27.46 करोड़ रुपये से बढ़कर 207.23 करोड़ रुपये हो गयी हैं। स्टेट बैंक तथा इसके सहायक बैंकों द्वारा दिये जाने वाले कुल अग्रिमों का लगभग 1/10 भाग सहकारी संस्थाओं को चला जाता है। स्टेट बैंक के कार्यों से सहकारी बैंकों के विकास को बढ़ावा मिला है।

(7) **विदेशी विनिमय का व्यापार**—स्टेट बैंक ने विदेशी विनिमय के व्यापार को बढ़ाने के लिए विशेष प्रयास किये हैं। आयातकों, निर्यातकों तथा पर्यटकों के लाभ के लिए एक सूचना सेवा (Information Service) आरम्भ की गयी है। स्टेट बैंक यात्री चैक (Traveller's Cheque) भी बेचता है। यह प्रत्यक्ष रूप से विदेशी मुद्रा में लेन-देन करता है और पूँजीगत वस्तुओं के आयात के लिए विलम्बित भुगतान के आधार पर वित्त प्रदान करता है। विदेशों में अपने प्रतिनिधियों तथा कार्यालयों द्वारा यह विदेशी ऋण दिलाने में भी सहायता देता है। सन् 1956 से 1968 के बीच स्टेट बैंक का विदेशी विनिमय व्यापार (turn over) 207 करोड़ रुपये से बढ़कर 2278 करोड़ रुपये हो गया है। इस प्रकार इन बारह वर्षों में विदेशी विनिमय व्यापार 11 गुना बढ़ा है। भारतीय निर्यातकों को माल जहाजों में लादने से पूर्व (pre-shipment) तथा बाद में (post-shipment) ऋण देकर स्टेट बैंक ने उन्हें महत्वपूर्ण सहायता दी है।

(8) **प्रशिक्षण-व्यवस्था**—स्टेट बैंक ने विविध स्तर के कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की है। क्लर्कों की ट्रेनिंग के लिए 9 केन्द्र स्थापित किये गये हैं व 6 प्रशिक्षण विद्यालय चलाये जा रहे हैं। सन् 1961 में बैंक ने हैदराबाद में प्रशिक्षण कालेज (Staff Training College) स्थापित किया जिसमें उच्चस्तरीय प्रशिक्षण की व्यवस्था है। बैंक के कलकत्ता कार्यालय में विदेशी विनिमय से सम्बन्धित व्यावहारिक ज्ञान कराने की व्यवस्था है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि स्टेट बैंक ने भारतीय अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योग दिया है। इसने अपने कर्मचारियों के कल्याण से सम्बन्धित अनेक योजनाओं का सफलतापूर्वक संचालन किया है। बैंक के आर्थिक तथा सांख्यिकीय विभाग का कार्य भी सन्तोषजनक रहा है। यद्यपि इसकी स्थापना एक व्यापारिक बैंक के रूप में की गयी थी, परन्तु व्यवहार में अपने कार्यों द्वारा स्टेट बैंक ने देश में मिश्रित बैंकिंग प्रणाली (Mixed Banking System) का सूत्रपात किया है। व्यापारिक बैंक के कार्यों के साथ-साथ यह आंशिक रूप से औद्योगिक तथा कृषि-बैंक के कार्य भी कर रहा है। इसने विदेशी विनिमय बैंकों के एकाधिकार को भी कम करने का प्रयास किया है। स्टेट बैंक ने बैंकर की व्यापारिक दृष्टि तथा सामाजिक आयोजनकर्ता की प्रगतिशील प्रवृत्ति के सुन्दर मिश्रण का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया है। आयोजित आर्थिक विकास के उद्देश्यों के अनुसार उच्च प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को वित्तीय सहायता उपलब्ध करने में स्टेट बैंक ने महत्वपूर्ण योग दिया है। स्टेट बैंक का यह दावा कि "वह देश का सबसे बड़ा बैंक होते हुए भी छोटे से छोटे आदमी की सेवा करता है" (The biggest bank serves the smallest man) बहुत कुछ सत्य पर आधारित है। वास्तव में, स्टेट बैंक ने देश में अत्यधिक वित्तीय महत्व रखने वाली राष्ट्रीय संस्था का रूप धारण किया है और इसने अपने कार्यों में सफलता तथा प्रगति से अन्य बैंकों के राष्ट्रीयकरण के लिए प्रेरणा दी है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के कारणो की व्याख्या कीजिए। स्टेट बैंक की स्थापना के मुख्य उद्देश्यो की विवेचना कीजिए।

[संकेत प्रथम भाग मे इम्पीरियल बैंक के सगठन, प्रबन्ध तथा कार्यों मे पाये जाने वाले दोषो एव त्रुटियो का उल्लेख कीजिए जिनके कारण इसे स्टेट बैंक के रूप मे परिवर्तित किया गया। दूसरे भाग मे स्टेट बैंक की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य विस्तारपूर्वक समझाइए।]

2. स्टेट बैंक के कार्यों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

[संकेत स्टेट बैंक एक्ट, 1955 तथा इसके बाद के सशोधनो के अनुसार स्टेट बैंक को सौंपे गये कार्य विस्तारपूर्वक समझाइए। स्टेट बैंक के निषिद्ध कार्यों का भी वर्णन कीजिए।]

3. स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के उद्देश्यो का वर्णन कीजिए और बताइए कि इनको पूरा करने में वह कहाँ तक सफल हुआ है।

[संकेत स्टेट बैंक की स्थापना के मुख्य उद्देश्य बताने के बाद स्टेट बैंक द्वारा विविध क्षेत्रों में प्राप्त सफलताओं का विस्तारपूर्वक विवरण दीजिए।]

4 स्टेट बैंक के 'सहायक बैंकों' पर नोट लिखिए।

[संकेत देशी रियासतो के 10 बैंक स्टेट बैंक के साथ विलयन के प्रस्ताव से लेकर सन् 1959 के कानून के अन्तर्गत सहायक बैंको की स्थापना तक की घटनाओं का वर्णन कीजिए। सहायक बैंको की पूंजी, सगठन व प्रबन्ध का उल्लेख कीजिए और यह स्पष्ट कीजिए कि इन पर स्टेट बैंक किस प्रकार अधिकार रखता है।]

31

भारत मे व्यापारिक बैंक तथा उनका राष्ट्रीयकरण

[COMMERCIAL BANKS IN INDIA AND THEIR NATIONALISATION]

भारत में *व्यापारिक बैंको से अभिप्राय उन बैंको से है जो सभी साधारण* बैंकिंग कार्य सम्पन्न करते है और जिनका नियमन व नियन्त्रण भारतीय बैंकिंग विधान के अनुसार होता है। इन्हे प्राय मिश्रित पूंजी बैंक (Joint Stock Banks) भी कहा जाता है। भारत में एक परम्परा बन गयी है कि इण्डियन कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत स्थापित किये गये बैंक मिश्रित पूँजी बैंक कहलाते है। परन्तु *वास्तविकता यह है* कि मिश्रित पूंजी वाले सभी बैंक व्यापारिक बैंकों की श्रेणी में नही आते है और न ही यह अनिवार्य है कि प्रत्येक व्यापारिक बैंक की स्थापना मिश्रित पूंजी के सिद्धान्त पर की जाय। वह सरकार के स्वामित्व मे भी हो सकता है।

भारत मे व्यापारिक बैंको के विकास तथा समस्याओं का विस्तृत विवरण हम पीछे एक अलग अध्याय मे दे चुके हैं। देश की अर्थ व्यवस्था में इन बैंको को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण

रिजर्व बैंक से सम्बन्धो के आधार पर व्यापारिक बैंको को प्राय दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है—अनुसूचित बैंक, तथा गैर-अनुसूचित बैंक।

अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks)—जिन बैंको का नाम रिजर्व बैंक की द्वितीय अनुसूची (Second Schedule) मे दर्ज रहता है, वे अनुसूचित बैंक कहलाते है। इन बैंकों को निम्नलिखित शर्तें पूरी करनी पडती हैं

(क) इनकी प्रदत्त पूंजी (paid up capital) और सचित कोष (reserve fund) मिलाकर 5 लाख रुपये से कम नही होने चाहिए।

(ख) इन बैंकों को अपनी कुल जमा का कम से कम 3 प्रतिशत नकद-कोष के रूप मे रिजर्व बैंक के पास रखना पडता है। रिजर्व बैंक इसे 15% तक बढा सकता है।

(ग) *इन्हे भारत मे बैंकिंग व्यवसाय करना चाहिए तथा इनका सगठन* भारतीय बैंकिंग विधान के अन्तर्गत होना चाहिए।

(घ) *इन बैंकों द्वारा जमाकर्ताओं के हितों के विरुद्ध कोई कार्य नही करना चाहिए।*

अनुसूचित बैंको पर रिजर्व बैंक का प्रत्यक्ष नियन्त्रण स्थापित हो जाता है और उन्हे वे सभी सुविधाएँ प्राप्त होने लगती है जो रिजर्व बैंक 'बैंको के बैंक' के रूप मे प्रदान करता है। रिजर्व बैंक इन्हे स्वीकृत प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देता है, इनके बिलों की पुन कटौती करता है, धन स्थानान्तरण (remittance) सम्बन्धी सस्ती सुविधाएँ प्रदान करता है तथा समाशोधन गृह की सुविधाएँ देता है। इन बैंको को प्रति सप्ताह अपना स्थिति-विवरण रिजर्व बैंक के पास भेजना पडता है तथा रिजर्व बैंक के *आदेशों का पालन करना होता है।*

गैर-अनुसूचित बैंक (Non-Scheduled Banks)—वे बैंक जिनका नाम रिजर्व बैंक की द्वितीय अनुसूची मे सम्मिलित नही होता, गैर-अनुसूचित बैंक कहलाते है। इन बैंकों की प्रदत्त पूंजी तथा रिजर्व साधारणत 5 लाख रुपये से कम होते है। ये बैंक रिजर्व बैंक से वे सब सुविधाएँ नही प्राप्त कर पाते जो अनुसूचित बैंकों को मिलती है। बैंकिंग विधान के अनुसार गैर-अनुसूचित बैंको पर भी रिजर्व बैंक अनेक प्रकार से नियन्त्रण रखता है। बैंकिंग व्यवसाय करने के लिए रिजर्व बैंक से लाइसेन्स

प्राप्त करना होता है तथा रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना कोई बैंक नयी शाखा नहीं खोल सकता है। गैर-अनुसूचित बैंको को भी अपनी कुल जमा का 3 प्रतिशत नकद-कोष के रूप मे रखना पडता है, पर उनके लिए यह कोष रिजर्व बैंक के पास रखना अनिवार्य नहीं है।

व्यापारिक बैंकों के कार्य

भारतीय व्यापारिक बैंक प्राय वे सभी कार्य करते है जो सामान्यतया एक व्यापारिक बैंक को करने चाहिए। व्यापारिक बैंकिंग कार्यों का सविस्तार वर्णन एक अलग अध्याय म पहले किया जा चुका है। सक्षेप मे, भारतीय व्यापारिक बैंको द्वारा निम्नलिखित कार्य किये जाते है

(1) **व्यापारिक बैंक जनता से जमा (deposits) प्राप्त करते हैं।** जमा धन प्राय तीन प्रकार के खातो द्वारा प्राप्त किया जाता है—चालू खाता, मुद्दती खाता तथा बचत खाता। अपने व्यवसाय चलाने के लिए बैंक अधिकाश धन जमाओ द्वारा ही एकत्र करते है। बैंक की पूँजी के अन्य साधन, जैसे सचित कोष, अश पूँजी तथा अन्य बैंको व रिजर्व बैंक से प्राप्त ऋण, जमा धन की तुलना से बहुत कम होते है।

(2) **व्यापारिक बैंक विभिन्न प्रकार की जमानतो पर ऋण देते हैं।** जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जमा के रूप मे प्राप्त किये गये धन से कम से कम 25 प्रतिशत मूल्य के बराबर प्रत्येक बैंक को अपने पास तरल कोष रखना पडता है, जिसमे सोना, नकद या स्वीकृत प्रतिभूतियाँ आदि सम्मिलित रहते है। इसके अतिरिक्त, कुल जमा का कम से कम 3 प्रतिशत नकद-कोष (जिसे रिजर्व बैंक द्वारा 15 प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकता है) रिजर्व बैंक के पास रखना अनिवार्य होता है। गैर-अनुसूचित बैंको को भी इसी अनुपात मे नकद-कोष अपने पास अथवा रिजर्व बैंक के पास रखना होता है। इसके बाद जो धन बच जाता है, वह ऋण के रूप मे दिया जाता है। ऋण देने के कई तरीके हैं, जैसे अधिविकर्ष (overdraft), नकद साख, प्रत्यक्ष ऋण, अभियाचना व अल्पयाचना पर देय ऋण (money at call and short notice), विनिमय-पत्रों की कटौती या खरीद आदि। बैंक प्राय अचल सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत जमानत के आधार पर ऋण नहीं देते हैं। भारतीय बैंक मुख्य रूप से व्यापारिक कार्यों के लिए ही अल्पकालीन ऋण देते हैं। ऋणो पर ली जाने वाली ब्याज-दर की उच्चतम सीमा निर्धारित कर दी गयी है। देश मे बिल-बाजार पूर्णतया विकसित न होने के कारण भारत मे बैंक बिलो की खरीद अथवा कटौती के आधार पर ऋण बहुत कम मात्रा मे देते हैं और अपना धन अधिकतर नकद-साख देने मे ही लगाते हैं।

(3) **भारतीय बैंक अपना धन विनियोगो मे लगाते हैं।** अधिकाश विनियोग सरकारी प्रतिभूतियों मे किये जाते हैं। अन्य विनियोगो मे उच्च कोटि की कम्पनियों के अंश, ऋण-पत्र, ट्रस्टी प्रतिभूतियाँ आदि शामिल हैं।

(4) **कुछ व्यापारिक बैंक विदेशी विनिमय व्यवसाय करते हैं।** परन्तु इस क्षेत्र म आधिपत्य, मुख्य रूप से, विदेशी बैंको का ही है।

(5) **व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों को धन का हस्तान्तरण करते हैं।** चैक, ड्राफ्ट आदि लिखकर धन एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने मे सहायता दी जाती है और इसके लिए बैंक कमीशन प्राप्त करते हैं।

(6) भारतीय बैंक व्यापारिक बैंको द्वारा किये जाने वाले **सभी एजेन्सी कार्य** करते हैं तथा सामान्य उपयोगिता की सेवाएँ करते हैं। इन कार्यों का विस्तृत वर्णन व्यापारिक बैंको के कार्यों की व्याख्या करते समय किया जा चुका है।

व्यापारिक बैंकों के विकास की गति व प्रवृत्ति

भारत मे आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था का उदय व विकास ब्रिटिश शासनकाल म हुआ था, परन्तु इस विकास को निश्चित दिशा व गति देने का कोई उल्लेखनीय प्रयास नहीं किया गया था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद बैंकिंग व्यवस्था का विकास निश्चित नीतियों के अनुसार निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नियन्त्रित रूप मे करने का ध्येय सामने रखा गया है। देश मे नियोजित आर्थिक विकास के आरम्भ से अब तक के काल मे व्यापारिक बैंको की स्थिति मे अनेक परिवर्तन हुए हैं। निम्न तालिकाओं मे व्यापारिक बैंको के व्यापार से सम्बन्धित सन् 1950-51 से 1970-71 तक के आवश्यक आँकड़े प्रस्तुत किये गये हैं, जिनके विश्लेषण द्वारा वास्तविक स्थिति का परिचय प्राप्त किया जा सकता है

अनुसूचित व्यापारिक बैंको का भारत मे व्यवसाय

(वर्ष के अन्तिम शुक्रवार को, करोड़ रुपयो म)

	1950-51	1960 61	1965 66	1966 67	1967 68	1968 69	1969-70	1970 71
1 बैंको की सख्या	93	89	76	75	73	73	72	73
2 कुल जमा	880 61	1 746 06	2,949 83	3,425 51	3,855 98	4,338 18	5,028 19	5,893 42
(1) माँग जमा	592 55	719 72	1,426 86	1,649 72	1,844 32	1,934 11	2,234 80	2,626 47
(11) मियादी जमा	288 06	1,026 34	1 522 97	1,775 79	2,011 66	2,404 07	2,793 39	3,266 95
3 नकदी तथा रिजर्व बैंक के पास जमा	93 30	116 58	170 80	215 62	221 34	274 85	321 88	358 47
कुल जमा का प्रतिशत अनुपात	10 6	6 7	5 8	6 3	5 7	6 3	6 4	6 1
4 सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोग		558 58	810 69	892 80	967 03	1,054 61	1,166 83	1,362 98
कुल जमा का प्रतिशत अनुपात		32 0	27 5	26 1	25 1	24 3	23 2	23 1
5 बैंक-साख	546 93	1,319 54	2,288 14	2,693 55	3,032 99	3,396 32	3,971 03	4,649 28
कुल जमा का प्रतिशत अनुपात	62 1	75 6	77 6	78 6	78 6	78 3	79 0	78 9

गैर-अनुसूचित व्यापारिक बैंक

(वर्ष के अन्तिम शुक्रवार को, करोड रुपयो मे)

	1955-56	'60-61	'65-66	'66-67	'67-68	'68-69	'69-70
1. बैंको की सख्या	378	256	33	24	19	17	14
2. कुल जमा	66·81	42·73	23·82	23·75	25·16	26·88	24 75
3. नकदी तथा रिजर्व बैंक के पास जमा	4 67	3·22	1·63	2 04	1 73	2 05	1·71
कुल जमा का प्रतिशत अनुपात	7 0	7 5	6 8	8 6	6 9	7 6	6 9
4 विनियोग	30 32	14 80	7·76	6·73	7·69	8 38	7·20
कुल जमा का प्रतिशत अनुपात	45 4	34 6	32·6	28 3	30 6	31 2	29 1
5 बैंक-साख	41 71	29 11	14 14	14 05	14 21	15 15	13·78
कुल जमा का प्रतिशत अनुपात	62 4	68 1	59 4	59 2	56 5	56·4	55 7

भारत मे व्यापारिक बैंको के कार्यालयो की सख्या

	30 जून, 1969 को	30 जून 1970 को
1. स्टेट बैंक आफ इण्डिया	1569	1875
2 स्टेट बैंक के सहायक बैंक	893	1060
3 14 राष्ट्रीयकृत बैंक	4133	5318
4. विदेशी बैंक	130	131
5. अन्य अनुसूचित व्यापारिक बैंक	1320	1554
6. गैर-अनुसूचित बैंक	217	193
कुल व्यापारिक बैंक	8262	10131

उपर्युक्त तालिकाओ मे दिये गये आँकडो का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य हमारे सामने आते हैं

(1) **बैंको की सख्या**—सन् 1950-51 म अनुसूचित बैंको की सख्या 93 थी, जो अब 73 रह गयी है। इनमे से 15 विदेशी बैंक हैं। इस प्रकार, भारतीय अनुसूचित बैंको की सख्या केवल 58 ही है। बैंको की सख्या म कमी होने का मुख्य कारण यह है कि गत वर्षों मे दुर्बल बैंको को मिलाकर बडे बैंको मे बदल देने या उन्हे बडे बैंको के साथ मिला देने की नीति अपनायी गयी है। बैंको के एकीकरण (amalgamation) तथा विलयन (merger) के द्वारा भारतीय बैंकिग व्यवस्था मे दृढता आयी है।

बैंकिग व्यवसाय मे सुदृढीकरण (consolidation) की प्रक्रिया का परिचय इससे भी मिलता है कि मार्च 1956 मे गैर-अनुसूचित बैंको की सख्या 378 थी, जो घटकर मार्च 1961 मे 256 तथा मार्च 1966 मे केवल 33 रह गयी। सन् 1969-70 मे इनकी सख्या केवल 14 ही थी। गैर-अनुसूचित बैंको के कार्यालयो की सख्या मे भी निरन्तर कमी हुई है जबकि अनुसूचित बैंको के कार्यालयो की सख्या तेजी से बढी है। देश म बैंकिग सेवाओ के सन्तुलित विकास की दृष्टि से गत वर्षों मे रिजर्व बैंक ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है कि बैंको द्वारा शाखा विस्तार की योजनाओ मे बैंक-विहीन स्थानो तथा ग्रामीण या अर्द्ध शहरी क्षेत्रो को अधिक महत्व दिया जाय।

(2) **जमा-राशि मे वृद्धि**—अनुसूचित बैंको की कुल जमा मे असाधारण वृद्धि हुई है। सन् 1950 51 से सन् 1960-61 के बीच बैंको की जमा-राशि लगभग दुगुनी हो गयी। इसके बाद के वर्षों मे जमा-राशि मे इतनी तेजी से वृद्धि हुई है कि सन् 1970-71 के अन्त मे अनुसूचित बैंको की कुल जमा राशि 5,893 42 करोड रुपये थी जबकि 1950-51 तथा 1960 61 मे यह राशि क्रमश 880 61 करोड रुपये तथा 1746 06 करोड रुपये थी। इस वृद्धि का मुख्य कारण देश मे मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होना है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि केवल अनुसूचित बैंको की कुल जमा मे वृद्धि हुई है। गैर-अनुसूचित बैंको की जमा-राशि 1960 61 के अन्त मे 42 73 करोड रुपये थी जो 1969-70 के अन्त तक 24 75 करोड रुपये रह गयी।

अनुसूचित बैंकों की कुल जमा में वृद्धि के साथ जमा-रचना (composition of deposits) में भी परिवर्तन हुआ है। सन् 1950-51 के अन्त में मियादी जमा का कुल जमा के साथ अनुपात 33 प्रतिशत था। किन्तु इसके बाद *मियादी जमा का अनुपात निरन्तर बढ़ता रहा है।* सन् 1970-71 के अन्त में यह अनुपात लगभग 55 प्रतिशत था। मियादी जमा का अनुपात बढ़ने का कारण यह है कि देश में मुद्रा-प्रसार व आय-वृद्धि के कारण मध्यम वर्ग की जनता में मियादी जमा के लिए धन बचाने की शक्ति पैदा हुई है। मियादी जमा का अनुपात बढ़ जाना बैंकों के लिए लाभपूर्ण होता है। अनुसूचित बैंकों की जमा के स्वामित्व की दृष्टि से व्यक्तिगत जमा में उत्तरोत्तर वृद्धि की प्रवृत्ति रही है।

बैंकों की जमा-राशि में वृद्धि तथा व्यक्तिगत जमाओं का बढ़ता हुआ अनुपात बैंकों में जनता *के बढ़ते हुए विश्वास का प्रतीक है। यह न केवल बैंकों की स्थिति में दृढ़ता का द्योतक है,* बल्कि इससे यह भी स्पष्ट होता है कि देश में बैंकों का महत्व बढ़ता जा रहा है।

(3) **तरलता अनुपात** (Liquidity Ratio)—बैंकों की तरल परिसम्पत्तियों (liquid assets) में सामान्यतया नकद-राशि, रिजर्व बैंक के पास जमा, अन्य बैंकों के पास चालू खाते में जमा, याचना तथा माँग पर देय ऋण (money at call and short notice), स्वीकृत विनिमय बिलों तथा सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग सम्मिलित किये जाते हैं। इन विनियोगों को आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र ही नकद-राशि में बदला जा सकता है। बैंकों की कुल जमा तथा *तरल परिसम्पत्तियों के बीच अनुपात पर्याप्त तथा स्थिर रहना बैंकों की दृढ़ता की एक बहुत बड़ी* **कसौटी है।**

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, तरल कोषों के अनुपात के सम्बन्ध में बैंकों को वैधानिक नियमों का पालन करना पड़ता है। बैंक-दर पर रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करने के लिए व्यापारिक बैंकों को कम से कम 34 प्रतिशत के बराबर तरलता का अनुपात बनाये रखना पड़ता है।

बैंकों की तरल परिसम्पत्तियों में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं:

(क) **नकदी तथा रिजर्व बैंक के पास जमा**—बैंकों की नकदी तथा रिजर्व बैंक के पास जमा (cash in hand and balances with Reserve Bank) की राशि सन् 1950-51 में 93 30 करोड़ रुपये थी। यह राशि बढ़कर 1970-71 के अन्त में *358 07 करोड़ रुपये हो गयी है। इस रकम में तिगुनी से भी अधिक वृद्धि होने के बावजूद इसके कुल जमा से अनुपात में कमी* हुई है। सन् 1950-51 में यह अनुपात 10 6 प्रतिशत था, जो 1955-56 में 8 1 प्रतिशत हो गया। सन् 1960 61 के बाद यह अनुपात 6 प्रतिशत के लगभग ही रहा है। मार्च 1971 के अन्त में यह अनुपात 6 1 प्रतिशत था। साख-नियन्त्रण तथा बैंकिंग दृढ़ता के उद्देश्य से यह अनुपात अपेक्षाकृत ऊँचा होना चाहिए।

(ख) **सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग**—भारतीय बैंकों द्वारा विनियोग में लगाये गये धन का अधिकांश भाग सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदने में लगाया जाता है। सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग की राशि सन् 1955-56 में 359 90 करोड़ रुपये थी जो सन् 1960 61 में बढ़कर 558 58 करोड़ रुपये हो गयी। सन् 1970-71 के अन्त में यह राशि 1,362 98 करोड़ रुपये थी। *इस प्रकार, बैंकों द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग 1955-56 से 1970-71 के* बीच लगभग चार गुना हो गया है। परन्तु इस विनियोग का कुल जमा से अनुपात निरन्तर गिरता *गया है। सन् 1955-56 में बैंकों ने अपनी कुल जमा का 34 5 प्रतिशत सरकारी प्रतिभूतियों में* लगा रखा था जो सन् 1970-71 के अन्त तक केवल 23 1 प्रतिशत ही रह गया है। यह इस बात का प्रतीक है कि बैंकों की बढ़ी हुई जमाओं में से सरकार को आर्थिक विकास के कार्यक्रम पूरा करने में पर्याप्त सहायता नहीं मिली है। इनका प्रयोग बैंकों द्वारा साख का विस्तार करने तथा अपने लाभ बढ़ाने के उद्देश्य से किया गया है।

(4) **बैंक-साख का विस्तार**—गत वर्षों में अनुसूचित बैंकों की साख का काफी विस्तार हुआ है। सन् 1950-51 के अन्त में अनुसूचित बैंकों के ऋणों की कुल राशि 546 93 करोड़ रुपये थी, *जो सन् 1960-61 के अन्त तक 1,319 54 करोड़ रुपये हो गयी। मार्च 1971 में*

यह राशि 4,649 28 करोड रुपये थी जो सन् 1950-51 की तुलना मे आठ गुने से भी अधिक थी। भारतीय बैंको द्वारा अधिकतर साख प्रत्यक्ष ऋणो, नकद-साख तथा अधिविकर्ष (loans, cash credits and overdrafts) के रूप मे दी जाती है। देशी तथा विदेशी बिलो को भुनाकर या उन्हे खरीदकर भी भारतीय बैंक ऋण देते हैं, परन्तु देश मे पूर्णतया विकसित बिल-बाजार न होने के कारण बिलो के आधार पर दिये गये ऋण बहुत कम हैं। मार्च 1971 मे 4,649 28 करोड रुपये की कुल बैंक-साख मे 3,697 61 करोड रुपये के अग्रिम प्रत्यक्ष ऋण, नकद-साख तथा अधिविकर्ष के रूप मे थे। इस प्रकार, ऋण, नकद-साख तथा अधिविकर्ष के रूप मे दी गयी राशि कुल बैंक-साख का लगभग 80 प्रतिशत भाग थी।

कुल जमा के अनुपात मे सन् 1950-51 के अन्त मे बैंक-साख की राशि 62 1 प्रतिशत थी। साख-जमा अनुपात सन् 1960-61 मे 75 6 प्रतिशत हो गया। इसके बाद के वर्षों मे यह 75-80 प्रतिशत के बीच रहा है। मार्च 1971 मे साख-जमा अनुपात 78 9 प्रतिशत था। बैंकिंग विधान तथा रिजर्व बैंक एक्ट मे दिये गये नियमो के अनुसार बैंकों द्वारा अपनी कुल जमा का कम से कम 28 प्रतिशत वैधानिक तरलता अनुपात (statutory liquidity ratio) बनाये रखने के बावजूद बैंको का साख-जमा अनुपात 72 प्रतिशत से अधिक रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि वैधानिक तरलता अनुपात के निर्धारण के उद्देश्य से बैंको के कुल दायित्वो अथवा जमाओ की गणना मे बैंको द्वारा रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक से लिये गये ऋण नही जोडे जाते हैं। इसी प्रकार, विदेशो से प्राप्त बैंकिंग ऋण भी सम्मिलित नही किये जाते हैं। वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के देशी तथा विदेशी ऋणो से बैंकिंग साधनो मे वृद्धि होती है और बैंको द्वारा साख का विस्तार करना सम्भव होता है। इन राशियो को भले ही बैंकों के कुछ दायित्वो की गणना मे न सम्मिलित किया जाय, परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि बैंकों द्वारा साख का विस्तार करने मे ये भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितनी कि बैंको की साधारण जमाएँ।

बैंको द्वारा विभिन्न उद्देश्यो अथवा क्षेत्रो के लिए दिये गये ऋणो का वितरण इस प्रकार हुआ है कि इनका सबसे अधिक भाग उद्योगो को प्राप्त हुआ है और इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। सन् 1951 मे कुल अग्रिम राशि का 34 प्रतिशत उद्योगो को दिया गया, जो बढते-बढते सन् 1961 मे 50 8 प्रतिशत तथा सन् 1967 मे 64 3 प्रतिशत हो गया। इसमें छोटे उद्योगों को प्राप्त होने वाला भाग बहुत कम था। सन् 1961 के अन्त में छोटे उद्योगों को कुल अग्रिम राशि का 2 6 प्रतिशत दिया गया था, जो मार्च 1966 मे 3 9 प्रतिशत हो गया। सन् 1966-67 मे कुछ सुधार हुआ और मार्च 1967 मे इनको कुल बैंक-साख का 6 6 प्रतिशत प्राप्त हुआ। वाणिज्य के लिए सन् 1951 मे 36 प्रतिशत बैंक-साख दी गयी थी जो मार्च 1967 तक घटकर 19 4 प्रतिशत रह गयी। सन् 1951 से 1967 के बीच कृषि (बागानो सहित) को बैंको द्वारा दी जाने वाली अग्रिम राशि 2 प्रतिशत के लगभग ही रही थी।

स्पष्ट है कि बैंको के बढते हुए साधनो से अधिकाश लाभ निजी क्षेत्र के बडे उद्योगो को ही होता रहा है। यह स्वाभाविक भी है, क्योकि देश मे बडे बैंकों पर बडे उद्योगपतियो तथा व्यवसायी गृहो का ही नियन्त्रण रहा है। कृषि तथा लघु उद्योगो के लिए उपलब्ध किये गये बैंक ऋण भी पर्याप्त सीमा तक वास्तविक किसान अथवा छोटे उद्योगपति तक नहीं पहुँचे हैं। बैंको ने राष्ट्रीय हितों के बजाय अधिकतम लाभ अर्जित करने की ओर अधिक ध्यान दिया है। इस प्रकार की दोषपूर्ण बैंकिंग व्यवस्था के कारण ही प्रमुख व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीयकरण करना पडा है।

व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण

28वें अध्याय मे यह बताया जा चुका है कि 19 जुलाई, 1969 को राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश के द्वारा देश मे ऐसे चौदह प्रमुख व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीयकरण किया जिनमे प्रत्येक की जमा-राशि 50 करोड रुपये से अधिक थी। 9 अगस्त, 1969 मे अध्यादेश के स्थान पर बैंकिंग कम्पनी (उपक्रम का अभिग्रहण और हस्तान्तरण) विधेयक, 1969 लागू हो गया। परन्तु 10 फरवरी, 1970 को सुप्रीम कोर्ट द्वारा इसे अवैध घोषित कर देने पर पुन राष्ट्रीयकरण की

व्यवस्था करनी पड़ी । 14 फरवरी, 1970 को राष्ट्रपति ने पिछली तिथि (19 जुलाई, 1969) से उन्ही चौदह बैंको का पुन राष्ट्रीयकरण किया । ससद द्वारा पास किया गया नया विधेयक 31 मार्च, 1970 से लागू हुआ है ।

राष्ट्रीयकृत बैंकों का परिचय

जिन चौदह बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया है, वे देश व प्रमुख व्यापारिक बैंक है । रिजर्व बैंक द्वारा दिय गये आंकडो के अनुसार सन 1968 के अन्त म इन बैंको की कुल जमा-राशि (deposits) 2741 46 करोड रुपये तथा अग्रिम राशि (advances) 1743 66 करोड रुपय थी । इस प्रकार समस्त अनुसूचित बैंको की कुल जमा-राशि का 72 प्रतिशत तथा कुल अग्रिम राशि का 65 प्रतिशत भाग इन चौदह बैंको के पास था । इन बैंकों की कुल चुकता पूजी (paid up capital) 28 50 करोड रुपये थी जो इनके कुल साधना का लगभग 1 प्रतिशत भाग थी । स्पष्ट है कि य बैंक अपना व्यवसाय दूसरों की पूँजी से ही चला रह थे और उसम इनका अपना भाग केवल नाममात्र का था । इन बैंको के अपने कोष (owned funds) 66 करोड रुपये के बराबर थे जिनके आधार पर इनको दिये जाने वाले मुआवजे की राशि निर्धारित करनी थी । इन बैंकों द्वारा अर्जित शुद्ध लाभ की राशि 6 64 करोड रुपये थी ।

चौदह राष्ट्रीयकृत बैंको की स्थिति तथा व्यवसाय से सम्बन्धित आवश्यक आंकडे

(31 दिसम्बर, 1968 को, करोड रुपया मे)

बैंक	स्थापना का वर्ष	कार्यालयों की सख्या	जमा राशि	अग्रिम राशि	अपने कोष	शुद्ध लाभ
सेन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया	1911	504	433 27	296 27	11 88	1 19
बैंक आफ इण्डिया	1906	250	394 97	253 05	10 49	1 50
पजाब नशनल बैंक	1894	544	355 96	209 40	6 83	0 74
बैंक ऑफ बडौदा	1908	333	313 80	196 14	5 66	0 63
यूनाइटेड कार्मशियल बैंक	1943	323	240 58	144 00	6 97	0 55
कनारा बैंक	1906	302	146 44	96 72	3 21	0 19
यूनाइटेड बैंक आफ इण्डिया	1950	178	143 69	96 61	4 05	0 26
देना बैंक	1938	214	121 88	74 08	2 93	0 31
यूनियन बैंक आफ इण्डिया	1919	213	115 22	68 63	2·56	0 22
इलाहाबाद बैंक	1865	128	112 72	69 93	2·54	0 20
सिण्डीकेट बैंक	1925	254	112 19	70 61	2 66	0 31
इण्डियन ओवरसीज बैंक	1936	188	93 22	58 32	2 15	0 51
इण्डियन बैंक	1907	190	84 59	57 16	2·06	0 13
बैंक आफ महाराष्ट्र	1935	140	73 07	49 74	2 02	0 24
कुल जोड	—	3,761	2,741 76	1 743 66	66 00	6 64

स्पष्ट है कि चौदह राष्ट्रीयकृत बैंको म सबसे पुराना बैंक इलाहाबाद बैंक है और सबसे नया यूनाइटेड बैंक आफ इण्डिया । परन्तु चूंकि यूनाइटेड बैंक की स्थापना पहल के चार बैंको को मिलाकर की गयी थी इसलिए इसे नया नही कहा जा सकता है । इस आधार पर सन् 1943 म स्थापित किया गया यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक सबसे बाद का बैंक है । इस प्रकार, ये सभी बैंक कई वर्षो से कार्य करते रहे हैं । इन बैंको म सबसे अधिक कार्यालय अथवा शाखाएँ पजाब नेशनल बैंक की और सबस कम इलाहाबाद बैंक की है । वास्तव म, किसी बैंक की स्थिति उसकी जमा राशि तथा अग्रिम राशि द्वारा जानी जाती है । इन बैंको म सबसे बडा बैंक सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया है क्योंकि इसकी जमा तथा साख की राशियां अन्य सभी बैंको से अधिक हैं । इसी प्रकार, बैंक ऑफ महाराष्ट्र सबसे छोटा बैंक है । उपर्युक्त तालिका म दिये गये आकडो से स्पष्ट हो जाता है कि अधिकाश जमा तथा साख ऊपर के 5 बैंको के अधिकार म है । बैंको के अपने कोषो का 64 प्रतिशत इन्हीं 5 बैंकों का है और उनका लाभ मे हिस्सा 70 प्रतिशत है । राष्ट्रीयकरण के पूर्व

इलाहाबाद बैंक एक विदेशी बैंक—चार्टर्ड बैंक—का भारतीय सहायक (subsidiary) बैंक था। शेष सभी बैंक पूर्ण रूप से भारतीय बैंक थे और इनमें से अधिकाश बडे व्यवसायी गृहों के नियन्त्रण में थे।

19 जुलाई, 1969 को 14 बैंको का राष्ट्रीयकरण करने के पूर्व स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसके 7 सहायक बैंक लगभग राष्ट्रीयकृत बैंक ही थे और इनका देश की बैंकिंग व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान था। 14 बैंको का राष्ट्रीयकरण कर लेने के बाद अब देश में कुल 73 अनुसूचित बैंको में से 22 बैंक सरकार के अधिकार मे आ गये हैं। सख्या की दृष्टि से तो देश मे एक-तिहाई से भी कम बैंक राष्ट्रीयकृत क्षेत्र मे हैं। परन्तु व्यावसायिक दृष्टि से देश मे बैंकिंग व्यवसाय का *बहुत थोडा-सा भाग निजी क्षेत्र मे रह गया है और बाकी सब पर सरकार का अधिकार स्थापित* हो गया है। यदि दिसम्बर 1967 के अन्त की स्थिति के आधार पर देखा जाय तो कुल अनुसूचित बैंको की 81 प्रतिशत शाखाएँ इन्ही 22 बैंको की थी और कुल जमा तथा साख का क्रमश 84 प्रतिशत तथा 83 प्रतिशत भाग इनके अधिकार मे था। सन् 1967 के बाद इन बैंको के व्यवसाय का और भी अधिक विस्तार हुआ है जिसके परिणामस्वरूप इनका कुल बैंकिंग व्यवसाय मे भाग बढा है। इस प्रकार, 14 प्रमुख बैंको का राष्ट्रीयकरण करने से देश मे बैंकिंग व्यवसाय का $\frac{1}{7}$ से भी कम भाग निजी क्षेत्र म रह गया है।

विदेशी बैंको की भारत मे शाखाओ का राष्ट्रीयकरण नही किया गया है। इसके लिए मुख्य कारण यह बताया गया है कि इनसे हमे विदेशी व्यापार आदि से सम्बन्धित विशिष्ट सेवाएँ प्राप्त होती हैं और इनका वर्तमान स्वरूप बनाये रखना ही उचित है। रिजर्व बैंक द्वारा इन पर इतने नियन्त्रण लगाये गये हैं कि इनसे किसी अव्यवस्था फैलाने की आशका नही की जा सकती है। भविष्य म इन्हे अपना व्यवसाय बढाने की अनुमति तभी दी जायगी जब इसे आवश्यक समझा जायगा।

50 करोड रुपये से कम जमा पूँजी वाले बैंक भी निजी क्षेत्र मे रहने दिये गये है, क्योकि इनके व्यवसाय का क्षेत्र सीमित होता है और ये प्राय छोटे ऋण ही दे पाते हैं। सरकार के आर्थिक उद्देश्यो के अनुसार कार्य करने के लिए केवल बडे बैंक ही उपयुक्त हो सकते हैं।

बैंको के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता

बैंक किसी देश या समाज के वित्तीय साधनो के सरक्षक (custodian) होते है, क्योकि राष्ट्रीय बचत का अधिकाश भाग जमा के रूप मे उनके पास इकट्ठा होता है। समाज के वित्तीय साधनो का विशालतम भाग बैंको के नियन्त्रण मे रहने के कारण अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्र अपनी धन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन पर आश्रित हो जाते हैं। इससे बैंको को प्रचुर वित्तीय सत्ता प्राप्त हो जाती है जिसका उपयोग वे अर्थ-व्यवस्था के हित म कर सकते है और अहित मे भी। एक विकासशील देश मे बैंको का कार्य और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। इन परि-स्थितियो म यह स्वाभाविक है कि बैंको *का स्वामित्व कुछ निजी हाथों मे केन्द्रित होने पर* आपत्ति की जाय और इनके राष्ट्रीयकरण की माँग की जाय।

व्यापारिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे अनेक तर्क दिये जाते है जो मुख्यत दो प्रकार के हैं (क) सैद्धान्तिक, तथा (ख) भारतीय बैंको के दोषपूर्ण सगठन से सम्बन्धित।

(क) बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे सैद्धान्तिक तर्क

बैंको के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर, सेयर्स (Sayers) के अनुसार, पाँच दृष्टियो से विचार किया जाना चाहिए, जो ये हैं कार्यकुशलता, एकता अथवा एकरूपता, मुद्रीकरण, व्यापक समाजी-करण तथा सक्रमण से सम्बन्धित विचारणीय विषय। इन सभी के आधार पर बैंकोके राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे अनेक तर्क दिये जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य तर्क भी दिये जाते है जो बैंको के राष्ट्रीयकरण का समर्थन करते हैं। सैद्धान्तिक रूप से बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं

(1) कार्यकुशलता सम्बन्धी तर्क (Efficiency Issue)—व्यापारिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि निजी बैंको की अपेक्षा राष्ट्रीयकृत बैंक अधिक कार्यकुशल होते हैं। इसके कई कारण हैं। प्रथम, निजी बैंको मे प्रतिस्पर्धा होने के कारण

शाखाएँ आवश्यकता से अधिक हो जाती हैं और प्रबन्ध सम्बन्धी व्यय बढ जाता है । इसके विपरीत, बैंको का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर अनावश्यक स्पर्द्धा व व्यय की स्थिति समाप्त हो जाती है । द्वितीय, राष्ट्रीयकृत बैंको के प्रबन्ध व सचालन के लिए देश में एक ही विशाल सगठन होता है, जिससे बडे पैमाने की मितव्ययताएँ प्राप्त होती है तथा विवेकीकरण और वैज्ञानिक प्रबन्ध के कार्यक्रम अधिक सरलतापूर्वक कार्यान्वित हो सकते हैं । तृतीय, निजी बैंको मे प्रबन्ध-व्यवस्था तथा कर्मचारियो के बीच सम्बन्ध ठीक न होने से अशान्ति तथा असहयोग का वातावरण बनता है जिससे कार्यकुशलता गिर जाती है । राष्ट्रीयकरण होने पर कर्मचारियो का दृष्टिकोण बदल जाता है और सरकार उनका सहयोग प्राप्त करती है । सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयकृत बैंको का प्रबन्ध-व्यय अपेक्षाकृत कम होता है ।

(2) **एकता अथवा एकरूपता सम्बन्धी तर्क** (Integration Issue)—केन्द्रीय बैंक मौद्रिक नीति का सफलतापूर्वक सचालन तभी कर सकता है जब उसका देश के व्यापारिक बैंको पर समुचित नियन्त्रण रहे । यद्यपि व्यापारिक बैंको पर केन्द्रीय बैंक का वैधानिक नियन्त्रण रहता है, किन्तु वैधानिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते हुए भी वे राष्ट्रीय नीतियों की अवहेलना कर सकते हैं। साथ ही, यह आवश्यक नही है कि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक का नेतृत्व सदा सहर्ष स्वीकार करें। अतएव केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकिंग व्यवस्था के बीच एकता अथवा एकरूपता आवश्यक है और यह तभी सम्भव हो पाता है जब दोनो पर सरकारी स्वामित्व रहे ।

(3) **मुद्रीकरण सम्बन्धी तर्क** (Monetisation Issue)—देश मे मुद्रा की कुल मात्रा केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित वास्तविक मुद्रा और व्यापारिक बैंको द्वारा निर्गमित साख मुद्रा की कुल मात्रा द्वारा निर्धारित होती है । यदि केन्द्रीय बैंक देश मे मुद्रा की पूर्ति को माँग के अनुसार नियन्त्रित करना चाहे, तो साख मुद्रा की मात्रा को भी नियन्त्रित करना अनिवार्य होगा । विकसित देशों मे साख मुद्रा का महत्व और भी अधिक होता है । चूँकि व्यापारिक बैंक साख के सृजन द्वारा ही अपने लाभ का एक बहुत बडा भाग प्राप्त करते है, इसलिए उनकी साख-नीति पर सफल व प्रभावकारी नियन्त्रण तभी स्थापित हो सकता है जब व्यापारिक बैंक सरकार के स्वामित्व मे हो। बैंको पर सरकारी स्वामित्व होने से इनके द्वारा अर्जित लाभ सरकार को प्राप्त होता है जो इसे राष्ट्रीय हित के कार्यो मे व्यय कर सकती है ।

(4) **समाजीकरण सम्बन्धी तर्क** (Socialization Issue)—यदि किसी देश मे आर्थिक विकास के लिए समाजवादी सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाता है, तो समाजीकरण अथवा राष्ट्रीयकरण की नीति के सफल सचालन के लिए बैंको का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक होता है । बैंकिंग व्यवसाय अर्थ-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण व आधारभूत अग होता है जिसे निजी पूँजीपतियो के हाथ में छोडना युक्तिसगत नहीं है । राष्ट्रीय पूँजी का एक बहुत बडा भाग निजी स्वामित्व मे बना रहने पर राष्ट्रीय महत्व के उद्योगो के विकास में बाधा पड सकती है और समाजवादी उद्देश्यो की पूर्ति नही हो सकती है ।

(5) **सक्रमण सम्बन्धी तर्क** (Transition Issue)—सेयर्स ने ठीक ही कहा है कि समाजवादी सिद्धान्तो को मानने वाले देशो मे इस सम्बन्ध मे कोई विवाद नही है कि व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए अथवा नही, विवाद केवल राष्ट्रीयकरण के लिए उचित समय के सम्बन्ध मे है । यह एक विवादपूर्ण प्रश्न है कि बैंको का राष्ट्रीयकरण आरम्भ मे ही कर लेना चाहिए अथवा अन्य उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के बाद किया जाय । वास्तव मे, यदि निजी व्यापारिक बैंक राष्ट्रीयकरण के मार्ग मे बाधा पहुँचा रहे हो तो इनका राष्ट्रीयकरण पहले ही कर लेना उचित है । बैंको के राष्ट्रीयकरण से समाजवादी नीतियो तथा कार्यक्रमो का सचालन सही ढग से होता है।

(6) **अन्य तर्क**—सैद्धान्तिक आधार पर, उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त कुछ अन्य तर्क भी दिये जाते हैं जो निम्नलिखित हैं

1 **दृढ बैंकिंग व्यवस्था**—बैंको के राष्ट्रीयकरण से स्वस्थ एव दृढ बैंकिंग व्यवस्था की

स्थापना होती है जिससे बैंको के फेल होने का भय नही रहता, जमाकर्ताओ का धन पूर्ण रूप से सुरक्षित होता है और बैंको के माध्यम से अधिकाधिक मात्रा मे पूँजी एकत्र करना सम्भव होता है।

2 **आर्थिक विकास मे सहयोग**—राष्ट्रीयकरण करने से बैंक देश के आर्थिक विकास मे सक्रिय योगदान देते हैं। बैंको पर सरकारी स्वामित्व होने के कारण राष्ट्रीय आर्थिक नीतियो के अनुसार प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो व आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए वित्तीय सहायता प्राप्त करना अधिक सरल हो जाता है।

3 **नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल**—बैंको के राष्ट्रीयकरण से नियोजित अर्थ-व्यवस्था के सचालन में सहायता मिलती है। प्रथम, बैंको के वित्तीय साधनों का प्रयोग सुनियोजित ढग से निर्धारित प्राथमिकताओ के अनुसार होने के कारण आर्थिक लक्ष्यो की पूर्ति अधिक सुनिश्चित हो जाती है। द्वितीय, साख-नियन्त्रण का कार्य अधिक प्रभावपूर्ण ढग से पूरा किया जा सकता है जिससे कीमतो तथा लागत के ढांचे मे स्थिरता लायी जा सकती है। तृतीय, बैंको से सरकार को लाभ प्राप्त होता है जिसमे विकास कार्यों को पूरा करने के लिए उपलब्ध साधनों मे वृद्धि होती है। इस प्रकार, योजनाबद्ध आर्थिक विकास के लिए बैंको का राष्ट्रीयकरण अनेक प्रकार से सहायक होता है।

4 **एकाधिकारी प्रवृत्तियो पर रोक**—बैंको का निजी स्वामित्व में रहना बडे उद्योगो व बैंको मे गठबन्धन को प्रोत्साहित करता है। उद्योगपति बैंको पर अधिकार जमा कर बैंको के साधनो का अपने उद्योगो के लिए प्रयोग करने लगते हैं। इससे आर्थिक शक्ति का थोडे-से लोगो के हाथो मे केन्द्रीकरण होता है और एकाधिकार की प्रवृत्ति को बढावा मिलता है। यह स्थिति सर्वसाधारण के हितो के विरुद्ध होती है और इसका अन्त करने के लिए बैंको का राष्ट्रीयकरण आवश्यक हो जाता है।

5 **अवाछनीय क्रियाओ का नियन्त्रण**—निजी स्वामित्व वाले बैंको के सामने सबसे महत्व-पूर्ण उद्देश्य अपने लिए अधिक लाभ कमाना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंक समाज-विरोधी अवाछनीय कार्यों, जैसे सट्टेवाजी, मुनाफाखोरी, अनुचित सग्रह, चोरबाजारी आदि के लिए भी ऋण देते हैं। इससे आन्तरिक व्यापार में अव्यवस्था फैलती है, तस्कर व्यापार को बढावा मिलता है और बैंकिंग साधनो का दुरुपयोग होता है। ऐसे कार्य रोकने के लिए बैंको का राष्ट्रीय-करण अनिवार्य होता है।

वास्तव में, साख के उचित प्रयोग तथा आर्थिक विकास की योजनाओ के सफल सचालन के लिए बैंको का राष्ट्रीयकरण अत्यन्त वाछनीय है। यदि व्यापारिक बैंक एक सार्वजनिक सस्था की भाँति अर्थ-व्यवस्था के हित मे कार्य नही करते हो तब तो आयोजित आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत बैंको का राष्ट्रीयकरण करना अनिवार्य ही हो जाता है

(ख) भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दोष

भारतीय बैंको के विकास तथा उनके दोषों का विस्तृत अध्ययन पहले किया जा चुका है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गत वर्षों मे देश में बैंकिंग व्यवसाय का विस्तार हुआ है। बैंका की सख्या अवश्य कम हुई है, परन्तु जैसा कि बताया जा चुका है, इसका कारण बैंको का एकीकरण तथा विलीनीकरण रहा है जिससे बैंकिंग व्यवसाय म सुदृढता आयी है। सन् 1951 के अन्त में अनुसूचित बैंकों के कार्यालयों की सख्या 2,647 थी जो जून 1969 के अन्त तक 8,045 हो गयी। इनके अतिरिक्त, गैर-अनुसूचित व्यापारिक बैंको के भी 217 कार्यालय थे। इस प्रकार, कुल मिलाकर देश में व्यापारिक बैंको के 8,262 कार्यालय थे। मार्च 1951 से मार्च 1969 के बीच अनुसूचित बैंको की कुल जमा-राशि 880 61 रुपये से बढकर 4,338·18 करोड रुपये हो गयी। इस प्रकार इसमें लगभग पाँच गुनी वृद्धि हुई। बैंक-साख तथा बैंको द्वारा विनियोग की राशि मे भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। बैंको के साधन बढने के साथ-साथ उनकी आय मे वृद्धि हुई है और बैंकिंग व्यवसाय मे सुदृढता आयी है। सन् 1951 के अन्त मे अनुसूचित बैंका के कुल उपार्जन (total earning) की राशि 45 करोड रुपये थी जो सन् 1966 के अन्त तक 297 करोड रुपये हो गयी। तृतीय योजनाकाल के बाद के दो वर्षों मे अर्थ-व्यवस्था म शिथिलता की स्थिति (recession) रहने पर भी बैंको का निरन्तर विकास होता रहा है।

बैंकिंग विकास की दिशाओं को निर्धारित करने तथा देश में बैंकिंग व्यवसाय का नियमन करने के उद्देश्य से भारतीय बैंकिंग विधान के अन्तर्गत बैंकों पर अनेक नियन्त्रण तथा प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। रिजर्व बैंक को भी बैंकों के नियन्त्रण सम्बन्धी विस्तृत अधिकार दिये गये हैं। परन्तु इन सबके बावजूद भारतीय बैंकिंग व्यवस्था की अवाञ्छनीय प्रवृत्तियों को रोकना सम्भव नहीं हो पाया। इस सन्दर्भ में प्रायः यह प्रश्न किया जाता रहा है कि क्या बैंकों से सम्बन्धित विशाल सत्ता निजी हाथों में छोड़ देना उचित है? क्या बैंकिंग व्यवस्था निजी क्षेत्र में रखकर देश में समाजवादी सिद्धान्तों पर आधारित नियोजित विकास के कार्यक्रम सफलतापूर्वक पूरे किये जा सकते हैं? भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के निम्नलिखित दोष विशेष रूप से चिन्ता का विषय रहे हैं :

(1) **बैंकिंग व्यवसाय का थोड़े-से बैंकों में केन्द्रीकरण**—अनुसूचित बैंकों की कुल संख्या 73 है, परन्तु अधिकांश बैंकिंग व्यवसाय 8 बड़े बैंकों में ही केन्द्रित रहा है। दिसम्बर 1967 के अन्त में इन 8 बड़े बैंकों के पास, जिनमें प्रत्येक की जमा-राशि 100 करोड़ रुपये से अधिक थी, समस्त अनुसूचित बैंकों की कुल जमाओं का 62 प्रतिशत भाग था और इनका कुल बैंक-साख में 63 प्रतिशत भाग था। इस प्रकार, दो-तिहाई बैंकिंग व्यवसाय केवल 8 बैंकों के पास केन्द्रित था। इनके अतिरिक्त, 50 से 100 करोड़ रुपये की जमा-राशि वाले 6 बैंकों के पास बैंक जमा का 13 प्रतिशत व बैंक साख का 12 प्रतिशत भाग था। स्पष्ट है कि बैंकों की कुल जमा-राशि तथा कुल साख का 75 प्रतिशत भाग केवल 14 बैंकों के पास था। अन्य 44 भारतीय अनुसूचित बैंकों का कुल जमा तथा साख में हिस्सा क्रमशः 14 तथा 13 प्रतिशत था। शेष 15 अनुसूचित बैंक विदेशी बैंक थे जिनके पास कुल जमा का 11 प्रतिशत तथा साख का लगभग 12 प्रतिशत भाग था। इस प्रकार, बैंकिंग सत्ता थोड़े-से बड़े बैंकों में केन्द्रित हो गयी और बाकी के बैंक छोटे होने के कारण दुर्बल अवस्था में रहे। यह स्थिति देश में सही ढंग से बैंकिंग विकास के लिए उपयुक्त नहीं थी।

(2) **एकाधिकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन**—देश में बड़े बैंक, जिनके अधिकार में अधिकांश बैंकिंग व्यवसाय रहा है, कुछ इने-गिने बड़े उद्योगपतियों अथवा व्यावसायिक गृहों के नियन्त्रण में रहे, यहाँ तक कि विभिन्न बैंकों के साथ तो बड़े व्यवसायी गृहों के नाम तक जोड़े जाने लगे। एकाधिकार आयोग रिपोर्ट, औद्योगिक लाइसेंसिंग पर प्रो॰ हजारी की रिपोर्ट तथा सन् 1969 की सुबिमल दत्त समिति की रिपोर्ट में बताया गया कि बड़े व्यापारी और बड़े बैंक किस प्रकार आन्तरिक निर्णय द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और इनका यह गठबन्धन किस प्रकार अर्थ-व्यवस्था के लिए हानिकारक है। बैंकों के संचालक अन्य व्यापारिक तथा औद्योगिक कम्पनियों के संचालक रहे हैं।[1] परिणामस्वरूप बैंकों के साधनों का बहुत बड़ा भाग उनके संचालकों अथवा उनसे सम्बन्धित व्यापारिक संस्थाओं के लाभ के लिए प्रयोग किया जाता रहा है। इससे आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण व एकाधिकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला है। बैंकों की जमा-राशि अधिकांश रूप से व्यक्तिगत साधनों द्वारा प्राप्त की गयी है, परन्तु उसका अधिकांश भाग देश में थोड़े-से व्यवसायियों और उद्योगपतियों को प्राप्त हुआ है जिन्होंने इसका उपयोग अपनी आर्थिक शक्ति बढ़ाने के लिए किया है। बैंकिंग व्यवस्था के इस दोष को दूर करने के उद्देश्य से बैंकों पर 'सामाजिक नियन्त्रण' की नीति के अन्तर्गत कुछ विशेष उपाय अपनाये गये थे। संचालकों की नियुक्ति तथा अधिकारों पर नियन्त्रण रखने की व्यवस्था की गयी थी। इसके परिणामस्वरूप स्थिति में कुछ परिवर्तन तो हुआ परन्तु विशेष सुधार न हो सका।

(3) **बैंकिंग साधनों का अनुचित उपयोग**—व्यापारिक बैंकों तथा व्यवसायियों में साठ-गाँठ के कारण बैंकों द्वारा दिये गये ऋण एक संकुचित औद्योगिक क्षेत्र में केन्द्रित हो गये। जैसा कि हम देख चुके हैं, बैंकों द्वारा उद्योगों को दिये जाने वाले ऋणों की राशि तथा अनुपात में निरन्तर वृद्धि हुई है। मार्च 1967 के अन्त में बैंकों की कुल अग्रिम राशि का 64.3 प्रतिशत उद्योगों को प्राप्त हो रहा था। वाणिज्य का हिस्सा 19.4 प्रतिशत था। इस प्रकार, ये दो क्षेत्र मिलकर 84

1 20 बड़े बैंकों के कुल 188 संचालक थे। इन्हें 1100 अन्य कम्पनियों में 1452 संचालकताएँ (directorships) प्राप्त थीं।

प्रतिशत बैंक-साख प्राप्त कर रहे थे। बैंक-ऋणो पर ब्याज-दर बाजार की ब्याज-दर से कम होने के कारण उद्योगपतियो तथा व्यापारियो को प्रति वर्ष करोडो रुपये का लाभ हो रहा था। इससे एकाधिकारी प्रवृत्तियो को तो बढावा मिला ही, साथ मे बैंकिंग साधनो का दुरुपयोग भी हुआ। यह भली-भाँति विदित है कि अनेक नियन्त्रणो के बावजूद बैंक-ऋणो का उपयोग जमाखोरी और सट्टेबाजी जैसे समाज-विरोधी तथा अवाछनीय कार्यो के लिए भी किया जाता रहा है। इससे भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हुई है जिससे थोडे-से लोगो ने अनुचित लाभ उठाया है।

(4) **योजनाओ मे निर्धारित प्राथमिकताओं की उपेक्षा**—व्यापारिक बैंको की ऋण-नीति योजनाओं मे निर्धारित प्राथमिकताओ (priorities) के प्रति उपेक्षापूर्ण रही है जिससे उनका आर्थिक विकास के कार्य मे योगदान बहुत कम रहा है। निजी क्षेत्र के बडे उद्योगो को मनमाने ढग से ऋण दिये जाते रहे है और लघु उद्योगो की आवश्यकताओ के प्रति अवहेलनापूर्ण रवैया अपनाया गया है, जबकि देश के कुल औद्योगिक उत्पादन मे 35 प्रतिशत भाग लघु उद्योगो का है। कृषि देश मे मुख्य व्यवसाय है और सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था कृषि-उत्पादन की स्थिति पर निर्भर करती है। रिजर्व बैंक, सरकार तथा योजना आयोग के विभिन्न निर्देशो, अनुस्मरणो और अनुरोधो के बावजूद कुल बैंक-साख का केवल 2 प्रतिशत कृषि के लिए दिया जाता रहा है। लघु उद्योगो तथा कृषि के लिए दिये गये ऋण पर्याप्त मात्रा मे छोटे उत्पादक तथा वास्तविक किसान तक न पहुँचकर थोक व्यापारियो और विक्रेताओ के हाथ मे जाते रहे हैं। हमारे लिए निर्यात बढाना भी अनिवार्य है, परन्तु इस क्षेत्र मे बैंको को अनेक सुविधाएँ देने पर भी उनसे पर्याप्त सहायता नही मिल पायी। व्यापारिक बैंको की नीति देश के सामाजिक आदर्शो तथा आर्थिक कार्यक्रमो मे जुडी न होने के कारण इनसे राष्ट्र के उद्देश्यो को आगे बढाने मे सहायता नही मिली।

(5) **सरकारी प्रतिभूतियो मे अपर्याप्त विनियोग**—बैंको की कुल जमा-राशि के अनुपात मे व्यापारिक बैंको द्वारा सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोग निरन्तर गिरता गया। सन् 1956 मे यह अनुपात 34 5 प्रतिशत था, परन्तु मार्च 1969 के अन्त तक यह 24 3 प्रतिशत ही रह गया। बैंको ने अधिकतर विनियोग शीघ्र परिपक्व (mature) होने वाली प्रतिभूतियो मे ही किया। बैंक प्राय इस प्रकार के विनियोग तब करते रहे हैं जब उनके साधन बाजार मे ऋणो की माँग से अधिक रहे हैं। स्पष्ट है कि व्यापारिक बैंको के बढते हुए साधनो मे सरकार को आर्थिक विकास के कार्यक्रम पूरे करने मे पर्याप्त सहयोग नही मिला है।

(6) **असन्तुलित विकास**—देश मे व्यापारिक बैंको द्वारा अपनी शाखाएँ बडे-बडे शहरो या व्यापारिक केन्द्रो मे ही खोली गयी और ग्रामीण तथा अर्द्ध-शहरी क्षेत्रो की ओर कोई ध्यान नही दिया गया। देश की बहुत बडी जनसख्या बैंकिंग सेवाओ से वचित रही है। भौगोलिक आधार पर औद्योगिक रूप से विकसित राज्यो मे बैंको की सख्या अधिक और कम विकसित राज्यो मे कम रही है। कही-कही तो एक ही स्थान पर बैंको की भीड होती चली गयी जबकि देश का बहुत बडा भू-भाग पर्याप्त मात्रा मे बैंकिंग सेवाओ को प्राप्त नहीं कर पाया। पिछडे क्षेत्रो मे बैंक-साख की राशि उस क्षेत्र मे प्राप्त की गयी जमा-राशि से कम रही और इस प्रकार वे अपनी ही बचत तथा पूँजी के पूर्ण उपयोग से वन्चित हो गये। दूसरी ओर, तीन सर्वाधिक उद्योगीकृत राज्यो—महाराष्ट्र, पश्चिमी बगाल तथा तामिलनाडु—को बैंको से जमा-राशि से अधिक ऋण प्राप्त हुए। वास्तव मे, व्यापारिक बैंको का सर्वोच्च लक्ष्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना रहा है और अधिकतम लाभ बडे उद्योगो को ही ऋण देकर अर्जित किया जा सकता था। अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओ की ओर ध्यान न देकर बैंक लाभ अर्जित करने की ओर ही अधिक ध्यान देते रहे है।

(7) **प्रबन्धकीय अकुशलता**—व्यापारिक बैंको के अधिकतर सचालक प्राय अयोग्य व अनुभवहीन व्यक्ति रहे हैं, *जिनका अन्य कम्पनियो तथा सस्थाओ से भी सम्बन्ध बना रहा है।* इनका मुख्य उद्देश्य बैंकिंग साधनो का अपने हित के लिए उपयोग करना रहा है, भले ही इससे बैंकिंग के सुदृढ सिद्धान्तो की अवहेलना होती हो। बैंकिंग विकास की ओर ध्यान देने के लिए न तो वे पूरा

समय ही दे पाते थे और न ही उनमें पर्याप्त योग्यता तथा अनुभव थे। बैंकिंग कर्मचारियों के प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था न होने के कारण वे बैंकिंग कार्य में प्राय: अकुशल ही रहे हैं। परिणामत: व्यापारिक बैंकों में कार्य-कुशलता का स्तर प्राय: निम्न श्रेणी का रहा है, जिससे बैंकों के ग्राहकों को अनेक प्रकार की असुविधाएँ होती रही हैं।

(8) 'सामाजिक नियन्त्रण' का प्रभावपूर्ण न होना—व्यापारिक बैंकों के कार्यों तथा नीति पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगाये जाते रहे हैं। सन् 1968 में लागू की गयी बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण की नीति का उद्देश्य बैंकों की प्रबन्ध-व्यवस्था में सुधार करना, बैंकों का विस्तार करना, प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति करना तथा राष्ट्रीय हितों की ओर अधिकतम ध्यान देना था। परन्तु इसके आरम्भ से यह स्पष्ट हो गया कि यह बैंकों के राष्ट्रीयकरण की बढ़ती हुई माँग को टालने का केवल एक बहाना था और इससे अधिक सन्तोषजनक परिणामों की आशा नहीं की जा सकती थी। सामाजिक नियन्त्रण की नीति तथा इससे सम्बन्धित त्रुटियों का विस्तारपूर्वक उल्लेख अलग से किया जा चुका है। सामाजिक नियन्त्रण के प्रयोग के परिणामों की बहुत अधिक प्रतीक्षा किये बिना 19 जुलाई, 1969 को 14 प्रमुख व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी गयी।

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के लिए सैद्धान्तिक आधार तो था ही, परन्तु सबसे महत्वपूर्ण पहलू देश में बैंकिंग व्यवस्था के दोषों से सम्बन्धित था। देश में आर्थिक विकास के कार्यक्रमों तथा निर्धारित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए ही बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक समझा गया। इस प्रकार की दोषपूर्ण बैंकिंग व्यवस्था को तो उन देशों में भी सहन नहीं किया जाता जो समाजवाद का नाम तक नहीं लेते हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर फ्रांस, इटली, जर्मनी तथा स्वीडन जैसे देशों में भी प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया था।

राष्ट्रीयकरण का विरोध

देश के प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण समाजवाद की स्थापना की दिशा में उठाया गया एक प्रशंसनीय और महत्वपूर्ण कदम है। इसका पूरा श्रेय प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को है। जनसाधारण में नई आशाएँ जागी हैं और उन्होंने इसका हार्दिक स्वागत किया है। परन्तु देश में ऐसे लोग भी कम नहीं हैं जिन्होंने राष्ट्रीयकरण का विरोध किया है तथा इसकी आवश्यकता व उपयोगिता से सम्बन्धित अनेक आशंकाएँ प्रकट की हैं, जो निम्नलिखित हैं

(1) राष्ट्रीयकरण के विरोधियों का कहना है कि जिस प्रकार बैंकों के राष्ट्रीयकरण की अचानक घोषणा की गयी, वह आपत्तिजनक है। इसने पूरे देश को चौंका दिया और इससे औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्र को धक्का पहुँचा है। वास्तविकता यह है कि देश की आर्थिक नीति से सम्बन्धित कुछ निर्णय ऐसे होते हैं जिन्हें पहले से बताये बिना ही लागू करना होता है। देश की मौद्रिक अथवा वित्तीय नीति में कोई विशेष परिवर्तन अथवा मुद्रा का अवमूल्यन आदि इसी प्रकार के निर्णय होते हैं। इनकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि इन्हें लागू करने से पहले इनके बारे में लोगों को पता न चले। यदि लोग पहले से ही जान जाएँ तो अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न होता है, सट्टेबाजी बढ़ती है तथा व्यावसायिक अव्यवस्था फैलती है। सन् 1956 में जीवन बीमा का राष्ट्रीयकरण और सन् 1966 में रुपये का अवमूल्यन भी अचानक ही किये गये थे। बैंकों के राष्ट्रीयकरण से बहुत अधिक चौंकने के कुछ विशेष कारण भी नहीं दिखाई पड़ते। राष्ट्रीयकरण की माँग काफी समय से की जा रही थी और कांग्रेस के बंगलौर अधिवेशन में जिस प्रकार इस पर जोर दिया गया था, उससे यह अनुमान लगाना कठिन नहीं था कि हवा किस दिशा में चल रही है।

(2) प्राय: यह कहा गया है कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण की पृष्ठभूमि में आर्थिक कारणों की अपेक्षा राजनीतिक कारण अधिक महत्वपूर्ण थे। कांग्रेस पार्टी में आन्तरिक फूट राष्ट्रीयकरण का सबसे बड़ा कारण बतायी जाती है। परन्तु ऐसा सोचना गलत है। वास्तविकता यह है कि इस

प्रकार के विषय, जिनका देश में शक्तिशाली तत्वों पर प्रभाव पड़ता है, आर्थिक होते हुए भी राजनीतिक स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सरकार के कार्यों में बाधा डालने के लिए राजनीतिक दबाव एक प्रभावपूर्ण अस्त्र होता है। स्वतन्त्र पार्टी तथा भारतीय जनसंघ द्वारा राष्ट्रीयकरण के विरोध का आधार आर्थिक न होकर राजनीतिक ही था। राष्ट्रीयकरण राजनीतिक मतभेद के कारण नहीं किया गया बल्कि सत्य तो यह है कि राष्ट्रीयकरण ने राजनीतिक मतभेद को जन्म दिया है।

(3) अनेक लोगों के विचार में बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने की आवश्यकता ही नहीं थी। सामाजिक नियन्त्रण की नीति के अन्तर्गत बैंकों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये जा चुके थे और उनकी व्यवस्था तथा कार्यों में सुधार हो रहा था। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया है, वे सामाजिक नियन्त्रण की योजना द्वारा भी पूरे किये जा सकते थे। इस सम्बन्ध में पहले विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है कि सामाजिक नियन्त्रण की नीति केवल एक ढोंग थी, जिसका उद्देश्य बैंकों के राष्ट्रीयकरण की व्यापक माँग को टालना था। यह एक अस्पष्ट तथा प्रभावहीन व्यवस्था थी, जिसका देश में आरम्भ से ही विरोध किया जा रहा था। बिना राष्ट्रीयकरण के सामाजिक नियन्त्रण की बात करना निरर्थक था। सामाजिक स्वामित्व के बिना सामाजिक नियन्त्रण केवल एक धोखा है। इसमें सन्देह की कुछ भी गुंजाइश नहीं है कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक था, बल्कि बहुत पहले से ही कर लेना चाहिए था।

(4) यह आशंका प्रकट की गयी है कि व्यावहारिक रूप में राष्ट्रीयकृत बैंक उन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर पायेंगे जिनके लिए राष्ट्रीयकरण किया गया है। राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य छोटे किसानों, उत्पादकों तथा निर्यातकों के लिए बैंकों के दरवाजे खोलना है, परन्तु यह सन्देहपूर्ण बताया जा रहा है कि ये लोग बड़ी संख्या में इन दरवाजों में घुस पायेंगे और पर्याप्त मात्रा में सुविधाएँ प्राप्त कर सकेंगे। वास्तव में, इस प्रकार की शंकाएँ निराधार हैं। प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को पहले बैंकों से पर्याप्त सहायता इसलिए नहीं मिल पायी क्योंकि वे अपने साधनों का अधिकतम उपयोग बड़े औद्योगिक तथा व्यापारिक संगठनों की वित्तीय शक्ति बढ़ाने के लिए करते रहे हैं। सत्य तो यह है कि बैंक अभी तक मुख्यतः अधिकतम लाभ अर्जित करने की ओर ध्यान देते रहे हैं। यद्यपि राष्ट्रीयकरण के बाद भी बैंक लाभ अर्जित करना चाहेंगे, परन्तु ऋण की प्राथमिकताएँ अब लाभ की दर द्वारा नहीं वरन् अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित होंगी। बड़े व्यवसायी गृहों को अपनी उचित आवश्यकताओं के अतिरिक्त सट्टेबाजी तथा अन्य फर्मों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के वित्तीय प्रपंच के लिए मनचाहे ढंग से धन नहीं मिल पायेगा। लघु उद्योग, कृषि तथा निर्यात आदि क्षेत्रों के लिए बैंक अधिक ऋण दे सकेंगे, जिससे अर्थ-व्यवस्था में असन्तुलन को कम किया जा सकेगा। बैंकों की सहायता से देश में एक नये मध्य-स्तर के साहसी वर्ग का विकास सम्भव होगा। आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के साथ-साथ बैंकों द्वारा अपने साधनों में तरलता बनाये रखना तथा अपने ऋणों को सुरक्षित करना कठिन कार्य नहीं होगा। इसके लिए आवश्यक नियम बनाये जा सकते हैं।

(5) बैंकों का आंशिक राष्ट्रीयकरण आंशिक मद्य-निषेध के समान अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न करेगा। निजी क्षेत्र में देशी तथा विदेशी बैंक अधिक जमा प्राप्त कर सकते हैं और राष्ट्रीयकृत बैंकों के साथ प्रतिस्पर्द्धा कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में स्पष्ट किया जा चुका है कि 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण से लगभग 85 प्रतिशत बैंकिंग व्यवसाय पर सरकार का अधिकार हो गया है। निजी क्षेत्र के व्यापारिक बैंक इतने छोटे हैं कि उनसे किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता है। विदेशी बैंकों की भारत में शाखाओं का राष्ट्रीयकरण इसलिए नहीं किया गया क्योंकि इनसे हमें विदेशी व्यापार सम्बन्धी विशिष्ट सेवाएँ प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त, उनका राष्ट्रीयकरण करने से कुछ अन्य समस्याएँ भी हो सकती थीं। वैसे रिजर्व बैंक के बैंकों पर नियन्त्रण सम्बन्धी अधिकार इतने विस्तृत हैं कि जरा-सी गड़बड़ी पर निजी बैंकों को मनमाने ढंग से चलने से रोका जा सकता है। ऐसा सोचना तो बिलकुल गलत है कि ये बैंक राष्ट्रीयकृत बैंकों के मुकाबले अधिक

जमा प्राप्त कर लेंगे। वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है। अभी तक बैंकों की जमाओं में अधिकांश भाग व्यक्तिगत जमाओं का ही रहा है और जनता में सरकारी संस्थाओं के प्रति विश्वास की भावना अधिक है, कम नहीं। राष्ट्रीयकरण के बाद इन बैंकों की जमाओं में वृद्धि हुई है। ग्रामीण तथा अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों में शाखाओं का विस्तार करके ये बैंक और भी अधिक जमा प्राप्त कर सकेंगे। पिछले वर्षों का अनुभव यह बताता है कि निजी क्षेत्र के बड़े-बड़े बैंक स्टेट बैंक के लिए किसी भी प्रकार की कोई समस्या उत्पन्न नहीं कर पाये। अब यह सोचना निराधार है कि निजी क्षेत्र के छोटे-छोटे बैंकों से राष्ट्रीयकृत बैंकों को किसी प्रकार का भय हो सकता है।

(6) एक आशंका यह प्रकट की गयी है कि राष्ट्रीयकृत बैंकों की प्रबन्ध-व्यवस्था इतनी कुशल नहीं होगी जितनी कि इनकी पहले थी। सरकारी व्यवस्था विलम्ब, फीताशाही तथा अव्यावहारिकता के लिए काफी बदनाम है और इसका प्रभाव बैंकों पर भी पड़ेगा। ऐसा सोचना भी पूर्णतया निराधार है। वास्तव में, बैंकों की प्रबन्ध-व्यवस्था पहले अकुशल थी, क्योंकि इनके अधिकांश संचालक अन्य व्यवसायों में लगे होने के कारण बैंकों की ओर ध्यान नहीं दे पाते थे। बैंकों के कर्मचारी भी कार्य में अधिक रुचि नहीं रखते थे। राष्ट्रीयकरण के बाद बैंकों का प्रबन्ध केवल व्यावसायिक योग्यता वाले प्रबन्धकों के हाथ में दिया जायगा। बैंक कर्मचारियों ने जिस प्रकार राष्ट्रीयकरण का स्वागत किया है उससे यह अनुमान लगाना गलत नहीं है कि उनसे अधिक सहयोग की आशा की जा सकती है। अभी तक बैंकिंग कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए अधिक सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं। इस कमी को पूरा करने की ओर भी अब ध्यान दिया जायगा। यह दलील पूर्णतया गलत है कि जो कर्मचारी निजी फर्मों में कुशलतापूर्वक कार्य कर सकते हैं, सार्वजनिक उद्योगों में अपनी योग्यता का परिचय नहीं दे सकते हैं।

बैंकों की कार्यकुशलता बनाये रखने के उद्देश्य से उन्हें राष्ट्रीयकरण के बाद अलग-अलग इकाइयों के रूप में रहने दिया गया है। उनकी सम्मिलित व्यवस्था के लिए किसी निगम आदि की स्थापना न करने का निर्णय किया गया है। इससे इन इकाइयों में विकास तथा कार्यकुशलता के लिए प्रतिस्पर्द्धा की भावना को बनाये रखा जा सकेगा। व्यवहार में राष्ट्रीयकृत बैंकों को अलग-अलग इकाइयों के रूप में एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करने दिया जाता है और इसके फलस्वरूप उनकी कार्यक्षमता तथा प्रबन्ध-व्यवस्था में निरन्तर सुधार हुआ है।

राष्ट्रीयकरण के बाद की स्थिति

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के मुख्य उद्देश्य ये थे राष्ट्रीयकरण के बाद देश में बैंकिंग का विकास होगा, योजनाओं में प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों के लिए अधिक ऋण-सुविधाएँ प्राप्त होंगी, छोटे-छोटे व्यक्ति भी उत्पादन-आवश्यकताओं के लिए बैंकों से ऋण प्राप्त कर सकेंगे, निजी उद्योगों एवं व्यापार की आवश्यक साख-आवश्यकताओं की पूर्ति तो की जायगी परन्तु बैंक-साख का उपयोग सट्टे तथा अन्य अनुत्पादक कार्यों में सम्भव न हो सकेगा, सार्वजनिक उपक्रमों तथा अल्प-विकसित क्षेत्रों को बैंकों के साधन अधिक मात्रा में उपलब्ध होंगे, तथा बैंकिंग क्षेत्र में व्यावसायिक प्रबन्ध के विकास का पर्याप्त वातावरण उत्पन्न होगा।

हमें देखना यह है कि राष्ट्रीयकृत बैंक निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति में कहाँ तक सफल हो पाये हैं। परस्पर विरोधी भावनाओं से अनेक प्रतिद्वन्द्वी आँकड़े प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनके द्वारा कहीं तो उनकी कार्य-प्रणाली की अकुशलता और कहीं उनके कार्य के उज्ज्वल पहलू प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया जाता है। स्थिति की निष्पक्ष जाँच के लिए हमें कुछ निर्विवाद तथ्यों पर दृष्टिपात करना चाहिए।

राष्ट्रीयकृत बैंकों की निम्नलिखित मुख्य सफलताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :

(1) राष्ट्रीयकृत बैंकों ने विशाल स्तर पर अपनी नयी शाखाएँ खोली हैं। 19 जुलाई, 1969 के बाद 30 अप्रैल, 1971 तक भारत में व्यापारिक बैंकों ने कुल 3,419 नयी शाखाएँ खोली हैं। इस प्रकार नयी शाखाएँ खोलने का वार्षिक औसत 1,900 हो गया है जबकि राष्ट्रीयकरण के पूर्व के 9 वर्षों में वार्षिक औसत केवल 362 था। इन 3,419 नयी शाखाओं में से

2,934 शाखाएँ लोकक्षेत्र के बैंको (स्टेट बैंक समूह तथा 14 राष्ट्रीयकृत बैंको) द्वारा ही खोली गयी हैं। अप्रैल 1971 के अन्त मे व्यापारिक बैंको की शाखाओ की कुल सख्या 11,703 थी। जून 1969 मे औसत 65,000 जनसख्या के लिए एक शाखा थी। अप्रैल 1971 मे औसत 47,000 जनसख्या के लिए एक शाखा हो गयी है।

(2) **अधिकाश नयी शाखाएँ उन स्थानो पर खोली गयी हैं जहाँ पहले किसी भी बैंक की कोई शाखा कार्य नहीं कर रही थी।** लोकक्षेत्र के बैंको ने 70 प्रतिशत के करीब नयी शाखाएँ बैंक रहित केन्द्रो (unbanked centres) पर ही खोली हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। जुलाई 1969 मे लोकक्षेत्र के बैंको की 23 प्रतिशत शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रो म थी। अब 36 प्रतिशत के करीब शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों मे है। 1971 म बैंक-रहित केन्द्रो (मुख्यत ग्रामीण केन्द्रो) पर 1,195 नयी शाखाएँ खोलने के लक्ष्य निर्धारित किये गये।

(3) **बैंको की जमा-राशि (deposits) मे वृद्धि हुई हैं।** मई 1969 मे 14 राष्ट्रीयकृत बैंको की जमा-राशि 2513 2 करोड रुपये थी। मई 1970 तक इसमे 15 3 प्रतिशत की वृद्धि हुई और यह 2896 8 करोड रुपये हो गयी। मई 1971 के अन्त मे इन बैंको की जमा राशि 3407 9 करोड रुपये थी जो मई 1970 की जमा-राशि से 17 6 प्रतिशत अधिक थी। अनक बैंकों ने बचत खातो मे जमा-राशि को कुछ शर्तों के अन्तर्गत नि शुल्क जीवन बीमा के साथ जोडने की योजना अपनायी है।

(4) **राष्ट्रीयकरण के बाद उपेक्षित वर्गों को बैंको से प्राप्त होने वाली सहायता मे निरन्तर वृद्धि हुई है।** कृषि, लघु उद्योग, सडक परिवाहको, फुटकर व्यापार एव लघु व्यापार, व्यावसायिक एव अपने काम मे लगे (self-employed) व्यक्तियों तथा शिक्षा से सम्बन्धित ऋण-खातो (borrowal accounts) की सख्या लोकक्षेत्र के बैंको मे जून 1969 के अन्त मे 2 8 लाख थी। जून 1970 मे इन खातो की सख्या 9 2 लाख तथा मार्च 1971 मे 11 7 लाख हो गयी। इन खातो में बकाया ऋणो की राशि जून 1969 मे 438 5 करोड रुपये थी जो लोकक्षेत्र के बैंको द्वारा दिये गये कुल ऋणो (aggregate advances) का 14 5 प्रतिशत भाग थी। जून 1970 तथा मार्च 1971 में यह राशि बढकर क्रमश 760 8 करोड रुपये तथा 897 2 करोड रुपये हो गयी जो कुल ऋणो का क्रमश 21 2 तथा 22 8 भाग थी।

किसानो को प्राप्त होने वाले प्रत्यक्ष ऋणो मे विशेष रूप से उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। जून 1969 से मार्च 1971 के बीच लोकक्षेत्र के बैंको मे इस प्रकार के खातो की सख्या 1,71,880 से बढकर 7,95,745 हो गयी है। इन खातो मे बकाया रकम 38 करोड रुपये से बढकर 198 8 करोड रुपये हो गई है। जून 1969 मे इस प्रकार के ऋण इन बैंको के कुल ऋणो का 1 2 प्रतिशत भाग थे। मार्च 1971 मे इनका भाग 5 प्रतिशत हो गया। इसी काल मे लघु उद्योगो को दिये गये ऋणों का भाग भी 8 3 प्रतिशत से बढकर 11 2 प्रतिशत हो गया है।

(5) **'लीड बैंक' योजना (Lead Bank Scheme)** के अन्तर्गत लोकक्षेत्र के सभी बैंको को अलग-अलग जिले सौंपे गये हैं, जिनमे उन्हे गहन अध्ययन तथा सर्वेक्षण के द्वारा बैंकिंग विकास की स्थिति, साधनो एव सम्भावनाओ का पता लगाना है और कमियो को दूर करने के उपाय ढूंढने है। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र पर दृष्टि रखते हुए बैंको को क्षेत्रीय आर्थिक विकास के कार्यों के साथ सम्बद्ध किया गया है। 1971 के अन्त तक 200 सर्वेक्षण रिपोर्ट प्राप्त होन की आशा है।

बैंक-राष्ट्रीयकरण की उपर्युक्त उपलब्धियो के साथ-साथ कुछ असफलताएँ अथवा त्रुटियाँ भी सामने आयी है जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। ये निम्नलिखित हैं

(1) **शाखा विस्तार के बावजूद बैंकिंग विकास मे क्षेत्रीय असमानताएँ बहुत अधिक हैं।** देश मे औसत 47,000 जनसख्या के लिए एक बैंक शाखा कार्य कर रही है, परन्तु अनक राज्यो मे प्रति शाखा औसत जनसख्या बहुत अधिक है। प्रति शाखा औसत जनसख्या बिहार मे 135,000, उडीसा म 129,000, उत्तर प्रदेश मे 82,000 तथा मध्य प्रदेश म 77,000 है।

(2) **बैंको की जमा-राशि मे वृद्धि की दर असन्तोषजनक है।** राष्ट्रीयकरण के बाद प्रथम

वर्ष मे 18 जुलाई, 1969 से जुलाई 1970 के बीच जमा-राशि मे 595 39 करोड की वृद्धि हुई जबकि इसमे पिछले वर्ष मे 644 72 करोड रुपये की वृद्धि हुई थी। राष्ट्रीयकरण के दूसरे वर्ष म स्थिति मे कुछ सुधार हुआ है, परन्तु इसे सन्तोषजनक नही कहा जा सकता। बैंक शाखाओ की सख्या मे हुई विशाल वृद्धि को ध्यान मे रखते हुए बैंको की जमा-राशि मे तीव्र गति से वृद्धि होनी चाहिए थी। स्पष्ट है कि बैंको की नयी शाखाएँ पर्याप्त मात्रा मे जमा-राशियां प्राप्त करने मे अधिक सफलता नही प्राप्त कर पायी है। भारत मे कुल व्यापारिक बैंको की जमा-राशि राष्ट्रीय आय का लगभग 16 प्रतिशत भाग है, *जबकि जापान तथा अमेरिका मे यह प्रतिशत क्रमश. 69 तथा 41 है*। अनेक अल्प-विकसित देशो मे जमा-राशियो का राष्ट्रीय आय से अनुपात भारत की तुलना मे काफी ऊँचा है।

(3) ***बैंक-साख का जमा-राशि से अनुपात काफी ऊँचा रहा है।*** राष्ट्रीयकरण के बाद प्रथम वर्ष मे जमा-राशि मे हुई वृद्धि की तुलना मे बैंक-साख की राशि मे अधिक वृद्धि हुई। 18 जुलाई, 1969 को बैंक-साख की राशि 3,627 32 करोड रुपये थी जो एक वर्ष बाद जुलाई 1970 मे 4,197 68 करोड रुपये हो गयी और बढते-बढते दिसम्बर 1970 तक 4,452 46 करोड रुपये तक पहुँच गयी। परिणामस्वरूप, 1970 मे मुद्रा की पूर्ति 12 प्रतिशत बढ गयी और थोक कीमतो का निर्देशांक एक वर्ष मे लगभग 8 प्रतिशत बढ गया। इन परिस्थितियों के कारण ही जनवरी 1971 मे बैंक-दर मे एक प्रतिशत की वृद्धि की गयी। बैंक-राष्ट्रीयकरण के दूसरे वर्ष मे स्थिति मे कुछ सुधार हुआ है। एक ओर तो जमा-राशि मे वृद्धि हुई है और दूसरी ओर साख-प्रसार की मात्रा मे कमी हुई है। 4 जून, 1971 को समाप्त होने वाले एक वर्ष मे जमा-राशि मे 937 करोड रुपये की वृद्धि हुई है, जबकि बैंक-साख मे 532 69 करोड रुपये की ही वृद्धि हुई है। परन्तु अब भी साख-जमा अनुपात 77 प्रतिशत के लगभग है जिसमे और अधिक कमी की आवश्यकता है।

(4) **राष्ट्रीयकरण के बाद भी बैंको के सगठन, कार्य-प्रणाली अथवा नीति मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।** बैंक-शाखाओ का विस्तार तथा कुछ विशेष वर्गों को बैंकिंग सुविधाएँ देने का कार्य तो राष्ट्रीयकरण के बिना भी किया जा सकता था। बैंक-राष्ट्रीयकरण का मुख्य उद्देश्य जन-साधारण की अल्प-बचतो को प्राप्त करना और बैंकिंग सुविधाओ को उन तक पहुँचाना था। इन दिशाओ म अभी तक सन्तोषजनक सफलता नही मिली है। राष्ट्रीयकरण के दो वर्ष बाद भी *बैंको द्वारा दी जाने वाली सहायता का अधिकांश भाग धनी तथा समृद्ध वर्गों को प्राप्त होता है।* काश्तकार, छोटे किसान तथा कारीगर तो बैंको तक पहुँच ही नही पाते है। दूसरी ओर, शहरो म रेफ्रिजरेटर तथा वातानुकूलक जैसे विलासता के उपभोग पदार्थ खरीदने के लिए ऋण देने की व्यवस्था की गयी है। बैंको की ऋण-नीति न तो रोजगार के अवसर बढाने मे अधिक सहायक हुई है[1] और न ही दुर्बल वर्गों को पर्याप्त सहायता मिली है। विशेषक ब्याज-दरो (differential interest rates) की नीति के अन्तर्गत कुछ विशेष वर्गों को थोडी-सी रियायत दी गयी है, परन्तु विभिन्न वर्गों के दुर्बल व्यक्तियो को रियायत देने की कोई योजना नही अपनायी गयी है।[2] बैंको द्वारा नयी शाखाएँ खोलते समय भी पिछडे हुए क्षेत्रो को इतना महत्व नही दिया गया है जितना विकसित क्षेत्रो को मिला है।

निष्कर्ष

बैंको का राष्ट्रीयकरण हुए अभी दो ही वर्ष हुए हैं। इस थोडे-से समय मे इन्होंने अनेक सफलताएँ प्राप्त की है। कुछ दिशाओ मे अभी तक ये असफल भी रहे हैं। असफलताओ का मुख्य कारण यह रहा है कि बैंकिंग सेवाओ का विस्तार प्राय उन क्षेत्रो मे किया जाता रहा है जहाँ *लोगो का पहले बैंको से कोई सम्बन्ध नही था और न ही उनमे बैंको के साथ कार्य करने की आदत थी।* ग्रामीण क्षेत्रो म बढती हुई शाखाओ के लिए कुशल कर्मचारियो की व्यवस्था करना भी एक बहुत बडी समस्या थी। बैंक पुरानी ऋण-नीति पर अमल करने के आदी थे। इसे एकदम बदलने मे अनेक प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयाँ थी। जैसे-जैसे समय बीतता जायगा, बैंकिंग व्यवस्था,

---

1 अक्तूबर 1970 मे रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त की गयी एक समिति ने अनुमान लगाया है कि व्यापारिक बैंक आगामी पांच वर्षों मे तीन लाख लोगो के लिए काम उत्पन्न कर सकते हैं यदि प्रति वर्ष बैंको की प्रत्येक शाखा *एक वर्ष मे पचास बेरोजगार व्यक्तियो को सहायता दे।*

2 सितम्बर 1970 म रिजर्व बैंक द्वारा डॉ आर के हजारी की अध्यक्षता मे नियुक्त की गयी समिति ने विभिन्न वर्गों के दुर्बल व्यक्तियो को दिये जाने वाले छोटे ऋणो पर विशेषक ब्याज-दरो की सुविधा देने के सुझाव दिये हैं।

कार्य-प्रणाली तथा नीति में भी सुधार होते जायेंगे। राष्ट्रीयकरण के बाद के प्रथम वर्ष की तुलना में द्वितीय वर्ष में बैंकों का कार्य अधिक सन्तोषजनक रहा है।

देश के प्रमुख व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण सरकार द्वारा एक सही दिशा में उठाया गया कदम है। थोड़े-से लोगों के स्वार्थपूर्ण हितों की रक्षा के लिए राष्ट्र के व्यापक हितों की अवहेलना अधिक समय तक नहीं की जा सकती थी। परन्तु यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर लेने मात्र से जिम्मेदारी पूरी नहीं हो गयी। वास्तव में, नयी जिम्मेदारियाँ राष्ट्रीयकरण के बाद आरम्भ हुई हैं। राष्ट्रीयकरण कोई जादू की छड़ी नहीं है जिससे हम जो चाहें प्राप्त कर लें और न ही राष्ट्रीयकरण कर लेने से अपने आप समाजवाद की स्थापना हो जाती है। सफलता की प्राप्ति के लिए अनेक समस्याओं के हल ढूँढने होंगे। बैंकों के कार्यों, नीति, प्रबन्ध व संगठन आदि से सम्बन्धित उपयुक्त नीति निर्धारित करनी होगी। जनता की बचत को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए शाखाओं का विस्तार करना होगा। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण होगा अपने प्रति जनता का विश्वास प्राप्त करना। विश्वास प्राप्त करने के लिए कोरी बातों की आवश्यकता नहीं होती, कहने के अनुसार कार्य करके दिखाना होता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कार्य निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित हों, उन्हें कुशलतापूर्वक लागू किया जाय तथा देश में सभी वर्गों की वाजिब आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाय। निर्धारित सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप तभी दिया जा सकता है जब इनके अनुरूप निरीक्षण, संगठन व प्रबन्ध की व्यवस्था कायम की जा सके। स्पष्ट है कि निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्रीयकृत बैंकों को बहुत कुछ करना होगा। सहायता अथवा सेवा की भावना रखते हुए भी बैंकिंग सिद्धान्तों के विपरीत कार्य करना उचित नहीं होगा। व्यावसायिक संस्थाएँ होने के नाते इन्हें अपने ऋणों तथा विनियोगों की सुरक्षा का ध्यान रखना होगा। इनकी कार्यक्षमता का मूल्यांकन इनके द्वारा प्रदान की गयी सेवाओं के अतिरिक्त इनके द्वारा अर्जित लाभ की मात्रा के आधार पर किया जायगा। राष्ट्रीयकृत बैंक अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफल होंगे, अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु इतना तो स्पष्ट दिखाई देता है कि सफलता प्राप्त करने के लिए इन्हें बहुत कुछ करना होगा।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. **भारत में व्यापारिक बैंकों के कार्यों का वर्णन कीजिए। 'अनुसूचित' तथा 'गैर-अनुसूचित' बैंकों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।**

   [संकेत . साधारण बैंकिंग कार्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए और यह बताइए कि भारत में व्यापारिक बैंक सामान्यतः इन सभी कार्यों को करते हैं। दूसरे भाग में यह बताइए कि अनुसूचित तथा गैर-अनुसूचित बैंकों में अन्तर भारत में व्यापारिक बैंकों के रिजर्व बैंक के साथ सम्बन्धों पर आधारित है। उनकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।]

2. **जुलाई 1969 में प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पूर्व भारतीय बैंकों की स्थिति तथा प्रवृत्तियों की विवेचना कीजिए।**

   [संकेत सन् 1969 से पूर्व व्यापारिक बैंकों के विकास की गति व प्रवृत्ति का आवश्यक आँकड़ों पर आधारित विवरण दीजिए। भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दोषों का भी उल्लेख कीजिए।]

3. **जुलाई 1969 में प्रमुख व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया? क्या आप इसे एक सही कदम मानते हैं?**

   [संकेत . राष्ट्रीयकरण के सैद्धान्तिक तथा बैंकिंग व्यवस्था के दोषों से सम्बन्धित कारणों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। राष्ट्रीयकरण के उद्देश्यों के आधार पर यह स्पष्ट कीजिए कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण एक सही कदम है और इसका विरोध करना गलत है।]

4. **चौदह प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण का भारतीय बैंकिंग व्यवस्था पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए। इसके विपक्ष में दिये गये तर्क कहाँ तक सही हैं?**

   [संकेत . राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था तथा राष्ट्रीयकृत बैंकों के परिचय के आधार पर यह विस्तारपूर्वक समझाइए कि देश में अधिकांश बैंकिंग व्यवसाय सरकार के अधिकार में आ गया है। दूसरे भाग में राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध प्रकट की गयी आशंकाओं की जाँच कीजिए और यह बताइए कि ये निराधार हैं। राष्ट्रीयकरण एक सही दिशा में उठाया गया कदम है, परन्तु इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि इसके द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति कहाँ तक सम्भव हो पाती है।]

5. **"बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक नहीं था, इन पर सामाजिक नियन्त्रण ही पर्याप्त था।" व्याख्या कीजिए।**

   [संकेत भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दोषों के आधार पर यह स्पष्ट कीजिए कि सामाजिक नियन्त्रण की नीति प्रभावपूर्ण होने की आशा नहीं की जा सकती थी। यह एक अपर्याप्त व्यवस्था थी, इसीलिए बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना पड़ा।]

32

विनिमय बैंक

[EXCHANGE BANKS]

विनिमय बैंको से अभिप्राय उन बैंको से है जो विदेशी विनिमय का लेन-देन करते है तथा विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन करते हैं। वास्तव मे, विदेशी विनिमय का लेन-देन करना व्यापारिक बैंको का ही कार्य है। परन्तु भारत मे यह व्यवसाय मुख्य रूप से कुछ विदेशी बैंको की भारत मे स्थित शाखाओ द्वारा ही किया जाता रहा है। गत वर्षों म कुछ भारतीय व्यापारिक बैंको ने भी विदेशो मे अपनी शाखाएँ खोली है और वे विदेशी विनिमय का लेन-देन करने लगे है। किन्तु देश मे अधिकांश व्यापारिक बैंक यह कार्य नही कर पाते और यह व्यवसाय अधिकतर विदेशी बैंको के ही हाथ म है। अतएव विदेशी विनिमय का व्यापार करने वाले बैंको का अलग से अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

विनिमय बैंको के कार्य

विनिमय बैंक कोई विशेष प्रकार के बैंक नहीं हैं। व्यापारिक बैंको के अन्य कार्यो के साथ-साथ विदेशी विनिमय के व्यापार से सम्बन्धित विशिष्ट कार्य करने के कारण इन बैंको को भारत मे 'विदेशी विनिमय बैंक' अथवा 'विनिमय बैंक' कहा जाता है। इनके साधारण बैंकिंग सम्बन्धी कार्यो—जैसे, जमा लेना, ऋण देना, धन का स्थानान्तरण करना तथा एजेन्सी के कार्य करना—का अध्ययन न करके हम उनके विशिष्ट कार्यो का ही अध्ययन करेंगे।

(1) **विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन**—विनिमय बैंक विदेशी व्यापार के दोनो पहलुओं—निर्यात तथा आयात—से सम्बन्धित आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं।

मान लीजिए, भारत का व्यापारी इगलैण्ड के किसी व्यापारी को माल निर्यात करता है और उससे सम्बन्धित जहाजी बिल्टी व अन्य अधिकार-पत्र प्राप्त कर लेता है। इसके बाद भारतीय व्यापारी इगलैण्ड के व्यापारी के नाम अथवा उसके बैंक के नाम विनिमय बिल (Bill of Exchange) लिखता है। यह बिल दो प्रकार का हो सकता है। प्रथम, स्वीकृति पर देय प्रलेख (Documents against Acceptance—D/A), जिसकी स्वीकृति हो जाने पर उसके साथ नत्थी अधिकार-पत्र दे दिये जाते हैं। दूसरे, भुगतान पर देय प्रलेख (Documents against Payments—D/P), जिससे सम्बन्धित अधिकार-पत्र भुगतान प्राप्त कर लेने पर ही दिये जाते है। भारतीय निर्यातकर्ता अधिकतर पहली प्रकार के बिल लिखता है तथा इनकी अवधि साधारणत तीन माह होती है। *यदि भारतीय व्यापारी इसका भुगतान अवधि पूर्ण होने के पूर्व चाहता है* तो वह इस बिल को किसी विनिमय बैंक से भुना लेता है। विनिमय बैंक द्वारा बिल का भुगतान भारत मे ही रुपयो मे कर दिया जाता है। विनिमय बैंक द्वारा यह बिल लन्दन के मुद्रा-बाजार मे फिर से भुनाया (rediscount) जा सकता है अथवा इसकी अवधि पूरी होने पर आयातकर्ता अथवा उसके बैंक से इसका भुगतान प्राप्त किया जा

सकता है। विनिमय बैंक द्वारा इस प्रकार प्राप्त की गयी विदेशी मुद्रा रिजर्व बैंक को बेचकर रुपये प्राप्त कर लिये जाते हैं। स्पष्ट है कि विनिमय बैंकों की सहायता से निर्यातकर्ता को माल का भुगतान शीघ्र मिल जाता है, विदेशी आयातकर्ता को निश्चित अवधि के लिए ऋण मिल जाता है तथा बैंकों को अपने कार्य के लिए कमीशन प्राप्त होता है।

जिस प्रकार भारत से माल निर्यात करने में विनिमय बैंकों से सहायता मिलती है उसी प्रकार माल आयात करने में भी वे बिल स्वीकार कर अथवा तत्काल भुगतान द्वारा सहायक होते हैं। यदि भारतीय आयातकर्ता का कोई कार्यालय लन्दन में भी है, तो लन्दन में निर्यातकर्ता अपने बिल पर स्वीकृति आयातकर्ता के लन्दन स्थित कार्यालय से ले लेता है। इस बिल को लन्दन के मुद्रा-बाजार में भुनाकर निर्यातकर्ता भुगतान प्राप्त कर लेता है। लन्दन का बैंक बिल से सम्बन्धित जहाजी बिल्टी, बीमा पॉलिसी व बीजक आदि प्रलेख भारत स्थित अपनी शाखा अथवा किसी अन्य बैंक को भेजकर आयातकर्ता को माल दिला देता है। भारत स्थित बैंक बिल की राशि वसूल करके लन्दन के बैंक के पास भेज देता है। भारतीय आयातकर्ता का लन्दन में कोई कार्यालय न होने की दशा में निर्यातकर्ता भारतीय व्यापारी पर बिल लिखकर उसके साथ जहाजी रसीद आदि नत्थी करके लन्दन के किसी बैंक को बेच देता है। यह बैंक निर्यातकर्ता के माल पर अधिकार प्राप्त करके उसे तुरन्त भुगतान कर देता है। लन्दन का बैंक अब विनिमय बिल तथा उससे सम्बन्धित अधिकार पत्र भारत स्थित विनिमय बैंक को भेज देता है। यदि बिल 'स्वीकृति बिल' (D/A) है तो बैंक को तुरन्त रकम मिल जाती है और यदि 'भुगतान बिल' (D/P) है तो निश्चित अवधि समाप्त होने पर रकम मिल जाती है। जब तक भुगतान नहीं हो जाता तब तक के लिए बैंक आयातकर्ता से ट्रस्ट-रसीद (Trust Receipt) लिखवाकर माल पर अपना अधिकार रखता है।

इस प्रकार, विनिमय बैंकों की सहायता से विदेशी व्यापार के भुगतान की समस्या सरलतापूर्वक हल हो जाती है। विनिमय बैंक विभिन्न देशों में धन भेजने के लिए विनिमय बिलों के अतिरिक्त चैक, ड्राफ्ट, तार की हुण्डियों (Telegraphic Transfer—T/T) आदि का प्रयोग करते हैं।

रिजर्व बैंक द्वारा विनिमय-नियन्त्रण के लागू किये जाने से विनिमय बैंकों को विदेशी विनिमय का व्यवसाय करने के लिए अधिकृत व्यापारी बना दिया गया है, किन्तु अब विदेशी विनिमय सम्बन्धी सभी कार्यों पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण है। देश में आयातों पर कड़े नियन्त्रण हैं तथा निर्यात व्यापार के विस्तृत नियमन तथा विनिमय-नियन्त्रण की नीति के फलस्वरूप विदेशी व्यापार के लिए अनियमित वित्त की व्यवस्था बहुत कुछ समाप्त हो चुकी है।

(2) आन्तरिक व्यापार में सहायता—विनिमय बैंकों का कार्य भारतीय बन्दरगाहों से माल दूसरे देशों तक पहुँचने से सम्बन्धित आर्थिक सहायता प्रदान करने तक ही सीमित नहीं है, ये बैंक देश के आन्तरिक व्यापार में भी आर्थिक सहायता देते हैं। विशेष रूप से ये बैंक देश में निर्यात के लिए माल एकत्र करने वाले केन्द्रों से बन्दरगाहों तक माल लाने व आयात किये गये माल को बन्दरगाहों से आन्तरिक नगरों या व्यापारिक केन्द्रों तक ले जाने के लिए वित्त की व्यवस्था करते हैं। इसके लिए इन्होंने आन्तरिक व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण नगरों में अपनी शाखाएँ खोल रखी हैं। देश के आन्तरिक व्यापार में हिस्सा लेने से व्यापारिक बैंकों के हाथ से बन्दरगाहों और आन्तरिक भागों के बीच के व्यापार का एक बड़ा भाग छिन जाता है, परन्तु इससे आयात व निर्यातकर्ताओं को सुविधा होती है। आन्तरिक व्यापार के उन क्षेत्रों को भी इन बैंकों से आर्थिक सहायता प्राप्त होती है जिनका व्यापार से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ, कानपुर के चमड़े का व्यापार तथा बंगाल का जूट व्यापार इन बैंकों से काफी आर्थिक सहायता प्राप्त करता है। अनुमानतः ये बैंक अपनी कुल पूँजी का $\frac{1}{6}$ भाग आन्तरिक व्यापार में ही लगाते हैं।

(3) विनिमय बिलों का क्रय-विक्रय—विनिमय बिलों का क्रय विक्रय विनिमय बैंकों का मुख्य व्यवसाय है। ये बैंक देशी एवं विदेशी दोनों प्रकार के विनिमय बिलों का लेन-देन करते हैं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, विदेशी बिलों के क्रय विक्रय द्वारा ही ये बैंक विदेशी व्यापार में सहायता देते हैं। निर्धारित नियमों व प्रतिबन्धों के अनुसार, आवश्यकता पड़ने पर, ये बैंक अपने विदेशी बिलों का निश्चित दर पर रिजर्व बैंक से क्रय विक्रय कर सकते हैं।

(4) अन्य विशिष्ट कार्य—विदेशी व्यापार के लिए वित्त की व्यवस्था व भुगतान का प्रबन्ध करने के अतिरिक्त, विनिमय बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व सहयोग बढ़ाने में भी सहायक होते हैं। विदेशी व्यापारियों की आर्थिक स्थिति की सूचना भारतीय व्यापारियों को और भारतीय व्या-

पारियों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना विदेशी व्यापारियों को देकर ये बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में महत्वपूर्ण योग देते हैं। विदेशी विनिमय बैंक अपने देश से पूंजी आयात कर भारतीय उद्योग तथा व्यवसाय को उपलब्ध कराते हैं। विदेशों में भ्रमण करने वालों अथवा शिक्षा या चिकित्सा के लिए जाने वालों को ये बैंक विदेशी मुद्राएँ उपलब्ध कराते हैं।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त विनिमय बैंक अन्य सभी प्रकार के बैंकिंग सम्बन्धी कार्य भी करते हैं। इनकी आर्थिक दृढता व कार्यकुशलता के कारण इनकी प्रतिष्ठा सामान्यत बहुत अच्छी है। भारतीय मुद्रा बाजार में ये बैंक व्यापारिक बैंकों के साथ साधारण बैंकिंग के क्षेत्र में प्रतियोगिता कर रहे हैं। ये सब अनुसूचित बैंक हैं और इनके पास विशाल साधन हैं। राष्ट्रीयकृत बैंकिंग क्षेत्र के बाहर 60 प्रतिशत से अधिक बैंकिंग व्यवसाय विदेशी बैंकों के हाथ में ही है।

विनिमय बैंकों की वर्तमान स्थिति

भारत में विनिमय बैंकों का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में हुआ। आरम्भ से ही ब्रिटिश सरकार ने विदेशी बैंकों को भारत में अपनी शाखाएँ खोलने की पूर्ण सुविधाएँ प्रदान की थी। सरकार का सरक्षण पाकर विदेशी विनिमय बैंकों ने अपनी आर्थिक स्थिति काफी दृढ कर ली और विदेशी व्यापार की वित्तीय व्यवस्था के क्षेत्र में पूर्ण एकाधिकार प्राप्त कर लिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारतीय बैंकों ने समय-समय पर विदेशी विनिमय व्यवसाय में प्रवेश करने के लिए प्रयत्न किये, परन्तु सफल न हो सके। विदेशों में शाखाएँ स्थापित करने व विदेशी विनिमय व्यवसाय करने के लिए न तो भारतीय बैंकों के पास पर्याप्त पूंजी थी और न ही उनके पास अधिक कुशल और अनुभवी कर्मचारी थे। विदेशों में भारतीय बैंक वहां के बैंकों की तुलना में पर्याप्त जमा और व्यापार भी प्राप्त नहीं कर सकते थे। इसके विपरीत, भारत का विदेशी व्यापार मुख्यत विदेशियों के हाथों में था जो विदेशी बैंकों को प्रधानता देते थे। इनमें भारतीय व्यापारियों का भी विश्वास अधिक था। परिणामस्वरूप, भारतीय बैंकों द्वारा विदेशी बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा करने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सन् 1949 के बैंकिंग अधिनियम द्वारा विदेशी विनिमय बैंकों पर कुछ नियन्त्रण स्थापित किये गये। भारतीय व्यापारिक बैंकों ने भी विदेशों में अपनी शाखाएँ खोली तथा प्रतिनिधि नियुक्त किये। भारत के कुछ बड़े बैंक, मुख्यत स्टेट बैंक, बैंक ऑफ इण्डिया, सेन्ट्रल बैंक पजाब नेशनल बैंक, बैंक ऑफ बड़ौदा, यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, इलाहाबाद बैंक आदि विदेशी विनिमय व्यवसाय में हिस्सा लेने लगे हैं। इससे विदेशी विनिमय बैंकों का एकाधिकार समाप्त हो गया है। इस प्रकार, भारत में दो प्रकार के विनिमय बैंक कार्य कर रहे हैं (1) विदेशी बैंकों की शाखाएँ तथा (2) भारतीय व्यापारिक बैंक (जो राष्ट्रीयकृत क्षेत्र में आ गये हैं)।

वास्तविकता यह है कि विदेशी विनिमय बैंक अभी तक विदेशी विनिमय व्यवसाय के क्षेत्र में अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनका विस्तार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का है और उनकी आर्थिक स्थिति काफी दृढ है। विदेशी व्यापार की वित्तीय व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहायता की प्राप्ति से सम्बन्धित उनसे हमें अनेक विशिष्ट सेवाएँ प्राप्त होती हैं, जो काफी महत्वपूर्ण हैं। भारतीय बैंक उनकी तुलना में बहुत पिछड़े हुए हैं और अपने देश में भी उनका स्थान ग्रहण करने में काफी समय लग सकता है। देश की बैंकिंग व्यवस्था में विदेशी बैंकों के विशेष महत्व के कारण ही उनका राष्ट्रीयकरण नहीं किया गया है, जबकि उनमें से कुछ के निक्षेप 50 करोड़ से काफी अधिक हैं। प्रधान मन्त्री ने स्पष्ट शब्दों में इनके महत्वपूर्ण स्थान की व्याख्या की है।[1]

---

1 'Foreign banks are part of a world wide organisation and this enables them to give certain special facilities and services to exporters For this type of service Indian banks do not have adequate net work of branches abroad. Foreign banks have an intimate knowledge of parties in other countries on whom export bills are drawn by Indian customers Foreign banks thus have a distinctive part to play in advancing foreign currency loans and administering them on behalf of their parent office, rendering service to tourists and in the spreading of information about business opportunities in India and in other countries in which they operate
—Prime Minister s Speech in the Lok Sabha during the debate on the Bank Nationalisation Bill on July 29, 1969

भारत में कुल 15 विदेशी बैंक कार्य कर रहे हैं। इन बैंकों में से 5 ब्रिटिश, 3 अमेरिकन, 2 जापानी, 2 पाकिस्तानी तथा शेष 3 हांगकांग, नीदरलैंड्स और फ्रांस के बैंक हैं। भारत में स्थित विदेशी बैंकों में ब्रिटिश बैंकों का प्रभुत्व है। जून 1970 के अन्त में भारत में विदेशी बैंकों की शाखाओं की संख्या 131 थी। इनमें से अधिकांश शाखाएँ बन्दरगाह केन्द्रों में हैं। विदेशी बैंकों द्वारा भारत में किये गये कुल व्यवसाय का विवरण निम्न तालिका से व्यक्त होता है

विदेशी बैंकों का भारत में व्यवसाय (करोड़ रुपयों में)

	1960-61	'65-66	'66-67	'67-68	'68-69	'69-70	'70-71
1 कुल जमा	217.85	349.42	375.68	403.03	444.86	491.39	552.03
2 बैंक-साख	233.95	281.54	325.75	350.49	387.95	410.32	463.43
कुल जमा का प्रतिशत अनुपात	107.39	80.57	86.71	86.96	87.21	83.50	83.95
3 सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग	40.46	94.27	100.66	107.71	111.64	126.10	152.66
कुल जमा का प्रतिशत अनुपात	18.57	26.98	26.79	27.73	25.10	25.66	27.65

उपर्युक्त तालिका में दिये गये आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि भारत में विदेशी बैंकों की कुल जमा तथा साख में निरन्तर वृद्धि हुई है। उनके द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग की राशि तथा उनकी कुल जमा के अनुपात में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। विदेशी बैंकों का भारत में व्यवसाय देखने से पता चलता है कि उनके द्वारा दिये गये ऋण तथा विनियोग की राशि उनकी जमा-राशि से अधिक रही है। जमा-साख अनुपात में पहले की अपेक्षा कमी हुई है, परन्तु जमा विनियोग अनुपात बढ़ गया है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि विदेशी बैंकों ने भारत में ऋण देने तथा विनियोग करने के लिए अपने केन्द्रीय कार्यालय अथवा अन्य विदेशी शाखाओं से वित्तीय साधन प्राप्त किये हैं। इससे देश के आर्थिक विकास में सहयोग मिला है। देश में प्रमुख व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर लेने के बाद अनुमान है कि निजी क्षेत्र के बैंकिंग व्यवसाय में कुल जमा का 3/5 तथा कुल बैंक-साख का 2/3 भाग विदेशी बैंकों के अधिकार में रहेगा।

विदेशी विनिमय बैंकों की आलोचना

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक बैंकिंग प्रणाली को देश में विकसित करने में विदेशी बैंकों ने महत्वपूर्ण योग दिया है। भारतीय मुद्रा-बाजार का विदेशी मुद्रा-बाजार के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है और विदेशी व्यापार के विकास में सहयोग दिया है। फिर भी इनकी दोषपूर्ण व्यावसायिक नीति व कार्यप्रणाली के कारण इनकी देश में बहुत आलोचना की जाती है। सन् 1949 के बैंकिंग विधान के लागू होने के पूर्व ये बैंक भारतीय कानूनों के बन्धन से पूर्णतया मुक्त थे और अपने मनमाने ढंग से कार्य करते थे। अब इन पर अनेक नियन्त्रण लगाये गये हैं। इन बैंकों की निरंकुशता में कमी आई है। विदेशी विनिमय व्यापार में भारतीय बैंकों का महत्व बढ़ने के कारण विदेशी बैंकों का प्रभुत्व कम हुआ है और उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। यह सब होते हुए भी इनका कार्य आलोचना से रहित नहीं है। इनके विरुद्ध मुख्य शिकायतें निम्नलिखित हैं

(1) **विदेशों को लाभ**—बैंकिंग प्रणाली का एक बड़ा लाभदायक अंश विदेशी बैंकों के हाथ में है जिसके कारण भारत को प्रति वर्ष ब्याज तथा कमीशन आदि के रूप में एक बहुत बड़ी राशि इन बैंकों को देनी पड़ती है, जिसमें से अधिकांश धन विदेशों को चला जाता है। ये बैंक भारत में एकत्रित जमा-पूँजी से विदेशी कम्पनियों के शेयर्स तथा बिल आदि क्रय करने का कार्य करते हैं। इससे भारत में जमा की गयी पूँजी का लाभ विदेशी उद्योगों को होता है।

(2) **पक्षपातपूर्ण व्यवहार**—इन बैंकों के विरुद्ध यह शिकायत रही है कि ये भारत में विदेशी व्यापारियों को भारतीय व्यापारियों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ देते हैं। विदेशी व्यापारियों को ये स्वीकृति बिलों (D/A) के आधार पर आयात करने की सुविधाएँ देते रहे हैं, जबकि भार-

तीय आयातकर्ताओं को अधिकांशत भुगतान बिलों (D/P) पर ही माल मँगाना पड़ता है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारतीय व्यापारियों की आर्थिक व व्यावसायिक स्थिति के सम्बन्ध में ये विदेशी में अनुकूल सूचनाएँ नहीं देते हैं। अन्य सुविधाओं के सम्बन्ध में भी भारतीय व्यापारियों के साथ विदेशियों की तुलना में ये कई प्रकार से भेद-भाव करते हैं। ये बैंक उच्च पदों पर अधिकतर विदेशियों को ही रखते रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों से ही सरकारी दबाव के कारण भारतीयकरण करना आरम्भ किया गया है।

(3) **विदेशी संस्थाओं का प्रचार**—ये बैंक विदेशी व्यापार में सहायक भारतीय बीमा कम्पनियों, जहाजी कम्पनियों, दलालों आदि को प्रोत्साहन नहीं देते, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय व्यापारियों पर दबाव डालते हैं कि वे विदेशी कम्पनियों की ही सेवाओं को प्राथमिकता दें।

(4) **भारतीय बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा**—यह हम देख चुके हैं कि विदेशी विनिमय बैंक साधारण बैंकिंग के कार्य भी करते है। इस प्रकार इन्होंने देश के आन्तरिक व्यापार में भी भारतीय बैंकों से स्पर्द्धा की है। प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद अब यह आशंका प्रकट की जाने लगी है कि देश के बड़े व्यापारियों को विदेशी बैंक अपनी ओर खींचने के प्रयास करेंगे जिससे भारतीय बैंकों का व्यवसाय प्रभावित हो सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की तुलना में विदेशी बैंकों की जमा-राशि में अधिक तेजी से वृद्धि हो रही है।

(5) **अपर्याप्त नकद-कोष**—विदेशी बैंक अपनी जमा-राशि का केवल $4\frac{1}{2}$ प्रतिशत के लगभग ही नकद-कोष के रूप में अपने पास रखते हैं। इस प्रकार इनका व्यवसाय इनकी साख व प्रतिष्ठा के आधार पर चलता है, न कि इनकी वास्तविक दृढ़ता पर। कम नकद-कोष रखकर ये बैंक अपने लाभ में काफी वृद्धि कर लेते हैं।

(6) **साख-नियन्त्रण में कठिनाई**—साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से रिजर्व बैंक द्वारा विदेशी बैंकों पर भी नियन्त्रण लगाये गये हैं। परन्तु व्यावहारिक रूप में इन नियन्त्रणों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। विदेशों में स्थित अपने प्रमुख कार्यालयों से आवश्यकता पड़ने पर ये अतिरिक्त साधन प्राप्त कर सकते हैं।

विदेशी बैंकों पर कानूनी प्रतिबन्ध

बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 के द्वारा भारत में विदेशी बैंकों पर मुख्यत ये प्रतिबन्ध लगाये गये हैं

(1) अधिनियम की धारा 11 (2) के अनुसार प्रत्येक विदेशी बैंक को भारत में कार्यालय रखने के लिए चुकता पूंजी तथा आरक्षित कोष के रूप में कम से कम 15 लाख रुपये की राशि रिजर्व बैंक के पास रखनी होगी। यदि इसका कार्यालय बम्बई अथवा कलकत्ता में हो तो यह राशि 20 लाख रुपये से कम नहीं होनी चाहिए।

(2) धारा 11 (4) के अनुसार विदेशी बैंकों के फेल होने पर उनकी रिजर्व बैंक के यहाँ जमा धन-राशि पर प्रथम दावा भारतीय जमाकर्ताओं का होगा।

(3) धारा 22 के अनुसार प्रत्येक विदेशी बैंक को भारत में व्यवसाय प्रारम्भ करने अथवा शाखा खोलने के लिए रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त करना पड़ता है। रिजर्व बैंक को यह अधिकार प्राप्त है कि किसी बैंक द्वारा राष्ट्र-विरोधी अथवा जमाकर्ताओं के हितों के विरुद्ध कार्य करने पर उसे भारत में अपना कारोबार बन्द करने का आदेश दे दे।

(4) धारा 25 (1) के अनुसार प्रत्येक विदेशी बैंक के लिए यह अनिवार्य है कि वह भारत में प्राप्त की गयी कुल जमा-राशि का कम से कम 75 प्रतिशत भारत में ही रखे अथवा विनियोग करे।

(5) अधिनियम की धारा 29 और 30 के अनुसार, विदेशी बैंकों द्वारा अपने भारतीय कारोबार का विवरण, अंकेक्षण (audit) रिपोर्ट सहित, रिजर्व बैंक के पास भेजना अनिवार्य है।

(6) धारा 33 के अनुसार विदेशी विनिमय बैंकों के लाभ-हानि खाते व स्थिति-विवरण का सर्वसाधारण के हितार्थ प्रकाशन करना आवश्यक है।

(7) धारा 35 के अनुसार रिजर्व बैंक आवश्यकतानुसार किसी भी बैंक का निरीक्षण करके उसे उचित निर्देश या आदेश दे सकता है।

(8) सन् 1962 में अधिनियम में किये गये संशोधन के अनुसार विदेशी बैंकों को भी अपनी कुल जमा राशि का कम से कम 3 प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है।

सन 1968 में लागू की गयी सामाजिक नियन्त्रण की योजना के अनुसार प्रत्येक विदेशी बैंक से कहा गया है कि वह एक सलाहकार बोर्ड (Advisory Board) की नियुक्ति करे जिसके सभी सदस्य भारतीय हों। प्रत्येक बैंक अपनी ऋण-नीति निश्चित करने व उसे संचालित करने में इस सलाहकार बोर्ड की सलाह के अनुसार कार्य करेगा।

विदेशी विनिमय बैंकों पर लगाये गये प्रतिबन्धों का प्रभाव यह हुआ है कि ये रिजर्व बैंक के नियन्त्रण में आ गये हैं। इनके विस्तार को सीमित करने के लिए यह नियम बनाया गया है कि इनको केवल बन्दरगाह केन्द्रों में ही शाखाएँ खोलने की अनुमति दी जायगी। देश के आन्तरिक केन्द्रों में इनकी पुरानी शाखाएँ तो कार्य कर रही हैं, परन्तु नयी शाखाएँ खोलने की साधारणतया अनुमति नहीं दी जाती है। प्रधान मन्त्री ने स्पष्ट रूप से कहा है कि रिजर्व बैंक विदेशी बैंकों के विस्तार की अनुमति तभी देगा जब इसे विदेशी व्यापार अथवा पर्यटन सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए आवश्यक समझा जायगा।

प्रमुख व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद विदेशी बैंकों पर कठोर नियन्त्रण रखना और भी अधिक आवश्यक हो गया है। इन बैंकों का भले ही राष्ट्रीयकरण न किया जाय परन्तु इन पर इस प्रकार का नियन्त्रण रखना अति आवश्यक होगा कि ये कम से कम आन्तरिक व्यापार के क्षेत्र में, व्यापारिक बैंकों के साथ अनावश्यक स्पर्द्धा न कर सकें। यदि आवश्यक समझा जाय तो इन बैंकों द्वारा भारत में जमा प्राप्त करने की उच्चतम सीमाएँ निर्धारित कर दी जाय। यदि राष्ट्रीयकृत बैंक ठीक ढंग से कार्य करेंगे तो उन्हें विदेशी बैंकों से प्रतियोगिता का कोई भय नहीं रहेगा। विदेशी विनिमय व्यवसाय के लिए राष्ट्रीयकृत बैंकों के सामूहिक प्रयत्न द्वारा एक भारतीय विदेशी विनिमय बैंक (Indian Foreign Exchange Bank) की स्थापना के सुझाव पर विचार किया जा सकता है। इस प्रकार का एक साधन एवं शक्ति-सम्पन्न बैंक विदेशों में शाखाएँ खोल कर बड़े विदेशी बैंकों से उचित रूप में स्पर्द्धा कर सकेगा और भारत का अधिकांश विदेशी विनिमय व्यापार अपने हाथ में ले सकेगा। हमें न केवल विदेशी बैंकों की शक्ति नियन्त्रित करने की बात सोचनी है, बल्कि अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए भी प्रयास करने हैं।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 विदेशी विनिमय बैंकों के कार्य तथा महत्त्व समझाकर लिखिए।

[संकेत विदेशी विनिमय बैंकों के कार्य विस्तारपूर्वक समझाइए। दूसरे भाग में यह स्पष्ट कीजिए कि इनका भारतीय बैंक व्यवस्था में क्या स्थान है और ये किस प्रकार अपने विशिष्ट क्षेत्र में भारतीय अर्थ-व्यवस्था के लिए उपयोगी हैं।]

2 विदेशी विनिमय बैंकों पर क्या आरोप लगाये जाते हैं? बैंकिंग विधान के अन्तर्गत इन पर क्या-क्या प्रतिबन्ध लगाये गये हैं?

[संकेत प्रथम भाग में विदेशी विनिमय बैंकों की आलोचना कीजिए। दूसरे भाग में इन पर लगाये गये प्रतिबन्धों का उल्लेख कीजिए।]

3 विदेशी विनिमय बैंकों का राष्ट्रीयकरण क्यों नहीं किया गया है? इनसे सम्बन्धित कौन-सी नीति अपनाना उचित होगा?

[संकेत विनिमय बैंकों के विशिष्ट कार्यों तथा उनको पूरा करने के लिए उनकी विशेष स्थिति का वर्णन कीजिए। यह स्पष्ट कीजिए कि व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया है, जिनका विदेशी बैंकों से अधिक सम्बन्ध नहीं है। भविष्य में विदेशी बैंकों पर इस प्रकार के नियन्त्रण कठोरतापूर्वक लागू करने होंगे कि वे आन्तरिक व्यापार के क्षेत्र में भारतीय बैंकों से अनावश्यक स्पर्द्धा न कर सकें। विदेशी विनिमय व्यापार के लिए हमें अपनी शक्ति व साधन बढ़ाने होंगे।]

33

कृषि-वित्त

[AGRICULTURAL FINANCE]

कृषि भारतीय अर्थ-व्यवस्था का मुख्य अंग है। देश के आर्थिक विकास की योजनाओं में कृषि-विकास के कार्यक्रमों को सर्वाधिक प्राथमिकता देना अत्यन्त आवश्यक है। कृषि-विकास सम्बन्धी कार्यों को पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्रा में वित्त चाहिए। कृषि के पिछड़ेपन तथा कृषि व्यवसाय की अनिश्चितता के कारण किसान के निजी साधन बहुत कम हैं। इसलिए अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार करने के लिए किसान द्वारा साख की मांग निरन्तर बनी रहती है। बहुत बड़ी संख्या में ऐसे किसान भी हैं जिन्हें अपनी आर्थिक स्थिति में स्थिरता बनाये रखने के लिए साख की आवश्यकता होती है। ठीक समय पर और उचित मात्रा में साख उपलब्ध न होने पर किसान के लिए एक कठिन समस्या उत्पन्न हो जाती है। स्पष्ट है कि कृषि के लिए पर्याप्त मात्रा में उचित प्रकार की साख की व्यवस्था करना अनिवार्य है।

कृषि-वित्त का स्वरूप

कृषि-वित्त का स्वरूप व्यापारिक अथवा औद्योगिक वित्त के स्वरूप से काफी भिन्न है। कृषि-व्यवसाय के स्वभाव तथा कृषि की समस्याओं के कारण किसानों का संगठित मुद्रा-बाजार (अर्थात् व्यापारिक बैंक) से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना कठिन हो जाता है। वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसान को प्राय ऐसे साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है जो उसके लिए अधिक उपयुक्त नहीं होते। वास्तव में, किसी भी व्यवसाय को चलाने के लिए ऋण लेना आपत्तिजनक नहीं है। यदि ऋण का उद्देश्य उत्पादन में वृद्धि करना है तो इसे एक प्रकार से आवश्यक विनियोग माना जायगा और इसका अर्थ-व्यवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। किन्तु ऋण का अनुत्पादक तथा अनावश्यक कार्यों के लिए दुरुपयोग करना आगे चलकर विपत्ति का कारण बन जाता है। दुर्भाग्यवश भारतीय किसान शादी, मृत्यु, मुकदमेबाजी आदि अनुत्पादक कार्यों के लिए तथा उपभोग पर व्यय करने के लिए ऊँची ब्याज-दर पर बहुत बड़ी मात्रा में ऋण लेता है। इस प्रकार, कृषि-साख की वास्तविक समस्या ऋण की विधि, उसके सम्बन्ध में अनियमितताओं तथा उसकी दुरुपयोगपूर्ण अथवा अनुत्पादक व्यय-विधि से सम्बन्धित है।

अखिल भारतीय ग्रामीण सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) ने सन् 1954 में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में लिखा था, "आजकल जिस प्रकार की कृषि-साख उपलब्ध है वह सही मात्रा से कहीं कम है, सही प्रकार की नहीं है, सही उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती और कसौटी के सन्दर्भ में प्राय सही व्यक्ति तक नहीं पहुँच पाती है।"[1] तब से अब तक कृषि-वित्त-व्यवस्था में सुधार के लिए अनेक उपाय किये गये हैं, परन्तु स्थिति लगभग वैसी ही बनी हुई है। कृषि के विकास की

1 "Today the agricultural credit that is supplied falls short of the right quality, is not of right type, does not serve the right purpose, and by the criterion of need often fails to go to the right people"—*All India Rural Credit Survey*.

आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए किसानो को बडी मात्रा म ऋण चाहिए । यह ऋण उपयोगी तभी हो सकता है जब यह पर्याप्त मात्रा मे, उपयुक्त समय पर और सस्ती ब्याज-दर पर उपलब्ध हो सके। इस प्रकार के ऋणो को केवल बडे किसानो तक ही सीमित न रखा जाय, बल्कि छोटे किसानो तक भी पहुँचाया जाय।

समय के आधार पर, किसानो को तीन प्रकार के ऋणो की आवश्यकता होती है

(1) **अल्पकालीन या मौसमी साख**—कृषि के चालू व्यय, फसल बोने से लेकर कटने तक का व्यय, किसान के घरेलू व्यय आदि को चलाने के लिए अल्पकालीन साख की आवश्यकता होती है। इसकी अवधि 15 माह से अधिक नहीं होती है। इनकी राशि अधिक नहीं होती और प्राय फसल बिकने पर इसे चुका दिया जाता है।

(2) **मध्यकालीन साख**—पशु व यन्त्र खरीदने, सिंचाई की व्यवस्था करने, खेती म अस्थायी प्रकृति के सुधार आदि करने के लिए 15 माह से 5 वर्ष तक की अवधि के ऋण मध्यकालीन कहलाते हैं। इस प्रकार के ऋण अल्पकालीन ऋणो की अपेक्षा बडे होते हैं।

(3) **दीर्घकालीन साख**—जमीन या कीमती यन्त्र (ट्रैक्टर आदि) खरीदने, जमीन की चकबन्दी या उसम कोई स्थायी सुधार करने, ऋणो को चुकाने आदि कार्यों के लिए दीर्घकालीन ऋण लिये जाते हैं। इनकी अवधि 5 वर्ष से अधिक होती है और इनको किस्तो में लौटाया जाता है।

कृषि-साख उचित, उपयुक्त तथा पर्याप्त तभी होगी जब अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन साख की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उचित व्यवस्था हो।

कृषि-साख का आकार एवं स्रोत

भारत में कृषि-साख के आकार से सम्बन्धित समय-समय पर विभिन्न अनुमान लगाये गये हैं। एडवर्ड मैक्लागन, एम० एल० डार्लिंग, पी० जे० टॉमस, केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के प्रयास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सन् 1951-52 के लिए ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने अनुमान लगाया था कि कृषि के लिए वार्षिक ऋणो की मात्रा 750 करोड रुपये के लगभग थी। 10 वर्ष बाद, सन् 1961-62 म, ग्रामीण ऋण व विनियोग सर्वेक्षण (All India Rural Debt and Investment Survey) का अनुमान 1,034 करोड रुपय था। गत वर्षों मे कृषि-उपज की कीमतें ऊँची रहने के कारण कृषको की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। परन्तु कृषि विकास की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कृषको द्वारा ऋण की माँग बढी है, कम नहीं हुई। सन् 1965-66 मे कृषि-क्षेत्र के लिए अनुमानत 1400 करोड रुपये की साख की आवश्यकता थी, जो अब तक 2000 करोड रुपये के लगभग हो चुकी होगी। कुल ग्रामीण साख की माँग से सम्बन्धित अनुमान लगाया गया है कि सन् 1973 तक अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन साख की मांग क्रमश 2000 करोड रुपये, 500 करोड रुपये तथा 1500 करोड रुपये तक पहुँच जायगी।[1] साख की बढती हुई माग के साथ-साथ इनकी पूर्ति म वृद्धि करना आवश्यक होगा।

कृषि-साख की पूर्ति मे सबसे अधिक भाग महाजनो का है और सबसे कम भाग व्यापारिक बैंको का। सरकार का हिस्सा भी बहुत कम है। गत वर्षों में सहकारी समितियो द्वारा साख का काफी अधिक विस्तार हुआ है। सन् 1951 52 म ग्रामीण साख में सहकारी साख का हिस्सा केवल 3 प्रतिशत था। तब से अब तक इसमें लगभग दस गुना वृद्धि हुई है। परन्तु अब भी स्थिति यह है कि कृषि-साख की पूर्ति मे संस्थागत साख की अपेक्षा व्यक्तिगत साख की प्रधानता है। व्यक्तिगत साख के लिए मुख्य एजेन्सी महाजन है और संस्थागत साख के लिए सहकारी समिति। इनका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है

महाजन अथवा साहूकार

कृषि साख का प्रमुख साधन महाजन अथवा साहूकार (money-lender) है। सन् 1951-52 मे ग्रामीण साख का 69 7 प्रतिशत महाजन से प्राप्त होता था। सन 1961-62 म महाजन

---

1 *All India Rural Credit Review Committee Report*, July 30, 1969

का हिस्सा घटकर 49 2 प्रतिशत रह गया। पिछले कुछ वर्षों में सहकारी साख का तेजी से विस्तार तथा महाजन पर सरकारी नियन्त्रण मे वृद्धि होने के कारण महाजन का कृषि-साख की पूर्ति मे हिस्सा निरन्तर घटता गया है, परन्तु अब भी ग्रामीण वित्त व्यवस्था मे उसका स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

महाजन दो प्रकार के होते है (1) पेशेवर (professional), तथा (2) कृषक (agriculturist) अथवा गैर-पेशेवर। पेशेवर महाजन केवल ऋण देने का ही कार्य करते हैं। गैर पेशेवर महाजन ऋण देने का कार्य सहायक अथवा पूरक धन्धे के रूप मे करते हैं। इस वर्ग मे बडे किसानो के अतिरिक्त व्यापारी, वृद्ध, विधवाएँ तथा विभिन्न व्यवसायो मे लगे हुए लोग शामिल रहते है। सन् 1951 52 मे ग्रामीण साख का 45 प्रतिशत पेशेवर महाजन से तथा 25 प्रतिशत कृषक महाजन से प्राप्त होता था। सन् 1961-62 मे यह अनुपात क्रमश 13 प्रतिशत और 36 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार, पेशेवर महाजनो का महत्व कम हो गया है और कृषक महाजनो का महत्त्व पहले की अपेक्षा अधिक हो गया है।

महाजनों की कार्यप्रणाली अत्यन्त सरल होती है। आवश्यकता पडने पर किसान उनसे किसी भी समय ऋण प्राप्त कर सकता है। इनका अपने ग्राहकों से व्यक्तिगत परिचय होता है, इसलिए ऋण देने के पूर्व न तो ऋण लेने वाले की आर्थिक स्थिति की जांच की जाती है और न ही जमानत पर अधिक जोर दिया जाता है। ऋणो के लिए ये हर प्रकार की जमानत (जैसे, जमीन, मकान, फसल, जेवर आदि) स्वीकार कर लेते है। महाजन का ऋण के उद्देश्य से कोई सरोकार नही होता है। उत्पादक, अनुत्पादक, अल्पकालीन तथा दीघकालीन सभी प्रकार के ऋण दिये जाते है। ऋण की अदायगी के लिए कोई कठोर नियम नही होते। ग्राहकों की सुविधा के अनुसार ऋण की अवधि घटा बढा ली जाती है। इन सब गुणो के कारण ही ग्रामीण वित्त-व्यवस्था मे महाजन महत्वपूर्ण स्थान पाये हुए है।

महाजन की कार्य-प्रणाली मे लोच व ऋणों की शीघ्र प्राप्ति के अतिरिक्त कोई भी सराहनीय बात नही है और बहुत कुछ बाते इसको निकृष्ट व हेय बनाने वाली ही है। किसान को हर समय ऋण की आवश्यकता बनी रहती है और महाजन अपनी थोडी-सी पूँजी लगाकर उससे अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहता है। इन परिस्थितियो में महाजन से ली गयी साख किसान को बहुत महँगी पडती है। महाजन सामान्यत 12 से 36 प्रतिशत वार्षिक ब्याज लेते है। इनके द्वारा दिये गये ऋणो पर ब्याज की दर कई बार तो 30 प्रतिशत से लेकर 60 प्रतिशत तक होती है।[1] ब्याज की रकम थोडे-थोडे समय बाद मूलधन मे जोड दी जाती है। इस प्रकार महाजन चक्रवृद्धि ब्याज लेते है। इसके अतिरिक्त, हिसाब मे कई प्रकार की गडबडी करके वे किसानो का शोषण करते है। ऋण देते समय वे ब्याज व अनेक प्रकार की कटौतियाँ पहले ही काट लेते हैं। कोरे कागज अथवा प्रोनोट पर अँगूठा लगवा लेते है अथवा बहुत बढा-चढाकर रकम लिखवाते है। कभी कभी वे किसान द्वारा अपनी फसल उन्ही के हाथ बेचने की भी शर्त तय कर लेते है। ऋण की वसूली मे भी बेईमानी करते है। वास्तव मे, उनकी नजर हमेशा किसान की भूमि पर रहती है जिसे अवसर पाते ही वे हडप कर जाना चाहते हैं। महाजन का लेन-देन का ढग ऐसा है कि एक बार उसमे फँस जाने पर उससे निकलना कठिन हो जाता है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने ठीक ही कहा था कि "व्यक्तिगत साख, जो सामान्यत अनुपयुक्त होती है, अधिक उत्पादन के लिए नियोजन के सन्दर्भ मे तो पूर्णरूपेण अनुपयुक्त होती है।"[2]

महाजन की अनुचित कार्यवाहियो को प्रतिबन्धित करने के उद्देश्य से अनेक राज्यो मे कानून पास किये गये है। इनके अन्तर्गत महाजनो द्वारा लाइसेन्स प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त, महाजनों द्वारा चक्रवृद्धि ब्याज लेने, अनुचित कटौतियाँ करने, मूलधन

---

1 ग्रामीण साख सर्वेक्षण के अनुसार सन 1951-52 मे ब्याज की दर विभिन्न राज्यों मे अलग-अलग थी। बिहार व उत्तर प्रदेश में 30%, पश्चिमी बगाल व हिमाचल प्रदेश मे 40% और उडीसा म 70%।

2 Private credit, generally unsuitable, is wholly unsuitable in the context of planning for large production —*All India Rural Credit Survey, 1951 52*

के अतिरिक्त किसी प्रकार के झूठे दावे पेश करने, ऋण की वसूली के अनुचित तरीके अपनाने, राज्य के बाहर भुगतान करने के समझौते करने आदि कार्यों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। परन्तु इन कानूनों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। व्यावहारिक रूप में महाजन बिना किसी लाइसेन्स के ऋण देने के कार्य करते रहे हैं और उन्होंने कानूनी प्रतिबन्धों की निरन्तर उपेक्षा की है। कुछ लोग महाजन को एक 'आवश्यक बुराई' मानते हुए इसको समाप्त करने के बजाय इसमें सुधार करने का सुझाव देते हैं। परन्तु यह विचार अधिक सारयुक्त नहीं है। वास्तव में, आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण साख के संस्थागत साधनों का तेजी से विकास करके महाजनों के महत्व को समाप्त कर देना चाहिए। साथ में, महाजनों को यह सुविधा देना भी आवश्यक होगा कि वे अपनी पूंजी का अन्य क्षेत्रों में विनियोग कर सकें।

देशी बैंकर

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में देशी बैंकरों (indigenous bankers) को विशेष स्थान प्राप्त है। कार्य-क्षेत्र के आधार पर देशी बैंकर दो प्रकार के होते हैं—ग्रामीण तथा शहरी। दोनों की कार्य-प्रणाली में समानता होते हुए भी इन दोनों के कार्यों तथा स्वरूप में अनेक अन्तर होते हैं। देशी बैंकर वे व्यक्ति या फर्म हैं जिनका मुख्य व्यवसाय ऋण देना व हुण्डियों के लेन-देन का व्यवसाय करना है। वे प्रायः जमा भी स्वीकार करते हैं।

देशी बैंकर तथा महाजन के बीच अन्तर स्पष्ट करते हुए पंजाब बैंकिंग जाँच समिति ने लिखा था कि "देशी बैंकर मुख्यतः व्यापार तथा उद्योग के लिए वित्त प्रदान करता है, किन्तु महाजन मुख्यतः उपभोग के लिए ऋण देता है। दोनों ही बिना जमानत ऋण दे देते हैं परन्तु देशी बैंकर प्रायः जमानत पर ही ऋण देता है। बैंकर ऋण के उद्देश्यों पर ध्यान देता है किन्तु महाजन इसकी कम चिन्ता करता है। एक बैंकर के ग्राहक प्रायः ऋण समय पर लौटा देते हैं किन्तु महाजन को अधिकांश ऋणियों पर इस हेतु दबाव डालना पड़ता है। इसके अतिरिक्त देशी बैंकर महाजन की अपेक्षा कम ब्याज लेता है।" दोनों में अन्तर अवश्य है परन्तु समानताएँ भी कम नहीं हैं। दोनों ही अव्यवस्थित और असंगठित हैं तथा सारे देश में फैले हुए हैं। दोनों ही परम्पराओं तथा लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार कार्य करते हैं। साधारणतया इन दोनों का कारोबार एक पारिवारिक व्यवसाय के रूप में होता है और प्रायः दोनों ही अपनी निजी पूंजी से कार्य करते हैं।

देशी बैंकर दो प्रकार के कार्य करते हैं: बैंकिंग कार्य तथा गैर-बैंकिंग कार्य। इनके बैंकिंग कार्यों में मुख्य कार्य ऋण देना है। इनके द्वारा ऋण प्रतिज्ञापत्रों, दस्तावेजों, साधारण रसीद, हाथ-उधार तथा रहन आदि के आधार पर दिये जाते हैं। ये ऋण अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार के होते हैं। **इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि देशी बैंकर किसानों को प्रायः प्रत्यक्ष ऋण न देकर महाजनों तथा व्यापारियों के माध्यम से देते हैं।** इनका एक अन्य बैंकिंग कार्य हुण्डियों का व्यापार करना है। ये हुण्डियों को खरीदते हैं तथा ग्राहकों द्वारा पेश की गयी हुण्डियों की कटौती करते हैं। कई बैंकर लोगों से अमानती रुपया लेकर जमा भी करते हैं, परन्तु अधिकांश देशी बैंकर अपने व्यवसाय के लिए अपनी ही पूंजी पर निर्भर करते हैं। बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त अधिकांश देशी बैंकर व्यापार भी करते हैं तथा सट्टे का व्यवसाय करते हैं।

कार्यों के आधार पर देशी बैंकर न तो महाजन के समान हैं और न ही व्यापारिक बैंकों के समान। इनका अपना अलग ही स्वरूप है। भारतीय मुद्रा-बाजार में इनका अलग से विशेष स्थान रहा है। रिजर्व बैंक द्वारा श्री ए० डी० श्रॉफ की अध्यक्षता में नियुक्त समिति ने सन् 1954 में अनुमान लगाया था कि देश के आन्तरिक व्यापार के लगभग 75 से 90 प्रतिशत भाग को देशी बैंकरों द्वारा वित्त प्रदान किया जाता है। किन्तु रिजर्व बैंक के गवर्नर का अनुमान है कि इस समय आन्तरिक व्यापार का लगभग 50 प्रतिशत भाग इन पर निर्भर करता है। वास्तविकता यह है कि गत वर्षों में साख-नियन्त्रण की नीति के कारण व्यापारियों की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में बैंकों पर अनेक प्रतिबन्ध रहे हैं। परिणामस्वरूप, व्यापारियों की देशी बैंकरों पर निर्भरता बढ़ी है। परन्तु देश में बिना लेखे की मुद्रा (unaccounted money) का परिमाण बढ़ता रहा है, इसलिए देशी बैंकरों से किये गये लेन-देन का सही विवरण नहीं मिल पाता है। यह

निस्सन्देह रूप से सत्य है कि भारत की अर्थ-व्यवस्था में असगठित बैंकिंग व्यवस्था महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

देशी बैंकरों की कार्य-प्रणाली म अनेक दोष बताये जाते हैं। इनके व्यवसाय का ढग अत्यन्त पुराना तथा दोषपूर्ण है। वे खातो को आधुनिक ढग से नही रखते और न ही प्रकाशित करते हैं। इनके पास साधनों की कमी रहती है, क्योंकि इनके द्वारा जमा प्राप्त करने के विशेष प्रयत्न नही किये जाते और वे अधिकतर अपनी पूँजी से ही कार्य करते हैं। इनके द्वारा लेन-देन हुण्डियो के बजाय अधिकतर नकद पूँजी द्वारा चलाया जाता है। इनके आपस मे कोई सगठन नही होते और न ही सगठित बैंकिंग क्षेत्र के साथ इनका कोई प्रत्यक्ष तथा निरन्तर सम्बन्ध रहता है। इनके कार्य मे जोखिम भी अधिक है, क्योंकि ऋण देते समय बैंकिंग के सिद्धान्तों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता है। वे उत्पादक तथा अनुत्पादक ऋणों मे अन्तर नही करते हैं तथा अधिकतर ऋणों के लिए पर्याप्त जमानत नही रखते हैं। बैंकिंग व्यवसाय के साथ-साथ अन्य व्यापारिक कार्यों तथा सट्टबाजी आदि मिला देने से जोखिम में और भी वृद्धि होती है। यह स्वाभाविक ही है कि देशी बैंकर आधुनिक बैंकों की तुलना मे ऊँची ब्याज-दर लेते हैं।

देशी बैंकरो की कार्य-प्रणाली मे उपर्युक्त दोषो के कारण इनकी बहुत अधिक आलोचना की जाती है। कभी-कभी तो इनको पूर्ण रूप से समाप्त करने का भी सुझाव दिया जाता है। परन्तु अधिकतर लोगो का विचार है कि इनकी कार्य-प्रणाली में सुधार करने की आवश्यकता है, इन्हें समाप्त करने की आवश्यकता नही है। इस सम्बन्ध मे सुधार के लिए समय-समय पर अनेक सुझाव दिये जाते रहे है। यह कहा जाता है कि इनको अपनी कार्यविधि आधुनिक ढग मे बदलनी चाहिए और अपने बैंकिंग कार्यों को व्यापारिक कार्यों से अलग रखना चाहिए। उनको चाहिए कि वे हुण्डियो तथा विपत्रों का अधिक से अधिक प्रयोग करें। उन्हे अधिक से अधिक जमा प्राप्त करने के लिए प्रयास करने चाहिए। यह भी सुझाव दिया जाता है कि इनका रिजर्व बैंक के साथ वही सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए जो अनुसूचित बैंको का है। दूसरे शब्दो मे, देशी बैंकरों को भी रिजर्व बैंक से पुन कटौती (rediscount) तथा धन के हस्तान्तरण (remittance) की सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। इनम से जो बैंकर अपना गैर-बैंकिंग व्यवसाय नहीं छोड सकते और रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित शर्तों को पूरा नही कर पाते, उन्हें स्टेट बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंको से आवश्यक सुविधाएँ मिलनी चाहिए। एक सुझाव यह भी है कि देशी बैंकरो के सघो को सगठित करने की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि वे अपना व्यापार बडे पैमाने पर कर सकें तथा रिजर्व बैंक और व्यापारिक बैंको से अधिक से अधिक मात्रा म सुविधाएँ प्राप्त कर सके।

सन् 1937 मे केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने सुझाव दिया था कि देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक से सम्बद्ध कर देना चाहिए। इसको व्यावहारिक रूप देने के लिए सन् 1938 मे रिजर्व बैंक ने एक योजना तैयार की थी। इस योजना का उद्देश्य यह था कि उन देशी बैंकरों को जो अपनी पूँजी पाँच वर्षों मे 5 लाख रुपये तक कर लें, रिजर्व बैंक की स्वीकृति सूची म शामिल कर लिया जाय और इन्हें रिजर्व बैंक से पुनर्कटौती, अग्रिम तथा विप्रेष की सुविधाएँ प्रदान की जायें। परन्तु साथ मे, सूचीबद्ध बैंकरों पर ये प्रतिबन्ध लगाये जायें कि वे बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय न करें, उचित प्रकार से हिसाब-किताब रखें तथा उनका अंकेक्षण करवाये, अपने स्थिति-विवरण प्रकाशित करें तथा रिजर्व बैंक के पास निरीक्षण के लिए समय-समय पर विवरण भेजें। देशी बैंकरों ने रिजर्व बैंक की योजना को स्वीकार नही किया। सन् 1961 मे रिजर्व बैंक ने देशी बैंकरों के सम्बन्ध म अपनी नीति फिर से पेश की कि वे सगठित बैंकिंग प्रणाली मे सम्बन्ध जोडने के लिए अपना बैंकिंग कार्य व्यापारिक कार्य से अलग रखें, हिसाब-किताब की जाँच पडताल करवायें तथा रिजर्व बैंक के निरीक्षण व नियन्त्रण में रहने के लिए तैयार रहें। रिजर्व बैंक के सुझाव देशी बैंकरों को मान्य नही हैं क्योंकि वे न तो अपने व्यापारिक कार्य छोडना चाहते है और न ही अपने हिसाब-किताब प्रकाशित करने को तैयार है।

एक नियोजित अर्थ व्यवस्था में किसी भी अग को अनियन्त्रित रूप से कार्य करने की अनुमति नही दी जा सकती है। साख व पूँजी बाजार पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करने के लिए देशी

बैंकरो के कार्यों को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करना आवश्यक है। साथ ही, यह भी प्रयास करते रहना है कि सहकारी बैंको तथा व्यापारिक बैंको द्वारा अपनी कार्य प्रणाली मे इस प्रकार के सुधार किये जाये कि देशी बैंकरो का महत्व समाप्त हो जाय। देशी बैंकरो को सम्मिलित रूप से मिश्रित पूँजी बैंक अथवा सहकारी बैंक बनाने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए ताकि उनकी पूँजी तथा कार्यों पर रिजर्व बैंक का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो सके और उनके कार्यों का सही दिशा मे निर्देशन सम्भव हो पाय।

सहकारी बैंक

भारत म सहकारी समितियो का आरम्भ बीसवी शताब्दी के शुरू मे हुआ। सन् 1904 के सहकारी साख समिति कानून के द्वारा सहकारिता आन्दोलन को कानूनी मान्यता मिली और तब से देश मे सहकारी साख समितियों का सगठन किया जाने लगा। वैसे तो अन्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिए भी सहकारी समितियाँ सगठित की गयी परन्तु मुख्य रूप से साख समितियों के सगठन को ही अधिक महत्व दिया जाता रहा है। देश मे पचवर्षीय योजनाओं के आरम्भ के पूर्व तक सहकारी समितियो का कृषि-साख की पूर्ति मे कोई महत्वपूर्ण भाग नही रहा। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सन् 1951-52 म कृषक की साख आवश्यकताओं के केवल 3 1 प्रतिशत भाग की पूर्ति सहकारी समितियो द्वारा होती थी। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने सन् 1954 मे प्रकाशित अपनी रिपोर्ट मे सहकारिता आन्दोलन की विफलता पर खेद प्रकट किया था। समिति का विचार था कि भारत मे सहकारिता को सफल बनाना ही होगा, नही तो ग्रामीण भारत की प्रगति की आशा धूमिल पड जायगी। समिति द्वारा प्रस्तावित ग्रामीण साख की एकीकृत योजना (Integrated Scheme of Rural Credit) सरकार ने स्वीकार कर ली और उसके अनुसार कार्य होने लगा। पचवर्षीय योजनाओ मे भी सहकारिता के विकास को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। परिणामस्वरूप, 1961-62 मे अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण व विनियोग-सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण साख की पूर्ति म सहकारिता का हिस्सा बढकर 15 5% हो गया।[1]

सहकारिता के विकास का क्रम निरन्तर चलता रहा है। सहकारी साख समितियो द्वारा दिये गये अल्पकालीन तथा मध्यकालीन ऋणों की राशि सन् 1960 61 मे 203 करोड रुपये थी, जो सन् 1967 68 मे 429 करोड रुपये के लगभग हो गयी।[2] 1968-69 मे प्रारम्भिक साख समितियों ने 456 39 करोड रुपये के अल्पकालीन ऋण तथा 47 48 करोड रुपये के मध्यकालीन ऋण दिये। इसके अतिरिक्त, भूमि विकास बैंको द्वारा 143 62 करोड रुपये के दीर्घकालीन ऋण दिये गये।[3] गत वर्षों मे वृद्धि की दर से प्रोत्साहित होकर चौथी पचवर्षीय योजना (1969-74) की रूपरेखा मे आशा प्रकट की गयी है कि योजना के अन्त तक सहकारी समितियाँ 750 करोड रुपये की अल्प व मध्यकालीन साख प्रदान करने लगेगी।[4] *1969 70 म प्रारम्भिक समितियो द्वारा दिये गये ऋणो की राशि 540·1 करोड रुपये थी।*

सहकारी को बैंका सगठन

भारत मे सहकारिता के ढाचे की तुलना एक पिरेमिड से की जा सकती है जिसकी नीव प्राथमिक समितियाँ (Primary Societies) हैं। इनके ऊपर प्राय प्रत्येक जिले के लिए केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co operative Bank) है। सब के ऊपर राज्य-स्तर पर शीर्ष अथवा राज्य सहकारी बैंक (Apex or State Co-operative Bank) होता है। प्राथमिक समितिया तथा राज्य बैंक के बीच केन्द्रीय सहकारी बैंक एक महत्वपूर्ण कडी के समान कार्य करता है। जून 1970 मे केन्द्रीय बैंका की सख्या 340 तथा राज्य सहकारी बैंको की सख्या 25 थी। जैसा कि

---

1 यदि प्राथमिक समितियो से प्राप्त ऋण म भूमि-बन्धक बैंका, प्राथमिक विक्री समितियो व परिनिमाण समितियो से प्राप्त ऋण भी जोड दिया जाय तो कुल साख (1 034 करोड रुपये) मे से 267 करोड रुपये (25 8 प्रतिशत) सहकारी समितियो से प्राप्त हुआ था।

2 *Fourth Five Year Plan*, p 214

3 *Report on Currency and Finance*, 1969 70, p 125

4 *Fourth Five Year Plan*, 1969 74, p 219

पहले बताया जा चुका है, बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949, मार्च 1966 से सहकारी बैंकों पर भी लागू कर दिया गया है। इस समय 14 राज्य सहकारी बैंक अनुसूचित बैंकों की श्रेणी मे हैं।[1] मई 1970 के अन्त म 24 राज्य सहकारी बैंकों के रिजर्व बैंक के साथ लेन-देन के सम्बन्ध थे। इन्होने 255 21 करोड रुपये के ऋण रिजर्व बैंक से और 50 31 करोड रुपये के ऋण स्टेट बैंक, कृषि पुनर्वित्त निगम तथा राज्य सरकारो से ले रखे थे। इनकी अपनी जमा-राशि 147 36 करोड रुपये थी और इन्होने 137 78 करोड रुपये की साख दे रखी थी। इस प्रकार साख-जमा अनुपात 93 5 प्रतिशत था। स्पष्ट है कि ऋण देने के लिए ये बैंक रिजर्व बैंक तथा अन्य सस्थाओ पर बडी मात्रा मे निर्भर करते है।

प्राथमिक साख समितियों से किसानों का सीधा सम्बन्ध होना है। इस प्रकार की समितियों के अन्तर्गत बडे आकार की साख समितियाँ[2] (Large Sized Credit Societies), सहकारी साधन अथवा सेवा समितियाँ (Service Co-operatives) तथा छोटे आकार की सहकारी समितियाँ सम्मिलित है। सेवा समितियाँ साख के अतिरिक्त किसानो को कृषि-उपज बढाने के लिए अन्य साधन भी उपलब्ध कराती हैं। आजकल ऐसी समितियो की स्थापना पर ही जोर दिया जा रहा है। कुछ राज्यो मे अन्न बैंको (Grain Banks) का भी सगठन किया गया है जो सदस्यों को वस्तु के रूप मे ऋण देते है। पिछले कुछ वर्षों में प्राथमिक समितियों के सगठन मे कुछ सुधार के उपाय किये जाते रहे है, जिनका मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि ये उपयुक्त आकार की (viable units) हो ताकि ठीक ढग से विकास कर सकें। परिणामस्वरूप, इन समितियो की सख्या सन् 1960 61 के 2 12 लाख मे कम होकर जून 1970 के अन्त तक 1 63 लाख रह गयी। अनुमान यह है कि पूर्ण पुनर्गठन के बाद इनकी सख्या 1 20 लाख रह जायगी।

सहकारी साख आन्दोलन की समस्याएँ

योजना-काल म सहकारी समितियो की सख्या, सदस्यता तथा उनके द्वारा दिये गये ऋणो की राशि मे जिस तेजी से वृद्धि हुई है उसे असन्तोषजनक नही कहा जा सकता है। परन्तु आन्दोलन की वास्तविक स्थिति देखन पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक दोषो व समस्याओ के कारण सहकारिता आन्दोलन केवल सीमित रूप मे ही सफल रहा है। इसकी मुख्य समस्याएँ निम्न हैं

(1) देश के विभिन्न क्षेत्रो मे सहकारिता का विकास समान रूप से नही हुआ है। विशेष रूप से असम, पश्चिमी बगाल, बिहार, उडीसा तथा राजस्थान मे सहकारी साख आन्दोलन का विकास बहुत ही कम हो पाया है। देश का पूर्वी क्षेत्र सहकारी साख का केवल 9 प्रतिशत भाग प्राप्त कर पाया है जबकि इसमें देश की 27 प्रतिशत ग्रामीण जनसख्या रहती है।

(2) सहकारिता आन्दोलन से सभी किसानो को समान रूप मे लाभ प्राप्त नही हुआ है। अधिकतर धन बडे किसान प्राप्त करते रहे है, जिन्होने सहकारी समितियो से लिये गये ऋणो का उपयोग कृषि के विकास के लिए नही, बल्कि अन्य क्षेत्रो मे लाभ कमाने के लिए किया है। 1969-70 मे प्रारम्भिक समितियो द्वारा छोटे किसानो को कुल 134 करोड रुपये के ऋण दिये गये थे जो कुल ऋण-राशि का 33 2 प्रतिशत भाग थे।[3] छोटे किसान की आवश्यकताएँ पूरी नही की गयी है, क्योकि जमीन के स्वामित्व का आकार ही ऋण प्राप्त करने की योग्यता (creditworthiness) का आधार माना जाता रहा है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने फसल-ऋण योजना (crop loan system) अपनाने का सुझाव दिया था, परन्तु इसे अब तक पूरी तरह से लागू नही किया जा सका है।

(3) जैसा कि ऊपर बताया गया है, बहुत छोटी समितियो को विकास-क्षम (viable) बनाने के उद्देश्य से उनके एकीकरण की योजनाओ पर अमल किया जाता रहा है और कुछ कार्य किया भी गया है। परन्तु अभी तक बहुत बडी सख्या मे ऐसी समितियाँ बनी हुई है जिनका आकार बहुत छोटा है और वे लगभग निष्क्रिय (dormant) है। 1969-70 मे इस प्रकार की

1 अनुसूचित बैंकों की कुल सख्या 87 है जिनम से 73 अनुसूचित व्यापारिक बैंक हैं।
2 इनकी स्थापना सन् 1954 के बाद ग्रामीण साख सर्वेक्षण की सिफारिशो के आधार पर की गयी थी।
3 R B S Statistical Statements relating to Co-operative movement in India, 1969-70

समितियो की सख्या 19,000 से अधिक थी। सन् 1959 में सहकारी साख से सम्बन्धित महता समिति की रिपोर्ट में इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया गया था कि प्राथमिक समितियो का विकास-क्षम इकाइयो के रूप में सगठन किया जाना अनिवार्य है।

(4) केन्द्रीय सहकारी बैंक सहकारी साख आन्दोलन की एक महत्वपूर्ण कडी हैं। परन्तु कुछ क्षेत्रों में ये इतने अधिक दुर्बल रहे है कि इनसे आन्दोलन को कोई सहायता नही मिली है।

(5) सहकारिता का आधार स्वावलम्बन (self-help) है, परन्तु भारत में सहकारिता प्रारम्भ से ही सरकार पर निर्भर रही है। लोगो में सहकारिता की भावनाओं का अभाव रहा है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने ठीक ही कहा था कि भारत में सहकारिता एक ऐसे पौधे के समान है जिसे सरकार दोनों हाथो से थामे हुए है, क्योकि इसकी जडें भूमि में जाने को तैयार नही हैं। सहकारी समितियों के साधन उस तेजी से नहीं बढ पाते जिस तेजी से उनके ऋणों की माँग बढती है।

(6) सहकारी समितियो से लिये गये ऋणो का दुरुपयोग किया जाता रहा है। इन ऋणों का बडे पैमाने पर अनुत्पादक उपयोगों की ओर हस्तान्तरण किया जाता रहा है। परिणाम यह हुआ है कि सहकारी समितियों द्वारा दिये गये ऋणो की अदायगी समय पर नहीं हुई है। प्राथमिक समितियो के ऋणों में रुके हुए ऋणों (overdues) का अनुपात 1960-61 में 20% था जो 1968-69 में 35% हो गया। केन्द्रीय सहकारी बैंकों में यह अनुपात 12 4% से बढकर 27% हो गया। कुछ केन्द्रीय बैंको में रुके हुए ऋणो का अनुपात 50% से भी अधिक है।

(7) समितियो में कुछ निहित स्वार्थी वर्ग (vested interest) अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। राजनीति के खिलाडी स्वावलम्बन की इस सीढी को भी अपनी कांख में दबाकर उससे अधिकार और सत्ता की मन्जिल पर चढने की होड और स्पर्धा में लगे हुए है। हिस्से खरीदकर और उसके लिए अपने पास से भी धन लगाकर सदस्य-सख्या में इसी प्रकार की वृद्धि की जाती है जैसे कुछ राजनीतिक पार्टियाँ फर्जी सदस्य बनाकर उनसे चुनाव में बाजी जीतने की शक्ति प्राप्त करती हैं। सहकारी समिति में पद प्राप्त करके अर्थ-लाभ के लिए सहकारिता के साधनो का उपयोग तो किया ही जाता है, साथ में प्रतिनिधित्व की शक्ति पाकर राजनीतिक शिखर पर चढने का साधन भी प्राप्त होता है।

सहकारिता आन्दोलन के उपर्युक्त आन्तरिक दोषो के अतिरिक्त समितियो की कार्यप्रणाली, सदस्यो के व्यवहार तथा ग्रामीण आर्थिक व सामाजिक वातावरण आदि से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ है जो आन्दोलन की सफलता के मार्ग में अनेक बाधाएँ उत्पन्न करती है।

भविष्य के लिए सुझाव

भविष्य में कृषि-साख की माग में और भी अधिक वृद्धि होने की सम्भावना है। मांग में वृद्धि के साथ-साथ पूर्ति में वृद्धि करना भी आवश्यक है। इस दिशा में सहकारिता से सक्रिय योगदान प्राप्त करने के प्रयास करने होंगे।

चौथी पचवर्षीय योजना (1969-74) में स्पष्ट शब्दो में कहा गया है कि सहकारी समितियाँ सन् 1973-74 तक 750 करोड रुपये के अल्प तथा मध्यकालीन ऋण देने के लक्ष्य को तभी पूरा कर पायेंगी जब इन्हें पुनर्गठन द्वारा विकास-क्षम इकाइयो के रूप में बदला जाय, प्राथमिक समितियों के सगठन तथा विकास को महत्व दिया जाय, रुके हुए ऋणो मे कमी हो, समितियो की जमा बढें, अधिक लोगों को, विशेषतया छोटे किसानो को, उदारतापूर्वक ऋण दिये जा सके तथा प्रशासनिक कठिनाइयों को दूर किया जा सके।

गत वर्षों में भारत में सहकारिता से सम्बन्धित अनेक समितियाँ नियुक्त की गयी है और उन्होंने सहकारिता विकास के लिए अनेक सुझाव दिये हैं। जुलाई 1966 में रिजर्व बैंक ने श्री वी० वेक्टापिआ (सदस्य, योजना आयोग) की अध्यक्षता में **अखिल भारतीय ग्रामीण साख पर्यवेक्षण समिति** (All India Rural Credit Review Committee) नियुक्त की थी, जिसने तीन वर्षो के अध्ययन के बाद 30 जुलाई, 1969 को अपनी अन्तिम रिपोर्ट पेश की है। सहकारी साख समि-

नियों की आन्तरिक समस्याओं का उल्लेख करते हुए समिति ने सुधार के लिए कुछ सुझाव दिये हैं। सरकार से अनुरोध किया गया है कि वह सहकारी बैंकों को अधिक मात्रा में वित्तीय सहायता प्रदान करें और उनके प्रशासन तथा प्रशिक्षण आदि में सहायता दे। समिति ने ऐसी विकास-क्षम समितियों को प्रोत्साहन देने का सुझाव दिया है जो न केवल अधिक मात्रा में साख तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान कर सकें बल्कि जो अधिक जमा भी प्राप्त कर सकें। छोटे किसानों को अधिक सहायता दी जाय और बड़े किसानों से उत्पादन बढ़ाने तथा विकास करने के लिए इन समितियों में जमा के रूप में अधिकाधिक मात्रा में साधन प्राप्त किये जायें।

समितियों की आन्तरिक व्यवस्था में उपर्युक्त सुधारों के अतिरिक्त ग्रामीण साख पर्यवेक्षण समिति ने कुछ और भी महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं, जो निम्नलिखित हैं

(1) रिजर्व बैंक में एक कृषि-साख मण्डल (Agricultural Credit Board) स्थापित किया जाय और ग्रामीण साख कार्यों का पुनर्गठन किया जाय।

(2) देश भर में कुछ चुने हुए जिलों में छोटे किसानों के लिए विकास एजेन्सी (Small Farmer's Development Agency) की स्थापना की जाय जिसका उद्देश्य कृषि-विकास के लिए छोटे किसानों को सहायता देना हो।

(3) एक ग्रामीण विद्युतकरण निगम (Rural Electrification Corporation) की स्थापना की जाय जो अन्य बातों के साथ-साथ कृषि-क्षमता वाले अविकसित क्षेत्रों के विकास में सहयोग दे।

(4) कृषि-पुनर्वित्त निगम (Agricultural Refinance Corporation) के कार्यों का विस्तार किया जाय तथा इसके साधनों में वृद्धि की जाय।

(5) सहकारी समितियों तथा व्यापारिक बैंकों से उचित समय पर और पर्याप्त मात्रा में साख प्राप्त करने के उपाय किये जायें।

उपर्युक्त सुझावों में से कुछ तो अन्तरिम सिफारिशों के रूप में पहले ही दिये जा चुके थे और उन्हें अन्तिम रिपोर्ट प्रकाशित होने के पूर्व स्वीकार भी कर लिया गया था। छोटे किसानों के लिए विकास एजेन्सी तथा ग्रामीण विद्युतकरण बोर्ड की स्थापना के प्रस्ताव चौथी पंचवर्षीय योजना में पहले से ही सम्मिलित कर लिये गये थे। फरवरी 1970 में रिजर्व बैंक में 14 सदस्यों का कृषि साख बोर्ड स्थापित किया गया। पर्यवेक्षण समिति द्वारा दिये गये अन्य सुझावों पर भी अमल करने के प्रयास किये गये हैं। आगामी वर्षों में सहकारिता को सफल बनाने के अनेक प्रयास किये जायेंगे। परन्तु जैसा कि पर्यवेक्षण समिति ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, कृषि-विकास को अकेले सहकारी साख के साथ नहीं बाँधा जा सकता है। कृषि-साख की आवश्यकताओं के एक बहुत बड़े भाग की पूर्ति अन्य साधनों से करनी होगी। व्यापारिक बैंकों को कृषि-साख के क्षेत्र में पर्याप्त मात्रा में योग देना होगा तभी कृषि में हरित क्रान्ति (Green Revolution) को बनाये रखा जा सकेगा।

भूमि-विकास बैंक

किसानों की अल्पकालीन व मध्यकालीन ऋण की आवश्यकताएँ सहकारी साख समितियों द्वारा पूरी की जा सकती हैं, परन्तु भूमि में स्थायी सुधार, भूमि अथवा मशीनें खरीदने तथा पुराने ऋणों को चुकाने के लिए कृषक को दीर्घकालीन साख की भी आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारत में भूमि-बन्धक बैंकों (Land Mortgage Banks) की स्थापना की गयी। भूमि-बन्धक बैंक किसान की भूमि को बन्धक अथवा गिरवी रखकर दीर्घकालीन ऋण देता है, जिसकी अवधि प्रायः 20 वर्ष होती है। चूँकि इन ऋणों का मुख्य उद्देश्य कृषि के विकास कार्य में सहायता देना होता है, इसलिए भूमि बन्धक बैंकों को 'भूमि विकास बैंक' (Land Development Bank) पुकारा जाने लगा है। आज हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता कृषि का विकास करना है और इसके लिए भूमि-बन्धक बैंक महत्वपूर्ण सहयोग दे सकते हैं।

भूमि-विकास बैंकों का ढाँचा विभिन्न राज्यों में अलग-अलग प्रकार है। इस आधार पर चार श्रेणियाँ की जा सकती हैं (1) तामिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश में केन्द्रीय भूमि-विकास बैंक

तथा उनके नीचे प्राथमिक भूमि बैंक पाये जाते है; (2) महाराष्ट्र तथा गुजरात के कुछ भागों में केन्द्रीय भूमि-विकास बैंक अपनी शाखाओं द्वारा भी कार्य करते हैं और प्राथमिक भूमि-विकास बैंकों के द्वारा भी, (3) गुजरात के सौराष्ट्र क्षेत्र में केन्द्रीय भूमि-विकास बैंक अपनी शाखाओं के द्वारा व्यक्तियों को सीधे ऋण देते हैं; तथा (4) मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के कुछ क्षेत्र में केन्द्रीय भूमि बैंक केवल राज्य सहकारी बैंकों के विभागों के रूप में कार्य करते हैं। जहाँ कहीं केन्द्रीय भूमि बैंक तथा प्राथमिक भूमि बैंक एक साथ कार्य कर रहे हैं, वहाँ कृषकों से सीधा सम्पर्क प्राथमिक भूमि-विकास बैंकों का होता है, परन्तु पूँजी के लिए उन्हें केन्द्रीय भूमि-विकास बैंकों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार, दीर्घकालीन साख की व्यवस्था में अधिक महत्व केन्द्रीय भूमि-विकास बैंकों का ही है।

भूमि-बन्धक बैंक अपने वित्तीय साधन शेयर पूँजी, जमा तथा कोषों से प्राप्त करते हैं। परन्तु उनका मुख्य साधन ऋण-पत्रों (debentures) की बिक्री करना है। इन ऋण-पत्रों के मूलधन तथा ब्याज की अदायगी के लिए राज्य सरकारें गारण्टी देती हैं। देश में सहकारी बैंकों, व्यापारिक बैंकों तथा स्टेट बैंक के अतिरिक्त रिजर्व बैंक भी इन ऋण-पत्रों को खरीदता है। भूमि-विकास बैंकों को पूँजी प्रदान करने में रिजर्व बैंक का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनको कृषि-पुनर्वित्त निगम से भी वित्तीय सहायता प्राप्त होती है।

भूमि-बन्धक बैंकों का विकास तथा उनकी समस्याएँ

भारत में सबसे पहला भूमि-बन्धक बैंक सन् 1920 में पंजाब में खोला गया था। परन्तु इस प्रकार के बैंकों का वास्तविक आरम्भ सन् 1929 में हुआ जबकि मद्रास में केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक स्थापित किया गया। सन् 1951-52 में केवल 6 केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक थे जिनके द्वारा दिये गये ऋणों की राशि 2.5 करोड़ रुपये थी। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने इनके सम्बन्ध में लिखा था कि "भूमि-बन्धक बैंकों के साधन अपर्याप्त हैं जिनका माँग से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनके द्वारा दिये गये ऋणों का विकास से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। इनके कार्यों से ऐसा लगता है कि विकास की अपेक्षा पुराने ऋणों की अदायगी अधिक महत्वपूर्ण है। ये ऋण केवल बड़े किसानों तक पहुँच पाते हैं और वह भी बहुत देरी से।"[1]

योजनाकाल में भूमि-बन्धक बैंकों ने काफी प्रगति की। तीसरी योजना के अन्त तक (अर्थात् सन् 1965-66 के अन्त में) केन्द्रीय भूमि-विकास बैंकों की संख्या 18 हो गयी। जून 1969 के अन्त में इनकी संख्या 19 थी। 1968-69 में इनके द्वारा दिये गये ऋणों की राशि 143.62 करोड़ रुपये थी। उसी वर्ष प्राथमिक भूमि-विकास बैंकों की संख्या 740 थी जो जून 1970 तक 809 हो गयी। इतने विकास के बावजूद स्थिति को सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है। 65 प्रतिशत भूमि-विकास बैंक केवल तामिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश तथा मैसूर राज्यों में केन्द्रित हैं। कुछ राज्यों में प्राथमिक भूमि-विकास बैंक नहीं हैं और वहाँ केन्द्रीय भूमि बैंक कृषकों को सीधे ऋण देते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत बड़ी मात्रा में ऋण पुराने ऋणों को चुकाने के लिए ही दिये जाते हैं। कृषि-विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है।

अगस्त 1966 में प्रस्तुत की गयी चौथी योजना की रूपरेखा में सन् 1971 तक भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा 300 करोड़ रुपये के ऋण देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए अनुमान लगाया गया कि भूमि-बन्धक बैंकों को 275 करोड़ रुपये के ऋण-पत्र बेचने पड़ेंगे। चौथी पंचवर्षीय योजना में दिये गये अनुमानों के अनुसार 1960-61 से 1968-69 के बीच दीर्घकालीन साख 12 करोड़ रुपये से बढ़कर 120 करोड़ रुपये हो गयी है। चौथी योजना-काल (1969-74) के लिए आशा प्रकट की गयी है कि भूमि-विकास बैंकों से 700 करोड़ रुपये

---

1 "It may be said of the land mortgage banking system of India that, at its best, it raises inadequate funds in a manner ill-related to demand and usually lends them in a manner uncoordinated with development, acts as if prior debts, and not production, had prior claim on its attention, reaches mainly the large cultivator and reaches him late."—*Rural Credit Survey Committee.*

के ऋण प्राप्त हो सकेंगे, जिनका उपयोग मुख्य रूप से भूमि-उद्धरण (land-reclamation), भू-रक्षण (soil-conservation) तथा सिंचाई के छोटे साधनों (minor irrigation) के विकास के लिए किया जायगा।

स्पष्ट है कि आगामी वर्षों में भूमि-विकास बैंकों के विकास की ओर विशेष ध्यान देना होगा, विशेष रूप से उन क्षेत्रों में जहाँ कृषि पिछड़ी अवस्था में है और विकास के लिए वित्तीय साधनों की आवश्यकता है। परन्तु यह सम्भव तभी होगा जब भूमि-विकास बैंकों को पर्याप्त मात्रा में पूँजी उपलब्ध हो पायेगी और वे अपने साधनों का उपयोग विकास कार्यों के लिए ही करेंगे।

कृषि-पुनर्वित्त निगम

कृषि-विकास से सम्बन्धित बड़े कार्यक्रमों के लिए पुनर्वित्त की सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से 1 जुलाई, 1963 को कृषि-पुनर्वित्त निगम (Agricultural Refinance Corporation) की स्थापना की गयी। निगम की अधिकृत पूँजी 25 करोड़ रुपये है जो 10,000 रुपये प्रति शेयर की दर से 25 हजार शेयरों में विभक्त है। प्रारम्भ में 5 करोड़ रुपये के मूल्य के 5,000 शेयर ही निर्गमित किये गये। इसमें से 2,500 शेयर ही निर्गमित किये गये। इसमें से 2,500 शेयर रिजर्व बैंक ने लिये हैं। बाकी शेयर राज्य सहकारी बैंकों तथा केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों अनुसूचित बैंकों, जीवन बीमा निगम तथा अन्य बीमा और विनियोग कम्पनियों ने खरीदे हैं। इसके अतिरिक्त, निगम ने भारत सरकार से ब्याज-मुक्त दीर्घकालीन ऋण भी लिये हैं। निगम का प्रबन्ध एक सचालक बोर्ड को सौंपा गया है जिसके 9 सदस्य हैं। रिजर्व बैंक का डिप्टी गवर्नर इसका अध्यक्ष है। तीन सदस्य भारत सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। एक सदस्य रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त किया जाता है। *राज्य सहकारी बैंक, केन्द्रीय भूमि बैंक, अनुसूचित बैंकों, जीवन बीमा निगम तथा बीमा और* विनियोग कम्पनियों का एक-एक प्रतिनिधि बोर्ड में सम्मिलित रहता है।

कृषि-पुनर्वित्त निगम द्वारा इन कार्यों के लिए वित्तीय सहायता दी जाती है (1) भूमि को कृषि-योग्य बनाना अथवा भू-रक्षण कार्य करना ताकि सिंचाई की सुविधाओं का उपयोग किया जा सके, (2) विशेष प्रकार की फसलों, जैसे सुपारी, नारियल, काजू, इलाइची, रबड़, चाय इत्यादि के विकास के लिए, (3) यन्त्रीकृत खेती के विकास और नल-कूप एवं पम्पों आदि द्वारा बिजली के प्रयोग के लिए, तथा (4) पशु-पालन, डेरी फार्मों और मुर्गीपालन आदि योजनाओं के लिए। निगम से पुनर्वित्त की सुविधा केन्द्रीय भूमि बैंक, राज्य सहकारी बैंक, अनुसूचित बैंक तथा सहकारी बैंक (जो निगम के अंशधारी हैं) प्राप्त कर सकते हैं। निगम द्वारा पुनर्वित्त के रूप में इन संस्थाओं को ऋण व अग्रिम दिये जा सकते हैं तथा उनके ऋण-पत्र खरीदे जा सकते हैं। मध्य-कालीन वित्तीय सहायता अधिक से अधिक 5 वर्ष के लिए तथा दीर्घकालीन सहायता 15 वर्ष (विशेष परिस्थितियों में 20 वर्ष) के लिए दी जा सकती है।

मार्च 1971 तक कृषि-पुनर्वित्त निगम ने कृषि-विकास की कुल 427 योजनाओं को स्वीकार किया है। इन योजनाओं के लिए कुल 304 79 करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता स्वीकार की गयी है जिसमें से 253 12 करोड़ रुपये के लिए निगम वचनबद्ध है। इन योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था केन्द्रीय भूमि-विकास बैंकों द्वारा, राज्य सहकारी बैंकों द्वारा और अनुसूचित बैंकों द्वारा की जाती है। योजनाओं के कार्यान्वित होने की गति धीमी होने के कारण मार्च 1971 तक निगम से कुल 7[illegible] 18 करोड़ रुपये की धन-राशि प्राप्त की गयी थी। सन् 1968-69 के बाद निगम ने अपने कार्यों का विशेष रूप से विस्तार किया है। विश्व बैंक तथा उसके सहायक अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से कृषि-विकास के लिए प्राप्त किये गये ऋणों का एक अंश पुनर्वित्त निगम को प्राप्त हुआ है।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख पर्यवेक्षण समिति ने कृषि-पुनर्वित्त के कार्यों तथा साधनों के विस्तार का सुझाव दिया है, और यह उचित भी है। छोटे किसानों की विकास एजेन्सियों द्वारा प्रस्तावित कृषि-विकास योजनाओं के लिए निगम ने पुनर्वित्त सहायता प्रदान करना स्वीकार कर

लिया है। चौथी योजनाकाल में कृषि-विकास के कार्यक्रमों को पूरा करने में यह निगम महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है।

रिजर्व बैंक तथा कृषि-वित्त

प्रारम्भ से ही रिजर्व बैंक में कृषि-साख विभाग (Agricultural Credit Department) खोला गया, जिसे ये कार्य सौंपे गये (1) कृषि-साख सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करने के लिए विशेषज्ञ कर्मचारियों की नियुक्ति करना, जिनसे आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय व राज्य सरकारें तथा राज्य सहकारी बैंक सलाह ले सकें, (2) राज्य सहकारी बैंकों या कृषि साख सम्बन्धी कार्य करने वाली अन्य संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित करना, तथा (3) ग्रामीण वित्त और सहकारिता में सम्बन्धित व्यवस्था का अध्ययन करना एवं सुधार के उपाय सुझाना। सरकार के सलाहकार के रूप में आरम्भ से ही रिजर्व बैंक समय-समय पर कृषि-साख व्यवस्था में सुधार अथवा पुनर्गठन के सुझाव देता रहा है। रिजर्व बैंक ने कृषि के लिए अल्पकालीन, मध्यकालीन व दीर्घकालीन ऋणों का प्रबन्ध किया है और सहकारिता के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

रिजर्व बैंक तथा सहकारी साख

जैसा कि बताया जा चुका है, सन् 1951 में रिजर्व बैंक ने अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण की निर्देशक समिति नियुक्त की, जिसकी रिपोर्ट दिसम्बर 1954 में प्रकाशित हुई। इस समिति ने कृषि-साख की एकीकृत योजना (integrated scheme) का सुझाव दिया जिसका मुख्य आधार सहकारिता का पुनर्गठन तथा विकास करना था। सहकारी संगठनों में राज्य की साझेदारी, साख व गैर-साख क्षेत्रों में समन्वित सहकारी विकास तथा कर्मचारियों के प्रशिक्षण पर जोर दिया गया। स्टेट बैंक की स्थापना का सुझाव भी इसी समिति ने दिया था। एकीकृत योजना को लागू करने के लिए रिजर्व बैंक को मुख्य स्थान दिया गया। सन् 1956 में रिजर्व बैंक में दो कोष स्थापित किये गये (1) राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन कार्य) कोष [National Agricultural Credit (Long-Term Operations) Fund], तथा (2) राष्ट्रीय कृषि-साख (स्थिरीकरण) कोष [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund]। इन कोषों से राज्य सरकारों की गारण्टी पर केन्द्रीय भूमि-विकास बैंकों तथा राज्य सहकारी बैंकों को दीर्घकालीन और मध्यकालीन ऋण दिये जाते हैं।

कृषि के लिए रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान किया गया वित्त किसानों तक राज्य सहकारी बैंकों तथा भूमि-बन्धक बैंकों के माध्यम से पहुँचता है। इन संस्थाओं के लिए रिजर्व बैंक दीर्घकालीन, मध्यकालीन तथा अल्पकालीन वित्तीय सहायता की व्यवस्था करता है, परन्तु इसके द्वारा प्रदान की गयी अल्पकालीन सहायता विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। यह राज्य सहकारी बैंकों को कृषि से सम्बन्धित मौसमी कार्यों तथा फसल की बिक्री के लिए बैंक-दर से 2 प्रतिशत कम दर पर अल्पकालीन वित्तीय सहायता देता है।

प्रत्यक्ष रूप से वित्तीय सहायता देने के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने सहकारी साख के क्षेत्र में अनेक प्रकार की अन्य सेवाएँ भी प्रदान की हैं। विभिन्न स्तर के सहकारी कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी है। निरीक्षण द्वारा सहकारी संस्थाओं की स्थिति की जाँच की जाती है तथा आवश्यक सुझाव दिये जाते हैं। रिजर्व बैंक द्वारा गठित विशिष्ट अध्ययन सर्वेक्षणों के द्वारा सहकारिता की स्थिति तथा समस्याओं की जानकारी प्राप्त हुई है और सहकारी साख-व्यवस्था के विकास तथा पुनर्गठन की योजनाएँ लागू की गयी हैं। 1 मार्च, 1966 से बैंकिंग नियमन अधिनियम सहकारी समितियों पर भी लागू हो गया है। इसके अन्तर्गत आने पर अब सहकारी बैंकों को भी नकद-कोष, तरल कोषानुपात, ऋण-नियन्त्रण, निरीक्षण, लाइसेन्स आदि विषयों के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक के नियन्त्रण में रहना पड़ता है और इसके बदले में इनको वे सब अधिकार प्राप्त होते हैं जो व्यापारिक बैंकों को प्राप्त हैं।

कृषि वित्त-व्यवस्था

कृषि के लिए रिजर्व बैंक अल्पकालीन, मध्यकालीन व दीर्घकालीन—तीनों प्रकार के ऋण

देता है । ये ऋण सीधे किसानों को न देकर सहकारी संस्थाओं तथा राज्य सरकारों के माध्यम से उन तक पहुँचाये जाते है ।

अल्पकालीन साख दो प्रकार से दी जाती है—(1) अग्रिम या ऋणों (advances or loans) के रूप में, तथा (2) पुनर्कटौती की सुविधा (rediscount facilities) के रूप में । यह दोनों प्रकार की सुविधाएँ बैंक-दर से 2 प्रतिशत कम दर पर दी जाती हैं । सरकारी प्रतिभूतियों, स्वीकृत बिलों व प्रॉमिसरी नोटों की जमानत अथवा स्टेट बैंक की गारण्टी पर अग्रिम देने की व्यवस्था की गयी है । इनकी अवधि सामान्यतया 9 महीने होती है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में यह 15 महीने तक बढ़ायी जा सकती है । रिजर्व बैंक द्वारा ऐसे बिलों तथा प्रॉमिसरी नोटों व बिलों की पुनर्कटौती की जा सकती है जिनका भुगतान 15 महीने के भीतर होना हो तथा मौसमी कृषि-कार्यों अथवा फसलों की बिक्री के लिए बनाये गये हों । इन बिलों पर किसी अनुसूचित बैंक व राज्य सहकारी बैंक के हस्ताक्षरों का होना आवश्यक है ।

मध्यकालीन ऋणों के लिए रिजर्व बैंक राज्य सरकारों की गारण्टी पर राज्य सहकारी बैंकों को 15 माह से 5 वर्ष तक की अवधि के लिए ऋण दे सकता है । इनका उद्देश्य कृषि सम्बन्धी मध्यावधि स्वभाव की आवश्यकताओं के लिए वित्तीय सहायता देना है । इन ऋणों पर रिजर्व बैंक बैंक दर से $1\frac{1}{2}$ प्रतिशत कम ब्याज-दर लेता है ।

दीर्घकालीन ऋण केन्द्रीय भूमि-विकास बैंकों को राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष में से दिये जाते हैं । इन बैंकों द्वारा जारी किये गये ऋण-पत्र (debentures) खरीदकर भी दीर्घकालीन ऋण दिये जाते है । रिजर्व बैंक राज्य सरकारों को सहकारी साख संस्थाओं की शेयर पूँजी में हिस्सा लेने के लिए भी दीर्घकालीन ऋण देता है ।

रिजर्व बैंक द्वारा कृषि-क्षेत्र के लिए बड़े उदार ढंग से सहायता दी जा रही है जो रिजर्व बैंक अधिनियम में समय समय पर किये गये संशोधनों का परिणाम है । कृषि-वित्त-व्यवस्था तथा सहकारिता विकास के कार्य में रिजर्व बैंक बहुत महत्वपूर्ण भाग ले रहा है । आगामी वर्षों में कृषि विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कृषि-साख की माँग में वृद्धि होगी जिसके फलस्वरूप रिजर्व बैंक के कृषि के लिए वित्त व्यवस्था से सम्बन्धित कार्यों का भी विस्तार होगा । इन परिस्थितियों में, ग्रामीण साख पर्यवेक्षण समिति (All India Rural Credit Review Committee) के अनुसार, रिजर्व बैंक की वर्तमान प्रबन्ध-व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक होगा । जैसा कि पहले बताया जा चुका है, समिति ने रिजर्व बैंक में कृषि-साख बोर्ड (Agricultural Credit Board) की स्थापना करने का सुझाव दिया था । इस बोर्ड में कृषि साख, सहकारिता तथा बैंकिंग आदि के क्षेत्रों में विशेष अनुभव तथा योग्यता रखने वाले सदस्यों को सम्मिलित करने के लिए कहा गया था । रिजर्व बैंक के गवर्नर की अध्यक्षता में 14 सदस्यों के कृषि साख बोर्ड की स्थापना फरवरी 1970 में की जा चुकी है । एक अन्य समस्या जिस पर समिति ने ध्यान दिया था, यह है कि सहकारी समितियों की रिजर्व बैंक पर निर्भरता बहुत अधिक है, जो उनकी दुर्बलता का प्रतीक है । ऐसे उपाय करना आवश्यक होगा कि सहकारी बैंकों की जमा में वृद्धि हो और वे अपने साधन बढ़ा सकें । समिति का यह भी सुझाव था कि सहकारी बैंकों की रिजर्व बैंक पर अत्यधिक निर्भरता हतोत्साहित करने के लिए ब्याज-दर में रियायत 2 प्रतिशत से कम करके $1\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दी जाय, ताकि इनके द्वारा रिजर्व बैंक से लिये गये ऋणों पर ब्याज दर 3 प्रतिशत के बजाय $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत हो जाय ।

व्यापारिक बैंक

पिछले अध्यायों में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है कि कृषि साख की पूर्ति में व्यापारिक बैंकों का भाग नगण्य रहा है । प्रमुख व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पूर्व कुल बैंकिंग साख का केवल 2 प्रतिशत ही कृषि-क्षेत्र को दिया जाता रहा है जिससे इस क्षेत्र की साख आवश्यकताओं के केवल 0 4 प्रतिशत भाग की ही पूर्ति हुई । यह नाममात्र के ऋण भी वास्तव में बागानों (plantations) को दिये गये । अनेक सुझाव, आदेश तथा निर्देश देने के बावजूद व्यापारिक बैंकों

(करोड रुपयों में)

अनुसूचित व्यापारिक बैंकों द्वारा दिये गये कृषि ऋण

	जून 1968				जून 1969				जून 1970			
	प्रत्यक्ष ऋण		अप्रत्यक्ष ऋण		प्रत्यक्ष ऋण		अप्रत्यक्ष ऋण		प्रत्यक्ष ऋण		अप्रत्यक्ष ऋण	
	लागू सीमाएँ	बकाया राशि	लागू सीमाएँ	बकाया राशि	लागू सीमाएँ	बकाया राशि	लागू सीमाएँ	बकाया राशि	लागू सीमाएँ	बकाया राशि	लागू सीमाएँ	बकाया राशि
ट बैंक समूह	2 50	1 09	38 51	16 17	29 90	11 06	119 43	88 85	94 53	55 51	178 82	86 40
ष्ट्रीयकृत बैंक	9 14	4 69	23 26	5 89	49 87	29 16	111 35	33 27	137 53	104 87	107 48	54 87
य अनुसूचित व्यापारिक बैंक	9 60	8 52	13 74	8 22	15 75	13 39	20 70	12 69	27 92	23 59	27 33	16 52
कुल	21 24	14 30	75 51	30 28	95 52	53 61	251 48	134 81	259 98	183 98	313 63	157 79

ने अपने आप को कृषि-क्षेत्र से दूर रखा। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना का तो मुख्य उद्देश्य ही यह था कि यह बैंक कृषि साख की व्यवस्था में अधिक योग दे सकेगा। परन्तु इसके द्वारा भी कुछ समय पूर्व तक कृषि-वित्त का व्यवसाय केवल कुछ चुनी हुई शाखाओं द्वारा किया जाता रहा है और कृषकों से सीधा सम्बन्ध नहीं रखा गया। स्टेट बैंक ने मुख्य रूप से सहकारी बैंकों को सहायता देकर ही कृषि-वित्त-व्यवस्था में सहयोग दिया।

1968 के बाद व्यापारिक बैंकों की कृषि-साख से सम्बन्धित नीति में परिवर्तन हुआ है। 1968 में अनुसूचित व्यापारिक बैंकों के सम्मिलित प्रयास से कृषि-वित्त निगम (Agricultural Finance Corporation) की स्थापना हुई। इस निगम की अधिकृत पूँजी 100 करोड़ रुपये तथा चुकता पूँजी 5 करोड़ रुपये है। इसका उद्देश्य कृषि-विकास के लिए व्यापारिक बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋणों को बढ़ावा देना है और कृषि-कार्य करने वाले व्यक्तियों, संस्थाओं तथा संगठनों के लिए वित्तीय सहायता की व्यवस्था करना है।

व्यापारिक बैंकों से प्राप्त होने वाली कृषि-साख दो प्रकार की है (1) अप्रत्यक्ष ऋण (indirect finance), जिसके अन्तर्गत रासायनिक खादों आदि के वितरण के लिए दिये गये ऋण, विद्युत बोर्डों को सिंचाई के लिए बिजली देने हेतु ऋण, भूमि-विकास बैंकों के ऋण-पत्रों की खरीद तथा अन्य प्रकार के ऋण सम्मिलित हैं। (2) प्रत्यक्ष ऋण (direct finance) जो सीधे किसानों को दिये जाते हैं। गत पृष्ठ पर दी गयी तालिका में अनुसूचित व्यापारिक बैंकों द्वारा कृषि साख के क्षेत्र में की गयी प्रगति का विवरण प्रस्तुत है।

अब तक संस्थागत कृषि-साख का मुख्य स्रोत सहकारी बैंक ही रहे हैं। आगामी वर्षों में, जैसा कि अनुमान है, कृषि साख की माँग में बहुत अधिक वृद्धि होगी। इसकी पूर्ति अकेले सहकारी बैंक नहीं कर पायेंगे। इस दशा में सरकार से भी अधिक आशा नहीं की जा सकती है। स्पष्ट है कि व्यापारिक बैंकों को कृषि साख की पूर्ति में महत्वपूर्ण भाग लेना पड़ेगा। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद उनकी ऋण-नीति को अर्थ-व्यवस्था के हित में निर्देशित करना अब कठिन कार्य नहीं रहा है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण की घोषणा के कुछ दिन बाद ही ग्रामीण साख पर्यवेक्षण समिति द्वारा प्रस्तुत की गयी रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था कि व्यापारिक बैंकों का कृषि वित्त की पूर्ति में हिस्सा बढ़ना अनिवार्य है। बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो जाने से समिति की सिफारिशों को प्रभावपूर्ण ढंग से लागू करना कठिन कार्य नहीं होगा।

कृषि-साख की समस्या का उचित हल यही है कि सहकारी संस्थाओं के अतिरिक्त व्यापारिक बैंक भी कृषि विकास के लिए आवश्यक वित्त की व्यवस्था करें। यदि किसानों को सीधे ऋण देने में कोई कठिनाई हो तो सहकारी समितियों के माध्यम द्वारा ऋण दिये जा सकते हैं। व्यापारिक बैंक तथा सहकारी बैंक मिलकर कृषि-साख की उलझी हुई समस्या को सुलझा सकते हैं।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 कृषि साख की समस्या का उल्लेख कीजिए। इसको किन किन साधनों से प्राप्त किया जाता है ?

[संकेत कृषि के लिए साख का महत्व स्पष्ट कीजिए और इसके आकार तथा स्वरूप की व्याख्या के आधार पर यह बताइए कि कृषि-साख की वास्तविक समस्या ऋण की विधि, उससे सम्बन्धित अनियमितताओं तथा उसके दुरुपयोग से सम्बन्धित है। दूसरे भाग में कृषि-साख के विभिन्न स्रोतों का उल्लेख कीजिए और यह स्पष्ट कीजिए कि कृषि-साख की पूर्ति में संस्थागत साख की अपेक्षा व्यक्तिगत साख की प्रधानता है।]

2 महाजन व देशी बैंकर में क्या अन्तर है ? क्या इनको समाप्त करना आवश्यक है ?

[संकेत महाजन तथा देशी बैंकर के कार्यों के आधार पर दोनों में अन्तर स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग में यह बताइए कि इनमें सरलता तथा लोच के गुण होते हुए भी दोष बहुत अधिक हैं जिनके सुधार के लिए कुछ उपाय किये भी गये हैं। परन्तु इनका सुधार करना बहुत कठिन है क्योंकि इन पर जो भी नियन्त्रण लगाये जाते हैं उनसे बचने के उपाय ये साथ ही ढूंढ लेते हैं। इनके वर्तमान रूप को समाप्त करना ही होगा, परन्तु उसके पूर्व अन्य साधनों का इस प्रकार विकास कर लिया जाय कि इनका महत्व समाप्त हो जाय।]

3 भारत की सहकारी बैंक व्यवस्था का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए। सहकारी बैंक अपने उद्देश्यों की पूर्ति में कहाँ तक सफल हुए हैं ?

[संकेत सहकारी बैंकों के संगठन का विवरण दीजिए। दूसरे भाग में सहकारी साख आन्दोलन की प्रगति तथा समस्याओं की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

4. भारत में सहकारी बैंकों के विकास के लिए क्या उपाय किये गये हैं और उनमें कहाँ तक सफलता मिली है ?

[संकेत : सन् 1951-52 के बाद सहकारिता विकास के क्षेत्र में अपनाये गये विभिन्न कार्यक्रमों का उल्लेख कीजिए। *ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति तथा ग्रामीण साख पर्यवेक्षण समिति द्वारा दिये गये सुझावों का विशेष रूप* से विवरण दीजिए। दूसरे भाग में यह स्पष्ट कीजिए कि समितियों की संख्या में वृद्धि हुई है और उनके द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की राशि में भी वृद्धि हुई है, परन्तु अभी तक इनके कार्यों से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ बनी हुई हैं।]

5. भूमि विकास बैंक क्या हैं ? इनका कृषि-वित्त में महत्व बताइए।

[संकेत : भूमि-बन्धक (विकास) बैंकों के संगठन, कार्य तथा उद्देश्यों का विवरण दीजिए। दूसरे भाग में इनके कार्यों के महत्व पर प्रकाश डालिए और इनके दोषों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।]

6. कृषि-वित्त के क्षेत्र में रिजर्व बैंक की सेवाओं का उल्लेख कीजिए।

[संकेत : रिजर्व बैंक के कृषि-साख विभाग के कार्यों तथा उनसे सम्बन्धित कार्यवाही का विवरण दीजिए। सहकारी बैंकों तथा राज्य सरकारों को रिजर्व बैंक द्वारा दिये जाने वाले कृषि-ऋणों का स्वरूप तथा महत्व स्पष्ट कीजिए। सुधार के लिए दिये गये सुझाव भी बताइए।]

7. व्यापारिक बैंकों द्वारा कृषि वित्त-व्यवस्था में सहयोग देना क्यों आवश्यक है ? स्टेट बैंक ने इस दिशा में क्या प्रगति की है ?

[संकेत : कृषि-साख की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यापारिक बैंकों के सहयोग की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए। दूसरे भाग में स्टेट बैंक के कृषि तथा साख सहकारिता के विकास से सम्बन्धित कार्यों की सफलता का उल्लेख कीजिए।]

8. नोट लिखिए : कृषि-पुनर्वित्त निगम।

[संकेत : निगम के उद्देश्य, कार्य तथा महत्व का उल्लेख कीजिए।]

34

औद्योगिक वित्त

[INDUSTRIAL FINANCE]

वित्त उद्योग का जीवन रक्त है। उद्योगों की स्थापना, सचालन तथा विस्तार के लिए पर्याप्त मात्रा मे वित्त की आवश्यकता होती है। उद्योगों मे लगी पूँजी साधारणतया दो प्रकार की होती है—(1) स्थायी (fixed) अथवा दीर्घकालीन पूँजी, और (2) कार्यशील (working) अथवा अल्पकालीन पूँजी। स्थायी पूँजी की आवश्यकता नया उद्योग आरम्भ करते समय भूमि, भवन, मशीनें तथा औजार आदि खरीदने के लिए होती है। चालू उद्योगो को भी परिवर्तन, सुधार व विस्तार कार्यक्रमों के लिए स्थायी पूँजी की आवश्यकता पडती है। कार्यशील पूँजी कच्चे तथा तैयार माल का स्टॉक रखने, श्रमिकों के वेतन के भुगतान तथा अन्य दैनिक कार्यों के लिए आवश्यक होती है। स्थायी अथवा दीर्घकालीन पूँजी को **पूँजी-बाजार** (capital market) से प्राप्त किया जाता है। कार्यशील तथा अल्पकालीन पूँजी **मुद्रा-बाजार** (money market) से प्राप्त होती है जिसमे बैंको का महत्वपूर्ण स्थान है।

वित्त की आवश्यकता सभी प्रकार के उद्योगो के लिए होती है। सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) के उद्योगो के लिए वित्त का प्रबन्ध करना सरकार की जिम्मेदारी है, जिसे सरकार आन्तरिक साधनों से अथवा विदेशों से ऋण लेकर पूरा करती है। वित्त की वास्तविक समस्या निजी क्षेत्र (private sector) के उद्योगो के लिए है। ये उद्योग अपनी वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पूँजी-बाजार तथा मुद्रा-बाजार पर निर्भर करते हैं। इस क्षेत्र के उद्योगो का सही ढग से विकास तभी सम्भव हो पाता है जब इनके लिए **पर्याप्त मात्रा मे, अनुकूल समय पर तथा उचित दरो पर औद्योगिक वित्त की व्यवस्था** की जा सके। इस प्रकार की व्यवस्था करना छोटे तथा बडे सभी प्रकार के उद्योगो के लिए आवश्यक है।

छोटे पैमाने के उद्योगो के लिए वित्त-व्यवस्था

भारत के औद्योगिक ढाँचे मे छोटे उद्योगों[1] के महत्व को स्वीकार किया गया है और इनके विकास को प्रोत्साहन देना आवश्यक समझा गया है। इन उद्योगो के लिए भी पर्याप्त वित्त की आवश्यकता होती है। परन्तु इन्हे न तो सगठित पूंजी-बाजार से ही सहायता मिल पाती है और न ही व्यापारिक बैंक इनमे पूँजी लगाना चाहते हैं। छोटे उद्योगो की वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए गत वर्षों मे निम्नलिखित साधनो द्वारा सहयोग प्राप्त हुआ है

(1) राज्यों मे उद्योगो को सरकारी सहायता अधिनियम (State Aid to Industries Act) बनाये गये हैं जिनके अन्तर्गत राज्य सरकार के उद्योग विभाग द्वारा छोटे उद्योगों को ऋण दिये जाते है।

(2) सन् 1951 म भारत सरकार द्वारा राज्य वित्त निगम अधिनियम पास

---

1 साधारणतया 5 लाख रुपये तक की कुल स्थायी पूजी (gross fixed capital) वाले उपक्रम छोटे उद्योगो की श्रेणी म, 5 से 20 लाख रुपये की कुल स्थायी पूजी वाले उपक्रम मध्यम आकार के उद्योगो की श्रेणी मे तथा 20 लाख रुपये या इससे अधिक की कुल स्थायी पूजी वाले उपक्रम बडे उद्योगो की श्रेणी मे रखे जाते हैं।

किया गया, जिसके अन्तर्गत लगभग सभी राज्यों में राज्य वित्त निगम (State Financial Corporation) स्थापित किये गये हैं। ये छोटे तथा मध्यम आकार के उद्योगों को मध्यम व दीर्घकालीन साख प्रदान करते हैं, प्रत्यक्ष ऋण देने के अतिरिक्त, कम्पनियों के अंश व ऋण-पत्रों का अभिगोपन करते हैं, ऋण-पत्रों की बिक्री पर गारण्टी देते हैं तथा स्वयं भी ऋण-पत्र खरीदते हैं। कुछ राज्यों में छोटे उद्योगों को दिये जाने वाले ऋणों के लिए ये राज्य सरकारों के एजेण्ट के रूप में भी कार्य कर रहे हैं।

(3) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation) की स्थापना सन् 1955 में की गयी। यह छोटे उद्योगों की सहायता के लिए अनेक कार्य करता है। इनके लिए आवश्यक मशीनें तथा साज-सामान किस्तों पर दिये जाते हैं। इस निगम को यह भी अधिकार है कि छोटे उद्योगों को बैंकों तथा अन्य साख-संस्थाओं से प्राप्त होने वाले ऋणों की गारण्टी दे और उनका अभिगोपन करे।

(4) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा उसके सहायक बैंक छोटे पैमाने के उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने में महत्वपूर्ण योग देते रहे हैं। इस उद्देश्य से स्टेट बैंक ने अनेक प्रकार की योजनाएँ अपनायी है तथा सरकार द्वारा बनायी गयी योजनाओं में सहयोग दिया है।

(5) व्यापारिक बैंक भी छोटे उद्योगों को वित्तीय सहायता दे रहे हैं। राष्ट्रीयकरण के पूर्व व्यापारिक बैंकों ने मुख्य रूप से बड़े उद्योगों को वित्तीय सहायता देने की ओर ही अधिक ध्यान दिया है। परन्तु अब छोटे उद्योगों को दिये जाने वाले ऋणों की राशि निरन्तर बढ़ रही है।

(6) रिजर्व बैंक राज्य वित्त निगमों तथा राज्य सहकारी बैंकों के माध्यम से छोटे उद्योगों के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करता है। ऋण गारण्टी योजना के अन्तर्गत व्यापारिक बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा छोटे उद्योगों को प्रदान किये गये ऋणों पर रिजर्व बैंक गारण्टी देता है।

स्पष्ट है कि छोटे एवं मध्यम आकार के उद्योगों के लिए आवश्यक वित्त का आयोजन करने के लिए अनेक प्रबन्ध किये गये हैं। परन्तु अभी तक प्राप्त होने वाली सुविधाएँ इस प्रकार के उद्योगों के विकास की आवश्यकताएँ पूरा करने के लिए अपर्याप्त रही हैं। अनुसूचित व्यापारिक बैंकों द्वारा छोटे उद्योगों को दिये गये ऋणों का विवरण निम्न तालिका में दिया गया है

अनुसूचित व्यापारिक बैंकों द्वारा छोटे उद्योगों को दिये गये ऋण (करोड़ रुपयों में)

	मार्च 1969			मार्च 1970			मार्च 1971		
	इकाइयों की संख्या	लागू सीमाएँ	बकाया राशि	इकाइयों की संख्या	लागू सीमाएँ	बकाया राशि	इकाइयों की संख्या	लागू सीमाएँ	बकाया राशि
स्टेट बैंक समूह	24069	179 2	93 1	36935	276 9	152 2	48731	320 4	197 0
राष्ट्रीयकृत बैंक	20057	270 0	135 8	37072	393 4	198 7	46238	459 1	243 5
अन्य अनु० व्या० बैंक	5605	59 1	32·8	7718	79 0	43 0	8581	88 8	52 6
कुल	49731	508 3	261 7	81725	749 3	393 9	103550	868 3	493·1

बड़े उद्योगों के लिए वित्त-व्यवस्था

बड़े उद्योगों के लिए पूँजी प्राप्त करने के मुख्यतया दो साधन हैं (1) आन्तरिक, तथा (2) बाह्य। आन्तरिक साधनों से अभिप्राय लाभ के पुनर्विनियोग (ploughing back of profits) से है। विकसित देशों में औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में आन्तरिक साधनों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। परन्तु भारत में उद्योग बाह्य साधनों पर ही मुख्य रूप से निर्भर करते रहे हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व उद्योगपतियों ने अपने स्वयं के वित्तीय साधनों को संग्रह करके, कम्पनियों के अंश बेचकर, बैंकों से ऋण लेकर अथवा मैनेजिंग एजेण्टों के द्वारा वित्त संग्रह करके उद्योगों की स्थापना की। औद्योगिक बैंकों की स्थापना के लिए सन् 1906 से 1913 के बीच तथा सन् 1917 से 1921 के बीच प्रयत्न किये गये। दोनों समय अनेक औद्योगिक बैंक बने भी, परन्तु बाद में वे सब फेल हो गये। इस प्रकार, अधिकांश औद्योगिक वित्त व्यक्तिगत साधनों से ही प्राप्त होता रहा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में औद्योगीकरण की योजनाएँ बनायी गयीं। विशेष रूप से

सन् 1961-62 के बाद देश में तेजी से औद्योगीकरण का कार्य आरम्भ हुआ। बड़े उद्योगों के लिए संस्थागत वित्त (institutional finance) की व्यवस्था करने के उद्देश्य से वित्तीय संस्थाओं की स्थापना की गयी है। इस प्रकार निजी क्षेत्र के उद्योग अपनी स्थापना, संचालन तथा विकास के लिए आवश्यक वित्तीय साधन उद्योगपतियों के निजी साधनों तथा लाभ के पुनर्विनियोग के अतिरिक्त अंशों तथा ऋण-पत्रों (debentures) की बिक्री, मैनेजिंग एजेन्टों, बैंकों तथा विभिन्न विशिष्ट वित्त निगमों अथवा संस्थाओं से प्राप्त कर सकते हैं।

विशिष्ट वित्त संस्थाएँ

औद्योगिक वित्त की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त कई वित्त संस्थाओं की स्थापना की गयी है। इनकी स्थापना तथा संचालन में सरकार ने विशेष सहयोग दिया है। इन संस्थाओं के कारण देश में औद्योगिक वित्त के साधनों का विस्तार हुआ है तथा निजी क्षेत्र में उद्योगों को महत्वपूर्ण सहायता मिली है। व्यापारिक बैंक उद्योगों के लिए मुख्यतया कार्यशील पूँजी का ही प्रबन्ध कर पाते हैं। वित्तीय संस्थाएँ उद्योगों की मध्य तथा दीर्घकालीन वित्त की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। इनके कारण औद्योगिक वित्त के साधनों का विस्तार हुआ है। इनमें से प्रमुख संस्थाओं का विस्तृत वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India)

मार्च 1948 में पास किये गये अधिनियम के अन्तर्गत 1 जुलाई, 1948 को भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना हुई। निगम का उद्देश्य ऐसे उद्योगों के लिए मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन वित्त की व्यवस्था करना है जिनका सम्बन्ध उत्पादन, खनन अथवा किसी अन्य प्रकार के उत्पादन (विद्युत शक्ति, जहाजरानी आदि) से हो और जिनको देश की बैंकिंग संस्थाओं या अन्य साधनों से प्राप्त होने वाली सहायता पर्याप्त न हो।

निगम के कार्य—निगम का कार्यक्षेत्र तथा इसके द्वारा दी जाने वाली सहायता का आकार बढ़ाने के उद्देश्य से इससे सम्बन्धित अधिनियम में संशोधन किये जाते रहे हैं। अब तक निगम को केवल सार्वजनिक सीमित कम्पनियों (Pubic Limited Companies) तथा सहकारिता के आधार पर गठित औद्योगिक संस्थाओं को ऋण देने का अधिकार था। निजी सीमित कम्पनियों (Pnvate Limited Companies), साझेदारी व एकाकी संस्थाओं तथा सरकारी औद्योगिक संस्थाओं को सहायता नहीं दी जा सकती थी। परन्तु अब सरकार ने निगम को अनुमति दे दी है कि वह लोक-क्षेत्र के उपक्रमों तथा सरकारी कम्पनियों को भी वित्तीय सहायता दे सकता है, यदि उनके द्वारा कुछ विशेष शर्तें पूरी की जाती हों। सन् 1960 के संशोधन के अनुसार निगम को औद्योगिक संस्थाओं के शेयर खरीदने का अधिकार दिया गया, जो पहले नहीं था। निगम की इच्छा से उसके द्वारा दिये गये ऋण की रकम को उस उद्योग के स्टॉक या शेयर्स में परिवर्तित किया जा सकता है। किसी एक फर्म को 2 करोड़ रुपये तक का वित्त प्रदान किया जा सकता है। पहले यह सीमा 1 करोड़ रुपये थी।

औद्योगिक वित्त निगम औद्योगिक संस्थाओं की कई प्रकार से सहायता कर सकता है

(1) यह औद्योगिक संस्थाओं को 25 वर्ष तक की अवधि के अग्रिम व ऋण देकर अथवा उनके ऋण-पत्र खरीदकर सहायता कर सकता है।

(2) औद्योगिक कम्पनियों द्वारा खुले बाजार में लिये गये 25 वर्ष तक की अवधि के ऋणों पर यह गारण्टी दे सकता है।

(3) यह कम्पनियों के स्टॉक, शेयर, बॉण्ड या ऋण-पत्रों का निम्नांकन अथवा अभिगोपन (underwriting) कर सकता है। परन्तु यह कार्य करते समय जो ऋण-पत्र व शेयर निगम के पास रह जायें वे सात वर्ष के भीतर अवश्य बेच देने चाहिए।

(4) कुछ विशेष उद्योगों को विदेशी मुद्रा में सहायता प्रदान करता है।

(5) देश के बाहर के किसी बैंक या वित्तीय संस्था से लिये गये ऋण व साख-प्रबन्ध पर गारण्टी देता है।

(6) कुछ स्वीकृत औद्योगिक सस्थाओ द्वारा विदेशो से आयात की गयी व देश मे खरीदी गयी पूँजीगत वस्तुओं पर विलम्बित भुगतान पद्धति (deferred payments) के सम्बन्ध मे गारण्टी देता है।

(7) औद्योगिक सस्थाओ के स्टॉक व शेयर खरीदता है।

अनेक प्रकार से वित्तीय सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त औद्योगिक वित्त निगम कई दिशाओ मे प्रवर्तको (*promoters*) को बहुमूल्य परामर्श व निर्देशन प्रदान कर सकता है। औद्योगिक सस्थाओ की विभिन्न प्रकार से की जाने वाली सेवाओ के बदले निगम कमीशन प्राप्त करता है।

सन् 1948 से 30 जून, 1971 तक औद्योगिक वित्त निगम द्वारा 365 67 करोड रुपये की वित्तीय सहायता स्वीकृत की गयी है जिसमे से 318 76 करोड रुपये का वास्तविक वितरण (disbursement) हो चुका है। निगम द्वारा स्वीकृत सहायता मे 43 58 करोड रुपये के बराबर विदेशी मुद्राओं मे ऋण भी सम्मिलित है। अब तक दी गयी सहायता मे सबसे अधिक भाग सहकारी चीनी मिलो को प्राप्त हुआ है। राज्यो मे सबसे अधिक सहायता महाराष्ट्र को मिली है।

1969-70 मे निगम ने 20 8 करोड रुपये के ऋणो की स्वीकृति दी थी, परन्तु वास्तविक वितरण 16 4 करोड रुपये का ही हुआ था। 1970-71 मे स्वीकृत ऋणो की राशि 35 32 करोड रुपये हो गयी, परन्तु वितरण की स्थिति मे कोई विशेष सुधार नही हुआ। दो महत्वपूर्ण परिवर्तन ये हुए हैं कि *सार्वजनिक क्षेत्र मे सगठित सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनियो* को भी निगम द्वारा सहायता दी जाने लगी है। दूसरे, पिछडे जिलो मे स्थापित औद्योगिक इकाइयो को रियायती दरो पर ऋण देने की व्यवस्था की गयी है।

निगम की पूंजी के साधन—निगम की कुल अधिकृत पूंजी 10 करोड रुपये है जो पाच-पाँच हजार रुपये के 20 हजार अशो मे विभक्त है। आरम्भ मे निगम द्वारा केवल 10 हजार शेयर निर्गमित किये गये थे। बाद मे दो शृखलाओ मे और अश निर्गमित किये गये। इस समय निगम की प्रदत्त पूंजी (paid-up capital) 8 35 करोड रुपये है। आरम्भ मे निगम के अशो का वितरण भारत सरकार, रिजर्व बैंक, बीमा कम्पनियो और सहकारी बैंको के बीच किया गया। 1 जुलाई, 1964 को भारतीय विकास बैंक (IDBI) स्थापित हो जाने पर भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक द्वारा क्रय किये गये शेयर उसको हस्तान्तरित कर दिये गये। इस समय निगम के 50 प्रतिशत शेयर औद्योगिक विकास बैंक के पास हैं। औद्योगिक वित्त निगम की अश-पूंजी के सम्बन्ध मे उल्लेखनीय बात यह है कि इसके अश केवल वित्तीय सस्थाओ को ही दिये गये हैं। शेयरो मे लगी पूंजी तथा लाभाश पर केन्द्रीय सरकार ने गारण्टी दी है। निगम अपना कार्य करने के लिए निम्न साधनो से पूंजी प्राप्त करता है

(1) *ऋण-पत्र या बॉण्ड बेचकर निगम बाजार से ऋण ले सकता है।* ऋणो की कुल मात्रा कुल प्रदत्त पूंजी व सरक्षित कोष के दस गुने से अधिक नहीं हो सकती। स्थापना के समय यह सीमा पांच गुनी थी, जो सन् 1967 म दस गुनी कर दी गयी। बॉण्डो के मूलधन व ब्याज पर केन्द्रीय सरकार की गारण्टी होती है।

(2) सन् 1952 मे किये गये सशोधन के अनुसार निगम रिजर्व बैंक से 18 महीने तक के लिए 3 करोड रुपये तक के ऋण ले सकता है।

(3) निगम केन्द्रीय सरकार से भी ऋण ले सकता है। अप्रेल 1971 मे केन्द्र सरकार से लिये गये ऋणो की बकाया राशि 77 73 करोड रुपये थी।

(4) निगम विश्व बैंक व अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ से केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से विदेशी मुद्रा मे भी ऋण ले सकता है। विदेशी मुद्राओ मे लिये गये ऋणो की बकाया राशि अप्रेल 1971 मे 21 25 करोड रुपये के बराबर थी।

(5) निगम को जनता से जमा लेने का भी अधिकार है परन्तु जमा की अवधि कम से कम [illegible] वर्ष हो, और रकम अधिक से अधिक 10 करोड रुपये हो सकती है।

निगम का प्रबन्ध—निगम का प्रबन्ध एक सचालक बोर्ड द्वारा होता है, जिसमें 12 सदस्य होते हैं। दो सचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा तीन औद्योगिक विकास बैंक द्वारा मनोनीत होते हैं। छ सचालक अनुसूचित बैंको व अन्य सस्थाओ द्वारा निर्वाचित होते हैं। प्रबन्ध-सचालक (Managing Director) की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। इसके अतिरिक्त, पांच सदस्यों की एक केन्द्रीय समिति भी होती है जिसमें प्रबन्ध-सचालक भी सम्मिलित होता है। यह समिति दिन प्रति दिन के कार्यों म सचालक मण्डल की सहायता करती है। पांच विशेष परामर्शदाता समितियां जिनका सम्बन्ध वस्त्र, इन्जीनियरिंग, रसायन, चीनी तथा विधि उद्योगो से है।

निगम के कार्यों की आलोचना—औद्योगिक वित्त निगम ने अपने कार्यक्षेत्र में वृद्धि की और भारत के औद्योगिक ढांचे मे अपना निश्चित स्थान बना लिया है। परन्तु कई कारणो से निगम के कार्यों की आलोचना की जाती है। सबसे बडा आरोप तो यह है कि इसने देश मे आर्थिक शक्ति के सकेन्द्रीकरण मे सहायता दी है। ऋण स्वीकृत करने मे मनमानी और पक्षपात से काम लिया गया है। अधिकतर लाभ कुछ बडे उद्योगपतियो को ही मिला है। निगम से प्राप्त ऋणों के सम्बन्ध म विभिन्न राज्यो म काफी अन्तर पाया जाता है। पिछडे हुए राज्यो को बहुत कम सहायता मिल पाई है। ऐसे औद्योगिक उपक्रमो को अधिक ऋण मिले हैं जो पचवर्षीय योजनाओ के प्राथमिकता क्रम म नीचे थ। ऋण केवल सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनियो तथा सहकारी सस्थाओ तक ही सीमित रखे गये हैं। निगम द्वारा दिये गये अधिकाश ऋण मध्यकालीन रहे हैं, दीर्घकालीन नहीं। प्रशासनिक व्यवस्था कुशल न होने के कारण ऋण स्वीकार करने तथा बाँटने मे काफी समय लगता है। निगम के कार्य तथा नीति मे सुधार की आवश्यकता है।

राज्य वित्त निगम (State Financial Corporations)

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना से बडे उद्योगो को ही सहायता मिल सकती है। लघु तथा मध्यम श्रेणी के उद्योगो की दीर्घ तथा मध्यकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सन् 1951 के राज्य वित्त निगम अधिनियम के अन्तर्गत राज्यों म राज्य वित्त निगम स्थापित किये गय हैं।

अधिनियम के अनुसार राज्य वित्त निगम की अधिकृत पूँजी 50 लाख रुपये से 5 करोड रुपय तक हो सकती है। इस पूँजी का 75 प्रतिशत राज्य सरकार, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंको, सहकारी बैंको, बीमा कम्पनियों तथा अन्य वित्तीय सस्थाओ से प्राप्त होना चाहिए। शेष 25 प्रतिशत पूँजी शेयर बचकर जनता से प्राप्त की जा सकती है। इसके शेयरों पर राज्य सरकार की गारण्टी होती है। मई 1971 मे कुल 18 राज्य वित्त निगम थे और उनकी चुकता पूँजी 21 11 करोड रुपये थी।

शेयर पूँजी के अतिरिक्त राज्य वित्त निगम अपनी चुकता पूँजी व सरक्षित कोष के 5 गुने तक बॉण्ड व ऋण-पत्र बेचकर पूँजी प्राप्त कर सकते हैं। ये निगम अन्य वित्तीय सस्थाओं से भी ऋण प्राप्त कर सकते हैं। आवश्यकता पडने पर रिजर्व बैंक से अल्पकालीन अथवा माँग पर देय ऋण प्राप्त करते हैं। कम से कम 5 वर्ष की अवधि के लिए जनता से जमा प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु कुल जमा राशि चुकता पूँजी की राशि से अधिक नहीं होनी चाहिए।

राज्य वित्त निगम लघु व मध्यम आकार की सीमित पूँजी वाली कम्पनियो, सहकारी सस्थाओ, निजी कम्पनियो, साझेदारी की अथवा एकाकी फर्मों को अधिक से अधिक 20 वर्ष के लिए ऋण दे सकते हैं। किसी एक सस्था को 15 हजार रुपये से लेकर 20 लाख रुपये तक का ऋण दिया जा सकता है। ये निगम औद्योगिक सस्थाओ द्वारा जारी किये गये अशो, बॉण्डो तथा ऋण पत्रो का अभिगोपन भी करते हैं। इन्हे औद्योगिक सस्थाओ द्वारा 20 वर्ष की अवधि के लिए लिये गय ऋणो पर गारण्टी देने का अधिकार है।

इस समय देश मे 1[illegible] राज्य वित्त निगम हैं। इनके दायित्व तथा परिसम्पत्तिया (liabilities and assets) की कुल राशि मई 1971 म 165 80 करोड रुपये थी, जिसम से 130 73 करोड रुपये ऋणो म, 9 67 करोड रुपये अशो म, 2 18 करोड रुपये सरकारी प्रतिभूतिया मे तथा 67 लाख

रुपये ऋण-पत्रो मे लगे हुए थे। अन्य परिसम्पत्तियों की राशि 15·71 करोड रुपये थी । इनके पास 6 84 करोड रुपये नक्दी के रूप मे अथवा बैंको के पास जमा थे।

राज्य वित्त निगमों का कार्य बडा महत्वपूर्ण है। परन्तु व्यावहारिक रूप मे इन्होंने मध्यम श्रेणी के उद्योगों की ओर ही अधिक ध्यान दिया है, छोटे उद्योगों को बहुत कम मात्रा में पूंजी मिल पायी है। इन्होने साख गारण्टी योजना का भी पूरा लाभ नही उठाया है। इन्होंने निम्नांकन के कार्य मे पर्याप्त प्रगति नहीं की है और न ही ऋणो की गारण्टी करने के कार्य की ओर विशेष ध्यान दिया है। कुछ के पास कोषो का अभाव पाया जाता है तो अन्य के पास कोष निष्क्रिय पडे रहते हैं। कार्यक्षमता मे कमी के कारण राज्य वित्त निगमों द्वारा दिये गये ऋणो की वसूली भी सन्तोषजनक नही रही है।

राज्य औद्योगिक विकास निगम (*State Industrial Development Corporations*)

राज्य औद्योगिक विकास निगम 14 राज्यो मे कार्य कर रहे हैं। इनका उद्देश्य स्वय अपने ही प्रबन्ध मे अथवा निजी क्षेत्र के उद्योगपतियो के साथ साझे मे उद्योगो की स्थापना करना तथा औद्योगिक विकास के लिए सहायता देना है। ये निगम औद्योगिक विकास से सम्बन्धित सर्वेक्षण तथा अध्ययन करते हैं और औद्योगिक बस्तियाँ स्थापित कर सकते हैं। इनको निजी अथवा सार्वजनिक उद्योगों की अश-पूंजी मे सम्मिलित होने, अभिगोपन करने तथा ऋणो पर गारण्टी देने के भी अधिकार प्राप्त हैं। व्यावहारिक रूप मे इन निगमो ने अपने कार्यक्षेत्र को अपने राज्य की औद्योगिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित कुछ मुख्य कार्यो तक ही सीमित रखा है। महाराष्ट्र, गुजरात तथा तामिलनाडु मे विकास निगमो के अतिरिक्त विनियोग निगम भी कार्य कर रहे ह। 1969-70 मे राज्य विकास निगमो ने 17 1 करोड रुपये की सहायता की स्वीकृति दी और 9 3 करोड रुपये की सहायता का वितरण किया।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation)

इस निगम की स्थापना 20 अक्टूबर, 1954 को भारत सरकार के अधीन एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी के रूप मे हुई। इसकी अधिकृत पूंजी 1 करोड रुपये है, जो भारत सरकार द्वारा ही लगायी गयी है।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम का उद्देश्य एक सरकारी एजेन्सी की भांति विशेष क्षेत्रो मे कुछ विशेष उद्योगो का विकास करने मे सहायता देना है। देश मे सन्तुलित व एकीकृत औद्योगिक विकास की प्राप्ति के उद्देश्य से यह निगम सार्वजनिक व निजी क्षेत्र मे सहयोग स्थापित करने के लिए बनाया गया है। इसका प्रमुख उद्देश्य औद्योगिक विकास के कार्य मे सहायता देना है, वित्त प्रदान करना इसका केवल गौण उद्देश्य है। यह औद्योगिक परियोजनाओ का अध्ययन करता है, उनकी परीक्षा करता है तथा उन्हें कार्यान्वित करने मे आवश्यक प्राविधिक सहायता प्रदान करता है। अन्य दशाओं मे वह स्वय भी उद्योग स्थापित कर सकता है जो आगे चलकर निजी क्षेत्र मे सहायक उद्योग स्थापित करने मे सहायक होंगे।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निगम किसी भी औद्योगिक सगठन को आर्थिक सहायता दे सकता है, चाहे वह सरकारी उद्योग हो अथवा निजी उद्योग, चाहे वह कम्पनी हो या किसी प्रकार की फर्म अथवा वैधानिक सस्था। निगम उद्योगो को ऋण एव अग्रिम प्रदान कर सकता है, उनके अश व ऋण-पत्रों की खरीद, अभिगोपन या लेन-देन कर सकता है तथा अन्य साधनो से प्राप्त ऋणों पर गारण्टी दे सकता है। उद्योगो द्वारा निर्गमित अशो और ऋण-पत्रो पर वह गारण्टी भी दे सकता है।

प्रारम्भ मे इस निगम का मुख्य उद्देश्य जूट तथा सूती वस्त्र उद्योगों के पुनर्स्थापन (rehabilitation) तथा अभिनवीकरण (modernisation) के लिए वित्तीय सहायता देना था। बाद मे मशीन-टूल उद्योग भी सम्मिलित कर लिया गया। जूट तथा सूती वस्त्र उद्योगो मे नयी मशीनें लगाने के अतिरिक्त निगम ने लोहे की ढलाई के कारखानो, छपाई की मशीनरी तथा लकडी की

लुग्दी इत्यादि कारखानों को भी सहायता दी है। फरवरी 1963 के बाद इस निगम ने नये ऋणों के लिए आवेदन-पत्र नहीं लिये हैं।

भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation of India)

विश्व बैंक के विशेषज्ञों की सिफारिश पर इस निगम की स्थापना जनवरी 1955 में एक निजी सीमित कम्पनी के रूप में की गयी। इसकी पूंजी में विदेशी वित्तीय संस्थाओं तथा विदेशी निजी विनियोगकर्त्ताओं ने भी हिस्सा लिया है।

इस निगम के प्रमुख उद्देश्य ये हैं (1) निजी क्षेत्र के उद्योगों के निर्माण, विकास तथा नवीनीकरण में सहायता देना, (2) ऐसे उद्योगों में देशी व विदेशी निजी पूंजी के प्रवेश को प्रोत्साहन देना, तथा (3) औद्योगिक विनियोग के निजी स्वामित्व को बढ़ावा देना और विनियोग बाजार का विस्तार करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निगम निम्न प्रकार की सहायता दे सकता है (1) निजी क्षेत्र के उद्योगों को मध्यकालीन व दीर्घकालीन ऋण देना या उनके शेयर खरीदना, (2) शेयरों और ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना, (3) अन्य निजी विनियोग के साधनों से प्राप्त ऋणों पर गारण्टी देना, (4) जितनी जल्दी सम्भव हो सके, एक उद्योग में से विनियोग की रकम निकाल कर उसके पुन विनियोग (re-investment by revolving investments) की व्यवस्था करना, तथा (5) भारतीय उद्योगों को प्रबन्धकीय, तकनीकी एवं प्रशासनीय परामर्श देना और इनसे सम्बन्धित सेवाएँ प्राप्त करने में सहायता देना।

मार्च 1970 के अन्त में इस निगम के कुल साधन 166 8 करोड़ रुपये थे, जिनमें से 97 8 करोड़ रुपये के साधन विदेशी मुद्राओं में और 69 करोड़ रुपये के साधन रुपयों में थे। साधनों के रूप में 7 5 करोड़ रुपये की अंश-पूंजी तथा 6 2 करोड़ रुपये के रक्षित कोष के अतिरिक्त इस निगम ने भारत सरकार से 32 करोड़ रुपये तथा औद्योगिक विकास बैंक से 12 3 करोड़ रुपये के ऋण लिये थे। ऋण-पत्रों के आधार पर प्राप्त किये गये ऋणों की राशि 11 करोड़ रुपये थी। विदेशी मुद्राओं के साधन में प्रमुख भाग विश्व बैंक से लिये गये ऋणों (79 4 करोड़ रुपये) का था।

सन् 1955 में अपने आरम्भ से लेकर मार्च 1970 के अन्त तक निगम ने कुल 548 कम्पनियों को 264 6 करोड़ रुपये की सहायता की स्वीकृति प्रदान की, जिसमें 153 1 करोड़ रुपये के विदेशी मुद्राओं में ऋण, 46 8 करोड़ रुपये के रुपयों में ऋण, 6 [illegible] करोड़ रुपये की गारण्टी और 57 8 करोड़ रुपये के अभिगोपन, शेयरों तथा ऋण-पत्रों में प्रत्यक्ष योगदान सम्मिलित थे। स्पष्ट है कि इस निगम द्वारा दी गयी सहायता में आधी से अधिक विदेशी मुद्रा के रूप में है। इससे औद्योगिक विकास कार्य में महत्वपूर्ण सहायता मिली है।

भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India)

देश में अनेक वित्तीय संस्थाओं की स्थापना के बावजूद एक ऐसी संस्था की आवश्यकता थी जिसके विशाल वित्तीय साधन हों ताकि वह उद्योगों की निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। साथ ही, विभिन्न औद्योगिक वित्त संस्थाओं के कार्यों में ताल-मेल बैठाने की भी आवश्यकता थी। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संसद द्वारा पास किये गये कानून के अन्तर्गत भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना की गयी है। रिजर्व बैंक की एक सहायक संस्था के रूप में इसने अपना कार्य 1 जुलाई, 1964 से आरम्भ किया।

पूंजी के साधन—औद्योगिक विकास बैंक की कुल अधिकृत पूंजी 50 करोड़ रुपये है जिसे आवश्यकतानुसार 100 करोड़ रुपये तक बढ़ाया जा सकता है। प्रारम्भ में इसकी चुकता पूंजी 10 करोड़ रुपये थी जिसमें 10 करोड़ की वृद्धि 1967-68 में और पुन जनवरी 1971 में की गयी। इस प्रकार इसकी कुल चुकता पूंजी 30 करोड़ रुपये है जो पूर्णत रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान की गयी है।

औद्योगिक विकास बैंक की पूंजी का मुख्य साधन केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक से प्राप्त किये गये ऋण हैं। मार्च 1971 तक इसने 176 78 करोड़ रुपये के ऋण सरकार से तथा 29 84

करोड रुपये के ऋण रिजर्व बैंक से प्राप्त किये हैं । इस बैंक को पूंजी-बाजार मे बॉण्ड जारी करने तथा रिजर्व बैंक द्वारा स्वीकृत शर्तों पर कम से कम 12 माह की अवधि के लिए जनता से जमा प्राप्त करने का भी अधिकार है ।

कार्य—औद्योगिक विकास बैंक औद्योगिक वित्त के क्षेत्र मे सर्वोच्च (apex) सस्था के रूप मे कार्य करता है । यह केवल एक वित्तीय सस्था ही नही है बल्कि विशेष महत्व वाले उद्योगो, जैसे रासायनिक खाद, मिश्रधातु तथा विशेष इस्पात (alloy and special steels), पैट्रो केमिकल (petro-chemical) आदि के विकास मे सहायता देना इसकी विशेष जिम्मेदारी है । व्यापक दृष्टि से इस बैंक का मुख्य कार्य देश मे औद्योगिक विकास की गति तेज करने के लिए वित्तीय प्राविधिक सहायता की व्यवस्था करना है । इसका कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत रखा गया है । वस्तु-निर्माण, खनन, जहाजरानी, रुपान्तरण, परिवहन और होटल उद्योग इससे सहायता प्राप्त कर सकते हैं, चाहे वे निजी क्षेत्र मे हो अथवा सार्वजनिक क्षेत्र मे । उद्योग या तो सीधे ही अथवा अन्य सस्थाओं के माध्यम से इस बैंक से सहायता प्राप्त कर सकते हैं । यह सहायता निम्न प्रकार की हो सकती है

(1) उद्योगो को मध्यकालीन व दीर्घकालीन प्रत्यक्ष सहायता देना । इसके अन्तर्गत औद्योगिक सस्थाओ को दी जाने वाली निम्न सहायता आती है प्रत्यक्ष ऋण, शेयरो व डिबेचरो की खरीद या अभिगोपन (underwriting), अन्य साधनो से लिये जाने वाले ऋणो पर गारण्टी और देशी मशीनरी के विलम्बित भुगतानो (deferred payments) के आधार पर बिक्री से उत्पन्न मुद्दती बिलो की पुनर्कटौती (rediscount) की सुविधा ।

(2) पुनर्वित्त (refinance) के रूप मे औद्योगिक विकास बैंक द्वारा अप्रत्यक्ष सहायता दी जाती है । वित्तीय सस्थाओं द्वारा 3 से 25 वर्ष तक के लिए दिये गये ऋणो और अनुसूचित बैंको तथा राज्य सहकारी बैंको द्वारा 3 से 10 वर्ष के लिए दिये गये ऋणो पर पुनर्वित्त की सुविधा दी जाती है । अनुसूचित और राज्य सहकारी बैंको द्वारा दी गयी मध्यकालीन निर्यात साख पर भी पुनर्वित्त की सुविधा मिलती है ।

सन् 1958 मे स्थापित किये गये उद्योग पुनर्वित्त निगम (Refinance Corporation for Industry) को 1 सितम्बर, 1964 से औद्योगिक विकास बैंक मे मिला दिया गया है ।

(3) औद्योगिक वित्त-व्यवस्था मे सर्वोच्च सस्था होने के नाते औद्योगिक विकास बैंक दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन औद्योगिक ऋण देने वाली सस्थाओ के शेयर, बॉण्ड तथा डिबेचर खरीदकर उन्हे प्रत्यक्ष सहायता देता है । इन सब सस्थाओं (जिनमे जीवन बीमा निगम भी शामिल है) के कार्यो मे ताल-मेल (co ordination) कायम रखना भी बैंक का कार्य है । बैंक के वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारियो की इन सस्थाओ के अधिकारियो के साथ नियमित रूप से बैठके आयोजित की जाती हैं जिनमे पारस्परिक विचार-विमर्श का अवसर मिलता है ।

(4) औद्योगिक विकास बैंक औद्योगिक परियोजनाओ की जांच-पडताल का कार्य करता है । बिक्री तथा विनियोग सम्बन्धी अनुसन्धान व सर्वेक्षण तथा तकनीकी व आर्थिक अध्ययन करता है । नये उद्योगो विशेषतया मूल उद्योगो की स्थापना मे सहायता करता है । देश मे सन्तुलित औद्योगिक विकास, नये साहसियो को प्रोत्साहन तथा विभिन्न प्रवर्तक समूहो के कार्यक्रमो के लिए सहायता के प्रवाह को नियमित करने के उद्देश्य से प्राथमिकताएँ निर्धारित करता है ।

सक्षेप मे, कहा जा सकता है कि औद्योगिक विकास बैंक का कार्य औद्योगिक वित्त के क्षेत्र मे पथ प्रदर्शन व नेतृत्व प्रदान करना है । औद्योगिक वित्त की सुविधाएं बढाने, उनमे समन्वय स्थापित करने तथा उनको नयी दिशा देने की जिम्मेदारी औद्योगिक विकास बैंक की है ।

बैंक द्वारा दी गयी सहायता—औद्योगिक विकास बैंक द्वारा दी जाने वाली सहायता का आकार देश की आर्थिक परिस्थितियो, औद्योगिक विकास की आवश्यकताओ, औद्योगिक परियोजनाओ की प्रगति, अन्य वित्तीय सस्थाओ द्वारा दी जाने वाली सहायता की मात्रा आदि तत्वो पर निर्भर करता है । इसलिए बैंक द्वारा दी जाने वाली सहायता के आकार मे प्रति वर्ष परिवर्तन

होना रहना स्वाभाविक ही है। सहायता प्रदान करने में बैंक ने सुरक्षा-उन्मुख, आयात-बचत, निर्यातोन्मुख उद्योगों और कृषि-विकास व औद्योगीकरण का आधार बनाने वाले उद्योगों को प्राथमिकता दी है। अब तक बैंक ने पैट्रो-केमिकल्स, रासायनिक खाद, मशीनरी, कपड़ा, मिश्रधातु एवं विशेष इस्पात, तथा सीमेन्ट और कागज के उत्पादन से सम्बन्धित उद्योगों ने विशेष रूप से सहायता प्राप्त की है। सन् 1967-68 में बैंक ने अनेक प्रकार के उद्योगों द्वारा सहायता के लिए दिये गये आवेदन-पत्रों पर उदारतापूर्वक विचार करना आरम्भ कर दिया है। बैंक का प्रयास यह है कि कोई भी मध्यम आकार का आवश्यक उद्योग संस्थागत सहायता के अभाव के कारण निरुत्साह न होने पाये।[1]

1 जुलाई, 1964 से 30 जून, 1970 तक के छः वर्षों में औद्योगिक विकास बैंक द्वारा स्वीकृत व निर्धारित की गयी विभिन्न प्रकार की सहायता का विवरण निम्न तालिका में दिया गया है :

औद्योगिक विकास बैंक के द्वारा स्वीकृत व निर्धारित की गयी सहायता (30 जून, 1970 तक)

(करोड़ रुपये में)

	सहायता का रूप	कुल स्वीकृत सहायता	कुल वितरित सहायता
1	औद्योगिक इकाइयों को प्रत्यक्ष ऋण (निर्यात के लिए छोड़कर)	107 4	84 8
2	निर्यातों के लिए प्रत्यक्ष ऋण	17 8	2 9
3	औद्योगिक इकाइयों के अंशों व ऋणपत्रों में योगदान तथा अभिगोपन	22 9	15 9
4	औद्योगिक ऋणों का पुनर्वित्त	100 1	96 9
5	निर्यात साख का पुनर्वित्त	10 3	6 7
6	बिलों की पुनर्कटौती	61	52 7
	कुल 1 से 6 तक का जोड़	319 9	259 9
7	वित्तीय संस्थाओं के अंशों व बाण्डों का क्रय (IFCI को छोड़कर)	20 1	20 1
	कुल 1 से 7 तक का जोड़	340 0	280·0
8	ऋण व विलम्बित भुगतान पर गारण्टी	26 7	19 1
9	बकाया भुगतान गारण्टी (निर्यात पर)	0 6	0 3

स्पष्ट है कि औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में विकास बैंक का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु इसके द्वारा दी गयी सहायता को सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है। औद्योगिक विकास में प्रादेशिक असन्तुलन की समस्या हल करने की ओर इस संस्था ने अब तक कुछ भी ध्यान नहीं दिया है। इसके द्वारा स्वीकृत की गयी सहायता का लगभग ⅓ भाग अकेले महाराष्ट्र को मिला है। अन्य राज्यों में गुजरात, तामिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल के अतिरिक्त बाकी के राज्यों ने इससे बहुत कम सहायता प्राप्त की है। मध्यम आकार की औद्योगिक इकाइयाँ भी बैंक से सहायता प्राप्त नहीं कर पायी हैं। बैंक की कार्य प्रणाली में सुधार की आवश्यकता है।

भारतीय यूनिट ट्रस्ट (Unit Trust of India)

औद्योगिक वित्त व विनियोग के क्षेत्र में यूनिट ट्रस्ट एक विशेष स्थान रखता है। इसके माध्यम से छोटी व मध्यम आय वाले लोगों को देश के विभिन्न उद्योगों में विनियोग करने तथा औद्योगिक समृद्धि से लाभ उठाने का अवसर मिला है। सन् 1954 में श्रॉफ कमेटी ने इसकी स्थापना का सुझाव दिया था। 1 फरवरी, 1964 को एक कानून के अन्तर्गत इसकी स्थापना की गयी।

यूनिट ट्रस्ट की प्रारम्भिक पूँजी 5 करोड़ रुपये रखी गयी जिसमें रिजर्व बैंक का भाग 2 5

---

1 "The IDBI s main endeavour now is to ensure, as far as possible, that no worthwhile project of medium or small medium size should be allowed to languish for insufficiency of institutional supports —*Fourth Annual Report of the IDBI*

करोड रुपये, जीवन बीमा निगम का 75 लाख रुपये, स्टेट बैंक और उसके सहायक बैंकों का 75 लाख रुपये तथा अनुसूचित बैंको और अन्य वित्तीय सस्थाओ का भाग 1 करोड रुपये रखा गया। तत्कालीन वित्त मन्त्री ने आशा प्रकट की थी कि यूनिट ट्रस्ट के कोष अन्तत. 100 करोड रुपये तक पहुँच जायेंगे।

यूनिट ट्रस्ट कम साधन वाले लोगो की बचत एकत्र करने के लिए 'यूनिटों' की बिक्री करता है। एक यूनिट का निर्धारित मूल्य 10 रुपये है और किसी एक व्यक्ति को कम से कम दस यूनिटें खरीदनी पडती हैं। इनकी बिक्री 1 जुलाई, 1964 से आरम्भ हुई। 31 जुलाई, 1964 तक इन्हें निर्धारित मूल्य पर ही बेचा गया, परन्तु उसके बाद इनकी बिक्री बाजार-भाव पर करने की व्यवस्था की गयी है। यूनिटो को बेचने की व्यवस्था के साथ-साथ इनका हस्तान्तरण (transfer) भी किया जा सकता है। ट्रस्ट इनको स्वय भी खरीदने को तैयार रहता है। यूनिटो की जमानत पर बैंको से ऋण भी प्राप्त किया जा सकता है। यूनिटो की बिक्री से प्राप्त पूंजी लाभपूर्ण ढग से प्रतिभूतियो म लगायी जाती है जिनमे वैधानिक निगमो, कम्पनियो व अन्य सस्थाओं के शेयर, बॉण्ड व अन्य स्टॉक शामिल हैं। इन विनियोगो म पूंजी की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाता है क्योकि ट्रस्ट ने 6 प्रतिशत लाभाश अवश्य देने का लक्ष्य रखा है। यूनिट ट्रस्ट की आय आय-कर से मुक्त है। यूनिट खरीदने वालो की यूनिटो से प्राप्त होने वाली 100 रुपये तक आय आय-कर तथा अधिकर (super-tax) से मुक्त रहती है। यूनिट ट्रस्ट विनियोजको को यूनिटो से प्राप्त आय (कम से कम 100 रुपये) पुनर्विनियोग (re-investment) करने की सुविधा देता है।

जून 1970 के अन्त मे 3,33,000 यूनिट-होल्डर (unit-holders) थे जिनके पास 77 4 करोड रुपये के मूल्य के यूनिट थे। 31 मार्च, 1968 तक ट्रस्ट ने कुल 84 6 करोड रुपये विनियोग किये थे। ट्रस्ट ने कम्पनियो को अभिगोपन की सुविधाएँ भी दी थीं। 30 जून, 1970 को समाप्त होने वाले वर्ष मे ट्रस्ट की कुल आय 6 3 करोड रुपये थी जबकि इससे पिछले वर्ष म यह आय 4·8 करोड रुपये ही थी। प्रति यूनिट 72 पैसे का लाभाश दिया गया। इससे पिछले दो वर्षों मे लाभाश क्रमश 70 और 71 पैसे दिया गया था।

यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया ससार भर मे सरकार द्वारा स्थापित किया गया अपनी प्रकार का पहला ट्रस्ट है। इसे अपने कार्य मे कुछ सफलता भी मिली है। परन्तु इसकी पूंजी भारत जैसे विशाल देश के लिए अपर्याप्त है। ब्रिटेन व अमेरिका की भाँति यहाँ भी कई ट्रस्ट स्थापित किये जा सकते हैं। इस क्षेत्र मे अभी भारत सरकार द्वारा काफी कार्य करना बाकी है।

औद्योगिक वित्त-व्यवस्था की समस्याएँ

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात देश मे विशिष्ट वित्तीय सस्थाओ की स्थापना करके औद्योगिक वित्त की बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति करने का प्रयास किया गया है। उपर्युक्त सस्थाओ के अतिरिक्त जीवन बीमा निगम ने भी औद्योगिक वित्त की पूर्ति मे महत्वपूर्ण भाग लिया है। द्वितीय योजनाकाल मे वित्तीय सस्थाओ द्वारा कुल 121 0 करोड रुपये की सहायता की स्वीकृति (sanction) दी गयी थी, जिसमें से 76 4 करोड रुपये की राशि वितरित (disburse) हुई। तृतीय योजनाकाल मे इन सस्थाओ ने 559 1 करोड रुपये की सहायता स्वीकृत की और 362 4 करोड रुपये की सहायता वितरित की गयी। इसमे विदेशी मुद्राओ मे स्वीकृत तथा वितरित ऋणो की राशि क्रमश 71 9 करोड रुपये तथा 43 1 करोड रुपये थी। इसके बाद, 1966-67 से 1969-70 तक के चार वर्षों म 594 1 करोड रुपये की सहायता स्वीकृत की गयी है जिसमे से 522 4 करोड रुपये की सहायता वितरित हुई है।[1] स्पष्ट है कि गत वर्षों म देश म यद्यपि वित्त-व्यवस्था का आकार काफी बढा है। परन्तु देखना यह है कि इस सहायता का उपयोग किस प्रकार हुआ है और इससे अर्थ-व्यवस्था को कितना लाभ प्राप्त हुआ है।

यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो चुकी है कि वित्तीय सस्थाओ द्वारा दी गयी सहायता के परिणामस्वरूप देश मे आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण (centralisation of economic power) को

1 *Records and Statistics*, Vol XXII, No 2, Feb 1971, p 83

प्रोत्साहन मिला है । अधिकाश सहायता बडे औद्योगिक गृहो को प्राप्त हुई है और इसके सहयोग मे उन्होने अपनी आर्थिक शक्ति मे निरन्तर वृद्धि की है ।

कम्पनियो के मामलो से सम्बन्धित विभाग (Department of Company Affairs) द्वारा किये गये तीन औद्योगिक गृहो—टाटा, बिडला तथा मफतलाल—के अध्ययन से पता चलता है कि सन् 1963-64 से सन् 1966-67 तक के तीन वर्षों मे इनके साधनो मे क्रमश: 32, 74 तथा 127 प्रतिशत की वृद्धि हुई । यह विस्तार मुख्य रूप से वित्तीय सस्थाओ से प्राप्त की गयी सहायता के कारण ही सम्भव हुआ ।[1] यह खेदपूर्ण है कि ऐसा एकाधिकार जाँच आयोग (Monopolies Inquiry Commission) द्वारा रिपोर्ट देने के बाद हुआ ।

औद्योगिक लाइसेन्स नीति जाँच समिति (Industrial Licensing Policy Inquiry Committee) की, जो 'दत्त समिति' के नाम से जानी जाती है, रिपोर्ट जुलाई 1969 मे ससद मे पेश की गयी । इस समिति ने वित्तीय सस्थाओ द्वारा दी गयी सहायता के स्वरूप का विस्तृत अध्ययन किया है । इसके अनुसार इन सस्थाओ के द्वारा दी गयी सहायता का 56 प्रतिशत भाग बडे औद्योगिक क्षेत्र को प्राप्त हुआ है । देश मे 20 औद्योगिक गृहो का इसमे हिस्सा 23 प्रतिशत रहा है और इनमे भी थोडे-से बडे गृहो ने अधिकाश भाग प्राप्त किया है । इनको दी गयी कुल सहायता मे बिडला का भाग 25 प्रतिशत और मफतलाल व टाटा का भाग क्रमश 14 4 तथा 10 प्रतिशत रहा है । इस प्रकार देश मे 20 औद्योगिक गृहो को प्राप्त होने वाली सहायता का लगभग ½ भाग केवल 3 गृहो को मिला है । जीवन बीमा निगम तथा स्टेट बैंक ने भी अवधि-ऋणो मे बडे औद्योगिक गृहो को महत्व दिया है । इनके द्वारा दिये गये ऋणो मे बडे औद्योगिक क्षेत्र का भाग क्रमश 70 प्रतिशत तथा 82 प्रतिशत रहा है । जीवन बीमा निगम तथा यूनिट ट्रस्ट ने अधिकतर बडे औद्योगिक क्षेत्र की कम्पनियो के ऋण तथा डिबेंचर खरीदे है । अभिगोपन की सुविधाओ मे भी इस क्षेत्र का भाग 69 प्रतिशत रहा है । दत्त समिति ने बताया है कि कुछ औद्योगिक सस्थाओ ने परियोजना लागत का 60 से 75 प्रतिशत तक वित्तीय सस्थाओ से प्राप्त किया है, जबकि इनके प्रवर्तक समूहो का हिस्सा सामान्यतया 6 से 24 प्रतिशत ही रहा है ।

स्पष्ट है कि वित्तीय सस्थायो द्वारा दी जाने वाली अधिकाश सहायता बडे उद्योगो के क्षेत्र को ही मिली है और इसे देश मे बडे औद्योगिक गृहो ने प्राप्त करके अपनी आर्थिक सत्ता मे वृद्धि की है । इससे अर्थ-व्यवस्था मे एकाधिकारी प्रवृत्तियो को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला है ।

वित्तीय सस्थाओ की नीति के कारण देश के औद्योगिक ढाँचे मे निजी क्षेत्र अपने विकास के लिए पूँजी मुख्यतया सरकार से ही प्राप्त करता रहा है । 'लोक उद्योग' मे प्रकाशित एक अध्ययन के अनुसार, वित्तीय सस्थाओ द्वारा निजी क्षेत्र को वितरित सहायता तृतीय योजनाकाल मे इस क्षेत्र के कुल स्थिर विनियोग (gross fixed investment) का 18 1 प्रतिशत थी, जबकि द्वितीय योजनाकाल मे यह अनुपात 7 9 प्रतिशत तथा प्रथम योजनाकाल मे 4 1 प्रतिशत ही था । यह तो सब जानते ही हैं कि जीवन बीमा निगम तथा यूनिट ट्रस्ट के अतिरिक्त अन्य सब सस्थाएँ अपने अधिकाश वित्तीय साधन सरकार से अथवा सरकार की सहायता से प्राप्त करती हैं । जीवन बीमा निगम तथा यूनिट ट्रस्ट जैसी सार्वजनिक सस्थाओ ने सकट के समय औद्योगिक प्रतिभूतियाँ खरीदकर निजी क्षेत्र को महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की है । स्टेट बैंक तथा इसके सहायक बैंको से भी इस क्षेत्र को काफी सहायता मिली है । इस प्रकार भारत मे निजी क्षेत्र अपने विकास के लिए राज्य द्वारा दी गयी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहायता पर बहुत अधिक निर्भर करता रहा है, जबकि पाश्चात्य देशो मे निजी क्षेत्र अपने लिए सस्थागत वित्त की व्यवस्था स्वय ही करता है । भारत मे इस स्थिति के लिए मुख्य कारण हमारी अर्थ-व्यवस्था का अर्द्ध-विकसित स्वरूप बताया जाता है । परन्तु इससे तो यह और भी आवश्यक हो जाता है कि राज्य कुछ उद्यमहीन व्यक्तियो के हितो के बजाय सम्पूर्ण देश के हितो की रक्षा करे । आवश्यकता इस बात की है कि सार्वजनिक क्षेत्र का निरन्तर विस्तार हो, न कि सार्वजनिक क्षेत्र निजी क्षेत्र के विकास के लिए एक माध्यम का कार्य करे ।

---

1 *Patriot*, 16th Feb , 1969

दत्त समिति ने सुझाव दिया है कि वित्तीय संस्थाओं द्वारा निजी उद्योगों को दिये गये ऋणों को ईक्विटी शेयरों (equity shares) में बदल दिया जाय। औद्योगिक वित्त निगम को तो पहले से ही वैधानिक रूप से यह *अधिकार* प्राप्त है। निजी औद्योगिक क्षेत्रों में इस सुझाव का कड़ा विरोध किया गया है। औद्योगिक वित्त निगम के अध्यक्ष ने भी इस सुझाव का विरोध किया है और इसे अव्यावहारिक बताया है।

दत्त समिति के सुझाव के आधार पर सरकार ने मई 1971 में वित्त निगमों को निर्देशन दिये हैं कि 25 लाख रुपये तक के ऋणों से सम्बन्धित समझौतों में ईक्विटी शेयरों में परिवर्तनशीलता की शर्त जोड़ना आवश्यक नहीं है। 25 से 50 लाख रुपये के ऋण-समझौतों में इस प्रकार की शर्त जोड़ने के लिए वित्त निगम अपने निर्णय का प्रयोग करेंगे। परन्तु किसी एक इकाई को 50 लाख रुपये से अधिक ऋण देने पर समझौते में "सामान्यतः" यह शर्त जोड़ी जायेगी। यह शर्त केवल रुपयों में दी गयी ऋण-राशि पर लागू होगी, विदेशी मुद्राओं में दिये गये ऋणों पर नहीं। स्पष्ट है कि सरकार द्वारा निर्देशित नीति बहुत उदार है। वास्तव में, सच्चे अर्थ में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना तभी होती है जब सार्वजनिक क्षेत्र निजी क्षेत्र की उन औद्योगिक संस्थाओं की सम्पन्नता में भाग ले सके जो इनसे सहायता प्राप्त करते हैं।

वित्तीय संस्थाओं के लिए आवश्यक है कि वे देश में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की ओर ध्यान दें। विशेष महत्व वाले उद्योगों के विकास के अतिरिक्त क्षेत्रीय विकास में सन्तुलन स्थापित करने की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। वित्तीय संस्थाओं को चाहिए कि वे औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रों अथवा राज्यों में स्थापित किये जाने वाले उद्योगों को सहायता देने में प्राथमिकता दें। ये संस्थाएँ देश में मध्यम तथा लघु स्तरीय उद्योगों को उदारतापूर्वक सहायता देकर राष्ट्र की बहुत बड़ी सेवा कर सकती हैं। स्पष्ट है कि इन सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इन संस्थाओं के कार्य, नीति व उद्देश्यों में अनेक परिवर्तन या सुधार करने होंगे।

निजी क्षेत्र में बड़े उद्योगों के विकास अथवा विस्तार के लिए आवश्यकता इस बात की है कि ये जनता द्वारा की गयी बचत अपनी ओर आकर्षित करें, अर्थात् ऐसे उपाय करें जिनसे जनता को उद्योगों में विनियोग करने के लिए उत्साहित किया जा सके। इसके लिए निर्गमन गृहों (Issue Houses), विनियोग न्यासों तथा यूनिट ट्रस्टों की स्थापना की जा सकती है और जनता द्वारा शेयरों के क्रय-विक्रय की अधिक सुविधा दी जा सकती है। परन्तु यह सब कुछ सम्भव तभी होगा *जब निजी क्षेत्र जनता में अपने प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न कर पायेगा।* उद्यमकर्ताओं व प्रबन्धकों को चाहिए कि वे अपने हितों के साथ-साथ विनियोजकों के हितों को भी सामने रखें। **जब तक औद्योगिक विकास के लिए निजी उद्यम का महत्व स्वीकार नहीं किया जाता है तब तक उद्यमकर्ता समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों से मुक्त नहीं हो सकता है।**

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1 औद्योगिक वित्त-व्यवस्था के क्षेत्र में भारत में स्थापित विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं के कार्यों पर प्रकाश डालिए।

[संकेत विभिन्न वित्तीय संस्थाओं के कार्यों तथा उनकी सफलताओं का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए। संक्षेप में *उनके कार्यों से सम्बन्धित समस्याओं का भी उल्लेख कीजिए।*]

2 औद्योगिक वित्त के लिए स्थापित की गयी विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं के महत्व की व्याख्या कीजिए। इनका कार्य कहाँ तक सन्तोषजनक रहा है?

[संकेत वित्तीय संस्थाओं के उद्देश्यों का अलग-अलग उल्लेख कीजिए और यह स्पष्ट कीजिए कि ये संस्थाएँ अपने उद्देश्यों की कहाँ तक पूर्ति कर पायी हैं। दूसरे भाग में बताइए कि इन संस्थाओं द्वारा दी गयी सहायता की मात्रा काफी बढ़ी है और इन्होंने औद्योगिक वित्त-व्यवस्था के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है परन्तु इनके द्वारा दी गयी सहायता से मुख्य तथा बड़े उद्योगपतियों ने ही लाभ उठाया है। इनके कार्यों तथा नीति में सुधार की आवश्यकता है।]

3 भारत में छोटे उद्योगों की वित्त-व्यवस्था के लिए कौन-कौनसे साधन हैं? इन उद्योगों को पर्याप्त वित्तीय सुविधाएँ प्रदान करने के लिए क्या सुधार किये जायें?

[संकेत छोटे उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने वाले साधनों की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में सुविधाओं के विस्तार के लिए सुझाव दीजिए।]

4 टिप्पणियां लिखिए (क) औद्योगिक वित्त निगम, (ख) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक तथा (ग) भारतीय यूनिट ट्रस्ट।

[संकेत प्रत्येक संस्था के उद्देश्यों, साधनों, कार्यों, सफलताओं व समस्याओं पर प्रकाश डालिए।]

सप्तम खण्ड

राष्ट्रीय आय, बचत, विनियोग एवं रोजगार

[NATIONAL INCOME, SAVINGS, INVESTMENT AND EMPLOYMENT]

35

राष्ट्रीय आय

[NATIONAL INCOME]

"राष्ट्रीय आय सबसे महत्वपूर्ण सूचक है जो किसी देश की आर्थिक सम्भाव्य शक्तियों और जनसंख्या के जीवन-स्तर पर, अर्थ-व्यवस्था के कलेवर पर और साधनों के उपयोग तथा आर्थिक विकास की दृष्टि से सामाजिक व्यवस्था की प्रगतिशीलता के लक्षणों पर प्रकाश डालता है।"[1]

—वी० कुदरोव

सभी आर्थिक क्रियाएँ किसी न किसी रूप में उत्पादन तथा आय से अवश्य सम्बन्धित होती हैं। राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय लाभांश (national dividend) किसी देश की आर्थिक स्थिति का सबसे महत्वपूर्ण सूचक है। अर्थ-व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों को इसी के द्वारा मापा जाता है। इसके द्वारा किसी राष्ट्र के आर्थिक कल्याण, उसके विकास के स्तर तथा विकास की सम्भावनाओं का बहुत कुछ अनुमान प्राप्त हो सकता है।

राष्ट्रीय आय की परिभाषा

राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय लाभांश से अभिप्राय साधारणतः किसी देश में एक वर्ष में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की विशुद्ध मात्रा से होता है। दोहरी गिनती से बचने के लिए केवल अन्तिम वस्तुओं का मूल्य ही आंका जाता है। विदेशों से प्राप्त होने वाली विशुद्ध आय भी इसी में जोड़ी जाती है।

राष्ट्रीय आय की विचारधारा से सम्बन्धित विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाये हैं। मार्शल, पीगू तथा फिशर द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कोलिन क्लार्क तथा कुजनेट्स के विचार भी काफी महत्वपूर्ण हैं।

मार्शल की परिभाषा

मार्शल के अनुसार, "देश का श्रम और पूँजी उसके प्राकृतिक साधनों पर क्रियाशील होकर प्रति वर्ष भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं के शुद्ध योग का, जिसमें सभी प्रकार की सेवाएँ सम्मिलित होती हैं, उत्पादन करते हैं। यही देश की वास्तविक शुद्ध आय, आगम या राष्ट्रीय लाभांश होता है।"[2] मार्शल द्वारा उत्पादन के शुद्ध मान पर बल दिया गया, क्योंकि उन्होंने उत्पादन क्रिया में लगे हुए कच्चा तथा अन्य पंजीगत

---

1 "National income is the most important synthetic indicator which characterises the country's economic potential and the living standard of the population, the structure of the economy and also the progressiveness of a social system from the standpoint of utilization of resources and economic growth rates."—V. Kudrov "*On Methods of Comparing National Incomes of USSR and USA*", *International Socialist Miscellany*, p. 35, No. 1, 1961.

2 "The labour and capital of the country, acting on its natural resources, produce annually a certain net aggregate of commodities, material and immaterial, including services of all kinds. This is the true net annual income or revenue of the country or the national dividend."—Marshall. *Principles of Economics*, p. 523.

पदार्थों की घिसावट अथवा क्षय (depreciation) को कुल उत्पादन के योग में से घटा देना आवश्यक समझा था।[1] उनका विचार था कि कच्चे माल तथा अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं के प्रयोग पर किये गये व्यय को भी कुल उत्पादन में से घटा दिया जाय। विदेशी विनियोगों से प्राप्त हुई शुद्ध आय इसमें जोड़ देनी चाहिए। अपनी विचारधारा को और अधिक स्पष्ट करते हुए मार्शल ने लिखा कि राष्ट्रीय लाभांश में उन वस्तुओं को, जिन्हें व्यक्ति अपने परिवार के सदस्यों तथा मित्रों को बिना मूल्य प्रदान करता है तथा अपनी निजी सम्पत्ति से अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति से वह जो लाभ प्राप्त करता है (जैसे चुंगी से मुक्त पुलों की सुविधा), सम्मिलित नहीं करना चाहिए।[2] मार्शल की विचारधारा के अन्तर्गत एक वर्ष में उत्पादित सभी नवीन वस्तुओं और सेवाओं को राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित किया गया है, क्योंकि मार्शल के विचार में किसी एक वर्ष का कुल उत्पादन ही उस वर्ष का कुल उपभोग है।

आलोचना—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मार्शल की परिभाषा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से सन्तोषजनक है क्योंकि इसे शुद्ध वैज्ञानिक आधार देने का प्रयत्न किया गया है। यह सरल और स्पष्ट है और सहज ही इसका खण्डन नहीं किया जा सकता है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से इसका मूल्यांकन करने पर कई कठिनाइयाँ हमारे सामने आती हैं, जिनके कारण इस परिभाषा की आलोचना की जाती है।

(1) **सही गणना में कठिनाई**—एक वर्ष में विभिन्न प्रकार की असंख्य वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाता है और प्रत्येक की विभिन्न किस्में होती हैं। व्यावहारिक रूप में, सम्पूर्ण उत्पादन की गणना कर लेना कोई सहज कार्य नहीं है। एक नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था की तुलना में एक स्वतन्त्र अथवा प्रजातन्त्रात्मक अर्थ-व्यवस्था में गणना की कठिनाई और भी अधिक होती है, क्योंकि असंख्य छोटे-बड़े साहसी व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग उत्पादन कार्य करते हैं।

(2) **विनिमय में न आने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की समस्या**—कुछ ऐसी वस्तुएँ तथा सेवाएँ भी होती हैं जो विनिमय के लिए बाजार में आती ही नहीं और उनका सीधा उपभोग हो जाता है। जो वस्तु बाजार में बिकने के लिए आयेगी ही नहीं, उसका मूल्यांकन करना एक अत्यन्त कठिन समस्या है। इस प्रकार की वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा विशेष रूप से अल्प विकसित देशों में काफी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुओं का भी उत्पादन किया जाता है जो उपयोगी तथा दुर्लभ होते हुए भी मुद्रा के सम्पर्क में नहीं आती हैं और उनका मूल्य-निर्धारण नहीं हो पाता है। इस प्रकार की सभी वस्तुओं को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित करना एक कठिन समस्या है।

(3) **दोहरी गणना की सम्भावनाएँ**—यद्यपि मार्शल ने राष्ट्रीय आय की सही गणना करने के उद्देश्य से उत्पादन के 'शुद्ध योग' (net aggregate) पर काफी बल दिया है, परन्तु इससे गणना करने में दोहरे योग (double counting) की सम्भावना समाप्त नहीं होती है। वास्तव में, कच्चे माल तथा अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं के सम्बन्ध में तो दोहरी गणना की सम्भावना बहुत ही अधिक रहती है। उदाहरणतया, यह एक साधारण-सी गलती है कि कृषि-उत्पादन का अनुमान लगाते समय गन्ने तथा कपास की मात्रा को उसमें सम्मिलित कर लिया जाय और फिर औद्योगिक उत्पादन की गणना करते समय इनसे बनायी गयी चीनी और कपड़े को भी शामिल कर लिया जाय। यही स्थिति अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं (intermediate goods) के सम्बन्ध में भी उत्पन्न हो सकती है।

इस प्रकार, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से मार्शल की परिभाषा उचित होते हुए भी उपर्युक्त व्यावहारिक कठिनाइयों से युक्त है।

प्रो० पीगू की परिभाषा

प्रो० पीगू के शब्दों में, "   राष्ट्रीय लाभांश समाज की वस्तुगत या भौतिक आय का,

1 "If we look chiefly at the income of a country, we must allow for the depreciation of the sources from which it is derived —Marshall *Principles of Economics*, p 80

2 *Ibid*, p 524

जिसमे विदेशो से प्राप्त आय भी सम्मिलित की जाती है, वह अंश है जिसका माप मुद्रा मे हो सकता है।"[1] प्रो० पीगू ने यह स्पष्ट किया है कि राष्ट्रीय आय मे केवल उन्ही वस्तुओ तथा सेवाओ को सम्मिलित करना चाहिए जिनका वास्तव मे मुद्रा के बदले मे विक्रय होता है।[2] इस प्रकार, प्रो० पीगू की विचारधारा के अनुसार किसी देश की राष्ट्रीय आय म विदेशो से प्राप्त आय तथा मुद्रा के मापदण्ड द्वारा मापी जा सकने वाली आय सम्मिलित की जा सकती है। इनमे से उन वस्तुओ तथा भौतिक सेवाओ को निकाल देना होगा जिन्हे पहले गिना जा चुका है ताकि उनकी गणना दो बार न हो। उन वस्तुओ तथा सेवाओ को भी इसमे सम्मिलित नही किया जायगा जिनका मूल्य मुद्रा के रूप म व्यक्त नही किया जाता है। उदाहरणार्थ, एक नौकरानी को अपनी सेवा के बदले मे प्राप्त होने वाला वेतन राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित किया जायगा। परन्तु यदि उसका मालिक उसके साथ विवाह कर ले तो उसकी सेवा राष्ट्रीय आय म सम्मिलित नही होगी क्योकि उसे अब वेतन नही मिल रहा है।

आलोचना—प्रो० पीगू ने मुद्रा के मापदण्ड के प्रयोग द्वारा राष्ट्रीय आय की विचारधारा को अधिक निश्चित, व्यावहारिक तथा उपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया है ताकि मार्शल की परिभाषा के एक बड़े दोष को दूर किया जा सके। परन्तु पीगू की विचारधारा सैद्धान्तिक आधार पर दोषपूर्ण है। इसकी प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं

(1) **वस्तुओ तथा सेवाओ मे एक कृत्रिम भेद**—मुद्रा म मापी जाने वाली और न मापी जाने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ में कोई वास्तविक अन्तर न होकर केवल कृत्रिम भेद है। स्वय पीगू के शब्दो मे, "क्रय की जाने वाली वस्तुओ और क्रय न की जाने वाली वस्तुओ म परस्पर कोई *आधारभूत अन्तर नही होता और प्राय क्रय न की जाने वाली सेवा क्रियाशील सेवा से परिवर्तित* हो सकती है और इसकी विपरीत दशा भी सम्भव है।"[3] यह स्वीकार कर लेने के पश्चात भी इस प्रकार का भेद करना एक गलती है। वस्तुओ तथा सेवाओ का वास्तविक महत्व तो उनके द्वारा आर्थिक कल्याण की मात्रा को प्रभावित करने मे है, न कि मुद्रा द्वारा मापे जान म।

(2) **राष्ट्रीय आय मे अनिश्चितता**—प्रो० पीगू की राष्ट्रीय आय की गणना से सम्बन्धित विचारधारा *अनेक असगतियो को जन्म देती है और राष्ट्रीय आय के क्षेत्रो को कुछ अनिश्चित सा* बना देती है। कृषि से प्राप्त आय उत्पादन के आधार पर नही बल्कि बिक्री के आधार पर आंकी जायगी। स्त्रियो द्वारा मजदूरी के उपलक्ष मे किया गया कार्य राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित होगा, परन्तु माँ अथवा पत्नी के रूप मे उनके द्वारा किये गये कार्यो की गणना नही की जायगी। अवैतनिक कर्मचारियो, राजनीतिक कार्यकर्ताओ, वैज्ञानिक शोधकर्ताओ आदि के कार्यो को भी राष्ट्रीय आय मे *सम्मिलित नहीं किया जायगा। यदि लोग अपनी उत्पादित वस्तुओ का उपभोग बढा द* तो इसका अर्थ यह नही हो सकता कि राष्ट्रीय आय कम हो गयी है और न ही उनके द्वारा सम्पूर्ण उत्पादित माल बेच देना राष्ट्रीय आय मे वृद्धि का सूचक है। प्रत्येक सेवा का मुद्रा म मूल्यांकन करना आवश्यक नही है और न ही यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सेवा के लिए मौद्रिक आय प्राप्त करने से राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है।

(3) **सकुचित क्षेत्र**—प्रो० पीगू की विचारधारा के *अनुसार* न केवल *अनेक प्रकार की* वस्तुएँ तथा सेवाएँ राष्ट्रीय आय की गणना मे सम्मिलित नही हो पाती हैं, बल्कि मुद्रा-रहित अर्थ व्यवस्था म तो इस विचारधारा का कोई महत्व ही नही रहता। विशेष रूप स अर्द्ध विकसित देशो म जहाँ वस्तुओ तथा सेवाओ के बहुत सारे भुगतान मुद्रा के माध्यम स नही चुकाये जाते हैं, वहाँ

---

1 " the national dividend is that part of the objective income of the community includ ing of course, income derived from abroad, which can be measured in money —A C Pigou *Economics of Welfare*, p 31

2 " those goods and services should be included (double counting of course being avoided), and only those, that are actually sold for money —A C Pigou *Economics of Welfare*, p 32

3 ' The bought and unbought kind do not differ from one another in any fundamental respect, and frequently an unbought service is transformed into a bought one, and vice versa —A C Pigou *Economics of Welfare*, p 32

राष्ट्रीय आय की गणना प्रो० पीगू की विचारधारा के अनुसार नहीं की जा सकती है। मुद्रा के मापदण्ड का सहारा लेकर प्रो० पीगू ने अपनी परिभाषा के क्षेत्र को अपेक्षाकृत अधिक सकुचित कर दिया है।

इस प्रकार, प्रो० पीगू द्वारा प्रतिपादित परिभाषा सैद्धान्तिक रूप से त्रुटिपूर्ण है और इसे पूरी तरह से स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

फिशर की परिभाषा

इरविंग फिशर (Irving Fisher) ने मार्शल तथा पीगू से बिलकुल भिन्न आधार पर राष्ट्रीय आय की परिभाषा दी है। जबकि मार्शल तथा पीगू ने वार्षिक उत्पत्ति के आधार पर परिभाषा दी है, फिशर न उपभोग की मात्रा को आधार माना है। फिशर के शब्दो मे, "राष्ट्रीय लाभाश अथवा आय के अन्तर्गत केवल उन सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है जो अन्तिम उपभोक्ताओ को अपने भौतिक अथवा मानवीय वातावरण से प्राप्त होती है। इस प्रकार एक पियानो या लबादा जो मेरे लिए इस वर्ष बनाया गया है, इस वर्ष की आय का भाग नही है बल्कि पूंजी मे एक वृद्धि है। केवल उतनी ही सेवा जो इन वस्तुओ द्वारा मुझे इस वर्ष प्रदान की जायेगी, आय होगी।"[1]

स्पष्ट है कि प्रो० फिशर के अनुसार राष्ट्रीय आय किसी देश के वार्षिक उत्पादन से नही, बल्कि वार्षिक उपभोग की मात्रा से निश्चित होती है। यदि 1971 मे दो हजार रुपये के मूल्य का एक पियानो तैयार किया जाता है तो मार्शल तथा पीगू के अनुसार दो हजार रुपये की राशि को 1971 की राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित किया जायगा। परन्तु फिशर के अनुसार उस वर्ष म पियानो के उपभोग के मूल्य को ही सम्मिलित किया जाना चाहिए, न कि सम्पूर्ण दो हजार रुपये के मूल्य को। यदि पियानो का प्रयोग 20 वर्ष तक किया जा सकता है तो प्रति वर्ष पियानो के उपभोग का मूल्य 100 रुपय होगा। वार्षिक राष्ट्रीय आय मे केवल 100 रुपये ही जोडे जाने चाहिए।

आलोचना—देखने म प्रो० फिशर द्वारा प्रतिपादित परिभाषा मार्शल तथा पीगू की परिभाषाओ की अपेक्षा अधिक तर्कपूर्ण तथा सही प्रतीत होती है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह परिभाषा भी त्रुटियो से रहित नहीं है

(1) **असुविधाजनक**—उत्पादको की अपेक्षा उपभोक्ताओं की सख्या बहुत अधिक होती है और वे दूर-दूर तक फैले होते हैं। उनके द्वारा किये गये उपभोग की माप करना उत्पादन के माप की अपक्षा अधिक कठिन कार्य है। वर्ष भर मे उपभोग मे आने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की सूची तैयार करना तथा कुल उपभोग के आंकडे इकट्ठे करना एक अत्यन्त कठिन कार्य है।

(2) **अव्यावहारिक**—अधिकतर टिकाऊ वस्तुओ के जीवन का उचित अनुमान लगाना एक बहुत बडी समस्या है, क्योंकि किसी वस्तु का जीवन उसके प्रयोग करने के तरीके तथा बरती गयी सावधानी पर निर्भर करता है। वस्तुओ के स्वामित्व मे परिवर्तन होते रहने के कारण उनके निर्माण की तिथि का पता लगाने म भी कठिनाई हो सकती है। व्यावहारिक रूप मे यह ज्ञात करना बहुत कठिन होता है कि किसी वर्ष मे उपभोक्ताओ को वस्तुओं से कितनी सेवा प्राप्त हुई है।

(3) **दोहरी गणना**—दोहरी गणना की सम्भावना इस परिभाषा मे भी व्याप्त है। अत यदि उपभोग के अनुमान लगा भी लिये जायें तो यह आवश्यक नही कि हमारे निष्कर्ष पूर्णतया सत्य हों।

उपर्युक्त व्यावहारिक कठिनाइयो के कारण फिशर की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना करना बहुत कठिन है।

उपर्युक्त परिभाषाओ की तुलनात्मक श्रेष्ठता

मार्शल तथा पीगू द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीय आय की परिभाषाएँ उत्पादन पर आधारित

---

1 " national dividend or income consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from human environment Thus, a piano or an overcoat made for me this year is not a part of this year s income but an addition to capital Only the services rendered to me during this year by these things are income —Irving Fisher *The Nature of Capital and Income*, p 104

हैं। इन दोनों परिभाषाओं में अन्तर केवल इतना है कि राष्ट्रीय आय में प्रो० पीगू केवल उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं को सम्मिलित करना चाहते हैं जिन्हें मुद्रा के मापदण्ड द्वारा नापा जा सकता है। दूसरी विचारधारा प्रो० फिशर की है जो उपभोग पर आधारित है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन तीनों परिभाषाओं में सर्वश्रेष्ठ परिभाषा कौनसी है ? वास्तव में, तीनों ही परिभाषाओं के अपने-अपने गुण दोष हैं। इनमें से किसी परिभाषा का सर्वश्रेष्ठ होना इस बात पर निर्भर करता है कि राष्ट्रीय आय की गणना का उद्देश्य क्या है। यदि हमारा उद्देश्य देश में आर्थिक कल्याण (economic welfare) की मात्रा की माप करना हो, तो प्रो० फिशर की परिभाषा उत्तम होगी। उपभोग-मूल्य पर आधारित होने के कारण फिशर की परिभाषा एक ऐसे भौतिक सूचक (objective index) को व्यक्त करती है जिसके सहारे *आर्थिक कल्याण* की माप की जा सकती है। यदि हमारा उद्देश्य आर्थिक कल्याण को प्रभावित करने वाले कारणों तथा विभिन्न घटकों (factors) पर विचार करना है, तो फिशर की परिभाषा की अपेक्षा मार्शल तथा पीगू की परिभाषाएँ श्रेष्ठ होंगी। यह परिभाषाएँ उत्पादन की मात्रा पर आधारित हैं और भविष्य में उपभोग की मात्रा द्वारा ही निश्चित होती हैं। वास्तव में, आर्थिक कल्याण और आर्थिक कारण एक-दूसरे से कुल उपभोग (total consumption) के द्वारा सम्बन्धित होते हैं, न कि तत्कालीन उपभोग (immediate consumption) द्वारा।[1]

जहाँ तक मार्शल तथा पीगू की परिभाषाओं में परस्पर श्रेष्ठता का प्रश्न है, मार्शल की परिभाषा अधिक विस्तृत और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से अधिक उचित है। यथार्थ में, यदि देश में वस्तुओं तथा सेवाओं के शुद्ध उत्पादन की किसी प्रकार गणना हो सके तो सम्भवतः पीगू ने मार्शल के दृष्टिकोण को ही स्वीकार कर लिया होता। पीगू द्वारा दी गयी परिभाषा में त्रुटियाँ होने पर भी इसे *अधिक व्यावहारिक कहा जाता है, क्योंकि इसके द्वारा राष्ट्रीय आय की गणना आसानी* से की जा सकती है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पीगू की परिभाषा अपूर्ण होते हुए भी अधिक व्यावहारिक है इसलिए इसे अपेक्षाकृत अधिक अच्छी कहा जा सकता है।

कुछ अन्य विचार

प्रो० पीगू के राष्ट्रीय आय सम्बन्धी दृष्टिकोण से मिलते जुलते विचार प्रो० कोलिन क्लार्क (Colin Clark) ने *व्यक्त किये हैं। उनके शब्दों में,* "किसी समय विशेष में राष्ट्रीय आय उन वस्तुओं और सेवाओं के मौद्रिक मूल्य द्वारा सूचित की जाती है जो उस समय विशेष में उपभोग के लिए उपलब्ध होती है। वस्तुओं और सेवाओं का यह मूल्य उनके प्रचलित विक्रय-मूल्य पर निकाला जाता है। इसमें पूँजी की उस वृद्धि को जोड़ा जाता है जिसका मूल्य नवीन पूँजीगत माल के रूप में भुगतान कर दिया गया है। इसमें से पूँजीगत माल के क्षय तथा निकृष्टीकरण के व्यय को *निकाल दिया जाता है। इस प्रकार स्टॉक में शुद्ध जोड़े जाने वाले तथा उसमें घटाये जाने वाले* तत्वों का मूल्य उनकी प्रचलित कीमतों के आधार पर लगाया जाता है।"[2]

उपर्युक्त परिभाषा के विपरीत प्रो० साइमन कुजनेट्स (Simon Kuznets) ने फिशर की परिभाषा से मिलते-जुलते विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार, 'राष्ट्रीय आय वस्तुओं व सेवाओं की वह विशुद्ध उत्पत्ति है जो एक वर्ष की अवधि में देश की उत्पादन-प्रणाली में अन्तिम उपभोक्ताओं के हाथों में पहुँचती है अथवा देश की पूँजीगत वस्तुओं के स्टाक में विशुद्ध रूप में वृद्धि करती है।"[3]

भारत में राष्ट्रीय आय समिति ने सन् 1951 में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में कहा था

---

1 'It is through total consumption and *not immediate consumption* that economic welfare and economic causes are linked together —A C Pigou *Economics of Welfare*

2 Colin Clark *The National Income*, pp 1-2

3 "National income is the net output of commodities and services flowing during the year from the country s productive system into the hands of the ultimate consumers or into net additions to the country s stock of capital goods —Simon Kuznets *Economic Change*, p 148

कि "राष्ट्रीय आय के अनुमान से, बिना दोहरी गणना के, एक दी हुई अवधि मे उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा का माप किया जाता है।"[1]

राष्ट्रीय आय सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणो के विश्लेषण से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत देश मे उत्पन्न सभी वस्तुओ तथा सेवाओ के शुद्ध मूल्य को सम्मिलित किया जाता है। शुद्ध मूल्य की गणना के लिए कुल मूल्य मे से अपकर्ष (depreciation) घटा दिया जाता है तथा यह ध्यान रखा जाता है कि कोई गणना दो बार न हो।

राष्ट्रीय आय सम्बन्धी मुख्य धारणाएँ

राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण धारणाएँ (concepts) निम्नलिखित है

(1) **कुल राष्ट्रीय उत्पादन** (Gross National Product or G N P)—किसी देश मे एक वर्ष की अवधि मे उत्पादित सभी अन्तिम वस्तुओ तथा सेवाओ (final goods and services) के मूल्यो के जोड को कुल राष्ट्रीय उत्पादन कहते है। कुल राष्ट्रीय उत्पादन से सम्बन्धित निम्नलिखित तीन बातें महत्वपूर्ण है

1 *कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे वर्ष भर मे उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओ के मूल्य को मुद्रा* के रूप मे व्यक्त किया जाता है। मौद्रिक मूल्य के आधार पर ही विभिन्न वर्षो मे उत्पादन की मात्रा मे तुलना की जाती है।

2 इसमे केवल अन्तिम वस्तुओ तथा अन्तिम सेवाओं के मूल्यो को ही सम्मिलित किया जाता है। *माध्यमिक वस्तुओ तथा सेवाओं (intermediate goods and services) अर्थात्* ऐसी वस्तुऐं तथा सेवाओ के जो अन्य वस्तुओ तथा सेवाओ के निर्माण मे प्रयुक्त होती हैं, मूल्य को इसमे नही जोडा जाता है। दोहरी गणना से बचने के लिए ऐसा करना आवश्यक है।

3 कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे अनुत्पादक सौदो (unproductive transactions) को सम्मिलित नही किया जाता है। वित्तीय सौदे (अर्थात् स्टॉक्स एवं शेयर्स के क्रय-विक्रय), पुरानी वस्तुओ के क्रय-विक्रय के सौदे तथा हस्तान्तरण भुगतान (transfer payments) इत्यादि कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे नही जोडे जाते है।

कुल राष्ट्रीय उत्पादन का अनुमान लगाने के दो तरीके है

1 **व्यय अथवा उत्पादन के दृष्टिकोण से अनुमान** (Expenditure or Output Approach)—इसके अन्तर्गत चार प्रकार की राशियाँ जोडी जाती है (क) व्यक्तिगत उपभोग व्यय (Personal Consumption Expenditure) अर्थात् लोगो द्वारा निजी उपभोग पर किया गया कुल व्यय, (ख) सरकार द्वारा वस्तुओ तथा सेवाओ के क्रय पर किया गया कुल व्यय (Government Purchases), (ग) कुल देशी निजी विनियोग (Gross Domestic Private Investment), तथा (घ) शुद्ध विदेशी विनियोग (Net Foreign Investment)।

2 ***आय दृष्टिकोण से अनुमान*** *(Income Approach)*—इस आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओ पर किया गया व्यय मजदूरी, किराया, ब्याज तथा लाभ के रूप मे लोगो की आय बन जाता है। परन्तु कुल व्यय मे ऐसे दो तत्व सम्मिलित होते है *जो लोगो को आय के रूप मे उपलब्ध नही हो पाते—प्रथम, परोक्ष कर (indirect taxes)* तथा दूसरे पूंजीगत वस्तुओं की घिसाई के कारण हुआ मूल्य ह्रास (depreciation)। अत आय दृष्टिकोण से लगाया गया अनुमान व्यय दृष्टिकोण से लगाये गये अनुमान की तुलना मे कम बैठता है।

(2) **शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन** (Net National Product or N N P)—कुल राष्ट्रीय उत्पादन (G N P) मे से पूंजीगत वस्तुओं अर्थात् मशीनो आदि की घिसाई-पिटाई के कारण हुए मूल्य ह्रास को घटा देने से जो शेष बचता है उसे शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन कहते है। चूंकि इसकी गणना बाजार भावों से की जाती है इसलिए इसे 'बाजार-मूल्यों पर राष्ट्रीय आय' (National Income at Market Prices) भी कहते है। अतएव NNP=GNP—Depreciation

---

1 "A national *income estimate measures the volume of commodities* and services turned out during a given period, counted without duplication —*National Income Committee*, First Report, 1951

(3) साधन-लागत पर राष्ट्रीय आय (National Income at Factor Cost)—शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (N N P) में से उत्पत्ति के विभिन्न साधनों से प्राप्त लगान, ब्याज, मजदूरी तथा लाभ के रूप में प्राप्त आय के कुल जोड में से सरकार को दिये गये परोक्ष करों की राशि घटा देने से साधन-लागत पर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया जाता है। यह तो हम बता ही चुके हैं कि शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्यांकन बाजार मूल्यों पर किया जाता है। साधन-लागत पर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन में से परोक्ष करों की राशि को निकाल दिया जाता है तथा कुल वस्तुओं अथवा सेवाओं के उत्पादन पर सरकार द्वारा दिये गये उपदान (subsidy) की राशि को जोड लिया जाता है। अतएव, National Income at Factor Cost=NNP or National Income at Market Prices—Indirect Taxes+Subsidies

(4) वैयक्तिक आय (Personal Income)—एक वर्ष की अवधि में उत्पत्ति के साधनों द्वारा कमायी गयी आय में से कई प्रकार की कटौतियों के पश्चात देश में व्यक्तियों अथवा परिवारों को जितनी आय वास्तव में प्राप्त होती है उसे वैयक्तिक आय कहते हैं। उदाहरणार्थ, सरकार को दिये गये कर अथवा वेतनभोगियों से प्राविडेण्ट फण्ड आदि के रूप में की गयी कटौतियाँ राष्ट्रीय आय में से घटा दी जाती हैं। सरकार द्वारा दिये गये विभिन्न प्रकार के भत्ते (allowances) जो किसी उत्पादन कार्य के बदले में नहीं दिये जाते, हस्तान्तरण भुगतान (transfer payments) कहलाते हैं। वैयक्तिक आय का अनुमान लगाते समय इनको राष्ट्रीय आय में जोड लिया जाता है। अतएव, Personal Income=National Income—Social Security Contributions+Transfer Payments

(5) उपभोग्य आय (Disposable Income)—व्यक्तियों तथा परिवारों को उपलब्ध वैयक्तिक आय में से सरकार द्वारा लगाये गये वैयक्तिक करों (personal taxes) को निकाल देने के पश्चात जो आय शेष बचती है उसे उपभोग्य आय कहते हैं, क्योंकि यह आय उपभोग पर व्यय की जा सकती है। अत Disposable Income=Personal Income—Personal Taxes। परन्तु व्यवहार में इस प्रकार की आय पूर्णत उपभोग पर ही व्यय नहीं की जाती है बल्कि इसका एक भाग लोग बचत के रूप में भी अपने पास रखते हैं। इसलिए, Disposable Income=Consumption+Saving

राष्ट्रीय आय के माप की विधियाँ

राष्ट्रीय आय की गणना के लिए निम्नलिखित प्रमुख विधियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं

(1) उत्पादन-गणना विधि (Census of Production Method)—इसके अन्तर्गत एक वर्ष में उत्पादित सभी वस्तुओं तथा सेवाओं का शुद्ध मूल्य ज्ञात किया जाता है। कुल उत्पादन में से पूँजी की घिसावट तथा मूल्य-ह्रास (depreciation) तथा माध्यमिक वस्तुओं (intermediate goods) का मूल्य घटा देने से शुद्ध उत्पादन ज्ञात किया जा सकता है। इसमें विदेशों से प्राप्त आय जोड़ने से शुद्ध राष्ट्रीय आय ज्ञात हो जाती है। उत्पादन-गणना विधि को वस्तु-सेवा विधि (Commodity Service Method) भी कहा जाता है, क्योंकि सभी वस्तुओं तथा सेवाओं के शुद्ध मूल्यों का योग अन्तिम उत्पादन योग (final products total) बनता है जिसके आधार पर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया जाता है।

स्मरण रहे कि उत्पादन-गणना विधि एक लम्बी और कठिन रीति है जो उन्हीं देशों में सफल होती है जहाँ उत्पादन के सही आँकडे उपलब्ध होते हैं। इस विधि में यह विशेष रूप से ध्यान में रखना पडता है कि (1) किसी वस्तु अथवा सेवा के मूल्य की दोहरी गणना न हो, (2) सम्पूर्ण उत्पादन में से पूँजी का मूल्य ह्रास घटा दिया जाय, तथा (3) विदेशी लेन-देन को भी इसमें सम्मिलित किया जाय।

(2) **आय-गणना विधि (Census of Income Method)**—इस विधि के अन्तर्गत देश में उत्पत्ति के सभी साधनों की आय (लगान, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ) का जोड़ लगाया जाता है। गणना करते समय ऐसे भुगतानों को सम्मिलित नहीं किया जाता जिनसे किसी प्रकार का उत्पादन नहीं होता। इस विधि से देश में आय के वितरण की जानकारी प्राप्त करने में बड़ी आसानी होती है, परन्तु व्यावहारिक रूप में यह विधि विकसित देशों के लिए ही अधिक उपयुक्त होती है, क्योंकि आय-कर न देने वालों की आय का सही अनुमान लगाना एक अत्यन्त कठिन कार्य होता है।

(3) **व्यय गणना विधि (Census of Expenditure Method)**—राष्ट्रीय आय उपभोग व बचत के जोड़ के बराबर होती है। व्यय-गणना विधि के अन्तर्गत लोगों द्वारा उपभोग की गयी वस्तुओं का 'उपभोग मूल्य' ज्ञात किया जाता है और फिर इसमें उनकी कुल बचत का मूल्य जोड़ लिया जाता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह विधि अधिक उपयोगी नहीं है, क्योंकि लोगों द्वारा उपभोग पर व्यय की गयी रकम का पता लगाना कठिन होता है और बचत का अनुमान लगाना भी सरल नहीं होता। यह कठिनाई अर्द्ध-विकसित देशों में और भी अधिक होती है जहाँ लोग बचत को अनुत्पादक रूप से संचित करते हैं।

(4) **सामाजिक लेखा विधि (Social Accounting Method)**—प्रो० रिचार्ड स्टोन (Richard Stone) द्वारा प्रतिपादित इस रीति के अनुसार देश की जनसंख्या को आय के आधार पर विभिन्न वर्गों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक वर्ग के कुछ लोगों की आय ज्ञात कर एक औसत निकाल लिया जाता है। उस वर्ग की कुल जनसंख्या को इस अनुमानित औसत आय से गुणा कर देने पर उस वर्ग की सम्पूर्ण आय ज्ञात हो जाती है। इसी प्रकार विभिन्न वर्गों द्वारा प्राप्त कुल आय का योग राष्ट्रीय आय होता है।

सामाजिक लेखा रीति का प्रयोग तभी सम्भव हो सकता है जबकि सभी वर्गों के लोग तथा संस्थाएँ अपनी आय का सही हिसाब-किताब रखें। अर्द्ध-विकसित देशों में जहाँ इस प्रकार के हिसाब किताब ठीक प्रकार से नहीं रखे जाते, इस रीति का प्रयोग सीमित रहना स्वाभाविक है।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए कुछ अन्य विधियों का भी प्रयोग किया जा सकता है। व्यावसायिक गणना विधि (Census of Occupation Method) के अन्तर्गत विभिन्न व्यवसायों के आधार पर राष्ट्रीय आय की गणना की जाती है। प्रो० कुजनेट्स (Kuznets) ने राष्ट्रीय आय की गणना के लिए तीन विधियों का उल्लेख किया है वस्तु-सेवा विधि (Commodity Service Method), आय-प्राप्त विधि (Income Received Method), तथा उपभोग बचत विधि (Consumption-Saving Method)। इन विधियों का मिश्रित प्रयोग भी सम्भव होता है, जैसा कि डॉ० वी० के० आर० वी० राव ने भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने में उत्पादन-विधि तथा आय-विधि का मिश्रित प्रयोग किया था। आजकल प्रायः उत्पत्ति-गणना विधि का अधिक प्रयोग किया जा रहा है, क्योंकि ऐसा सोचा जाता है कि यह विधि अन्य विधियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और व्यावहारिक है तथा इसमें दोहरी गणना का भय कम रहता है।

राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का महत्व

राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों का महत्व आज के युग में निरन्तर बढ़ता जा रहा है। अर्थ-व्यवस्था के सभी अंग किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय आय के सृजन में निरन्तर लगे हुए हैं और राष्ट्रीय आय समस्त अर्थ-व्यवस्था का सही सूचक बनकर सामाजिक आय का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। राष्ट्रीय आय का ज्ञान मुख्यतः निम्नलिखित दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है :

(1) **अर्थ-व्यवस्था का सही एवं व्यापक चित्र**—किसी देश की राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से उस देश की अर्थ व्यवस्था के बारे में काफी जानकारी प्राप्त होती है। इनसे हमें ज्ञात होता है कि देश में विभिन्न व्यवसायों की क्या दशा है तथा देश के प्राकृतिक, भौतिक तथा मानवीय

साधनो का कहाँ तक और कैसा उपयोग हो रहा है। न केवल राष्ट्रीय आय के स्रोतो की जानकारी प्राप्त होती है बल्कि यह भी पता चलता है कि देश मे विभिन्न वर्गों म राष्ट्रीय आय का वितरण किस प्रकार हो रहा है। राष्ट्रीय आय के आँकडो के आधार पर प्रति व्यक्ति आय का औसत अनुमान लगाया जाता है और लोगो के जीवन-स्तर के बारे मे काफी सही अनुमान प्राप्त किये जा सकते हैं।

(2) **आर्थिक प्रगति की माप**—किसी देश के व्यक्तियो, वर्गों तथा क्षेत्रो द्वारा की गयी आर्थिक प्रगति की सूचना राष्ट्रीय आय के आँकडो से प्राप्त होती है। इनके अभाव मे हमे रोजगार की स्थिति, विदेशी व्यापार की स्थिति अथवा औद्योगिक तथा कृषि उत्पादन आदि को मापक के रूप मे अपनाना होगा। परन्तु वास्तविकता यह है कि ये सूचक राष्ट्रीय आय के आँकडो के साथ काम कर सकते हैं, उनके स्थान पर नही। आजकल सभी देशो म राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाना आवश्यक समझा जाता है।

(3) **आर्थिक नीति का निर्धारण**—राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकडो के आधार पर ही देश मे सन्तुलित आर्थिक विकास की योजनाओ का निर्माण किया जाता है। इनके आधार पर भविष्य के लिए भी अनुमान लगाये जाते हैं जो व्यावसायिक क्रियाओं को विकास तथा स्थायित्व प्रदान करते हैं। सरकार द्वारा बजट बनाते समय कर-दान क्षमता (taxable capacity) निर्धारित करते समय भी राष्ट्रीय आय का ज्ञान आवश्यक होता है। राष्ट्रीय आय के आँकडो के आधार पर ही यह निश्चित किया जाता है कि किन वर्गों तथा किन क्षेत्रो के आर्थिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाय।

(4) **आर्थिक प्रवृत्तियो को दिशा-निर्देशन**—आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रीय आय का उत्तरोत्तर अधिक भाग बचाकर विनियोग करना होता है। राष्ट्रीय आय के आँकडो के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि स्थायित्वपूर्ण विकास के लिए कितना विनियोग करना होगा। इसी के अनुसार आर्थिक प्रवृत्तियां प्रभावित होती हैं तथा विशिष्ट वित्तीय, मौद्रिक तथा मजदूरी एव रोजगार सम्बन्धी नीतियाँ अपनायी जाती है। प्राकृतिक तथा अन्य साधनो के सही विदोहन एव प्रयोग, नये साधनो की खोज, प्रतिस्थापन तथा उत्पादन-प्रणालियो मे सुधार आदि से सम्बन्धित प्रवृत्तियाँ बहुत बडी मात्रा मे राष्ट्रीय आय सम्बन्धी स्थिति द्वारा प्रभावित होती है।

(5) **तुलनात्मक समीक्षा**—राष्ट्रीय आय के आँकडो की सहायता से प्रत्येक वर्ग, क्षेत्र तथा राष्ट्र की आर्थिक स्थिति की तुलना अन्य वर्गों, क्षेत्रो तथा राष्ट्रो से की जा सकती है। एक ही वर्ग, क्षेत्र तथा देश की विभिन्न समयों मे आर्थिक दशा की तुलना करने मे भी इन आँकडो का प्रयोग किया जाता है।

(6) **राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण**—हैबरलर के शब्दो मे, "अन्य बातें समान होने पर यदि राष्ट्रीय आय अधिक है तो आर्थिक कल्याण भी अधिक होगा।"[1] चूँकि आर्थिक कल्याण कुल कल्याण का बैरोमीटर (barometer) माना जाता है, अत आर्थिक कल्याण मे वृद्धि अथवा कमी कुल कल्याण को अवश्य प्रभावित करती है। इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि राष्ट्रीय आय मे होने वाले परिवर्तनो का आर्थिक कल्याण पर प्रभाव अनेक बातों द्वारा निर्धारित होता है, जैसे उत्पादन का स्वरूप, लोगो का त्याग, आय का वितरण, देश मे मौद्रिक प्रयोग की व्यापकता, लोगो द्वारा अपनी आवश्यकताओ को पूर्ण करने की प्रवृत्ति, इत्यादि। मौद्रिक आय (money income) बढ जाने पर भी यदि वास्तविक आय (real income) मे वृद्धि नही होती तो आर्थिक कल्याण मे भी वृद्धि नही होगी। इसी प्रकार, यदि बढती हुई आय का अधिकांश भाग थोडे-से लोगो मे ही बँट जाता है तो आर्थिक कल्याण के दृष्टिकोण से यह वृद्धि महत्वपूर्ण नही है।

---

1 "... other things being equal, economic welfare is greater, if national income is greater" —Haberler 'National Income, Saving and Investment' in *Studies in Income and Wealth*, Vol II, p 140

राष्ट्रीय आय के आँकड़ों की सीमाएँ

राष्ट्रीय आय की गणना से सम्बन्धित अनेक कठिनाइयों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन कठिनाइयों के कारण ये आँकड़े एक मोटा-सा अनुमान मात्र होते हैं। अतः इनके आधार पर किसी स्थिति का बिलकुल सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है और हमारे निष्कर्षों तथा विश्लेषणों में अन्तर आ सकता है।

अल्प-विकसित देशों में राष्ट्रीय आय के अनुमान और भी अधिक अपूर्ण होते हैं, क्योंकि इन देशों में अर्थ-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण भाग अमुद्रीकृत (non-monetised) होता है, अर्थात् बहुत कुछ विनिमय मुद्रा के प्रयोग के बिना ही होता है।

राष्ट्रीय आय की परिभाषाओं की विविधता तथा गणना की विविध प्रणालियों के कारण विभिन्न देशों के राष्ट्रीय आय के आँकड़ों की तुलना सम्भव नहीं होती है। सभी देशों की अर्थ व्यवस्था में समान रूप से मौद्रिक व्यवस्था न होने के कारण उनके राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़े समान आधार पर नहीं होते। मुद्रा की क्रय-शक्ति भी अलग-अलग देशों में अलग-अलग होती है। आय के वितरण तथा उपभोग के स्वरूप में भी अन्तर होते हैं।

इसी प्रकार एक ही देश में भिन्न-भिन्न समय में राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय की तुलना करना भी कठिनाइयों से रहित नहीं होता। समय-समय पर कीमत-स्तर में परिवर्तन होते रहने के कारण चालू कीमतों (current prices) में व्यक्त की गयी राष्ट्रीय अथवा प्रति व्यक्ति आय की तुलना नहीं की जा सकती। कालान्तर में उपभोग के ढाँचे में परिवर्तन होने से भी तुलना में कठिनाई होती है। राष्ट्रीय आय में केवल उत्पादन का मूल्य प्रकट होता है, न कि उपभोग की मात्रा, जिस पर जीवन स्तर निर्भर करता है।

वास्तविकता यह है कि प्राकृतिक सुविधाओं द्वारा प्रदत्त लाभ, जनसाधारण के त्याग, विभिन्न सामाजिक सुविधाओं द्वारा प्राप्त सेवाओं के फल, प्रयत्नों तथा अवकाशों से प्राप्त लाभों को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित करने में अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं।

भारत की राष्ट्रीय आय

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत में राष्ट्रीय आय के कुछ गैर-सरकारी अनुमान लगाये गये। सर्वप्रथम सन् 1868 में दादाभाई नौरोजी ने अनुमान लगाने का प्रयास किया था। उनका अनुमान था कि भारत में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 20 रुपये थी। 1899 में विलियम डिगबी ने ब्रिटिश भारत में प्रति व्यक्ति औसत आय का अनुमान 18 रुपये लगाया था। सन् 1900 के लिए लॉर्ड कर्जन का अनुमान 30 रुपये था। इसके उपरान्त कई अन्य अनुमान विभिन्न वर्षों में लगाये गये जिनमें फिण्डले शिराज, वाडिया तथा जोशी, शाह तथा खम्बाता, वी० के० आर० वी० राव तथा आर० सी० देसाई द्वारा लगाये गये अनुमान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यथेष्ट आँकड़ों पर आधारित न होने के कारण ये अनुमान अधिक विश्वसनीय नहीं थे। गणना के लिए अपनायी गयी रीति तथा आँकड़ों में अन्तर होने के कारण एक ही वर्ष में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा आय के अनुमान अलग-अलग किये गये। वास्तव में, इन अनुमानों को केवल मात्र प्रवृत्ति के द्योतक के रूप में स्वीकार किया जाता है, न कि तथ्यों की वास्तविकता के रूप में। डॉ० राव द्वारा दिये गये अनुमान अन्य सबसे अधिक वैज्ञानिक माने जाते हैं। उनके अनुसार सन् 1925-26 में प्रति व्यक्ति आय 76 रुपये थी जो 1931-32 में 65 रुपये ही रह गयी। 1942 43 में यह 114 रुपये हो गयी।

राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee)—राष्ट्रीय आय की गणना के अधिक वैज्ञानिक, प्रामाणिक और विश्वस्त अनुमान लगाने के प्रयास स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त ही किये गये। अगस्त 1949 में प्रो० पी० सी० महालनोबिस की अध्यक्षता में भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय आय समिति नियुक्त की गयी। प्रो० गाडगिल तथा डॉ० राव इस समिति के

सदस्य थे। प्रो० साइमन कुजनेट्स, श्री जे० आर० एन० स्टोन तथा डॉ० डर्कमन जैसे विदेशी विशेषज्ञों की सलाह इस समिति को उपलब्ध थी।

राष्ट्रीय आय समिति के प्रमुख कार्य राष्ट्रीय आय तथा सम्बन्धित तथ्यों पर एक रिपोर्ट तैयार करना, राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों में सुधार तथा नवीन आँकड़ों के संग्रह सम्बन्धी सुझाव देना तथा राष्ट्रीय आय सम्बन्धी शोध-कार्य के लिए सुझाव देना था। समिति ने अपनी प्रथम रिपोर्ट 1951 में तथा अन्तिम रिपोर्ट 1954 में प्रस्तुत की। प्रथम रिपोर्ट में सन् 1948-49 में भारत की राष्ट्रीय आय के अनुमान दिये गये। अन्तिम रिपोर्ट में 1948-49 के लिए संशोधित अनुमान दिये गये तथा 1949-50 और 1950-51 की राष्ट्रीय आय के अनुमान एवं उनके विश्लेषण प्रस्तुत किये गये। रिपोर्टों में राष्ट्रीय आय की धारणाओं, सांख्यिकीय स्रोतों, सामग्री एवं अनुमानों के निर्माण की विधि पर विचार किया गया था और राष्ट्रीय आय के आँकड़ों में प्रयुक्त मूलभूत आँकड़ों में सुधार के उपाय सुझाये गये थे। समिति ने अनुमान लगाने में वित्त मन्त्रालय में स्थापित राष्ट्रीय आय इकाई (National Income Unit) की सहायता ली थी। रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद राष्ट्रीय आय का वार्षिक अनुमान लगाने का कार्य केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (Central Statistical Organisation) को सौंप दिया गया है जो प्रति वर्ष राष्ट्रीय आय पर एक परिपत्र (Annual White Paper on National Income) प्रकाशित करता है।

परम्परागत तथा संशोधित शृंखलाएँ (Conventional and Revised Series)—1951 के पश्चात केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन द्वारा प्रकाशित चालू तथा स्थिर (सन् 1948-49) कीमतों पर राष्ट्रीय आय के अनुमान राष्ट्रीय आय समिति द्वारा अपनायी गयी विधियों पर ही आधारित थे। परन्तु समय-समय पर कार्य-विधि में सुधार के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत किये जाते रहे। इनके आधार पर केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन ने अगस्त 1967 में सन् 1960-61 से 1964-65 तक की अवधि के लिए चालू एवं स्थिर (1960-61) कीमतों पर राष्ट्रीय आय की संशोधित शृंखला (revised series) पर एक पुस्तिका प्रकाशित की। राष्ट्रीय आय के अनुमानों की परम्परागत शृंखला (conventional series) जिसका तेरहवाँ तथा अन्तिम परिपत्र मार्च 1966 में प्रकाशित किया गया था और जिसमें 1964-65 तक की राष्ट्रीय आय के अनुमान दिये गये थे, राष्ट्रीय आय की संशोधित शृंखला प्रारम्भ हो जाने से समाप्त कर दी गयी है। इस प्रकार, भारत में इस समय राष्ट्रीय आय की दो शृंखलाएं (series) उपलब्ध हैं

(1) परम्परागत शृंखला जिसमें स्थिर कीमतों (constant prices) का आधार वर्ष (base year) 1948-49 है, तथा (2) संशोधित शृंखला, जिसमें स्थिर कीमतों का आधार वर्ष 1960-61 है। सन् 1960-61 तथा इसके बाद के वर्षों में राष्ट्रीय आय के आँकड़े संशोधित शृंखला में ही उपलब्ध किये गये हैं।

संशोधित शृंखला के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय की गणना के लिए अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न अंगों के व्यावसायिक वर्गीकरण में कुछ परिवर्तन किये गये हैं। अर्थ-व्यवस्था के संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों के लिए और व्यक्तिगत क्षेत्रों में कुल व विशुद्ध उत्पत्ति के लिए यथासम्भव अलग-अलग अनुमान लगाये गये हैं। संशोधित शृंखला में प्रथम बार कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) के अनुमान बाजार-कीमतों (market prices) व साधन-लागत (factor cost) पर चालू कीमतों में तथा साधन-लागत पर स्थिर कीमतों में लगाये गये हैं। परम्परागत शृंखला में स्थिर (1948-49) कीमतों पर विशुद्ध उत्पत्ति (NNP) क्षेत्र-स्तर (sector-level) पर ही प्रस्तुत की गयी थी, परन्तु संशोधित शृंखला में स्थिर (1960-61) कीमतों पर विशुद्ध उत्पत्ति उप क्षेत्र स्तर (sub-sector level) पर भी प्रस्तुत की गयी है।

सन् 1968-69 के लिए राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अनुमान लगाते समय केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन ने उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर 1960-61 से 1967-68 तक के पहले दिये गये आँकड़ों में अब कुछ संशोधन कर दिया है। राष्ट्रीय आय सम्बन्धी वर्तमान आँकड़े आगे की तालिका में दिये गये हैं

विशुद्ध राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय के अनुमान

	1960 61	*'61-62*	*'62-63*	*'63-64*	*'64 65*	*'65 66*	*'66-67*	*'67-68*	*'68 99*
विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP)—साधन लागत पर—करोड रुपये									
1 चालू कीमतो पर	13294	14050	14873	17094	20061	20621	23624	28356	28583
2 1960-61 की कीमतो पर	13294	13763	14045	14845	15917	15021	15123	16586	16943
प्रति व्यक्ति विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (*NNP*)—रुपये									
1 चालू कीमतो पर	306 4	316 4	326 4	366 4	419 8	421 2	470 8	551 4	542 3
2 1960 61 की कीमतो पर	306 4	310 0	308 3	318 2	333 1	306 8	301 4	322 5	321 4
विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति के निर्देशांक									
1 चालू कीमतो पर	*100 0*	*105 7*	*111 9*	*128 6*	*150 9*	*155 1*	*177 7*	*213 3*	*215 2*
2 1960 61 की कीमतो पर	100 0	103 5	105 6	111 7	119 7	113 0	113 8	124 8	127 4
प्रति व्यक्ति विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति के निर्देशांक									
1 चालू कीमतो पर	100 0	103 3	106 5	119 6	137 0	137 5	153 7	180 0	177 0
1960-61 की कीमतो पर	100 0	101 2	100 6	103 9	108 7	100 1	98 4	105 3	104 9

पचवर्षीय योजनाओ के काल मे राष्ट्रीय आय

योजना-काल मे राष्ट्रीय आय की प्रवृत्तियो के अध्ययन के लिए हमे परम्परागत तथा सशोधित दोनों ही शृखलाओ का उपयोग करना पडता है। परम्परागत अनुमानो के अनुसार, प्रथम योजना काल म राष्ट्रीय आय (स्थिर कीमतो पर) 8,850 करोड रुपये से बढकर 10,480 करोड रुपये हो गयी। इस प्रकार 1950 51 से 1955 56 तक के पाच वर्षों मे राष्ट्रीय आय मे 18 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई और वार्षिक वृद्धि की दर 3 5 प्रतिशत रही। इस काल मे प्रति व्यक्ति आय मे लगभग 11 प्रतिशत की वृद्धि हुई। सन् 1960-61 मे राष्ट्रीय आय 12,730 करोड रुपये थी। इस प्रकार द्वितीय योजना-काल मे राष्ट्रीय आय 21 7 प्रतिशत बढी और वार्षिक वृद्धि-दर 4 0 प्रतिशत रही। प्रति व्यक्ति आय म लगभग 9 7 प्रतिशत वृद्धि हुई। स्मरण रहे कि प्रथम योजना-काल मे कीमत-स्तर नीचा रहने के कारण राष्ट्रीय आय मे वृद्धि चालू कीमतो की अपेक्षा स्थिर कीमतो मे अधिक हुई। दूसरे योजना काल मे स्थिति इसके विपरीत थी।

सन् 1960 61 के बाद के वर्षों मे राष्ट्रीय आय के अनुमानो के लिए सशोधित शृखला प्राप्त हो गयी है। उपलब्ध आंकडो के अनुसार, तृतीय योजना काल मे राष्ट्रीय आय म कुल 14 4 प्रतिशत वृद्धि हुई और वार्षिक वृद्धि दर 2 8 प्रतिशत रही। योजना के प्रथम चार वर्षों मे राष्ट्रीय आय मे 20 प्रतिशत वृद्धि हुई, परन्तु अन्तिम वर्ष सन् 1965 66 मे 5 6 प्रतिशत की कमी हो गयी। 1965 66 मे प्रति व्यक्ति आय लगभग वही थी जो 1960 61 मे थी। राष्ट्रीय आय मे जो थोडी सी वृद्धि हुई जनसख्या म 2 5 प्रतिशत वार्षिक की वृद्धि के कारण निष्प्रभाव सी हो गयी। *1967-68* मे राष्ट्रीय आय मे *9 3* प्रतिशत वृद्धि हुई परन्तु *1968 69* मे केवल *2 4* प्रतिशत ही वृद्धि हुई। 1969-70 मे 5 3 प्रतिशत वृद्धि हुई है। 1960-61 से 1969-70 तक राष्ट्रीय आय मे वृद्धि की औसत दर 3 5 प्रतिशत रही है।

स्मरण रहे कि 1960-61 के बाद के वर्षों म राष्ट्रीय आय बहुत कुछ कृषि उत्पादन से प्रभावित होती रही है। प्रथम तीन वर्षो मे कृषि-उत्पादन म वृद्धि सन्तोषजनक न होने के कारण राष्ट्रीय आय म भी वृद्धि कम हुई। चौथे वर्ष (1964-65) म कृषि-उत्पादन की स्थिति अच्छी होने के कारण राष्ट्रीय आय एकदम बढ गयी। सूखे के प्रभाव मे 1965-66 म कृषि-उत्पादन म गिरावट आयी और साथ ही राष्ट्रीय आय भी गिर गयी। 1966-67 म भी स्थिति वैसी ही रहने के कारण राष्ट्रीय आय म 1 9 प्रतिशत की नाममात्र की वृद्धि हुई। 1967-68 म कृषि उत्पादन

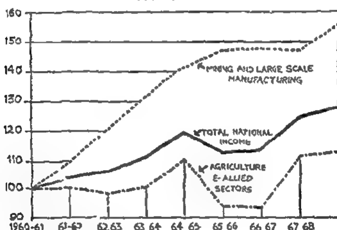
बढा और राष्ट्रीय आय मे भी 9 3 प्रतिशत की महान् वृद्धि हुई । नीचे की तालिका मे 1960-61 के बाद के आठ वर्षों मे राष्ट्रीय आय के विकास तथा कृषि और सगठित औद्योगिक क्षेत्रो से प्राप्त आय के निर्देशाक प्रस्तुत हैं

कुल राष्ट्रीय आय तथा कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र से प्राप्त आय के निर्देशाक
(1960-61–1968-69)

	1960-61	'61-62	'62-63	'63-64	'64-65	'65-66	'66-67	'67-68	'68-69
1. कुल राष्ट्रीय आय	100	103·7	105 7	111·9	119 8	113·1	114·0	124 2	126 5
2 कृषि एव मम्बन्धित क्षेत्र	100	101 0	98 3	101·1	110 2	94 1	94 0	110 8	109 6
3 खानें तथा बड़े उद्योग	100	109·5	122·9	132·5	141 8	145·8	147 5	146 3	155 0

[*Source* Fourth Five Year Plan, 1969-74, p 6]

NATIONAL INCOME
(1960-61=100)



राष्ट्रीय आय के भावी अनुमान

द्वितीय तथा तृतीय योजनाओं मे राष्ट्रीय आय के भावी अनुमान प्रस्तुत किये गये थे । द्वितीय योजना के अनुसार सन् 1950-51 की तुलना मे राष्ट्रीय आय सन् 1967-68 मे तथा प्रति व्यक्ति आय 1973-74 मे दुगुनी हो सकेगी । तृतीय योजना मे अनुमान लगाया गया कि 1960-61 की स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय 1965-66 मे 19,000 करोड रुपयो से बढकर 1970-71 मे 25,000 करोड रुपये तथा 1975-76 मे 33,000-34,000 करोड रुपये होगी । प्रति व्यक्ति आय क्रमश 385 रुपये, 450 रुपये तथा 530 रुपये होगी । इन लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए विनियोग की दर मे निरन्तर वृद्धि होते रहना आवश्यक समझा गया था ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, तृतीय योजना-काल मे राष्ट्रीय आय मे सन्तोषजनक वृद्धि न हो सकी । 1966-67 के बाद के वर्षों मे स्थिति मे सुधार होने के बावजूद भी 1968-69 मे कुल वास्तविक आय (*aggregate real income*) इतनी भी नही थी जितनी कि तृतीय योजना मे 1965-66 मे होने का अनुमान था ।

विभिन्न क्षेत्रो के उत्पादन के लक्ष्यो के आधार पर चौथी योजना (1969-74) मे अनुमान लगाया गया है कि योजना-काल मे कुल उत्पादन मे औसत 5·5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि-दर होने की सम्भावना हो सकती है । परन्तु यह स्पष्ट रूप मे स्वीकार किया गया है कि 1973-74 तक राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय मे उतनी वृद्धि नही हो पायेगी जितना कि तृतीय योजना मे अनुमान लगाया गया था । 1975-76 के लिए तृतीय योजना मे दिये गये वास्तविक आय मे वृद्धि

के लक्ष्यों की प्राप्ति सम्भवतः इसके तीन या चार वर्ष पश्चात् ही हो पायेगी। 1967-68 की तुलना में 1980-81 तक राष्ट्रीय आय लगभग दुगुनी हो सकती है, परन्तु जनसंख्या-वृद्धि के कारण प्रति व्यक्ति आय में केवल 53 प्रतिशत वृद्धि की ही सम्भावना है।[1]

भारत में राष्ट्रीय आय की गणना में कठिनाइयाँ

राष्ट्रीय आय समिति ने अपनी प्रथम रिपोर्ट में भारत में राष्ट्रीय आय की गणना में सामने आने वाली अनेक कठिनाइयों का उल्लेख किया था। मुख्यतः यह कठिनाइयाँ दो प्रकार की हैं—(1) धारणामूलक (conceptual), तथा (2) सांख्यिकीय (statistical)।

(1) **धारणामूलक कठिनाइयाँ**—राष्ट्रीय आय की गणना यह मानकर की जाती है कि देश में समस्त विनिमय मुद्रा के माध्यम से ही होता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि देश की अर्थ-व्यवस्था का एक बहुत बड़ा क्षेत्र असंगठित है, जहाँ वस्तु-विनिमय प्रणाली प्रचलित है। उत्पत्ति का बहुत बड़ा भाग बाजार में बिकने नहीं आता जिसके कारण कुल उत्पादन का मूल्य आंकना कठिन हो जाता है। अशिक्षा तथा पिछड़ेपन के कारण अधिकांश उत्पादक अपनी उत्पत्ति की मात्रा तथा मूल्य का हिसाब किताब नहीं रखते, केवल अनुमान ही लगाये जा सकते हैं। भारत में प्रायः एक व्यक्ति एक साथ कई व्यवसायों में लगा रहता है जिससे आय का ठीक अनुमान नहीं लग पाता है।

(2) **सांख्यिकीय कठिनाइयाँ**—राष्ट्रीय आय की गणना में सबसे बड़ी कठिनाई पर्याप्त आंकड़ों का अभाव है। कृषि लोगों का मुख्य व्यवसाय है, परन्तु कृषि तथा सहायक धन्धों में लागत तथा आय के सही आंकड़े उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। लोगों के उपभोग-व्यय तथा बचत के पर्याप्त आंकड़ों का भी अभाव है। देश में क्षेत्रीय अन्तर इतने अधिक हैं कि एक क्षेत्र के लिए लगाये गये अनुमान दूसरे क्षेत्र के लिए आधार नहीं बन पाते।

उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण ही भारत में अनेक अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय सम्बन्धी उपलब्ध आंकड़ों को सही नहीं मानते हैं। श्री नरोत्तम शाह के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना में जिन deflators का प्रयोग किया जाता है वे त्रुटिपूर्ण हैं। अतः सही अनुमान प्राप्त नहीं हो पाते हैं। डॉ० के० एन० राज ने राष्ट्रीय आय के अनुमानों की कई गम्भीर सीमाओं का उल्लेख किया है और अन्दाज लगाया है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि दिये गये अनुमानों से अधिक हुई है। प्रो० अशोक रुद्रा ने भी राष्ट्रीय आय के आंकड़ों की सत्यता को स्वीकार नहीं किया है।

वास्तव में, आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय आय के आंकड़ों में निरन्तर सुधार किया जाय और इस दिशा में संलग्न संगठनों तथा अनुसन्धान संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जाय। डॉ० राव के विचार में, भारत में सर्वप्रथम उचित ढंग से सुनियोजित बैंच मार्क सर्वे (bench mark survey) किये जायें जो दस-वर्षीय जनगणना के साथ मिलकर हमें आधार वर्ष की आय के सम्बन्ध में सही सूचना प्रदान कर सकें। इसके बाद प्रति वर्ष रैण्डम सैम्पल सर्वे (random sample survey) किये जायें जो प्रत्येक व्यवसाय अथवा औद्योगिक श्रेणी में व्यक्तियों की संख्या और प्रति व्यक्ति आय में होने वाले परिवर्तनों को सूचित कर सकें। ये दोनों प्रकार के आंकड़े अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे।[2]

भारत में राष्ट्रीय आय का वितरण

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है, परन्तु इसके बावजूद राष्ट्रीय आय इतनी कम है कि देश में लोगों के लिए एक सम्मानजनक जीवन-स्तर की कल्पना तक नहीं की जा सकती। जनसंख्या में तीव्र वृद्धि की दर ने राष्ट्रीय आय की वृद्धि के महत्व को कम कर दिया है क्योंकि इसके कारण प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि बहुत ही मन्द गति से हुई है। देश में मुद्रा-स्फीति के कारण राष्ट्रीय आय की वृद्धि का एक महत्वपूर्ण भाग

1. *Fourth Five Year Plan*, 1969-74, pp 30-31
2. Dr. V. K. R. V. Rao 'Some Suggestions for the Improvement of National Income Data in India', published in *Papers on National Income and Allied Topics*, Vol. II, pp. 1-5

बेकार हो गया है। मौद्रिक आय की अपेक्षा वास्तविक आय में वृद्धि बहुत कम हुई है। राष्ट्रीय आय की कमी के साथ-साथ एक महत्वपूर्ण पहलू जिस पर अलग से अध्ययन करने की आवश्यकता है वह है इसका न्यायोचित वितरण।

केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (CSO) द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय आय के आँकडो से आय के वितरण सम्बन्धी कोई जानकारी प्राप्त नही होती और न ही वितरण सम्बन्धी कोई आंकड़े नियमित रूप मे उपलब्ध है। देश मे आर्थिक कल्याण की मात्रा तथा समाजवाद के लक्ष्यों की प्राप्ति बहुत कुछ आय के वितरण की स्थिति पर निर्भर करती है।

13 अक्टूबर, 1960 को योजना आयोग ने प्रो० पी० सी० महालनोबिस की अध्यक्षता मे एक समिति "The Committee on Distribution of Income and Levels of Living" नियुक्त की, जिसके निम्नलिखित कार्य निश्चित किये गये (1) प्रथम व द्वितीय योजना-काल मे जीवन-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो की समीक्षा करना, (2) गत वर्षों में आय व धन के वितरण की प्रवृत्तियो का अध्ययन करना, तथा (3) अर्थ-व्यवस्था के सचालन मे धन व उत्पत्ति के साधनो के केन्द्रीकरण की जॉच करना। बाद मे आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण की जांच करना भी इसमे शामिल कर लिया गया।

समिति ने अपनी रिपोर्ट का प्रथम भाग फरवरी 1964 मे प्रस्तुत किया, जिसमे इसको सौपे गये दूसरे तथा तीसरे कार्यों से सम्बन्धित तथ्यो पर प्रकाश डाला गया। समिति ने अपने अध्ययन मे नेशनल सेम्पल सर्वे (National Sample Survey), व्यावहारिक आर्थिक अनुसन्धान की राष्ट्रीय परिषद (National Council of Applied Economic Research), भारतीय सांख्यिकीय संस्था (Indian Statistical Institute), रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया आदि से प्राप्त सामग्री का उपयोग किया है। व्यक्तिगत आय के वितरण की जॉच के लिए समिति ने श्री आयगर व मुखर्जी, एच० एफ० लिडाल, ओझा व भट्ट[1] एव राष्ट्रीय परिषद (NCAER) द्वारा प्रस्तुत सामग्री का उपयोग किया है।

समिति की रिपोर्ट मे यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि गत वर्षों मे आर्थिक सत्ता कुछ इने-गिने व्यक्तियो के हाथो मे जाने की प्रवृत्ति रही है और बडी-बडी कम्पनियो की शक्ति बढी है। समिति ने भारतीय बैंको मे आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण का भी उल्लेख किया है। समिति ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि देश मे उद्योगपतियों तथा व्यवसायियो द्वारा करो की चोरी की जाती है जिससे आय का सकेन्द्रण बढा है। देश मे कुछ पूंजीपतियो ने बडे उद्योगो की शृखलाओं पर एकाधिकार कर लिया है। कृषि-भूमि के स्वामित्व मे भी सकेन्द्रण बहुत बढ गया है। 1 प्रतिशत जनसंख्या के पास लगभग 16 प्रतिशत भूमि है और उच्चतम 10 प्रतिशत लोगो के पास कुल कृषि-भूमि का 56 प्रतिशत भाग है, जबकि निम्नतम स्तर के 20 प्रतिशत लोग सर्वथा भूमिहीन है।

ओझा व भट्ट के अनुसार, सन् 1956-57 मे ऊपर के 10 प्रतिशत परिवारो के पास आय का 25 प्रतिशत भाग था और निम्नतम स्तर के 20 प्रतिशत परिवारो के पास आय का केवल 8 5 प्रतिशत भाग था। आयगर व मुखर्जी के अनुमान भी इससे मिलते-जुलते थे। एच० एफ० लिडाल (H F Lydall) के अनुसार 1955-56 मे राष्ट्रीय आय का 11 प्रतिशत भाग 1 प्रतिशत जनसख्या को मिल रहा था, जबकि नीचे के 50 प्रतिशत लोगो को राष्ट्रीय आय का केवल 25 प्रतिशत भाग मिल रहा था। राष्ट्रीय परिषद (NCAER) के एक अध्ययन "Urban Income and Saving" के अनुसार 1960 मे ऊपर के 10 प्रतिशत शहरी परिवारो के पास 42 4 प्रतिशत आय थी और नीचे के 20 प्रतिशत परिवारो के पास केवल 4 प्रतिशत आय थी। इन अनुमानो से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत मे आय तथा धन के वितरण मे काफी अस-

1 ओझा एव भट्ट ने भारत मे राष्ट्रीय आय के वितरण का अध्ययन 1953-54 से 1956 57 तक के काल का किया है। देखिए, *Reserve Bank of India Bulletin*, September 1962, *American Economic Review*, September 1964

मानता है। ग्रामीण क्षत्र की अपेक्षा शहरी क्षेत्र म असमानता और भी अधिक है। स्मरण रह कि वितरण की असमानता व्यक्तियों तक ही सीमित नही है, वल्कि देश के विभिन्न क्षेत्रा म कुल आय तथा प्रति व्यक्ति आय के दृष्टिकोण से बहुत अधिक असमानताएं पायी जाती हैं। परिणामस्वरूप देश म बढती हुई आय से न तो सभी व्यक्तिया को और न ही सभी क्षेत्रों को समान रूप स लाभ हुआ है।

प्रो० डी० आर० गाडगिल के अनुसार 'किसी भी देश मे जिस वर्ग के हाथ म वास्तविक सत्ता होती है उसके हिता के अनुसार नीतिया निर्धारित की जाती है। इस आधार पर यह कहना सत्य है कि आज भारत म वास्तविक सत्ता आधुनिक सगठित व्यावसायिक तथा व्यापारिक वर्गों के हाथ म है और सभी आर्थिक नीतिया, उनके उद्देश्य कुछ भी हो, इस प्रकार व्यवस्थित हुई हैं कि उनका लाभ उन्ही वर्गों को प्राप्त हुआ है।[1] वास्तविकता यह है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था म समाजवाद का ढोल पीटा जाता है परन्तु पूजीवाद को सरक्षण तथा पोषण मिलता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरो के सकेत

1 राष्ट्रीय आय की परिभाषा दीजिए। इसकी गणना किस प्रकार की जा सकती है?

[सकेत प्रथम भाग मे मार्शल, पीगू तथा फिशर द्वारा दी गयी परिभाषाओ की व्याख्या कीजिए और यह स्पष्ट कीजिए कि आप कौनसा परिभाषा को अधिक उपयुक्त समझते हैं। दूसरे भाग मे राष्ट्रीय आय की गणना करने की प्रमुख विधियो का उल्लेख कीजिए।]

2 राष्ट्रीय आय की गणना करना क्यों आवश्यक है? इसमे कौन कौनसी कठिनाइया सामने आती हैं?

[सकेत प्रथम भाग म राष्ट्रीय आय के आकडा के महत्व की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे गणना से सम्बन्धित अनेक कठिनाइयो का उल्लेख कीजिए और यह स्पष्ट कीजिए कि राष्ट्रीय आय के आँकडो की अनेक सीमाए हैं।]

3 भारत की राष्ट्रीय आय की आधुनिक प्रवृत्तियों का विवेचन कीजिए तथा इसके वितरण की समस्या पर प्रकाश डालिए।

[सकेत प्रथम भाग म गत वर्षों म राष्ट्रीय आय म हुए परिवतनो का उल्लेख कीजिए। दूसरे भाग मे यह स्पष्ट कीजिए कि भारत मे आय के वितरण मे बहुत अधिक असमानताए हैं और इनका हमारी आर्थिक नीतिया पर काफी अधिक प्रभाव पडता है।]

4 भारत मे राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित तथ्यों की विवेचना कीजिए।

[सकेत भारत की राष्ट्रीय आय के आकडो क आधार पर गत वर्षों मे हुए परिवतनो तथा प्रवृत्तियो की विवेचना कीजिए। भारत म राष्ट्रीय आय की गणना से सम्बन्धित कठिनाइयो का भी उल्लेख कीजिए और बताइए कि इस दिशा मे कौन कौनसे सुधार किये गय हैं। देश मे आय के वितरण मे असमानताओं का भी उल्लेख कीजिए।]

---

1 D R Gadgil *Plann ng and Economic Pol cy in India* p 148

36

वचत एवं विनियोग

[SAVINGS AND INVESTMENT]

"इस तथ्य के होते हुए भी कि विनियोगकर्ता तथा बचतकर्ता व्यक्तियों के दो पृथक वर्ग होते हैं जो पूर्ण रूप से परस्पर स्वतन्त्र रहकर निर्णय करते है, इनके सामूहिक आचरण का परिणाम यह होता है कि एक निश्चित अवधि के भीतर विनियोग तथा बचत समान मात्रा में होते हैं।"[1]

—डडले डिलार्ड

आधुनिक अर्थ-व्यवस्थाओं का इतिहास इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि-दर तथा रोजगार का स्तर निर्धारित करने में विनियोग की मात्रा का बहुत बड़ा हाथ होता है। विनियोग (investment) तथा बचत (savings) का एक-दूसरे से सम्बन्ध इतना घनिष्ठ होता है कि इन दोनों का अध्ययन प्राय एक साथ किया जाता है। प्रो० केन्ज की विचारधारा के प्रभाव में अर्थशास्त्र में बचत तथा विनियोग के अध्ययन को बहुत अधिक महत्व प्राप्त हुआ है। आर्थिक विकास की योजनाओं की सफलता के लिए पर्याप्त मात्रा में बचत तथा विनियोग उपलब्ध होना आवश्यक समझा जाता है।

बचत

प्रो० केन्ज के अनुसार, "उपभोग पर किये गये व्यय से वेशी आय ही बचत है।"[2] दूसरे शब्दों में, बचत आय का वह शेष है जो उपभोग सम्बन्धी व्यय करने के पश्चात बच जाता है।

इस प्रकार,

बचत (S)=आय (Y)—उपभोग (C)

अथवा आय (Y)=उपभोग (C)+बचत (S)

इस परिभाषा का गुण यह है कि यह व्यक्तिगत बचत तथा सामाजिक अथवा राष्ट्रीय बचत पर समान रूप से लागू होती है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति की आय 1,000 रुपये है जिसमें से 800 रुपये वह उपभोग पर व्यय कर देता है तो उसकी बचत 1000—800=200 रुपये होगी। इसी प्रकार, यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय 20,000 करोड़ रुपये है और उपभोग पर कुल व्यय 18,000 करोड़ रुपये किया जाता है, तो उस राष्ट्र की सामूहिक अथवा राष्ट्रीय बचत 20,000—18,000=2,000 करोड़ रुपये होगी। दोनों ही स्थितियों में बचत आय तथा उपभोग-व्यय के अन्तर के बराबर है।

प्राचीन अर्थशास्त्री समस्त राष्ट्रीय बचत को व्यक्तिगत बचतों का योगफल मात्र

---

1 "Despite the fact that investors and savers are, as a rule, two separate sets of persons who make their decisions freely and independently of one another, the net result of their collective behaviour is to invest and to save in the aggregate identical amounts during any given period "—D Dillard : *Economics of John Maynard Keynes*, p. 62

2 "Saving means the excess of income over expenditure of consumption "—J. M Keynes *General Theory of Employment, Interest and Money*, p. 61.

समझते थे। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि व्यक्तिगत बचत तथा सामाजिक बचत की परिभाषा एक ही है और सामाजिक बचत व्यक्तिगत बचतों का विशुद्ध परिणाम है, परन्तु ऐसा होते हुए भी दोनों प्रकार की बचतों में कुछ विशेष अन्तर हैं। यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्तिगत बचतों में वृद्धि होने से सदैव सामाजिक बचत में भी वृद्धि हो। प्रो० केन्ज ने अपनी पुस्तक *'General Theory'* में यह स्पष्ट रूप से बताया है कि किसी व्यक्ति द्वारा उपभोग-व्यय में कमी करके अपनी निश्चित आय में से अधिक बचत कर लेने पर उसकी व्यक्तिगत बचत तो बढ़ जाती है परन्तु सामाजिक बचत में कोई वृद्धि नहीं होती। वास्तव में, एक व्यक्ति द्वारा किया गया व्यय दूसरों की आय होता है। एक निश्चित आय में से एक व्यक्ति द्वारा अधिक बचत कर लेने पर अन्य व्यक्तियों की आय उतनी ही कम हो सकती है जिसका उनकी बचत करने की क्षमता पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार, केन्ज के विचार में एक व्यक्ति जितनी अधिक बचत करता है, समाज में अन्य व्यक्ति उसी मात्रा में कम बचत कर पाते हैं। परिणामस्वरूप, व्यक्तिगत बचत बढ़ने पर सामाजिक बचत में वृद्धि नहीं होती। स्मरण रहे कि केन्ज का बचत से अभिप्राय कुल अथवा सामूहिक बचत (aggregate or collective savings) से है।

बचत की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व

समस्त राष्ट्रीय बचत में कुल व्यक्तिगत बचत के अतिरिक्त कुल व्यावसायिक बचत तथा सरकारी बचत भी सम्मिलित होती है। किसी भी देश अथवा समाज में, जैसा कि पहले कहा गया है, लोगों की ऐच्छिक बचत उनकी आय का वह भाग होती है जिसको उपभोग के लिए व्यय नहीं किया जाता। इस प्रकार समाज में उपभोग-प्रवृत्ति (propensity to consume) तथा बचत-प्रवृत्ति (propensity to save) एक दूसरे पर आधारित होती है। एक में वृद्धि दूसरे में कमी उत्पन्न करती है। वास्तविकता यह है कि एक को प्रभावित करने वाले तत्वों का दूसरे पर भी प्रभाव पड़ता है। बचत तथा उपभोग को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं

(1) आय का स्तर (Level of Income)—सैद्धान्तिक रूप में बचत तथा उपभोग का स्तर किसी देश में राष्ट्रीय आय के स्तर पर निर्भर करता है। आय में वृद्धि के साथ-साथ उपभोग-प्रवृत्ति प्रबल होती है, परन्तु समस्त आय के प्रतिशत के रूप में उपभोग व्यय कम हो जाते है। इससे बचत की दर अथवा प्रवृत्ति में वृद्धि होने की सम्भावना बढ़ जाती है। जिन देशों में आय का स्तर नीचा है, वहाँ लोगों की बचत करने की क्षमता भी कम है।

व्यावहारिक रूप में यह देखा गया है कि कम आय वाले कुछ देशों में भी बचत की प्रवृत्ति काफी अधिक है जबकि अधिक आय वाले कुछ देशों में बचत की प्रवृत्ति कम है।[1] यह भी आवश्यक नहीं कि आय में वृद्धि के साथ साथ लोगों की बचत प्रवृत्ति में भी वृद्धि हो। अतएव ऐसा सोचना गलत है कि बचत की मात्रा किसी एक विशेष तत्व पर निर्भर करती है। उस पर विभिन्न तत्वों का प्रभाव पड़ता है।[2]

(2) तात्विक कारण (Objective Factors)—प्रो० केन्ज ने उपभोग तथा बचत की मात्रा को प्रभावित करने वाले कुछ तात्विक कारण बताये है जो निम्नलिखित हैं

1 **शुद्ध आय की मात्रा**—कुल आय तथा शुद्ध आय में अन्तर उपभोग तथा बचत की मात्रा को प्रभावित करता है। व्यापारिक कम्पनियाँ तथा औद्योगिक संगठन अपनी सम्पूर्ण आय का वितरण नहीं करते। कुल आय का एक भाग कोष निधि अथवा अपकर्ष (depreciation) खाते में डाल देने के पश्चात ही अंशधारियों को लाभांश बाँटा जाता है। इस प्रकार उपभोग की मात्रा कुल आय की अपेक्षा शुद्ध आय की मात्रा से अधिक प्रभावित होती है।

2 **कीमत स्तर**—कीमत-स्तर में वृद्धि होने पर यदि लोगों की आय अपरिवर्तित रहती है, तो उनकी वास्तविक आय (real income) गिर जाती है। अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति

---

1 U N *World Economic Survey*, 1960, Chapter II, p 66, *The Economic Survey of Asia and the Far East*, 1961, p 52
2 T T Sethi *Price Strategy in Indian Planning*

करने के लिए लोगो को अन्य वस्तुओं पर उपभोग-व्यय कम करना पडता है । प्रभावपूर्ण माँग मे कमी के कारण आय तथा रोजगार का स्तर गिर जाता है । इन परिस्थितियो मे बचत की मात्रा कम होना स्वाभाविक ही है ।

3 **ब्याज की दर**—कुछ अर्थशास्त्रियो की धारणा है कि ब्याज दर ऊँची होने पर लोगो मे बचत प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और वे उपभोग-व्यय गिरा देते हैं । इसीलिए ऐसा सोचा जाता है कि यदि बचत को बढाना है तो ब्याज-दर का ऊँचा होना आवश्यक है । प्रो० केन्ज के विचार मे बचत तथा ब्याज-दर मे बहुत अधिक निकट अथवा विश्वसनीय सम्बन्ध नही है ।

4 **सरकार की कर-नीति**—आय, लाभ, सम्पत्ति तथा उत्पादन आदि पर करो का भार बढा देने से बचत की प्रवृत्ति कम हो सकती है और उपभोग की प्रवृत्ति प्रबल । करो की अदायगी के लिए लोगो को बचत करने के लिए बाध्य (forced savings) तो किया जा सकता है, परन्तु ऐच्छिक बचत की मात्रा कम हो जाती है ।

5 **भविष्य की सम्भावनाएं**—यदि लोगो मे भविष्य के लिए सुरक्षा की भावना रहती है, तो वे बचत करने के लिए अधिक चिन्ता नही करते और उनका उपभोग का स्तर ऊँचा होता है। इसके विपरीत, भविष्य की चिन्ता अधिक बचत करने के लिए प्रेरित करती है ।

6 **आकस्मिक लाभ**—देश मे राजनीतिक, आर्थिक अथवा अन्य किसी कारण से अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न होने पर यदि लोगो को आकस्मिक लाभ प्राप्त होता है, तो उपभोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है । इसके विपरीत, आकस्मिक हानि होने पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव के कारण खर्चो मे कमी होने लगती है ।

(3) **व्यक्तिगत कारण** (Subjective Factors)—उपभोग तथा बचत की प्रवृत्तियाँ कुछ व्यक्तिगत कारणो से भी प्रभावित होती है । समाज मे व्यक्ति निम्नलिखित भावनाओ से प्रेरित होकर अधिक बचत करते हैं

1 भविष्य के प्रति अधिक सतर्कता अथवा जागरूकता ।
2 धनवान होकर समाज मे गौरव, सम्मान तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करने की भावना ।
3. भविष्य मे जीवन-स्तर ऊँचा करने की भावना ।
4 आत्म-निर्भर तथा स्वतन्त्र रहने की भावना ।
5 बचत करने की आदत ।
6 बचत की गयी धन-राशि पर ब्याज के द्वारा आय प्राप्त करने को भावना ।
7 भविष्य मे विवाह, शिक्षा आदि निश्चित घटनाओ के लिए बचत करने की भावना ।
8 साहसिक प्रवृत्ति के कारण व्यवसाय तथा उद्योगो की स्थापना के लिए बचत की भावना ।

स्पष्ट है कि व्यक्तिगत कारण व्यक्तियो की बचत की प्रवृत्तिया को प्रभावित करते हैं। परन्तु व्यक्तिगत व्यवहार तथा भावनाएँ इतनी अनिश्चित होती हैं कि उनके प्रभाव के बारे म पहले से कुछ निश्चित रूप मे कहना सम्भव नही हो पाता है । यही कारण है कि सरकार की बचत सम्बन्धी नीतियाँ पूर्णत प्रभावपूर्ण नही हो पाती है । उनकी सफलता बहुत कुछ अनिश्चित तत्वा पर निर्भर करती है ।

बचत का महत्व

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री व्यक्तिगत बचत म वृद्धि को ही कुल सामुदायिक बचत म वृद्धि का आधार मानते थे । वे न केवल व्यक्तिगत बचत को प्रोत्साहन देने के पक्ष मे थे वल्कि इसे व्यक्ति तथा समाज का महान् गुण समझते थे । इस विचारधारा के विपरीत प्रो० केन्ज ने व्यक्तिगत बचत का तीव्र विरोध किया और इसे एक सामाजिक बुराई (social evil) माना। स्मरण रहे कि केन्ज के विचार 1930 की महान् मन्दी से उत्पन्न परिस्थितियो से प्रभावित थे तथा उनका मुख्य उद्देश्य प्रभावपूर्ण माँग (effective demand) मे वृद्धि के द्वारा रोजगार तथा आय के स्तर को ऊँचा करना था । केन्ज की 'जनरल थ्योरी' मे बचत के बजाय उपभोग-व्यय को समाज के लिए अधिक अच्छा माना गया है, क्योकि एक व्यक्ति द्वारा किया गया व्यय दूसरे व्यक्ति की आय होना है ।

वर्तमान परिस्थितियों में जब प्रत्येक देश आर्थिक विकास की योजनाओं को पूरा करने के लिए साधन जुटाने में अधिक प्रयत्नशील है, बचत के महत्व को फिर से स्वीकार कर लिया गया है। आर्थिक विकास के लिए आन्तरिक साधनों की व्यवस्था तथा लोगों को उपलब्ध अतिरिक्त क्रय-शक्ति के नियन्त्रण करने के लिए बचत को प्रोत्साहन देना प्रत्येक विकासशील देश की आर्थिक नीति का मुख्य उद्देश्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि बचत का उपयोग देश में विनियोग की मात्रा बढ़ाने के लिए किया जाता है तो उससे व्यक्ति तथा समाज दोनों को ही लाभ होता है। स्वर्ण आदि के रूप में यदि बचत का अनुत्पादक उपयोग किया जाय तो इसमें शायद व्यक्ति को तो कुछ लाभ हो जाय परन्तु समाज को कोई लाभ नहीं होता। विकास एवं स्थिरता के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए न केवल बचत की मात्रा बढ़ाना आवश्यक है, अपितु यह और भी अधिक आवश्यक है कि बचत का उपयोग देश में पूंजी-निर्माण तथा विनियोग की मात्रा बढ़ाने के लिए किया जाय।[1]

विनियोग

विनियोग की परिभाषा देते हुए प्रो० केन्ज ने *'General Theory'* में लिखा है कि "इस (विनियोग) से हमारा अभिप्राय एक काल के भीतर होने वाली उत्पादक क्रियाओं के परिणामस्वरूप पूंजीगत वस्तुओं के मूल्य में होने वाली चालू वृद्धि से होना चाहिए।"[2] डडले डिलार्ड ने केन्ज द्वारा दी गयी परिभाषा को अत्यधिक सरल शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है कि "वास्तविक पूंजीगत आदेशों के वर्तमान स्टॉक में वृद्धि विनियोग है।"[3] इस प्रकार विनियोग से हमारा अभिप्राय **वास्तविक पूंजी-कोष में वृद्धि** से होता है। दूसरे शब्दों में, विनियोग आय का वह भाग है जो पूंजीगत वस्तुओं अर्थात् और अधिक आय कमाने वाली वस्तुओं के रूप में बचाकर रखा जाय। नये कारखानों की स्थापना, पहले से स्थापित व्यवसायों की क्षमता में वृद्धि, परिवहन के साधनों का विस्तार, कारखानों तथा कार्यालयों के भवनों का निर्माण आदि कार्य विनियोग कहे जाते हैं।

बचत के समान विनियोग का अध्ययन भी व्यक्तिगत तथा सामाजिक दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। व्यक्तिगत विनियोग के दो रूप हो सकते हैं—वित्तीय (financial) तथा वास्तविक (real)। जब कोई व्यक्ति अपनी बचत का प्रयोग किसी विद्यमान कम्पनी के अंश (shares) अथवा सरकारी ऋण पत्रों (securities) व बॉण्डों के खरीदने के लिए करता है तो यह वित्तीय विनियोग कहा जायगा। इसके विपरीत, यदि वह व्यक्ति किसी विद्यमान कम्पनी के पुराने शेयर खरीदने के बजाय अपनी बचत का प्रयोग नयी फैक्टरी अथवा नये मकान आदि के निर्माण के लिए करता है तो इससे वास्तविक पूंजी की मात्रा में वृद्धि होगी और इसे वास्तविक विनियोग कहा जायगा। वित्तीय विनियोग के परिणामस्वरूप समाज में वास्तविक पूंजी की मात्रा में कोई वृद्धि नहीं होती। यदि एक व्यक्ति शेयर खरीदता है तो कोई अन्य व्यक्ति उसे बेचता भी है जिससे समाज में कुल विनियोग की मात्रा में कोई वृद्धि नहीं होती। वास्तविक विनियोग का प्रमुख लक्षण पूंजीगत आदेयों (capital assets) अथवा माल की मात्रा तथा स्टॉक में वृद्धि करना है। प्रो० केन्ज ने वास्तविक विनियोग को ही महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि इसमें वृद्धि होने पर समाज की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होती है तथा रोजगार का स्तर ऊँचा होता है। सामाजिक दृष्टिकोण से विनियोग महत्वपूर्ण तभी होगा जब किसी नयी औद्योगिक कम्पनी, नये स्कूल, पुल, अस्पताल, फैक्टरी, आदि का निर्माण होने के कारण देश की वास्तविक पूंजी की मात्रा में वृद्धि होती है तथा समाज

---

1 "More saving not less is needed The alternatives are inhibited growth, inflation, or a combination of the two It has to be realized that saving is not merely a negative, mere non-spending, but the inescapable first-half of the completed positive act of investment" —Raghuraj Singh and T. T Sethi *Monetary Economics*, p 242

2 ". we must mean by this (investment) the current addition to the value of the capital equipment which has resulted from the productive activity of the period' —J M. Keynes *The General Theory of Employment, Interest and Money*, p 62

3 "Investment is the net addition to the existing stock of real capital assets "—Dudley Dillard *The Economics of John Maynard Keynes*, p. 60

की उत्पादन-शक्ति बढ़ जाती है। इसलिए प्रो० केन्ज ने विनियोग शब्द का प्रयोग वास्तविक विनियोग के अर्थ में किया है। किसी देश में किसी समय कुल वास्तविक विनियोग की मात्रा निम्न प्रकार की पूंजी की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है :

(1) स्थिर यन्त्र, मशीनें तथा अन्य अचल पूंजी।
(2) कच्चे माल का स्टॉक तथा अन्य चल पूंजी।
(3) आवासिक भवन।
(4) सार्वजनिक निर्माण कार्य।
(5) शुद्ध विदेशी विनियोग।

कुल तथा शुद्ध विनियोग (Gross and Net Investment)

कुल विनियोग से अभिप्राय किसी दिये हुए समय में अर्थ-व्यवस्था में कुल वास्तविक विनियोग की मात्रा से होता है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सम्पूर्ण वास्तविक विनियोग का उपयोग उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करने के लिए नहीं किया जाता है। इसका कुछ भाग उत्पादन-सज्जा, मशीनों आदि की टूट-फूट तथा अचल पूंजी की घिसावट को ध्यान में रखते हुए अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन क्षमता को समान बनाये रखने के लिए उपयोग किया जाता है। इस प्रकार कुल विनियोग का कुछ भाग प्रतिस्थापन मांग का रूप धारण करता है।

शुद्ध विनियोग कुल विनियोग का वह भाग है जो अर्थ-व्यवस्था की कुल विद्यमान उत्पादन-क्षमता में हुई शुद्ध वृद्धि का सूचक है। कुल विनियोग तथा शुद्ध विनियोग में समानता तभी सम्भव है जब किसी अर्थ-व्यवस्था में टूट-फूट तथा घिसावट आदि के कारण पुरानी मशीनों तथा उत्पादन-सज्जा का प्रतिस्थापन करने की कोई समस्या न हो। परन्तु चूंकि वास्तविक जगत में ऐसा नहीं होता, इसलिए शुद्ध विनियोग कुल विनियोग के समान न होकर उससे कम होता है।

नियोजित तथा अनियोजित वास्तविक विनियोग (Planned and Unplanned Real Investment)

उत्पादन में वृद्धि तथा भविष्य में लाभ की प्राप्ति के उद्देश्य से अर्थ-व्यवस्था में पूंजीगत पदार्थों का निर्माण जब सोच विचार कर किया जाता है, तो यह नियोजित अथवा ऐच्छिक विनियोग होता है। इसके विपरीत, बाजार में बिक्री के अभाव में जब विक्रेताओं के पास उत्पादित वस्तुओं का अविक्रित स्टॉक रह जाता है अथवा, केन्ज के शब्दों में, अधिक मात्रा में तरल पूंजी एकत्र हो जाती है, तो यह अनियोजित अथवा अनैच्छिक विनियोग है। यद्यपि कुछ अर्थशास्त्रियों ने विनियोग के इस अन्तर को महत्वपूर्ण माना है, केन्ज के विचार में इस अन्तर का कोई विशेष महत्व नहीं है।

प्रेरित तथा स्वायत्त विनियोग (Induced and Autonomous Investment)

प्रत्यक्ष रूप से आय द्वारा निर्धारित होने वाला विनियोग स्वायत्त विनियोग होता है। समाज में व्यक्तियों की उपभोग्य आय (disposable income) में वृद्धि होने पर वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि होती है, जिसकी पूर्ति करने के लिए उद्यमकर्ता विनियोग को बढ़ाने के लिए प्रेरित होता है। इस प्रकार, प्रेरित विनियोग की मात्रा आय में वृद्धि अथवा कमी के साथ-साथ बढ़ती-घटती रहती है। दूसरे शब्दों में, प्रेरित विनियोग आय-सापेक्ष (income elastic) होता है। अल्पकाल में पूंजी-उत्पादन अनुपात के स्थिर होने के कारण आय तथा प्रेरित विनियोग के मध्य एक सीधा अनुपाती सम्बन्ध होता है।

स्वायत्त विनियोग आय के परिवर्तनों द्वारा प्रभावित नहीं होता है अर्थात् आय-निरपेक्ष (income inelastic) होता है। वह पूंजी-व्यय (capital expenditure) जो प्रत्यक्ष रूप में समर्थ मांग में होने वाले परिवर्तनों द्वारा प्रभावित नहीं होता है, स्वायत्त विनियोग कहलाता है। नवीन प्रक्रियाएँ, आविष्कार, जनसंख्या की वृद्धि, युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियाँ, श्रम आन्दोलन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि प्रमुख कारण स्वायत्त विनियोग की मात्रा को प्रभावित करते हैं।

इस प्रकार, आय की मात्रा स्थिर रहने पर स्वायत्त विनियोग में परिवर्तन हो सकता है तथा आय में परिवर्तन होने पर भी स्वायत्त विनियोग की मात्रा स्थिर रह सकती है। आर्थिक विचार के उद्देश्य से सड़कों का निर्माण, जन-कल्याण के लिए अस्पतालों का निर्माण, अनुसन्धान व विकास पर किया जाने वाला दीर्घकालीन विनियोग स्वायत्त विनियोग के उदाहरण हैं।

संक्षेप में, प्रेरित विनियोग आय के स्तर तथा आय में परिवर्तनों, उपभोग-प्रवृत्ति, अचल पूँजी के स्टॉक आदि आन्तरिक (endogenous) तत्वों द्वारा प्रभावित होता है जबकि स्वायत्त विनियोग बाह्य (exogenous) तत्वों से प्रभावित होता है। युद्धकालीन अथवा नियोजित अर्थ-व्यवस्था में स्वायत्त विनियोग की मात्रा लाभ-प्राप्ति की आशा से निर्धारित न होकर अन्य तत्वों द्वारा निर्धारित होती है। अर्थ-व्यवस्था में कुल विनियोग प्रेरित तथा स्वायत्त विनियोग का योग-फल होने के कारण इसकी मात्रा, स्पष्ट रूप में, आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के तत्वों द्वारा निर्धारित होती है।

विनियोग को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारण

विनियोग की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व बचत को प्रभावित करने वाले तत्वों से सर्वथा भिन्न हैं। प्रो० केन्ज के विचारानुसार अर्थ-व्यवस्था में विनियोग की दर मुख्यतः दो प्रधान शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है—ब्याज की दर, तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता। इन दो के अतिरिक्त कुछ अन्य तत्व भी विनियोग की दर को प्रभावित करते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार से कुल विनियोग की मात्रा को निर्धारित करने वाले तत्व निम्नलिखित हैं

(1) **ब्याज की दर** (Rate of Interest)—ब्याज की दर में परिवर्तन विनियोग की लागत को प्रभावित करते हैं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री विनियोग को ब्याज-सापेक्ष (interest elastic) मानते थे। उनका विश्वास था कि ब्याज दर में कमी होने पर विनियोग की लागत कम होती है और परिणामस्वरूप विनियोग की मात्रा बढ़ जाती है। इसके विपरीत, ब्याज-दर में वृद्धि होने से विनि-योग में वृद्धि हो जाती है। इसीलिए उन्होंने बैंक-दर को आर्थिक स्थिरता स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण यन्त्र माना था। तीसा की महान् मन्दी के पूर्व केन्ज के भी यही विचार थे। परन्तु मन्दी काल की परिस्थितियों ने यह सिद्ध कर दिया की ब्याज की दर तथा विनियोग में ऐसा कोई निकट-तम सम्बन्ध नहीं है जितना कि समझा जाता था। केन्ज ने 'जनरल थ्यौरी' में स्पष्ट रूप से कहा कि विनियोग इतना अधिक ब्याज-सापक्ष नहीं है जितना कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विश्वास था। विशेष रूप से मन्दी-काल में केवल ब्याज-दर में कमी करके विनियोग को नहीं बढ़ाया जा सकता। केन्ज ने ब्याज की तुलना उस कुत्ते से की जो जल की गहराई में फँसे हुए कलहंस को पानी की सतह पर खींच लाने में असमर्थ सिद्ध होता है। **इस प्रकार** यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि ब्याज की दर किस सीमा तक विनियोग की दर को प्रभावित करती है।

(2) **पूँजी की सीमान्त उत्पादकता** (Marginal Efficiency of Capital)—पूँजी की सीमान्त उत्पादकता अथवा क्षमता से अभिप्राय नयी पूँजी से प्राप्त होने वाले सम्भावित लाभ की मात्रा से है। इसका निर्धारण उद्यमकर्ताओं की पूँजी परिसम्पत्ति (capital assets) से भविष्य में प्राप्त होने वाली आय सम्बन्धी आशाओं द्वारा होता है। केन्ज के विचारानुसार विनियोग के लिए पूँजी की माँग को प्रभावित करने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ही है। उद्यमकर्ता विनियोग सम्बन्धी निर्णय पूँजी की लागत (ब्याज-दर) तथा उसकी सम्भावित लाभ की मात्रा के आधार पर करता है। उद्यमकर्ताओं की लाभ सम्बन्धी आशाएँ अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन होती हैं। अल्पकालीन आशाएँ मूल्य, लाभ, माँग, वेतन व ब्याज की दर आदि आन्तरिक तत्वों द्वारा प्रभावित होती हैं, जबकि दीर्घकालीन आशाओं पर युद्ध, जनसंख्या की वृद्धि, आविष्कार, नवीन प्रक्रिया, विदेशी व्यापार, राजनीतिक परिस्थिति, ऋतु इत्यादि अनेक बाह्य कारणों का प्रभाव पड़ता है। राज्य की कर-नीति का भी पूँजी की सीमान्त उत्पादकता पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

(3) **विनियोग की सुविधाएँ** (Facilities for Investment)—ब्याज की दर तथा पूँजी

की सीमान्त उत्पादकता के अतिरिक्त विनियोग की मात्रा इस बात से भी प्रभावित होती है कि देश मे विनियोग के लिए कौन-कौनसे स्रोत उपलब्ध है। विनियोग के स्रोतों की न्यूनता अथवा बाहुल्य देश मे आर्थिक स्थिति के स्तर पर निर्भर करता है। यदि अर्थ-व्यवस्था मे विभिन्न प्रकार के उद्योगो का विकास कम हुआ है, परन्तु प्राकृतिक तथा मानवीय साधनो की कमी नही है, तो नये-नये क्षेत्रो मे विकास के लिए पूंजी लगाने से यथेष्ट लाभ प्राप्त कर सकने की सम्भावनाएँ अधिक होगी। इन परिस्थितियो मे स्वाभाविक रूप मे विनियोग को प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रकार अर्द्ध-विकसित एव विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्थाओं मे विनियोग की मात्रा मे वृद्धि करने की अधिक सम्भावना रहती है।

(4) **तकनीकी परिवर्तन एव सुधार (Technological Changes and Improvement)**—विनियोग की मात्रा पर तकनीकी परिवर्तनो का भी प्रभाव पडता है। परन्तु यह प्रभाव किस प्रकार का होगा, यह परिवर्तन अथवा सुधार के स्वरूप पर निर्भर करता है। उत्पादन की नयी प्रविधि श्रम प्रधान (labour intensive) होने की स्थिति मे विनियोग की मात्रा कम होगी, परन्तु उत्पादन की नयी प्रविधि पूंजी-प्रधान (capital intensive) होने पर विनियोग मे निश्चित रूप से वृद्धि होगी।

(5) **जनसख्या की वृद्धि**—जनसख्या मे वृद्धि, अन्य बातें समान रहने पर, उपभोग की वस्तुओ की माँग मे वृद्धि करती है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादक अपने उत्पादन में वृद्धि करते हैं और प्रेरित विनियोग मे वृद्धि होती है। इसके विपरीत, जनसख्या कम हो जाने पर उपभोग-वस्तुओं की माँग म कमी हो जाने से उद्योगपतियो को विनियोग बढाने के लिए प्रोत्साहन नही मिलता है।

(6) **सरकारी नीति**—किसी भी देश की सरकार की आर्थिक नीति विनियोग की मात्रा को प्रभावित करती है। यदि सरकार की नीति उद्योगपतियो को भूमि, जल, विद्युत, कच्चा माल, आयात आदि के रूप मे अनेक सुविधाएँ प्रदान करना है तो विनियोग मे वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है। हम यह देख ही चुके है कि सरकार की कर-नीति का पूंजी की सीमान्त उत्पादकता पर प्रभाव पडता है। सरकार द्वारा अपनायी गयी विरोधात्मक नीति विनियोग की मात्रा मे वृद्धि को रोकती है।

उपर्युक्त तत्वो के अतिरिक्त विनियोग की मात्रा वेतन-दरों म परिवर्तन, ऋतुओं तथा परिस्थितियो मे परिवर्तन, यातायात, बिजली तथा कच्चे माल आदि की सुविधाओं से भी प्रभावित होती है।

बचत तथा विनियोग की समानता

बचतकर्ता तथा विनियोगकर्ता साधारणतया भिन्न भिन्न व्यक्ति होते है और एक-दूसरे से पूर्णतया *अलग तथा स्वतन्त्र रहकर बचत तथा विनियोग सम्बन्धी निर्णय करते है*, परन्तु फिर भी समाज मे बचत एव विनियोग एक-दूसरे के बराबर होते है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का भी विश्वास था कि बचत तथा विनियोग दोनो बराबर होते है। उनके मतानुसार बचत और विनियोग मे समानता ब्याज-दर मे परिवर्तनो के द्वारा स्थापित होती है। इस सम्बन्ध मे प्रो० केन्ज का विचार यह था कि बचत एव विनियोग की समता ब्याज-दर से नही, बल्कि राष्ट्रीय आय के परिवर्तनो से स्थापित होती है। इसलिए यह कहा जाता है कि आय के विश्लेषण के लिए प्रो० केन्ज की बचत तथा विनियोग क्रियाएँ (functions) उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि कीमतो के विश्लेषण म मार्शल द्वारा प्रतिपादित पूर्ति एव माँग वक्र।

जैसा कि हम देख चुके हैं, बचत की मात्रा आय के स्तर पर आश्रित होती है। परन्तु यह भी पूर्णतया सत्य है कि स्वय आय विनियोग द्वारा निर्धारित होती है। आय के विभिन्न स्तरो को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि इन स्तरो पर होने वाली बचतो के ठीक बराबर मात्रा म विनियोग किया जाय। बचत की मात्रा विनियोग की तुलना म अधिक होन का अर्थ यह होता है कि उपभोग-व्यय मे कमी हो गयी है। उपभोग-व्यय मे कमी होने पर वस्तुओ के लिए माँग कम हो जाती है जिसके कारण उत्पादन तथा विनियोग की मात्रा मे कमी होना स्वाभाविक ही है।

विनियोग में कमी होने पर आय कम हो जाती है। उपभोग-प्रवृत्ति के समान रहते हुए कम आय के कारण बचत की मात्रा में भी कमी हो जाती है। विनियोग में कमी होने के कारण आय में कमी होने का यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि बचत और विनियोग एक-दूसरे के बराबर नहीं हो जाते हैं। प्रो० केन्ज के अनुसार विनियोग बचत को उसी मात्रा में बढ़ा देता है जिसमें वह स्वयं बढ़ता है। आय, बचत तथा विनियोग के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध को केन्ज ने निम्नलिखित समीकरण द्वारा स्पष्ट किया है

	$Y = C + I$	Y=Income (आय)
	$S = Y - C$	C=Consumption (उपभोग)
इसलिए	$C + I = C + S$	I=*Investment* (*विनियोग*)
अत.	$I = S$	S=Saving (बचत)

बचत तथा विनियोग की समानता को एक अन्य प्रकार से भी सिद्ध किया जा सकता है। विनियोग से अभिप्राय उपभोग वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर किये गये व्यय की राशि से है, *इसलिए विनियोग राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय उपभोग के अन्तर के बराबर है, अर्थात्* $I = Y - C$, चूँकि आय और उपभोग के अन्तर को बचत कहते है, इसलिए $S = Y - C$, अत $I = S$।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि बचत और विनियोग की समता पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर ही सम्भव होती है। प्रो० केन्ज ने इस दृष्टिकोण को सही स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार बचत तथा विनियोग का सम्बन्ध आय से है, इसलिए बचत और विनियोग पूर्ण रोजगार के स्तर से पूर्व ही सामान्यत एक दूसरे के बराबर रह सकते हैं।

प्रत्याशित तथा वास्तविक बचत एवं विनियोग (Ex-ante and Ex-post Savings and Investment)

केन्ज ने वर्तमान आय तथा वर्तमान उपभोग के अन्तर को बचत कहा है। इसके विपरीत, रॉबर्टसन का विचार है कि वर्तमान आय वर्तमान में उपभोग के लिए उपलब्ध नहीं होती। उनके मतानुसार कल की आय और आज के उपभोग में अन्तर बचत है। इसी प्रकार कल की आय के ऊपर आज अर्जित आय का आधिक्य विनियोग है। रॉबर्टसन तथा स्टाकहॉम सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों (Stockholm School of Economists) ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि बचत तथा विनियोग प्रत्याशित (ex ante) तथा वास्तविक (ex-post) होते हैं। प्रत्याशित बचत से अभिप्राय आज के उपभोग तथा कल की आय के अन्तर से है। प्रत्याशित विनियोग आज की आय तथा उपभोग में अन्तर है।[1] दूसरे शब्दों में, प्रत्याशित बचत तथा प्रत्याशित विनियोग का सम्बन्ध बचत तथा विनियोग की उस मात्रा से होता है जो अवधि विशेष के आरम्भ में होती है। इसके विपरीत, अवधि विशेष के अन्त में बचत तथा विनियोग की मात्रा वास्तविक बचत तथा वास्तविक विनियोग होती है।

प्रत्याशित बचत तथा प्रत्याशित विनियोग को अपेक्षित (expected, intended or planned) बचत तथा अपेक्षित विनियोग भी कहा जा सकता है। एक प्रावैगिक अर्थ व्यवस्था में जहाँ असंख्य बचतकर्ता तथा विनियोगकर्ता स्वतन्त्र रूप से एक-दूसरे से अलग रहकर बचत तथा विनियोग सम्बन्धी निर्णय करते है, प्रत्याशित बचत तथा प्रत्याशित विनियोग का एक-दूसरे के समान होना आवश्यक नहीं है। अवधि विशेष के आरम्भ (अथवा वर्तमान) में विनियोग की मात्रा बचत की मात्रा से अधिक हो सकती है। बैंकों से उपलब्ध अधिक साख, नयी मुद्रा का सृजन अथवा बचतकर्ताओं द्वारा धन का निसंचय (dishoarding) इस प्रकार के असन्तुलन के प्रमुख कारण हो सकते हैं। परिस्थितियाँ भिन्न होने पर ऐसा भी सम्भव है कि वर्तमान बचत वर्तमान विनियोग की तुलना में अधिक हो। स्पष्ट है कि प्रत्याशित बचत तथा प्रत्याशित विनियोग, अर्थात् अवधि विशेष के आरम्भ

1 Ex ante saving has been defined as "the difference between the consumption of the current period and the *income of the immediately preceding period, Ex-ante investment is* the difference between the income and consumption of the current period "—See Robertson s Article 'Saving and Hoarding', *Economic Journal*, Vol XLIII, September 1933, p 399.

मे बचत तथा विनियोग, मे असमानता हो सकती है। परन्तु वास्तविक बचत तथा वास्तविक विनियोग, अर्थात् अवधि की समाप्ति पर बचत तथा विनियोग, सदा एक-दूसरे के समान होते हैं। यह समानता आय मे परिवर्तनो के माध्यम से स्थापित होती है। बचत तथा विनियोग की समानता सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रक्रिया को निम्नलिखित सारणी के द्वारा समझाया जा सकता है

(करोड़ रुपयों में)

	1	2	3	4	5	×
उपभोग	120	120	127	131	134	140
प्रत्याशित विनियोग	60	70	70	70	70	70
कुल राष्ट्रीय आय (GNP)	180	190	197	201	204	210
प्रत्याशित बचत	60	63	66	67	68 5	70

समय अवधि 1 म बचत तथा विनियोग मे समानता है, क्योंकि दोनों ही 60 करोड रुपये है। समय अवधि 2 मे विनियोग बढकर 70 करोड़ रुपये हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप कुल आय 180 करोड रुपये से बढकर 190 करोड रुपये हो जाती है और बचत भी बढकर 63 करोड रुपये हो जाती है। अब विनियोग की तुलना म बचत कम है, परन्तु आय म परिवर्तनों के कारण प्रत्याशित बचत मे वृद्धि का यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि ×अवधि के अन्त मे बचत बढ़कर 70 करोड रुपये नहीं हो जाती है, जो विनियोग की राशि के समान है।

बचत तथा विनियोग का प्रत्याशित तथा वास्तविक रूप मे अध्ययन उस प्रक्रिया को स्पष्ट करने में सहायक होता है जिसके द्वारा अर्थ-व्यवस्था में बचत तथा विनियोग के मध्य सन्तुलन स्थापित होता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरो के संकेत

1 बचत और विनियोग से क्या अभिप्राय है? इनको प्रभावित करने वाले तत्वो की व्याख्या कीजिए।

[संकेत प्रथम भाग मे बचत तथा विनियोग की परिभाषाओं के आधार पर उनके अर्थ स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग म इनकी मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्वों का विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए।]

2 समाज मे बचत तथा विनियोग के परस्पर सम्बन्धों की विवेचना कीजिए। क्या यह सदा समान रहते हैं?

[संकेत प्रथम भाग म यह स्पष्ट रूप से समझाइए कि किस प्रकार केन्ज की विचारधारा के अनुसार आय मे परिवर्तनों के द्वारा बचत तथा विनियोग समान रहते हैं। दूसरे भाग मे यह बताइए कि प्रत्याशित बचत तथा प्रत्याशित विनियोग का एक-दूसरे के समान होना आवश्यक नहीं है, परन्तु वास्तविक बचत तथा वास्तविक विनियोग सदा एक-दूसरे के समान रहते हैं।]

3 टिप्पणियाँ लिखिए

(1) बचत तथा विनियोग सम्बन्धी प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों तथा केन्ज की विचारधाराओं मे अन्तर,

(2) नियोजित तथा अनियोजित वास्तविक विनियोग,

(3) प्रेरित तथा स्वायत्त विनियोग,

(4) पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज-दर का विनियोग पर प्रभाव।

[संकेत प्रत्येक के अर्थ तथा एक-दूसरे से अन्तर को उदाहरण देकर स्पष्ट रूप से समझाइए।]

37

बेरोजगारी तथा पूर्ण रोजगार

[UNEMPLOYMENT AND FULL EMPLOYMENT]

"पूँजीवादी विकास का स्तर जितना अधिक ऊँचा होगा, समाज की सम्पत्ति उतनी ही अधिक होगी और कुल श्रमजीवी जनसंख्या की तुलना में सभी क्षेत्रों में उद्योगों के लिए सुरक्षित श्रमसेना भी उतनी ही अधिक होगी।"[1]
—ऐरिक रोल

बेरोजगारी

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का एक बहुत बड़ा अभिशाप बेरोजगारी की समस्या है। बेरोजगारी अथवा बेकारी वह परिस्थिति है जिसमें स्वस्थ, योग्य तथा कार्य करने के लिए उपयुक्त अवस्था वाले व्यक्तियों को प्रचलित मजदूरी की दर पर अपनी योग्यता के अनुकूल देश में कार्य नहीं मिल पाता है। इससे बड़ी समस्या और क्या हो सकती है कि काम करने के योग्य तथा काम करने की इच्छा करने वाले व्यक्ति को कोई काम नहीं मिलता। चूँकि राष्ट्रीय आय का स्तर देश में रोजगार के स्तर पर निर्भर करता है, अतः बेरोजगारी राष्ट्रीय आय के स्तर को नीचे गिरा देती है।

बेरोजगारी के भेद

बेरोजगारी कई प्रकार की होती है। इसके उल्लेखनीय स्वरूप निम्नलिखित है

(1) अस्थायी बेरोजगारी (Casual Unemployment)—विभिन्न उत्पादन कार्यों में लगे हुए श्रम की माँग प्रत्यक्ष न होकर व्युत्पादित माँग (derived demand) होती है, अर्थात् श्रम की माँग उत्पादन की मात्रा तथा स्थिति पर निर्भर करती है। स्वयं उत्पादन की मात्रा वस्तुओं के लिए प्रभावपूर्ण माँग द्वारा निर्धारित होती है। किसी उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग कम हो जाने पर उसके उत्पादन की मात्रा कम करनी पड़ती है। परिणामस्वरूप, उसमें लगे हुए कुछ श्रमिक बेकार हो जाते हैं। किन्तु इस प्रकार की बेरोजगारी अस्थायी होती है। उत्पादन की मात्रा में पुनः वृद्धि होते ही उन श्रमिकों को रोजगार मिल जाता है। इस प्रकार की बेकारी की समस्या विशेष रूप से निर्यात की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों में सामने आती है।

(2) मौसमी बेरोजगारी (Seasonal Unemployment)—प्रत्येक देश में कुछ व्यवसायों का स्वरूप मौसमी होता है। उदाहरणतः कृषि एक मौसमी व्यवसाय है। चीनी के कारखाने भी एक विशेष मौसम की समाप्ति पर बन्द हो जाते हैं। इस प्रकार के व्यवसायों में लगे हुए श्रम की माँग भी मौसमी होती है। परिणामस्वरूप, प्रति वर्ष श्रमिकों को कुछ समय तक बेकार रहना पड़ता है। चूँकि इस प्रकार की बेकारी मौसमी अथवा अस्थायी होती है, इसका उपचार गौण उद्योगों के विकास द्वारा किया जा सकता है जिनमें बेरोजगारी के मौसम में मजदूरों को रोजगार मिल सके।

(3) दीर्घकालीन अथवा संरचनात्मक बेरोजगारी (Long-term Structural

---

1 "The higher the degree of capital development, the greater the wealth of society, the greater is the industrial reserve army in all its branches in relation to the total labouring population." —*Erich Roll*

Unemployment)—यदि श्रम की पूर्ति म निरन्तर वृद्धि हो रही हो, परन्तु देश मे उपलब्ध पूंजी की मात्रा सीमित हो, तो देश म बडे कारखाना, व्यापार तथा यातायात आदि मे अधिक मजदूरो का रोजगार नही मिल पाता है। अर्थ व्यवस्था के इस प्रकार के ढांचे मे वेरोजगारी खुले रूप म *विद्यमान रहती है तथा लम्बे समय तक रहती है*। विकासशील देशो म वेरोजगारी का यही स्वरूप देखन को मिलता है।

(4) **संघर्षक बेरोजगारी** (Frictional Unemployment)—श्रम बाजार की अपूर्णताओ (imperfections of the labour market) के कारण अस्थायी रूप से कार्य का न मिलना संघर्षक वेरोजगारी की स्थिति कहलाती है। संघर्षक वेरोजगारी के विभिन्न कारण हो सकते हैं, जैसे श्रम की अगतिशीलता, कच्चे माल का अभाव, मशीनो की खराबी, नयी उत्पादन-विधियों का अपनाया जाना, इत्यादि। विकास के लिए परिवर्तन आवश्यक है और परिवर्तन होने पर समायोजन करना पडता है जिसमे समय लगता है। इसलिए प्रत्येक विकासशील अर्थ-व्यवस्था म कुछ अश मे संघर्षक वेरोजगारी अवश्य रहती है। सर विलियम बैवरिज (Sir William Beveridge) ने कम से कम 3 प्रतिशत वेरोजगारी को आवश्यक स्वीकार किया है।

(5) **शैल्पिक बेरोजगारी** (Technological Unemployment)—प्रवैगिक (dynamic) *अर्थ-व्यवस्थाओ के वर्तमान युग म उत्पादन-विधिया म अनुसन्धान बहुत व्यापक रूप से हो रहे हैं*, जिनके प्रभाव मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसी मशीनो का प्रयोग करना अथवा ऐसी उत्पादन-विधियो को अपनाना जिनम अपेक्षाकृत कम श्रमिको की आवश्यकता होती है, शैल्पिक वेरोजगारी को जन्म देता है। श्रम को पूंजी से प्रतिस्थापित करना शैल्पिक वेरोजगारी का प्रमुख कारण है।

(6) **अर्द्ध-रोजगारी तथा अदृष्ट बेरोजगारी** (Under employment and Disguised Unemployment)—अधिक योग्यता वाले व्यक्ति के द्वारा कम योग्यता का काय करना अथवा उसे उतने समय के लिए कार्य न मिल पाना जितना कि वह कर सकता है, अर्द्ध रोजगारी की स्थिति कहलाती है। भारत म कृषि-क्षेत्र म जनसख्या के अधिक दबाव तथा अपर्याप्त भूमि के कारण श्रम शक्ति का पूर्ण उपयोग न हो पाना भारतीय कृषि की बहुत बडी समस्या है।

अर्द्ध विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ म, विशेष रूप से कृषि-क्षेत्र म, उपलब्ध श्रम का एक अश *ऐसा होता है जिसकी आवश्यकता होती ही नही, क्योकि उसकी सीमान्त उत्पादकता शून्य अथवा* ऋणात्मक (negative) होती है। यह अश ऐसा है जिसे वहाँ से हटा देने पर भी उत्पादन म कोई कमी नहीं पडती है। अतिरिक्त श्रम शक्ति का यह अश अदृष्ट अथवा छिपी हुई वेरोजगारी का द्योतक होता है।

प्रो० रोडन (P N Rosenstein Rodan) ने अदृष्ट बेकारी को अर्द्ध-रोजगारी का ही एक रूप माना है। उनके अनुसार अर्द्ध-रोजगारी की तीन श्रेणियाँ होती हैं मौसमी अर्द्ध रोजगारी (seasonal under-employment), छिपी हुई हटायी जा सकने वाली अर्द्ध-रोजगारी (disguised removable under-employment), तथा छिपी हुई न हटायी जा सकन वाली अर्द्ध-रोजगारी।

(7) **स्वैच्छिक बेरोजगारी** (Voluntary Unemployment)—स्वैच्छिक वेरोजगारी उस समय होती है जब मजदूर प्रचलित मजदूरी को स्वीकार न करके मजदूरी से कुछ कम स्वीकार करने के लिए तैयार नही होते हैं।[1] *प्रचलित मजदूरी को स्वीकार न करके मजदूरो द्वारा हडताल* करना स्वैच्छिक वेरोजगारी का एक उदाहरण है। कुछ लोग आलसी अमीरो तथा साधु-सन्यासियो आदि को स्वैच्छिक वेकार कहते हैं, परन्तु उनके लिए ऐसा कहना उचित नही है क्योंकि उनकी वेकारी मजदूरी की प्रचलित दर के प्रति उपेक्षा के कारण न होकर अन्य कारणो से है।

1 "Voluntary unemployment exists when potential workers are unwilling to accept the going wage or wages slightly less than the going wage —Dillard *The Economics of J M Keynes*, p 20

(8) **अनैच्छिक बेरोजगारी** (Involuntary Unemployment)—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में सदैव पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहती है और अनैच्छिक बेरोजगारी जैसी स्थिति हो ही नहीं सकती। इसके विपरीत, केन्ज ने 'जनरल थ्योरी' में ऐच्छिक बेकारी को कोई महत्व नहीं दिया और प्रभावपूर्ण माँग में कमी के कारण अनियोजित अर्थ-व्यवस्था में उत्पन्न अनैच्छिक बेरोजगारी की ओर ध्यान आकर्षित किया है। केन्ज के अनुसार अनैच्छिक बेरोजगार व्यक्ति वह है जो प्रचलित वास्तविक मजदूरी (real wage) की दर से कम वास्तविक मजदूरी पर कार्य करने के लिए तैयार हो, चाहे वह कम मौद्रिक मजदूरी (money wage) स्वीकार करने के लिए तैयार हो अथवा न हो। प्रचलित मजदूरी दर से कम मजदूरी पर भी यदि कोई व्यक्ति रोजगार चाहता है, परन्तु असफल रहता है, तो उसे अनैच्छिक बेरोजगार कहा जायेगा।

(9) *चक्रीय बेरोजगारी* (*Cyclical Unemployment*)—*पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में* व्यापार-चक्र (trade cycle) एक अनिवार्य तत्व है। तेजी (boom or prosperity) के पश्चात मन्दी अथवा अवसाद (slump or depression) का क्रम प्रारम्भ होता है जिसमें कीमतें गिरती है, उत्पादन में कमी होती है तथा बेरोजगारी बढ़ जाती है। चक्रीय बेरोजगारी की यह स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक फिर से तेजी का आरम्भ नहीं होता। व्यापार-चक्रों का नियन्त्रण केवल नियोजित अर्थ-व्यवस्था में ही सम्भव है। इंगलैण्ड में प्रो० केन्ज, अमेरिका में हैंसन (Alvin Hansen) तथा आस्ट्रेलिया में कोपलैण्ड (Copeland) ने व्यापार-चक्र के नियन्त्रण के लिए वित्तीय नीति (fiscal policy) के प्रयोग का समर्थन किया है।

स्मरण रहे कि अर्द्ध-विकसित देशों में बेकारी का स्वरूप विकसित देशों में बेरोजगारी के स्वरूप से भिन्न होता है। विकसित देशों में प्रायः सचर्पक बेरोजगारी अधिक होती है, अर्थात् बेरोजगारी अस्थायी होती है। अर्द्ध-विकसित देशों में कुछ लोग अस्थायी रूप से बेकार हो सकते है परन्तु अधिकांश बेकारी अर्थ-व्यवस्था के अल्प विकास तथा अवरोधन के कारण दीर्घकालीन अथवा संरचनात्मक होती है। कृषि पर अत्यधिक निर्भरता होती है और कृषि एक मौसमी व्यवसाय है। *अर्द्ध-बेकारी तथा अदृष्ट बेकारी की व्यापकता स्वाभाविक ही है।* किसी भी *अनियन्त्रित* अर्थ व्यवस्था में अस्थायी बेरोजगारी से तो बचा ही नहीं जा सकता, परन्तु स्थायी अथवा दीर्घकालीन बेकारी किसी भी देश के लिए एक गम्भीर समस्या होती है।

बेरोजगारी के सिद्धान्त

बेरोजगारी से सम्बन्धित तीन प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित है :

(1) **प्रतिष्ठित विचारधारा** (Views of Classical Economists)—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि *पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में स्थायी बेरोजगारी एक असम्भव स्थिति* है। पूर्ण-रोजगार सामान्य स्थिति है और बेरोजगारी अस्थायी तथा असाधारण तत्व होती है जो कुछ समय बाद अपने आप ठीक हो जाती है।

फ्रांसीसी अर्थशास्त्री जे० बी० से (J B Say) द्वारा प्रतिपादित 'बाजारों का नियम' (Law of Markets) इस विश्वास पर आधारित है कि पूर्ति अपने लिए माँग स्वयं ही उत्पन्न कर लेती है (supply creates its own demand)। इस नियम के अनुसार सामान्य अति-उत्पादन (general over-production) हो ही नहीं सकता, क्योंकि उत्पादन अथवा पूर्ति उतनी ही की जाती है जितनी उसके लिए माँग होती है। ऐसी स्थिति में सामान्य बेरोजगारी (general unemployment) का होना असम्भव है।

प्रो० जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने बताया कि लोगों द्वारा प्रस्तुत माँग उनकी उपलब्ध क्रय-शक्ति की मात्रा तथा क्रय-शक्ति के उपयोग करने की इच्छा पर निर्भर करती है। मिल के विचारानुसार, व्यावसायिक संकट की स्थिति में, प्रायः सट्टे की अधिकता के कारण, सम्भावना है कि सभी वस्तुओं की पूर्ति उनकी माँग से अधिक हो जाय। एक अन्य सम्भावना यह भी हो सकती है कि मजदूरों में *भौगोलिक गतिशीलता (geographical mobility)* के अभाव

मे अपने वर्तमान व्यवसाय को छोडने की इच्छा न हो। पूर्ण-रोजगार की प्राप्ति के लिए इन सभी परिस्थितियों पर विजय पाकर उन्हे हटाया जाय।

प्रतिष्ठित विचारधारा के अनुसार यदि किसी अर्थ-व्यवस्था मे बेरोजगारी है तो उसके लिए स्वय मजदूर बहुत कुछ उत्तरदायी होते है। यदि मजदूर अपनी उत्पादकता से अधिक मजदूरी माँगते है तो उन्हे रोजगार नही मिल पाता। उनके द्वारा अपनी सीमान्त उत्पादकता के बराबर मजदूरी स्वीकार कर लेने पर अनैच्छिक बेरोजगारी का प्रश्न ही नही उठता।

प्रो० पीगू ने प्रतिष्ठित विचारधारा के समर्थन मे अपने तर्क देते हुए कहा है कि यदि श्रमिक की माँग की दिशाएँ निश्चित रूप से दी हुई है तो मजदूरी की दरे एक ऐसे स्तर पर आकर स्थिर हो जाती है जहाँ सभी श्रमिको को रोजगार मिल सकता है। सभी प्रकार की बेरोजगारी अस्थायी होती है तथा उसके लिए माँग की दशाओ मे परिवर्तन अथवा श्रम-बाजार की अपूर्णता उत्तरदायी है। अपने विचारो को व्यक्त करने मे प्रो० पीगू ने निम्न फार्मूले का प्रयोग किया

$$N = \frac{qy}{w} \text{ अर्थात् } N \text{ (श्रमिको की सख्या)} = \frac{q \text{ (मजदूरी के रूप मे दिया गया राष्ट्रीय आय का भाग)} \times y \text{ (राष्ट्रीय आय)}}{w \text{ (मजदूरी दर)}}$$

अत मजदूरी की दर मे कमी करके श्रमिको की सख्या मे वृद्धि की जा सकती है और w (मजदूरी-दर) स्वत समायोजित होकर N (श्रमिको की सख्या) के बराबर हो जाती है।

(2) मार्क्स का सिद्धान्त (Marxian Theory of Unemployment)—कार्ल मार्क्स ने 'पूंजी सचय के सामान्य नियम' (General Law of Capitalistic Accumulation) की विवेचना के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि बेरोजगारी पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का आवश्यक लक्षण है। पूँजीवाद जितना अधिक विकसित होगा, देश मे बेकारी का स्तर भी उतना ऊँचा होगा। पूँजी के सचय मे वृद्धि के साथ परिवर्तनीय पूंजी (variable capital) भी बढती है, परन्तु इसमे वृद्धि उतनी नही हो पाती जितनी स्थिर पूंजी (constant capital) मे होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि *वैज्ञानिक आविष्कारो के फलस्वरूप उत्पादन की शैल्पिक विधियो मे परिवर्तन होते रहते* है। नयी-नयी मशीनो का प्रयोग किया जाता है। परिणामत उत्पादक द्वारा परिवर्तनीय पूँजी का स्थिर पूँजी से प्रतिस्थापन होना रहता है। मार्क्स के विचारानुसार परिवर्तनीय पूँजी का अनुपात *गिर जाने के कारण ही पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे बेकारी बनी रहती है।*

स्थिर पूँजी का प्रयोग मशीनो आदि के खरीदने के लिए किया जाता है, जबकि परिवर्तनीय पूँजी मे से मजदूरी चुकायी जाती है। परिवर्तनीय पूँजी का अनुपात गिर जाने पर रोजगार के अवसर भी कम मात्रा मे उपलब्ध होते हैं और बेरोजगारी फैलती है। श्रम की माँग गिर जाने से श्रमिको की सुरक्षित सेना (Industrial Reserve Army) तैयार हो जाती है। इससे अभिप्राय यह है कि यदि श्रम की माँग मे कुछ वृद्धि होती भी है तो उसको सहज ही पूरा किया जा सकता है। परिणामस्वरूप, मजदूरी-दर मे वृद्धि असम्भव-सी ही होती है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे बेरोजगारी की समस्या प्राय. तब तक बनी रहती है जब तक पूँजीवाद का उन्मूलन नही होता।

(3) केन्ज की विचारधारा (Keynes' Theory of Unemployment)—लॉर्ड केन्ज ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की बेरोजगारी सम्बन्धी विचारधारा की कटु आलोचना की है। केन्ज के मतानुसार, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का यह विचार कि पूर्ति स्वय माँग उत्पन्न करती है जिसके कारण अनैच्छिक बेरोजगारी हो ही नही सकती, यथार्थ से बहुत दूर है। उनका यह विचार कि मजदूरी मे कटौती करके रोजगार बढाया जा सकता है, निराधार है। इसके विपरीत, प्रो० केन्ज ने मजदूरी-कटौती की नीति को सैद्धान्तिक आधार पर अनुचित बताया है और व्यावहारिक आधार पर इसका विरोध किया है। श्रमिक सघ आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के अनिवार्य अग बन गये हैं और इनके द्वारा प्रत्येक कटौती का विरोध किया जाता है। राज्यो द्वारा स्वीकृत न्यूनतम मजदूरी-नियमो को भी समाप्त नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार, मजदूरी-कटौती से बेरोजगारी की

समस्या का समाधान सम्भव नहीं है। प्रो० केन्ज के मतानुसार पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रचलित अनैच्छिक बेरोजगारी ऊँची मजदूरियों के कारण नहीं, बल्कि प्रभावपूर्ण माँग (effective demand) की कमी के कारण होती है। अतः प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि करके रोजगार को बढ़ाया जा सकता है। केन्ज ने 'जनरल थ्यौरी' में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "केवल प्रभावपूर्ण माँग की अपर्याप्तता ही रोजगार में होने वाली वृद्धि को पूर्ण रोजगार के स्तर तक पहुँचने से पूर्व ही रोक सकती है और प्रायः रोकेगी।"[1]

प्रभावपूर्ण माँग का रोजगार के स्तर पर सीधा प्रभाव पड़ता है। प्रभावपूर्ण माँग वह बिन्दु है जिस पर सामूहिक माँग (aggregate demand) की रेखा सामूहिक पूर्ति (aggregate supply) की रेखा को काटती है। सन्तुलन की अवस्था में सामूहिक माँग सामूहिक पूर्ति के बराबर होती है। सामूहिक पूर्ति, जो मुख्यतः पूर्ति की भौतिक दशाओं (physical conditions) पर निर्भर करती है, लगभग स्थिर रहती है (स्मरण रहे कि केन्ज की 'जनरल थ्योरी' का सम्बन्ध केवल अल्पकालीन स्थिति से है)। दूसरी ओर, कुल प्रभावपूर्ण माँग के अन्तर्गत दो बातें सम्मिलित होती हैं—उपभोग व्यय, तथा विनियोग व्यय। कुल पूर्ति के समान उपभोग की प्रवृत्ति भी अल्पकाल में सापेक्षिक रूप से स्थिर ही रहती है। इसलिए, रोजगार के स्तर में घटा-बढ़ी मुख्यतः विनियोग की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर करती है।

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि केन्ज के अनुसार रोजगार का स्तर प्रभावपूर्ण माँग पर निर्भर करता है, जिसका निर्धारण उपभोग की प्रवृत्ति तथा विनियोगों की मात्रा द्वारा होता है। यदि उपभोग की प्रवृत्ति में परिवर्तन न हो तो विनियोग की मात्रा में घटा-बढ़ी के साथ-साथ रोजगार भी घटता-बढ़ता रहेगा। ब्याज-दर में कमी तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि के फलस्वरूप विनियोग की मात्रा बढ़ती है। बेरोजगारी बढ़ने की तब तक कोई सम्भावना नहीं होती जब तक विनियोग की मात्रा में कमी न हो।

पूर्ण रोजगार

पूर्ण रोजगार का अर्थ यह नहीं है कि देश में सभी स्वस्थ, योग्य और क्षमतावान व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त है। प्रत्येक दशा में कुछ अंश तक बेकारी अवश्य विद्यमान रहती है। प्रो० केन्ज के विचार में पूर्ण रोजगार वह स्थिति है जिसमें अनैच्छिक बेरोजगारी का अभाव रहता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि पूर्ण रोजगार की अवस्था में भी स्वैच्छिक बेरोजगारी सम्भव हो सकती है। उदाहरणार्थ, एक उन्नत और गतिशील अर्थ-व्यवस्था में संघर्षक तथा तकनीकी बेकारी से बचा नहीं जा सकता। बेकारी के डर से मशीनों का प्रयोग न करना अथवा श्रमिकों में गतिशीलता न होना न तो सम्भव ही है और न ही हितकर। इसी प्रकार बहुत-से काम ऐसे होते हैं जिनमें मौसमी बेकारी से नहीं बचा जा सकता। अतएव, जैसा कि बैवरिज (Sir William Beveridge) का विचार है, प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में 3 से 5 प्रतिशत तक संघर्षक बेरोजगारी अवश्य ही होती है।

डिलार्ड के शब्दों में, "पूर्ण रोजगार वह बिन्दु है जिसके आगे प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि होने पर उत्पत्ति बेलोचदार सिद्ध होती है।"[2] अभिप्राय यह है कि प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि के परिणामस्वरूप जब उत्पादन की मात्रा तथा रोजगार-स्तर ऊपर नहीं उठ पाते, तो यह पूर्ण रोजगार की स्थिति होती है।

अर्थशास्त्रियों के लिए बेरोजगारी के दो पहलू मुख्य रूप से महत्वपूर्ण हैं—एक तो बेकारी की मात्रा, तथा दूसरा बेकारी की अवधि। थोड़ी मात्रा में बेकारी, जैसा कि ऊपर बताया गया है, पूर्ण रोजगार की अवस्था में भी सम्भव है। बेकारी का अधिक मात्रा में होना देश के लिए एक बहुत बड़ी समस्या होती है। अधिक मात्रा में बेकारी यदि थोड़ी ही अवधि के लिए हो, अर्थात्

---

1 " ... the mere existence of an insufficiency of effective demand may, and often will, bring the increase of employment standstill before a level of full employment has been reached." —J. M. Keynes: *General Theory of Employment, Interest and Money.*

2 " ... full employment is the point beyond which output proves inelastic in response to further increases in effective demand." —D. Dillard, *The Economics of J. M. Keynes*, pp. 234-35.

इसका स्वरूप अस्थायी हो, तो इसे अधिक गम्भीर समस्या नहीं कहा जायगा। दीर्घकालीन अथवा स्थायी बेकारी किसी भी देश के लिए एक भयानक स्थिति होती है। निस्सन्देह, बेकारी एक आर्थिक बुराई है और इसका चाहे कोई भी स्वरूप हो, आर्थिक स्थायित्व, विकास तथा मानव-कल्याण की दृष्टि से इसका समाधान करना आवश्यक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूर्ण रोजगार की नीति अपनायी जाती है।

पूर्ण रोजगार की नीति

प्रो० केन्ज तथा उनके अनुगामी अर्थशास्त्रियों के अनुसार रोजगार का स्तर प्रभावपूर्ण माँग पर निर्भर करता है। प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि रोजगार-स्तर को ऊपर उठा देती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि करने के दो उपाय हैं—(1) उपभोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन, तथा (2) विनियोग की मात्रा में वृद्धि। इनकी व्याख्या निम्न प्रकार है

(1) **उपभोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन** (Stimulating Propensity to Consume)—उपभोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देकर प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि की जा सकती है। यह निर्विवाद है कि धनी लोगों की अपेक्षा गरीबों में उपभोग-प्रवृत्ति अधिक ऊँची होती है। अमीरों की आय बढ़ने पर उनके उपभोग-व्यय में कोई विशेष वृद्धि नहीं होती, बल्कि उनकी बचत की प्रवृत्ति बढ़ती है। इसके विपरीत, गरीबों की आय बढ़ने पर वे उपभोग-व्यय में वृद्धि करते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए, गरीबों की आय में वृद्धि करना आवश्यक हो जाता है। धन तथा आय का वितरण गरीबों के पक्ष में होने पर उपभोग प्रवृत्ति को स्वाभाविक रूप में प्रोत्साहन मिलता है। इसके लिए प्रो० केन्ज ने सुझाव दिया कि निर्धन व्यक्तियों पर लगाये गये अप्रत्यक्ष करों (indirect taxes) का बोझ कम किया जाय और धनी व्यक्तियों पर प्रत्यक्ष करों की दरें बढ़ायी जायें। गरीबों के कल्याण के लिए सरकार द्वारा अनेक सुविधाएँ प्रदान की जा सकती है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रो० केन्ज पूँजीवाद के समर्थक थे। उन्होंने आय के पुनर्वितरण की ओर संकेत तो किया, परन्तु इस पर अधिक जोर नहीं दिया। वह पूँजीवाद में केवल आवश्यक सुधार चाहते थे, इसको समाप्त करने के पक्ष में वह कदापि नहीं थे।

(2) **विनियोग की मात्रा में वृद्धि** (Increasing the Investment)—चूँकि अल्पकाल में उपभोग की मात्रा लगभग स्थिर ही रहती है, इसलिए प्रभावपूर्ण माँग तथा रोजगार-स्तर में परिवर्तन बहुत कुछ विनियोग की मात्रा द्वारा प्रभावित होते हैं। रोजगार की वृद्धि के लिए प्रो० केन्ज ने उपभोग-वृद्धि की अपेक्षा विनियोग-वृद्धि पर अधिक जोर दिया है। विनियोग दो प्रकार का हो सकता है—व्यक्तिगत विनियोग, तथा सरकारी विनियोग। रोजगार में वृद्धि के लिए इन दोनों प्रकार के विनियोगों के *प्रोत्साहन की नीति अपनाना आवश्यक होता है। इसके लिए निम्नलिखित* उपाय अपनाये जा सकते हैं

(क) **व्यक्तिगत विनियोगों को प्रोत्साहन** (Encouraging Private Investment)—प्रो० केन्ज के अनुसार व्यक्तिगत विनियोगों की मात्रा दो बातों पर निर्भर करती है—पूँजी की सीमान्त उत्पादकता, तथा ब्याज की दर। पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ब्याज की दर की तुलना में अधिक होने पर ही व्यक्तिगत विनियोगों को प्रोत्साहन मिलता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि ब्याज की दर नीची हो और पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ऊँची। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रो० केन्ज ने निम्नलिखित उपाय सुझाये हैं

1 **सुलभ मुद्रा-नीति** (Cheap Money Policy)—यदि देश में विनियोगकर्ता लाभ की आशा रखते हैं, तो सुलभ मुद्रा नीति अपनाकर विनियोगों को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इस नीति के अन्तर्गत सरकार केन्द्रीय बैंक के हस्तक्षेप के द्वारा ब्याज दर को गिरा देती है और मुद्रा तथा साख का विस्तार करती है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सुलभ मुद्रा नीति विनियोग बढ़ाने में तभी प्रभावपूर्ण होती है जब समाज में लाभ के लिए आशावादी दृष्टिकोण होता है। मन्दी-काल में नीची ब्याज-दर

विनियोगों को प्रोत्साहित नहीं कर पाती है। कभी-कभी ब्याज-दर को गिराना सम्भव भी नहीं हो पाता। प्रो० केन्ज भी इन कठिनाइयों से अनभिज्ञ नहीं थे।

2 **कराधान-नीति** (Taxation Policy)—उत्पादकों पर कर-भार हलका कर देने से *भी विनियोगों को प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि करों की दर नीची होने से लाभ की* सम्भावना बढ़ जाती है। इस सम्बन्ध में आय-कर तथा अन्य प्रत्यक्ष करों में कमी करना अधिक प्रभावपूर्ण होता है। उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण से भी करों की दर तथा मात्रा में कमी होने पर उनके पास व्यय के लिए अधिक राशि बच रहती है जिससे प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि होती है और रोजगार का स्तर ऊँचा उठता है।

3 **एकाधिकार विरोधी नीति** (Anti-Monopoly Policy)—एकाधिकारी नये साहसियों के मार्ग में अनेक बाधाएँ उत्पन्न करके उन्हें क्षेत्र के बाहर रखने का प्रयास करते हैं। उत्पादन-विधियों में सुधार तथा आविष्कार (*innovations*) भी एकाधिकारियों द्वारा दबा दिये जाते हैं और पेटेन्ट (patent) प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। एकाधिकार विरोधी नीति अपनाये जाने पर उत्पादकों में प्रतिस्पर्धा बढ़ेगी और विनियोगों को प्रोत्साहन मिलेगा।

4 **विदेशी विनियोगों को प्रोत्साहन की नीति** (Policy of Encouraging Foreign Investment)—विदेशी पूँजी के विनियोग का भी रोजगार-स्तर पर लगभग वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा घरेलू पूँजी के विनियोग का प्रभाव होता है। विदेशी पूँजी के विनियोग से विनियोगकर्ता देश में भी परोक्ष रूप से रोजगार का स्तर बढ़ता है। विदेशों में विनियोगों पर लाभ मिलता है जिससे राष्ट्रीय आय बढ़ती है। प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि होती है तथा रोजगार का स्तर ऊँचा उठता है।

व्यक्तिगत विनियोगों को प्रोत्साहित करने के लिए उपाय अपनाते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि विनियोगों की मात्रा वास्तविक लाभ अथवा पूँजी की वर्तमान वास्तविक उत्पादकता के द्वारा नियन्त्रित न होकर उत्पादक को भविष्य में लाभ की आशा (expected rate of profit) द्वारा निर्धारित होती है। चूँकि भविष्य की सम्भावनाओं को नियन्त्रित करना कठिन होता है, इसलिए पूँजी की कार्यक्षमता को प्रभावित करके विनियोगों को प्रोत्साहित करना भी एक कठिन कार्य है।

(ख) सरकार की विनियोग-नीति (Investment Policy of the Government)—*व्यक्तिगत विनियोगों को प्रोत्साहित कर देश में पूर्ण रोजगार स्थापित करने की कठिनाइयों से* प्रो० केन्ज परिचित थे। यही कारण है कि उन्होंने, विशेषतः मन्दी-काल में, सरकार द्वारा बड़े पैमाने पर सार्वजनिक निर्माण कार्यों (public works) को हाथ में लेने का सुझाव दिया। निर्माण कार्यों द्वारा उत्पन्न प्रभावपूर्ण माँग देश में उपभोग-प्रवृत्ति तथा व्यक्तिगत विनियोगों द्वारा बनायी गयी प्रभावपूर्ण माँग की कमी को पूरा करके पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक प्रभावपूर्ण माँग उत्पन्न करती है।

प्रो० केन्ज ने श्रम को समाज की दृष्टि से स्थिर लागत (overhead cost) माना है। इससे अभिप्राय यह है कि उत्पादन हो अथवा न हो, श्रमिकों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करनी ही होती है। इस प्रकार, बेरोजगार लोग समाज पर भार होते हैं। इन लोगों को रोजगार देने के लिए सरकार को सार्वजनिक निर्माण कार्यों के व्यापक कार्यक्रम अपनाने चाहिए।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, केन्ज से पूर्व अर्थशास्त्री बेकारी को अर्थ व्यवस्था में अस्थायी असन्तुलन की स्थिति मानते थे। उन्होंने 'पम्प प्राइमिंग' (Pump Priming) के सिद्धान्त का समर्थन किया, जिसके अनुसार सरकार द्वारा अल्पकाल के लिए कुछ विनियोग करने से अर्थ-व्यवस्था सन्तुलन की स्थिति तक पहुँचने में सफल हो सकेगी और पूर्ण रोजगार का स्तर प्राप्त कर लिया जायगा। प्रो० केन्ज ने इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। उनके विचारानुसार, अर्थ व्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर से पहले ही स्थायी सन्तुलन प्राप्त कर सकती है। अर्थ-व्यवस्था

को पूर्ण रोजगार की ओर गतिशील करने के लिए बार-बार विनियोग करने होंगे। गुणक सिद्धान्त (Multiplier Theory) की क्रियाशीलता के कारण सरकार द्वारा किया गया प्रत्येक विनियोग गुणक गुने (*multiplier times*) के बराबर आय का उत्पादन करेगा, जिससे प्रभावपूर्ण माँग म वृद्धि होगी तथा रोजगार स्तर ऊँचा उठेगा।

सार्वजनिक निर्माण कार्यों के लिए वित्त की प्राप्ति के लिए प्रो० केन्ज ने सरकार द्वारा घाटे के बजट (deficit budget) की नीति अपनाने का सुझाव दिया। दूसरे शब्दों में, सरकार द्वारा किया गया व्यय उसकी आय की तुलना मे अधिक हो। घाटे की पूर्ति लोगों से ऋण लेकर की जा सकती है।

सरकार द्वारा किया गया विनियोग रोजगार बढाने में तभी प्रभावपूर्ण होगा जब यह उन्हीं क्षेत्रों म किया जाय जिनमे निजी उद्योगपति पूँजी लगाने में सकोच करते हैं। गन्दी बस्तियों की सफाई और मकानों का निर्माण तथा नहरों, सडकों, स्कूलों आदि का निर्माण ऐसे कार्य हैं जिनसे न केवल रोजगार मिलता है, बल्कि सामाजिक कल्याण में भी वृद्धि होती है। केन्ज द्वारा प्रस्तावित कार्यक्रमों की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि श्रमिकों में पूर्ण गतिशीलता पायी जाय।

स्पष्ट है कि रोजगार की वृद्धि के लिए उपभोग तथा विनियोग दोनों को ही बढाना आवश्यक होता है। अत हम दोनों ही दिशाओं से आक्रमण करके बेरोजगारी पर विजय पा सकते हैं।

पूर्ण रोजगार-नीति की आलोचना

प्रो० केन्ज की पूर्ण रोजगार-नीति के विरुद्ध नैतिकता एव औचित्य की दृष्टि से कुछ कह सकना कठिन है, परन्तु कुछ रूढिवादी अर्थशास्त्रियों न इसकी आलोचना में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं

(1) **मुद्रा-स्फीति का भय**—केन्ज की पूर्ण रोजगार-नीति की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इसको अपनाने से मुद्रा-स्फीति की सम्भावना रहती है। ब्याज की दर कम करने के लिए मुद्रा का प्रसार करना आवश्यक होता है। मन्दी-काल म केन्ज ने मुद्रा की मात्रा मे विस्तार करने का सुझाव दिया था। आलोचकों के अनुसार मुद्रा-स्फीति का भय काल्पनिक नहीं है। इस सम्बन्ध में केन्जवादी अर्थशास्त्री क्लेयिन (Klein) का विचार है कि यदि अर्थ-व्यवस्था नियोजित हो तथा नियोजकों को सरकार की अर्थ-नीति पर पूर्ण नियन्त्रण दे दिया जाय जिससे वे रोजगार को प्रोत्साहन देने के लिए आवश्यकतानुसार व्यय कर सकें और आवश्यकता पडने पर पर्याप्त मात्रा मे कर लगा सकें, तो मुद्रा-स्फीति का कोई भय नहीं रहता है।[1]

(2) **सार्वजनिक ऋण के भार मे वृद्धि**—सार्वजनिक निर्माण कार्यों के लिए सार्वजनिक ऋणों द्वारा पूँजी प्राप्त करने का सुझाव केन्ज ने दिया था। इसे क्रियान्वित करने पर सार्वजनिक ऋण के भार में वृद्धि होना स्वाभाविक है। आलोचक इसे अनुचित मानते हैं, क्योंकि भावी पीढियों को इसका भार उठाना पडता है। इस सम्बन्ध मे यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उत्पादक उद्देश्यों के लिए लिया गया सार्वजनिक ऋण सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक किसी भी पहलू से अनुचित कहना युक्तिसगत नहीं है। इससे एक ओर तो रोजगार मे वृद्धि होती है तथा दूसरी ओर राष्ट्रीय आय बढती है। बढी हुई आय में स ही ऋण तथा ब्याज की अदायगी हो जाती है और भावी पीढियों पर कोई बोझ नहीं पडता।

(3) **सुलभ मुद्रा-नीति की अप्रभावपूर्णता**—आलोचकों का कहना है कि व्यावहारिक रूप म सुलभ मुद्रा-नीति मन्दी-काल मे रोजगार बढा सकने में प्रभावपूर्ण नहीं होती है। सन् 1930-40 में अमेरिका मे ब्याज-दर बहुत ही कम कर देन पर भी विनियोग की मात्रा म विशेप वृद्धि नहीं की जा सकी थी। इस सम्बन्ध मे यह विचारणीय है कि प्रो० केन्ज ने मन्दी का सामना करने

1 'If the economic planners are given complete control over the government fiscal policy so that they can spend when and where spending is needed to stimulate employment and tax when and where taxation is needed to halt upward price movements there will be no problem of associated inflationary dangers'—L. R. Klein *The Keynesian Revolution*

और रोजगार-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सुलभ मुद्रा-नीति को कोई विशेष महत्व नहीं दिया था, बल्कि बाद में तो वह इसके प्रति उदासीन हो गये थे।

(4) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन**—पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए मौद्रिक तथा आर्थिक नीतियों द्वारा सरकार को बड़े पैमाने पर अर्थ व्यवस्था में हस्तक्षेप करना पड़ता है। सार्वजनिक निर्माण कार्यों की नीति भी अर्थ-व्यवस्था में एक हस्तक्षेप ही है। आलोचकों का कहना है कि सरकारी हस्तक्षेप व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सीमित कर देता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को थोड़ा सीमित करने से यदि रोजगार तथा आय के स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है तो इसमें कोई दोष नहीं है। प्रत्येक देश में लोग आर्थिक नियोजन के नियन्त्रण को बेरोजगारी कम करने के लिए सहर्ष स्वीकार करते हैं और फिर प्रो० केन्ज ने निजी उद्योगपतियों से प्रतियोगिता न करके केवल उन्हीं क्षेत्रों में विनियोग करने का सुझाव दिया था जिनमें निजी उद्योगपति पूँजी लगाने में सकुचाते हैं।

निष्कर्ष—बेरोजगारी निस्सन्देह एक बहुत बड़ी आर्थिक बुराई है। अतः रोजगार के स्तर को ऊँचा उठाने के विषय में दो मत नहीं हो सकते। पूर्ण रोजगार की नीति में न केवल बेरोजगारी कम की जा सकती है, बल्कि अर्थ-व्यवस्था की उन्नति में इससे अन्य कई प्रकार के ठोस लाभ प्राप्त होते हैं, जो निम्नलिखित हैं:

(1) रोजगार प्राप्त करने वाला प्रत्येक व्यक्ति अन्य अनेक व्यक्तियों को गौण (secondary and tertiary) रोजगार प्रदान करता है जिसकी मात्रा रोजगार-गुणक (employment multiplier) की शक्ति पर निर्भर करती है।

(2) रोजगार बढ़ने से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

(3) *पूर्ण रोजगार की व्यवस्था में कृषि, उद्योग, व्यापार व वाणिज्य सभी उन्नति करते हैं* और हर क्षेत्र में सम्पन्नता अनुभव की जाती है।

(4) समाज की भावी आय में बढ़ती हुई गति से (cumulative) वृद्धि होती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न तथा उत्तरों के संकेत

1. **बेरोजगारी से क्या अभिप्राय है? क्या राज्य सभी प्रकार की बेरोजगारी को दूर करने में समर्थ हो सकता है?**

   [संकेत: प्रथम भाग में बेरोजगारी का अर्थ स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग में बेरोजगारी के भेद बताइए और उनके स्वरूप की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि सामयिक, मौसमी तथा अन्य प्रकार की अस्थायी बेरोजगारी सरकार दूर नहीं कर पाती है।]

2. **बेरोजगारी सम्बन्धी केन्ज की विचारधारा समझाइए और इसकी प्रतिष्ठित विचारधारा से तुलना कीजिए।**

   [संकेत: प्रो० केन्ज के रोजगार के सिद्धान्त की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। तदुपरान्त प्रतिष्ठित विचारधारा को समझाइए और इसमें तथा केन्ज की विचारधारा में अन्तर स्पष्ट कीजिए।]

3. **पूर्ण रोजगार की परिभाषा कीजिए। इसकी प्राप्ति के लिए राज्य को किस नीति का पालन करना चाहिए?**

   [संकेत: पूर्ण रोजगार का अर्थ स्पष्ट कीजिए और इसकी परिभाषा दीजिए। दूसरे भाग में उपभोग प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने तथा विनियोग की मात्रा में वृद्धि करने की नीति तथा इससे सम्बन्धित विभिन्न उपायों की व्याख्या कीजिए।]

4. **पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए केन्ज ने कौनसी नीति सुझायी है? क्या इसके विरुद्ध भी कुछ तर्क दिये जा सकते हैं?**

   [संकेत: स्पष्ट कीजिए कि रोजगार स्तर प्रभावपूर्ण माँग पर निर्भर करता है जो उपभोग प्रवृत्ति तथा विनियोग की मात्रा पर आधारित होती है। ब्याज-दर में कमी तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि के द्वारा व्यक्तिगत विनियोग प्रोत्साहित किये जा सकते हैं। इसके साथ साथ सरकार द्वारा भी विनियोग किये जाने चाहिए। प्रो० केन्ज द्वारा प्रस्तुत पूर्ण रोजगार की नीति की रूढ़िवादी अर्थशास्त्रियों द्वारा आलोचना की जाती है। उनके द्वारा दिये गये तर्कों का उल्लेख कीजिए और बताइए कि ये बहुत कुछ निराधार हैं।]

दिसम्बर 1971 में डालर का अवमूल्यन

15 अगस्त, 1971 को अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन द्वारा घोषित आर्थिक नीति ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। समस्या का स्थायी हल ढूँढ़ने के उद्देश्य से अनेक प्रकार के सुझाव दिये जाते रहे, परन्तु अमेरिका की सहमति प्राप्त न हो सकी। 18 दिसम्बर, 1971 को वाशिंगटन में दस गैर-साम्यवादी अमीर बड़े राष्ट्रों (Group of Ten) के वित्त मन्त्रियों ने यह तय किया कि अमेरिकी डालर के 8 57 प्रतिशत अवमूल्यन के आधार पर मुद्राओं की नयी विनिमय-दरें निर्धारित की जायें। यह भी तय हुआ कि डालर के अवमूल्यन के साथ-साथ विश्व की प्रमुख मुद्राओं का पुनर्मूल्यन (revaluation) किया जाय। पुनर्मूल्यन की दरों का निर्धारण करना अलग-अलग देशों की सरकारों पर छोड़ दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली को अधिक लोचपूर्ण बनाने के उद्देश्य से यह तय किया गया कि मुद्राओं की निर्धारित विनिमय-दरों में 2 25 प्रतिशत तक के उतार-चढ़ाव की अनुमति दी जाय। अभी तक केवल 1 प्रतिशत तक के उतार-चढ़ाव ही किये जा सकते थे।

दस बड़े राष्ट्रों के उपर्युक्त निर्णय को राष्ट्रपति निक्सन ने "विश्व के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण मौद्रिक समझौते" के रूप में स्वीकार किया है। अमेरिकी सरकार द्वारा स्वर्ण का अधिकृत मूल्य 35 डालर प्रति औंस से बढ़ाकर 38 डालर प्रति औंस कर दिया गया है। इस प्रकार, डालर का 7 9 प्रतिशत अवमूल्यन हो गया है। इसके साथ ही, आयातों पर लगाया गया 10 प्रतिशत अति-भार (surcharge) भी हटा लिया गया है। चूँकि डालर के अवमूल्यन की तुलना में जापान, जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, नीदरलैण्ड, बेलजियम तथा स्वीडन की मुद्राओं का पुनर्मूल्यन अधिक हुआ है, इसलिए अनुमान है कि प्रमुख मुद्राओं के सम्बन्ध में डालर का औसत अवमूल्यन लगभग 12 प्रतिशत हो गया है। डालर के सम्बन्ध में जापान तथा जर्मनी की मुद्राओं का विनिमय मूल्य क्रमशः 16 88 तथा 13 57 प्रतिशत बढ़ गया है।

रुपये की विनिमय-दर

अगस्त 1971 के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट की स्थिति में भारतीय रुपये की स्वर्ण समता-दर अपरिवर्तित रही है। इसके अन्तर्गत एक रुपये का स्वर्ण मूल्य 0 118489 ग्राम शुद्ध स्वर्ण के बराबर है। इस प्रकार, अवमूल्यन के पूर्व रुपये की डालर के साथ समता-दर (7 50 रुपये प्रति डालर) में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। विदेशी विनिमय-बाजार में रुपया स्टर्लिंग से जोड़ दिया गया था। लन्दन के मुद्रा-बाजार में डालर-स्टर्लिंग विनिमय-दरों में परिवर्तन के अनुसार रुपया-स्टर्लिंग विनिमय-दर में भी परिवर्तन होता रहा है। डालर के अवमूल्यन के समय रुपया स्टर्लिंग मध्यका दर (median rate) 18 9677 रुपये प्रति पौण्ड थी। डालर का अवमूल्यन हो जाने पर रुपये की विनिमय-दर वर्तमान स्तर पर अर्थात् 18 9677 रुपये प्रति पौण्ड ही निश्चित कर दी गयी है। चूँकि पौण्ड की स्वर्ण समता-दर में कोई परिवर्तन नहीं किया गया, इसलिए डालर के सम्बन्ध में पौण्ड के मूल्य में उतनी ही वृद्धि हुई है जितना डालर का मूल्य गिरा है। डालर के अवमूल्यन के पश्चात एक पौण्ड का मूल्य 2 6057 डालर हो गया है, जबकि पुरानी समता-दर 2 40 डालर प्रति पौण्ड थी। नयी डालर-स्टर्लिंग दर के आधार पर रुपये की डालर के साथ विनिमय-दर 7 50 रुपये प्रति डालर के स्थान पर 7 279 रुपये प्रति डालर हो गयी है। इस प्रकार,

डालर के सम्बन्ध में रुपये का मूल्य 3 प्रतिशत बढ गया है, परन्तु रुपये की स्वर्ण के साथ समता-दर में कोई परिवर्तन नही किया गया है। रुपया-स्टर्लिंग दर, रुपया-डालर दर तथा अन्य मुद्राओं के साथ रुपये की विनिमय-दर में समय-समय पर 2 25 प्रतिशत तक कमी अथवा वृद्धि की जा सकती है।

प्रभाव

भारत सरकार के वित्त मन्त्रालय द्वारा जिस आधार पर रुपये की नयी विनिमय-दर निर्धारित की गयी है उसका वास्तविक प्रभाव यह पडा है कि अगस्त 1971 की तुलना मे भारतीय रुपये का मूल्य विश्व की प्रमुख मुद्राओ की तुलना मे गिर गया है। वर्तमान समता-दरो के निर्धारण के पूर्व की रुपया स्टर्लिंग दर (जिसके आधार पर रुपये का विनिमय-मूल्य निर्धारित किया गया है) के *अन्तर्गत अगस्त 1971 की तुलना मे स्टर्लिंग का मूल्य रुपये के सम्बन्ध मे 5 4 प्रतिशत बढा* हुआ था। स्पष्ट है कि वर्तमान विनिमय दर पर पुरानी समता-दर की तुलना मे रुपये का स्टर्लिंग में मूल्य 5 4 प्रतिशत घट गया है। डालर के अवमूल्यन के पश्चात डालर का मूल्य 6 90 रुपये होना चाहिए था। इसे 7 28 रुपये के करीब निर्धारित करने पर डालर के सम्बन्ध मे भी रुपये का मूल्य वास्तव में 5 51 प्रतिशत कम निर्धारित हुआ है। जर्मन मार्क तथा जापानी येन की तुलना में रुपये का मूल्य लगभग क्रमश 10 प्रतिशत तथा 13 प्रतिशत कम हो गया है।

डालर के अवमूल्यन से डालर की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा है। परन्तु इसके परिणाम-स्वरूप अमेरिका को अपने भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में सुधार करने तथा रोजगार मे वृद्धि करने का अवसर मिलेगा। जर्मनी तथा जापान आदि देशो के अमेरिका को निर्यात कुछ कम हो सकते है, परन्तु साथ ही उन्हे आयातो पर लगाये गये 10 प्रतिशत अति-भार हटाये जाने का भी लाभ प्राप्त होगा। जहाँ तक भारत तथा अन्य अर्द्ध-विकसित देशो का प्रश्न है, नयी समता-दरे उनके लिए लाभदायक तभी हो सकती है जब उनके निर्यातो म वृद्धि तथा आयातो मे कमी हो। अभी से कुछ निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, परन्तु अनुमान यह है कि नयी समता-दरो से भारत को कोई विशेष लाभ नही होगा। भारत द्वारा डालर मे लिये गये ऋणो के भार मे कुछ कमी होगी, परन्तु जिन मुद्राओं का मूल्य बढा है उनमे लिये गये ऋणो का भार बढेगा। अकेले जापान से लिये गय ऋण के भार मे ही अनुमानत 40 मिलियन डालर के लगभग वृद्धि हो जायगी।

वर्तमान परिस्थितियो मे एक बात और स्पष्ट हो गयी है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली को प्रभावित करने के बजाय स्वय दस बडे देशो के निर्णयो से प्रभावित होता है। बडे देशो की कठपुतली के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की उपयोगिता पर सन्देह किया जा सकता है।